हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

साहित्य का इतिहास
हिन्दी साहित्य की भूमिका
हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास
हिन्दी साहित्य का आदिकाल

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

3



राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

मूल्य . रु. 75.00

प्रथम संस्करण : अगस्त, 1981
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002
मुद्रक : गुप्ता प्रिण्टर्स, दिल्ली-110032
कलापक्ष : मोहन गुप्त
HAZARIPRASAD DWIVEDI GRANTHAVALI
Price : Rs. 75.00



"मैं इसलाम के महत्त्व को भूल नही रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इसलाम नही आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"

—हिन्दी साहित्य की भूमिका

भक्तिकाल] भारतवर्ष में भक्ति नई चीज नहीं है। भागवत धर्म भी संभवतः उतना ही पुराना है जितना ब्राह्मण धर्म था। लेकिन भारतीय धर्म साधना के नाना युगों में यह धर्म समान भाव से प्रधान नहीं बना रहा, यद्यपि उसकी धारा कभी भी एकदम लुप्त नहीं हो गई। इसी लिये भारतीय साहित्य के किसी काल-विशेष को भक्ति [illegible] नहीं कहा जा सकता। लेकिन सन् ईस्वी की बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में भक्ति का आन्दोलन नये सिरे से जाग उठा। इस जागरण के मूल में दक्षिण के आचार्य रामानुज का प्रधान हाथ था। इनके तथा इनके बाद के अन्य आचार्यों के शक्तिशाली प्रभाव से चौदहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में भक्ति का खूब प्रचार हुआ। इस समय हिंदी में जो कुछ लिखा गया वह भक्ति के आवेश में ही लिखा गया। यह सिलसिला बहुत दिनों तक जारी रहा और किसी-न-किसी रूप में अब भी है। फिर भी सन् ईस्वी की सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में भक्ति मूलक काव्य ने कोई नया मार्ग पकड़ा। इस समय कविलोग राधाकृष्ण या सीताराम का नाम तो ले लेते थे पर भक्ति के आवेश में नहीं, कविता के चमत्कार के लिये। विद्वानों ने इसी लिये इसके बाद के काल को रीतिकाल नाम दिया है और चौदहवीं से लेकर सत्रहवीं शताब्दी को भक्ति काल कहा है। यद्यपि इस काल में भी ऐसी रचनायें हुई हैं जिनकी प्रेरणा भक्ति के आवेश के कारण नहीं कवित्व के लिये मिली थी फिर भी प्रधानता भक्ति की ही थी।

भक्तिकाल का साहित्य] इस काल में साधारणतः चार श्रेणी की रचनायें हुई हैं। कबीरदास आदि निर्गुणमार्गी संतों की निर्गुण साधना सम्बन्धी रचनायें, सूरदास आदि भगवान् के सगुण रूप की उपासना करने वाले भक्तों की लीलागान, और सूफी भावापन्न साधकों की प्रेम गाथायें। चौथी श्रेणी की रचनायें वे हैं जिन्हें रीतिकाल की [illegible] कहा जा सकता है। इस चौथी श्रेणी की रचनाओं के सिवा और किसी प्रकार की रचना इस युग में अधिक नहीं हुई। कभी कभी नीति सम्बन्धी कवितायें या कवित्त दरबारियों के लिखने की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ जाती है पर ऐसी कभी भी बहुत लोकप्रिय नहीं हुईं। इन सब प्रकार की रचनाओं को कविता नहीं कहा जा सकता। निर्गुण मत की साधना करने वाले संतों की रचनाओं में का अधिकांश अत्यन्त सीधी भाषा और छन्दोनियम से अतः शिथिल बना।

'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' की पाण्डुलिपि
का एक पृष्ठ

11
1983

निवेदन

प्रातः स्मरणीय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समग्र साहित्य को एक सूत्र में अनुस्यूत करके हिन्दी-पाठकों को समर्पित करते हुए हमें अत्यधिक आनन्द का अनुभव हो रहा है। स्वर्गीय आचार्यजी के मन में अनेक परिकल्पनाएँ तथा योजनाएँ थीं जिन्हें कार्यान्वित करने के लिए वे निरन्तर क्रियाशील थे। परन्तु नियति-निर्णय से उन्हें अधूरी ही छोड़कर वे चले गये हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली की प्रकाशन-योजना उसी सम्पूर्णता की शृंखला की पहली कड़ी है।

आचार्यत्व की गरिमा से दीप्त आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व और उनकी अपार सर्जनात्मक क्षमता किसी भी पाठक को चमत्कृत और अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। मनीषियों की दृष्टि में वे चिन्तन और भावना दोनों ही स्तरों पर महत्त्व-बिन्दु पर भासमान हैं। उनकी रचना-दृष्टि समय के आरपार देखने में समर्थ थी। इतिहास उनकी लेखनी का स्पर्श पाकर अपनी समस्त जड़ता खो बैठा और सतत् प्रवाहित जीवनधारा साहित्य में हिल्लोलित हो उठी, जो तीनों कालों को जोड़ देती है।

आचार्य द्विवेदी की बहुमुखी जीवन-साधना ने हिन्दी वाङ्मय के एक पूरे और विशाल युग को प्रभावित किया है। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी और बांग्ला साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। साथ ही, अंग्रेजी साहित्य का भी व्यापक धरातल पर उन्होंने परिशीलन किया था और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ग्रीक साहित्य का भी रसास्वादन किया था। अगाध पाण्डित्य में सहजता का मणिकांचन योग उन्हें सामान्य मानव की भूमिका में प्रतिष्ठित कर देने की क्षमता प्रदान कर देता था और वे अनायास ही जनहृदय से स्पन्दित और आन्दोलित हो उठते थे। उनका विद्वान् सरलता से सजग हो उठता था। वे प्रत्येक मन में विराजमान हो जाने की अपूर्व मेधा के धनी हो जाते थे।

आचार्यजी की इन्हीं अद्वितीय प्रवृत्तियों को स्थायी रूप देने के लिए इस ग्रन्थावली की योजना बनायी गयी है। विषय और विधा दोनों दृष्टिकोणों को साथ रखकर विभिन्न खण्डों का विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ये ग्यारह खण्ड हैं—

1. पहला खण्ड : उपन्यास-1
2. दूसरा खण्ड : उपन्यास-2
3. तीसरा खण्ड : हिन्दी साहित्य का इतिहास
4. चौथा खण्ड : प्रमुख सन्त कवि
5. पाँचवाँ खण्ड : मध्यकालीन साधना
6. छठवाँ खण्ड : मध्यकालीन साहित्य
7. सातवाँ खण्ड : लालित्य तत्त्व एवं साहित्य मर्म
8. आठवाँ खण्ड : कालिदास और रवीन्द्र
9. नवाँ खण्ड : निबन्ध-1
10. दसवाँ खण्ड : निबन्ध-2
11. ग्यारहवाँ खण्ड : विविध साहित्य।

ग्रन्थावली को क्रमबद्ध करने में अनेकों समस्याएँ आयी है। निबन्धों का विभाजन भी निबन्ध-सग्रह तथा तिथि-क्रम के आधार पर न करके विषय के अनुसार ही किया गया है। निबन्ध के अन्त मे मूल निबन्ध सग्रह का नाम दे दिया गया है। ग्रन्थावली अधिकाधिक उपयोगी हो सके, इस बात को ध्यान में रखकर ऐसा किया गया है। कबीर, सूर और तुलसी के अतिरिक्त कालिदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से आचार्यप्रवर प्रायः अभिभूत रहे हैं, अतः दोनो महाकवियों से सम्बद्ध सामग्री एक ही खण्ड में दे दी गयी है। अन्तिम खण्ड में विविध प्रकाशित एव अप्रकाशित सामग्री सकलित है। आचार्य द्विवेदी ने प्रारम्भ में काव्य रचनाएँ भी की थी और अनेक अनुवाद भी। उन्हें यहाँ समाहित कर दिया गया है।

इस विशाल योजना की परिपूर्णता में अनेक लोगों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है जिसके बिना निश्चय ही यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाता। उन सबके प्रति हम हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करते हैं। पं. राजाराम शास्त्री ने अप्रकाशित ज्योति शास्त्र एवं साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी रचनाओं के विषय मे परामर्श दिया, और श्री महेशनारायण 'भारतीभक्त' ने मुद्रण प्रति तैयार करके हमारे दायित्व को आसान बना दिया है। हम इन दोनों को साधुवाद अर्पित करते हैं। श्रीमती शीला सन्धू और राजकमल प्रकाशन से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने जिस तत्परता और रुचि से इस योजना को सम्पूर्ण कराया है, वह प्रशंसनीय है।

इन शब्दों के साथ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण रचना-संसार ग्रन्थावली के रूप मे, हम वृहद् हिन्दी विश्व परिवार को समर्पित करते है। इससे ज्ञानधारा एवं रससृष्टि में थोड़ा भी विकास सम्भव हुआ तो हम अपने को कृतकार्य मानेंगे।

जगदीशनारायण द्विवेदी
मुकुन्द द्विवेदी

विषय-सूची

पद्माकर—बिहारी और मतिराम—स्वच्छन्द प्रेम-धारा—रीतिकाव्य मादक कविता का साहित्य है।

4. रीतिमुक्त काव्यधारा : रीतिमुक्त साहित्य—रीति-मुक्त शृंगारी कवि—बेनी – फारसी साहित्य के परिचय का फल—सेनापति, बनवारी—द्विजदेव—फारसी प्रभावापन्न कवि : मुबारक—आलम—रसनिधि—बोधा—ठाकुर—नीति-काव्य—वृन्द और बैताल—गिरिधर कविराय—प्रबन्ध-काव्य.पुहकर—लालकवि—जोधराज—सूदन—गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव—महाराज विश्वनाथसिंह—अन्य कवि—क्षीयमाण दीप्ति की कविता।

9. आधुनिक काल 454

1. गद्य युग का आरम्भ : आधुनिकता का आरम्भ—ऐतिहासिक स्थिति—अंग्रेजों की अप्रत्यक्ष सहायता—प्राचीन साहित्य में गद्य—हिन्दी गद्य : गोरखपन्थी ग्रन्थ—वैष्णव गद्य-साहित्य—परवर्ती काल के व्रजभाषा गद्य के रूप : टीकाएँ—स्वतन्त्र गद्य-ग्रन्थ—राजस्थानी गद्य-साहित्य—मैथिली भाषा के गद्य-ग्रन्थ—खड़ी बोली का प्रचार—हिन्दी गद्य का सूत्रपात—फोर्ट विलियम कालेज का हाथ कितना था—मुंशी सदासुखलाल—मुंशी इशाअल्ला खाँ—लल्लूलालजी—पं. सदल मिश्र।

2. परिमार्जित भाषा और साहित्य का आरम्भ

परिमार्जित भाषा का सूत्रपात—ईसाई मिशनरियों की सहायता—नवीन सम्पर्क का परिणाम—हिन्दी पत्र-कारिता का जन्म—नयी शिक्षा का सूत्रपात—नवीन शिक्षा का प्रचार और विद्रोह—नवीन युग का जन्म-काल—हिन्दी की उपेक्षा और उसकी भीतरी शक्ति—राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द—बनारस, सुधाकर और बुद्धिप्रकाश—भाषा के सम्बन्ध में प्रतिक्रिया : राजा लक्ष्मणसिंह—आर्यसमाज—बाबू नवीनचन्द्र राय—श्रद्धाराम फिलौरी—आर्य-समाज की प्रतिक्रिया।

3. भारतेन्दु का उदय और प्रभाव

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—नवीन भाषा-शैली का वैशिष्ट्य—नवीन ढंग की 'राष्ट्रीयता' का जन्म—भारतवर्ष में 'राष्ट्रीयता' का प्रवेश—भारतेन्दु-साहित्य की विशे-

पता—भारतेन्दु की सफलता का रहस्य—महानेता भारतेन्दु—हिन्दी का जन आन्दोलन—भारतेन्दु-मण्डल—विभिन्न दृष्टिकोणों का विकास—प्रहसन—स्वच्छन्दतावादी धारा—राष्ट्रीय भावना के नाटक—उपन्यास—काव्य—अनुवाद—भारतेन्दु तथा समसामयिक साहित्यिकों की देन—हिन्दीप्रचार का आन्दोलन—उर्दू के साथ संघर्ष—भूले हुए इतिहास का उद्धार—भाषा के स्वरूप पर मतभेद।

4. साहित्य की बहुमुखी उन्नति का काल

बहुमुखी साहित्य—निबन्ध—प्राचीन भारत में कथा-साहित्य—उपन्यास का स्वरूप—आधुनिक गद्य का कथा-साहित्य—आधुनिक ढंग के उपन्यास—तिलस्मी उपन्यास—बँगला उपन्यास—बँगला उपन्यासों की देन—छोटी कहानियाँ—आधुनिक कहानियों के पहले की अवस्था—भारतेन्दु-काल तक कहानी-कला अविकसित रही—वास्तविक कहानी का आरम्भ—प्रसाद और गुलेरी की कहानियाँ—प्रेमचन्द का आगमन—सुदर्शन—यथार्थवादी चित्रण आवश्यक है—यथार्थवाद का अर्थ—रोमांस, प्रकृतिवाद और यथार्थवाद—मानवतावादी दृष्टि—मानवतावाद और राष्ट्रीयतावाद—प्रेमचन्द—प्रेमचन्द का महत्त्व—प्रेमचन्द का वक्तव्य—प्रेम का स्वरूप—'प्रसाद' के नाटक—निबन्ध और समालोचना—नवीन युग ले आनेवाला काल—हरिऔध—मैथिलीशरण गुप्त—अन्य कवि।

5. छायावाद

प्रथम महायुद्ध—नवीन सांस्कृतिक चेतना की लहर—नवीन शिक्षा-पद्धति का परिणाम—नवीन कवियों की शक्ति—साहित्य की नयी मान्यताएँ—विषयि-प्रधान कविता—कल्पना—चिन्तन—अनुभूति—नवीन प्रगीत-मुक्तक प्रगीत-मुक्तक क्यों प्रभावित करते हैं—पुराने और नये मुक्तकों में अन्तर—छायावाद नाम—ऊपर के विचारों का निष्कर्ष—छायावादी कविता का प्राण-तत्त्व—सुमित्रानन्दन पन्त—निराला—जयशंकर 'प्रसाद'—रहस्यवाद—'प्रसाद' का रहस्यवाद—महादेवी वर्मा—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—सियाराम-

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

3

हिन्दी साहित्य की भूमिका

स्वर्गीय पितृव्य
पूज्य 'पण्डितजी' के चरणों में

निवेदन

'विश्वभारती' के अहिन्दी-भाषी साहित्यिकों को हिन्दी साहित्य का परिचय कराने के बहाने इस पुस्तक का आरम्भ हुआ था। बाद में कुछ नये अध्याय जोड़कर इसे पूर्ण रूप देने की चेष्टा की गयी है। मूल व्याख्यानों में से बहुत-से अंश छोड़ दिये गये हैं जो हिन्दी-भाषी साहित्यिकों के लिए अनावश्यक थे। फिर भी इस बात का यथासम्भव ध्यान रखा गया है कि प्रवाह में बाधा न पड़े। इसके लिए कभी-कभी कोई-कोई बात दो जगह भी आ जाने दी गयी है। ऐसा प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाय। मूल पुस्तक में बार-बार संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य की चर्चा आयी है, इसीलिए कई लम्बे परिशिष्ट जोड़कर संक्षेप में वैदिक, और जैन साहित्यों का परिचय करा देने की चेष्टा की गयी है। रीति-काव्य की विवेचना के प्रसंग में कवि-प्रसिद्धियों और स्त्री-अंग के उपमानों की चर्चा आयी है। मध्य-काल की कविता के साथ संस्कृत कविता की तुलना के लिए आवश्यक समझकर परिशिष्ट में इन दो विषयों पर भी अध्याय जोड़ दिये गये हैं।

श्री पं. नाथूरामजी प्रेमी ने जिस प्रेम और उत्साह से इस ग्रन्थ को छापा है उसके लिए लेखक उनका सदा कृतज्ञ रहेगा। प्रेमीजी ने प्रेमपूर्वक इसे सुन्दर रूप में उपस्थित ही नहीं किया है, आवश्यक स्थानों पर परिवर्तन-परिवर्धन की भी बातें सुझाकर पुस्तक को अधिक त्रुटियुक्त होने से बचा लिया है।

बौद्ध साहित्यवाले अध्याय में प्रो. विंटरनित्स, पं. विधुशेखर शास्त्री और श्री वेणीमाधव बाड़ुआ के लेखों से बहुत सहायता मिली है। पुस्तक जब प्रेस में थी तब श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने भी इसके एक अंश की आलोचना करके लेखक की सहायता की है। शान्तिनिकेतन के पाली और संस्कृत के अध्यापक पण्डितप्रवर श्री नित्यानन्द विनोद गोस्वामी ने इसे देख लिया था और आवश्यक सुधार सुझाये थे। इन बातों के लिए लेखक सभी का अत्यन्त कृतज्ञ है।

सन्त-साहित्य के सम्बन्ध में लिखते समय आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन महाशय से अनेक स्थानों पर बहुत सहायता मिली है। लेखक के ऊपर उनका स्नेह इतना अधिक रहा है कि इस स्थान पर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने में भी उसे बहुत संकोच हो रहा है।

अनेक विद्वानों की लिखी हुई अनेक पुस्तकों से अनेक सहायता मिली है। पुस्तकों में ही यथा-स्थान उनका उल्लेख कर दिया गया है। वस्तुतः इस पुस्तक में जो कुछ भी अच्छा है वह अन्य विद्वानों की चीज है, लेखक का काम संग्रह करना ही अधिक रहा है। सबके प्रति वह अपनी कृतज्ञता निवेदन करता है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के पुनर्मुद्रण तो अनेक बार हुए हैं, पर उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुए थे। इस बीच हिन्दी में शोध-कार्य की काफी प्रगति हुई है और मेरे विचारों में भी कुछ परिवर्तन हुए हैं। इसीलिए 'भूमिका' को एक बार फिर नये सिरे से देखने की आवश्यकता हुई। अपभ्रंश के सम्बन्ध में नयी जानकारियाँ जोड़ दी गयी हैं और भक्ति-साहित्य की चर्चा में भी कहीं-कहीं परिवर्तन किये गये हैं। प्रयत्न किया गया है कि यथा-सम्भव नयी जानकारियाँ आ जायें, परन्तु पुस्तक का कलेवर भी बहुत न बढ़े। आशा है, पाठकों को इस सामान्य परिवर्तन-परिवर्धन से सन्तोष होगा।

7-5-59

हजारीप्रसाद द्विवेदी

नये संस्करण की भूमिका

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' पुस्तक-रूप में प्रकाशित मेरी दूसरी रचना है। पहली रचना 'सूर साहित्य' नामक पुस्तक थी। हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर के अत्यन्त उदारमना संस्थापक स्व. श्री नाथूराम प्रेमी ने भूमिका का प्रथम बार प्रकाशन किया था। हिन्दी संसार ने एक नये लेखक की इस पुस्तक का दिल खोलकर स्वागत किया। प्रेमीजी के जीवन-काल में ही इसकी कई आवृत्तियाँ निकलीं। हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर उन दिनों यह छापा करता था कि पुस्तक की कौन-सी आवृत्ति छप रही है। बाद में यह प्रथा बन्द कर दी गयी। इसलिए यह पता नहीं चलता कि आखिरी मुद्रण कौन-सी आवृत्ति है। फिर भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुस्तक की कई आवृत्तियाँ होती रहीं। इसलिए, पाठकों ने इसे अंगीकार किया, इस बात में कोई सन्देह नहीं है। मैं इस अवसर पर सभी कृपालु और सहृदय पाठकों के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक का पुनर्मुद्रण सुप्रसिद्ध प्रकाशक 'राजकमल प्रकाशन' की ओर से हो रहा है। कुछ अशुद्धियों को सुधार देने के अतिरिक्त इसमें कोई विशेष परि-

11
1983

वर्तन नहीं किया गया है। सहृदय पाठकों ने जिस रूप में इसे मान दिया है उसी रूप में इसका प्रकाशन होना ही मुझे उचित जान पड़ता है। हिन्दी साहित्य को एक विशाल परम्परा के अंग के रूप में देखने का प्रयास स्वीकार योग्य माना गया, इससे बढ़कर प्रसन्नता क्या हो सकती है!

इस बार भी राजकमल प्रकाशन की प्रबन्ध निदेशिका श्रीमती शीला सन्धू ने इसके नये सिरे से प्रकाशन में बहुत रुचि ली है। शीला बहन बहुत परिमार्जित और सुसंस्कृत रुचि से सम्पन्न हैं। उन्होंने इसके प्रकाशन में जो रुचि और उत्साह दिखाया है उसके लिए उन्हें धन्यवाद देना मोटी औपचारिकता होगी। हिन्दी में स्तरीय पुस्तकों के प्रकाशन में उनका योगदान बहुत प्रशंसनीय है।

काशी — हजारीप्रसाद द्विवेदी
25-10-78

हिन्दी साहित्य : भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास

: 1 :

आज से लगभग हजार वर्ष पहले हिन्दी साहित्य बनना शुरू हुआ था। इन हजार वर्षों में भारतवर्ष का हिन्दीभाषी जन-समुदाय क्या सोच-समझ रहा था, इस बात की जानकारी का एकमात्र साधन हिन्दी साहित्य ही है। कम-से-कम भारतवर्ष के आधे हिस्से की सहस्रवर्ष-व्यापी आशा-आकांक्षाओं का मूर्तिमान् प्रतीक यह हिन्दी साहित्य अपने-आपमें एक ऐसी शक्तिशाली वस्तु है कि इसकी उपेक्षा भारतीय विचारधारा के समझने में घातक सिद्ध होगी। पर नाना कारणों से सचमुच ही यह उपेक्षा होती चली आयी है। प्रधान कारण यह है कि इस साहित्य के जन्म के साथ-ही-साथ भारतीय इतिहास में एक अभूतपूर्व राजनीतिक और धार्मिक घटना हो गयी। भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम सीमान्त से विजयदृप्त इस्लाम का प्रवेश हुआ, जो देखते-देखते इस महादेश के इस कोने से उस कोने तक फैल गया। इस्लाम-जैसे सुसंगठित धार्मिक और सामाजिक मतवाद से इस देश का कभी पाला नहीं पड़ा था, इसीलिए नवागत समाज की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक गतिविधि इस देश के ऐतिहासिक का सारा ध्यान खींच लेती है। यह बात स्वाभाविक तो है, पर उचित नहीं है। दुर्भाग्यवश, हिन्दी-साहित्य के अध्ययन और लोक-चक्षु-गोचर करने का भार जिन विद्वानों ने अपने ऊपर लिया है, वे भी हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध हिन्दू जाति के साथ ही अधिक बतलाते हैं और इस प्रकार अनजान आदमी को दो ढंग से सोचने का मौका देते हैं—एक यह कि हिन्दी साहित्य एक हतदर्प पराजित जाति की सम्पत्ति है, इसलिए उसका महत्व उस जाति के राजनीतिक उत्थान-पतन के साथ अङ्गाङ्गि-भाव से सम्बद्ध है; और दूसरा यह कि ऐसा न भी हो तो भी वह एक निरन्तर पतनशील जाति की चिन्ताओं का मूर्त्त प्रतीक है, जो अपने-आपमें कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। मैं इन दोनों बातों का प्रतिवाद करता हूँ और अगर ये बातें मान भी ली जायें तो भी यह कहने का साहस करता हूँ कि फिर भी इस साहित्य का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि दस सौ वर्षों तक दस करोड़ कुचले हुए मनुष्यों की बात भी मानवता की प्रगति के अनु-

सन्धान के लिए केवल अनुपेक्षणीय ही नहीं बल्कि अवश्य ज्ञातव्य वस्तु है। ऐसा करके मैं इस्लाम के महत्त्व को भूल नहीं रहा हूँ, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।

अपनी बात को ठीक-ठीक समझाने के लिए मुझे और भी हजार वर्ष पीछे लौट जाना पड़ेगा। आज के हिन्दू समाज में आज से दो हजार वर्ष पहले से लेकर हजार वर्ष पहले तक के हजार वर्षों में जो ग्रन्थ लिखे गये, उनकी प्रामाणिकता में बाद में चलकर कभी कोई सन्देह नहीं किया गया और उन्हें ही यथार्थ में हिन्दू धर्म का मेरुदण्ड कह सकते हैं। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ, सूर्यादि पाँचों सिद्धान्त-ग्रन्थ, चरक और सुश्रुत की संहिताएँ, न्यायादि छहों दर्शन-सूत्र, प्रसिद्ध पुराण, रामायण और महाभारत के वर्त्तमान रूप, नाट्य-शास्त्र, पतंजलि का महाभाष्य आदि कोई भी प्रामाणिक माना जानेवाला ग्रन्थ क्यों न हो, उसकी रचना, सकलन या रूप-प्राप्ति सन् ईसवी के दो-ढाई सौ वर्ष इधर-उधर की ही है। उसके बाद की चार-पाँच शताब्दियों तक इन ग्रन्थों के निर्दिष्ट आदर्श का बहुत प्रचार होता रहा और इसी प्रचार-काल में संस्कृत साहित्य के अनमोल रत्नों का प्रादुर्भाव हुआ। अश्वघोष, कालिदास, भद्रबाहु, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, कुमारिल, शकर, दिङ्नाग, नागार्जुन आदि बड़े-बड़े आचार्यों ने इन शताब्दियों में उत्पन्न होकर भारतीय विचारधारा को अभिनव समृद्धि से समृद्ध किया। वेद अब भी आदर के साथ मान्य समझे जाते थे, पर साधारण जनता में उनकी महिमा नाम-मात्र में ही प्रतिष्ठित रही।

अगर आप भारतवर्ष के मानचित्र में उस अंश को देखें जिसकी साहित्यिक भाषा हिन्दी मानी जाती है तो आप देखेंगे कि यह विशाल क्षेत्र एक तरफ तो उत्तर में भारतीय सीमा को छुए हुए है, जहाँ से आगे बढ़ने पर एकदम भिन्न जाति की भाषा और सस्कृति से सम्बन्ध होता है और दूसरी तरफ पूर्व की ओर भी भारतवर्ष की पूर्व सीमाओं को बनानेवाले प्रदेशों से सटा हुआ है। पश्चिम और दक्षिण में भी वह एक ही सस्कृति, पर भिन्न प्रकृति के प्रदेशों से सटा हुआ है। भारतवर्ष का ऐसा कोई भी प्रान्त नहीं है जो इस प्रकार चौमुखी प्रकृति और संस्कृति से घिरा हुआ हो। इस घिराव के कारण उसे निरन्तर भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और भिन्न-भिन्न विचारों के सघर्ष में आना पडा है। पर जो बात और भी ध्यानपूर्वक लक्ष्य करने की है वह यह है कि यह 'मध्यदेश' वैदिक युग से लेकर आज तक अतिशय रक्षणशील और पावित्र्याभिमानी रहा है। एक तरफ तो भिन्न विचारों और संस्कृतियों के निरन्तर सघर्ष ने और दूसरी तरफ रक्षणशीलता और श्रेष्ठत्वाभिमान ने इसकी प्रकृति में इन दो बातों को बद्धमूल कर दिया है—एक अपने प्राचीन आचारों से चिपटे रहना पर विचार में निरन्तर परिवर्तित होते रहना, और दूसरे धर्मों, मतों, सम्प्रदायों और संस्कृतियों के प्रति सहनशील होना। अब देखा जाय कि हिन्दी साहित्य के जन्म होने के पहले कौन-कौन से आचार-विचार

या अन्य उपादान इस प्रदेश के समाज को रूप दे रहे थे।

इस बात के निश्चित प्रमाण है कि सन् ईसवी की सातवी शताब्दी में युक्त-प्रान्त, बिहार, बंगाल, असम और नेपाल मे बौद्ध धर्म काफी प्रबल था। यह उन दिनों की बात है जब इस्लाम धर्म के प्रवर्त्तक हजरत मुहम्मद का जन्म ही हुआ था। बौद्ध धर्म के प्रभावशाली होने का सबूत चीनी यात्री हुएन्-त्सांग के यात्रा-विवरण मे मिलता है। यह भी निश्चित है कि वह बौद्ध धर्म महायान सम्प्रदाय से विशेष रूप से प्रभावित था, क्योंकि उत्तरी बौद्ध धर्म यदि हीनयानीय शाखा का भी था तो भी महायान शाखा के प्रभाव से अछूता नही था।[1] सातवीं शताब्दी के बाद उस धर्म का क्या हुआ, इसका ठीक विवरण हमे नही मिलता, पर वह एका-एक गुम तो नहीं हुआ होगा। उस युग के दर्शनग्रन्थों, काव्यों, नाटकों आदि से स्पष्ट ही जान पड़ता है कि ईसा की पहली सहस्राब्दी में वह इन प्रान्तों मे एकदम लुप्त नही हो गया था। इधर हाल मे जो सब प्रमाण संगृहीत किये जा सके है, उनसे इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि मुसलमानी आक्रमण के आरम्भिक युगों में भारतवर्ष से इस धर्म की एकदम समाप्ति नही हो गयी थी। हम आगे चलकर देखेंगे कि इन प्रदेशों के धर्ममत, विचारधारा और साहित्य पर इस धर्म ने जो प्रभाव छोड़ा है, वह अमिट है।

लेकिन जब मैं ऐसा कहता हूँ तो 'प्रभाव' शब्द का जो अर्थ समझता हूँ उसको ध्यान में रखना चाहिए। मैं यही नही कहता कि हिन्दीभाषी प्रदेश का जन-समुदाय उन दिनों बौद्ध था। वस्तुतः सारा समाज किसी भी दिन बौद्ध था या नहीं, यह प्रश्न काफी विवादास्पद है। कारण यह है कि बौद्ध धर्म सन्यासियों का धर्म था, लोक के सामाजिक जीवन पर उसका प्रभुत्व कम ही था। जिस प्रकार आज के नागा सम्प्रदाय को देखकर कोई विदेशी यात्री कह सकता है कि भारतवर्ष में नागा सम्प्रदाय खूब प्रबल है, परन्तु यह बात सच होते हुए भी इसकी सचाई के साथ सामाजिक जीवन का गहरा सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार चीनी यात्री के यात्रा-विवरण का भी विचार होना चाहिए। हम उस विवरण से इतना ही मान सकते है कि लोग बौद्ध सन्यासियों का आदर-सत्कार करते थे और उनके ही ढंग पर अपने-आपके विषय मे, अपनी दुनिया के विषय में और लोक-परलोक के विषय में सोचने लगे थे। हमारे सामने आज भी भारतीय गृहस्थ परस्पर-विरोधी मतों के माननेवाले साधुओ की तथा भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के भिन्न-भिन्न प्रकृति के देवताओं की पूजा करता है। हुएन्-त्सांग के युग में यही अवस्था रही होगी। इससे यह समझना सरल है कि उन दिनो हिन्दू समाज मे लोग बौद्ध भिक्षुओं के उपदिष्ट देवताओं की कल्याण-कामना से पूजा करते थे और उनके बताये हुए ढग से जप आदि भी करते थे। इस प्रकार पुश्त-दर-पुश्त से होता आता था और लोग

1. देखिए, परिशिष्ट : बौद्धों का संस्कृत-साहित्य।

के मन में इन देवताओं और पूजा-पद्धतियों के प्रति एक अपनापन का भाव आ गया था, जो बौद्ध मठों के उठ जाने के बाद भी उठ नहीं गया, बल्कि समाज में ज्यों-का-त्यों रह गया। पर चूँकि बौद्ध संन्यासी ही उसका असली तत्त्व समझाया करते थे, इसलिए उनके अभाव में वह नाना विकृत रूपों में और कभी-कभी नाम-रूप बदलकर मूल रूप में ही चलने लगा। 'प्रभाव' पड़ने का मेरी दृष्टि में यहाँ यही अर्थ है।

बौद्ध धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वैदान्तिक और मीमांसक आचार्य माने जाते हैं। इस कथन को ऐतिहासिक दृष्टि से तो असत्य सिद्ध किया जा सकता है—लोगों ने ऐसा करने की चेष्टा भी की है, पर इसका अन्तर्निहित अर्थ एकदम सत्य है। ये आचार्य-गण दार्शनिक पण्डित थे, इनकी प्रतिभा और विद्वत्ता अनुपम थी। इसलिए इनके द्वारा बौद्ध धर्म के निर्वासन और निरसन का यही अर्थ हो सकता है कि बुद्धि-जीवियों और उपरले स्तर के लोगों के मन पर से बौद्ध धर्म के दार्शनिक युक्ति-जाल की आस्था उठ गयी। ये लोग असल में बौद्ध तत्त्ववाद के कायल थे, भक्तिवाद के नहीं। पर साधारण जनता का तत्त्ववाद से कोई सम्बन्ध नहीं था। ऐसा हो सकता है कि राजा लोग जब बौद्ध तत्त्ववाद के कायल नहीं रहे तब बड़े-बड़े बौद्ध मठ, जो अधिकांश में राजकीय सहायता से चल रहे थे, उठ गये होंगे। पर उन्होंने निचले स्तर के आदमियों में जो प्रभाव छोड़ा था, उसमें केवल नाम-रूप का परिवर्त्तन हुआ, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शंकराचार्य के तत्त्ववाद की पृष्ठ-भूमि में बौद्ध तत्त्ववाद अपना रूप बदलकर रह गया। बड़े-बड़े बौद्ध मठों ने शैव मठों का रूप लिया और करोड़ों की संख्या में जनता आज भी उन मठों के महन्तों की पूजा करती आ रही है। वस्तुतः हर्ष के बाद उत्तर भारत में (विशेषकर इन प्रदेशों में) बहुत दिनों तक बौद्ध धर्म को कोई राजकीय सहारा नहीं मिला। न मिलने के कारण या तो बौद्ध संन्यासियों को उन स्थानों पर चला जाना पड़ा जहाँ उन्हें संरक्षण मिल सकता था, या निचले स्तर के लोगों को अधिकाधिक आकृष्ट करना पड़ा। आठवीं-नवीं शताब्दी में बौद्ध महायान सम्प्रदाय लोकाकर्षण के रास्ते बड़ी तेजी से बढ़ने लगा। वह तन्त्र, मन्त्र, जादू, टोना, ध्यान-धारणा[1] आदि से लोगों को आकृष्ट करता रहा। यद्यपि 'सद्धर्म-पुण्डरीक' आदि प्राचीन महायानीय ग्रन्थों में ही इन बातों के जीवाणु वर्तमान थे, पर इन शताब्दियों में वह इस रास्ते बड़ी तेजी से मुड़ पड़ा। महायान शाखा की अन्तिम परिणति अभिचारादि में ही हुई।

आठवीं शताब्दी में बंगाल में पाल-राज्य कायम हुआ। यही वंश भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का अन्तिम शरणदाता रहा। यहाँ आकर और नेपाल और तिब्बत में

1. देखिए, परिशिष्ट : बौद्धों का संस्कृत-साहित्य।

जाकर बौद्ध धर्म का सम्बन्ध तन्त्रवाद से और भी अधिक बढ़ गया। जिन दिनों हिन्दी साहित्य का जन्म हो रहा था उन दिनों भी बंगाल और मगध तथा उड़ीसा में बड़े-बड़े बौद्ध विहार विद्यमान थे, जो अपने मारण, मोहन, वशीकरण और उच्चाटन की विद्याओं से और नाना प्रकार के रहस्यपूर्ण तान्त्रिक अनुष्ठानों से जनसमुदाय पर अपना प्रभाव फैलाते रहे। नेपाल में तो अब भी बौद्ध धर्म किसी-न-किसी रूप में प्राप्त हो जाता है, पर अत्यन्त हाल में बंगाल, उड़ीसा और मयूरभंज की रियासत में बौद्ध गृहस्थों के दल पाये गये हैं। कहा जाता है कि जगन्नाथ का मन्दिर पहले बौद्धों का था, बाद में बुद्ध-मूर्त्ति के सामने किसी वैष्णव राजा ने एक दीवार खड़ी कर दी और इन दिनों जिसे जगन्नाथ ठाकुर की मूर्त्ति कहते हैं वह भी बुद्धदेव की अस्थि रखने के पिटारे के सिवा और कुछ नहीं है! उड़ीसा का महिमा-सम्प्रदाय, बंगाल के रमाई पण्डित का शून्यपुराण, वीरभूमि में पायी जानेवाली धर्मपूजा आदि बातें आज भी इन प्रदेशों में बौद्ध धर्म के भग्नावशेष हैं।

महिमा-सम्प्रदाय की कहानी बड़ी मनोरंजक है। सन् 1875 ई. में इस सम्प्रदाय के एक अन्ध मनुष्य को, जिसका नाम 'भीम भोई' था, बुद्धदेव ने स्वप्न दिया कि वह उनके धर्म का प्रचार करे। इस कार्य के पुरस्कार-स्वरूप बुद्धदेव ने भीम भोई की आँखें पहले ही ठीक कर दी। देखते-देखते हजारों की संख्या में उसके शिष्य जुट गये। भीम भोई ने हजारों शिष्यों के साथ जगन्नाथ के मन्दिर पर आक्रमण कर दिया; उद्देश्य था, दीवार तोड़कर बुद्ध-मूर्त्ति का उद्धार करना। पर उड़ीसा के राजा ने उसके आक्रमण को रोक दिया और भीम भोई को दबा लिया। आतंकित होकर उसके शिष्य उड़ीसा के दूर-दूर के कोनों में जा छिपे और अब भी किसी-न-किसी रूप में अपनी गुरु-परम्परा रखते आ रहे हैं। इन बातों से यह अनुमान आसानी से किया जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के जन्म-काल के समय बौद्ध धर्म एकदम नष्ट तो हो ही नहीं गया था, जीवित जोश के साथ वर्त्तमान भी था। जनसाधारण के साथ उसका योग तो था ही। मगध और बंगाल में मुसलमानी धर्म के आक्रमण से बौद्ध और हिन्दू मन्दिर समान भाव से आक्रान्त हुए; मन्दिरों, मठों और विहारों को समान भाव से ध्वंस किया गया। फिर भी पौराणिक धर्म बच गया, बौद्ध नहीं बच सका; क्योंकि पहले का सम्बन्ध उन दिनों के समाज से था और दूसरे का केवल विहारों से।

नेपाल में इस समय जो बौद्ध धर्म वर्त्तमान है, वह बहुत-कुछ उसी ढंग का होना चाहिए जैसा किसी समय वह बंगाल और मगध में रहा होगा। नवीं और दसवीं शताब्दियों में नेपाल की तराइयों में शैव और बौद्ध साधनाओं के सम्मिश्रण से नाथपन्थी योगियों का एक नया सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। यह सम्प्रदाय कालक्रम से हिन्दीभाषी जनसमुदाय को बहुत दूर तक प्रभावित कर सका था। कबीरदास, सूरदास और जायसी की रचनाओं से जान पड़ता है कि यह सम्प्रदाय उन दिनों बड़ा प्रभावशाली रहा होगा। सन् 1324 ई. में तिरहुत का एक राजा

मुसलमानों से खदेड़ा जाकर नेपाल में जा पहुँचा। वह अपने साथ अनेक पण्डितों और ग्रन्थों को भी लेता गया। उसका राज्य वहाँ बहुत दिनों तक स्थिर तो नहीं रह सका, पर इसके द्वारा ब्राह्मण-धर्म का जो बीजारोप हुआ वह आगे चलकर बहुत विकासशील सिद्ध हुआ। परवर्त्ती राजा जयस्थिति ने इन्हीं ब्राह्मणों की सहायता से समाज का पुनः संगठन किया। इस प्रकार नेपाल के राजघराने के प्रयत्न से गुरखा लोग, जो वहाँ के प्रधान वाशिन्दे थे, अपने प्राचीन धर्म को फिर से ग्रहण करने में समर्थ हुए, पर नेवारी लोग बौद्ध ही बने रहे। इस नेपाली बौद्ध धर्म का प्रधान रूप है 'आदि-बुद्ध' की पूजा। आदि-बुद्ध बहुत-कुछ हिन्दुओं के भगवान् के समान ही हैं। यह लक्ष्य करने की बात है कि नेपाल के ब्राह्मण बौद्ध धर्म को शत्रु-दृष्टि से नहीं देखते। नेपाल-माहात्म्य के अनुसार जो बुद्ध की पूजा करता है, वह शिव की ही पूजा करता है। इसी प्रकार नेपाली बौद्धों का 'स्वयम्भू-पुराण' पशुपतिनाथ की पूजा को बुद्ध की ही पूजा मानता है। बहुत सम्भव है कि काशी और मगध के प्रान्तों में भी अन्तिम दिनों में बौद्ध और पौराणिक धर्मों का पारस्परिक सम्बन्ध ऐसा ही रहा हो।

अब इन सारी बातों को ध्यान से देखें तो मालूम होगा कि विराट् बौद्ध सम्प्रदाय दो खण्डों में बँट गया—हीनयान और महायान। हीनयान सम्प्रदायवाले अपने-आपको शुरू में ही हीनयान (=छोटे रथ) के आरोही नहीं कहते थे; अहीरन भी जब अपने दही को खट्टा नहीं कहती तो ये बेचारे अपने ही रथ को भला हीनरथ कैसे कह सकते थे! पर महायानवालों ने इस शब्द का ऐसा प्रचार किया कि हीनयानवालों को भी अन्त में उसे मान लेना पड़ा।[1] महायान अर्थात् बड़ी गाड़ी के आरोहियों का दावा है कि वे नीचे-ऊँचे, छोटे-बड़े, सबको अपनी विशाल गाड़ी में बैठाकर निर्वाण तक पहुँचा सकते हैं, जहाँ हीनयान (या सँकरी गाड़ी) वाले केवल सन्यासियों और विरक्तों को आश्रय दे सकते हैं। महायान के इस नाम में ही जनसाधारण के साथ उनके गम्भीर योग का आभास मिलता है। आगे चलकर फिर महायान में भी कई टुकड़े हो गये। सबसे अन्तिम टुकड़े हैं वज्रयान और सहजयान, जो अपनी गाड़ी को सचमुच इतनी मजबूत और सहज बना सके कि उनमें पाण्डित्य और कृच्छ्रसाध्यता का अर्थात् कष्ट-पूर्ण व्रतनियम आदि का कोई अंग रहा ही नहीं। इस प्रकार महायान सम्प्रदाय या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध सम्प्रदाय, सन् ईसवी के आरम्भ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया, यहाँ तक कि अन्त में जाकर लोकमत में घुल-मिलकर लुप्त हो गया। सन् ईसवी के हजार वर्ष बाद तक यह अवस्था सभी सम्प्रदायों, शास्त्रों और मतों की हुई। मुसलमानी संसर्ग से उसका कोई सम्पर्क नहीं है। हजार वर्ष पहले से वे ज्ञानियों और पण्डितों के ऊँचे आसन से नीचे उतरकर अपनी असली प्रतिष्ठाभूमि लोकमत

1. परिशिष्ट में 'बौद्ध साहित्य का परिचय' पढ़िए।

की ओर आने लगे। उसी की स्वाभाविक परिणति इस रूप में हुई। उसी स्वाभाविक परिणति का मूर्त्त प्रतीक हिन्दी साहित्य है। मैं इसी रास्ते सोचने का प्रस्ताव करता हूँ। मतों, आचार्यों, सम्प्रदायों और दार्शनिक चिन्ताओं के मानदण्ड से लोक-चिन्ता को नहीं मापना चाहता बल्कि लोक-चिन्ता की अपेक्षा से उन्हें देखने की सिफारिश कर रहा हूँ।

थोड़ी देर तक महायान सम्प्रदाय की चर्चा और कर ली जाय, क्योंकि हमारे आलोच्य साहित्य पर इसी का गहरा प्रभाव है। फिर लगे हाथों संक्षेप में स्मार्त्त आचार्यों की चिन्ता-धारा की परिणति पर विचार कर लिया जाय। यह दूसरी बात भी बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि महायान सम्प्रदाय का हमारे आलोच्य साहित्य पर जितना-कुछ भी प्रभाव क्यों न हो, वह सामाजिक आचार-विचारों का मेरुदण्ड नहीं है। मेरुदण्ड तो ये स्मार्त्त विचार ही है। फिर एक-एक करके शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायों की बात करना भी आवश्यक हो जायेगा।

महायान सम्प्रदाय की निम्नांकित सात विशेषताओं की चर्चा पण्डितों ने की है:

1. सर्वभूत-हितवाद में विश्वास रखना और समस्त जगत् के प्राणियों के कल्याणार्थ प्रयत्न करना; स्वयं कष्ट सहकर भी, नरक भोगकर भी, अन्य जीवों के उद्धारार्थ प्रयत्न करना।
2. बोधिसत्त्वों में विश्वास रखना और यह भी विश्वास करना कि मनुष्य अपने सत्कर्मों और भक्ति के द्वारा बोधिसत्त्वत्व प्राप्त कर सकता है। 'हरि को भजै सो हरि को होई।'
3. बुद्धों के लोकोत्तरत्व में विश्वास। यह भी विश्वास करना कि बुद्धगण काल और देश की सीमा में परिव्याप्त है।
4. जगत् को सार-शून्य और नश्वर मानना।
5. कर्मकाण्ड की बहुलता और मन्त्र-तन्त्र में विश्वास।
6. संस्कृत के ग्रन्थों मे विश्वास, पालि में नहीं।
7. बुद्ध में और विशेष करके अमिताभ बुद्ध में विश्वास और उनके नामजप से निर्वाण-प्राप्ति में विश्वास।

कहना व्यर्थ है कि ये सभी बातें उत्तर भारत के हिन्दू धर्म में रह गयी है। आगे चलकर हम यह भी देख सकेंगे कि हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी अंग इनमें के एकाधिक सिद्धान्तों से प्रभावित थे। इन तथा अन्य महायानीय सिद्धान्तों की यदि हीनयानीय सिद्धान्तों से तुलना की जाय तो इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जायेगा कि महायान हीनयान की अपेक्षा अधिक मानवीय, लोकगम्य, सहज और समन्वयमूलक है। वह प्राचीन बौद्ध धर्म की भाँति केवल यही नहीं कहता कि सबकुछ छोड़कर चले आओ, बल्कि यह सलाह देता है कि सबकुछ लिये हुए भी तुम परमपद तक पहुँच सकते हो।

अब प्रश्न यह है कि ये बातें महायान सम्प्रदाय ने हिन्दू समाज में प्रवेश

करायी या हिन्दू समाज ने महायान में ? दोनों बातें सम्भव हैं और असल में जीवित समाजों के भावों के आदान-प्रदान इस प्रकार से होते हैं कि उनके बीच लकीर खींचकर बता सकना कि यह अमुक की देन है और यह अमुक की लेन है, सदा कठिन हुआ करता है। फिर भी पण्डितों ने कुछ बातों को निश्चित रूप से महायानियों की देन माना है। देन नहीं बल्कि भग्नावशेष कहना ठीक होगा। सन् ईसवी की पहली शताब्दी में महायान प्राचीन बौद्ध धर्म से अलग हो गया। उसी समय से वह सुदूर पूर्व और मध्य एशिया से अपना सम्बन्ध बढ़ाता गया। इन स्थानों में वह अपने विशुद्ध रूपों में न रह सका। वहाँ से उसने बहुत-सी नयी बातें सीखीं और उनको वह कभी-कभी इस देश मे परिचित कराने में भी समर्थ हुआ। जो बातें उसने उस युग के समाज के निचले स्तर से सीखी, उनमें भी नयी बातें प्रविष्ट करायी। कहते हैं, तन्त्र में चीनाचार आदि आचार स्पष्ट ही विदेशी हैं। हाल ही में एक पण्डित ने तान्त्रिकों के 'आगम' शब्द की जाँच करके यह निष्कर्ष निकाला है कि ये बाहर से आये हुए आचार है, जो नाम से ही प्रकट है। नाम-जप का पुराना सबूत भारतवर्ष के प्राचीन शास्त्रों में न मिलता हो सो बात तो नही, पर मध्ययुग के समाज मे इसका जो रूप रहा वह निश्चयपूर्वक महायान सम्प्रदाय से ही अधिक सम्बद्ध था। इन बातों के अतिरिक्त बौद्ध तत्ववाद, जो निश्चय ही बौद्ध आचार्यों की चिन्ता की देन था, मध्ययुग के हिन्दी साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित पद-चिह्न छोड गया है, जिसे 'सन्त-साहित्य' नाम दिया गया है। इसका प्रमाण हमें आगे चलकर मिलेगा। इसी प्रकार शास्त्र-सापेक्ष भाव-धारा के भक्तों के अवतारवाद का जो रूप है, उस पर महायान सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव है। यह बात नहीं है कि प्राचीन हिन्दू-चिन्ता के साथ उसका सम्बन्ध एकदम हो ही नही, पर सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तों में उसका जो स्वरूप पाया जाता है, वह उन प्राचीन चिन्ताओं से कुछ ऐसी भिन्न जाति का है कि एक जमाने मे ग्रियर्सन, केनेडी आदि पण्डितो ने उसमे ईसाईपन का आभास पाया था ! उनकी समझ मे नही आ सका था कि ईसाई धर्म के सिवा उस प्रकार के भाव और कही से मिल सकते है। लेकिन आज शोध की दुनिया बदल गयी है। ईसाई धर्म में जो भक्तिवाद है वही महायानियों की देन सिद्ध होने को चला है, क्योंकि ऐसे बौद्धों का अस्तित्व एशिया की पश्चिमी सीमा में सिद्ध हो चुका है, और कुछ पण्डित तो इस प्रकार के प्रमाण पाने का दावा भी करने लगे है कि स्वयं ईसा मसीह भारत के उत्तरी प्रदेशों में आये थे और बौद्ध धर्म मे दीक्षित भी हुए थे ! लेकिन ये अवान्तर बातें हैं। मैं जो कहना चाहता था वह यह है कि बौद्ध धर्म क्रमशः लोकधर्म का रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिह्न हम हिन्दी साहित्य में पाते हैं। इतने विशाल लोकधर्म का थोड़ा पता भी यदि यह हिन्दी साहित्य दे सके तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है।

इधर यदि हम संस्कृत-साहित्य की ओर दृष्टि फेरें तो देखेंगे कि सन् ईसवी के बाद का संस्कृत-साहित्य उत्तरोत्तर पण्डितों की चीज बनता गया। इस साहित्य में

लोक-जीवन से हटे हुए एक कल्पित जीवन और कल्पित संसार का आभास मिलता है। महाभारत या रामायण जिस प्रकार लोक-जीवन से प्रत्यक्ष भाव से जड़ित थे, उत्तर-कालीन काव्य-ग्रन्थ वैसे नही रहे। ज्ञान, जो किसी समय प्रत्यक्ष साधना और तन्मय जीवन से उपलब्ध हुआ था, उत्तरकालीन टीकाकारों और ग्रन्थकारों के लिए बहस की चीज रह गया। असल में जो कुछ लिखा गया उसमें बुद्धि और प्रतिभा का तो काफी विकास हुआ, परन्तु यह निश्चित रूप से विश्वास कर लिया गया कि यह ज्ञान प्राचीनों के ज्ञान से निम्न कोटि का है। इसी मनोवृत्ति का परिणाम है कि प्रत्येक वैष्णव आचार्य को अपने मतवाद की पुष्टि के लिए प्रस्थान-त्रयी अर्थात् बादरायण का ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता का सहारा लेना पड़ा। यह एक व्यापक भाव फैला हुआ-सा जान पड़ता है कि बिना इनका सहारा लिये कोई मतवाद टिक ही नही सकता। ईसा की पहली सहस्राब्दी मे ही इस मनोभाव ने जड़ जमा ली थी और वह उत्तरोत्तर बद्धमूल होता गया। यहां यह स्मरण करा रखना अप्रासंगिक नही होगा कि यह चिन्ता-पारतन्त्र्य मुसलमानी धर्म के जन्म के बहुत पहले सिर उठा चुका था और परवर्ती हिन्दी साहित्य में इसके उग्र रूप को देखकर यह कहना कि यह विदेशी शासन की प्रतिक्रिया थी, बिल्कुल गलत होगा। असल मे, वह कोई और कारण होना चाहिए जिसने भारतीय चिन्ता में इस चिन्ता-पारतन्त्र्य को जन्म दिया, विदेशी आक्रमण नही।

जिस युग से हमारा विशेष सम्बन्ध है उस युग का पाण्डित्य प्रत्यक्ष जीवन से और भी दूर हटता जा रहा था। जहां छठी-सातवी शताब्दी के पण्डितों के आत्मोपलब्ध ज्ञान और प्रत्यक्ष जीवन में वेदोपनिषद् आदि दो-एक ग्रन्थ ही मध्य-वर्त्ती का काम करते थे, वहां दसवी-ग्यारहवी शताब्दी के पण्डित के लिए सभी आचार्य और उनके ग्रन्थ भी बीच में आ जुटे। इस प्रकार जिन दिनों बौद्ध धर्म उत्तरोत्तर लोकधर्म मे घुल-मिल रहा था, उन्ही दिनों ब्राह्मण-धर्म उत्तरोत्तर अलग होता जा रहा था। मूल ग्रन्थों की टीकाएँ, उनकी भी टीकाएँ, इस तरह कभी-कभी छः-छः आठ-आठ पुश्त तक टीकाओं की परम्परा चलती गयी। लेकिन ये टीकाएँ सर्वत्र चिन्ता-पारतन्त्र्य की निदर्शक नहीं हैं, कभी-कभी स्वतन्त्र मतों के प्रतिपादनार्थ भी लिखी गयी थी। शुरू-शुरू में तो यह बात और भी सच थी। ऐसी टीकाओं को असल में टीका न कहकर स्वतन्त्र ग्रन्थ ही कहना चाहिए। प्राचीन ग्रन्थो से उनको जोड रखने का मतलब यही होता था कि अपने मत को आर्ष और श्रुति-सम्मत सिद्ध किया जा सके। ये टीकाएँ साधारणत भाष्य कहलाती थीं; पर इन भाष्यो की टीकाएँ और उनकी भी जो टीकाएँ लिखी गयी, उनमें क्रमश. स्वाधीन चिन्ता कम होती गयी। उनका उद्देश्य उपजीव्य ग्रन्थो की अच्छी-बुरी समस्त युक्तियो का तर्क-बल से समर्थन करना हो गया। अब, यह निश्चित है कि ग्यारहवी शताब्दी मे इन ग्रन्थों, भाष्यो, टीकाओं और उनकी टीकाओं की परम्परा बहुत अधिक बढ गयी थी। यह आगे चलकर और भी बढ़ती चली गयी। यही इसने एक नया रास्ता पकड़ा। टीका-परम्परा की इस नयी शाखा को हम निबन्ध-साहित्य

कह सकते हैं।[1] ग्यारहवीं शताब्दी के बाद निवन्ध-ग्रन्थों की परम्परा बढ़ने लगी। हमारे आलोच्य का इस शाखा से विशेष सम्बन्ध है।

धर्मशास्त्रीय वचनों की छान-बीन करके लोक-जीवन के व्यवहार के लिए उपयोगी विधियों की व्यवस्था देना निवन्ध-ग्रन्थों का कार्य है। कौन-सा व्रत या उपवास कब करना चाहिए, किसे करना चाहिए, किसे नहीं करना चाहिए, विवाहादि अनुष्ठानों की छोटी-मोटी से लेकर बड़ी-बड़ी विधियों का निर्देश, उनके अधिकारी या अनधिकारी का निर्णय आदि लोक-जीवन से सम्बद्ध छोटी-मोटी सैकड़ों बातों का विचार, विश्लेषण और व्यवस्थापन इन ग्रन्थों में किया गया है। आधुनिक युग के पाठक को जो बात नितान्त अकिंचित्कर और निष्प्रयोजन जान पड़ सकती है, उसके लिए इन ग्रन्थों के पन्ने-के-पन्ने रँगे हैं। यह बात यहाँ प्रत्यक्ष है कि शास्त्र लोकजीवन के साथ घनिष्ठ रूप से जड़ित है। सिन्ध से लेकर असम तक इन निवन्धों का प्रचलन है। ऐसा समय तो कभी नहीं रहा होगा जब विवादास्पद विषयों पर पण्डितों की सम्मतियाँ न ली जाती हों, और इसीलिए ऐसा भी समय नहीं होगा जब इन निवन्धों की जाति के ग्रन्थ न लिखे गये हों—वस्तुतः इस जाति के ग्रन्थ सन् ईसवी से भी बहुत प्राचीन काल में बनने लगे थे; परन्तु, इस युग की अन्यान्य बातों को जिस प्रकार इन निवन्धों ने छाप लिया वैसा कभी नहीं हुआ होगा। यह स्मरण रखने की बात है कि हिन्दू धर्म ईसाइयों के धर्म की भाँति बड़े-बड़े मठों या चर्चों द्वारा नियन्त्रित नहीं था (जैसा कि पोपों के रोमन चर्च द्वारा ईसाई धर्म नियन्त्रित होता था) और न मुसलमानी धर्म के समान सामाजिक भ्रातृभाव के आदर्श द्वारा सुसंगठित ही था। असल में जिस अर्थ में मुसलमान या ईसाई धर्म है, वह अर्थ हिन्दू धर्म के लिए कभी लागू हो ही नहीं सकता। दक्षिण में शंकराचार्य और मध्वाचार्य के सम्प्रदायों के सुसंगठित मठ हैं, पर उनका भी प्रभाव उस जाति का नहीं है जैसा रोमन चर्च का। हिन्दुओं की प्रत्येक जाति को अपने आचार-विचार को स्वतन्त्र भाव से पालन करने की स्वाधीनता थी। अगर समूची-की-

1. 'टीका' शब्द यहाँ बहुत व्यापक अर्थ में लिया गया है। असल में सभी प्रकार की व्याख्याओं को टीका नहीं कहते। कम-से-कम शब्दों से जब अधिक-से-अधिक अर्थ प्रकट करने की कोशिश की जाती है तो इन छोटे-छोटे वाक्यों को सूत्र कहते हैं। जिसमें सूत्रों के सार-मर्म बताये जाते हैं, उसे वृत्ति कहते हैं। सूत्र और वृत्ति के परीक्षण को पद्धति कहते हैं। सूत्र और वृत्ति में बताये गये सिद्धान्तों पर आक्षेप करके फिर उनका समाधान करके उन सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण को भाष्य कहते हैं। भाष्य के बीच में जो विषय प्रकृत हो उसे त्यागकर और दूसरे उसी से सम्बद्ध किन्तु अप्रकृत विषयों का जो विचार किया जाता है, उसे समीक्षा कहते हैं। इन सबमें बताये गये विषयों का टीकन या उल्लेख जिसमें हो उसे टीका कहते हैं। सिद्धान्त-मात्र का जिसमें प्रदर्शन हो, उसे कारिका कहते हैं और मूल ग्रन्थ के कथन के औचित्य-विचार को वार्तिक कहते हैं। इनमें सूत्र, वार्तिक और कारिका के सिवा बाकी जितने हैं उन सबको यहाँ पर एक साधारण शब्द 'टीका' द्वारा प्रकट किया गया है।

समूची जाति ब्राह्मण-श्रेष्ठत्व को स्वीकार कर लेती थी तो चातुर्वर्ण्य में भी उसकी गणना कर ली जाती थी। हिन्दुओं की ये जातियाँ आचार-विचार में ब्राह्मणों तथा अन्य श्रेष्ठ जातियों की नकल किया करती थी और समय-समय पर ऊँची पदवी भी पा जाया करती थी। हिन्दुओं में धर्म-परिवर्तन कराने की कोई प्रथा नहीं थी, पर इतिहास से ऐसी सैकड़ो प्रकार की जातियाँ खोज निकाली जा सकती हैं जो समूह-रूप मे एक ही साथ ब्राह्मण धर्म मे शामिल हो गयी थी। यह एक प्रकार से सामूहिक धर्म-परिवर्तन ही होता था। तो जो बात मैं कहने जा रहा था वह यह है कि बौद्ध धर्म के लोप होने के बाद ऐसी बहुत-सी जातियाँ ब्राह्मण-धर्म के अन्दर आ गयी थी। इन जातियों के आने के कारण बहुत-से व्रत, पूजा, पार्वण आदि इस धर्म मे आ घुसे, जिनकी प्राचीन ग्रन्थों में कोई व्यवस्था नही थी। पुराणों से इस बात का समाधान किया गया था। इन जातियों और इनकी समस्त आचार-परम्परा को धीरे-धीरे इन टीकाओ तथा ऋषियों के नाम पर लिखे गये नये-नये स्मृति और पुराण ग्रन्थों में अन्तर्भुक्त किया गया। यह कार्य इतना जटिल और विशृंखल हो गया होगा कि पण्डितों को उसके नियमन और व्यवस्थापन की जरूरत पड़ी होगी। निबन्ध-ग्रन्थ उसी के परिणाम है। इस प्रकार ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी के पण्डितों को लोक-जीवन की ओर झुकने को बाध्य होना पडा था। एक विचित्र प्रवृत्ति इन निबन्धों मे स्पष्ट ही दिखायी देती है। स्तूपाकार शास्त्र-वचनों के ढेर में से वही वाक्य प्रामाण्य मान लिये जाते है जिनका उपयोग प्रचलित लोक-व्यवहार के समर्थन मे हो सके। बाकी वाक्यों को 'ननु' कहकर पूर्वपक्ष मे फेंक दिया जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि बगाल मे जो वाक्य पूर्वपक्ष का है वही महाराष्ट्र मे उत्तर-पक्ष का, और उड़ीसा मे जो वाक्य उत्तर-पक्ष का है वही काशी मे पूर्व का। फिर ऐसे विशेप वचन भी बहुत अधिक है जो किसी एक ही प्रदेश में माने जाते है। इन सब बातों से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उस युग का पाण्डित्य भी लोक-जीवन की ओर झुकने लगा था। हम देख चुके हैं कि बौद्ध पण्डित भी लोकमत को ओर नत हो चुके थे और ये स्मार्त्त पण्डित भी उसी ओर झुके। परन्तु दोनों का झुकाव दो दिशाओं में हुआ। एक निकृष्ट कोटि के जादू, टोना, टोटका आदि की ओर झुके और दूसरे लोक-जीवन के अकिंचित्कर निरर्थक आचार व्यवहार की ओर। इस प्रकार स्मार्त्त और बौद्ध, दोनों ही हिन्दी साहित्य के जन्म-काल के समय लोक-मत का प्राधान्य स्वीकार कर चुके थे।

हम उत्तर और पूर्व की अवस्था देख चुके, मध्यदेश की अवस्था से भी परिचित हो गये, अब पश्चिम सीमा के यशस्वी प्रदेश राजपूताने और पजाब की अवस्था देखी जाय। राजपूताने के चारण कवियो के मुख से और नाना स्थानों के लेखों आदि से सच्ची परिस्थिति हमे मालूम होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इधर प्राचीन क्षत्रिय-दर्प और वीरता ज्यों-की-त्यों वर्तमान थी। पर बहुलाश मे अपने दुर्बल संगठन और अग्रयागामी कुलाभिमान के कारण छोटे-छोटे राजा और

बहुत कठिन नहीं है। परन्तु उक्त कार्य करने के पूर्व इस विषय का विचार कर लेना आवश्यक है कि अपभ्रंश है क्या वस्तु। असल में बहुत-से लोगों में अपभ्रंश भाषा के विषय में बहुत-सी भ्रान्त धारणाएँ हैं। मैं अगर इस बात को ठीक-ठीक अपने रास्ते समझाने का प्रयत्न करूँ तो मुझे फिर कुछ पहले से ही आरम्भ करना पड़ेगा। उसके लिए अप्रासंगिकता का दोषभागी नहीं बनने का ही प्रयत्न करूँगा।

प्राकृत के सर्वाधिक प्राचीन व्याकरण में चार प्रकार की प्राकृतों की चर्चा है – प्राकृत, शौरसेनी, मागधी और पैशाची। चार अध्यायों में उक्त चारों की विवेचना की गयी है। प्रथम अध्याय में जिस प्राकृत की चर्चा की गयी है उसका कोई नाम नहीं दिया गया है। वह एक प्रकार की स्टैण्डर्ड प्राकृत है, परन्तु शौरसेनी के प्रकरण में विशेषताएँ बता देने के बाद ग्रन्थकार ने अन्त में एक सूत्र कहा है—'शेषं महाराष्ट्रीवत्' अर्थात् बाकी महाराष्ट्री के समान समझना चाहिए। इससे यह अनुमान होता है कि पहले अध्याय में जिस प्राकृत की चर्चा है वह महाराष्ट्री है। मागधी मगध और बंगाल की भाषाओं का प्राचीन रूप है। पैशाची कहाँ की भाषा थी, इस बात में नाना प्रकार के अटकल लगाये गये हैं। प्राचीन ग्रन्थों में कभी यह दर्दिस्तान की, कभी विन्ध्याचल की पहाड़ियों की, कभी सुदूर दक्षिण की भाषा मानी गयी है। जान पड़ता है, यह उस समय की आर्येतर जातियों द्वारा बोली जानेवाली आर्यभाषा है। वे उसका शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते होंगे और अपने नादाभ्यास के अनुकूल विकृत करके बोलते होंगे। रह गयी शौरसेनी और महाराष्ट्री। वस्तुतः प्राकृत वैयाकरणों ने इनमें समानता ही बहुत देखी थी, असमानता कम। जहाँ तक शौरसेनी का सम्बन्ध है, यह निश्चित है कि वह पश्चिमी हिन्दी का पूर्वरूप है; पर 'महाराष्ट्री' शब्द भ्रमात्मक है। आधुनिक मराठी भाषा या महाराष्ट्र प्रान्त से इसका कदाचित् कोई सम्बन्ध नहीं है। कई पण्डितों ने व्यर्थ ही दोनों को एक ही सिद्ध करने का निरर्थक प्रयत्न किया है। नाटकों में स्त्रियाँ प्राकृत बोलती हैं। जब वे पद्य में बोलती हैं तो महाराष्ट्री और गद्य में बोलती हैं तो शौरसेनी का प्रयोग करती हैं। हॉर्नले ने एक बार इसीलिए कहा था कि शौरसेनी और महाराष्ट्री दो पृथक् भाषाएँ नहीं हैं बल्कि एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं, एक का प्रयोग पद्य में होता था और दूसरी का गद्य में। यह बात मानी हुई है कि पद्य की भाषा कुछ प्राचीनताश्लिष्ट और कोमलीकृत होती है। गद्य में ठीक वैसी ही भाषा व्यवहृत नहीं भी होती। इस प्रकार असल में वररुचि ने दो ही भाषाओं की चर्चा की है। शौरसेनी (अर्थात् पश्चिमी हिन्दी की पूर्ववर्ती भाषा) और मागधी अर्थात् बिहारी, बंगाली, उड़िया आदि की पूर्ववर्ती भाषा। पैशाची कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं बल्कि आर्य भाषा का आर्येतर-भाषित विकृत रूप है; बहुत-कुछ वैसी ही जैसी 'शान्ति-निकेतन' में काम करने वाले सन्थालों की बँगला।

जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है, उसमें इन दोनों जातियों की भाषाओं का स्थान है। असल में शौरसेनी और मागधी दो भाषाओं के बोलनेवाले आर्यों की

नहीं रखी। हेमचन्द्र के व्याकरण में प्राप्त दोहों के अतिरिक्त उन्होंने 'विक्रमोर्वशीय', 'सरस्वतीकण्ठाभरण', 'वैतालपंचविंशति,' 'सिंहासनद्वात्रिंशतिका' और 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' आदि ग्रन्थों में पाये जानेवाले अपभ्रंश-पद्यों को तथा 'प्राकृत-पैंगलम्' में उदाहरण-रूप से उद्धृत कविताओं को ढूंढ़ निकाला। सन् 1902 ई. में उन्होंने 'माटेरियालियन् सुर केण्टनिस डेस अपभ्रंश' नामक पुस्तक को अपने प्राकृत-व्याकरण का परिशिष्ट कहकर प्रकाशित किया। इसके बाद उनका स्वर्गवास हो गया। पिशेल अपभ्रंश के पाणिनि थे। सुप्रसिद्ध विद्वान् मुनि जिनविजयजी ने इस पण्डित की अपूर्व कृतियों को देखकर उल्लास के साथ कहा है कि यह महाविद्वान् 'पाणिनिस्मृत आपिशल' नामक वैयाकरण का पुनरवतार तो नहीं था!' मुनिजी ने 'पउमसिरीचरिउ' नामक अपभ्रंश-काव्य की प्रस्तावना में अपभ्रंश साहित्य के प्रकाश में आने की मनोरंजक घटना का वृत्तान्त दिया है। सचमुच ही अपभ्रंश की रचनाओं का पाया जाना हमारे देश के साहित्यिक इतिहास में उल्लसित करनेवाली घटना है।

बहुत दिनों तक पिशेल का यह मत दुहराया जाता रहा कि अपभ्रंश का साहित्य एकदम खो गया है। गुणे, बनर्जी, शास्त्री आदि ने बहुत बाद तक भी इसी मत को दुहराया। गुलेरीजी को 'कुमारपाल-प्रतिबोध' को देखने का अवसर मिल गया था, परन्तु विश्वास उनका यही था कि अपभ्रंश भाषा का साहित्य प्रायः लुप्त हो चुका है। कुछ रचनाएँ तो उनके जीवित-काल में प्रकाशित भी हो चुकी थीं; पर उनकी ओर उनका ध्यान आकृष्ट नहीं हो सका था। सन् 1913-14 ई. में डॉ. हरमन याकोबी नामक जर्मन पण्डित इस देश में आये। जैनशास्त्रों के अध्ययन में इन्हें यश प्राप्त हो चुका था। अहमदाबाद के जैन भाण्डार का निरीक्षण करते हुए इन्हें एक साधु के पास 'भविसयत्त-कहा' नामक पुस्तक देखने को मिली। देखकर वे फड़क उठे। यह अपभ्रंश का काव्य था। उन्होंने बड़ी कठिनता से उस पुस्तक की प्रतिलिपि करायी और उसका फोटो लिया। फिर उन्हें राजकोट के एक अन्य जैन-मुनि के पास 'नेमिनाथचरित' प्राप्त हुआ। जब याकोबी अपने देश को लौटे तब यूरोप का प्रथम महायुद्ध छिड़ गया और उनके द्वारा प्राप्त ग्रन्थों का प्रकाशन रुक गया। सन् 1918 ई. में म्यूनिख की रायल एकेडेमी ने याकोबी द्वारा सम्पादित 'भविसयत्त-कहा' प्रकाशित की। इसके कोई तीन वर्ष बाद अपभ्रंश की दूसरी रचना 'नेमिनाथचरित' में से एक अन्तःकथा—'सणंकुमारचरिउ'—लेकर उसे सम्पादित करके प्रकाशित किया। ये दोनों ही ग्रन्थ अत्यन्त परिश्रम से सम्पादित हुए थे। इधर बड़ौदा के महाराज सर सयाजीराव गायकवाड़ की आज्ञा से सन् 1914 ई. में श्री चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने पाटण के जैनग्रन्थ-भाण्डार की हजारों पुस्तकों की परीक्षा के उपरान्त कई अपभ्रंश पुस्तकों का पता लगाया, जिनमें मुख्य ये हैं—'सन्देशरासक', 'वज्रस्वामिचरित्र', 'अन्तरंगसन्धि', 'चौरंगसन्धि', 'सुलसाख्यान', 'चच्चरी', 'भावनासार', 'परमात्मप्रकाश', 'आराधना', 'मयणरेहासन्धि', 'नमयासुन्दरिसन्धि', 'भविसयत्त-कहा', 'पउमसिरी-

चरिउ', इत्यादि (इनमें कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है)। श्री दलाल ने 'भविसयत्त-कहा' का सम्पादन भी आरम्भ किया था, पर सन् 1918 ई. में उनका अचानक स्वर्गवास हो गया। बाद में स्वर्गीय पाण्डुरंग गुणे ने इस कार्य को पूरा किया। यह संस्करण भी छपकर प्रकाशित हो चुका है। फिर तो बाद में और भी बहुत-सी अपभ्रंश पुस्तकों का पता चला। बहुत-से ग्रन्थ-भाण्डारों में इन पुस्तकों की भाषा को प्राकृत समझ लिया गया था और इस प्रकार वे उपेक्षित बनी रही। जब 1918 ई. में भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना हुई और डेकन कालेज में सुरक्षित प्रतियाँ उस सस्था में लायी गयी, तो सुप्रसिद्ध विद्वान् मुनि जिनविजयजी ने जैन ग्रन्थो का अवलोकन और परीक्षण किया। उस समय उन्हें अनेक महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश-ग्रन्थो का पता लगा। 'पुफ्फयन्त' या 'पुष्पदन्त' का 'तिसट्ठी-लक्खण-महापुराण', स्वयम्भू का 'पउमचरिउ', 'हरिवंशपुराण' आदि पुस्तकें प्राप्त हुईं। उन्ही दिनो हिन्दी-जगत् के सुपरिचित विद्वान् प. नाथूराम प्रेमी ने जैन-साहित्य-संशोधक नामक त्रैमासिक पत्र में 'पुष्पदन्त और उनका महापुराण' नामक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा। उन्होने अपभ्रंश ग्रन्थों के बारे मे और भी कई महत्त्वपूर्ण लेख लिखे जो अब 'जैन-साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में संगृहीत हो गये हैं। प्रेमीजी ने 'जसहरचरिउ', 'णायकुमारचरिउ' नामक दो और अपभ्रंश ग्रन्थ खोज निकाले। फिर प्रोफ़ेसर हीरालालजी जैन ने कारंजा के जैनभाण्डार से 'करकण्डु-चरिउ', 'सावयधम्म दोहा', 'पाहुड़दोहा' आदि कई ग्रन्थों को खोज निकाला और सम्पादित करके उन्हे प्रकाशित भी कराया। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने स्वयम्भू और पुष्पदन्त की हस्तलिखित पोथियों से संग्रह करके कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ अपने 'काव्यधारा' नामक ग्रन्थों में प्रकाशित की हैं। इधर कई विद्वानों ने इस साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है, जिनमें श्रीमुनि जिनविजय, आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, डॉ. हीरालाल, डॉ. परशुराम वैद्य, पं. लालचन्द्र गांधी, श्री ह. व. भायाणी और डॉ. अल्सडोर्फ प्रभृति विद्वानों के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। इन विद्वानों के परिश्रम से अनेक अपभ्रंश-ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है और अब यह नहीं कहा जा सकता कि अपभ्रंश का साहित्य एकदम लुप्त हो गया है।

सन् 1950 ई. में श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम. ए., शास्त्री के सम्पादकत्व मे आमेर-शास्त्रभाण्डार (जयपुर) के ग्रन्थों का एक प्रशस्ति-संग्रह प्रकाशित हुआ है जिसमें लगभग 50 अपभ्रंश-ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ संगृहीत हैं। इनमें से कुछ का तो विद्वानो को पहले से भी पता था, कुछ नयी हैं। इनमें स्वयम्भू, पुष्पदन्त, पद्मकीर्ति, वीर, नयनन्दि, श्रीधर, श्रीचन्द, हरिषेण, अमरकीर्ति, यशःकीर्ति, धनपाल, श्रुतकीर्ति और माणिक्यराज, रइधू आदि की कृतियाँ हैं। अधिकांश रचनाएँ 13वीं शताब्दी के बाद की बतायी गयी हैं; पर उसके बाद भी 16वीं शताब्दी तक अपभ्रंश में रचनाएँ होती रही हैं। इस प्रशस्तिसंग्रह के रइधू, यशःकीर्ति, धनपाल, श्रुतकीर्ति और माणिक्यराज चौदहवीं और उसके बाद की

शताब्दियों के कवि है।

ये ग्रन्थ अधिकतर जैन-ग्रन्थ-भाण्डारों से ही प्राप्त हुए है और अधिकांश जैन कवियों के लिखे हुए है। स्वभावतः ही इनमे जैन धर्म की महिमा बतायी गयी है और उस धर्म के स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर ही जीवन बिताने का उपदेश दिया गया है। परन्तु इस कारण से इन पुस्तकों का महत्त्व कम नही हो जाता। परवर्त्ती हिन्दी-साहित्य के काव्यरूप के अध्ययन मे ये पुस्तकें बहुत सहायक है।

किन्तु यह नही समझना चाहिए कि जैनेतर मूलों से अपभ्रंश का साहित्य एकदम मिला ही नही। सन् 1902 ई. मे ही चन्द्रमोहन घोष ने 'प्राकृत-पैंगलम्' नामक छन्दोविधान के ग्रन्थ का सम्पादन समाप्त किया था। इसका प्रकाशन 'बिब्लियोथिका इण्डिका' सिरीज मे हुआ। इसमें बहुत-सी अपभ्रंश-कविताएँ उदाहरणरूप में संगृहीत है। यद्यपि बहुत पहले ही पिशेल ने इस पुस्तक मे सगृहीत कविताओ पर विचार किया था, फिर भी दीर्घकाल तक पुराने हिन्दी-साहित्य की आलोचना के प्रसग में इस ग्रन्थ की उपेक्षा ही होती रही। बहुत बाद मे जाकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस पुस्तक मे संगृहीत रचनाओं का उपयोग किया था। 'सन्देशरासक' अब्दुल रहमान नामक प्रथम मुसलमान कवि का देशी भाषा में लिखा काव्य है। अब यह प्रकाशित हो गया है।

सन् 1323 बगाब्द अर्थात सन् 1916 ई. में महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से कुछ अपभ्रंश की पुस्तकें प्रकाशित करायी। इन पुस्तकों की भाषा को उन्होने प्राचीन बगला कहा। पुस्तक नाना दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण थी; परन्तु जान पड़ता है कि बंगाक्षरो मे छपी होने के कारण हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इसकी ओर उस समय आकृष्ट न हो सका। इसके दोहों की भाषा में परिनिष्ठित या स्टैंण्डर्ड अपभ्रंश के रूप ही मिलते है; पर पदो मे पूर्वी प्रदेश की भाषा के चिह्न भी मिल जाते हैं। इन चिह्नों को देखकर कभी इस भाषा को बँगला का पूर्वरूप कहा गया है तो कभी मैथिली और मगही का और कभी भोजपुरी का। कुछ लोगो ने इसमे उड़िया भाषा का पूर्वरूप भी देखा है। निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य के परवर्त्ती काव्य-रूपो के अध्ययन की दृष्टि से यह पुस्तक अत्यन्त ही उपादेय है।

बौद्ध गानो मे भी जिस श्रेणी की पदरचना है वह आगे चलकर कबीर आदि सन्तों की रचनाओं में अधिक मुखर हुई। यह तो नही कहा जा सकता कि बँगला भाषा मे उसका चिह्न ही नही मिलता; परन्तु वह अधिक लोकप्रिय बंगाल के बाहर ही हुई।

सन् 1918 ई. और सन् 1921 ई. के जरनल ऑफ डिपार्टमेण्ट ऑफ लेटर्स (कलकत्ता-विश्वविद्यालय) मे डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने कुछ और बौद्ध सिद्धों के दोहे प्रकाशित कराये। बाद मे पुस्तकाकार में भी इनका सकलन प्रकाशित हुआ।

इस अपभ्रंश साहित्य के विषय में सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् म. म. प. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा 'मध्यकालीन भारतीय सस्कृति' नामक ग्रन्थ मे

लिखते हैं कि अपभ्रंश भाषा का प्रचार लाट (गुजरात), सुराष्ट्र, व्रवण (मारवाड़), दक्षिणी पंजाब, राजपूताना, अवन्ती और मन्दसोर आदि में था। वस्तुतः अपभ्रंश किसी एक देश की भाषा नहीं, किन्तु मागधी आदि भिन्न-भिन्न प्राकृत भाषाओं के अपभ्रंश या बिगड़े हुए रूपवाली मिश्रित भाषा का नाम है। उसका प्रायः भारत के दूर-दूर के विद्वान् प्रयोग करते थे। राजपूताना, मालवा, काठियावाड़ और कच्छ आदि के चारणों तथा भाटों के डिंगल भाषा के गीत इसी भाषा के पिछले विकृत रूप में हैं। पुरानी हिन्दी भी अधिकांश इसी से निकली है। इस भाषा का साहित्य बहुत विस्तृत मिलता है जो बहुधा कवितावद्ध है। इसमें दोहा-छन्द प्रधान है। इस भाषा का सबसे बृहत् और प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भविसयत्त-कहा' है, जिसे धनपाल ने दसवीं सदी में लिखा। महेश्वर-सूरिकृत 'संजममंजरी', पुष्पदन्तविरचित 'तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार', नयनन्दी-निर्मित 'आराधना', योगीन्द्रदेवलिखित 'परमात्मप्रकाश', हरिभद्र का 'नेमिनाहचरिउ', वरदत्तरचित 'वैरसामिचरिउ', 'अन्तरंग सन्धि', 'सुलसाख्यान', 'भवियकुटुम्ब-चरित्र', 'सन्देश-शतक' और 'भावनासन्धि' आदि भी इसी भाषा के ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में—सोमप्रभ के 'कुमारपालप्रतिबोध', रत्नमन्दिरगणि की 'उपदेशतरंगिणी', लक्ष्मणगणिकृत 'सुपासनाहचरियम्', 'दोहाकोष'; कालिदासकृत 'विक्रमोर्वशीय' (चतुर्थ अंक), हेमचन्द्रलिखित 'कुमारपालचरित' (प्राकृत द्वयाश्रय काव्य), 'कालिकाचार्य-कहा' और 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' आदि में स्थल-स्थल पर अपभ्रंश का प्रयोग किया गया है। हेमचन्द्र ने अपने 'प्राकृत व्याकरण' में अपभ्रंश के जो 175 उदाहरण दिये हैं, वे भी अपभ्रंश साहित्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। उनसे मालूम पड़ता है कि अपभ्रंश साहित्य बहुत विस्तृत और उन्नत था। उन उदाहरणों में शृंगार, वीरता, रामायण और महाभारत के अंश, हिन्दू और जैन धर्म तथा हास्य के नमूने मिलते हैं। इस भाषा के साहित्य में प्रायः जैनियों ने बहुत परिश्रम किया है।"[1]

यह तो स्पष्ट ही है कि ओझाजी ने अपभ्रंश साहित्य के उत्कर्ष के विषय में जो कुछ कहा है उसका सम्बन्ध उस काल से है जब मुसलमान इस देश में नहीं आये थे और यदि आये थे तो जम नहीं पाये थे। लेकिन यह बात विवादास्पद नहीं है। लोक-भाषा का साहित्य हमेशा वर्त्तमान था, इस बात में कभी दो मत नहीं रहे। लेकिन जिस बात पर यहाँ जोर दिया जा रहा है वह यह है कि नाना कारणों से इस काल में अपभ्रंशी कवियों का सम्मान भी राज-दरबार में होता था और राजा लोग इन कवियों को अपने दरबार में रखना उतना ही आवश्यक समझते थे जितना संस्कृत भाषा के कवियों और पण्डितों को। इतना ही नहीं, अधिकांश राजा इनसे विशेष अनुराग प्रकट करने लगे थे। हमारे आलोच्य युग के आरम्भ में राजशेखर कवि ने 'काव्य-मीमांसा' नामक एक विशाल विश्वकोश लिखा था।

1. देखिए, परिशिष्ट : जैन साहित्य।

दुर्भाग्यवश सम्पूर्ण ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है, उसका केवल एक अंश ही पाया गया है। इस अंश में भी हमारे काम की बहुत-सी बातें हैं। राजशेखर ने राजदरबार के जिस आदर्श का विधान किया है, सचमुच ही उसी प्रकार का हुआ करता था, यह विश्वास करने में कोई बाधा नहीं। राजशेखर कहते हैं कि राजा का कर्तव्य होना चाहिए कि वह कवियों की सभाओं का आयोजन करे। इसके लिए एक सभामण्डप बनवाना चाहिए, जिसमें सोलह खम्भे, चार द्वार और आठ अटारियाँ हों। राजा का क्रीड़ा-गृह इससे सटा हुआ होना चाहिए। इसके बीच में चार खम्भों को छोड़कर हाथ-भर ऊँचा एक चबूतरा होगा और उसके ऊपर एक मणि-जटित वेदिका। इसी वेदिका पर राजा का आसन होगा। इसके उत्तर की ओर संस्कृत भाषा के कवि बैठेंगे। यदि एक ही आदमी कई भाषाओं में कविता करता हो तो जिस भाषा में वह अधिक प्रवीण हो उसी भाषा का कवि उसे माना जायेगा। जो कई भाषाओं में बराबर प्रवीण है वह उठ-उठकर जहाँ चाहे बैठ सकता है। संस्कृत कवियों के पीछे वैदिक, दार्शनिक, पौराणिक, स्मृतिशास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी आदि का स्थान रहेगा। पूर्व की ओर प्राकृतिक भाषा के कवि और उनके पीछे नट, नर्त्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, तालावचर आदि रहेंगे। पश्चिम की ओर अपभ्रंश भाषा के कवि और उनके पीछे चित्रकार, लेपकार, मणिकार, जौहरी, सुनार, बढ़ई, लोहार आदि का स्थान होना चाहिए। दक्षिण की ओर पैशाची भाषा के कवि और उनके पीछे वेश्या, वेश्या-लम्पट, रस्सों पर नाचनेवाले नट, जादूगर, जम्भक (?), पहलवान, सिपाही आदि का स्थान निर्दिष्ट रहेगा।

राजशेखर के इस वक्तव्य से इतना तो स्पष्ट ही है कि अपभ्रंश की कविता राजसमादृत होती थी, परन्तु यह निश्चित है कि उसका पद संस्कृत और प्राकृत के बाद था। संस्कृत का आदर इस देश में हमेशा से ही रहा है, पर इससे यह निष्कर्ष निकालना अन्याय है कि मुसलमानों के आगमन के पहले अपभ्रंश या लोक-भाषा का स्थान उपेक्षणीय समझा जाता था। किन्तु आज तक भी कभी ऐसा समय नहीं आया जब हिन्दू राजाओं ने लोकभाषा का स्थान संस्कृत के बराबर या ऊपर समझा हो। मुसलमानी सत्ता का होना या न होना, इसका कारण नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि यदि मुसलमानों के आने के पहले लोकभाषा को कोई अच्छी मर्यादा नहीं मिली थी तो वह बाद में भी नहीं मिली। और मेरी दृष्टि में सही बात तो यह है कि मुसलमानी शासन के प्रभाव से अवस्था चाहे जो कुछ भी क्यों न रही हो, उसके पहले प्राकृत और अपभ्रंश की कविताएँ संस्कृत के समान ही आदर पाती थीं। कबीर ने जो कहा था कि, 'संस्कृत कूप-जल कबीरा भाषा बहता नीर।' वह मुसलमानी प्रभाव के कारण नहीं। ठीक इस प्रकार की उक्ति बहुत-बहुत पहले कही जा चुकी थी। असल में दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में 'उत्तिविसेसो कव्वं भाषा जा होउ सा होउ' वाली धारणा बद्धमूल हो चुकी थी। शायद ही कोई उल्लेखयोग्य संस्कृत भाषा का अलंकारशास्त्री हो जिसने संस्कृत की कविताओं के साथ-ही-साथ

प्राकृत और तत्काल प्रचलित लोकभाषा की कविताओं का विवेचन न किया हो। संस्कृत के उत्साहशील प्रचारक राजा भोज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' के विषय में भी यही बात ठीक है। इस ग्रंथ मे भी संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की कविताएँ समान भाव से उद्धृत की गयी है और मूंड़ मारके भी कोई यह नही सिद्ध कर सकता कि ग्रन्थकार ने इन कविताओं को कम महत्त्व की चीज समझा था। मुसलमानी सत्ता की प्रतिष्ठा के बाद कभी-कभी इस बात का सबूत मिल जाता है, जैसे, केशवदास के वक्तव्य से कि ग्रन्थकार संस्कृत के बदले लोक-भाषा मे कविता लिखने के लिए लज्जित है। पुष्पदन्त, स्वयम्भू आदि कवियों ने अपने ग्रन्थों मे अत्यधिक विनय प्रकट किया है और विविध विषयों के प्रति अपने अज्ञान की बात कही है। परन्तु इन विषयों की सूची से ही स्पष्ट हो जाता है कि इस विनय के पीछे कितना बड़ा गर्व है। हाल ही मे मुनि जिनविजयजी ने 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' का सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ से पता चलता है कि एक बार राजा भोज ने 'सिद्ध रस' बनाना चाहा था, जो न बन सका था। इस पर राजा ने सिद्ध रस के बनाने का दावा करनेवाले योगियों का मजाक करने के लिए लोकभाषा का एक नाटक लिखाकर अभिनय कराया था। नाटक जब खेला जा रहा था और पात्र जब आपस मे कह रहे थे :

कालिका नट्ठा नट्ठा कस्स कस्स नागस्स वा वंगस्स वा।
नहि धम्मन्त फुक्कन्त, अम्हकन्त सीसस्स कालिम···[1]

[कालिका नष्ट हुई, नाश हुआ किस-किस नाग और वंग (धातुओं) का! अब सीस की (अपने-अपने सिर की, और सीसा धातु की), कालिमा को धौंकते हुए, फूंकते हुए, पोंछते हुए···सिद्धों का नही (मुंह काला हुआ?)]

यह सुनकर जब राजा लोट-पोट होकर हँस रहा था तो उसे सम्बोधन करके एक सिद्ध-रस योगी बोला :

अत्थि कहंत किंपि न दिसइ।
नत्थि कहउ त सुहगुरु रूसइ॥
जो जाणइ सो कहइ न कीमइ।
अज्जाणं तु वियारइ ईसइ॥[2]

इस ग्रन्थ से और भी अनेकानेक राजाओं के दरबारों मे लोकभाषा के पर्याप्त सम्मान का प्रमाण पाया जाता है। और केवल राजा भोज या उनके पूर्ववर्ती राजा इन कविताओं का सम्मान ही नहीं करते थे, स्वयं भी कविता लिखते थे। भोज राजा के पूर्वाधिकारी और उनके पितृव्य महाराज मुंज की अपभ्रंश कविताएँ किसी भी भाषा के गर्व का विषय हो सकती है। इन दोहों को थोड़ा-सा रूपान्तरित

1. पूरा पद नहीं पाया गया है। अन्तिम अंश के टूट जाने से मतलब अपूर्ण रह जाता है।
2. 'है' कहूँ तो कुछ नहीं दिखता, 'नहीं है' कहूँ तो सद्गुरु रुष्ट होते हैं; जो जानता है वह कहकर प्रकट नहीं कर सकता; अजानी का, किन्तु, विचार ऐसा है।

कर दिया जाय तो वे प्राचीन हिन्दी के हो जायेंगे। दो-एक उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं :

मा गोलिणि मण गव्वु करि, पिक्खिवि पड्डुरुयाइ।
पंचइ सइं बिहुत्तरां, मुजह गयअ गयाइ॥
मुंज भणइ मिणालवइ, केसा काइं चुयांति।
लद्धउ साउ पयोहरहं, बंधण भणिअ रुअन्ति॥
मुंज भणइ मिणालवइ, गउ जुव्वण मण झूरि।
जइ सक्कर सयखण्ड किय, तोइ स मिट्ठी चूरि॥

[छाया—

मत ग्वालिनि मन गर्व करु लखि (निज) पड़वा-पुंज।
गज पाँच सै बहोतरा, गये रहे सँग मुंज॥
मुंज भनै कि मृणालवति, केसन्हि किन (जल) चूव।
लहि सवाद सु-पयोधरन, (अब)बाँधन लखि रुव (रोव)॥
मुंज भनै कि मृणालवति, गत यौवन मति झूरि।
जउ सक्कर सत खण्ड किय, तऊ सु मीठी चूरि॥]

स्वयं महाराज भोज ने अपभ्रंश से मिलती हुई प्राकृत भाषा की कविता लिखी थी और उसे बड़े आदर के साथ अपनी भोजशाला मे खुदवाके जड़ा था। यह भोजशाला आजकल धार की कमाल मौला की मस्जिद के नाम से मशहूर है। राजा भोज को इस अपभ्रंश कविता की कहानी जितनी ही करुण है, उतनी ही मजेदार भी। सन् 1905 में प्रोफेसर हुच को स्थानीय एज्युकेशनल सुपरिण्टेण्डेण्ट मिस्टर लेले ने खबर दी कि कमाल मौला की मस्जिद का मिहराब टूट गया है और उसमें दो-चार पत्थर निकल आये है जिन पर पुरानी नागरी में कुछ लिखा हुआ है। इन पत्थरों को उलटकर मस्जिद में जड़ दिया गया था ताकि लिखा हुआ अंश पढ़ा न जा सके। अब ये पत्थर खिसककर गिर पड़े तो उनका पढ़ना सम्भव हुआ। पर मुसलमानों ने हठ किया कि वे पत्थर वहाँ से हटाये नहीं जा सकते। हुच साहब ने भारत-सरकार से लिखा-पढ़ी की और सरकार के हस्तक्षेप का नतीजा यह हुआ कि पत्थर लगा तो उसी मिहराब मे दिया गया, पर लिखी हुई पीठ सामने कर दी गयी। फिर भारत सरकार की व्यवस्था से ही उसका प्रत्यंकन उक्त प्रोफेसर को भेज दिया गया। दो पत्थरों पर राजा भोज के वंशज अर्जुनदेव वर्मा के गुरु गौड़ ब्राह्मण मदन कवि की लिखी हुई एक नाटिका के दो अंक थे। शेष दो अंक भी निश्चय ही उसी मिहराब मे कहीं चिपके होंगे। बाकी दो पत्थरों पर महाराज भोज के लिखे हुए आर्या छन्द खोदे गये थे। ये अपभ्रंश भाषा से मिलती-जुलती प्राकृत में लिखे गये थे। इस शिलापट्ट की प्रतिच्छवि 'एपिग्राफिका इण्डिका' की आठवीं जिल्द में छपी है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है, और बहुत-से यूरोपियन पण्डितों ने किया भी है, कि यह अपभ्रंश नाम से प्रसिद्ध भाषा क्या सचमुच लोक-भाषा थी?

विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक मे जिस अपभ्रंश के नमूने पाये जाते हैं, उसकी भीतरी जांच का परिणाम यह निकला है कि उसमे किसी एक सर्वसाधारण नियम का अभाव है। उसकी वास्तविकता के सम्बन्ध में जैकोबी जैसे अपभ्रंश और प्राकृत के प्रामाणिक विद्वान् को भी सन्देह ही था। उत्तर में कहा गया है कि नाटक की प्रतिलिपि करनेवालों ने मूल भाषा को ठीक-ठीक न समझकर उसे साहित्यिक प्राकृत के समान करना चाहा होगा और कालान्तर मे वह भाषा सदोष हो गयी होगी। यह बहुत अच्छी युक्ति नही है, पर अगर यह स्वीकार भी कर ली जाय तो सवाल होता है कि सन् ईसवी की छठी शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश नाम की एक ही भाषा कैसे बनी रही होगी? असल मे कालिदास की और धनपाल की अपभ्रंश भाषा एक ही नही है। अपभ्रंश का सबसे पुराना उल्लेख भी केवल कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' में ही नही मिलता, उससे भी बहुत पुराने काल मे मिलता है। भरत के नाट्य-शास्त्र में यद्यपि अपभ्रंश नामक भाषा का उल्लेख नहीं है, पर लोकभाषा के नाम पर ऐसे उदाहरण मिल जाया करते हैं, जिनमें अपभ्रंश के लक्षण पाये जाते हैं और जो निश्चित रूप से साहित्यिक प्राकृत से एक पैर आगे की भाषा के नमूने हैं। भरत ने मागधी, आवन्ती, प्राची, शौरसेनी, अर्द्ध-मागधी, वाल्हीका और दाक्षिणात्या—इन सात प्राकृत भाषाओं की चर्चा करने के बाद (17-48) शबर, आभीर, चाण्डलादिकों की भाषा को अलग से नाम दिया है। जिन दिनों भरत का नाट्य-शास्त्र बन रहा था, उन्ही दिनों भारतवर्ष के पश्चिम और पश्चिमोत्तर प्रदेशों में आभीरों का आविर्भाव हो चुका था। भरत मुनि ने लक्ष्य किया था कि इन लोगों का आधिक्य जिन प्रदेशों में था—अर्थात् सिन्धु, सौवीर और हिमालय के अंश-विशेष मे—वहाँ उकारबहुला भाषा जनसाधारण मे प्रचलित हो चली थी।[1] भाषाशास्त्रियों में से कई लोगो का अनुमान है कि यह उकारबहुला भाषा अपभ्रंश से मिलती-जुलती होगी।

आगे चलकर शास्त्रकारो का यह स्पष्ट निर्देश भी पाया जाता है कि काव्य में आभीर आदि की भाषा को अपभ्रंश कहते है (दण्डी, काव्यादर्श, 1-3-6)। यह स्मरण रखने की बात है कि यह केवल बोली का विवरण नही है, पर काव्य-भाषा का ब्यौरा है। दण्डी ने यह भी कहा है कि संस्कृत के काव्यों मे सर्ग होते हैं प्राकृत में सन्धि और अपभ्रंश में आसार आदि। इससे इतना तो पर्याप्त स्पष्ट है कि दण्डी के युग मे अपभ्रंश भाषा में काव्य होने लगे थे। इन काव्यों के रचयिता बड़े-बड़े विद्वान् और दार्शनिक गण नहीं थे बल्कि साधारण जनता भी थी, जिसे दण्डी ने आभीर प्रभृति कहा है। जान पड़ता है, आभीरों की भाषा ही उस युग के पण्डितों की दृष्टि में अपभ्रंश का उत्तम नमूना थी। परवर्ती काल के सभी पण्डित नाटक के आभीर पात्रों के मुख से अपभ्रंश बोलवाने का निर्देश करते है। पर यह समझना

1. हिमवत्-सिन्धु-सौवीरान्ये च देशाः समाश्रिताः।
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत्। (17-61)

ठीक नहीं है कि अपभ्रंश केवल आभीरों या अहीरों की ही भाषा थी। भरत मुनि ने शुरू-शुरू में इस नवागत जाति के लोगों के मुंह से जिस प्रकार की भाषा को उच्चारित होते सुना उसे अपभ्रंश जैसा कोई नाम न देकर एक जातिविशेष की भाषा बताया था, पर शीघ्र ही ये अहीर भारत के पश्चिमी और मध्य भाग में प्रधान हो उठे। महाभारत में इन युद्धप्रिय और घुमक्कड़ आभीरों की चर्चा है। वहाँ वे गोपाल और घुमक्कड़ों के रूप में ही परिचित हैं। अनुमानतः 150 ई. पूर्व में इन आभीरों ने पंजाब के कई अंशों पर अधिकार कर लिया। सन् 181 ई. के क्षत्रप रुद्रसिंह के एक लेख से पता चलता है कि उनके प्रधान सेनापति रुद्रभूति आभीर थे। फिर 300 ई. के नासिक के गुफालेख से पता चलता है कि उन दिनों वहाँ आभीर नरपति ईश्वरसेन (जो शिवदत्त के पुत्र थे) का राज्य था। सन् 360 ई. के समुद्रगुप्त के प्रयागवाले स्तम्भ-लेख से पता चलता है कि आभीर एक शक्तिशाली जाति थी और उसका अधिकार समूचे राजस्थान पर हो गया था। इस प्रकार आभीरों के हाथ में शक्ति आती गयी और साथ-ही-साथ उनकी विशेषता वाली भाषा काव्य का वाहन बनती गयी। जहाँ-जहाँ उनका अधिकार रहा, वहाँ वहाँ वह भाषा जोरों से चल निकली। समय-समय पर उसमें परिवर्तन भी होते रहे। ज्यों-ज्यों आभीरगण शक्तिसंचय करके आगे-आगे बढ़ते गये, त्यों-त्यों अपभ्रंश भाषा भी शक्तिसंचय करती गयी। झांसी जिले के दक्खिनी हिस्से में जो 'अहिरवार' स्थान है, कहते हैं कि वहाँ भी आभीरों ने कभी शासन किया था। मिर्जापुर जिले का 'अहरौरा' कभी आभीरों का दृढ़ केन्द्र था। अब भी वहाँ के आस-पास अहीरों की बड़ी बस्ती है। इस प्रकार जो भाषा भरत के युग में केवल एक जाति की भाषा थी, वह धीरे-धीरे सारे देश की भाषा हो उठी। यहाँ इस कथन का अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिए कि अपभ्रंश भाषा अहीरों की अपनी भाषा थी। इस कथन का यही अर्थ है कि देशभाषा की वह विशेषता जो आभीरों के संसर्ग से प्राप्त हुई थी, वही प्रधान हो गयी और भाषा का साधारण रूप तत्काल-प्रचलित प्राकृत ही रहा। अपभ्रंश में उस प्राकृत का एक खास प्रकार का स्वरवैचित्र्य और उच्चारण-प्रावण्य प्रधान हो उठा। स्वभावतः ही उस स्वरवैचित्र्य के पीछे अनेक स्थानों की प्राकृत भाषाएँ रही होंगी। और नमि साधु के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मागधी प्राकृत का भी अपभ्रंश रूप विद्यमान था।

राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। उन्होंने जो कवि-सभा में अपभ्रंश कवियों के पीछे बढ़ई, लुहार, लेपकार आदि जनसाधारण के कारीगरों को बैठाना निर्दिष्ट किया है, वह इस बात का सबूत है कि यह भाषा जनसाधारण की थी। राजशेखर के युग में वह भाषा जी रही थी, इसका प्रमाण यह है कि इन्होंने अन्तःपुर के परिचारकों का अपभ्रंशभाषाविद् होने का निर्देश किया है। इसका कारण यह था कि इन परिचारकों को जनसाधारण की बातें राजा तक पहुँचानी होती थी। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा जनसाधारण की भाषा थी, फिर भी उसमें कविता होती रही। राजशेखर की इस पुस्तक से यह भी

प्रमाणित होता है कि जिन प्रदेशों में आभीरों का प्राधान्य था वहाँ के लोगों की भाषा में अपभ्रंश की बहुलता थी। उनके मत से गौड़ या बंगाल देश के लोग संस्कृत में अधिक रुचि रखते थे, लाट देश या गुजरात के लोग प्राकृत में, और मारवाड़, टक्क (हरियाना) और भादानक (मिर्जापुर और बुन्देलखण्ड ?) के लोग अपभ्रंश से मिलते हुए प्रयोगवाली भाषा बोलते हैं (पृष्ठ 51)। वहीं अन्यत्र कहते हैं कि सुराष्ट्र (काठियावाड़) और त्रवण (मारवाड़) के लोग अपभ्रंश बोलते हैं। इस प्रकार मूलतः अपभ्रंश मारवाड, हरियाना (पंजाब), भादानक (बुन्देलखण्ड), सुराष्ट्र (काठियावाड) में अधिक प्रचलित थी। सुप्रसिद्ध विद्वान् म. म. पं. हरप्रसाद शास्त्री ने अपभ्रंश का जो 'बौद्ध गान ओ दोहा' नामक सग्रह प्रकाशित किया है—और जिसे वे पुरानी बंगला कहना चाहते हैं – उन जैसे दो-एक ग्रन्थों के अपवाद छोडकर अपभ्रंश के काव्य इन्हीं प्रदेशों से प्राप्त हुए हैं। इनमें से बहुत-से काव्य दिगम्बर जैनों के लिखे हुए हैं, जो मारवाड़ और बुन्देलखण्ड में अब भी बसे हुए हैं। श्वेताम्बर जैनों ने प्राकृत में लिखने में जैसी पटुता और तत्परता दिखायी है वैसी अपभ्रंश में नहीं।[1] इस प्रकार ऊपर के सारे वक्तव्य का सारांश पण्डितों ने इस प्रकार दिया है—

1. अपभ्रंश भाषा सन् ईसवी के प्रथम शतक में आभीरी भाषा के नाम से लक्ष्य की गयी थी और भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर सीमान्त में बोली जाती थी। आभीरों का विशेष प्रकार का स्वर-वैचित्र्य और उच्चारण-प्रावण्य इसका प्रधान लक्षण था। यद्यपि यह आभीरी नाम से पुकारी गयी, पर थी आर्यभाषा ही।

2. सन् ईसवी की छठी शताब्दी में इस भाषा में साहित्य सृष्ट हो चुका था, जिसे भामह और दण्डी जैसे आलंकारिकों ने उल्लेखयोग्य समझा। अब भी यह आभीरों से विशेष रूप से सम्बद्ध मानी जाती थी। अनुमान है कि आभीरों के हाथ में राज्य-सत्ता आने के साथ इसमें काव्य लिखे जाने लगे होंगे।

3. नवीं शताब्दी में यह जनसाधारण की भाषा समझी जाने लगी और इसका विशेष सम्बन्ध केवल आभीर आदि से ही है, यह धारणा जाती रही। अब तक यह सौराष्ट्र से मगध तक फैल चुकी थी। तत्तत् स्थानों के अपभ्रंशों में निश्चय ही भेद रहे होंगे, पर काव्य के लिए आभीरों द्वारा प्रोत्साहित भाषा ही साधारण भाषा मान ली गयी थी।

4. ग्यारहवीं शताब्दी में आलंकारिकों और वैयाकरणों ने लक्ष्य किया था कि अपभ्रंश कोई एक भाषा नहीं है बल्कि स्थान-भेद से अनेक प्रकार की है। अर्थात् यहाँ तक आकर अपभ्रंश का व्यवहार लोकभाषा के अर्थ में होने लगा था।

5. अपभ्रंश कविता के विषय अधिकतर नीति-सम्बन्धी और धार्मिक उपदेश, शृंगार रस की रचनाएँ और लोकप्रचलित कथानक थे।[2]

1. दे. परिशिष्ट : 'जैन साहित्य'।
2. विशेष विवरण के लिए श्री पाण्डुरंग गुणे की सम्पादित 'भविसयत्त-कहा' की भूमिका (बड़ौदा 1933) देखिए।

इस प्रकार इस देश में मुसलमानी सत्ता की प्रतिष्ठा के बहुत पूर्व में ही निश्चित रूप से लोकभाषा को राजकीय सम्मान प्राप्त हो चला था। जैसा कि पहले ही कहा गया है, इस सम्पूर्ण साहित्य में ऐसा कोई कथन नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि लोकभाषा में लिखने के कारण कोई कवि अपने को छोटा समझ रहा हो। पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द बलद्दिय (चन्द बरदाई) हिन्दी भाषा का आदि-कवि माना जाता है। असल में यह अपभ्रंश का अन्तिम कवि अधिक है और हिन्दी का आदि-कवि कम। क्योंकि उसका काव्य अब जिस रूप में पाया जाता है वह रूप मौलिक नहीं है। इस ग्रन्थ में इतनी प्रक्षिप्त बातें आ घुसी हैं कि ओझाजी जैसे ऐतिहासिक पण्डित इसे एकदम अप्रामाणिक और जाली ग्रन्थ समझते हैं। हाल में 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' के प्रकाशन के बाद से यह बात निश्चित रूप से सिद्ध हो गयी है कि चन्द का मूल काव्य बहुत-कुछ अपभ्रंश की प्रकृति का था और आज वह जिस रूप में मिलता है वह उसका अत्यन्त विकृत रूप है। असल में अपभ्रंश भाषा में काव्य-रचना चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक होती रही, यद्यपि इसके बहुत पहले ही उसने नयी भाषा को स्थान दे दिया था। विद्यापति ने पूर्व देश में एक ही साथ तत्काल प्रचलित लोक-भाषा और अपभ्रंश, दोनों में काव्य लिखा था। यहाँ एक बात विचारणीय रह जाती है। यदि आधुनिक भाषा में इन अपभ्रंशों का स्वाभाविक विकास है तो क्या कारण है कि इनमें इतनी अधिकता से संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग होता है, जब कि अपभ्रंश के काव्यों में खोजने पर भी संस्कृत के शब्द अपने मूल रूपों में नहीं मिलते ? मेरा तात्पर्य वर्तमान भाषा से नहीं बल्कि सूरदास-तुलसीदास आदि की प्राचीन काव्य-भाषा से है। केवल पुस्तकगत भाषा में ही नहीं, उन दिनों में प्रचलित बोलचाल की भाषा में भी संस्कृत तत्सम शब्द अपभ्रंश भाषाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में बोले जाते थे। ऐसा न होता, तो कबीर और दादू आदि की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रयोग नहीं मिलते। निश्चय ही मुसलमानों ने इन शब्दों का प्रचार नहीं किया था।

असल में बौद्धधर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुनः स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में अभूतपूर्व क्रान्ति उत्पन्न हो गयी। बौद्ध-धर्म का प्रसार साधारणतः विदेशियों में ही अधिक हुआ, क्योंकि सनातन आर्य धर्म वेद को प्रामाण्य मानता था; पर बौद्ध और जैन-धर्म नहीं, इसलिए वे विदेशियों के लिए अधिक ग्राह्य हो सके। जैन-धर्म का प्रभाव भी अधिकांश में शक, हूण आदि विदेशागत अधिवासियों पर ही पड़ा होगा, जो धीरे-धीरे इस देश में क्षत्रियत्व और वैश्यत्व का पद प्राप्त करने लगे थे। सन् ईसवी के आठ-नौ सौ वर्ष बीतने पर इस देश में प्राचीन वैदिक धर्म बड़े जोरों से उठ खड़ा हुआ था। इस समय के ऐसे बड़े-बड़े राजे, जो अधिकांश में क्षत्रियत्व का पद प्राप्त करने के प्रयासी रहे होंगे, ब्राह्मण आचार्यों के प्रभाव में आते गये और इस प्रकार संस्कृत भाषा को बहुत बल मिला। जनता में धर्म-प्रचार करने के लिए पुराणों की सहायता

इस प्रकार इस देश में मुसलमानी सत्ता की प्रतिष्ठा के बहुत पूर्व से ही निश्चित रूप से लोकभाषा को राजकीय सम्मान प्राप्त हो चला था। जैसा कि पहले ही कहा गया है, इस सम्पूर्ण साहित्य में ऐसा कोई कथन नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि लोकभाषा में लिखने के कारण कोई कवि अपने को छोटा समझ रहा हो। पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द बलद्दिय (चन्द बरदाई) हिन्दी भाषा का आदि-कवि माना जाता है। असल में यह अपभ्रंश का अन्तिम कवि अधिक है और हिन्दी का आदि-कवि कम। क्योंकि उसका काव्य अब जिस रूप में पाया जाता है वह रूप मौलिक नहीं है। इस ग्रन्थ में इतनी प्रक्षिप्त बातें आ घुसी हैं कि ओझाजी जैसे ऐतिहासिक पण्डित इसे एकदम अप्रामाणिक और जाली ग्रन्थ समझते हैं। हाल में 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' के प्रकाशन के बाद से यह बात निश्चित रूप से सिद्ध हो गयी है कि चन्द का मूल काव्य बहुत-कुछ अपभ्रंश की प्रकृति का था और आज वह जिस रूप में मिलता है वह उसका अत्यन्त विकृत रूप है। असल में अपभ्रंश भाषा में काव्य-रचना चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक होती रही, यद्यपि इसके बहुत पहले ही उसने नयी भाषा को स्थान दे दिया था। विद्यापति ने पूर्व देश में एक ही साथ तत्काल प्रचलित लोक-भाषा और अपभ्रंश, दोनों में काव्य लिखा था। यहाँ एक बात विचारणीय रह जाती है। यदि आधुनिक भाषा में इन अपभ्रंशों का स्वाभाविक विकास है तो क्या कारण है कि इनमें इतनी अधिकता से संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग होता है, जब कि अपभ्रंश के काव्यों में खोजने पर भी संस्कृत के शब्द अपने मूल रूपों में नहीं मिलते? मेरा तात्पर्य वर्त्तमान भाषा से नहीं बल्कि सूरदास-तुलसीदास आदि की प्राचीन काव्य-भाषा से है। केवल पुस्तकगत भाषा में ही नहीं, उन दिनों में प्रचलित बोलचाल की भाषा में भी संस्कृत तत्सम शब्द अपभ्रंश भाषाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में बोले जाते थे। ऐसा न होता, तो कबीर और दादू आदि की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रयोग नहीं मिलते। निश्चय ही मुसलमानों ने इन शब्दों का प्रचार नहीं किया था।

असल में बौद्धधर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुनः स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में अभूतपूर्व क्रान्ति उत्पन्न हो गयी। बौद्ध-धर्म का प्रसार साधारणतः विदेशियों में ही अधिक हुआ, क्योंकि सनातन आर्य धर्म वेद को प्रामाण्य मानता था; पर बौद्ध और जैन-धर्म नहीं, इसलिए वे विदेशियों के लिए अधिक ग्राह्य हो सके। जैन-धर्म का प्रभाव भी अधिकांश में शक, हूण आदि विदेशागत अधिवासियों पर ही पड़ा होगा, जो धीरे-धीरे इस देश में क्षत्रियत्व और वैश्यत्व का पद प्राप्त करने लगे थे। सन् ईसवी के आठ-नौ सौ वर्ष बीतने पर इस देश में प्राचीन वैदिक धर्म बड़े जोरों से उठ खड़ा हुआ था। इस समय के ऐसे बड़े-बड़े राजे, जो अधिकांश में क्षत्रियत्व का पद प्राप्त करने के प्रयासी रहे होंगे, ब्राह्मण आचार्यों के प्रभाव में आते गये और इस प्रकार संस्कृत भाषा को बहुत बल मिला। जनता में धर्म-प्रचार करने के लिए पुराणों की सहायता

प्रमाणित होता है कि जिन प्रदेशों में आभीरों का प्राधान्य था वहाँ के लोगों की भाषा में अपभ्रंश की बहुलता थी। उनके मत से गौड़ या बंगाल देश के लोग संस्कृत में अधिक रुचि रखते थे, लाट देश या गुजरात के लोग प्राकृत में, और मारवाड़, टक्क (हरियाना) और भादानक (मिर्जापुर और बुन्देलखण्ड?) के लोग अपभ्रंश से मिलते हुए प्रयोगवाली भाषा बोलते हैं (पृष्ठ 51)। वहीं अन्यत्र कहते हैं कि सुराष्ट्र (काठियावाड़) और त्रवण (मारवाड़) के लोग अपभ्रंश बोलते हैं। इस प्रकार मूलतः अपभ्रंश मारवाड़, हरियाना (पंजाब), भादानक (बुन्देलखण्ड), सुराष्ट्र (काठियावाड) में अधिक प्रचलित थी। सुप्रसिद्ध विद्वान् म. म. प. हरप्रसाद शास्त्री ने अपभ्रंश का जो 'बौद्ध गान ओ दोहा' नामक संग्रह प्रकाशित किया है—और जिसे वे पुरानी बंगला कहना चाहते हैं—उन जैसे दो-एक ग्रन्थों के अपवाद छोड़कर अपभ्रंश के काव्य इन्हीं प्रदेशों से प्राप्त हुए हैं। इनमें से बहुत-से काव्य दिगम्बर जैनों के लिखे हुए हैं, जो मारवाड़ और बुन्देलखण्ड में अब भी बसे हुए हैं। श्वेताम्बर जैनों ने प्राकृत में लिखने में जैसी पटुता और तत्परता दिखायी है वैसी अपभ्रंश में नहीं।[1] इस प्रकार ऊपर के सारे वक्तव्य का सारांश पण्डितों ने इस प्रकार दिया है—

1. अपभ्रंश भाषा सन् ईसवी के प्रथम शतक में आभीरी भाषा के नाम से लक्ष्य की गयी थी और भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर सीमान्त में बोली जाती थी। आभीरों का विशेष प्रकार का स्वर-वैचित्र्य और उच्चारण-प्रावण्य इसका प्रधान लक्षण था। यद्यपि यह आभीरी नाम से पुकारी गयी, पर थी आर्यभाषा ही।

2. सन् ईसवी की छठी शताब्दी में इस भाषा में साहित्य सृष्ट हो चुका था, जिसे भामह और दण्डी जैसे आलंकारिकों ने उल्लेखयोग्य समझा। अब भी यह आभीरों से विशेष रूप से सम्बद्ध मानी जाती थी। अनुमान है कि आभीरों के हाथ में राज्य-सत्ता आने के साथ इसमें काव्य लिखे जाने लगे होंगे।

3. नवीं शताब्दी में यह जनसाधारण की भाषा समझी जाने लगी और इसका विशेष सम्बन्ध केवल आभीर आदि से ही है, यह धारणा जाती रही। अब तक यह सौराष्ट्र से मगध तक फैल चुकी थी। तत्तत् स्थानों के अपभ्रंशों में निश्चय ही भेद रहे होंगे, पर काव्य के लिए आभीरों द्वारा प्रोत्साहित भाषा ही साधारण भाषा मान ली गयी थी।

4. ग्यारहवीं शताब्दी में आलंकारिकों और वैयाकरणों ने लक्ष्य किया था कि अपभ्रंश कोई एक भाषा नहीं है बल्कि स्थान-भेद से अनेक प्रकार की है। अर्थात् यहाँ तक आकर अपभ्रंश का व्यवहार लोकभाषा के अर्थ में होने लगा था।

5. अपभ्रंश कविता के विषय अधिकतर नीति-सम्बन्धी और धार्मिक उपदेश, शृंगार रस की रचनाएँ और लोकप्रचलित कथानक थे।[2]

1. द्र. परिशिष्ट : 'जैन साहित्य'।
2. विशेष विवरण के लिए श्री पाण्डुरंग गुणे की सम्पादित 'भविसयत्त-कहा' की भूमिका (बड़ौदा 1933) देखिए।

इस प्रकार इस देश में मुसलमानी सत्ता की प्रतिष्ठा के बहुत पूर्व से ही निश्चित रूप से लोकभाषा को राजकीय सम्मान प्राप्त हो चला था। जैसा कि पहले ही कहा गया है, इस सम्पूर्ण साहित्य में ऐसा कोई कथन नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि लोकभाषा में लिखने के कारण कोई कवि अपने को छोटा समझ रहा हो। पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द बलद्दिय (चन्द बरदाई) हिन्दी भाषा का आदि-कवि माना जाता है। असल में यह अपभ्रंश का अन्तिम कवि अधिक है और हिन्दी का आदि-कवि कम। क्योंकि उसका काव्य अब जिस रूप में पाया जाता है वह रूप मौलिक नहीं है। इस ग्रन्थ में इतनी प्रक्षिप्त बातें आ घुसी हैं कि ओझाजी जैसे ऐतिहासिक पण्डित इसे एकदम अप्रामाणिक और जाली ग्रन्थ समझते हैं। हाल में *'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह'* के प्रकाशन के बाद से यह बात निश्चित रूप से सिद्ध हो गयी है कि चन्द का मूल काव्य बहुत-कुछ अपभ्रंश की प्रकृति का था और आज वह जिस रूप में मिलता है वह उसका अत्यन्त विकृत रूप है। असल में अपभ्रंश भाषा में काव्य-रचना चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक होती रही, यद्यपि इसके बहुत पहले ही उसने नयी भाषा को स्थान दे दिया था। विद्यापति ने पूर्व देश में एक ही साथ तत्काल प्रचलित लोक-भाषा और अपभ्रंश, दोनों में काव्य लिखा था। यहाँ एक बात विचारणीय रह जाती है। यदि आधुनिक भाषा में इन अपभ्रंशों का स्वाभाविक विकास है तो क्या कारण है कि इनमें इतनी अधिकता से संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग होता है, जब कि अपभ्रंश के काव्यों में खोजने पर भी संस्कृत के शब्द अपने मूल रूपों में नहीं मिलते? मेरा तात्पर्य वर्तमान भाषा से नहीं बल्कि सूरदास-तुलसीदास आदि की प्राचीन काव्य-भाषा से है। केवल पुस्तकगत भाषा में ही नहीं, उन दिनों में प्रचलित बोलचाल की भाषा में भी संस्कृत तत्सम शब्द अपभ्रंश भाषाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में बोले जाते थे। ऐसा न होता, तो कबीर और दादू आदि की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रयोग नहीं मिलते। निश्चय ही मुसलमानों ने इन शब्दों का प्रचार नहीं किया था।

असल में बौद्धधर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुनः स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में अभूतपूर्व क्रान्ति उत्पन्न हो गयी। बौद्ध-धर्म का प्रसार साधारणतः विदेशियों में ही अधिक हुआ, क्योंकि सनातन आर्य धर्म वेद को प्रामाण्य मानता था; पर बौद्ध और जैन-धर्म नहीं, इसलिए वे विदेशियों के लिए अधिक ग्राह्य हो सके। जैन-धर्म का प्रभाव भी अधिकांश में शक, हूण आदि विदेशागत अधिवासियों पर ही पड़ा होगा, जो धीरे-धीरे इस देश में क्षत्रियत्व और वैश्यत्व का पद प्राप्त करने लगे थे। सन् ईसवी के आठ-नौ सौ वर्ष बीतने पर इस देश में प्राचीन वैदिक धर्म बड़े जोरों से उठ खड़ा हुआ था। इस समय के ऐसे बड़े-बड़े राजे, जो अधिकांश में क्षत्रियत्व का पद प्राप्त करने के प्रयासी रहे होंगे, ब्राह्मण आचार्यों के प्रभाव में आते गये और इस प्रकार संस्कृत भाषा को बहुत बल मिला। जनता में धर्म-प्रचार करने के लिए पुराणों की सहायता

ली गयी। वे संस्कृत में लिखे गये थे। कथावाचक लोग इनकी व्याख्या लोक-भाषा में करते होंगे, पर उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता रहती होगी। फिर, जैसा कि श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने कहा है, इसी समय संस्कृत भाषा के प्रचार में शांकर मत की विजय से सहायता मिली होगी। शंकराचार्य का उत्कर्ष ईसा की आठवीं शताब्दी के आसपास हुआ। उनके मत की छाप सर्वसाधारण पर पड़ी। उक्त मत का प्रसार संस्कृत भाषा के द्वारा ही होने के कारण सर्वसाधारण की भाषा में संस्कृत शब्द आ गये और धीरे-धीरे संस्कृत से ही हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि संस्कृत-प्रचुर भाषाएँ बनीं। तमिल आदि भाषाओं का इतिहास भी ऐसा ही है। इसलिए तुलसीदास और सूरदास की भाषाओं में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता होना, अपभ्रंश भाषाओं के स्वाभाविक विकास के विरुद्ध नहीं ले जाता और न इससे उनमें किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव ही सिद्ध होता है।

अब हम हिन्दी साहित्य की ओर लौटें। आधुनिक युग आरम्भ होने के पहले हिन्दी कविता के प्रधानतः छः अंग थे - डिंगल कवियों की वीर-गाथाएँ, निर्गुणिया सन्तों की वाणियाँ, कृष्णभक्त या रागानुगा भक्तिमार्ग के साधकों के पद, रामभक्त या वैधी भक्तिमार्ग के उपासकों की कविताएँ, सूफी साधना से पुष्ट मुसलमान कवियों के तथा ऐतिहासिक हिन्दू कवियों के रोमांस और रीति-काव्य। हम इन छहों धाराओं की आलोचना अगर अलग करें तो देखेंगे कि ये छहों धाराएँ अपभ्रंश कविता का स्वाभाविक विकास हैं। कभी-कभी यह शंका की गयी है कि हिन्दी साहित्य का सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंश अर्थात् भक्ति-साहित्य मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया है और कभी-कभी यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि निर्गुणिया सन्तों की जाति-पाँति की विरोधी प्रवृत्ति, अवतारवाद और मूर्त्ति-पूजा के खण्डन करने की चेष्टा में 'मुसलमानी जोश' है। किसी-किसी ने तो कबीरदास आदि की वाणियों को 'मुसलमानी हथकण्डे' भी बताया है! ये सभी बातें भ्रममूलक हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि निर्गुण मतवादी सन्तों के केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं, उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली, छन्द और भाषा पुराने भारतीय आचार्यों की देन है। इसी तरह यद्यपि वैष्णव मत अचानक ही उत्तर भारत में प्रबल रूप ग्रहण करता है, पर सूरदास और तुलसीदास आदि वैष्णव कवियों की समूची कविता में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव नहीं है। हम देखेंगे कि जिस समाज को ये भक्तगण सुधारना चाहते थे, उसमें विदेशी धर्म का कोई प्रभाव उन्होंने लक्ष्य भी किया था। परन्तु इन सबका यह अर्थ नहीं है कि मुसलमानी धर्म का कोई प्रभाव इस साहित्य पर नहीं पड़ा है। यह कहना अनुचित है। एक जीवित जाति के स्पर्श में आने पर दूसरी पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। भारतीय साहित्य के सुवर्ण-काल में भी इस प्रकार विदेशी प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है। परन्तु जिस प्रकार कालिदास की कविताओं में यावनी या ग्रीक प्रभाव देखकर

यह नहीं कहा जाता कि वह दुर्बल जाति की प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति का निदर्शक है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य में भी यह प्रभाव 'प्रभाव' के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रिया के रूप में नहीं।

अब ध्यान से देखिए तो हिन्दी में दो प्रकार की भिन्न-भिन्न जातियों की दो चीजें अपभ्रंश से विकसित हुई है—(1) पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति, ऐहिकतामूलक शृंगारी काव्य, नीतिविषयक फुटकल रचनाएँ और लोकप्रचलित कथानक; और (2) पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुणिया सन्तों की शास्त्रनिरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़-फटकार, अक्खड़पना, सहजशून्य की साधना, योग-पद्धति और भक्तिमूलक रचनाएँ। यह और भी लक्ष्य करने की बात है कि यद्यपि वैष्णव मतवाद उत्तर भारत में दक्षिण की ओर से आया, पर उसमें भावावेशमूलक साधना पूर्वी प्रदेशों से आयी। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में दो भिन्न-भिन्न जाति की रचनाएँ दो भिन्न-भिन्न मूलों से आयी। यह बात पहले ही बतायी जा चुकी है कि पश्चिमी प्रदेशों में बसे हुए आर्य पूर्वी प्रदेशो मे बसे हुए आर्यो से भिन्न प्रकृति के हैं। भाषाशास्त्रियों ने यह निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है कि ये दो भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग थे। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि पूर्वी प्रदेशो मे भारतीय इतिहास के आदिकाल से रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह करनेवाले सन्त होते रहे है। वैदिक कर्मकाण्ड के मृदु विरोधी जनक और याज्ञवल्क्य तथा उग्र विरोधी बुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न हुए थे। समग्र भारतीय साहित्य में हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जिसमें पश्चिमी आर्यों की रूढ़िप्रियता, कर्मनिष्ठा के साथ-ही-साथ पूर्वी आर्यों की भाव-प्रवणता, विद्रोही वृत्ति और प्रेम-निष्ठा का मणि-कांचन योग हुआ है। इस बात को ठीक-ठीक न समझ सकने के कारण ही केवल ऊपरी बातों को देखनेवाले कभी इस भाव को मुसलमानी प्रभाव कह देते है। कभी-कभी विचारवान् पण्डित भी ऐसी ऊटपटाँग बातें कह जाते हैं जो नहीं कही जानी चाहिए थी। आगे इन धाराओं की विशेष जांच करने का प्रयत्न करेंगे।

सन्त-मत

अपभ्रंश साहित्य की आलोचना से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि चारण कवियों की वीर-गाथाएँ पुरानी परम्परा के अनुसार ही थी। इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। पर निर्गुणिया सन्तों की वाणी के विषय में काफी भ्रम फैला हुआ

यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि कबीरदास ही निर्गुण मत के आदि-प्रतिष्ठाता थे। उनका जन्म मुसलमान वंश में हुआ था, ऐसा प्रवाद है। कुछ लोगों का कहना है कि उनका जन्म तो हिन्दू घर में हुआ था, पर लालन-पालन मुसलमान घर में। जो हो, उनका मुसलमानी वातावरण में बड़ा होना निश्चित है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में मुसलमानी भाव की साधना की गन्ध मिल जाती है। सही बात यह है कि कुछ नामों, शब्दों और खण्डन करने के उद्देश्य से उल्लिखित कुछ सिद्धान्तों के अतिरिक्त मुसलमानी प्रभाव कबीर में नहीं के ही बराबर है। यह स्मरण रखने की बात है कि योगियों का एक बहुत बड़ा सम्प्रदाय अवध, काशी, मगध और बंगाल में फैला हुआ था ये लोग गृहस्थ थे और इनका पेशा जुलाहे और धुनिये का था। इनमें जो साधु हुआ करते, वे भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करते थे। ब्राह्मण धर्म में उनका कोई स्थान न था। मुसलमानों के आने के बाद ये लोग धीरे-धीरे मुसलमान हो गये और आज भी हो रहे हैं। परन्तु मुसलमान होने पर भी वे अपनी साधनाओं से विरत नहीं हुए। बारहवीं शताब्दी में अब्दुल रहमान नामक आरद्द या जुलाहे कवि ने 'सन्देश-रासक' नामक अपभ्रंश काव्य लिखा था। यह पुस्तक हाल ही में मुनि जिनविजयजी द्वारा सम्पादित होकर बम्बई से प्रकाशित हुई है। बंगाल में योगियों के बहुत-से धर्मग्रन्थ और पुराण मुसलमानी नामधारी लोगों के लिखे हुए पाये गये हैं। वहाँ योगी नाम की अलग जाति है जो प्रायः समाप्त होने को आ चुकी थी, पर अब जबकि उसमें आत्म-चेतना का भाव उदय हुआ है, वह अपनी हस्ती बचाने का प्रयत्न कर रही है। कबीर, दादू और जायसी ऐसे ही नाम-मात्र के मुसलमान थे, जिनके परिवार में योगियों की साधना-पद्धति जीवित रूप से वर्तमान थी। सन् 1921 ई. की मनुष्य-गणना के अनुसार अकेले बंगाल में इन योगियों की संख्या 3,65,910 थी। ये सारे बंगाल में फैले हुए हैं और कपड़ा बुनने का काम करते हैं। हिन्दू समाज में उनका स्थान क्या है, यह इस एक बात से अनुमान किया जा सकता है कि 1921 ई. की मनुष्य-गणना के समय जब एक जोगी परिवार ने अपने को स्थानीय प्रचलन के अनुसार 'जुगी' न लिखाकर 'योगी' तथा अपनी स्त्रियों के नाम के सामने 'देवी' लगाना चाहा था, तो गणना-लेखक ब्राह्मण ने कहा था कि मैं अपना हाथ कटा देना अच्छा समझूँगा परन्तु 'जुगी' को 'योगी' नहीं लिखूँगा और न इनकी स्त्रियों को 'देवी' लिख सकूँगा! अब इन जोगियों की दृढ़ संगठित सभा है, जो जोगियों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी संग्रह कर रही है। ये लोग अपने को योगी ब्राह्मण भी कहने लगे हैं। इसी प्रकार की जोगी जातियाँ बिहार में भी पायी जाती हैं और युक्तप्रान्त में भी किसी जमाने में थी। कबीर और दादू का इन्हीं जातियों में से प्रादुर्भाव हुआ था। इस बात को ठीक-ठीक हृदयंगम न कर सकनेवाले पण्डित कहा करते हैं कि कबीर या दादू सुने-सुनाये ज्ञान की अटपटी वाणियाँ गाया करते थे।

यदि कबीर आदि निर्गुणमतवादी सन्तों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाय, तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्धधर्म

के अन्तिम सिद्धों और नाथपन्थी योगियों के पदादि से उसका सीधा सम्बन्ध है। वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की है जो उक्त मत के माननेवाले उनके पूर्ववर्ती सन्तो ने की थी। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छन्द, क्या पारिभाषिक शब्द, सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्गदर्शक है। कबीर की ही भाँति ये साधक नाना मतों का खण्डन करते थे, सहज और शून्य में समाधि लगाने को कहते थे, दोहों में गुरु के ऊपर भक्ति करने का उपदेश देते थे। इन दोहों में गुरु को बुद्ध से भी बड़ा बताया गया है और ऐसे भाव कबीर मे भी बड़ी आसानी से मिल सकते है, जहाँ गुरु को गोविन्द के समान ही बताया गया है। 'सद्गुरु' शब्द सहजयानियों, वज्रयानियो, तान्त्रिको, नाथपन्थियों मे समान भाव से समादृत है।

कबीरदास के जाति-पाँति विरोधी विचारों को देखकर बहुत-से लोगों की यह धारणा होती है कि कम-से-कम यह बात कबीरदास मे मुसलमानी प्रभाव के कारण आयी है। किसी-किसी पण्डित को तो यह शका भी हुई है कि ये बातें मुसलमानी धर्म के प्रचार के हथकण्डे है और कुछ लोग मुसलमानी आदर्श के प्रति कबीरदास की गहरी निष्ठा का प्रमाण इन्ही बातो मे बताते है। ये युक्तियाँ कुछ जँचती-सी नही जान पड़ती। जाति-वर्णन के भेद से जर्जरीभूत इस देश मे जो कोई महासाधक आया है, उसे यह प्रथा खटकी है। ऐसे बहुत-से प्राचीन ग्रन्थ है जिनमे जाति-भेद को उड़ा देने पर जोर दिया गया है। पर सस्कृत की पुस्तकें साधारणतः ऊँची जातियों के लोगों द्वारा लिखी गयी होती हैं, जिनमे लेखक केवल तटस्थ विचारक की भाँति रहता है। स्वय नीच कहे जानेवाले वंश में उत्पन्न नहीं होने के कारण उनमें भुक्त-भोगी की उग्रता और तीव्रता नही होती। सहजयान और नाथ-पन्थ के अधिकांश साधक तथाकथित नीच जातियों मे उत्पन्न हुए थे, अतः उन्होंने इस अकारण नीच बनानेवाली प्रथा को दार्शनिक की तटस्थता के साथ नहीं देखा। कबीरदास आदि के विषय में भी यही बात ठीक है। फिर भी उच्च वर्ग के लोगों ने सदा तटस्थता का ही अवलम्बन नही किया। कभी-कभी उन्होंने भी उग्रतम आक्रमण किया है। अश्वघोष (कालिदास के भी पूर्ववर्ती कवि) की लिखी हुई वज्रसूची एक ऐसी ही पुस्तक है। तब से निरन्तर महायान मत के साधक-गण इस प्रथा के विरुद्ध प्रचार करते रहे है। सरोरुहपाद (सरहपा) नामक सहजयानी सिद्ध जाति-व्यवस्था के भयंकर विरोधी थे। वे कहते है—"ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे,—जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी दूसरे लोग जिस प्रकार पैदा होते हैं वैसे ही पैदा होते हैं। तो फिर ब्राह्मणत्व रहा कहाँ? यदि कहो कि संस्कार से ब्राह्मण होता है तो चाण्डाल को भी संस्कार दो, वह भी ब्राह्मण हो जाय; यदि कहो कि वेद पढ़ने से कोई ब्राह्मण होता है तो क्यों नहीं चाण्डालों को भी वेद पढ़ाकर ब्राह्मण हो जाने देते? सच पूछो तो शूद्र भी तो व्याकरणादि पढ़ते है और इन व्याकरणादि मे भी तो वेद के शब्द हैं, फिर शूद्रों का भी तो वेद पढ़ना हो ही गया और यदि आग में घी देने से मुक्ति होती हो तो सबको क्यों नहीं देने देते

ताकि सब मुक्त हो जायें ? होम करने से मुक्ति होती हो या नहीं, धुआँ लगने से आँखों को कष्ट जरूर होता है। ब्राह्मण 'ब्रह्मज्ञान ब्रह्मज्ञान' चिल्लाया करते हैं। अव्वल तो उनके अथर्ववेद की सत्ता ही नहीं है, फिर और तीन वेदों के पाठ भी सिद्ध नहीं, इसलिए वेद का तो कोई प्रामाण्य ही नहीं है। वेद तो परमार्थ नहीं है; वह तो शून्य की शिक्षा नहीं देता, वह तो एक व्यर्थ की बकवास है।" इसी प्रकार शिवोपासक योगियों के सम्बन्ध में सरोरुहवज्र कहते हैं—"ये शिव (ईश्वर) के भक्त शरीर मे राख मलते है, सिर पर जटा धारण करते हैं, दिया जलाकर घर में बैठे रहते है और ईशान कोण में बैठकर घण्टा बजाया करते है, आसन बाँधकर आँख मूँदा करते हैं, और लोगों को नाहक धोखा देते है। अनेक रण्डी-मुण्डी और नाना वेषधारी इन गुरुओं के मत में चलते हैं। लेकिन जब कोई पदार्थ है ही नहीं, जब वस्तु वस्तु ही नहीं है तो ईश्वर भी तो एक पदार्थ ही है, वही कैसे रह सकता है?" इत्यादि।[1] इसी प्रकार ये साधक अन्यान्य मतों का भी खण्डन करते और अपने मतों का स्थापन करते रहते थे। इन खण्डनों का स्वर एकदम वही है जो कबीरदास का। अन्तर इतना ही है कि कबीर के युग में अवस्था और जटिल हो गयी थी। उन्हें मुसलमानो, हिन्दुओ, योगियों और इन सिद्धान्तों तथा इनके साधकों—सबसे एक-एक हाथ लड़ लेना था। कबीर के निर्गुणमतवादी साधकों की परम्परा मे जो दादू, सुन्दरदास आदि भक्त हो गये हैं उन्होंने स्पष्ट ही नाथपन्थी योगियों—विशेषकर आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ—तथा चौरासी सिद्धों—विशेषकर काणेरी, चौरङ्गी, हाड़िफा आदि – को अपने मत का आचार्य माना है। सहजयानी सिद्धों और नाथपन्थी योगियों का अक्खड़पन कबीर मे पूरी मात्रा में है और उसके साथ ही उनका स्वाभाविक फक्कड़पन मिल गया है। इस परम्परागत अक्खड़पन और व्यक्तिगत फक्कड़पन ने मिलकर कबीरदास को अत्यधिक प्रभावशाली और आकर्षक बना दिया है।

एक बात लक्ष्य करने की यह है कि हिन्दी साहित्य के आदिप्रवर्त्तक तीन महाकवियों—चन्द, कबीर और सूरदास—में से सबके सब एक विचित्र प्रकार की पद-रचना करते रहे। इन्हें दृष्टकूट, उलटबाँसी या विपर्यय कहते है। सूरदास के ग्रन्थों मे इन्हे दृष्टकूट और कबीर की वाणी मे उलटबाँसी कहा है। चन्द के रासो में भी ऐसे दृष्टकूट मिल जाया करते है। जिन उलटबाँसियों के लिए कबीरदास बहुत बदनाम किये गये है और साहित्यिक 'महारथियों' के आक्षेप-वाणों के शिकार होते रहे हैं, उनमें कितनी उनकी अपनी रचना है और कितनी पूर्ववर्ती साधकों से गृहीत और कितनी भक्तों द्वारा उनके मत्थे आरोपित है, यह निश्चय करना मुश्किल है। लेकिन इस बात में कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार की उलटबाँसियाँ उस युग मे नाथपन्थी योगियों और सहजयानियों में खूब प्रचलित थी। बंगाल में मुसलमान नामधारी योगियों की लिखी हुई पोथियों मे ऐसी उलट-

1. परिशिष्ट का 'बौद्ध साहित्य' देखिए।

वाँसियों की भरमार हुआ करती थी। तत्-तत् सम्प्रदाय वाले इन उलटवाँसियों का अर्थ भी कर लिया करते थे। सहजयानियों में इस प्रकार की भाषा का नाम 'सन्ध्या भाषा' प्रचलित था।[1] म. म. प. हरप्रसाद शास्त्री के मत से सन्ध्या भाषा का मतलब ऐसी भाषा से है जिसका कुछ अंश समझ में आये और कुछ अस्पष्ट दीखे, पर ज्ञान-दीपक से जिसका सब-कुछ स्पष्ट हो जाय। इस व्याख्या में सन्ध्या शब्द का अर्थ साँझ मान लिया गया है और यह भाषा अन्धकार और प्रकाश के बीच की सन्ध्या की भाँति ही कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट बतायी गयी। परन्तु ऐसे बहुत-से विद्वान् हैं जो उक्त भाषा का यह अर्थ नहीं स्वीकार करना चाहते। एक पण्डित ने अनुमान भिड़ाया है कि इस शब्द का अर्थ सन्धि-देश की भाषा है। सन्धि-देश भी इस पण्डित की अनुमिति के अनुसार, वह प्रदेश है जहाँ बिहार की पूर्वी सीमा और बंगाल की पश्चिमी सीमा मिलती है। यह अनुमान स्पष्ट ही बेबुनियाद है, क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बिहार और बंगाल के आधुनिक विभाग सदा से इसी भाँति चले आ रहे हैं। म. म. प. विधुशेखर भट्टाचार्य महाशय का मत है कि यह शब्द मूलत: 'सन्धा' भाषा है और इसका अर्थ अभिसन्धिसहित या अभिप्राययुक्त भाषा है। आप 'सन्धा' शब्द को संस्कृत सन्धाय (=अभिप्रेत्य) का अपभ्रंश रूप मानते हैं। बौद्धशास्त्र के किसी वचन-विशेष ने आगे चलकर सहजयान और वज्रयान में यह रूप ग्रहण किया है। असल में, जैसा कि भट्टाचार्य महाशय ने सिद्ध कर दिया है, वेदों और उपनिषदों में से भी ऐसे उदाहरण खोजकर निकाले जा सकते हैं जिनमें सन्धा-भाषा जैसी भाषा के प्रयोग मिल जाया करते हैं। परन्तु बौद्धधर्म की अन्तिम यात्रा के समय यह शब्द अत्यधिक प्रचलित हो गया था और जनसाधारण पर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था। यही कारण है कि उस युग के सभी कवि किसी-न-किसी रूप में इन विरोधाभासमूलक उलटवाँसियों की रचना करते रहे। श्री राहुल सांकृत्यायन ने यह पहले ही कहा है कि सन्त कवियों की उलटवाँसियों पर सिद्धों का प्रभाव है। एक अन्य विद्वान् का कहना है कि सहजयानियों की सन्धा-भाषा और सन्तों की उलटवाँसियों में बड़ा अन्तर है। सन्तों का उद्देश्य विरोधाभास को अप्रकृत करके उसके अन्तर्निहित

1. इस भाषा की एक उलटवाँसी का उदाहरण ढेंढणपाद की रचना से दिया जा रहा है :

टालत मोर घर ना हि पड़वेषी (टलत मोर घर नहीं पड़ोसी)
हाड़ीति भात नाहि नित आवेशी। (हाड़ी में भात नाहि नित आवेशी)
बेंग ससार बड़हिल जाअ। (बिना भग ससार बढ़ा जाय)
दुहिल दुधु कि बेण्टे षामाय। (दुहा दूध कि बाँट समाय)
बलद बिआएल गविया बाँझे। (बैल बियाया गैया बाँझ)
पिटा दुहिए एतिना साँझे। (पीठ में दुहा इतनी साँझ)
जो सो बुधी सो धनि बुधी। (जो सो बुद्धि वही बुद्धि)
जो सो चोर सोई साधी। (जो सो चोर सोइ साधु)
निते निते षियाला सिहे षम जूझय। (नित नित स्यार सिंह सों जूझे)
ढेंढर पाएर गीत विरले बूझय। (ढेंढणपाद का गीत विरला बूझे)

महान अर्थ को प्रकृत बनाना है, पर सिद्धों का ऐसा नहीं है। इसलिए सिद्धों की वाणियाँ, उक्त विद्वान् के मत से, बाद में चलकर विकृत अर्थ उत्पन्न करने का कारण हुईं। मुझे इस भेदारोप में कोई विशेषता नहीं दिखती। असल में सहजयान और वज्रयान में कुप्रवृत्तियों का प्रवेश इसलिए नहीं हुआ कि सन्धा-भाषा में उनकी वाणियाँ कही गयी थीं। अद्वयवज्र की टीका से साफ जान पड़ता है कि इन सिद्धों का उद्देश्य भी वही था जो सन्तों का था। काल-भेद, व्यक्ति-भेद के कारण जो भेद स्वाभाविक है वही भेद इन दोनों में है। सूरदास के दृष्टकूटों के विषय में भी यही बात ठीक है। वह भी एक तरह के सन्धा-वचन या उलटबाँसी हैं। बहुत सम्भव है कि कबीरदास आदि की पुस्तकों में जो ऐसी रचनाएँ मिलती हैं वे पूर्ववर्ती साधकों और भक्तों की रचनाएँ ही हों और बाद में इन कवियों के नाम से चल पड़ी हों। वस्तुतः यह बात केवल अनुमान या अटकल नहीं है। कबीरदास के नाम पर यह उलटबाँसी बहुत अधिक प्रचलित है—'कबीरदास की उलटी बानी। बरसै कम्बल भीजै पानी।' स्व. डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने प्रयाग से 'गोरख-बानी' नामक जो संग्रह प्रकाशित कराया है, उसमें गोरखनाथ के नाम पर यही उलटबाँसी इस प्रकार मिलती है– 'नाथ बोलैं अमृत बाणी। बरिसैगी कंबली भीजैगा पाणी॥' (पृ. 141)। इस प्रकार अनेक उदाहरण दिखाये जा सकते हैं।

इसी प्रकार पण्डितमण्डली जिन बातों के लिए कबीरदास को घमण्डी समझती है, वे भी किसी-न-किसी रूप में प्राचीनतर आचार्यों से परम्परया प्राप्त हुई थीं और बहुत-सी बाद में शिष्यों ने कबीर आदि के नाम पर चला दी हैं। मध्ययुग के भक्तों के ऐसे अनेक पद मिलते हैं जो कई सन्तों के नाम से प्रचलित हैं। जो पद कबीर के नाम से चल रहा है वही दादू के नाम से, फिर वही रैदास या अन्य किसी साधक के नाम से भी। ऐसे पदों के विषय में समझना चाहिए कि ये पद पूर्ववर्ती साधकों के अनुभव हैं, जिन्हें परवर्ती साधक या साधकों ने भी स्वीकार कर लिया है। ये भक्त कविता करने के लिए पद नहीं लिखा करते थे, इसलिए इनमें उस प्रकार की सावधानी का अभाव है जो कवि अपनी रचना के अभिनव चमत्कार-प्रदर्शन के लिए अत्यावश्यक समझता है। कबीरदास की यह साखी सहजमत के आचार्य की याद दिला देती है :

जिहि बन सीह न सचरै, पंखि उड़े नहिं जाय।
रैनि दिवस का गम नहीं, तहँ कबीर रहा लौ लाइ॥

सरहपाद की साक्षी है :

जेहि मन पवन न सचरइ, रवि शशि नाइ पवेश।
तहि वट चित्त विशाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥

असल में साखी (साक्षी) का मतलब ही है कि पूर्वतर साधकों की बात पर कबीरदास अपनी साक्षी या गवाही दे रहे हैं। अर्थात् इस सत्य का अनुभव ये भी कर चुके हैं। जो लोग कबीरदास को साधक न समझकर केवल कवि समझना चाहते हैं, वे प्रायः कुछ ऐसी उल्टी-सीधी बात कर जाते हैं जो उनके पाण्डित्य के

लिए शोभाजनक नहीं होती। कभी-कभी हास्यास्पद भाव से कबीरदास को शास्त्र-ज्ञान-हीन, सुनी-सुनायी बातों का गढ़नेवाला आदि कह दिया जाता है, मानो उस युग में जुलाहे, मोची, धुनिए और अन्यान्य नीची कही जानेवाली जातियों के लिए शास्त्र और वेद का दरवाजा खुला था और कबीरदास आदि ने जान-बूझकर उनकी अवहेलना की थी! सच पूछा जाय तो शास्त्रज्ञान, तत्त्वज्ञान के मार्ग से सब समय सहायक ही नहीं होता और कभी-कभी तो उस युग की तथोक्त नीच जातियों में से आये हुए महापुरुषों का शास्त्रीय तर्क-जाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है। इन संस्कारों से वंचित रहने के कारण ही वे सब जगह से सहज सत्य को सहज ही ले सकते थे। वे रूढ़ियों और मिथ्या विश्वास के शिकार नहीं हुए। वे उस बेमतलब की निजत्व-बुद्धि के भी शिकार नहीं हुए, जो दूसरों की लिखी हुई बात को तोड़-मरोड़कर कहने में दूसरों से ग्रहण करने के महादोष से अपने को मुक्त समझती है। उनमें ग्रहण करने की भी शक्ति थी और कराने की भी शक्ति थी, इसीलिए वे महान् थे।

कबीरदास आदि साधकों ने नाथपन्थियों और सहजयानियों के बहुत-से शब्द, पद और दोहे ज्यों-के-त्यों स्वीकार कर लिये थे।[1] इनमें यत्र-तत्र नाममात्र के परिवर्तन भी हैं। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि कबीर आदि ने अनेक बातें पूर्ववर्ती साधकों से ग्रहण की थी, फिर भी कबीर की साधना वही नहीं थी जो इन योगियों या सहजयानियों की थी। कबीर आदि ने योगियों और सहजयानियों के पारिभाषिक शब्दों की अपने ढंग पर व्याख्या की। जिस प्रकार वैष्णव शास्त्रों से गृहीत होकर भी उनके राम 'दशरथ-सुत' नहीं थे, ठीक उसी प्रकार उनका सहज शून्य, षट्चक्र, समाधि, इडा, पिंगला आदि भी सहजयानियों और योगियों के इन्हीं शब्दों से भिन्न अर्थ रखते थे। इतना ही नहीं, सूफियों की साधना से गृहीत शब्दों की भी उन्होंने अपने ढंग पर व्याख्या की थी। क्योंकि वे किसी शास्त्र-विशेष या

1. अध्यापक क्षितिमोहन सेन महाशय ने नाथ-योगियों में प्रचलित तथा दादूदयाल के संग्रह में प्राप्त ऐसे कुछ पदों को संग्रह किया है। यथा,

नाथयोगियों के पद—उठ्या सारन् बैठ्या सारन् सारन् जागत सूता।
तिन भुवने बिछाइना जाल कोइ जाबि रे पूता॥

दादू का पद—उठ्या सार बैठ विचार संभारं जागता सूता।
तीन लोक तत जाल विडारन कहाँ जाइगा पूता॥

योगियों का पद (माया वाक्य)—उठ्या मारुम मारुम बैठ्या मारुम जागा सूता।
तीन धामे काम जाल बिछाइम कोइ जाबि रे पूता॥

दादू का पद (माया वाक्य)—उठ्या मारूँ बैठ्या मारूँ मारूँ जागत सूता।
तीन भवन भगजाल पसारूँ कहाँ जायगा पूता॥

योगियों का पद (गोरखनाथ का उत्तर)—उठ्या खंडुम बैठ्या खंडुम खडुम जागत सूता।
ती भुवने खेलुम आलग तयतो गोरख अवधूता॥

दादू का पद—ऊभा खंडूँ बैठा खंडूँ खंडूँ जागत सूता।
तीन भुवनते भिन्न है खेलूँ तो गोरख अवधूता॥

सम्प्रदाय-विशेष के सस्कारों से जकड़े हुए नहीं थे और जैसा कि दादू ने कहा है, कबीरदास ने निर्गुण ब्रह्म की समाधि के विषय में मुसलमानों का रास्ता छोड़ दिया था और हिन्दुओं के कर्मकलाप से भी अलग हो गये थे।[1] वे सहज ही उस स्थान पर विश्राम कर सकते थे जो सम्प्रदायों से अतीत है, जहाँ अल्लाह और राम की गम नहीं।[2] वे साधना को सहज भाव से देखना चाहते थे। वे नहीं चाहते कि प्रतिदिन के जीवन के साथ चरम साधना का कहीं विरोध हो। दैनिक जीवन और शाश्वत साधन का यह जो अविरोध भाव है, वही कबीर का 'सहज पन्थ' है। उनके युग में यह शब्द बहुत प्रचलित था। जैसे आजकल 'संस्कृति' शब्द बहुल प्रचार के कारण कुछ सस्ता हो गया है, वैसे ही उन दिनों 'सहज' शब्द भी सस्ता हो गया था। लोग गली-कूचे 'सहज-सहज' कहते फिरते थे। इस शब्द की व्याख्या भी निश्चय ही नाना भांति से की जाती रही होगी। कबीरदास इससे चिढ़कर एक जगह कहते हैं कि 'सहज-सहज तो सभी कहते हैं, पर सहज को पहचाना किसी ने नहीं। सहज उसी को कह सकते है जो सहज ही विषय का त्याग कर सके।'[3] इसके लिए घर-बार छोडने की जरूरत नहीं। सम्प्रदाय-प्रथित बाह्याडम्बर की भी कोई आवश्यकता नहीं। और जैसा कि प्रसिद्ध साधक रज्जब ने कहा है, योग में भोग रह सकता है और भोग मे योग हो सकता है।[4] वैरागी भी डूब सकते हैं और गृहस्थ भी तर सकते है। इस प्रकार यह सहज पन्थ 'सहजयान' नामक सम्प्रदाय-विशेष से एकदम भिन्न है। इसी तरह जब कबीर 'शून्य' शब्द का व्यवहार करते हैं तो 'कुछ नहीं' के अर्थ में कभी नहीं करते। भला जो कुछ नहीं है उसका नाम ही क्या हो सकता है? उस 'कुछ नहीं' का जो कुछ भी नाम दिया जायेगा वह, दादूदयाल ने ठीक ही कहा है कि, झूठ होने को बाध्य है।[5]

यह शून्य शब्द बहुत मनोरंजक है। बौद्ध महायान दार्शनिकों की दो शाखाएँ हैं। एक मानती है कि संसार में सबकुछ शून्य है, किसी की भी सत्ता नहीं और दूसरी शाखावाले मानते हैं कि जगत् के सभी पदार्थ बाह्यतः असत् हैं, पर चित् के निकट सभी सत् है। एक को शून्य-वाद कहते हैं और दूसरी को विज्ञान-वाद।

1. निर्गुण ब्रह्म को कियो समाधू। तब ही चले कबीरा साधू।
   तुर्क की राह खोज सब छाड़ी। हिन्दू के करनीते पुनि न्यारी॥—दादू
2. सुर नर मुनिजन औलिया, ए सब उरली तीर।
   अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया कबीर॥—कबीर
3. सहज-सहज सब ही कहे, सहज न चीन्है कोइ।
   जिन सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोइ॥—कबीर
4. एक जोग मे भोग है, एक भोग मे जोग।
   इक बूड़हि बैराग में, एक तरहि सो गृही लोग॥—रज्जब
5. कुछ नाही का नाँव क्या, जो धरिये सो झूठ।
   और
   कुछ नाही का नाँव धरि, भरमा सब संसार।
   साँच झूठ समझै नहीं, ना कुछ किया विचार॥—दादू

नागार्जुन ने शून्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते क्योंकि वह शून्य भी नहीं है और अशून्य भी नहीं है। इसी भाव की प्रज्ञप्ति के लिए शून्यता का व्यवहार होता है :

शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति, प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥

इस प्रकार यह सिद्धान्त बहुत-कुछ अनिर्वचनीयता-वाद का रूप ग्रहण कर लेता है। महायान मत की प्रज्ञापारमिताओं की थका देनेवाली पुनरुक्तियों में बारम्बार यही दुहराया गया है कि वह यह भी नहीं है, वह भी नहीं है।[1] यह शून्य-वाद इतना प्रचलित हुआ कि उस युग के सभी साधक इस शून्य का प्रयोग करने लगे। सबने अपने-अपने मतानुकूल अर्थ किये। योगियों के षट्चक्र के सबसे ऊपरी चक्र को शून्यचक्र या सहस्रदल-पद्म कहते हैं। इस प्रकार योगियों ने भी शून्य को ही परम लक्ष्य माना है, पर उसका अर्थ बदलकर। कबीरदास आदि निर्गुण मत के साधकों ने भी इस शब्द का व्यवहार अपने-अपने ढंग पर किया है। अध्यापक क्षितिमोहन सेन ने दादू की अनेकानेक वाणियों की जाँच करने के बाद देखा है कि दादू का शून्य 'कुछ नहीं' तो है ही नहीं, अपितु, वह 'पूर्ण सरोवर', 'आत्म-सरोवर' और 'हरि-सरोवर' है। दादू के टीकाकारों ने कहीं शून्य शब्द का अर्थ शान्त निर्वाण पद किया है और कहीं लय-लीन समाधि की अवस्था।

इस विषय में तो कोई सन्देह ही नहीं कि शास्त्रज्ञान से वंचित होने पर भी इस श्रेणी के साधक बहुश्रुत थे। इस बहुश्रुतता के कारण वे अनायास ही अनुभव-सम्मत सत्य का संग्रह कर सकते थे। इसीलिए उनका मत न तो किसी आचार्य-विशेष के मत का हू-ब-हू उल्था है और न बेसिर-पैर की बातों की बेढंगी खिचड़ी। मर्मी विषयों में उनका आत्मोपलब्ध मत है। वेदान्तियों के निर्गुण ब्रह्म उनके उपास्य नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने एकाधिक बार उनसे [illegible] किया है। प्रेम पर इन सन्तों ने इतना अधिक जोर दिया है कि प्रेम के लिए भगवान् को भी [illegible] बताया है। यह भावना केवल ज्ञानगम्य ब्रह्म को आधार करके नहीं चल सकती। भक्तरूपी प्रिया के लिए भगवानरूपी प्रिय के सदा व्याकुल रहने की कल्पना निर्गुण और निरासक्त ब्रह्म को आधार करके नहीं चल सकती, प्रेम के इस रूप के लिए एक संसक्त और व्यक्तिगत भगवान् की पूर्वकल्पना नितान्त आवश्यक है। यदि उन्हें विशुद्ध ज्ञानमार्गी मान लिया जायगा तो [illegible] हो जायगी। जिन पण्डितों ने इन सन्तों को ज्ञानाश्रयी कहा है, वे [illegible]

(1) भगवान् को अन्तर मे ही रखना चाहिए, बाहर प्रदर्शन करने पर वह दिखाने की चीज हो जाता है। (2) इस रस को जिसने पाया है वही जला है। (3) इस प्रेम-लीला मे भक्त के समान ही भगवान् भी उत्सुक हैं। (4) जिसने प्रेम के क्षेत्र मे भगवान् का योग पाया है वही वास्तव में योगी है। (5) इस प्रेम की ज्वाला मे जलकर ही भगवान् ने अनाहत संगीत की तरह इस सुन्दर सृष्टि की रचना की है। (6) पवन, जल, आकाश, धरती, सूर्य, चन्द्र, ये सभी भगवान् के प्रेम के रूप है, इत्यादि।

प्रेम के इस असीम आनन्द को प्रकट करने के लिए इन साधकों में एक पारिभाषिक शब्द प्रचलित है—सबद या शब्द। यह शब्द भी बहुत पुराना है और नाना मतों मे नाना रूप ग्रहण कर चुका है। निर्गुणिया सन्तों के मत से यह सारा विश्व 'सबद' मे बँधा है। सबद के इस अनादि संगीत की तान को 'सुरति' और ताल और लय को 'निरति' करते हैं। सुरति और निरति मिलकर ही सबको पूर्ण करते है। सुर असीम है, ताल ससीम। ताल से बँधकर ही सुर रूपपरिग्रह करता है, नही तो हम उसे अनुभव नहीं कर सकते। असीम परमात्मा भी सुरति-निरति के सुर-ताल में बँधकर अपने को प्रकट करता है। जहाँ-कहीं आविर्भाव है, रूप की अभिव्यक्ति है, वहीं सीमा और असीम का योग है। गति असीम है, पर जब वह नृत्य आदि का रूप धारण करती है तब समझना चाहिए कि उसका योग पद-संचार आदि की सीमा के साथ हुआ है। इसीलिए यह साररूपात्मक जगत् सीमा और असीम के योग से बना है। इसी योग के लिए यह विराट् आयोजन चल रहा है। कहना नही होगा कि 'शब्द' का यह अर्थ जो इन साधकों ने स्वीकार किया है, योगियों के 'नाद' से एकदम भिन्न न होते हुए भी हू-ब-हू वही नहीं है।

सीमा और असीम के इस प्रेममय द्वन्द्व से ही इस श्रेणी के भक्तों का काव्य एक अभिनव माधुर्य और सौन्दर्य से समृद्ध हो गया है। उसमे ठीक रूप की उपासना भी नहीं है और नीरस निर्गुण-निराकार का ध्यान भी नही है। भगवान् के साथ उनका एक भक्तिगत योग है, जो न तो कभी भगवान् की असीमता को खर्व करता है और न अपनी ससीमता का निरादर करता है। वह प्रेम सम्भव ही इसलिए हो सका है कि सीमा असीम को और असीम सीमा को पाने के लिए व्याकुल है। इस व्याकुलता की पीड़ा से इस साधना का साहित्य ससार का बेजोड़ और अद्वितीय साहित्य बन सका है। किसी सम्प्रदाय-विशेष के संस्कारो से समाच्छन्न न होने के कारण यह सहज ही सारे संसार की सम्पत्ति बन सकता है।

स्वभावतः ही यह प्रश्न होता है कि क्या फिर आत्मा असीम में मिलकर लीन हो जायगा और सबकुछ समाप्त हो जायगा? ज्ञानमार्गियों का तो यही कहना है कि यह आत्मा ज्ञानप्राप्ति के बाद अविद्या के जाल से छुटकारा पाकर अद्वैत सत्ता मे लीन हो जायगा। पर ये साधक ठीक ऐसी ही बात नही करते, ज्ञान की अपेक्षा प्रेम की प्राप्ति पर अधिक जोर देते हैं। इन सन्तों में एक पारिभाषिक शब्द 'लौ' प्रचलित है, जो साधारणतः 'लय' शब्द से सम्बद्ध समझा जाता है। पर इनके द्वारा

व्यवहृत किसी शब्द को शास्त्र से या दर्शन-विशेष के पारिभाषिक शब्द के साथ एक करके देखने मे पद-पद पर गलतफहमी होने का अन्देशा रहता है। इनके शब्दों का अर्थ इनके प्रयोग से ही स्पष्ट होता है। 'लौ' असल मे प्रेम का ही वाचक शब्द है। भगवान् के साथ भक्त का जब लौ लगता है तो वह उसके अखण्डानन्दसन्दोह रूप मे लीन नही हो जाता है बल्कि, जैसा कि कबीर कहते है, 'कँवल कुआँ मे प्रेम-रस पीवै बारम्बार।' वहाँ उसकी सत्ता रहती है और प्रेम के योग में ही वह ससार का अभिनव आनन्द प्राप्त करता है। वह प्रेम-योग से युक्त भगवान् के साथ अपनी सीमित सत्ता में रहते हुए भी, सहज ही विश्वरस का आनन्द उपभोग कर सकता है। इस प्रकार सुरति तान या शाश्वत संगीत मे पूर्ण होकर लौ लगाया हुआ भक्त फिर भी प्रेम का प्यासा होता है। और जैसा कि दादू ने कहा है, यदि वह जगद्-गुरु की अनन्त सत्ता में लौ लगा सके तो सहज ही अभिनव लीला का रसास्वाद कर सके।[1] इस प्रकार 'लौ' का अर्थ है—चित्तवृत्तियों को अन्यत्र से हटाकर एक अनन्त प्रेममय भगवत्सत्ता में युक्त करना, जहाँ से भक्त सदा अपना अभिलषित प्रेमरस पान करता रहे। *यह वही अवस्था है, जिसे भागवतगण शम-बुद्धिमूलक* समाधि कहते है और जिसकी चर्चा आगे की गयी है।

इस प्रकार के प्रेम में छके हुए ये सन्त कभी प्रेम को शराब बताते है और उस मद से मस्त बने रहने की बात करते है। इस प्रकार के कथनों को भी सूफी साधना का प्रभाव सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है। कबीरदास आदि सत्संगी जीव थे और अनेक बड़े-बड़े सूफी साधकों से उनकी प्रत्यक्ष घनिष्ठता थी। ऐसी अवस्था मे यह तो नही कहा जा सकता कि इस प्रकार की बातों में सूफी मत का प्रभाव नही ही है। ऐसा प्रभाव होना असम्भव नही है। पर कबीरदास के पदो के साथ जब उनके पूर्ववर्त्ती सिद्धों के पदों की तुलना की जाती है तब इस जाति के पदों मे आश्चर्य-जनक साम्य दिखायी देता है। असल बात तो यह है कि सहजयान में 'मदिरा' का प्रचलन भी खूब हो चुका था। सिद्ध लोग भी एक प्रकार की मदिरा की चर्चा करते हैं जिसका स्वर हू-ब-हू कबीर-जैसा होता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि ऐसे पदों में कबीरदास प्रायः अवधू या अवधूत को सम्बोधन करते है। कबीरदास का नियम-सा बँधा हुआ था कि जब वे जिस विषय की बात करते थे, तब उसके विशेष मान्य आचार्य को सम्बोधन करते थे। वेद की बात करते समय पण्डित को, क़ुरान की बात करते समय मुल्ला को, भक्ति की बात करते समय साधु को वे प्रायः पुकार लेते थे। सम्बोधन करने के बाद प्रायः उनके पदों में सम्बोध्य की विद्या की नयी व्याख्या बतायी जाती है और उसकी रूढियों पर आघात किया जाता है। ऐसी अवस्था मे मदिरा के रूपकों मे अवधूत को पुकारने का विशेष अर्थ है। वह अवधूत ही मदिरा की नयी व्याख्या है। सूफी साधकों की चीज की व्याख्या नही। पर

1. जहाँ जगतगुरु रहत है, तहाँ जो सुरति समाइ।
तौ इन नैंनेहु उलटि करि, कौतिक देखै आइ॥—दादू

यह हो सकता है कि इस नयी व्याख्या मे सूफी साधना की बात भी अप्रत्यक्ष रूप से आ गयी हो।

अब तक जो हम कबीर आदि साधकों, योगियों और सिद्धों की बात करते आ रहे है उसका यह अर्थ नही है कि मैं सिद्ध करना चाहता हूँ कि कबीर आदि ने वही कहा है जो इन योगियों और सिद्धों ने। मैं केवल इस बात पर जोर देता रहा हूँ कि जहाँ तक उनकी उपस्थापन-पद्धति, विषय, भाव, भाषा, अलंकार, छन्द, पद आदि का सम्बन्ध है, ये सन्त सौ फी सदी भारतीय परम्परा में पड़ते है। उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढि-विरोधिता, उनकी खण्डनात्मक वृत्ति और उनकी अक्खडता आदि उनके पूर्ववर्त्ती साधकों की देन है। परन्तु उनमें की आत्मा उनकी अपनी है। उसमें भक्ति का रस है और वेदान्त का ज्ञान है। इस भक्तिरस की आलोचना हम आगे करेंगे। केवल एक सवाल और रह जाता है कि कबीर के पहले भी तो ये बातें वर्त्तमान थी, फिर वे उतनी ही प्रभावशाली क्यों नही हो सकीं जितनी कबीर आदि की बातें हो सकी? इस बात के कई तरह के जवाब दिये गये हैं। परन्तु इसका कारण निस्सन्देह राजनीतिक सत्ता थी। किसी-किसी ने कहा है कि मुसलमानो के आगमन के पूर्व हिन्दू राजा इन तथाकथित नीच जातियो की आशा-आकांक्षा को पनपने नही देना चाहते थे और किसी दूसरे ने कहा है कि पहले तो ये छोटी समझी जानेवाली जातियाँ अकेले हिन्दुओं से सतायी जा रही थीं, अब मुसलमानों से सतायी जाने लगी; इस प्रकार उन्हें अपनी स्थिति को सुधारकर अधिकार प्राप्त करने के नये प्रयत्न करने पडे। ये दोनों ही बातें युक्तियुक्त नहीं जँचती। मेरा विचार यह है कि ऐसी बातें समाज के किसी-न-किसी स्तर में वर्त्तमान तो जरूर थीं, पर अधिकांश में उन लोगों द्वारा प्रचारित होती थी जो शास्त्र और वेद को नही मानते थे। फिर जनसाधारण में प्रचलित पौराणिक ठोस रूपों से उनका कोई सम्बन्ध नही था। कबीरदास ने गुरु रामानन्द से शिष्यत्व ग्रहण करके जनसाधारण मे उनकी शास्त्र-सिद्धता का विश्वास पैदा किया और राम-नाम को अपनाकर जन-साधारण के परिचित भगवान् से अपने भगवान् की एकात्मता साबित की। उन्होंने रूपकों-द्वारा योगमार्ग, वैष्णव मत आदि अत्यधिक प्रचलित जनमत की अपने ढंग पर व्याख्या करके जनसाधारण का विश्वास अर्जन कर लिया। इस प्रकार एक बार शास्त्र और लोक-विश्वास का जरा-सा नाम-मात्र का सहारा पाते ही यह मत देश के इस सिरे से उस सिरे तक फैल गया।

भक्तों की परम्परा

हमने देख लिया है कि हमारे आलोच्य साहित्य की आरम्भिक अवस्था में पूर्व और पश्चिम की भिन्न स्वभाववाली साधनाओं का सम्मिलन बड़े वेग से हो रहा था। यह एक विराट् जन-आन्दोलन था। दर्शन और धर्मशास्त्र की सूक्ष्म चिन्ताएँ इसको ऊपर-ऊपर से ही प्रभावित कर सकी थी। हम आगे चलकर देखेंगे कि ऐहिकतापरक या सेक्यूलर काव्य के सम्बन्ध में भी यह युग अपना रास्ता अधिकांश में स्वयं तै कर रहा था। पूर्व के सहजयानी और नाथपन्थियों की साधनामूलक रचनाएँ तथा पश्चिम की अपभ्रंश-धारा की वीररस, नीति और शृंगारविषयक कविताएँ उस भावी जन-साहित्य की सृष्टि कर रही थीं, जिसके जोड़ का साहित्य सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में दुर्लभ है। यह एक नयी दुनिया है, और जैसा कि डाक्टर ग्रियर्सन ने कहा है, "कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवीं तथा बाद की शताब्दियों का साहित्य पढ़ने का मौका मिला है उस भारी व्यवधान (gap) को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो (पुरानी और नयी) धार्मिक भावनाओं में विद्यमान है। हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहाँ तक कि वह बौद्धधर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है। क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम साधना और प्रेमोल्लास (mysticism and rapture) के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पण्डितों की जाति के नहीं, बल्कि जिनकी समता मध्ययुग के यूरोपियन भक्त बर्नर्ड ऑफ क्लेयरवॉक्स, थॉमस ए. केम्पिन और सेण्ट थेरिसासे है।" जो लोग इस युग के वास्तविक विकास को नहीं सोचते उन्हें आश्चर्य होता है कि अचानक कैसे हो गया। स्वयं डाक्टर ग्रियर्सन ने ही लिखा है कि, "बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नयी बात दिखायी दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आयी और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नहीं कर सकता," इत्यादि। स्वयं डॉ. ग्रियर्सन का अनुमान है कि वह ईसाइयत की देन है। पर यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है और यह कहना तो और भी उपहासास्पद है, जब मुसलमान हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करने लगे, तो निराश होकर हि

भजन-भाव में जुट गये। मैंने इन दोनों का यथाशक्ति अपनी 'सूर-साहित्य' नामक पुस्तक में खण्डन कर दिया है। यहाँ उन बातों को दुहराने की जरूरत नहीं, क्योंकि इत:पूर्व हम देख चुके हैं कि भारतीय चिन्ता स्वभावतः ही इस ओर अग्रसर होती गयी है। लेकिन जिस बात को ग्रियर्सन ने अचानक बिजली की चमक के समान फैल जाना लिखा है, वह वैसी नहीं। उसके लिए सैकड़ों वर्ष से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे। फिर भी उसका प्रादुर्भाव तो एकाएक हो ही गया। इस एकाएक प्रादुर्भाव का कारण विचारणीय रह जाता है। पिछले वक्तव्य को समाप्त करते समय इस कारण की ओर इशारा किया गया था। वह कारण था शास्त्रसिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओं से इनका योग होना। ये शास्त्रसिद्ध आचार्य दक्षिण के वैष्णव थे।

सुदूर दक्षिण में आलवार भक्तों में भक्तिपूर्ण उपासना-पद्धति वर्तमान थी। आलवार बारह बताये जाते हैं, जिनमें कम-से-कम नौ तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं ही। इनमें आण्डाल नाम की एक महिला भी थी। इनमें से अनेक भक्त उन जातियों में उत्पन्न हुए थे जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता है। इन्हीं लोगों की परम्परा में सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुज का प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिण में आज की भाँति ही जाति-विचार अत्यन्त जटिल अवस्था में था। फिर भी जैसा कि अध्यापक क्षितिमोहन सेन ने लिखा है, इन जाति-विचार-शासित दक्षिण देश में रामानुजाचार्य ने विष्णु की भक्ति का आश्रय लेकर नीच जाति को ऊँचा किया और देशी भाषा में रचित शठकोपाचार्य के तिरुवल्लुअर प्रभृति भक्तिशास्त्र को वैष्णवों का वेद कहकर समादृत किया। धर्म की दृष्टि में सभी समान हैं लेकिन समाज के व्यवहार में जाति-भेद है, इसीलिए दोनों ओर की रक्षा करके यह व्यवस्था की गयी कि प्रत्येक आदमी अलग-अलग भोजन करेगा, क्योंकि जाति-पाँति का सवाल तो पंक्ति-भोजन में ही उठता है। इसी को दक्षिण में 'तेन कलै' या दक्षिणवाद कहते हैं। इस बात को कुछ अधिक स्वाधीनता समझकर पन्द्रहवीं शताब्दी में वेदान्तदेशिक ने वेदवाद और प्राचीन रीति को पुनः प्रवर्तित किया। इसी को यह 'वेद कलै' या वेदवाद कहते हैं। 'तेन कलै' वालों ने विवाह में होम और विधवा का मस्तक-मुण्डन आदि आचार छोड़ दिये थे। किन्तु वेदान्तदेशिक ने पुनर्वार इन आचारों को जीवित किया। स्पष्ट ही जान पड़ता है कि आलवारों का भक्तिमतवाद भी जनसाधारण की चीज था, जो क्रमशः शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारतवर्ष में फैल गया। यह हम ठीक नहीं कह सकते कि पुराने आलवार भक्तों ने इस भक्तिवाद को कहाँ तक दार्शनिक रूप दिया है। बहुत सम्भव है, जैसा कि प्रायः हुआ करता है, कि अपने-आपमें वह उत्तर भारत के सन्तों की तरह 'अनभौ साँचा पन्थ' या अनुभूत सत्यों का अस्त-व्यस्त रूप रहा हो, जिसे बाद के शास्त्रज्ञानशाली पण्डितों ने ब्योरेवार सजाया हो और उसे दार्शनिक रूप दिया हो। उत्तर भारत में इन वैष्णवशास्त्री आचार्यों की कृपा से उसके दार्शनिक रूप का ही अधिक प्रचार हुआ।

ऊपर दक्षिण के जिस वैष्णव आन्दोलन की चर्चा की गयी है, उसका ज़रा विस्तृत विवरण यहाँ देना आवश्यक है, क्योंकि असल में दक्षिण का वैष्णव मत-वाद ही भक्ति-आन्दोलन का मूल प्रेरक है। बारहवीं शताब्दी के आसपास दक्षिण में सुप्रसिद्ध शंकराचार्य के दार्शनिक मत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया शुरू हो गयी थी। अद्वैतवाद मे, जिसे वाद के विरोधी आचार्यों ने मायावाद भी कहा है, जीव और ब्रह्म की एकता भक्ति के लिए उपयुक्त न थी, क्योंकि भक्ति के लिए दो चीजो की उपस्थिति आवश्यक है, जीव की और भगवान् की। प्राचीन भागवत धर्म इसे स्वीकार करता था। दक्षिण के आलवार भक्त इस बात को मानते थे। इसीलिए बारहवी शताब्दी में जब भागवत धर्म ने नया रूप ग्रहण किया तो सबसे अधिक विरोध मायावाद का किया गया। चार प्रबल सम्प्रदाय अद्वैतवाद के विरोध में आविर्भूत हुए, जो आगे चलकर सम्पूर्ण भारतीय साधना के रूप को बदल देने में समर्थ हुए। चार सम्प्रदाय है—रामानुजाचार्य का श्री-सम्प्रदाय, मध्वाचार्य का ब्राह्म सम्प्रदाय, विष्णु स्वामी का रुद्र-सम्प्रदाय और निम्बार्काचार्य (निम्बादित्य) का सनकादि-सम्प्रदाय। इन चारों सम्प्रदायों के दार्शनिक मत मे भेद है, परन्तु एक बात मे वे सब सहमत हैं। वह बात मायावाद का विरोध है। दूसरी बात जो इन सबमें एक है वह भगवान का अवतार धारण करना है। जीवात्मा सबके मत से भिन्न-भिन्न है। वह अद्वैतवादियो की धारणा के अनुसार, भगवान् में लीन कभी नही होता। इन सम्प्रदायों का हिन्दी के भक्ति-काल के साहित्य के साथ सीधा सम्बन्ध है।

श्री-सम्प्रदाय— इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक रामानुजाचार्य शेषनाग के अवतार समझे जाते है। जैसा कि पहले बताया गया है, वे आलवार भक्तो के शिष्य-परम्परा में पड़ते हैं। इनकी शिक्षा-दीक्षा कांची में हुई थी। लक्ष्मी ने इन्हे जिस मत का उपदेश दिया था, उसी के आधार पर इन्होंने अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की थी, इसीलिए इस सम्प्रदाय को श्री-सम्प्रदाय कहते हैं। रामानुजाचार्य मर्यादा के बड़े पक्षपाती थे। इनके सम्प्रदाय मे खान-पान, आचार-विचार आदि पर बड़ा जोर दिया जाता है। इन्ही की चौथी या पाँचवीं शिष्य-परम्परा में सुप्रसिद्ध स्वामी रामानन्द हुए।

रामानन्द के गुरु का नाम राघवानन्द था। कहते हैं किसी अनुशासनसम्बन्धी विषय पर गुरु से मत-भेद हो जाने के कारण इन्होने मठ त्याग दिया और उत्तर भारत की ओर चले आये। मठ मामूली सम्पद्शाली नही था। इतनी बड़ी सम्पत्ति को जो सहज ही त्याग सकता था, उस आदमी की स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति का अन्दाजा सहज ही लगाया जा सकता है। सच पूछा जाय तो मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु रामानन्द ही थे। प्रसिद्ध है कि भक्ति द्रविड देश मे उत्पन्न हुई थी; उसे उत्तर भारत में रामानन्द ले आये और कबीरदास ने उसे सप्तद्वीप

करते है।

कबीरदास में रामानन्द के मन्त्र-बीज ने सबसे अधिक प्रसार पाया। कबीर एक ही साथ तीन बड़ी-बड़ी धाराओं को आत्मसात् कर सके थे, लेकिन इससे उनके रामानन्द के शिष्य होने में कोई बाधा नही पड़ी। ये तीन धाराएँ इस प्रकार हैं—(1) उत्तर-पूर्व के नाथ-पन्थ और सहजयान का मिश्रित रूप, (2) पश्चिम का सूफी मतवाद, और (3) दक्षिण का वेदान्त-भावित वैष्णव धर्म। कबीर के दोहे, पद, यहाँ तक कि उलटबाँसियाँ भी, नाथपन्थ और सहजयान के साधकों के ढंग पर है। कहीं-कहीं तो हू-ब-हू वही बात रख दी गयी है। दूसरी धारा का क्षीण प्रभाव उनकी प्रेम-मूलक रूपक-रचनाओ पर है, पर अन्तिम धारा ही वास्तव मे कबीर को सदा परिचालित करती रही। साम्प्रदायिक शास्त्र-ज्ञान को अधिक महत्त्व देने-वाले पण्डितों को कभी-कभी कबीर की उक्तियों मे उजड्डपन और ऊटपटांग बातों का आभास मिल जाना असम्भव नही है, पर अगर वे धीर भाव से विचार करते तो उन्हें मालूम होता कि उस युग में अर्थहीन जात-पाँत के ढकोसलों पर कड़े से कडा आघात करना लोक-पक्ष का अमगल नही था। आज भी वह अर्थहीन जजाल वर्त्तमान है और आज का महापुरुष भी,—चाहे वह कोई हो—इस पर आघात करने को बाध्य है। लोक-पक्ष, उपासना-पक्ष और शास्त्र-पक्ष की कल्पना से हम ग्रन्थगत मतों का विचार कर सकते हैं, पर वास्तविक समस्या का समाधान उनसे नहीं हो सकता।

रैदास कबीर से अवस्था में कदाचित् बड़े थे और बहुत निरीह भक्त थे, जीवन की बहुविध कठिनाइयों को झेल चुके थे। एक बार ब्रह्म-ज्ञान के विषय में कबीर से जब पूछा गया तो, कहते है, उन्होंने बताया कि "मैं बच्चा था, माँ की गोदी मे चढकर रास्ता पार कर आया हूँ, रैदास से पूछो, वे बड़े थे और माँ ने उनके सिर पर कुछ गट्ठर भी रख दिया था। वे ही रास्ते का मर्म बता सकते है।" प्रसिद्ध है कि अन्त मे मीराबाई ने रैदास से दीक्षा ग्रहण की थी। परन्तु हाल की खोज मे इस मत पर सन्देह प्रकट किया गया है। (दे. पं. परशुराम चतुर्वेदी : 'मीराँबाई की पदावली', पृ. 72)

कबीर के पुत्र का नाम कमाल था। कबीर की मृत्यु के बाद इनसे सम्प्रदाय स्थापित करने को कहा गया, पर वे राजी न हुए। कहते हैं, इसीलिए शिष्यों ने चिढ़कर इन्हें 'कबीर का वंश डुबा देनेवाला' कहा। लेकिन कमाल अपने मत पर दृढ रहे और अन्त तक कहते रहे कि जिसने अपनी सारी जिन्दगी सम्प्रदाय-स्थापना के विरुद्ध युद्ध करने में लगायी, मैं उसी के नाम पर सम्प्रदाय-स्थापना या समर्थन नही कर सकता। पर अन्त में, सम्प्रदाय की स्थापना होकर ही रही। सुरतगोपाल ने काशी मे और धरमदास ने मध्य प्रान्त में कबीर का सम्प्रदाय स्थापित किया।

कमाल के शिष्य दादू थे। दादू को कुछ लोग मोची, कुछ लोग धुनिया और कुछ लोग सारस्वत ब्राह्मण बताते है। पं. चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी और प्रो. क्षितिमोहन सेन की आधुनिक खोजों से जाना गया है कि ये जन्म से मुसलमान थे।

और नवखण्ड मे प्रकट कर दिया।[1] सन् 1875 ई. की लिखी हुई रामानुज हरिवरदास की 'हरिभक्ति-प्रकाशिका' (भक्तमाल की टीका) से जाना जाता है (पृ० 81, 82), "रामानन्द ने देखा कि भगवान् के शरणागत होकर जो भक्ति के पथ में आ गया उसके लिए वर्णाश्रम का बन्धन व्यर्थ है, इसीलिए भगवद्भक्त को खान-पान की झंझट मे नही पड़ना चाहिए। यदि ऋषियो के नाम पर गोत्र और परिवार बन सकते है तो ऋषियों के भी पूजित परमेश्वर के नाम पर सबका परिचय क्यों नही दिया जा सकता? इस प्रकार सभी भाई-भाई है, सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नहीं।"[2] रामानन्द संस्कृत के पण्डित, उच्च ब्राह्मणकुलोत्पन्न और एक प्रभावशाली सम्प्रदाय के भावी गुरु थे, पर उन्होने सबको त्याग दिया—देशभाषा में कविता लिखी, ब्राह्मण से चाण्डाल तक को राम-नाम का उपदेश दिया। उनके हाथ से छूकर लोहा सोना हो गया। रामानन्द के बारह प्रधान शिष्य हैं, जिनमे से कई नीच कही जानेवाली जातियो मे उत्पन्न हुए थे। बारह शिष्य ये है :

रैदास (चमार), कबीर (जुलाहा), धन्ना (जाट), सेना (नाई), पीपा (राजपूत), भवानन्द, सुखानन्द, आशानन्द, सुरसुरानन्द, परमानन्द, महानन्द, श्री-आनन्द। कहते हैं, आनन्द नामधारी शिष्य पहले रामानुज सम्प्रदाय के थे, बाद में उन्होने रामानन्द का साथ दिया।

रामानन्द के इन शिष्यो मे से कई प्रसिद्ध कवि हो गये है। इनमे रविदास या रैदास और कबीरदास बहुत प्रसिद्ध हुए है। कई भक्तों ने इनके नाम पर अलग सम्प्रदायो का प्रवर्त्तन किया, जिनमें कबीरपन्थी, खाकी, मलूकदासी रैदासी, और सेनापन्थी बहुत प्रसिद्ध है। रामानन्द स्वय खान-पान के प्रश्न पर ही अपने मूल सम्प्रदाय से विच्युत हुए थे, अतएव वे अपने शिष्यों से उस प्रकार के आचार-विचार पर जोर नही दिलवाते थे। बाद के भक्तों में जाति-पाँति का प्रश्न ही जाता रहा। रामानन्द की दूसरी उदारता उपासना-पद्धति की स्वतन्त्रता है। रामानन्द ने स्वयं रामचन्द्र के अवतार और चरित्र को ही लोक और काल के उपयोगी बताया था। उपासना के क्षेत्र में ही वे जाति-पाँति के बन्धन को अस्वीकार करते थे, पर अपने किसी भी व्यक्तिगत मत को उन्होंने शिष्यों पर लाद नही दिया। उनके मत से गुरु को आकाशधर्मा होना चाहिए जो पौधे को बढ़ने के लिए उन्मुक्तता दे, न कि शिलाधर्मी जो पौधे को अपने गुरुत्व से दबाकर उसका विकास ही रोक दे। जो विद्वान् 'रामानन्द दिग्विजय' आदि बाद के बने ग्रन्थो के आधार पर रामानन्द की इस महिमा को अस्वीकार करते है, वे भूल जाते है कि सम्प्रदाय-प्रतिष्ठा करनेवाले शिष्य सदा लोक के साथ समझौता करके अपने गुरु के महत्त्व को कम किया

1. भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्तदीप नवखण्ड॥
2. श्री क्षितिमोहन सेन-कृत 'भारतीय मध्ययुगेर साधना' से उद्धृत।

करते हैं।

कबीरदास में रामानन्द के मन्त्र-बीज ने सबसे अधिक प्रसार पाया। कबीर एक ही साथ तीन बड़ी-बड़ी धाराओं को आत्मसात् कर सके थे, लेकिन इससे उनके रामानन्द के शिष्य होने में कोई बाधा नहीं पड़ी। ये तीन धाराएँ इस प्रकार हैं—(1) उत्तर-पूर्व के नाथ-पन्थ और सहजयान का मिश्रित रूप, (2) पश्चिम का सूफी मतवाद, और (3) दक्षिण का वेदान्त-भावित वैष्णव धर्म। कबीर के दोहे, पद, यहाँ तक कि उलटबाँसियाँ भी, नाथपन्थ और सहजयान के साधकों के ढंग पर हैं। कहीं-कहीं तो हू-ब-हू वही बात रख दी गयी है। दूसरी धारा का क्षीण प्रभाव उनकी प्रेम-मूलक रूपक-रचनाओं पर है, पर अन्तिम धारा ही वास्तव में कबीर को सदा परिचालित करती रही। साम्प्रदायिक शास्त्र-ज्ञान को अधिक महत्त्व देनेवाले पण्डितों को कभी-कभी कबीर की उक्तियों में उजड्डपन और ऊटपटांग बातों का आभास मिल जाना असम्भव नहीं है, पर अगर वे धीर भाव से विचार करते तो उन्हें मालूम होता कि उस युग में अर्थहीन जात-पांत के ढकोसलों पर कड़े से कड़ा आघात करना लोक-पक्ष का अनगल नहीं था। आज भी वह अर्थहीन जंजाल वर्त्तमान है और आज का महापुरुष भी,—चाहे वह कोई हो—इस पर आघात करने को बाध्य है। लोक-पक्ष, उपासना-पक्ष और शास्त्र-पक्ष की कल्पना से हम ग्रन्थगत मतों का विचार कर सकते हैं, पर वास्तविक समस्या का समाधान उससे नहीं हो सकता।

रैदास कबीर से अवस्था में कदाचित् बड़े थे और बहुत निरीह भक्त थे, जीवन की बहुविध कठिनाइयों को झेल चुके थे। एक बार ब्रह्म-ज्ञान के विषय में कबीर से जब पूछा गया तो, कहते हैं, उन्होंने बताया कि "मैं बच्चा था, माँ की गोदी में चढ़कर रास्ता पार कर आया हूँ, रैदास से पूछो, वे बड़े थे और माँ ने उनके सिर पर कुछ गट्ठर भी रख दिया था। वे ही रास्ते का मर्म बता सकते हैं।" प्रसिद्ध है कि अन्त में मीराबाई ने रैदास से दीक्षा ग्रहण की थी। परन्तु हाल की खोज में इस मत पर सन्देह प्रकट किया गया है। (दे. पं. परशुराम चतुर्वेदी : 'मीराबाई की पदावली', पृ. 72)

कबीर के पुत्र का नाम कमाल था। कबीर की मृत्यु के बाद इनसे सम्प्रदाय स्थापित करने को कहा गया, पर ये राजी न हुए। कहते हैं, इसीलिए शिष्यों ने चिढ़कर इन्हें 'कबीर का वंश डुबा देनेवाला' कहा। लेकिन कमाल अपने मत पर दृढ़ रहे और अन्त तक कहते रहे कि जिसने अपनी सारी जिन्दगी सम्प्रदाय-स्थापना के विरुद्ध युद्ध करने में लगायी, मैं उसी के नाम पर सम्प्रदाय-स्थापना या समर्थन नहीं कर सकता। पर अन्त में, सम्प्रदाय की स्थापना होकर ही रही। सुरतगोपाल ने काशी में और धरमदास ने मध्य प्रान्त में कबीर का सम्प्रदाय स्थापित किया।

कमाल के शिष्य दादू थे। दादू को कुछ लोग मोची, कुछ लोग धुनिया और कुछ लोग सारस्वत ब्राह्मण बताते हैं। पं. चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी और प्रो. क्षितिमोहन सेन की आधुनिक खोजों से जाना गया है कि ये जन्म से मुसलमान थे।

प्रो. सेन को बंगाल के बाउलों में दादू का उल्लेख मिला है। उसमें स्पष्ट बताया गया है कि गुरु दादू का नाम दाऊद था। जो कुछ भी हो, दादू की कवित्व-शक्ति और अनुभव आश्चर्यजनक थे। इस सम्प्रदाय के अन्यान्य भक्तों की भाँति ये भी सम्प्रदाय-गत शास्त्रीय-संस्कारों से मुक्त थे, इसीलिए सब जगह से अकातर भाव से सत्य ग्रहण कर सकते थे। इनके ग्रन्थों की भाषा राजस्थानी-मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है। दादू के अनेक शिष्य हो गये है, जिनमें कई अच्छे कवि हो गये हैं। सुन्दरदास, रज्जब, जयगोपाल, जगन्नाथ, मोहनदास, खेमदास आदि ने कविता लिखी है। इनमें साहित्यिक उल्लेख के योग्य दो है—सुन्दरदास और रज्जब। सुन्दरदास बहुत छोटी उमर मे दादू के शिष्य हो गये थे और उन्होने वर्षो तक काशी में रहकर शास्त्राभ्यास किया था। इसका फल यह हुआ कि इनकी कविता में पाण्डित्य की मात्रा अधिक है। सन्तो मे अगर किसी ने छत्रबन्ध, मुरजबन्ध आदि बाह्य अलंकारिता को आश्रय दिया तो वे यही है। लेकिन रज्जब बहुत पढ़े-लिखे आदमी नही थे। वे बड़े सरस ढग से तत्त्व की बात कहा करते थे। दादू के शिष्यों में रज्जब शायद सबसे अधिक चिन्ताशील और भावुक थे। दादू की शिष्य-परम्परा में जगजीवनदास हुए जिन्होंने सतनामी सम्प्रदाय चलाया। निर्गुण भक्तों की परम्परा में मलूकदास का नाम है। कहते हैं कि इनकी कविता की भाषा अपेक्षाकृत अधिक सुव्यवस्थित है। और भी कई प्रसिद्ध सन्त हो गये है, जिन्होने हिन्दी में अपनी अमर वाणियां लिखी हैं। इनमे तुलसीसाहब, गोविन्दसाहब, भीखासाहब, पल्टूसाहब आदि मुख्य है।

रामानन्दी भक्तों की एक दूसरी श्रेणी मे महाकवि गोसाईं तुलसीदासजी हुए, इन्होंने राम को अवतार-रूप में ग्रहण किया। इन्होने अपने सभी ग्रन्थों मे राम की सगुण उपासना पर जोर दिया और बहुत दिनो के लिए सारे भारतवर्ष को राम-भक्ति की पवित्र धारा मे स्नान करा दिया। बुद्धदेव के बाद उत्तर भारत के धार्मिक राज्य पर इस प्रकार एकच्छत्र अधिकार किसी का न हुआ। उन दिनों हिन्दी में साहित्य या लोकगीत के जितने रूप प्रचलित थे, तुलसीदास ने सबको अपनी आश्चर्यजनक प्रतिभा के बल पर अपना लिया। दोहे, सवैये, कवित्त, पद, सोहर, भजन आदि कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं था जिसमें उन्होंने अपनी प्रतिभा का चमत्कार न दिखाया। उनकी रामायण उत्तर भारत की बाइबिल कही जाती है। हमें ठीक नही मालूम कि ऐसा कहने से 'रामचरित-मानस' का वास्तविक महत्त्व समझा जा सकता है या नही, लेकिन इस बात के कहने मे किसी को संकोच नही होगा कि उत्तर भारत में दूसरी कोई पुस्तक इतनी लोकप्रिय नही है। कवि के रूप मे तुलसीदास हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। आज साहित्य में मनोविज्ञान का युग चल रहा है, पर आज भी तुलसीदास के समान मनोविकारों का चित्रण करनेवाला कवि हिन्दी में नहीं है। प्रबन्ध-काव्य में तुलसीदास उस स्थान पर पहुँच चुके थे जहां से आगे जाना सम्भव नही। लोक-चित्त का इतना विस्तृत और यथार्थ ज्ञान रखनेवाला कवि अगर लोकमत पर शासन न करता तो आश्चर्य की बात थी, शासन करना स्वाभाविक है।

तुलसीदास राम-भक्ति के उपासक थे। लोक में वर्णाश्रम व्यवस्था के वे पक्के समर्थक थे, पर उपासना के क्षेत्र मे जात-पाँत की मर्यादा को व्यर्थ समझते थे। दार्शनिक मत उनका शंकराचार्य से मिलता-जुलता था, यद्यपि मोक्ष की अपेक्षा वे भक्ति को ही अधिक काम्य समझते थे। मरने के बाद मोक्ष मिलने से युग-युगान्तर तक भक्ति पाना उनकी दृष्टि में ज्यादा अच्छा था। तुलसीदास मे अपने को पतित समझकर भगवान् को सर्वात्मना समर्पण कर देने की भावना मध्ययुग के तमाम भक्तों की अपेक्षा अधिक है। यूरोपियन पण्डितों का अनुभव है कि यह बात ईसाई धर्म का अप्रत्यक्ष प्रभाव है। लेकिन हम अन्यत्र दिखा चुके है कि यह अनुमान गलत है। भागवत धर्म में ही यह भाव मूल रूप से वर्त्तमान था।

नाभादास का भक्तमाल बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कुछ लोगों के मत से ये भी नीच समझी जानेवाली जातियों से आये थे। इनका 'भक्तमाल' और इस पर इनके प्रशिष्य प्रियादासजी की टीका भक्तों का हिय-हार रही है। तुलसीदासजी की रामायण के बाद 'भक्तमाल' ही मध्ययुग की सर्वाधिक लोकप्रिय भक्ति-पुस्तक थी। इसका अनुवाद बंगला और मराठी भाषा मे भी हुआ। बंगला अनुवाद के लेखक श्री लालदास ने (किसी किसी के मत से इनका नाम कृष्णदास था) नाभादास के लगभग सवा-सौ वर्ष बाद इस सटीक ग्रन्थ का अनुवाद लिखा, परन्तु चैतन्यदेव के मतानुयायी होने के कारण अपने सिद्धान्तों के समर्थन के लिए उन्होंने एक नया विभाग और जोड़ा। नाभादासजी के 'भक्तमाल' में बहुत से भक्तों के जीवनवृत्त संकलित हुए हैं। इसमें नानक, दादू आदि भक्तों का नाम नहीं आया है। बाद मे इस ग्रन्थ के अनुकरण पर और भी बहुत-से भक्तमाल लिखे गये।

2. ब्राह्म सम्प्रदाय—ब्राह्म सम्प्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य पहले शैव थे, बाद में वैष्णव हो गये। इस सम्प्रदाय से हिन्दी साहित्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। चैतन्यदेव इसी सम्प्रदाय में पहले दीक्षित हुए थे, यद्यपि बाद में प्रवर्तित उनका गौडीय-वैष्णव मतवाद रुद्रसम्प्रदायान्तर्गत वल्लभाचार्य के मत से अधिक साम्य रखता है। चैतन्यदेव की शिष्य-परम्परा में अनेक वैष्णव कवि बंगला और हिन्दी में मधुर पदावली की रचना कर गये हैं। अभी तक इस दिशा मे हिन्दी मे विशेष कार्य नहीं हुआ है। विद्वद्वर श्री प्रभुदयाल मीतलजी ने इस अभाव की पूर्ति कर दी है। हिन्दी साहित्य में चैतन्यदेव के एकमात्र दीक्षा-प्राप्त शिष्य गोपाल भट्ट का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने गोपाल भट्ट को चैतन्यदेव का गुरु लिखा है। 'चैतन्य-चरितामृत' आदि ग्रन्थों से स्पष्ट है कि गोपाल भट्ट एकमात्र ऐसे महात्मा थे जिन्हें चैतन्यदेव ने दीक्षा दी थी। चैतन्य सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध भक्त जीवगोस्वामी के साथ हिन्दी की अमर भक्त-कवि मीराबाई का सम्बन्ध बताया जाता है। मीराबाई ने पहले जीवगोस्वामी से ही दीक्षा ग्रहण की थी। बाद में मीराबाई ने, कहते हैं, रैदास से भी दीक्षा ग्रहण की थी।

3. रुद्र सम्प्रदाय—विष्णुस्वामीप्रवर्तित रुद्र सम्प्रदाय बाद में वल्लभाचार्य

के पर्वत्तित सम्प्रदाय के रूप में ही जीवित है। दो-एक अन्य शाखाएँ भी इसकी बतायी जाती है, पर वास्तव मे उनका कोई महत्त्व नही है। वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाइं विट्ठलनाथ बाद में आचार्य-पद के अधिकारी हुए थे। इन दोनों पिता-पुत्र के चार-चार शिष्य हिन्दी साहित्य के आदियुग के उन्नायक हैं। गोसाइं विट्ठलनाथ ने इन आठ को लेकर अष्टछाप की स्थापना की थी। इन आठ शिष्यों के नाम इस प्रकार है—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। इनमे सूरदास और नन्ददास बहुत अच्छे कवि हो गये हैं।

सूरदास का हिन्दी में बहुत ऊँचा स्थान है। उनका 'सूरसागर' प्रेम का अद्वितीय काव्य है। इस बात को स्वीकार करने में कड़े-से-कड़े समालोचक को भी कोई सकोच नही होगा कि इस ग्रन्थ मे हिन्दी, प्राकृत और संस्कृत के उद्भट काव्य का कोई भी उक्ति-चमत्कार, अलकारच्छटा और काव्य-सौन्दर्य आने से नही रहा। भाषा ऐसी सरस और मार्जित है कि सहसा यह विश्वास नही होता कि व्रजभाषा का यह पहला ग्रन्थ है। प. रामचन्द्र शुक्ल को 'सूरसागर किसी चली आती हुई गीत-काव्य-परम्परा का—भले ही वह मौखिक हो—विकास' प्रतीत होता है। कहते है, सूरदास उद्धव के अवतार थे और सख्य भाव से भगवान् का भजन करते थे। सूरदास के समीक्षकों का दावा है कि संसार का कोई दूसरा कवि बाल्य-स्वभाव का इतना सुन्दर चित्रण नही कर सका, जितना सुन्दर सूरदास के हाथों हुआ है। और इस विषय मे दो मत नही हो सकते कि बालस्वभाव, मातृ-प्रेम तथा सयोग और विप्रलम्भ शृगार मे सूरदास अतुलनीय हैं। मनोविकारों का ऐसा सरस चित्र अन्यत्र दुर्लभ है। उनका भ्रमर-गीत विरह का उमडता हुआ महा-समुद्र है। इसमें बडी सरलता और मार्मिकता के साथ कवि ने वैराग्यवाद, ज्ञान-गरिमा और योग तथा निर्गुणवाद का प्रत्याख्यान कराया है।

अष्ट-छाप के अन्य कवियों में सूर के बाद नन्ददास ही अधिक प्रसिद्ध है। इनके ग्रन्थों में वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों का शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादन किया गया है। अन्य अष्ट-छापियो में कवित्व की अपेक्षा महात्मापन अधिक है। सब लीला-गान को प्रधानता देते है। और जैसा कि वल्लभाचार्य ने बताया है कि "लीला का कोई और प्रयोजन नही है, स्वय लीला ही प्रयोजन है।"[1] इन भक्त कवियो के लीला-गान का भी कोई अन्य प्रयोजन नही है, स्वयं लीला-गान ही प्रयोजन है।

गोसाइं विट्ठलनाथ के सुपुत्र गोसाइं गोकुलनाथजी ने 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' और 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' नामक गद्य-ग्रन्थ लिखे। गोरखनाथजी के कई सौ वर्ष बाद यही गद्य-ग्रन्थ उपलब्ध होता है। इन दोनों ग्रन्थों में मध्य-युग के अनेक वैष्णव भक्तों की कहानी लुप्त होने से बच गयी है। इस शृंखला मे कुछ

1. नाहि लीलायाः किंचित् प्रयोजनमस्ति लीलाया एव प्रयोजनत्वात्।

दूर जाकर पीयूषवर्षी कवि रसखान हुए जो अपनी सरस रचना के कारण साहित्य में और तन्मय उपासना के कारण भक्तों की दुनिया में अमर हो गये है। रसखान की कहानी में वताया है कि ये पहले अनुचित प्रेम के शिकार थे, वाद मे किसी भक्त ने उन्हे भगवत्-प्रेम का रसिक वना दिया। ऐसी कहानी, किसी-न-किसी रूप मे मध्ययुग के अनेक भक्तों के वारे में कही जाती है। इस प्रकार की कहानियाँ शायद उस युग में भक्तों की प्रेम-मूलक साधना की ठीक-ठीक व्याख्या है। किस प्रकार एक ही मनोविकार लोक में एक रूप धारण करता है और भगवद्विषयक होकर एकदम विपरीत दूसरा रूप धारण करता है, यह वात मध्ययुग के भक्तों मे वहुत स्पष्ट दृष्ट होती है।

4. सनकादि सम्प्रदाय—निम्वार्काचार्य का यह सम्प्रदाय अव इतना अधिक प्रचलित नही है। उत्तर भारत में इस सम्प्रदाय के भक्त पाये जाते है। इस सम्प्रदाय का एक नाममात्र का शाखा-सम्प्रदाय राधावल्लभ है, जिसे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि गोस्वामी हितहरिवंश ने प्रवर्तित किया था। इस सम्प्रदाय मे राधिका के मार्फत ही भक्त अपने को भगवान् के पास निवेदित करता है। एक उप-सम्प्रदाय सखी-भाववालों का है, जो इसी सम्प्रदाय का अग समझा जाता है।

5. राधावल्लभी सम्प्रदाय—इसके प्रवर्त्तक हितजी ऊँचे दर्जे के कवि और महात्मा थे। ये सस्कृत के भी उत्तम कवि थे। 'राधा-सुधानिधि' नाम का संस्कृत काव्यग्रन्थ इन्ही का लिखा वताया जाता है। चैतन्य-सम्प्रदायवालों का दावा है कि उक्त ग्रन्थ किसी गौडीय गोस्वामी का लिखा हुआ है। उक्त ग्रन्थ के दोनों दावेदार पक्षों में इस वात के लिए काफी चख-चख हो चुकी है। जो हो, इस विषय मे सन्देह नही कि गोस्वामी हितहरिवंश हिन्दी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और शास्त्रज्ञान में दक्ष थे। सम्प्रदाय के एक विशिष्ट भक्त ने मुझे वताया है कि श्री हितजी का सम्प्रदाय स्वतन्त्र है और उसका प्रभाव वहुत व्यापक रहा है और अव भी है।

6. गुरु नानक और भक्तगण—दक्षिण के चार वैष्णव सम्प्रदाय किसी-न-किसी रूप मे समग्र भक्ति-आन्दोलन के साथ जिस प्रकार जड़ित है, उनकी चर्चा की गयी। गुरु नानक के प्रवर्त्तित सिख सम्प्रदाय का इन वैष्णव सम्प्रदायों से प्रत्यक्ष सम्वन्ध नही है। कुछ विद्वानों की राय मे गुरु नानक ने कवीर साहव से ज्ञान और भक्ति की उत्तेजना पायी थी। परन्तु ऐसे लोग भी हैं जो इस वात को स्वीकार करने में आपत्ति करते है। असल में नानक और कवीर मे साधना-गत साम्य था, यह वात अस्वीकार नहीं की जा सकती। गुरु रामानन्द के पद भी उक्त ग्रन्थ में संगृहीत है। इससे गुरु नानक का रामानन्दी निर्गुण धारा के साथ योग होना असम्भव नही है! नानकदेव ने जो कुछ कहा है वह उसी जाति की चीज है जो कवीर, दादू आदि निर्गुणोपासक भक्तों ने कही है। लेकिन फिर भी दीक्षा-गत सम्वन्ध न होने के कारण उसे प्रत्यक्ष सम्वन्ध नहीं कह सकते। वाद के गुरुओं ने भी 'नानक' नाम देकर ही पद लिखे है। नानक ने, कहते हैं कि, हिन्दी में वहुत कम

पद लिखे थे। जो कुछ हैं भी, उनमें पंजाबी का मिश्रण बहुत है। बगदाद के नानक स्थान में, कहा जाता है कि, उनकी अरबी में रचित वाणियों का एक संग्रह है। नानक के बाद में नौ उत्तरोत्तर शिष्य हुए जिनमें अनेक कवि थे। अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह की कविता में भक्ति और वीरभाव की प्रधानता है।

गुरु नानक ने अपने ग्रन्थों में नामदेवजी की भी वाणी संग्रह की है। नामदेवजी का जन्म (1363 ई.) महाराष्ट्र के दरजी-वंश में हुआ था। रामानन्द की तरह भक्ति को ये भी दक्षिण से उत्तर भारत में ले आये थे। कहते हैं, विष्णु-स्वामी, बोहरदास, जल्लो, लड्डा प्रभृति शिष्यों ने उनका समाधि-मन्दिर तैयार कराया था। पर इस बात का कोई पुष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिल सका है कि रुद्र-सम्प्रदायवाले विष्णुस्वामी और ये विष्णुस्वामी एक ही थे।

7. सूफी साधना का अविर्भाव—मुसलमानी सत्ता के साथ-ही-साथ इस देश में सूफी साधकों का आगमन होने लगा था। मुसलमानी धर्म की विशेषता उसका एकेश्वरवाद है। यह समझना गलत है कि एकेश्वर और अद्वैतवाद एक ही चीज है। एकेश्वरवाद में अनेक देवताओं के स्थान पर एक बड़े देवता की सत्ता स्वीकार की जाती है। असल में हिन्दुओं के बहुदेव-वाद के मूल में एक अखण्ड व्यापक भगवान् की सत्ता ही है। ब्रह्मा-विष्णु-शिव आदि देवता उसी भगवान् के गुणावतार हैं, यह बात हम आगे चलकर देखेंगे। जो कुछ भी हो, जहाँ तक हिन्दू जनता का सम्बन्ध था वहाँ तक यह एकेश्वरवाद उनके लिए एक अपरिचित-सी वस्तु थी। फिर भी मुसलमानों का एक गिरोह इस मत से सन्तुष्ट नहीं था। सूफी यही लोग थे। वे भगवान् को एकेश्वर रूप में नहीं बल्कि विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्तियों की तरह मानते थे। यह बात मुसलमानी शास्त्र के अनकूल नहीं थी। ऐसा विश्वास भी किया जाता है कि सूफियों के मतवाद में वेदान्त का प्रत्यक्ष प्रभाव था। जो हो, मुसलमानों में जो लोग अत्यधिक शास्त्राचार-परायण थे वे इन्हें 'बे-शरा' या शास्त्रबहिर्भूत मानते थे। इतिहास में इनके ऊपर किये गये तरह-तरह के अत्याचारों की कहानियाँ भी मिलती हैं। सूफियों में एक दल ऐसा भी था जो शास्त्र के साथ सामंजस्य रखकर उपासना करता था। इन लोगों को 'बा-शरा' या शास्त्रसम्मत कहा गया है। (श्री क्षितिमोहन सेन की 'मध्ययुगेर साधना' देखिए।)

शुरू-शुरू में ये साधक पंजाब और सिन्ध में आकर बस गये और धीरे-धीरे इनकी परम्परा सारे भारतवर्ष में फैल गयी। उन दि[illegible] चिन्ता की परिणति

सलीम चिश्ती (1512 ई.), मुबारक नागोरी (1510 ई. ?) आदि सूफी साधकों ने समान भाव से हिन्दू और मुसलमान, दोनों का आदर और विश्वास प्राप्त किया था। बहुतों की समाधि पर आज भी हजारों की संख्या में श्रद्धालु हिन्दू और मुसलमान जनता अपनी भक्ति निवेदन करने प्रतिवर्ष जाती है। यह बात कुछ विरोधाभास-सी लगती है कि उन दिनों जब कि हिन्दुओं और मुसलमानों की लड़ाइयाँ आम बात थी, किस प्रकार ऐसा मिलन सम्भव हो सका। मध्ययुग बहुत-कुछ करामातों का युग था। उस युग के प्रत्येक साधु-सन्त के नाम पर दो-चार करामाती किस्से मिल ही जाते हैं। इन करामातों और उनकी ख्याति से लोग परस्पर एक-दूसरे की ओर आकृष्ट होते थे। दोनों ज्यों-ज्यों निकट आते गये त्यों-त्यों अधिकाधिक अनुभव करते गये कि दोनों में तात्त्विक मतभेद बहुत कम है। कबीर आदि सन्तों ने इस बात पर बहुत जोर दिया। इन्होंने हिन्दुत्व और मुसलमानत्व के बाह्य उपकरण को हटाकर उनका असली रहस्य पहचानने की चेष्टा की। मुसलमानों की ओर से यह काम प्रेम-कहानियाँ लिखकर सूफी सन्तों ने किया। प. रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर आदि झाड़-फटकार के द्वारा 'चिढ़ानेवाले' सिद्ध हुए सन्तों के साथ उनकी तुलना करते हुए कहा है कि कबीर आदि का प्रयत्न 'हृदय स्पर्श करनेवाला' नहीं हुआ। "मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन में जिस हृदय-साम्य का अनुभव मनुष्य कभी-कभी किया करता है उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेम-कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक-सा प्रभाव दिखायी पड़ता है। हिन्दू और मुसलमान-हृदय को आमने-सामने करके अजनबीपन मिटानेवालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा।" इन साधकों ने हिन्दी में एक विशेष प्रकार के साहित्य को लुप्त होने से बचा लिया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दुओं के भीतर इस युग में जो विराट् जन-आन्दोलन भक्तिवाद के रूप में बद्धमूल हो चला था, वह प्राचीन धर्म का आश्रय लेकर ही चला था। परन्तु शास्त्रगत सूक्ष्म विचारों और पाण्डित्य-प्रवण चिन्ताओं का प्रभाव उस पर बहुत कम था। इस युग के साहित्य ने ऐसी बहुत-सी बातों को त्याग दिया था, जिनके अभाव में दोनों के भीतर एक बड़ा भारी व्यवधान दिखायी देता है। इस व्यवधान के कारण दो थे। प्रथम तो यह जन-आन्दोलन की अभिव्यक्ति का साहित्य है, इसलिए इसमें उन रूढ़ियों और परम्पराओं की चर्चा नहीं मिलती जो शास्त्रीयता से पुष्ट साहित्य में साधारणतः मिल जाया करती है। दूसरे, जिस प्राचीन साहित्य के साथ इनकी तुलना की जाती है उसके बनने से लेकर इस साहित्य के बनने के काल के बीच जो प्रायः आधी सहस्राब्दी का व्यवधान पड़ता है, उस व्यवधान-युग के विचारों के विकास के अध्ययन की चेष्टा नहीं की जाती। यदि इस व्यवधानकालिक साहित्य के उस अंश को देखें, जिसका सम्बन्ध पण्डितजनों से नहीं बल्कि जनसाधारण से था, तो कोई सन्देह नहीं रह जायगा

कि यह साहित्य इस व्यवधानकालिक जन-साहित्य का ही क्रम विकास है। कबीरदास के निर्गुण भजन, सूरदास के लीला-गान और तुलसीदास का रामचरितमानस अपनी अन्तर्हित शक्ति के कारण अत्यधिक प्रचलित हो गये और हिन्दू जनता का सम्पूर्ण ध्यान अपनी ओर खींचने में समर्थ हुए। परन्तु जनसाधारण का एक और विभाग, जिसमें धर्म का स्थान नहीं था, जो अपभ्रंश साहित्य के पश्चिमी आकार से सीधे चला आ रहा था, जो गाँवों की बैठकों में कथानक रूप से और गान रूप से चल रहा था, उपेक्षित होने लगा था। इन सूफी साधकों ने पौराणिक आख्यानों के बदले इन लोक-प्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर ही अपनी बात जनता तक पहुँचायी।

इन कहानियों की परम्परा मुल्ला दाऊद से, और कदाचित् और पहले से, आरम्भ होती है। कुतबन शेख सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए थे। इन्होंने 'मृगावती' नामक काव्य दोहों और चौपाइयों में लिखा। फिर मलिक मुहम्मद जायसी हुए जिन्होंने अपना प्रख्यात काव्य 'पद्मावत' लिखा। फिर उसमान ने 'चित्रावली' (1613 ई.), शेख नबी ने 'ज्ञानप्रदीप' (1620 ई. ?), कासिमशाह ने 'हंसजवाहर' (1731 ई.), नूर मोहम्मद ने 'इन्द्रावती' (1644 ई.) और फाजिलशाह ने 'प्रेम-रतन' (1648 ई.) नामक काव्य लिखा। सूफी कवियों की लिखी हुई इन प्रेम-कहानियों में बहुत-कुछ साम्य है। ये सभी वा-शरा या शास्त्र-सम्मत श्रेणी के थे। सबमें ईश्वर-वन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति आदि बातें समान रूप से पायी जाती हैं। सबकी भाषा अवधी है, सबमें फारसी प्रेम-गाथाओं की भाँति पुरुष की आसक्ति पहले दिखायी जाती है, और सबसे बड़ी बात यह कि सबमें प्रस्तुत कथा के साथ अप्रस्तुत परोक्ष सत्ता की ओर इशारा किया गया है। लेकिन इससे कथा की रोचकता में कहीं कमी नहीं आयी है।

निर्गुण भाव के शास्त्र-निरपेक्ष साधनों की भाँति इन कवियों में भी अधिकतर शास्त्र-ज्ञान-विरहित थे, पर निस्सन्देह पहुँचे हुए प्रेमी थे। इन्होंने प्रेम के जिस ऐकान्तिक रूप का चित्रण किया है, वह भारतीय साहित्य में नयी चीज है। प्रेम की इस पीर के सामने ये लोकाचार की कुछ परवा नहीं करते। भारतीय काव्य-साधना में प्रेम की ऐसी उत्कट तन्मयता दुर्लभ थी। विरह का वर्णन करने में ये कवि कमाल करते हैं। ये कथा कथा के लिए नहीं कहते, इनका लक्ष्य सदा भगवत्प्राप्ति रहता है। इसीलिए भगवान के विरह में जीवात्मा की तड़पन का ये बड़ी सजीवता के साथ वर्णन करते हैं। इन कवियों में सर्वश्रेष्ठ पद्मावतकार मलिक मुहम्मद जायसी हैं, जिनके काव्य-सौन्दर्य को चामत्कारिक रूप से उद्घाटन करने का श्रेय हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक पं. रामचन्द्र शुक्ल को है। 'पद्मावत' की प्रस्तावना में आपने जैसी काव्य-मर्मज्ञता दिखायी है वैसी हिन्दी तो क्या, अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी कम ही मिलेगी। यह प्रस्तावना अपने-आपमें एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति है।

कुछ लोगों को भ्रम है कि 'पद्मावत' आदि में दोहे और चौपाइयों में प्रबन्ध-

काव्य लिखने की जो प्रथा है वह सूफी कवियों का अपना आविष्कार है। यह बात नितान्त भ्रमजन्य है। सहजयान के सिद्धों में से सरहपाद[1] और कृष्णाचार्य के ग्रन्थ में दो-दो, चार-चार चौपाइयों (अर्धालियों) के बाद दोहा लिखने की प्रथा पायी जाती है। अपभ्रंश काव्यों में दस-दस, बारह-बारह चौपाइयों, अर्धालियों के बाद घत्ता, उल्लाला आदि लिखकर प्रबन्ध लिखने का नियम बहुत पुराना है। अपभ्रंश काव्यों में ठीक उन्हें चौपाई नहीं कहते थे, परन्तु हैं वे वही चीज जिसे तुलसीदासजी ने और जायसी आदि ने चौपाई कहा है। ये दो श्रेणियों के पाये जाते है, पज्झटिका और अलिल्लह। इनमें अलिल्लह तो चौपाई ही है, अन्तर इतना ही है कि चौपाई के अन्त में दो गुरु हो सकते हैं पर इसके अन्त में लघु होने चाहिए। यह अन्तर भी व्यवहार में शिथिल हो जाता है। दस-बारह पज्झटिका या अलिल्लह, जिसके बाद घत्ता या कव्व या उल्लाला होते है। इन छेदात्मक छन्दों अर्थात् घत्ता, उल्लाला आदि के बीच की अलिल्लह आदि चौपाई-जातीय छन्दों की पंक्तियों को अपभ्रंश साहित्य में कडवक[2] कहते है। इस प्रकार यह पद्धति अर्थात् कडवक के बाद छेदात्मक उल्लाला या कव्व छन्द देकर धारावाहिक रूप से प्रबन्ध-काव्य लिखना सूफी कवियों की ईजाद नहीं हैं।

1. सरहपाद की रचना में से चौपाई और दोहो का एक उदाहरण नीचे दिया गया है :

अइसें विसन सन्धि को पइसइ। जो जइ अत्थि णउ जाव न दीसइ ॥
पण्डिअ सअल सत्य बक्खाणइ। देहिहं बुद्ध वसन्त ण जाणइ ॥
गमणागमण ण तेन विखण्डिअ। तो वि णिलज्ज भणइ हउ पण्डिअ ॥
जीवन्तह जो नउ जरइ, सो अजरामर होइ।
गुरु उवएसें विमलमइ, सो पर धण्णा कोइ ॥

2. 'भविसयत्त-कहा' नामक अपभ्रंश काव्य से एक उल्लाला-छेदक कडवक उद्धृत किया गया है। यह एकदम परवर्ती कथानकों के दोहा-छेदक चौपाइयों के समान ही है :

तासु पुराइउ कम्मु' अणिट्ठु। जाइवि धणवइहियइ पइट्ठु ॥
सा कमलसिरि तं जि अवलोयणु। चरियइ तं जि ताइ णव जोवणु ॥
तं जि ताहि चारित्तु सुणिम्मलु। स वच्छल्लु वयणु पिय कोमलु ॥
णवर पुव्वकम्महो परिणामि। कमलु वि णउ सुहाइ तहो णामि ॥
जो घरु पिय पेसलइं चवंतउ। मुहु मुहेण तंबोलु खिवंतउ ॥
अणुदिण पिय बावार पससउ। पणयसमिद्धु माणु सिहरतउ ॥
जो परिहासइ केलि करंतउ। तहु वट्टुणि आलावणि ससउ ॥
सो वट्टइ परचित्त सणो हउ। ता कि होइ ण होइ य जेहउ ॥
घत्ता-तं पिखिव मिल्लिय मदरसु, चलिउ पिम्मु परियत्तगुणि ॥
रणरणउ वहति मइच्छिमइ, बहु विपप्प चितवइ मणि ॥

सन्तवाद का सम्बन्ध बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इस सम्बन्ध में सावधानतापूर्ण और गम्भीर अध्ययन की जरूरत है।" नाथ-पन्थ के आदि-प्रवर्तक आदिनाथ या स्वयं शिव माने जाते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ इन्हीं के शिष्य थे। मत्स्येन्द्रनाथ के कई शिष्य बहुत बड़े पण्डित और सिद्ध हुए, जिनके प्रभाव से यह मार्ग सारे भारतवर्ष में प्रतिष्ठित हो गया। इन शिष्यों में सबसे प्रधान गोरक्षनाथ या गोरखनाथ थे। सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ की गवाही पर म. म. पं. हरप्रसाद शास्त्री का कहना है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हो गये थे। इसीलिए तिब्बत के लामा लोग गोरखनाथ को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। गोरखनाथ ने ही योगमार्ग के इस अभिनव रूप को प्रतिष्ठित कराया। प्रसिद्ध महाराष्ट्र भक्त ज्ञाननाथ ने अपने को गोरखनाथ का शिष्य-परम्परा में माना है। उनके कथनानुसार यह परम्परा इस प्रकार है—आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, गाहिनी (गैनी) नाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञाननाथ। ज्ञाननाथ तेरहवीं शताब्दी में वर्त्तमान थे। इस प्रकार गोरखनाथ ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में हुए होंगे। गोरक्षनाथ के कई शिष्य बताये जाते है, जिनमे बालनाथ, हालीकपाव, मालीपाव आदि मुख्य थे। बंगाल के राजा गोपीचन्द की माता मयनामति भी इनकी शिष्या थी। हालीकपाव या हाड़िपा हाड़ी नामक अन्त्यज जाति मे उत्पन्न हुए थे। पहले ये बौद्ध थे, बाद मे नाथपन्थी हो गये थे। इन्ही का एक और नाम जालन्धरनाथ है। गोपीचन्द इन्हीं जालन्धरनाथ के शिष्य थे। राजा भरथरी और भर्तृहरि भी इन्ही के शिष्य थे। कुछ परम्पराएँ गोपीचन्द की माता मयनामति को भी इन्ही की शिष्या बताते हैं।

इन योगियों की अद्भुत और आश्चर्यजनक करामातो की सैकड़ो कहानियाँ देश के इस सिरे से उस सिरे तक फैली हुई हैं। जान पडता है कि आगे चलकर इन योगियों और निर्गुणमतवादी सन्तों मे लोक पर प्रभुत्व प्राप्त करने की होड भी मची हुई थी। कबीरदास और गोरखनाथ के करामाती दाँव-पेंचों की कहानी काफी प्रसिद्ध है। बंगाल के दिनाजपुर आदि जिलो में गोरक्षमत के अनुवर्त्ती कहे जानेवाले योगियों मे 'धमाली' नाम से प्रचलित बहुतेरे अत्यन्त अश्लील गानों का कैसे सम्बन्ध हुआ, यह बात अनुसन्धान-योग्य है। इस प्रसंग मे केवल एक बात याद दिला देना चाहता हूँ, जिस पर अगर अनुसन्धान किया जाय तो कुछ नयी बात जानी जा सकती है। युक्तप्रान्त और बिहार मे होली के अवसर पर जो अश्लील और अश्राव्य गाने गाये जाते हैं, उन्हे 'जोगीड़ा' कहते है। जोगीडा गा लेने के बाद लोग 'कबीर' गाते है, जो और भी भयंकर होते है। क्या इन जोगीड़ों और कबीरों के साथ योगियों और कबीरपन्थियों की किसी प्राचीन प्रतिद्वन्द्विता की स्मृति जड़ी हुई है या ये अश्लील गान भी उलटबाँसियों की भाँति किसी युग मे किसी अप्रस्तुत अन्तर्निहित सत्य की ओर इशारा करनेवाले माने जाते थे ?

अस्तु। यह तो अवान्तर प्रसग हुआ। प्रस्तुत यह है कि हमारे आलोच्य काल के साहित्य में सबसे प्रभावशाली मत, जिस पर वैष्णव मत को विजय पाना था,

यही योगमार्ग है। यह ऐतिहासिक सत्य है कि युक्तप्रान्त के और मध्यप्रदेश के उन भागों में, जहाँ की भाषा हिन्दी है, वैष्णव मतवाद के प्रचार के पूर्व सर्वाधिक प्रचलित मतवाद शैव धर्म था, पर साधारण जनता चमत्कारों पर अधिक विश्वास करती है और इन योगियों के चमत्कारों की बड़ी ख्याति थी। सूरदास ने अपने भ्रमर गीत के प्रसंग में इस योग-मार्ग की विकटता का प्रदर्शन करके वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है, पर कबीरदास आदि ने इनकी सम्पूर्ण पद्धति स्वीकार करके फिर रूपक-द्वारा अपनी बात को इसी पद्धति के बल पर प्रतिष्ठित करने का मार्ग अवलम्बन किया है। जायसी के तथा अन्य प्रेम-गाथाकार कवियों के ग्रन्थों से पता चलता है कि योगियों का मार्ग ही उस समय अधिक प्रचलित था। लोककथाओं में इन योगियों का बहुत उल्लेख है। उस युग के मुसलमान यात्री इन योगियों की करामातों का वर्णन बहुत ही हृदयग्राही भाषा में करते हैं। भक्तिवाद के पूर्व निस्सन्देह यह सबसे प्रबल मतवाद था। इसलिए भक्तिवाद में इनके शब्द और मुहावरे ही नहीं, इनकी पद्धति भी बहुत-कुछ आ गयी है। आगे इस पद्धति का संक्षिप्त विवरण संग्रह करने की कोशिश की जा रही है।

गोरखनाथ-द्वारा प्रवर्तित योगमार्ग को 'हठयोग' कहते हैं। हठयोग की साधना में पाशुपत और शाक्त मत का प्रभाव है। सन् ईसवी के आरम्भ से ही शाक्तमत प्रबल हो गया था और किसी-न-किसी रूप में वैष्णव और शैव मतों को प्रभावित कर सका था। विश्वव्यापिनी पराशक्ति का नाम ही कुण्डलिनी है।

सिद्धान्तानुसार महाकुण्डलिनी सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त है। व्यष्टि (शरीर) में व्यक्त होने पर इसी शक्ति को व्यष्टिगत कुण्डलिनी या संक्षेप में कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी शक्ति और प्राण-शक्ति को साथ ही लेकर जीव मातृकुक्षि में प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणतः तीन अवस्थाओं में रहते हैं : जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न। अर्थात् या तो वे जागते रहते हैं, या सोते रहते हैं, या सपना देखते रहते हैं। इन तीनों ही अवस्थाओं में कुण्डलिनी-शक्ति निश्चेष्ट रहती है। उस समय इसके द्वारा शरीर-धारण का कार्य होता है। इस कुण्डलिनी को ठीक-ठीक समझने के लिए शरीर की बनावट की कल्पना करनी चाहिए। पीठ में स्थित मेरुदण्ड सीधे जहाँ जाकर पायु और उपस्थ के मध्य भाग में लगता है, वहीं स्वयम्भू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसे अग्नि-चक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्नि-चक्र में स्थित स्वयम्भू लिंग को साढ़े तीन वलयों या वृत्तों में लपेटकर सर्प की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके ऊपर चार दलों का एक कमल है, जिसे मूलाधार-चक्र कहते हैं। फिर उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान-चक्र है जो छः दलों के कमल के आकार का है। इस चक्र के ऊपर मणिपूर-चक्र है और उसके भी ऊपर हृदय के पास अनाहत-चक्र। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलों के पद्म के आकार के हैं। इसके ऊपर कण्ठ के पास विशुद्धाख्य-चक्र है जो सोलह दल के कमल के आकार का है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्य में आज्ञा नामक चक्र है, जिसमें सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही वे छः चक्र हैं, जिन्हें 'षट्-चक्र' कहकर बारम्बार उत्तरकालीन

सन्तों ने स्मरण किया है। इन चक्रों को भेद करने के बाद मस्तक में शून्य-चक्र है, जहाँ पहुँचना हठयोगी का चरम लक्ष्य है। इस स्थान पर जिस कमल की कल्पना की गयी है उसमें हजार दल है, इसीलिए उसे सहस्रार-चक्र भी कहते है। अब, मेरुदण्ड में प्राण-वायु को वहन करनेवाली कई नाड़ियाँ हैं जिनमें से कुछ का आभास हम साँस लेते समय पाते है। जो नाड़ी बायीं ओर है उसे इड़ा और जो दाहिनी ओर है उसे पिंगला कहते हैं। कबीरदास इन्ही दोनों को कभी-कभी इंगला पिंगला कहकर स्मरण करते है। ये दोनों ही बारी-बारी से चलती रहती है। इन दोनों के बीच सुषुम्ना नाड़ी है। इसी से होकर कुण्डलिनी शक्ति ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। असल में, सुषुम्ना के भीतर भी कई और सूक्ष्म नाड़ियाँ है। सुषुम्ना के भीतर वज्रा, उसके भीतर चित्रिणी और उसके भी भीतर ब्रह्मनाड़ी है जो कुण्डलिनी शक्ति का असल मार्ग है। साधक नाना प्रकार की साधनाओ द्वारा कुण्डलिनी-शक्ति को ऊपर की ओर या ऊर्ध्वमुख उद्बुद्ध करता है। साधारण मनुष्य में कुण्डलिनी अधोमुख रहती है और इसीलिए ऐसा मनुष्य कामक्रोधादि का क्रीत दास बना रहता है।

कुण्डलिनी जब उद्बुद्ध होकर ऊपर को उठती है तो उससे स्फोट होता है, जिसे 'नाद' कहते है। नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का व्यक्त रूप है 'महाबिन्दु'। यह बिन्दु तीन प्रकार का होता है : इच्छा, ज्ञान और क्रिया। पारिभाषिक तौर पर योगी लोग इन्ही को कभी सूर्य, चन्द्र और अग्नि कहते है और कभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी कहते हैं। परवर्ती सन्त लोग भी कभी-कभी अपने रूपकों मे इन पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग करते है। अब, यह जो नाद और बिन्दु हैं वह असल मे अखिल ब्रह्माण्ड-व्याप्त अनाहत नाद या अनहद नाद का व्यष्टि में व्यक्त रूप हैं, अर्थात् जो नाद अनाहत भाव से सारे विश्व में व्याप्त है उसी का प्रकाश जब व्यक्ति मे होता है तो उसे नाद और बिन्दु कहते हे। बद्धजीव श्वास-प्रश्वास के अधीन होकर निरन्तर इड़ा और पिंगला मार्ग मे चल रहा है। सुषुम्ना का पथ प्रायः बन्द है, इसीलिए बद्ध-जीव की इन्द्रियाँ और चित्त बहिर्मुख है। जो अखण्ड नाद जगत् के अन्तस्तल में और निखिल ब्रह्माण्ड मे निरन्तर ध्वनित हो रहा है, उसे वह नही सुन पाता। परन्तु जब क्रिया-विशेष से सुषुम्ना-पथ उन्मुक्त हो जाता है और कुण्डलिनी-शक्ति जाग उठती है तो प्राण स्थिर होकर उस शून्य पथ से निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या अनाहत नाद को सुनने लगता है। ऐसा करने से मन विशुद्ध और स्थिर होता है और उसकी स्थिरता के साथ-ही-साथ यह ध्वनि अधिक नही सुनायी देती, क्योकि चिदात्मक आत्मा उस समय अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है और फिर बाह्य प्रकृति से उसका कोई सरोकार नही होता। यह नाद मूलतः एक होकर भी औपाधिक सम्बन्ध के कारण अर्थात् भिन्न उपाधियों से युक्त होने के कारण सात स्तरो मे विभक्त है। शास्त्र मे जिसे प्रणव या ओंकार कहते है, वही उपाधिरहित शब्द-तत्त्व है। किसी-किसी साधक ने तथा वैयाकरणों ने इसी को स्फोट कहा है। यह स्फोट अखण्ड सत्तारूप ब्रह्म-तत्त्व का वाचक है।

स्फोट को ही शब्द-ब्रह्म और सत्ता को ब्रह्म कहा गया है। यह ध्यान में रखने की बात है कि स्फोट वाचक शब्द है और सत्ता वाच्य। इस प्रकार वाच्य (ब्रह्म-सत्ता) को प्रकाशित करनेवाला वाचक शब्द भी (स्फोट या नाद) ब्रह्म ही है। इसका मतलब यह है कि ब्रह्म ही ब्रह्म का प्रकाशक है। इस सम्बन्ध को लेकर भी सन्तों ने कितने ही गूढ़ रूपकों की रचना की है। यह शब्द मूलाधार से उठता है और सहस्रार में जाकर लय हो जाता है। इतना जान लेने के बाद हठयोग की प्रक्रिया समझना आसान हो जायगा।

यह जो इतने पारिभाषिक शब्दों की नीरस अवतारणा की गयी, वह परवर्ती साहित्य को समझाने में अतिशय सहायक समझकर ही। तो, हठयोग असल में लक्ष्य नहीं है, इसे राजयोग का सोपान ही बताया गया है, यद्यपि पक्का हठयोगी इसके सिवा अन्य किसी योग की बात सुनना ही नहीं चाहता। वस्तुतः राजयोग ही योगी का काम्य है। उसे ही प्राप्त करने पर काल-बन्धन से छुटकारा मिलता है। इस हठयोग का उद्देश्य केवल शरीर की शुद्धि, प्राणवायु की सत्क्रियता और मन का सम्मार्जन है। देह-शुद्धि के लिए हठयोग की क्रियाओं का विशाल ठाठ है—धौति है, वस्ति है, नेति है, त्राटक है, नौलि है, कपालभाति है। इन्हें षट्कर्म कहते हैं, जो देह-शुद्धि के कारण हैं। आसन और मुद्राओं के अभ्यास से देह की दृढ़ता साधित होती है। फिर प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि से यथाक्रम शारीरिक धीरता, लघुता, आत्म-प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता आयत्त होती है। और असल में जैसा कि कई आचार्यों ने बताया है, आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादानुसन्धान, ये चार ही हठयोग के प्रधान प्रतिपाद्य विषय हैं। यह सब सिद्ध हो जाने के बाद सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, अर्थात् योगी हवा में उड़ सकता है और न जाने और कितनी-कितनी विचित्र बातें कर सकता है। ये सिद्धियाँ योगी को पथभ्रष्ट भी कर सकती हैं, इसलिए इनसे सावधान रहने की जरूरत है। इतना गोरखधन्धा, और सच पूछिए तो यह गोरखनाथ का योग ही 'गोरखधन्धा' शब्द की उत्पत्ति का कारण है, पोथी पढ़कर नहीं हो सकता; मनन, चिन्तन और निदिध्यासन से भी नहीं हो सकता। इसे तो करके दिखाना पड़ता है। इसीलिए इस जटिल कर्म-पद्धति के लिए सद्गुरु की बड़ी जबर्दस्त आवश्यकता होती है। नाथपन्थी योगियों, सहजयानियों और वज्रयानियों, तान्त्रिकों और परवर्ती सन्तों में इसीलिए सद्गुरु की महिमा इतनी अधिक गायी गयी है। सद्गुरु के बिना जगत् के चाहे और सभी व्यापार हो जायें, पर यह जटिल साधना-पद्धति नहीं हो सकती।

जिन दिनों की चर्चा हो रही है, उन दिनों इस मार्ग में एक और अध्याय जोड़ा गया था; और आगे चलकर यह प्रक्षिप्त अध्याय मूल से भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ। सद्गुरु की कृपा से सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, इसे माने बिना हठयोग तो क्या, कोई भी योग अग्रसर हो ही नहीं सकता। अब विश्वास किया जाने लगा कि सद्गुरु अपनी अंगुलि से आज्ञा-चक्र को छू दें तो बिना किसी टण्टे के सब कुछ सिद्ध हो जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह विश्वास ढकोसला था

या गपोड़ियापन का परिणाम था। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि सद्गुरु सचमुच ऐसा कर सकते हैं या नहीं। ये सब बातें साधना की है। जो लोग यह सब कहते है वे ललकारकर कहते है कि आजमाकर देख लो। हम लोग जो इस विषय से सर्वथा अपरिचित है, जो केवल पोथी पढ़कर इस साधना की बातें गलत-सही ढंग से खुरचकर बटोर लेते है, इस विषय मे कोई राय नही कायम कर सकते। सच पूछिए तो इस प्रकार बिना अनुभव किये राय देना सिर्फ हिमाकत ही नहीं है, अन्याय भी है। जो बात प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध है, वह इतनी है कि उन दिनों के साहित्य में इस विषय का भूरिशः उल्लेख मिलता है। जबकि हठयोग की पद्धति क्रिया-बहुल रही होगी, उस समय इस पद्धति का साधक-विरल होना नितान्त स्वाभाविक है। पर जब गुरु की कृपा पर सबकुछ निर्भर किया जाने लगा तो स्वभावतः ही अधिकाधिक लोग सद्गुरु की खोज में लगे रहते होंगे। उनमे से सैकड़ों गुरु के निकट सत्पात्र होने की आशा से निरन्तर उम्मीदवारी करते होगे। यह बात तो निश्चय ही उन दिनों भी असम्भव ही रही होगी कि हजारों की सख्या में लोग सिद्ध योगी हो जायें। पर साधारण जनता को सद्गुरु की कृपा के नाम पर आतंकित करनेवाले और उन पर रोब जमानेवाले छोटे-मोटे योगियों की एक विराट् वाहिनी जरूर तैयार हो गयी होगी। ऐसा सचमुच ही हुआ था। ऐसे अलख जगानेवाले योगियो से सारा देश सचमुच ही भर गया था। तुलसीदास जैसे शान्त-शिष्ट महात्मा भी इन योगियों की बाढ से चिढ गये थे। एक जगह अलख जगाने-वाले योगी को फटकारते हुए वे कहते है—'तुलसी अलखहिं का लखैं, राम-नाम लखु नीच !' मध्ययुग के सन्तों की वाणियो के अध्ययन से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। इस हठयोग और तन्त्रवाद ने इस देश मे गुरुवाद का जो विकृत रूप प्रचार किया, उसका बन्धन अब भी भारतवर्ष काट नहीं सका है। सन्तों की वाणियों में जहाँ बार-बार सद्गुरु की शरण जाने का उपदेश है, वहाँ गुरु की पह-चान पर बहुत अधिक जोर दिया गया है।

हमने देखा है कि इस युग के प्राक्काल मे अनेकानेक मतवाद, सम्प्रदाय और शास्त्र लोकमत के सामने झुक रहे थे। साधनाबहुल और क्रिया-क्लिष्ट योग-मार्ग भी उधर ही झुक पड़ा था। असल मे लोकमत की जैसी प्रधानता दृष्ट हुई वैसी सम्पूर्ण भारतीय इतिहास मे शायद ही कभी दिखी हो। इसीलिए इस युग का साहित्य भारतीय चिन्ता के अध्येता के लिए उपेक्षणीय तो है ही नहीं, अत्यधिक ध्येय है।

कबीरदास हठयोगियो की इन सभी क्लिष्ट साधनाओं को आवश्यक नहीं सम-झते थे। योगियो की कुछ क्रियाओं का अभ्यास वे नापसन्द नहीं करते थे, पर उनके सभी अगों को अन्धभाव से स्वीकार भी नहीं करते थे। कबीर जैसा उन्मुक्त विचार का आदमी किसी प्रकार की रूढ़ियों का कायल नहीं हो सकता था। वस्तुतः कबीर प्रेमाभक्ति के प्रचारक हैं। परन्तु उनके द्वारा प्रचारित प्रेम में गलदश्रु भावुकता या अन्धश्रद्धा को स्थान नहीं है। वे सहज प्रेम के पक्षपाती

थे। भगवान के प्रति सहज प्रेम से ही सहज समाधि सिद्ध होती है। उन्होंने बार-बार घोषणा की है कि "ऐ साधुओ, समाधि लगाना चाहते हो तो टण्टे और बखेड़े में न पड़ो। सहज समाधि लगाओ। नाना प्रकार के प्राणायाम, आसन और मुद्राएँ परम-तत्त्व की उपलब्धि के साधन हैं, साध्य नहीं। अगर सहज-समाधि के रास्ते ही परम-तत्त्व मिल जाता है तो व्यर्थ ही कायक्लेश बढ़ाने से क्या फायदा? आँख मूँदे बिना, मुद्रा किये बिना, आसन किये बिना समस्त ब्रह्माण्ड के रूप को देखो और उसके भीतर से परम-तत्त्व को खोज निकालने की चेष्टा करो। जब तुम्हें अनहद नाद सुनायी देगा तो आसन और प्राणायाम की जरूरत नहीं रह जायगी, रोम-रोम थकित हो जायेंगे, समस्त इन्द्रिय श्लथबन्ध हो रहेंगे, मन आनन्द से भर जायगा।"[1] यह कबीरदास का निजी अनुभव था जिसे उन्होंने गुरु के प्रताप से पाया था।

यह सहज समाधि है क्या चीज? योगियों के यत्न से जब प्राणायाम के द्वारा वायु ब्रह्म-रन्ध्र में प्रवेश करता है तो जिस आनन्दपूर्ण अवस्था को मन प्राप्त होता है, उसे योगी लोग 'लय' या 'मनोन्मनी' (कबीरदास के शब्दों में 'उनमुनि रहनी') या 'सहजावस्था' कहते है। यही योगियों की सहज समाधि है। पर कबीरदास इसको सहज समाधि नहीं कहते। उनकी परिकल्पित सहज समाधि में साधक जहाँ कहीं जाता है वही परिक्रमा करता रहता है, जो कुछ करता रहता है वही 'सेवा' कहलाती है; उसका सोना, दण्डवत्, बोलना, नाम-जप, सुनना, सुमिरन, खाना-पीना ही पूजा है। अर्थात् सगुणोपासक भक्तगण भगवान् के विग्रह की परिक्रमा, सेवा, नाम-जप आदि द्वारा जो भक्ति दरसाते हैं वह सभी सहज समाधि के साधारण आचरण द्वारा ही सिद्ध हो जाती है और फिर योगी लोग जिन क्रियाओं से परम लक्ष्य को प्राप्त करने का दावा करते हैं वह भी उसे नहीं करनी पड़ती। वह अनायास ही उसे सिद्ध हो जाती है। उसे आँखें नहीं मूँदनी पड़ती, कष्ट नहीं उठाना पड़ता, खुली आँखों से ही निखिल चराचर में परिव्याप्त भगवत्सत्ता का साक्षात्कार उसे हो जाता है। यह समाधि आसन मारके नहीं करनी

1. साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन से उपजी दिन-दिन अधिक चली॥
जहँ-जहँ डोलों सो परिकरमा जो कुछ करों सो सेवा।
जब सोवों तब करो दण्डवत पूजों और न देवा॥
कहो सो नाम सुनो सो सुमिरन खांव-पियो सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखो भाव न राखो दूजा॥
आँख न मूँदों कान न रूँधो, तनिक कष्ट नहिं धारो।
खुले नैन पहिचानो हँसि-हँसि, सुन्दर रूप निहारो॥
सबद निरन्तर से मन लागा मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहूँ न छूटै ऐसी तारी लागी॥
कहत कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट भाई।
दुख सुख से कोइ परे परम पद तेहि पद रहा समाई॥

होती, उठते-बैठते सब समय यह सम्भव है। स्पष्ट ही ऐसी समाधि वही लगा सकता है जो असीम ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त अनन्त सत्ता को सदा-सर्वदा अनुभव कर सके। यह ज्ञान का विषय है। कबीरदास इस ज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभवैकगम्य समाधि को ही श्रेष्ठ समझते थे। इस ज्ञान के न आने का कारण माया है। माया से बद्ध जीव इस जगत् को गलत समझता है, अर्थात् जो नही है उसकी सत्ता अनुभव करता है और जो है उसकी सत्ता नही अनुभव कर पाता। कबीरदास ने बार-बार इस माया से सावधान रहने को कहा है। सच्चा ज्ञान होने पर डण्डा, मुद्रा आदि के धारण करने की जरूरत नही रह जाती और न कोई भेख धारण करने की आवश्यकता होती है। वे उन लोगों को पागल ही समझते है जो आसन-मुद्रा के कपटजाल मे पड़े हुए हैं, क्योंकि योगी का लक्ष्य यदि भगवत्प्राप्ति हो तो भगवान् तो स्वयं त्रिभुवन को भोग कर रहे है। उनके लिए योग साधने और घर-बार छोड़ने की तो जरूरत ही नही।[1] जो सहज-साध्य है, उसके लिए कृच्छ्र-साधना व्यर्थ है। कबीर के बाद उनके सम्प्रदायवालों ने या तो कबीर को सम्पूर्ण वेदान्ती बना देने की चेष्टा की या सम्पूर्ण योगी। उनका योग-मार्ग की ओर झुकाव बढ़ता ही गया। ऐसे भजन कबीर के नाम पर मिल जाते है जिनमे आसन या प्राणायाम करने की शिक्षा दी गयी है; पर ऐसे भजनो की प्रामाणिकता सन्देह से परे नही है। कबीरदास के मत से योगी वह है जिसकी मुद्रा मन मे है, जो दिन-रात अपनी साधना में जगा रहता है। मन में ही उसका आसन है, मन में ही समाधि; मन मे ही जप-तप है, मन मे ही कथोपकथन; मन मे ही खप्पर, मन मे ही सिंगा और मन मे ही उसका अनहद नाद भी बजा करता है। वही ऐसा हो सकता है जो पचेन्द्रिय-गत विषयों को दग्ध करके उन्ही की राख शरीर मे मल सके।[2] अर्थात वह ज्ञानी है। उसके मन से द्वैतभावना जाती रही है, वह विराट् भगवत्सत्ता को मन और प्राण से अनुभव कर चुका है। इस सहज-साधना के लिए निर्गुण मत के साधक योग और तन्त्र के कृच्छ्राचार की आवश्यकता नही समझते। पर इसकी व्यावहारिक कठिनाइयो से भी वे सावधान थे। उन्हे ज्ञात था कि इस साधना मे अधिक साहस, अधिक वीरता और अधिक संयम की जरूरत है। वे उसको 'वीर' नही कहते जो तान्त्रिक वीराचार में दीक्षित है बल्कि उसे जो साहसपूर्वक अपने-आपको कुरबान कर सकता है। दादूदयाल ने कहा कि अपना सिर काटकर कबीर वीर

1. डंडा मुद्रा खिंथा अधारी। भ्रमकै भाई भवै भेखधारी॥
   आसन पवन दूरि कर बौरे। छोड़ कपट नित हरि भज बौरे॥
   जिहि तू चाहहि सो त्रिभुवन-भोगी। कहि कबीर कैसे जग-जोगी॥
2. सो जोगी जाके मन मे मुद्रा। रात दिवस ना करइ निद्रा॥
   मन मे आसन मन में रहना। मन का जप-तप मनसूं कहना॥
   मन मे खपरा मन मै सींगी। अनहद बेन बजावे रंगी॥
   पंच पजारि भसम करि बंका। कहै कबीर सो लहसै लंका॥

उन अवतारों की गणना होती है जो तत्त्वतः भगवद्रूप होकर भी रूप और आकार में भिन्न होते हैं। इसके उदाहरण मत्स्य, वराह आदि लीला अवतार हैं। ज्ञान-शक्त्यादि विभाग द्वारा भगवान् जिन महत्तम जीवों में आविष्ट होकर रहते हैं, उन्हें आवेशरूप कहते हैं। जैसे वैकुण्ठ में नारद, शेष, सनक, सनन्दन आदि।

गीता में कहा है कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अपने-आपको मनुष्यरूप में सृष्ट करता हूँ। गीता की इस बात को तुलसीदास ने पौराणिक-रूप में समझा था। उनकी दृष्टि में जब-जब धर्म की हानि होती है और अधम अभिमानी राक्षसों की वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् मनुज-रूप धारण करते हैं और संसार की पीड़ा दूर करते हैं। उत्तर-कालीन मध्ययुग में भक्तों में यह विश्वास पाया जाता है कि भगवान् के नर-रूप में अवतार का एकमात्र कारण यही नहीं है। प्रधान कारण भी यह नहीं है। मुख्य कारण है अपने भक्तों पर अनुग्रह करना। तुलसीदास की रचनाओं में यह विश्वास अत्यन्त पुष्ट और विकसित रूप में प्राप्त होता है।[1] भगवान् के तीन प्रकार के अवतार होते हैं—पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतार। पुरुषावतार भी तीन प्रकार के हैं। जो महत्तत्त्व के सृष्टिकर्ता हैं उन्हें प्रथम पुरुष, जो निखिल ब्रह्माण्ड अर्थात् समष्टि के अन्तर्यामी हैं उन्हें द्वितीय पुरुष और जो सर्वभूत अर्थात् व्यष्टि के अन्तर्यामी हैं उन्हें तृतीय पुरुष कहते हैं। इसका अर्थ यह समझना चाहिए : प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि उत्पन्न होती है। संयोग के बाद प्रकृति के यह बुद्धि होती है कि मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ। इसी बुद्धि को महत्तत्त्व कहते हैं। जो पुरुष इस बुद्धि के कर्त्ता हैं वे ही प्रथम पुरुष हैं। फिर सम्पूर्ण समष्टि-रूपा सृष्टि के जो अन्तर्यामी हैं वे द्वितीय पुरुष हैं। अब तक एक बहुत हो गया रहता है और उसमें पृथक्त्व या अहंकार-तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। इसी पृथक्त्व के अन्तर्यामी भगवान् को तृतीय पुरुष कहते हैं। गुणावतार तो प्रसिद्ध ही हैं। सत्त्वगुण से युक्त अवतार ब्रह्मा, रजोगुण से युक्त विष्णु और तमोगुण से युक्त अवतार रुद्र या शिव हैं।

लीलावतार चौबीस हैं—चतुःसन, नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयशीर्ष, हंस, ध्रुवप्रिय, ऋषभ, पृथु, नृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, राघवेन्द्र, व्यास, बलराम, बुद्ध, और कल्कि।

तुलसीदास ने कहा है कि ब्रह्म के दो रूप हैं, अगुण और सगुण। इनमें सगुण

अगुन अदभ्र गिरा-गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता ॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुखसन्दोहा ॥ —रामचरितमानस

1. भगतहेतु भगवान् प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप ॥
इसकी तुलना के लिए ब्रह्माण्ड-पुराण के इस वचन को देखिए—
स्वलीलाकीर्तिविस्तारात् भक्तेष्वनुजिघृक्षया।
अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमः ॥ (लघुभागवतामृत में उद्धृत)

रूप निर्गुण रूप की अपेक्षा दुर्लभ है। इसलिए सगुण भगवान् के सुगम, और फिर भी अगम, चरित्रों को सुनकर मुनियों के मन में भी मोह उत्पन्न हो जाता है।[1] वास्तव में सगुण और अगुण या निर्गुण रूप में कोई भेद नहीं। जो भगवान् अगुण, अरूप, अलख और अज हैं वही भगवान् भक्त के प्रेमवश सगुण रूप धारण करते हैं।[2] जो लोग उनके केवल निर्गुण रूप को मानते हैं वे असल में भगवान् के एक अंशमात्र को मानते हैं। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि उनका गुणमय रूप नहीं है। क्योंकि, जैसा कि नन्ददास ने कहा है, जो उनमें गुण न होते तो और गुण आते कहाँ से? कहो बीज बिना वृक्ष भी किसी ने देखा है?[3] निर्गुण और सगुण के विषय में सूरदास का दृष्टिकोण तुलसीदास से थोड़ा भिन्न है। ये सगुण को सहजसाध्य मानते हैं और निर्गुण उपासना को कष्टसाध्य। सगुण उपासना सरस और ग्राह्य है, पर निर्गुण उपासना नीरस।[4]

यद्यपि निखिलानन्दसन्दोह भगवान् वही है जिन्हें अष्टांग योगी परमात्मा, औपनिषदिकगण ब्रह्म और ज्ञान-योगी लोग ज्ञान कहते हैं[5] तथापि ब्रह्म या परमात्मा की अपेक्षा श्रीकृष्ण ('रामचरितमानस' के राम) कहीं श्रेष्ठ हैं। ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् का भेद अगले प्रकरण में स्पष्ट किया गया है। भागवत में कहा है कि एक ही क्षीर आदि द्रव्य जिस प्रकार बहुगुणाश्रय होकर चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में गृहीत होते है, उसी प्रकार भगवान् उपासना-भेद से नाना प्रकार के प्रतिभात होते हैं।[6] फिर भी श्रीकृष्ण में माधुर्य आदि गुणों का प्राचुर्य होने से भगवान् का यह रूप ही श्रेष्ठ है। भागवत में ही अन्यत्र कहा गया है कि, "हे विभो, यद्यपि निर्गुण और सगुण दोनों ही तुम्हीं हो, तो भी विशुद्ध चित्त द्वारा तुम्हारे निर्विकार रूप-हीन विज्ञान-वस्तु के रूप में अगुण ब्रह्म की महिमा कदाचित् समझ में आ भी जाय, तो भी इस विश्व के लिए अवतीर्ण तुम्हारे इस सगुण रूप की गुणावली गिनने में कौन समर्थ होगा? जो अतिनिपुण है वे भी

1 निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि-मन भ्रम होइ॥ —उत्तरकाण्ड

2. अगुनहि सगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगतप्रेमबस सगुन सो होई॥ —तुलसीदास

3. जो उनके गुन नहीं और गुन भये कहाँ तें?
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहो कहाँ तें? —नन्ददास

4 मधुकर हम अयान अति भोरी।
जानें कहा जोग की बातें, जो हैं नवलकिसोरी॥ —सूरदास

5. भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥
—लघुभागवतामृत में स्कन्दपुराण की उक्ति

6. यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैः अर्थो बहुगुणाश्रयः।
एको नानेयते तद्वत् भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥ —भागवत 3, 32, 33

यदि दीर्घकाल तक गिनें तो पृथ्वी के परमाणु, आकाश के हिमकण और सूर्यादि की किरणें गिन सकते हैं, पर वे भी तुम्हारे सगुण रूप के गुणों की गणना नहीं कर सकते।[1]

किन्तु भगवान् के ये गुण प्राकृत नहीं हैं, अतः प्राकृत जनों के आचरणादि के मान-दण्ड से इन्हें नहीं मापा जा सकता। वे असंख्य अप्राकृत-गुणविशिष्ट अपरिमित शक्तिशाली और पूर्णानन्दघन विग्रह हैं। कहा गया है कि निर्गुण निर्विशेष और अमूर्त ब्रह्म और श्रीकृष्ण का सम्बन्ध प्रभा और प्रभाकर के समान है। निराकार ब्रह्म (अर्थात् चैतन्यराशि), अव्यय, अमृत (अर्थात् नित्यमुक्ति), नित्य-धर्म (अर्थात् श्रवण प्रभृति भक्तियोग) और ऐकान्तिक सुख (अर्थात् प्रेमभक्ति) इन सबके आश्रय श्रीकृष्ण ही हैं।[2] वे यद्यपि अज हैं, फिर भी भक्तों के लिए जन्म ग्रहण करते हैं। यह बात कुछ अद्भुत-सी सुनायी देती है, क्योंकि एक ही पदार्थ एक ही साथ अज और जात नहीं हो सकता। इसके उत्तर में भागवत लोग कहते हैं कि भगवान् का ऐश्वर्य और वैभव अचिन्त्य है, उसकी तुलना प्राकृत जन्मादि व्यापार से नहीं हो सकती।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, अवतार का मुख्य हेतु भक्तों के लिए लीला का विस्तार करना ही है। यह लीला दो प्रकार की होती है, प्रकट और अप्रकट। मध्ययुग के भक्तों ने अधिकतर प्रकट लीला का ही गान किया है, अर्थात् जो लीला प्रपंचगोचर होती है, उसी का विस्तार किया है। वृन्दावन में भगवान् गोपियों के साथ नित्य लीला में रत हैं।[3] मथुरा और द्वारका के भेद से श्रीकृष्ण के दो धाम हैं। उनमें भी मथुराधाम गोकुल और मधुपुरी इन दो स्थानों के भेद से दो हैं। गोलोक नाम से प्रसिद्ध श्रीकृष्ण का धाम गोकुल की ही विभूति है, क्योंकि श्रीकृष्ण की माधुरी गोकुल में ही सर्वाधिक होती है। मथुराधाम की महिमा

वैकुण्ठ से भी अधिक है।[1] रामायण की अयोध्या भी ऐसी ही है।[2]

यह भगवान् की माधुरी, चार प्रकार की है। ऐश्वर्य-माधुरी, क्रीडा-माधुरी, वेणु-माधुरी और विग्रह-माधुरी। ऐश्वर्य-माधुरी में भगवान् के ईश्वर-रस की प्रधानता होती है। क्रीड़ा-माधुरी बहुत प्रकार की है, फिर भी उन सबमें गोप-लीला श्रेष्ठ है। भागवत में बताया गया है कि भगवान् ने जब वेणु को अपने अधरों पर रखा और उसे निनादित किया तो सर्वज्ञ होकर भी ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवतागण तत्त्वनिर्णय न कर सके,—सभी मुग्ध हो रहे।[3] इससे प्रकट है कि भगवान् की वेणुलीला अचिन्त्य है। सूरदास ने और अन्य भक्तों ने इस वेणु-निनाद का वर्णन विस्तृत रूप से किया है। भगवान् की विग्रह-माधुरी अर्थात् रूप-माधुर्य से मध्ययुग का साहित्य भरा पड़ा है। ऐसा तनुधारी जगत् में नहीं जो इस रूप-माधुरी के दर्शन से मुग्ध न हो गया हो।[4] गोस्वामी तुलसीदास ने प्रत्येक व्यक्ति के साथ भगवान् के समागम के प्रसंग में बड़ी सावधानी से उसका मुग्ध होना बताया है। इस विषय में 'रामचरितमानस' के राम और भागवत के श्रीकृष्ण समान हैं। भागवत में कहा है कि त्रिलोकी में ऐसा कौन है जो भगवान् के कल-पदामृतरूप वेणुगीत से विमोहित होकर और त्रैलोक्य-सौभग इस रूप को देखकर मुग्ध न हो जाय? इस वेणुगीत को सुनकर और रूप को देखकर गायें, पक्षी, वृक्ष और मृग भी पुलकित हो जाते हैं।[5] इस माधुरी का छका हुआ भक्त स्वर्ग-अपवर्ग नहीं चाहता, ऋद्धि-सिद्धि की परवा नहीं करता, केवल अनन्त काल तक अव्यभिचारिणी भक्ति की कामना करता है। एक बार इस सगुण रूप को स्मरण करके वह ज्ञान-विज्ञान सबको नमस्कार कर देता है। ज्ञान और विज्ञान, धर्म और कर्म, सभी भक्ति के सामने तुच्छ हैं। क्योंकि वह जानता है कि ज्ञान का मार्ग कृपाण की धारा है। उस पर से गिरते देर नहीं लगती। उसे किसी प्रकार पार किया जा सके तो निश्चय ही कैवल्य पद प्राप्त किया जा सकता है; लेकिन

1. अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी।
दिनमेकं निवासेन हरौ भक्तिः प्रजायते॥ —लघुभागवतामृत

2. यद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। वेद-पुरान-विदित जग-जाना॥
अवध-सरिस प्रिय मोहि न सोऊ। यह प्रसंग जाने कोउ कोऊ॥
अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥ —तुलसीदास

3. विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः।
सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः।
कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः। —भाग. 10, 35, 14-15

4. कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह अस रूप निहारी। —रामचरितमानस

5. का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृतवेणुगीतसम्मोहितार्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥
—भागवत 10, 29, 40

भक्त के पास तो यह कैवल्य पद बिना माँगे जबरदस्ती आना चाहता है। हरि-भक्ति के बिना बड़े-से-बड़ा पद टिक नहीं सकता।[1] यह भक्तिरूप चिन्तामणि तब तक भक्त को प्राप्त नहीं होती जब तक भगवान् स्वयं कृपा न करें।[2] भक्तिहीन ब्रह्मा भी भगवान् के निकट अप्रिय है, पर भक्तियुक्त नीच-से-नीच प्राणी भी उन्हें प्राण के समान प्रिय है।[3] वह प्राणी जन्म और कर्म से कितना भी ओछा क्यों न हो, भगवान् उसके निकट दौड़े आते है।[4]

ऊपर जिस भक्ति की बात कही गयी है वह दो प्रकार की होती है, रागानुगा और वैधी। कर्त्तव्य-बुद्धि से जो नियम स्थिर किये जाते हैं उसे विधि कहते हैं और स्वाभाविक रुचि से जो वृत्ति उत्तेजित होती है उसे राग कहते हैं। अर्थात् इष्ट वस्तु के प्रति स्वाभाविक तन्मयता को राग कहते हैं। और राग जिसके प्रति धावित होता है वही इष्ट होता है। भगवान् और बद्ध जीव में एक स्वभावगत पार्थक्य यह है कि जीव में विषयासक्ति होती है और भगवान् में वैराग्य। तुलसीदास ने कहा है कि भगवान् अखण्ड ज्ञान-स्वरूप है और जीव मायावश अज्ञानी। यह जीव माया के वश में होने के कारण परवश है और भगवान् माया के अधिपति और स्ववश। जड देह के प्रति राग होता है, पर चूंकि वह जड़ोन्मुख होता है इसलिए संसार से बन्धन का कारण होता है, पर जीव की स्वाभाविक राग-प्रवणता यदि भगवान् की ओर हो जाय तो वह तर जाता है। जड़-जगत् मे विधि और राग में विरोध दिखता है पर भगवद्विषयक होने पर विधि और राग में कोई विरोध नहीं रह जाता। जब तक राग पुष्ट नहीं होता तभी तक भक्त को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बन्धन रहता है। व्रजवासियों का भगवान् के प्रति रागात्मक सम्बन्ध था। इसीलिए उनकी भक्ति को रागात्मक भक्ति कहते है। इस भक्ति के अधिकारी केवल व्रजवासी ही थे। जो भक्त उनका अनुकरण और अपने में उनका अभिमान करके भगवान् के प्रसंग-सुख का अनुभव करते है उनकी भक्ति को रागानुगा भक्ति कहते है।

1. ग्यानक पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निरबिघन पन्थ निरबहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥
अति दुरलभ कैवल्य परमपद। सन्त पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अन इच्छित आवै बरिआईं॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोइ करइ उपाई॥
तथा मोच्छसुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरि-भगति बिहाई॥ —रामायण
2. सो मति यदपि प्रगट जग अहई। रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥ —रामायण
3. भगतिहीन बिरंचि किन होई। सब जीवनमँह अप्रिय सोई॥ —रामायण
4. काहू के कुल नाहिं बिचारत।
अविगत की गति कहीं कौन सों पतित सबन को तारत।
ओछे जन्म कर्म के ओछे ओछे ही बोलावत।
अंनत सहाय सूर के प्रभु की भक्तहेतु पुनि आवत॥ —सूरदास

रागानुगा और वैधी भक्ति के साधक शरीर, मन, आत्मा, प्रकृति और समाजगत अनुशीलनों के द्वारा भगवान् का भजन करते है। उनके लिए ये दस आचार निषिद्ध हैं—(1) बहिर्मुख लोगों का संग अर्थात् अनैतिक, अविश्वासी और मिथ्याचारी लोगों का संग उन्हें त्याज्य है, (2) शिष्य, संगी, भृत्य या बान्धवों द्वारा किया हुआ अनुबन्ध, (3) महारम्भ का उद्यम, (4) नाना ग्रन्थों, कलाओं और वाद्यों का अभ्यास, (5) कृपणता, (6) शोकादि से वशीभूत होना, (7) अन्य देवता के प्रति अवज्ञा, (8) जीवों को उद्विग्न करना, (9) सेवापराध अर्थात् यत्न का अभाव, अवज्ञा, अपवित्रता, निष्ठा का अभाव और गर्व, तथा (10) नामापराध अर्थात् साधु-निन्दा, शिव और विष्णु का पृथक्त्व-चिन्तन, गुरु-अवज्ञा, देवादिनिन्दा, नाम-माहात्म्य के प्रति अनास्था, हरिनाम की नानाविध अर्थ-कल्पना, नाम-जप और अन्य शुभकर्मों की तुलना करना, अश्रद्धालु को नामोपदेश, नाम के प्रति अप्रीति। वैधी भक्ति की तीन अवस्थाएँ होती है : श्रद्धावान्, नैष्ठिक और रुचियुक्त। ये लोग पाँचो अंगो और दो मूल तत्त्वों को स्वीकार करते है। दो मूल तत्त्व हैं—(1) भगवान् ही एकमात्र जीवों का स्मर्त्तव्य है और जो उनके सुमिरन में सहायक हैं, वे ही कर्म भक्त के कर्त्तव्य है,—चाहे वह कुछ भी क्यों न हो, (2) भगवान् को भूल जाना ही अमंगल है और अमंगल के सहायक सभी कार्य त्याज्य हैं। पांच अंग इस प्रकार हैं—(1) भगवान् के विग्रह (मूर्त्ति) की सेवा, (2) कथा-सत्संग, (3) साधुसंग, (4) नाम-कीर्त्तन और (5) व्रजवास। वैधी मार्ग का साधक स्वभावतः ही इन्हें पालन करता है। भक्ति-शास्त्र की मर्यादा के अनुसार कोई भक्त किसी से छोटा या बड़ा नहीं है, पर भक्त की स्वाभाविक इच्छा ही होती है कि भगवत्-प्रसग में उसकी स्वाभाविक रुचि हो जाय।

अब, मध्ययुग के भक्ति-साहित्य को देखें, तो उसमे इन विधि-निषेधों के उपदेश, रूपक और अन्योक्तियाँ भरी पड़ी है। भक्ति-शास्त्र की मर्यादा को न समझनेवाले इन बातो से ऊब जाते है। वे भूल जाते है कि इस युग का साहित्य केवल साहित्य नही है, बल्कि लोक में बद्धमूल साधना-पद्धति का प्रतिफलन भी है। उसका यह दूसरा पहलू ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

ऐसे भक्त बहुत कम है जिनको भगवत्प्रसाद से एकाएक प्रेम की प्राप्ति हो जाय। साधारणतः प्रेमोदय इस क्रम से होता है—(1) श्रद्धा, (2) साधुसग, (3) भजन-क्रिया, (4) अनर्थ-निवृत्ति, (5) निष्ठा, (6) रुचि, (7) आसक्ति, (8) भाव और (9) प्रेम। प्रेमोदय हो जाने पर भक्तो में पाँच प्रकार के स्वभाव हो सकते है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इन पाँचों प्रकार के भक्तों की भगवद्विषयिणी रति भी पांच प्रकार की होती है। यथा,

स्वभाव का नाम	रति का नाम
शान्त	शान्ति
दास्य	प्रीति
सख्य	प्रेय

वात्सल्य	अनुकम्पा
मधुर	कान्ता या मधुरा

काव्य-शास्त्र के अनुशीलन करनेवाले रस-शास्त्रियों के बनाये हुए सात रस अर्थात् शृंगार और शान्त को छोड़कर शेष (हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स रस) भगवत्प्रेम के सहायक होकर गौण रस का नाम ग्रहण करते है। शृंगार और शान्तरस ऊपर बनाये हुए पाँच स्थायी भावों का आश्रय करते हैं। पर यह न समझना चाहिए कि आलंकारिकों के शृंगार और शान्तरस वही हैं जो भक्तों के। दोनों में तात्त्विक भेद है। पहले जड़ोन्मुख होते हैं, दूसरे (भक्तों के) चिन्मुख।

यह बात ध्यान देने की है कि वैष्णव भक्त भगवान् के निर्विशेषक रूप को (अर्थात् जिसमें व्यक्तिगत सम्बन्ध की कल्पना न की जा सके, ऐसे रूप को) कभी प्रधानता नहीं देते, फिर भी वे शान्त स्वभाव के हो सकते हैं। भक्ति के लिए केवल निर्विशेष ब्रह्म से काम नहीं चल सकता, उनके सविशेषक रूप की जरूरत रहती है। इसीलिए शमयुक्ता बुद्धि वह है जहाँ भक्त केवल इतना समझ सका है कि भगवान् केवल निर्गुण और निर्विशेष नहीं हैं बल्कि उनके साथ उसका व्यक्तिगत योग है। भगवत्तत्त्व में उसकी जडबुद्धि लोप हो रहती है। वह विषयोन्मुखता का त्याग कर अपने-आपमें रमने लगता है। निर्गुण मत के भक्त इसी श्रेणी के थे। कबीरदास की 'कमलकुआ में ब्रह्मरस पीओ बारम्बार' वाली समाधि, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, इसी श्रेणी की है। यह रस वहीं सम्भव है जहाँ भगवद्विषयक निर्विशेषता समाप्त हो गयी हो। इसीलिए यद्यपि भक्त इस अवस्था में आत्माराम होता है अर्थात् अपने-आपमें ही रमता रहता है, फिर भी उसका उपास्य निर्गुण ब्रह्म नहीं होता। सनक, सनन्दन आदि भक्तगण इस श्रेणी के थे। किन्तु व्रजलीला के वर्णन में शान्तरस का कोई स्थान नहीं है। इसीलिए श्रीकृष्णलीला के गायक भक्तों ने इस रस का विशेष गान नहीं किया।

दास्य-स्वभाव का प्रतिरस दो प्रकार का होता है, सम्भ्रमगत और गौरवगत। भगवान् के ऐश्वर्य-स्वरूप के प्रति सम्भ्रम और गुरुता का भाव रखनेवाले भक्त इसी श्रेणी में आते हैं। दास्य रस का विषयरूप आलम्बन, भगवान् का वह ऐश्वर्य-रूप है जिसके इशारे पर माया कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड की सृष्टि करती है, जो राजाओं के भी राजा हैं, जिनकी शक्ति का एक-एक कण विश्व को उद्भासित करता है और जो सत्य, न्याय शुभ कर्म आदि के आकर हैं।[1] भगवान् के इसी

1 सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन। अण्डकोस समेत गिरि कानन॥
धरै जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्हसे सठन्ह सिखावनदाता॥
हर-कोदण्ड कठिन जेहि भंजा। तेहि समेत नृपदल-मद गंजा॥
खर-दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥ →

ऋद्धि-सिद्धिसेवित रूप के प्रति आकृष्ट भक्त उनका दास होने का अभिमान करता है। इस रस के आश्रयरूप आलम्बन चार प्रकार के भक्त है—अधिकृत, आश्रित, पारिपद और अनुग।[1]

भगवान् को मित्ररूप से भजन करनेवाले भक्त सख्य स्वभाव के होते है। श्रीकृष्ण के मित्र कई श्रेणी के थे, उनमें व्रजवासी मित्र ही अधिक श्रेष्ठ समझे जाते हैं। क्योंकि इन मित्रों को भगवान् के द्विभुज मानवरूप के आगे अगोचर विराट्-रूप का भान कभी नही हुआ, इसलिए उनकी मित्रता मे सम्भ्रम या गौरव का कही प्रवेश भी नही हुआ। इसीलिए वे दास्य आदि भावों से सदा ऊपर रहे। ये सभी मित्र चार प्रकार के है—सुहृद, सखा, प्रिय-सखा, और प्रिय-नर्म-सखा। सुहृद वे थे जो श्रीकृष्ण से उमर मे बड़े थे, सखाओ के प्रेम मे वात्सल्य का मिश्रण था; प्रिय-सखा श्रीकृष्ण के क्रीड़ा के साथी थे और प्रिय-नर्म-सखा व्रजसुन्दरियो के साथ भगवान् की प्रेमलीला मे उनका पक्ष-समर्थन करते थे।

श्रीकृष्ण के गुरुजन वात्सल्य भाव से उनसे प्रेम करते थे। इस प्रकार भजन करनेवाले भक्त वात्सल्य स्वभाव के होते है। मधुररस सबसे श्रेष्ठ है। इसे उज्ज्वल रस भी कहते है। इसकी आश्रयरूप आलम्बन व्रजसुन्दरियाँ थी। आचार्यों ने इसका विस्तृत विवेचन 'भक्तिरसामृतसिन्धु' आदि ग्रन्थो मे किया है। इस रस का सबसे श्रेष्ठ आलम्बन श्रीराधिका है। विहारी कवि ने "ज्यो-ज्यो भीजै प्रेम-रस त्यों-त्यों उज्ज्वल होय" उक्ति मे इसी परम रस की ओर इशारा किया है। इस विषय का कुछ विस्तृत विवेचन हमने अपने 'सूर-साहित्य' मे किया है।

इन पाँच रसो के उत्कर्षापकर्ष का भी विचार किया गया है, पर इसमे मत-भेद है। श्रीकृष्ण-रूप के उपासकों का कहना है कि शान्तरस सबसे नीचे है, उसके ऊपर दास्य, उसके ऊपर सख्य, फिर वात्सल्य और सबसे ऊपर मधुर या उज्ज्वल रस है। यह भी बताया गया है कि लोक मे यह रस सर्वथा उल्टा है, क्योंकि यह जगत् माया के दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान है, जिसमे हम जड़ रूप में भगवान् की छाया देख रहे है।[2] दर्पण में जो चीज सबसे ऊपर दिखती है वह असल मे सबसे नीचे होती है और जो सबसे नीचे दिखती है वह वस्तुत. सबसे ऊपर रहती है। इसलिए मधुररस जब भगवद्विषयक होता है तो सबसे ऊपर रहता है और जब जड़-विषयक होकर शृंगार-रस नाम ग्रहण करता है तो सबसे नीचे पड़ जाता है।

→ जाके बल लवलेसतें जितेउ चराचर झारि।
तासु दूत हो जाहि को हरि आनेसि प्रिय नारि॥ —रामचरितमानस

1. विशेष विस्तार के लिए 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' द्रष्टव्य है।

2. वा गुन की परछांह री माया-दर्पन बीच।
गुनते गुन न्यारे भये अमल वारि जल कीच॥
सखा सुनु स्याम के। —नन्ददास

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने ग्रन्थों में इस तत्त्व का प्रत्याख्यान तो नहीं किया पर अप्रत्यक्ष रूप से, मानो प्रत्याख्यान करने के ही उद्देश्य से, प्रसंग आते ही वे दास्य या प्रीति रस की स्तुति कर जाते हैं। इस प्रकार के एक प्रसंग पर वे कहते हैं, सेवक-सेव्य भाव के विना संसार तरना असम्भव है, ऐसा विचारकर राम का भजन करना चाहिए। एक दूसरे प्रसंग पर भगवान् स्वयं अपना सिद्धान्त बताते हुए कहते हैं कि जीवों में मुझे सबसे प्रिय मनुष्य हैं, उनमें भी ब्राह्मण, उनमें भी वेदज्ञ, उनमें भी निगम-धर्मानुयायी, उनमें भी विरक्त, उनमें भी ज्ञानी, उनमें भी विज्ञानी और इन सबसे अधिक प्रिय मेरा वह दास है जिसे मेरी गति छोड़ और आशा नहीं। मैं जोर देकर सत्य कह रहा हूँ कि मुझे सेवक से अधिक कोई प्रिय नहीं।[1] इस विषय में तुलसीदास श्रीरामानुजाचार्य के अधिक नजदीक आते हैं। महात्मा तुलसीदास के इस दृष्टिकोण के कारण समूचे राम-परक साहित्य का स्वर एक विशेष रूप से प्रभावित हुआ है। मधुर-भाव की साधना में छोटे-बड़े का सवाल नहीं उठता। वहाँ ऐश्वर्य-बोध जितना ही कम होगा, मधुर भाव की अनुभूति उतनी ही तीव्र होगी। पर दास्य-भाव में ऐश्वर्य-बोध का होना बहुत आवश्यक है। इसीलिए गति के लिए भक्त को भगवान् के तीन रूपों पर बहुत अधिक जोर देना पड़ता है—उनका (1) क्षमावान् रूप,[2] (2) शरणागत वत्सल रूप[3] और (3) करुणायतन रूप[4]। इन स्वरूपों के द्वारा भगवान् भक्तों के बड़े-बड़े पातक को भी क्षमा कर देते हैं, उनके सामने जाते ही करोड़ों जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं, उनकी शरण में जाने पर भक्त कृतकृत्य हो जाता है और उसके सभी परिताप जाते रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने ग्रन्थों में बार-बार इन स्वरूपों का उल्लेख किया है। मधुर-भाव से भजन करनेवाले भक्तों के साथ इन

1. सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सबते अधिक मनुज मोहि भाये॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम-धर्म-अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय विरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु तें अति प्रिय विग्यानी॥
तिन्ह तें पुनि मोहि प्रिय निजदासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
—रामचरितमानस

भक्तों का इसी दृष्टि-विशेष के कारण बहुत अन्तर हो गया है। मधुर-भाव से भजन करनेवाले भक्त के लिए उनकी लीलाएँ ही प्रधान कर्त्तव्य है, उनकी शृंगार-चेष्टाएँ, उनकी विलास-लीलाएँ, उनकी प्रेम-गाथाएँ ही गेय है; पर दास्य-भाव से भजन करनेवाले के लिए ऐश्वर्य-भाव बहुत जरूरी है। जब तक भगवान् के ऐश्वर्य-रूप को वह सदा स्मरण नही करता रहता तब तक उसमें दैन्य आदि भाव तीव्र रूप मे नही प्रकट होते। यही कारण है कि हिन्दी का कृष्णपरक साहित्य ऐहिक लीला से भरा हुआ और आमुष्मिक चिन्ता से इतना मुक्त है। राम-साहित्य मे ऐश्वर्य-बोध की प्रबलता होने के कारण उसमे ऐहिक लीला का प्राधान्य हो ही नही सकता। गोस्वामी तुलसीदासजी के 'रामचरित-मानस' में इसीलिए हर प्रसंग पर भगवान् के ऐश्वर्य-रूप का स्मरण कर लिया जाता है। इस ऐश्वर्य-रूप का वर्णन करते समय तुलसीदास अघाते नही दिखते।[1] दास्य-भाव से भजन करनेवाले भक्तों के इस विशेष दृष्टिकोण की प्रशंसा न कर सकनेवाले आलोचकों ने कभी-कभी रामायण की कथा में ऐश्वर्य-रूप के वर्णन के आधिक्य को कवित्व का परिपन्थी बताया है और यह व्यवस्था दी है कि ऐसा करके तुलसीदास कविधर्म से च्युत हुए हैं। ऐसे आलोचकों को मधुर-भाव के भक्तो की रचना में स्वभावतः ही काव्य की परिपन्थी वृत्तियाँ नही दिखनी चाहिए, पर वहाँ भी कभी-कभी अनुचित, अश्लीलता दिख जाती है। ये दोनों तथाकथित दोष काव्य के परिपन्थी या सहायक हों या न हों, दोनों प्रकार के भक्तों के विशेष-दृष्टिकोण को निश्चित रूप से प्रकट करते है।

मध्ययुग के सन्तों का सामान्य विश्वास

मध्य-युग के सन्तों में मत, साधना-पद्धति और आचार-विचार-सम्बन्धी नाना मतभेदों के साथ भी एक साम्य है। इसी साम्य के कारण मध्य-युग का सारा भक्ति-

1. जो गति जोग बिराग जतन करि, नहि पावहि मुनि ग्यानी।
   सो गति देत गीध सबरी कहँ, प्रभु न अधिक जिय जानी।। इत्यादि
   और—
   ऐसे राम दीन हितकारी।
   अति कोमल करुणानिधान बिनु कारन परउपकारी।
   साधनहीन दीन निज अघबस सिला भई मुनिनारी,
   गृहतें गवनि परसि पद-पावन, घोर साप तें तारी।—

साहित्य एक विशेष श्रेणी का साहित्य हो सका है। कुछ बातें ऐसी थीं जो प्राचीनतर साधकों में वर्तमान थीं और मध्ययुग के सभी साधकों और सन्तों ने उन्हें समान भाव से पाया था।

सबसे पहली बात जो इस सम्पूर्ण साहित्य के मूल में है, यह है कि भक्त का भगवान् के साथ एक व्यक्तिगत सम्बन्ध है। भगवान् या ईश्वर इन भक्तों की दृष्टि में कोई शक्ति या सत्तामात्र नहीं है बल्कि एक सर्वशक्तिमान् व्यक्ति है जो कृपा कर सकता है, प्रेम कर सकता है, उद्धार कर सकता है, अवतार ले सकता है। निर्गुण मत के भक्त हों या सगुण मत के, भगवान् के साथ उन्होंने कोई-न-कोई अपना सम्बन्ध पाया है। निर्गुण मतवादियों में श्रेष्ठ कबीर कह सकते हैं—"हे भगवान्! तू मेरी माँ है, मैं तेरा बालक हूँ; मेरा अवगुण क्यों नहीं बख्श देता? पुत्र तो बहुत-से अपराध करता है, किन्तु माँ के मन में वे बातें नहीं रहतीं। बालक अगर उसके केश हाथों में पकड़कर उसे मारे भी तो माता बुरा नहीं मानती। बालक के दुखी होने पर वह दुखी होती है।"[1] इसी प्रकार दादू कह सकते हैं—"हे केशव! तुम्हारे बिना मैं व्याकुल हूँ, मेरी आँखों में पानी भर आया है; हे अन्तर्यामी, तुम अगर छिपे रहोगे तो मैं कैसे बच सकता हूँ? तुम स्वयं छिप रहे हो, मेरी रात कैसे कटेगी? तुम्हारे दर्शन के लिए जी तड़प रहा है!"[2] सूरदास कह सकते हैं—"तुम्हारी भक्ति ही मेरे प्राण है, अगर यही छूट गयी तो भक्त जियेगा कैसे? पानी बिना प्राण कहीं रह सकता है?"[3]

लोग कबीर आदि भक्तों को 'ज्ञानाश्रयी,' 'निर्गुनिया' आदि कहते हैं, वे प्रायः भूल जाते हैं कि निर्गुनिया होकर भी कबीरदास भक्त है और उनके 'राम' वेदान्तियों के ब्रह्म की अपेक्षा भक्तों के भगवान् अधिक हैं। अर्थात् केवल सत्ता, केवल ज्ञानमयता से भिन्न व्यक्तिगत ईश्वर है। इसलिए कबीरदास आदि भक्त ज्ञानी होते हुए भी प्रेम में विश्वास रखते हैं।

उस युग के इस रहस्य को समझने के लिए सगुण-भाव से उपासना करनेवाले भक्तों की कुछ बातें समझनी पड़ेंगी। भागवत में एक श्लोक आता है जिसमें बताया गया है कि अखण्डानन्द स्वरूप तत्त्व के तीन रूप हैं—ब्रह्म, परमात्मा

1. हरि जननी, मैं बालक तेरा। काहे न ओगुन बगसहु मोरा॥
गुन अपराध करे दिन केते। जननी के चित रहे न तेते॥
कर गहि केस करे जो घाता। तऊ न हेत उतारै माता॥
कहै कबीर एक बुद्धि बिचारी। बालक दुखी दुखी महतारी॥

2. तुम बिन व्याकुल केसवा, नैन रहे जल पूरि।
अन्तरजामी छिप रहे, हम क्यों जीवें दूरि॥
आप अपरछन होइ रहे, हम क्यों रैन बिहाइ।
दादू दरसन कारने, तलफि तलफि जिय जाइ॥

3. तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान। छूटि गये कैसे जन जीवत ज्यों पानी बिन प्रान॥

और भगवान्।[1] जो ज्ञानाश्रयी भक्त भगवान् के केवल चिन्मय रूप का साक्षात्कार करते है, वे उसके एक अंश मात्र को जानते है और अपने ज्ञान के द्वारा उस चिन्मय अंश में लीन होने का दावा करते है। यही केवल ज्ञानस्वरूप ब्रह्म कहा जाता है। इस मत में ज्ञान निराकार होता है और ज्ञाता और ज्ञेय के विभाग से रहित होता है। दूसरा स्वरूप परमात्मा का है। इस रूप के उपासकों में शक्ति और शक्तिमान् का भेद ज्ञात रहता है। यह स्वरूप योगियों का आराध्य है। किन्तु भक्तों के भगवान् परिपूर्ण सर्वशक्ति विशिष्ट है। भक्त ही भगवान् की सारी शक्ति के रस का अनुभव कर सकता है, इसीलिए भक्त की सबसे बड़ी कामना यह है कि वह भगवान् का प्रेम प्राप्त करे। मोक्ष को, अर्थात् भगवान् के एक अंश मे लीन हो जाने को, वह कभी पसन्द नही करता। मोक्ष उसके मत से परम पुरुषार्थ नही है, प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—'प्रेमा पुमर्थो महान्।' एक दूसरी बड़ी बात है जिसमें उस युग के प्रायः सभी भक्त एकमत है। इसको वे नाना रूप मे कहते है। कोई कहता है—"हे भगवान्! मुझे तुम्हारी मुक्ति नही चाहिए। हे गोविन्द! मुझे ऋद्धि-सिद्धि नही चाहिए, मैं तुम्ही को चाहता हूँ। हे राम! मै योग नही चाहता, भोग नही चाहता, मैं तुम्ही को चाहता हूँ। हे देव! मैं घर नही मांगता, वन नही मांगता, मैं तुम्ही को मांगता हूँ। मै और कुछ नही मांगता, केवल दर्शन मांगता हूँ।"[2] कोई कहता है, "न मुझे धर्म चाहिए, न अर्थ चाहिए, न काम चाहिए और न निर्वाण ही चाहिए। मैं यही वरदान मांगता हूँ कि जन्म-जन्म रघुपति की भक्ति मिले।"[3] कोई दूसरा बताता है कि "आठों सिद्धि और नवो निधि का सुख वह नन्द की गाय चराकर बिसार सकता है, करोड़ो कलधौत के धाम करील के कुंजों पर कुर्बान कर सकता है, कामरी और लकुटिया उसे मिल जाय तो त्रैलोक्य का राज्य वार सकता है।"[4] इसलिए भक्त की परम साधना है, भगवान् के साथ लीला। भक्तो मे अपनी उपासना-पद्धति के अनुसार इस लीला

1. वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ —भा 3-2-11
इस पर श्रीजीवगोस्वामी का क्रम-सन्दर्भ और वल्लभाचार्य की सुबोधिनी देखिए।

2 दरसन दे, दरसन देहौं तो तेरी मुकति न मांगो रे।
सिधि ना मांगों रिधि ना मांगों तुम्हही मांगो गोविन्दा।
जोग न मांगों भोग न मांगों तुम्हही मांगो रामजी।
घर नहि मांगो वन नहि मांगो तुम्हही मांगों देवजी।
'दादू' तुम्ह बिन और न जानें दरसन मांगो देहु जी॥ —दादूदयाल

3. अरथ न धरम न काम-रुचि, गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रघुपति-भगति, यह बरदान न आन॥ —तुलसीदास

4. या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख नन्द की धेनु चराइ बिसारौं॥
आँखिन सौं रसखानि कबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूँ कलधौत के धाम करीर के कुंजन ऊपर वारौं॥ —रसखान

के रूप में भेद हो सकता है, पर सबका लक्ष्य यह लीला ही है। जो भक्त दास्य-भाव से भजन करता है वह भगवान् की अनन्त काल तक पदसेवा करना चाहता है, और जो मधुर-भाव से भजन करता है वह गोलोक में अनवरत विहार की कामना करता है। जो निर्गुण भाव से भजन करता है वह भी भगवान् की चिन्मय सत्ता में विलीन हो जाने की इच्छा नहीं रखता बल्कि अनन्त काल तक इसमें रमते रहने की लालसा करता है। इस प्रकार दादू भगवान् के साथ नित्य लीला में रत हैं। "प्रिय से रंग भरके खेलता हूँ, जहाँ रसीली वेणु बज रही है। अखण्ड सिंहासन पर प्रेमव्याकुल स्वामी बैठे हैं और प्रेम-रस का पान करा रहे हैं। रंग भरके प्रिय के साथ खेल रहा हूँ, यहाँ कभी वियोग की आशंका नहीं है। यह कुछ पूर्व का संयोग है कि आदिपुरुष अन्तर में मिल गया है। रंग भरके प्रिय से खेल रहा हूँ, यहाँ बारहो मास वसन्त है। सेवक को सदा आनन्द है कि युग-युग वह कान्त को देखता है।"[1] कबीरदासजी कहते हैं कि "हाय, मेरे वे दिन कब आवेंगे जब मैं अंग-अंग लगाकर मिलूँगी, जिसके लिए मैंने यह देह धारण किया है। वह दिन कब आवेंगे जब तन, मन और प्राणों में प्रवेश करके तुम्हारे साथ सदा हिल-मिलकर खेलूँगी। हे समर्थ राम-राया ! मेरी यह कामना परिपूर्ण करो।"[2] यह इस युग की तीसरी समानधर्मिता है।

कबीरदास, दादूदयाल आदि निर्गुण-मतवादियों की नित्य-लीला और सूरदास, नन्ददास आदि सगुण-मतवादियों की नित्य लीला एक ही जाति की है। अन्तर यही है, कि पहली श्रेणी के भक्तों के सामने भगवान् के व्यक्तिगत सम्बन्धात्मक रूप के साथ उसकी रूपातीत अनन्तता वर्तमान रहती है। और दूसरी श्रेणी के भक्तों के सामने भगवान् सदा प्रतीक रूप में आते हैं और इसीलिए उनकी अनन्तता और असीमता ओझल-सी हुई रहती है।

मध्य-युग के भक्ति-आन्दोलन की एक बड़ी विशेषता यह है कि भक्त और भगवान् को समान बताया गया है। प्रेम का आधार ही समानता है। गुरु को

1. रँगभरि खेलौं पीव सो तहँ बाजै बेनु रसाल।
अकल पाट करि बैठ्या स्वामी प्रेम पिलावै लाल॥
रँगभरि खेलौं पीव सो कबहुँ न होइ वियोग।
आदिपुरुष अन्तरि मिल्या कछु पूरब के योग॥
रँगभरि खेलौं पीव सो बारह मास बसन्त।
सेवग सदा अनन्द है जुगि जुगि देखौं कन्त॥ —दादूदयाल

2 वे दिन कब आवैंगे भाइ।
जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ अंगि लगाइ॥
हौं जानूं जे हिलिमिलि खेलूं तन मन प्रान समाइ।
या कामना करो परिपूरन समरथ हौ रामराइ॥ —कबीर ग्रन्थावली

भगवान् का रूप बताया गया है।[1] ये दोनों बातें साधारणतः भक्ति के भावावेश में प्रशंसात्मक अर्थवाद समझी जाती हैं। अर्थात् यह मान लिया जाता है कि भावावेश में भक्त को भगवान् कहा गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सचमुच भक्त भगवान् है, बल्कि इसका मतलब इतना ही है कि भक्त महान् है। कहीं-कहीं तो भक्त को भगवान् से भी बढ़कर बताया है। यह ध्यान देने की बात है कि तन्त्र-साधना में गुरु को शिव के समान स्थान दिया गया है। सहजिया मत के जो बौद्ध दोहे और गान पाये गये हैं, उनमें गुरु की भक्ति के बहुत उपदेश हैं। एक दोहे में कहा गया है कि गुरु सिद्ध से भी बड़े हैं। गुरु की बात बिना विचारे ही करनी चाहिए।[2] कबीरदास ने गुरु को गोविन्द के समान कहा है।[3] असल में मध्य-युग के भक्ति-साहित्य में गुरु का स्थान बहुत बड़ा है। वैष्णव भक्तों के मत से गुरु दो प्रकार के हैं—शिक्षा-गुरु और दीक्षा-गुरु। शिक्षा-गुरु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं—और सिद्धावस्था में दीक्षा-गुरु भी भगवान् के तुल्य हैं। विद्वानों का यह खयाल ठीक ही है कि गुरु-महिमा मध्य-युग के साधकों को अपने पूर्ववर्ती तान्त्रिकों और सहजयान के साधकों से उत्तराधिकार के रूप में मिली थी।

इसी तरह इस युग में भक्त के समान भगवान् को समझने की प्रवृत्ति लगभग सभी भक्तों में समान रूप से पायी जाती है। यह भी कहा गया है कि "राम से अधिक रामकर दासा।"[4] इस कथन का अर्थ यह है कि प्रेम की दुनिया में बड़े-छोटे का कोई सवाल नहीं। भगवान् प्रेम के वश में हैं। सूरदास कहते हैं कि "मुरारि प्रेम के वश में है, प्रीति के कारण ही उन्होंने नटवर-वेश धारण किया, प्रीतिवश ही उन्होंने गिरिराज धारण किया, प्रीति के वश ही माखन चुराया, प्रीति के कारण ही उनका सबसे अधिक प्रिय नाम 'गोपीरँवन' है, प्रीति के वश ही यमल तरुओं को मोक्ष दिया।"[5] अधिकतर इस भाव का विकास सगुणोपासक

1 भगति भगत भगवन्त गुरु नाम रूप वपु एक।
इनके पद वन्दन किये, नासैं विघन अनेक॥ —भक्तमाल

2. म. म. हरप्रसाद शास्त्री—'बौद्ध गान ओ दोहा', भूमिका पृ. 3

3 गुरु गोविन्द तो एक है, दूजा यह आकार।
आपा मेट जीवत मरे, तो पावैं करतार॥ —कबीर ग्रन्थावली

4. पद्मोत्तर खण्ड में (विष्णु से भी वैष्णव की पूजा श्रेष्ठ है।)
आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥
और—
अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान् नार्चयेत्तु यः।
न स भागवतो ज्ञेयः केवलं दाम्भिकः स्मृतः॥ —भागवत 11-19-21

5. प्रीति के वश्य में हैं मुरारी।
प्रीति के वश्य नटवर-वेश धर्यो प्रीतिवश करन गिरिराज धारी।
प्रीति के वश्य भये माखनचोर प्रीति के वश्य दाँवरी बँधाई।।
प्रीत के वश्य गोपीरँवन प्रिय नाम प्रीति के वश्य तरु यमल मोक्षदाई॥ इत्यादि

भक्तों में ही पाया जाता है, पर निर्गुण मतवादी भक्त भी इस बात पर कम जोर नहीं देते। दादू कहते हैं कि "साधु की रुचि है राम जपने की और राम की रुचि है साधु को जपने की। दोनों ही एक भाव के भावुक हैं, दोनों के आरम्भ समान हैं, कामनाएँ समान हैं।"[1] वैष्णव भक्तों में कहानी मशहूर है कि एक बार भगवान् ने रुक्मिणी से मजाक में कहा कि मैं तुम्हें हर ले आया था, तुम्हारा वास्तविक प्रेमी कोई दूसरा था, मैं तुम्हें उसी प्रेमी को लौटा देना चाहता हूँ। रुक्मिणी रोने लगी।[2] ठीक इसी प्रकार का मजाक एक बार भगवान् ने राधिका से किया। राधिका ने मजाक का जवाब दूसरे मजाक से दिया। इस कथा का प्रयोजन प्रेम का तारतम्य दिखाना है। रुक्मिणी प्रेम की दुनिया में सम्पूर्ण रूप से न आ सकी थीं, उनके अन्दर ऐश्वर्य-बुद्धि अर्थात् पूज्य का, बड़े-छोटे का भाव वर्तमान था, पर राधिका सोलह आने प्रेममयी थी, वहाँ बड़े-छोटे का सवाल ही नहीं था। अष्टछाप के सभी कवियों में इस बात का बहुत सुन्दर विकास हुआ था।

प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। सूरदास कहते हैं कि "प्रेम, प्रेम से ही होता है, प्रेम से ही भवसागर पार किया जा सकता है; प्रेम के बन्धन में ही सारा संसार बँधा है, एक प्रेम का निश्चय ही रसीली जीवन्मुक्ति है, प्रेम का निश्चय ही सत्य है जिससे गोपाल मिलते हैं।"[3]

दादू कहते हैं, "प्रेम ही भगवान् की जाति है, प्रेम ही भगवान् की देह है। प्रेम ही भगवान् की सत्ता है, प्रेम ही भगवान् का रंग है। विरह का मार्ग खोजकर प्रेम का रास्ता पकड़ो, लौ के रास्ते जाओ, दूसरे रास्ते पैर भी न रखना।"[4] कबीरदास कहते हैं कि, "स्वामी और सेवक एकमत हैं, दोनों मन-ही-मन (प्रेम से ही), मिलते हैं। वह चतुराई से प्रसन्न नहीं होता, मन के भाव से रीझता है।" तुलसीदास कहते हैं कि "भगवान् भक्त पर ऐसी प्रीति करते हैं कि अपनी प्रभुता भूलकर भक्त के वश हो जाते हैं; यह सदा की रीति है।"[5]

1. राम जपै रुचि साधु को, साधु जपै रुचि राम।
   दादू दोनों एक ढँग, सम आरम्भ सम काम॥
2. श्रीमद्भागवत में यह कथा बहुत ही सुन्दर है। कल्याण में प्रकाशित हो चुकी है।
3. प्रेम प्रेम सो होय प्रेम सो [illegible] जैये।
   प्रेम बँध्यो संसार प्रेम [illegible]॥
   एकै निश्चय प्रेम को [illegible]।
   सांचो निश्चय प्रेम को जा[illegible]
4. इश्क अलह की जाति है इश्क [illegible]
   इश्क अलह [illegible] है इश्क [illegible]
   वाट विरह [illegible]
   सब के [illegible]
5. ऐसी हरि [illegible]
   निज प्रभुता [illegible]

भक्त और भगवान् की तरह भक्ति भी अपरम्पार महिमामयी है। दादूदयाल ने कहा है कि जैसे राम अपार है, भक्ति भी उसी प्रकार अगाध है। सभी साधुओं ने पुकारकर कहा है कि इन दोनों की कोई सीमा नहीं है। जिस प्रकार राम अविगत है, भक्ति भी उसी प्रकार अलेख्य है, दोनों की कहीं सीमा नहीं है, यह शेष हजार मुंह से कह रहे है। राम जैसे निर्गुण है, भक्ति वैसी ही निरञ्जन है, इन दोनों की कोई सीमा नहीं है, ऐसा सन्तों ने निश्चय किया है। जैसे पूर्ण राम है ठीक उसी प्रकार भक्ति भी पूर्ण है, इन दोनों की कोई सीमा नहीं है, ये दोनों दो चीजें भी नहीं है।[1] इस प्रकार इस युग का साहित्य भक्ति, भक्त, भगवान् और गुरु की महिमा से भरा पड़ा है।

इस युग के सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के मत के सन्तों ने नाम की महिमा खूब गायी है। नाम-माहात्म्य भागवत आदि प्रायः सभी पुराणों में पाया जाता है, पर मध्य-युग के भक्तों में इसका चरम विकास हुआ है। तुलसीदास ने कहा है कि ब्रह्म और राम अर्थात् निर्विशेष चिन्मय सत्ता और अखण्डानन्द प्रेमस्वरूप भगवान्, इन दोनों में नाम बड़ा है।[2]

'रामचरितमानस' के आरम्भ में ही विस्तारपूर्वक बताया गया है कि राम की अपेक्षा राम का नाम अधिक उपकारी है। कबीर ने भी कहा है कि "मैं भी कह रहा हूँ, ब्रह्म और महेश ने भी कहा है कि राम-नाम ही सार तत्त्व है। भक्ति और भजन जो कुछ भी है वह राम-नाम ही है, और सब दुःख है। मन, वचन और कर्म से इनका स्मरण करना ही सार है।"[3] इसी प्रकार नानक, दादू आदि सन्तों ने भी नाम का माहात्म्य वर्णन किया है। दादू ने बताया है कि प्रभु के नाम में ही मति, बुद्धि, ज्ञान, प्रेम, प्रीति है।[4] दरिया साहब कहते है कि नाम के बिना ससार से

1. जैसा राम अपार है तैसी भगति अपार।
इन दोनो की मित नही सकल पुकारै साध॥
जैसा अविगत राम है तैसी भगति अलेख।
इन दोनों की मित नही सहसमुखी कहै सेख॥
जैसा निरगुन राम है भगति निरजन जान।
इन दोनो की मित नही सन्त कहै परवान॥
जैसा पूरा राम है पूरन भगति समान।
इन दोनो की मित नही दादू नाही आन॥
2. ब्रह्म-राम तें नाम बड़ बरदायक बरदानि।
रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि॥
3 कबीर कहै मैं कथि गया कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नांव ततसार है सब काहू उपदेस॥
भगति भजन हरि-नांव है दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा कर्मना कबिरा सुमिरन सार॥
4. साहिबजी के नाऊंमा मति, बुधि, ज्ञान विचार।
प्रेम प्रीति सनेह सुख दादू सिरजनहार॥

छुटकारा नहीं मिल सकता। साधु-संग और रामभजन के बिना काल निरन्तर लूटता रहेगा।[1] इस प्रकार नाम की अपार महिमा के सम्बन्ध में सभी सन्त एकमत हैं और सभी जानते हैं कि विधियों में सबसे श्रेष्ठ विधि राम-नाम का जपना है और निषेधों का सिरताज है उसे भुला देना।[2] जिसने नाम पर विश्वास कर लिया उसने सब आनन्द पा लिया और उसके सब दु:ख दूर हो गये।[3] वह प्राणी धन्य है।

प्रेमोदय के जो क्रम[4] सगुणोपासक भक्तों ने निश्चय किये हैं, वे सभी भक्तों में समान रूप से समादृत हैं। भक्ति-युग के साहित्य में इन नौ बातों का भूरि-भूरि वर्णन पाया जाता है। इनकी चर्चा पहिले ही हो चुकी है।

और भी कुछ ऐसी बातें हैं जिनमें सगुण और निर्गुण मतवादी भक्त समान हैं। सभी भक्त अपनी दीनता पर जोर देते हैं, आत्म-समर्पण में विश्वास रखते हैं और भगवान् की कृपा से ही मुक्ति मिल सकती है, इस बात पर सम्पूर्ण रूप से विश्वास करते हैं। राम-अवतार के भक्त इस बात पर अधिक जोर देते हैं। तुलसीदास, सूरदास और दादूदयाल में ये बातें पूर्णता को प्राप्त हुई हैं।

भक्ति-काल के प्रमुख कवियों का व्यक्तित्व

कबीर

कबीरदास ने ऐसे काल में जन्म ग्रहण किया था जिस समय भारतवर्ष की सांस्कृतिक अवस्था अत्यन्त उतार पर थी। वे एक ऐसे कुल में उद्भूत हुए थे जो परम्परा से ज्ञानार्जन के अयोग्य समझा जाता था। बाहर के प्रलोभन से हो, या

1 नाम बिना भव करम न छूटै ।।
साधुसंग और राम भजन बिन काल निरन्तर लूटै ।।

2. नाम-सुमिरन सब विधिहू को राज रे।
नाम को बिसारिबो निषेध सिरताज रे ।। —विनयपत्रिका

3. नाम-प्रतीत भई जा जन की लै अनन्द दुख दूर रह्यो।
'सूरदास' धन-धन वे प्रानी जो हरि को व्रत लै निबह्यो ।।

4. आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ।।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः ।। —भक्तिरसामृतसिन्धु

भीतर के आघात से, मुसलमानी शासन में इस जाति को राजधर्म ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पर न तो इससे उनमें राजकीय गरिमा का सचार ही हो पाया और न प्राचीन हीनता से उद्धार ही। नाम-मात्र के मुसलमान इस जुलाहे-जाति के रक्त में प्राचीन हिन्दू-विश्वास पूर्ण मात्रा में वर्तमान था, पर शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने का दरवाजा उनके लिए यहाँ भी रुद्ध ही था। ये गरीबी मे जनमते थे, उसी में पलते थे, और उसी में मर जाया करते थे। लेकिन प्रतिभा किसी कुल-विशेष का इन्तजार नहीं करती। कबीर के पूर्ववर्ती युग में भी नीच समझी जाने-वाली शास्त्र-ज्ञान-विवर्जित जातियो मे प्रतिभाशाली पुरुष पैदा होते रहे और एक-न-एक प्रकार से समाज में शीर्षस्थान पर अधिकार करते ही रहे। इस प्रकार के पुरुषों का एकमात्र द्वार था वैराग्य। आज साधुओं की जो समस्या भारतवर्ष मे वर्तमान है उसके मूल में वही व्यवस्था है जो करोड़ों की सख्या में आदमियो को अकारण नीच समझने का विधान करती है। कबीरदास के युग मे वैराग्यप्रधान साधुओं का जो दल था वह अधिकांश में बौद्ध-धर्म के परिवर्तित रूप का अनुगमन कर रहा था। इनमें सहजयान, नाथपन्थ, अवधूत, तन्त्रवादी आदि थे। महायान बौद्ध-धर्म का दूरविभ्रष्ट प्रभाव देव-देवियों के रूप मे प्रचलित था। चौरासी सिद्धों में से अनेक नीच समझी जानेवाली जातियों की देन थे। कबीरदास के लिए ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग यही था कि वे इन्हीं मे से किसी एक के हो जाते। इनके सिवा मुसलमान सूफियों का भी रास्ता था। लेकिन यह बात एक तरह से असम्भव ही थी कि अपने जुलाहेपन के साथ वे ज्ञानी हो जायें।

सौभाग्यवश इस युग के महागुरु रामानन्द से कबीर की पहचान हो गयी और जो बात असम्भव थी वह सम्भव हो गयी। कबीर को वैराग्य नही लेना पड़ा, पर वे वैराग्य के ज्ञाता हो सके; उन्हे योग-मार्ग का साधक नही बनना पड़ा, पर वे उसका तत्त्व समझ सके। इस तरह कबीर में एक ही साथ कई बातो का योग हुआ। वे दरिद्र और दलित थे, इसलिए अन्त तक वे इस श्रेणी के प्रति की गयी उपेक्षा को भूल न सके। उनकी नस-नस में इस अकारण दण्ड के विरुद्ध विद्रोह का भाव भरा था। वे मुसलमान थे, अतएव सहज ही मुसलिम साधनाओं को ग्रहण भी कर सके और उनकी कमजोरियों पर आघात भी कर सके। वे पण्डित नही थे, पर काशी में रहकर नजदीक से पण्डितों को देखने का अवसर उन्हे मिला था। इसका परिणाम यह हुआ कि वे और लोगों की भाँति अपने को हल्का समझने की भावना के शिकार न बने, क्योंकि उन्होने अच्छी तरह देखा कि तथाकथित बड़े-बड़े पण्डित ठीक उसी प्रकार के हाड़-मांस की बुराइयो-भलाइयो के बने हुए है जिस प्रकार का एक साधारण जुलाहा। वे जमकर आघात कर सकते थे और फिर भी इस लापरवाही के साथ मानो उन पर कोई आघात कर ही नही सकता। वे दूसरों की कमजोरियों को दिखा सकते थे और विश्वास कर सकते थे कि उनके अन्दर कोई ऐसी कमजोरी है ही नहीं जिस पर दूसरा पक्ष कुछ कह सके। वे शास्त्र के दाँव-पेंच से अनभिज्ञ थे, इसलिए पद-पद पर दार्शनिक की भाँति 'ननु' लगाकर

मिलता है। भाषा सादी, सहज और प्रभाव डालनेवाली है। पदों में कबीर की-सी मस्ती तो नहीं है, पर श्रद्धा और भगवान् के प्रति विश्वास प्रचुर मात्रा में है। कबीरदास की भाँति नाना जाति के साधकों से गृहीत शास्त्रीय शब्दों का अभिनव अर्थ इन्होंने नहीं किया और न रूपक आदि अलकारों का आश्रय लेकर पदों को कवित्वपूर्ण बनाया है। साफ भाषा के दर्पण में उनके मनोभाव सुन्दर रूप में प्रतिफलित हुए है।

सूरदास

सूरदास कबीर की तरह समाज के निम्नतर स्तर में नहीं पैदा हुए थे। वे ऊँची जाति के,—शायद सारस्वत ब्राह्मण-वंश के रत्न थे।[1] लेकिन उस युग में सूरदास ने अपने इर्द-गिर्द जिस समाज को देखा था उसका कोई उच्च आदर्श नहीं था। लोग खाते-पीते थे, रोगी या निरोगी होते थे और चार दिन तक हँस या रोकर चल बसते थे। जो धार्मिक प्रवृत्ति के थे वे दस-बीस मन्दिर बनवा देते थे, यज्ञ-याग करके हजार-पाँच सौ ब्राह्मणों को भोजन करा देते थे। ऊँचे वर्ग के लोग अपनी झूठी शान में मस्त रहते थे। उनका कर्त्तव्य था विलासिता। समाज की इस पतित अवस्था का वर्णन सूरदास ने बड़ी जोरदार भाषा में किया है। सम्मिलित परिवार प्रथा वर्त्तमान थी, घरों में झगड़े सदा होते रहते थे। जो जब तक कमा सकता था वह तब तक चैन करता था, फिर वृद्ध और शिथिलेन्द्रिय होने पर उसी के लड़के-वाले उसका निरादर करने लगते थे। इस परिस्थिति में विकसित भावप्रवण कवि के चित्त पर समाज के प्रति विरक्ति स्वाभाविक है। सूरदास इस विरक्ति को लेकर बड़े हुए थे। वल्लभाचार्य के संसर्ग में आने के पहले उनके अन्दर इस विरक्ति की प्रधानता थी। पर वे बालक का हृदय लेकर पैदा हुए थे और अन्त तक बालक का हृदय लिये हुए ही संसार-यात्रा निबाह गये। वल्लभाचार्य के संग में आने पर उन्होंने लीला-गान करने की दीक्षा ली और सरल-हृदय बालक की भाँति इस नयी चीज को पाकर पुरानी का मोह एकदम त्याग दिया।

लीला-गान में भी सूरदास का प्रिय विषय था प्रेम। माता का प्रेम, पुत्र का प्रेम, गोप-गोपियों का प्रेम, प्रिय और प्रिया का प्रेम, पति और पत्नी का प्रेम – इन बातों से ही 'सूरसागर' भरा है। सूरदास के प्रेम में उस प्रकार के प्रेम की गन्ध भी नहीं है जो प्रिय की संयोगावस्था में उसकी विरहाशंका से उत्कण्ठित और वियोगावस्था में मिलन-लालसा से भरा रहता है। यशोदा कभी उस माता की तरह साश्रु नयनों से देवताओं की ओर नहीं ताकती जो सदा आँचल पसारकर वर माँगा करती है कि, 'हे भगवान्, जिसे पाया है वह खो न जाय।' इसी प्रकार राधिका ने कृष्ण के व्रजवास के समय कभी—मान और अभिमान के समय भी कातर नयनों से नहीं देखा। सूरदास का प्रेम संयोग के समय आना संयोगमय है और वियोग के समय

1. चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता।

सोलह आना वियोगमय है; क्योंकि उनका हृदय बालक का था जो अपने प्रिय के क्षणिक वियोग में भी अधीर हो जाता है और क्षणिक सम्मिलन में ही सब-कुछ भूलकर किलकारियाँ मारने लगता है।

बाल-स्वभाव के वर्णन में सूरदास बेजोड़ समझे जाते हैं। वे स्वयं वय.प्राप्त बालक थे। बाल-स्वभाव-चित्रण में वे एक तरह का अपनापा अनुभव करते जान पड़ते हैं और ठीक उसी प्रकार मातृ-हृदय का मर्म भी समझ लेते हैं। केवल कृष्ण का बाल-स्वभाव ही उन्होंने नहीं वर्णन किया, राधिका की बाल-केलि को भी समान रूप से आकर्षक बनाया है। सच पूछा जाय तो राधिका और कृष्ण का सारा प्रेम-व्यापार जो 'सूरसागर' में वर्णित है, बालकों का प्रेम-व्यापार है। वही चुहल, वही लापरवाही, वही मस्ती, वही मौज। न तो इस प्रेम में कोई पारिवारिक रस-बोध ही है और न आमुष्मिक सम्बन्ध ही। सारी लीला साफ, सीधी और सहज है। जैसा कि उनके गुरु वल्लभाचार्य ने बताया है, "लीला का कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि लीला ही स्वयं प्रयोजन है।" सूरदास इस लीला को ही चरम साध्य मानते हैं।

प्रेम के इस साफ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया। यह सूरदास की अपनी विशेषता है। वियोग के समय राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है, वह भी इस प्रेम के योग्य ही है। श्यामसुन्दर के मिलन-समय की मुखरा, लीलावती, चचला और हँसोड़ राधिका वियोग के समय मौन, शान्त और गम्भीर हो जाती हैं। उद्धव से अन्यान्य गोपियाँ काफी बकझक करती है, पर राधिका वहाँ जाती भी नहीं। उद्धव ने श्रीकृष्ण से उनकी जिस मूर्त्ति का वर्णन किया है उससे पत्थर भी पिघल सकता है। उन्होंने राधिका की आँखों को निरन्तर बहते देखा था, कपोल-देश वारि-धारा से आर्द्र था, मुखमण्डल पीत हो गया था, आँखें धँस गयी थीं, शरीर ककाल-शेष रह गया था। वे दरवाजे से आगे न बढ़ सकी थीं। प्रिय के प्रिय वयस्य ने जब सन्देश माँगा तो वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। प्रेम का वही रूप जिसने सयोग में कभी विरहाशका का अनुमान नहीं किया, वियोग में इस मूर्त्ति को धारण कर सकता है। असल में सूरदास की राधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका है। उनके प्रेम में चण्डीदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में हास और हास में रुदन की चातुरी भी नहीं है। इस प्रेम में किसी प्रकार की जटिलता नहीं है। घर में, वन में, घाट पर, कदम्ब-तले, हिंडोले पर,—जहाँ कहीं भी इसका प्रकाश हुआ है वहीं वह अपने-आपमें ही पूर्ण है, मानो वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता और न कोई उसकी खबर रखता है।

सूरदास जब अपने विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकारशास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है। वह अपने को

भूल जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलनेवाले अलंकारों को देखकर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता कि कवि जानबूझकर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढ़ते जाइए, केवल उपमाओं और रूपकों की घटा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार,—यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार-चार, दस-दस बार तक दुहरायी जा रही है, – फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रवाह कहीं भी आहत नहीं हुआ। जिसने, 'सूरसागर' नहीं पढ़ा उसे यह बात सुनकर कुछ अजीब-सी लगेगी, शायद वह विश्वास ही न कर सके, पर बात सही है। काव्य-गुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है, बल्कि उस अकृत्रिम वन-भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में ही घुल-मिल गया है!

सूरदास सुधारक नहीं थे, ज्ञान-मार्गी भी नहीं थे, किसी को कुछ सिखाने का भान उन्होंने कभी किया ही नहीं। वे कहीं भी सम्प्रदाय, मतवाद या व्यक्ति-विशेष के प्रति कटु नहीं हुए। यह भी उनके सरल हृदय का ही निदर्शक है। लेकिन वे कबीरदास की तरह ऐसे समाज से नहीं आये थे जो पद-पद पर लांछित और अपमानित होता था और जहाँ का गृहस्थ-जीवन वैराग्य-जीवन की अपेक्षा ज्यादा कठोर और तपोमय था। सूरदास जिस समाज में पले थे उसका गृहस्थ-जीवन विलासिता का जीवन था, मिथ्याचार और फरेब का जीवन था और 'यौवन-मद, जन-मद, धन-मद, विध-मद, भारी' का जीवन था। इसलिए इस समाज से वैराग्य ग्रहण करना उनका मत था। वे तुलसीदास की भाँति दृढ़चेता सेनानायक नहीं थे जो समाज की कुरीतियों से कुशलतापूर्वक बाहर निकलकर उस पर गोलाबारी आरम्भ कर दें। नन्ददास की तरह पर-पक्ष की युक्तियों को तर्क-बल पर निरस्त करना भी वे नहीं जानते थे। वे केवल श्रद्धालु और विश्वासी भक्त थे जो झगड़ों में पड़ने के ही नहीं।

भक्तों में मशहूर है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे। यह उनके भक्त और कवि-जीवन की सर्वोत्तम आलोचना है। 'वृहद्भागवतामृत' के अनुसार उद्धव भगवान् के महाशिष्य, महाभृत्य, और महाप्रियकर थे। वे सदा श्रीकृष्ण के साथ रहते थे। शयन के समय, भोजन के समय, राज-कार्य के समय—कभी भी भगवान् का साथ नहीं छोड़ते थे, यहाँ तक कि अन्तःपुर में भी साथ रहते थे। केवल एक बार उन्होंने भगवान् का साथ छोड़ा था और वह उस समय, उन्हें भगवान ने

ही जगह उन्होंने भगवान् का साथ छोड़ा है, अन्यत्र नहीं। और इस बात में कोई सन्देह ही नहीं कि इस अवसर पर सूरदास को भी दुःख हुआ था। इसी तरह इस कथन का यह भी अर्थ है कि सूरदास की भक्ति में दास्य, (प्रीति-रीति) सख्य और मधुर इन तीनों भावों का सम्मिश्रण है।

नन्ददास

ये सूरदास की कोटि के साहित्य स्रष्टा और कवि कहे गए हैं। अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास का ही स्थान है। इनकी भाषा साफ और मार्जित, विचार-पद्धति गम्भीर और वल्लभमतवाद के अनुकूल, तथा भाव असाधारण हैं। भ्रमरगीत में उद्धव और गोपियों के संवाद में इन्होंने बड़ी दार्शनिकता के साथ निर्गुणवाद के विरुद्ध सगुणवाद का पक्ष स्थापित किया है। यह बात प्रसिद्ध है कि 'और सब गढ़िया, नन्ददास जड़िया'।

तुलसीदास

जातियाँ, आचारनिष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वयकारी चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे। वे स्वयं नाना प्रकार के सामाजिक स्तरों में रह चुके थे। ब्राह्मण-वंश में उनका जन्म हुआ था, दरिद्र होने के कारण उन्हें दर-दर भटकना पड़ा था, गृहस्थ-जीवन की सबसे निष्कृष्ट आसक्ति के वे शिकार हो चुके थे, अशिक्षित और संस्कृतिविहीन जनता में वह रह चुके थे और काशी के दिग्गज पण्डितों तथा संन्यासियों के संसर्ग में उन्हें खूब आना पड़ा था। नाना-पुराण-निगमागम का अभ्यास उन्होंने किया था और लोकप्रिय साहित्य और साधना की नाड़ी उन्होंने पहचानी थी। पण्डितों ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि उस युग में प्रचलित ऐसी कोई भी काव्य-पद्धति नहीं थी जिस पर उन्होंने अपनी छाप न लगा दी हो। चन्द के छप्पय, कबीर के दोहे, सूरदास के पद, जायसी की दोहा-चौपाइयाँ, रीतिकारों के सवैया-कवित्त, रहीम के बरवै, गाँववालों के सोहर आदि जितनी प्रकार की छन्द-पद्धतियाँ उन दिनों लोक में प्रसिद्ध थीं, सबको उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर अपने रंग में रंग दिया।

लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्त्व-ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, पाण्डित्य और अपाण्डित्य का समन्वय,—'रामचरित-मानस' शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है। इस महान् समन्वय के प्रयत्न का आधार उन्होंने रामचरित को चुना। वस्तुतः इससे अधिक सुन्दर चुनाव हो नहीं सकता। कुछ पश्चिमी समालोचकों ने कहा है कि कविता अच्छी करना चाहते हो तो विषय अच्छा चुनो। रामनाम का प्रचार उन दिनों बड़े जोरों पर था। निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्तों ने इस नाम को ही अपनाया था। लोक में इस शब्द की महिमा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। तुलसीदास के लिए काम इतना ही बाकी था कि लोकगृहीत इस नाम को मर्यादा पुरुष के चरित्र से सम्बद्ध कर दिया जाय। कृष्णभक्ति खूब प्रचलित थी, पर तुलसीदास मन-ही-मन मधुर-भाव की उपासना पर झुंझलाये हुए थे। वे इसके विरुद्ध तो कुछ कह नहीं सकते थे, क्योंकि यह भी 'हरिभक्ति-पन्थ' था और उनके उद्भावित पन्थ से कम 'श्रुतिसम्मत' न था; पर उन्होंने भक्ति का प्रसंग आते ही दास्यभाव की भक्ति को श्रेष्ठ कहकर अप्रत्यक्ष रूप में मधुर-भाव का प्रत्याख्यान कर [illegible]। निर्गुणियों पर

वर्ण के होने के कारण स्वभावतः ही उस युग के तथाकथित 'वर्णधर्मों' की बढ़-बढ़कर की हुई बातें उन्हें बुरी लगती थी, पर कथा-प्रसंग में सर्वत्र उनकी महिमा गायी है। हाँ, अवश्य ही इस बात के लिए उनमें भक्ति का होना आवश्यक माना गया है। इस समस्या का उन्होंने यही समन्वय किया है कि अगर छोटी जाति का आदमी भक्त हो तो वह मुहूर्त्त-भर मे ऊँची जाति के भक्तों से ऊपर उठ जाता है, 'भरत-सम-भाई' हो जाता है। उनके राम अधम-उधारन हैं जो हठपूर्वक अधमों का उद्धार करते है। यह ध्यान देने की बात है कि तुलसीदास ने रूप की अपेक्षा नाम को श्रेष्ठ बताया है, यहाँ तक कि 'ब्रह्म राम ते नाम बड' है। अर्थात् निर्गुण भाव से भजन किया गया हो या सगुण भाव से, नाम की महिमा मे कोई सन्देह नही। इस सिद्धान्त के द्वारा उन्होने सहज ही अपने विरुद्ध-वादियों को भी अपनी श्रेणी में ले लिया है।

समन्वय का मतलब है कुछ झुकना, कुछ दूसरों को झुकने के लिए बाध्य करना। तुलसीदास को ऐसा करना पड़ा है। यह करने के लिए जिस असामान्य दक्षता की जरूरत थी, वह उनमें थी। फिर भी झुकना झुकना ही है। यही कारण है कि 'रामचरितमानस' के कथा-काव्य की दृष्टि से अनुपमेय होने पर भी उसके प्रवाह में बाधा पड़ी है। अगर वह विशुद्ध कविता की दृष्टि से लिखा जाता तो कुछ और ही हुआ होता। यहाँ दार्शनिक मत की विवेचना है तो वहाँ भक्ति-तत्त्व की व्याख्या। फिर भी अपनी असामान्य दक्षता के कारण तुलसीदास ने इस बाधा को यथासम्भव कम किया है। अपने प्रयत्न में वे इतने अधिक सफल हुए है कि भावुक समालोचक को उसमें कोई दोप ही नही दिखायी देता। कथा का झुकाव इतनी मार्मिकता के साथ पहचाना गया है कि यह बात आदमी प्रायः भूल जाता है कि 'रामचरित-मानस' का लक्ष्य केवल कथा ही नही, और कुछ भी है। शुष्क तत्त्वज्ञान तुलसीदास को कभी प्रिय नही हुआ, जब कभी उसकी चर्चा वे करते हैं तो कवि की भाषा मे। उपमाओं और रूपकों के प्रयोग से विषय अत्यन्त साफ हो जाता है और जहाँ कविता करने के लिए तुलसीदास कवि की भाषा का प्रयोग करते है, वहाँ वे अद्वितीय नजर आते है।

चरित्र-चित्रण मे तुलसीदास अतुलनीय है। उनके सभी पात्र हाड-मास के बने हमारे ही जैसे जीव है। उनमे जो अलौकिकता है वह भी मधुर और समझ में आने लायक है। उनके पात्रो के प्रत्येक आचरण मे कोई-न-कोई विशेप लक्ष्य होता है। मानव जीवन के किसी-न-किसी अग पर उससे प्रकाश पड़ता है, या किसी-न-किसी सामाजिक या वैयक्तिक कुरीति की तीव्र आलोचना व्यक्त होती है या मानव-मानव में सद्‌भावना की पुष्टि की ओर इशारा रहता है। लीला के लिए लीला-गान उन्होंने कही नही किया। वे आदर्शवादी और अपने काव्य से भावी समाज की सृष्टि कर रहे थे। वे उस देश में पैदा हुए थे जहाँ कल्पना की जा सकती है कि राम के जन्म के साठ हजार वर्ष पहले रामायण काव्य लिखा गया, अर्थात् जहाँ कवि भविष्य का द्रष्टा और स्रष्टा समझा जाता है। तुलसीदास ऐसे ही भविष्य

स्रष्टा थे। आज चार सौ वर्ष बाद इस विषय में कोई सन्देह नही रह सकता कि उन्होंने भावी समाज की सृष्टि सचमुच की थी। आज का उत्तर भारत तुलसीदास का रचा हुआ है। वही इसके मेरुदण्ड है।

भाषा की दृष्टि से भी तुलसीदास की तुलना हिन्दी के किसी अन्य कवि से नही हो सकती। जैसा कि पहले ही बताया गया है, उनकी भाषा मे भी एक समन्वय की चेष्टा है। तुलसीदास की भाषा जितनी ही लौकिक है उतनी ही शास्त्रीय। उसमें सस्कृत का मिश्रण बडी चतुरता के साथ किया गया है। जहाँ जैसा विषय होता है, भाषा अपने-आप उसके अनुकूल हो जाती है। तुलसीदास के पहले किसी ने इतनी मार्जित भाषा का उपयोग नही किया था। काव्योपयोगी भाषा लिखने मे तो तुलसीदास कमाल करते है। उनकी 'विनयपत्रिका' में भाषा का जैसा जोरदार प्रवाह है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जहाँ भाषा साधारण और लौकिक होती है वहाँ तुलसीदास की उक्तियाँ तीर की तरह चुभ जाती हैं और जहाँ शास्त्रीय और गम्भीर होती है वहाँ पाठक का मन चील की तरह मँडराकर प्रतिपाद्य सिद्धान्त को ग्रहण कर उड़ जाता है।

मानव-प्रकृति का ज्ञान तुलसीदास से अधिक उस युग में किसी को नही था। पर यह एक आश्चर्य की बात है कि उन्होंने विश्व-प्रकृति को अपने काव्य में कोई स्थान नही दिया। इसमे सन्देह नही कि जहाँ कही उन्होंने थोड़ी-सी चर्चा की है, वही उसमे कमाल किया है, पर असल में वे इससे उदासीन ही रहे। जो भावुक सहृदय पद-पद पर फूल-पत्तियो को देखकर मुग्ध हो जाता है, नदी पहाड़ को देखकर तन-मन विसार देता है, वह तुलसीदास के काव्य का लक्ष्यीभूत श्रोता नही है। तुलसीदास प्रकृत्या भावुकता को पसन्द नही करते थे। एक ही जगह उनकी भावुकता 'पुलक-गात' और 'लोचन-सजल' के रूप मे प्रकट होती है और वह भगवान् के 'करुणायतन' या 'मोहन-मयन' रूप को देखकर। इससे भी अधिक अजीब बात यह है कि उनकी उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओ मे कही-कही काव्यगत रूढ़ियों का बुरी तरह पालन किया गया है। उनके जैसे प्रतिभाशाली कवि के लिए जो इच्छा करते ही नयी-नयी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का ठाठ लगा सकता था, जो इस गुण मे अतुलनीय था, यह बात एक अजीब-सी लगती है। शायद इस बात का भी समाधान उनकी समन्वयात्मिका प्रतिभा के द्वारा ही किया जा सकता है, जो नवीनता के साथ सदा प्राचीनता का सामंजस्य-विधान करती थी।

तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पण्डित-सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्य के स्रष्टा थे। इन रूपों मे उनका कोई भी रूप किसी से घटकर नही था। यही कारण था कि उन्होंने सब ओर से समता (balance) की रक्षा करते हुए एक अद्वितीय काव्य की सृष्टि की जो अब तक उत्तर भारत का मार्ग-दर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा जिस दिन नवीन भारत का जन्म हो गया होगा।

दादूदयाल

दादू तुलसीदास के समकालीन थे। वे कबीरदास के मार्ग के अनुगामी थे। उनकी उक्तियों में बहुत-कुछ कबीरदास की छाया है, फिर भी वे वही नही थे जो कबीरदास थे। समाज के निचले स्तर से इनका भी आविर्भाव हुआ था, जन्मगत अवहेलना को लेकर इनका भी विकास हुआ था, पर उस युग तक कबीर का प्रवर्तित निर्गुणमतवाद काफी लोकप्रिय हो गया था। नीच कही जानेवाली जातियों में उत्पन्न महापुरुषों ने अपनी प्रतिभा और भगवन्निष्ठा के बल पर समाज के विरोध का भाव कम कर दिया था। दादू ने शायद इसलिए परम्परा-समागत उच्च-नीच विधान के लिए उत्तरदायी समझी जानेवाली जातियों पर उस तीव्रता के साथ आक्रमण नही किया जिसके साथ कबीर ने किया था। इसके सिवा उनके स्वभाव में भी कबीर के मस्तानेपन के बदले विनय-मिश्रिता मधुरता अधिक थी। सामाजिक कुरीतियो, धार्मिक रूढियो और साधना-सम्बन्धी मिथ्याचारों पर आघात करते समय दादू कभी उग्र नही होते। अपनी बात कहते समय वे बहुत नम्र और प्रीत दिखते है। अपने जीवन-काल में ही वे इतने प्रख्यात हुए थे कि सम्राट् अकबर ने उन्हे सीकरी में बुलाकर चालीस दिन तक निरन्तर सत्सग किया था, फिर भी दादू के पदो मे अभिमान का भाव बिल्कुल नही है। उन्होने बराबर इस बात पर जोर दिया है कि भक्त होने के लिए नम्र, शीलवान्, अ-फलाकांक्षी और वीर होना चाहिए। कायरता उनके निकट साधक की सबसे बड़ी शत्रु है। वही साधक हो सकता है जो वीर हो, सिर उतारकर रख सके। कबीर (क-बीर) अपना सिर काटकर (क अक्षर छोड़कर) ही बीर हो सके थे। जो साहस के साथ मिथ्याचार का विरोध नहीं कर सकता वह वीर भी नही, वह वीर साधक भी नही। दादू के इस कथन का बेढंगा अर्थ करके बाद के उनके शिष्यों का एक दल (नागा) केवल लडाकू ही रह गया।

कबीर की भाँति दादू ने भी रूपको का कहीं-कही आश्रय लिया है, पर अधिक नही, अधिकांश मे उनकी उक्तियाँ सीधी और सहज ही समझ मे आ जाने लायक होती है। इनके पदो में जहाँ निर्गुण निराकार निरंजन को व्यक्तिगत भगवान् के रूप मे उपलब्ध किया गया है, वहाँ वे कवित्व के उत्तम उदाहरण हो गये है। ऐसी अवस्था में प्रेम का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है कि बरबस सूफी भावापन्न कवियों की याद आ जाती है। सूफियों की भाँति इन्होंने भी प्रेम को ही भगवान् का रूप, नाम और जाति बताया है। विरह के पदो मे सीमा का असीम से मिलन के लिए तड़पना सहृदय को मर्माहत किये बिना नहीं रह सकता।

भाषा इनकी यद्यपि पश्चिमी राजस्थान से मिली हुई परिमार्जित हिन्दी है तथापि उसमे गजब का जोर है। स्थान-स्थान पर प्रकृति का जो वर्णन उन्होंने किया है वह देखने ही योग्य है। भाषा मे किसी प्रकार का काव्य-गुण आरोप नहीं किया गया, छन्दों का नियम प्रायः भग होता रहता है, फिर भी अपने स्वाभाविक

वेग के कारण वह अत्यन्त प्रभावजनक हुई है।

कबीर की भाँति दादूदयाल भी जिन पाठकों को उद्देश्य करके लिखते हैं वे साधारण कोटि के अशिक्षित आदमी हैं। उनके योग्य भाषा लिखने में दादू को स्वभावत: ही सफलता मिली है। क्योंकि वे स्वयं भी कोई पण्डित नहीं थे और जो कुछ कहते थे, अनुभव के बल पर कहते थे। इनके पदों में मुसलमानी साधना के शब्द भी अधिक प्रयुक्त हुए हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि वे स्वयं जन्म से मुसलमान थे और मुसलिम उपासना-पद्धति के संसर्ग में आ चुके थे, फिर भी उनका मत अधिकतर हिन्दू-भावापन्न था। कबीर के समान मस्तमौला न होने के कारण वे प्रेम के वियोग और संयोग के रूपकों में वैसी मस्ती तो नहीं ला सके हैं, पर स्वभावतः सरल और निरीह होने के कारण ज्यादा सहज और पुरअसर बना सके हैं। कबीर का स्वभाव एक तरह के तेज से दृढ़ था, पर दादू का स्वभाव नम्रता से मुलायम। कबीर के लिए उनका स्वभाव बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ, क्योंकि उन्हें अपने रास्ते के बहुत-से झाड़-झंखाड़ साफ करने थे। दादू को मैदान बहुत-कुछ साफ मिला था और इसमें उनके मीठे स्वभाव ने आश्चर्यजनक असर पैदा किया। यही कारण है कि दादू को कबीर की अपेक्षा अधिक शिष्य और सम्मानदाता मिले, पर जीवन में कहीं भी दादू कबीर के महत्त्व को न भूल सके और पद-पद पर कबीर का उदाहरण देकर साधना-पद्धति का निर्देश करते रहे।

सुन्दरदास

दादू के शिष्यों में सुन्दरदास सर्वाधिक शास्त्रीयज्ञान-सम्पन्न महात्मा थे। बहुत छोटी उमर में उन्होंने दादू का शिष्यत्व ग्रहण किया था। बाद में काशी में आकर बहुत दीर्घकाल तक शास्त्राभ्यास किया था। इसका परिणाम यह हुआ था कि उनकी कविता के बाह्य उपकरण तो शास्त्रीय दृष्टि से कथंचित् निर्दोष हो सके थे पर वक्तव्य-विषय का स्वाभाविक वेग, जो इस जाति के सन्तों की सबसे बड़ी विशेषता है, कम हो गया। विषय अधिकांश में संस्कृत ग्रन्थों से संगृहीत तत्त्ववाद है जो हिन्दी-कविता में नयी चीज होने पर भी शास्त्रीय ज्ञान रखनेवाले सहृदयों के लिए विशेष आकर्षक नहीं है। छत्रबन्ध आदि प्रहेलिकाओं से भी उन्होंने अपने काव्य को सजाने का प्रयास किया है। असल में सुन्दरदास सन्तों में अपने बाह्य उपकरणों के कारण विशेष स्थान के अधिकारी हो सके हैं। फिर भी इस विषय में तो कोई सन्देह नहीं कि शास्त्रीय ढंग के वे एकमात्र निर्गुनिया कवि हैं।

सुन्दरदास का अनुभव विस्तृत था। देश-देशान्तर घूमा हुआ था। जब कभी वेदान्त का तत्त्वज्ञान छोड़कर ये अन्य विषयों पर लिखते थे, तब निःसन्देह रचना उत्तम कोटि की होती थी। कुछ लोगों का अनुमान है कि सुन्दरदास एकमात्र ऐसे निर्गुनिया साधक थे, जिन्होंने सुशिक्षित होने के कारण लोक-धर्म की उपेक्षा नहीं

की है। लेकिन यह भ्रम है। कबीर, दादू आदि सन्तों ने पतिव्रता के अंगों में पातिव्रत धर्म का खूब बखान किया है। साधना मे भक्त को भी इस व्रत का पालन करने का विधान किया है और वीरों का सम्मान तो दादू से अधिक अन्यत्र दुर्लभ ही है।

रज्जब

रज्जबदास निश्चय ही दादू के शिष्यों मे सबसे अधिक कवित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। उनकी भाषा मे भी राजस्थानीपन और मुसलमानीपन अधिक है, तथाकथित शास्त्रीय काव्य-गुण का उसमें अभाव है, फिर भी एक आश्चर्यजनक विचार-प्रौढ़ता, वेगवत्ता और स्वाभाविकता है। और लोग जिसको कई पद मे कहते है, रज्जब उस तत्त्व को सहज ही छोटे दोहे मे कह जाते है। इनके वक्तव्यविषय भी वही हैं जो साधारणत. निर्गुणभावापन्न साधको के होते हैं, पर साफ और सहज अधिक।

दादूदयाल की शिष्य-परम्परा मे और भी अनेक सन्त हुए जो कविता करते थे, पर उनकी 'कविता' कविता का स्थान नही पा सकी। जगजीवन साहब इसी परम्परा में हुए थे, जिन्होने सतनामी सम्प्रदाय चलाया। इनकी 93 बानियाँ भी साधारण कोटि की है।

रीति-काव्य

हमने पहले ही देखा है कि हिन्दी साहित्य में दो भिन्न प्रकृति के आर्यों ने ग्रन्थ लिखे हैं। पूर्वी आर्य अधिक भावप्रवण, आध्यात्मिकतावादी और रूढ़ि-मुक्त थे और पश्चिमी या मध्यदेशीय आर्य अपेक्षाकृत अधिक रूढ़ि-रूढ, परम्परा के पक्षपाती, शास्त्रप्रवण और स्वर्गवादी थे। पूर्वी आर्यों मे ही उपनिषदों की ज्ञान-चर्चा, बौद्ध और योगमार्ग का प्रचार और आध्यात्मिकता-स्वरसित भावप्रवण गीतिकाव्य का विकास हुआ है। वे अवध से लेकर असम तक फैले हुए थे। मध्यदेशीय आर्यों मे पौराणिक भावधारा का विकास, धर्मशास्त्र और निबन्ध-ग्रन्थों की प्रतिष्ठा, कर्मकाण्ड का प्रचार तथा स्वर्ग-अपवर्ग की प्राप्ति का विश्वास अधिक था। तूरानियन आक्रमण के पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य मे इन दो जातियों की रचनाओं का ही समावेश है अर्थात् या तो उसमे आध्यात्मिकताप्रवण ग्रन्थों (जैसे उपनिषद्, बौद्ध ग्रन्थ, जैन ग्रन्थ, दर्शन आदि) का अस्तित्व है या परम्परापोषक कर्मकाण्डप्रवण शास्त्रों का

(जैसे ब्राह्मण ग्रन्थ, श्रौत और गृह्यसूत्र, प्राचीन स्मृति या इतिहास-पुराण आदि का) आधिक्य है। ये दो जाति की रचनाएँ दो प्रदेशों में हुई थी। पहली अधिकतर अयोध्या, काशी, मगध आदि में और दूसरी कान्यकुब्ज आदि मध्य देश में। सन् ईसवी के बाद एक तीसरी वस्तु का अचानक आविर्भाव होता है। यह अध्यात्मवादी या मोक्षकामी रचनाएँ भी नही है और कर्मकाण्डवादी या स्वर्गकामी भी नही है। इनमे ऐहिकतामूलक सरस कवित्व है। ये उस जाति की रचनाएँ है जिसे अंग्रेजी मे 'सेक्यूलर' कविता कहते है। इसके पूर्व जिन दो प्रकार की रचनाओं की चर्चा है उससे इनमे विशेष अन्तर है। ये पहली रचनाओं की भाँति धारावाहिक रूप मे नही लिखी जाती थी, और किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष के चरित्र को अवलम्बन करके भी नही गायी जाती थी, बल्कि फुटकल श्लोको के रूप में, छोटे-छोटे पद्यो मे ही, अपने-आपमे सम्पूर्ण, अन्य-निरपेक्ष भाव से लिखी जाती थीं। आरम्भ मे ऐसी रचनाएँ प्राकृत भाषा मे लिखी गयी और बाद मे चलकर संस्कृत मे भी लिखी जाने लगी। हमारे इस कथन का यह अर्थ नही समझा जाना चाहिए कि इसके पूर्व समूचे भारतीय साहित्य मे ऐसी कोई रचना रही ही नही होगी जिसे ऐहिकतापरक कहा जा सके; वस्तुत. पण्डितों ने ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा बौद्धों की थेर-गाथा और थेरी-गाथाओं से इस प्रकार के प्रमाण ढूँढ निकाले हैं जिनसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि ऐसी रचनाएँ प्राचीन काल में भी किसी-न-किसी रूप में रही जरूर होंगी, मानव-प्रकृति उन दिनों भी सदा आमुष्मिकता में उलझी रहना पसन्द नही करती होगी। महाभारत में आयी हुई कई प्राचीन कहानियों के सम्बन्ध मे भी पण्डित लोग इसी प्रकार का विचार-पोषण करते हैं। यहाँ हमारे कथन का तात्पर्य यह है कि सन् ईसवी के आरम्भ-काल के आस-पास ऐसी रचनाएँ बहुत अधिक दिखने लगी और उत्तरोत्तर भारतीय साहित्य मे प्रमुख स्थान ग्रहण करने लगी। इनका प्रारम्भ प्राकृत से हुआ। इस प्रकार की कविता का सबसे पुराना संग्रह 'हाल' की 'सत्तसई' या सतसई है। इस ग्रन्थ मे जिस जाति की कविता पायी जाती है वैसी कविता इसके पहले संस्कृत के किसी ग्रन्थ मे नही देखी गयी। इसकी अपनी विशेषता है। प्रत्येक पद्य अपने-आपमें स्वतन्त्र है और आमुष्मिकता की चिन्ता से एकदम मुक्त है। इस ग्रन्थ के समय को लेकर पण्डितों मे काफी मतभेद है। कुछ लोग हाल को सन् ईसवी के प्रथम शतक का मानते हैं और कुछ चौथे-पाँचवें शतक का। जो मत ज्यादा प्रचलित है वह यह कि हाल की सत्तसई (सतसई) मे बहुत से प्रक्षिप्त पद्य है जिनके कारण वह रचना अर्वाचीन-सी लगती है। जैसे अंगारवार (मंगलवार), होरा और राधिका शब्द से सम्बद्ध आर्याएँ। परन्तु अन्ततः साढ़े चार सौ आर्याएँ काफी प्राचीन जान पड़ती हैं। उनका सन् ईसवी के पूर्व की या पर की प्रथम शताब्दी में रचित या संकलित होना असम्भव नहीं है। इस सत्तसई का प्रभाव बाद के संस्कृत-साहित्य पर भी पड़ा और गोवर्धन की आर्या-सप्तशती वस्तुतः उसी के आधार पर लिखी गयी, यद्यपि उसका आधा सौन्दर्य इस संस्कृत सप्तशती मे कम हो गया है। हिन्दी के

प्रसिद्ध कवि विहारीलाल की सतसई भी इस ग्रन्थ से प्रभावित है जो सुकुमारता में अतुलनीय है। सैकड़ों वर्ष से वह रसिकों का हियहार बनी हुई है और जब तक सहृदयता जीती रहेगी तब तक बनी रहेगी।

हाल की सत्तसई में जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं के साथ एक ऐसा निकट सम्बन्ध पाया जाता है जो इसके पूर्ववर्ती सस्कृत-साहित्य मे वहुत कम मिलता है। प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिकों की रसमयी क्रीड़ाएँ और उनका घात-प्रतिघात इस ग्रन्थ में अतिशय जीवन्त रूप में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनों की प्रेमगाथाएँ, ग्राम-वधूटियों की शृंगार-चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुन्दरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन आदि बातें इतनी जीवन्त, इतनी सरस और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट होता है। भारतीय काव्य का आलोचक इस नयी भावधारा को भुला नहीं सकता। यहाँ वह एक अभिनव जगत् में पदार्पण करता है जहाँ आध्यात्मिकता का झमेला नहीं है, कुश और वेदिका का नाम नहीं सुनायी देता, स्वर्ग और अपवर्ग की परवा नही की जाती, इतिहास और पुराण की दुहाई नहीं दी जाती और उन सब बातों को भुला दिया जाता है जिसे पूर्ववर्ती साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। फिर भी यह समझना भूल है कि हाल की सतसई लोक-साहित्य है। उसका स्पिरिट नया है पर भाषागत और भावगत वह सतर्कता इसमें भी है जो सस्कृत कविता की जान है। इस नवीनता का सम्बन्ध जरूर किसी लोक-साहित्य से रहा होगा, पर स्वयं यह 'सत्तसई' लोक-साहित्य नहीं थी। इस नयी धारा का पूर्ण विकास हिन्दी साहित्य में हुआ है, इसीलिए इसके विषय में कुछ अधिक विस्तारपूर्वक आलोचना करने का यहाँ संकल्प किया गया है।

हूणों के साथ ही आभीरगण भी इस देश में आये थे। इनका परिचय भारत-वासियों को पहले से ही था। हूणों की तरह ये लूटपाट करके चलते नहीं बने, बल्कि यहीं बस गये और आगे चलकर बड़े-बड़े राज-स्थापन करने मे समर्थ हो सके। इनकी सरलता, वीरता और सौम्य प्रकृति शीघ्र ही भारतीय साहित्य को प्रभावित करने में समर्थ हुई। शुरू-शुरू मे इन्हें भी हूणों की तरह अत्याचारी समझा गया था, पर बहुत शीघ्र ही भारतवासियों ने इनके प्रति अपनी धारणा बदल ली। इन आभीरों का धर्म-मत भागवत धर्म के साथ मिलकर एक अभिनव वैष्णव-मतवाद के प्रचार का कारण हुआ। अपभ्रंश के प्रसंग मे बताया गया है कि किस प्रकार इन्होंने भाषा और साहित्य को प्रभावित किया था। बहुत पण्डितों का विश्वास है कि प्राकृत और उससे होकर संस्कृत मे जो यह ऐहिकता-परक सरस रचनाएँ आयी उसका कारण आभीरों का ससर्ग था। ये फुटकर कविताएँ, प्रेम-कथाएँ और उनके गृह-चरित्र लोक-साहित्य मे अत्यधिक लोकप्रिय हो गये थे और उनकी शक्ति और सरसता पण्डितों से छिपी नहीं रही। उसने प्रत्यक्ष रूप से प्राकृत और संस्कृत के साहित्य को प्रभावित किया। उसी प्रभाव के फलस्वरूप सस्कृत और प्राकृत में अपने-आपमे स्वतन्त्र ऐहिकता-परक फुटकल पद्यों का

प्रचार हुआ। पर अपभ्रंश में, जो निश्चयपूर्वक पहले आभीरों की और बाद में उनके द्वारा प्रभावित आर्यभाषा थी, उसकी धारा बराबर जारी रही और उन दिनों अपने पूरे वेग में प्रकट हुई जिन दिनों संस्कृत और प्राकृत के साहित्य पहले ही बताये हुए नाना कारणों से लोक-रुचि के लिए स्थान खाली करने लगे थे। हमारा मतलब हिन्दी साहित्य के आविर्भाव-काल से है। यह याद रखना चाहिए कि यहाँ तक आते-आते इसमें अनेकानेक अन्य धाराओं का भी प्रभाव पड़ा होगा और हिन्दी में यह धारा जिस रूप में प्रकट हुई वह मूल अपभ्रंश-धारा से बहुत-कुछ भिन्न हो गयी थी। किन अंशों में भिन्न थी और किन प्रभावों से युक्त थी, यह विचार करने के पहले यह विचार किया जाये कि उस अपभ्रंश कविता में किस प्रकार की रचनाएँ थीं।

परवर्ती-काल की अपभ्रंश रचनाओं से अनुमान होता है कि दो तरह की रचानाएँ इस भाषा में शुरू-शुरू में ही रही होंगी—(1) ऐहिकतापरक फुटकल पद्य और (2) लोकप्रचलित कहानियों के गीतरूप। संसार के समस्त लोक-साहित्य में ये दो प्रकार की रचनाएँ पायी जाती हैं। जाति की संस्कृति और धर्ममत के अनुसार इनके ऊपरी आकार-प्रकारों में परिवर्तन होते हैं। अपभ्रंश की कविताओं के आदिस्वरूप के विषय में विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें आमुष्मिकता की चिन्ता बहुत कम थी।

लोकप्रचलित कहानियों के गीतरूप का प्राचीन संग्रह बहुत कम मिलता है—नहीं मिलता है, कहना ज्यादा ठीक होगा क्योंकि जो कुछ मिलता है उसमें काफी परिवर्तन हो गये हैं। भारतीय लोक-कथाओं की एक विशेषता यह है कि वे सदा किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को आश्रय करके रचित होते हैं, पर ऐतिहासिक घटना-परम्परा का उनमें नितान्त अभाव होता है। कल्पना भारतीय कवि की प्रधान विशेषता है। ऐसा भी तो देखा गया है कि बहुत-से कवि अपने आश्रयदाताओं का जीवन-चरित लिखते समय भी ऐसी बहुत-सी लोकप्रचलित अद्भुत चमत्कारात्मक कहानियाँ उनमें जोड़ देते हैं जो विशुद्ध कल्पना की उपज होती है। बहुत-से इतिहास-लेखक इस भारतीय-परम्परा को ठीक-ठीक नहीं समझ सकने के कारण बहुत-सा व्यर्थ का वाद बढ़ाते हैं और किसी नतीजे पर न पहुँच सकने के कारण अटकल लगाया करते हैं। चन्दबरदाई के 'पृथ्वीराजरासो' में ऐसी बहुत-सी कल्पित घटनाएँ हैं जिनके कारण पृथ्वीराजरासो को केवल जाली ग्रन्थ बताकर ही मौन धारण नहीं किया है, चन्द को जाली कवि भी कहा गया है। नरपति नाल्ह के 'बीसलदेवरासो' की घटनाओं ने भी इसी प्रकार पाण्डित्यगत झमेलों को खड़ा किया है। जायसी के 'पद्मावत' में वर्णित अलाउद्दीन और भीमसिंह तथा पद्मावती और सिंहलद्वीप आदि की घटनाओं ने पण्डितों को बहुत दिन तक उलझा रखा था और बड़े-बड़े विद्वानों को सिर खपा-खपाकर यह सिद्ध करना पड़ा है कि इतिहास की दृष्टि में ये बातें निराधार हैं। वस्तुतः इन काव्य-ग्रन्थों में बहुत-सी लोकप्रचलित गाथाएँ भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से जोड़ दी गयी

हैं। उस युग के कवि लोग भी इसमें कोई अनौचित्य नहीं देखते थे और आश्रयदाता लोग भी इसमें कोई दोष नहीं देखते थे। वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदासजी ने जब रामायण में लिखा था कि 'कीन्हें प्राकृत-जन-गुन-गाना। सिर-धुनि गिरा लागि पछिताना।' तो उनका मतलब केवल राजाओं या आश्रयदाताओं के गुन-गान से ही नहीं था बल्कि लोक-कथानकों से भी था। यह वक्तव्य ही बतलाता है कि उन दिनों लोकप्रचलित कथानकों को आश्रय करके बहुत ग्रन्थ लिखे जा रहे थे। गोस्वामीजी का शक्तिशाली 'रामचरितमानस' जहाँ हिन्दी साहित्य को अक्षय्य मधु से आप्लावित कर सका वहाँ उसने एक बड़ा भारी अपकार भी किया। वे सारे 'प्राकृत-जन-गुन-गान' मूलक काव्य सदा के लिए लुप्त हो गये। जिस समाज में रामायण का प्रभाव नहीं पड़ सका उस मुसलमानी समाज की ही कृपा से मुसलमान कवियों की लिखी हुई कुछ प्रेम-गाथाएँ उपलब्ध हुई हैं। पद्मावत से ही पता चलता है कि उस जमाने में सपनावती, मुगधावती, मिरगावती, मधुमालती, प्रेमावती आदि की कथाएँ लोक में प्रचलित थीं। इनमें मृगावती और मधुमालती की कहानियों को आश्रय करके लिखे हुए दो ग्रन्थ (पहला कुतुबन का और दूसरा मझन का) मिल भी चुके हैं। ऐसी और अनेक कहानियाँ भी लोक-भाषा में प्रचलित रही होंगी और उन पर ग्रन्थ भी लिखे गये होंगे,—कम-से-कम उनको आश्रय करके बनायी हुई गीतियों से ग्रामीण जनता अवकाश के समय मनोरंजन तो जरूर करती होगी,—परन्तु उनमें का अधिकांश अब लुप्त हो गया है। हिन्दी साहित्य में इन कहानियों को आश्रय करके लिखी हुई दो प्रकार की गाथाओं का प्रचार पाया जाता है: (1) पहली वे है जो पश्चिमी आर्यों में प्रचलित थीं; इनमें ऐतिहासिक, संघर्षमय जीवन की झलक है और (2) दूसरी वे है जो पूर्वी आर्यों में प्रचलित थीं; इनमें आध्यात्मिकताप्रवण रूपकों और भाव-प्रवण घटनाओं का उल्लेख है। ये दोनों ही स्वाभाविक भाव से विकसित हुई हैं। उन्हीं को हिन्दी साहित्य के प्रवीण पण्डितों ने क्रमशः वीर-गाथा और प्रेम-गाथा नाम दिया है। दूसरी जाति की गाथाओं या कथानकों में जो मुसलमान कवियों की लिखी हुई है या यों कहिए कि जो उन हिन्दुओं की लिखी हुई है जो किसी कारणवश एकाध पुश्त से ही मुसलमान हो गये थे पर जिनमें हिन्दू संस्कार पूरी मात्रा में थे—उनमें सूफी मत का प्रभाव भी पाया जाता है, ये दोनों प्रकार की रचनाएँ हिन्दी साहित्य में वर्तमान हैं और जो लोग अपभ्रंश के साहित्य में प्रतिबिम्बित भारतीय समाज को देखना चाहते हैं उनके लिए ये नितान्त आवश्यक हैं। बिना किसी प्रकार के प्रतिवाद की आशंका के जोर देकर कहा जा सकता है कि मध्य-काल के आरम्भ के अन्धकारयुगीन भारतीय जीवन को इतनी सजीवता से अभिव्यक्त कर सकने का कोई दूसरा साधन नहीं है। नाना प्रकार की लोकचिन्ताओं के सम्मिश्रण का जो अध्ययन करना चाहते हैं उन्हें इस वीर-गाथा और प्रेम-गाथा के साहित्य को अध्ययन करने को निमन्त्रित करता हूँ। इससे अधिक सरस, अधिक स्फूर्तिदायक और लोक-जीवन को समझने में अधिक सहायक साहित्य को मैं नहीं जानता।

परन्तु इस लोक-भाषा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग जिसने कि शीघ्र ही शास्त्रपन्थी पण्डितों को भी आकृष्ट किया वह उसका पहला अंग था। अलंकार-शास्त्र में उत्तम कविता के उदाहरणों में प्राकृत के और संस्कृत के ऐसे सैकड़ों सरस श्लोक उद्धृत किये गये हैं। संस्कृत के सुभाषित-संग्रहों में भी ऐसे अनेक रत्न सुरक्षित हैं। इस जाति की रचनाओं ने संस्कृत और विशेष रूप से प्राकृत साहित्य को एक अभिनव समृद्धि से सम्पन्न किया है। यदि अलंकार-शास्त्र के आदिग्रन्थों की छानबीन की जाय तो स्पष्ट ही पता चलता है कि आरम्भ में दो अत्यन्त स्पष्ट धाराएँ इस शास्त्र की मौजूद थीं जो आगे चलकर एक में मिल गयीं। एक प्रकार की शास्त्रीय चिन्ता नाट्य-शास्त्र के रूप में प्रकट हुई थी जिसका प्रधान प्रतिपाद्य रस था। दूसरी चिन्ता अलंकार-शास्त्र के रूप में प्रकट हुई जिसका प्रधान विवेच्य विषय अलंकार थे। नाट्य-शास्त्र के प्रधान विवेचनीय ग्रन्थ नाटक थे और अलंकार-शास्त्र के फुटकल पद्य। आगे चलकर दोनों धाराएँ एक में मिल गयीं और यह माना जाने लगा कि फुटकल पद्यों में भी रस-विवेचन उतना ही आवश्यक है जितना नाटक या प्रबन्धकाव्य में। इन दो सम्प्रदाओं को एकत्र करने का काम आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिष्ठित ध्वनि-सम्प्रदाय के पण्डितों ने किया। आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आलंकारिक रस-विवेचना को उतना महत्त्व नहीं देना चाहते। यह आलंकारिक सम्प्रदाय निश्चय ही नाट्य-सूत्रों के बाद का है। नट-सूत्रों का ज्ञान पाणिनि को भी था। भरत के जिस नाट्य-शास्त्र का परिचय हमें आज प्राप्त है उसका मूल रूप कैसा था, यह कहना कठिन है। पर इसमें कुछ थोड़े से अलंकारों की प्रसंगवश चर्चा है। इससे इतना सिद्ध हो जाता है कि भारतीय नाट्य-शास्त्र के वर्तमान रूप को पहुँचने के पूर्व अलंकार-शास्त्र कुछ-न-कुछ रूप धारण कर चुका था, परन्तु वह अत्यन्त बचपन की अवस्था में था। सन् 150-52 ई. का एक शिलालेख गिरिनार में पाया गया है जिसे महाक्षत्रप रुद्रदामा ने खुदवाया था। इस गद्यकाव्यात्मक शिलालेख में अलंकार-शास्त्र का स्पष्ट उल्लेख है और विद्वान् लोग इस शिलालेख में इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि अन्ततः उस समय तक अलंकार-शास्त्र के कुछ ग्रन्थ जरूर बन गये होंगे। यह ध्यान देने की बात है कि उस समय तक हाल की सतसई लिखी जा चुकी थी और एक सम्पूर्ण अभिनव भावधारा का सम्मिश्रण भारतीय साहित्य में हो गया था। अगर यह मत ठीक हो कि पहले काव्य की रचना हो लेती है तब अलंकार-शास्त्र की रचना होती, ।
पड़ेगा कि अपने-आपमें स्वतन्त्र फुटकल पद्य की प्रथा इन [illegible]

[illegible] एक बहुत ही [illegible] [illegible] केवल काव्य का विवेचन ही नहीं [illegible] भी कर [illegible] काव्य-विवेचन के [illegible] कवि लोग कविता लिखने लगे और वे काव्य [illegible] मार्यादि, और [illegible] के लिखे हुए [illegible] [illegible] वर्गिन') कहते थे, निःसन्दुर्वक इन अभिनवसाला द्वारा [illegible] आविर्भाव-काल में भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है। [illegible] लिकता-प्रवन कथानक-काव्यों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है [illegible] और रसों को दृष्टि में रखकर कवित्व-कौशल दिखाने की प्रवृत्ति है।

परन्तु यह प्रवृत्ति बहुत ही शक्तिशाली (और बहुत [illegible]) रूप में हिन्दी की रीतिकालीन कविता में प्रकट हुई। इन दिनों [illegible] कर साफ हो गयी थी और कोमल-से-कोमल भाव [illegible] रखती थी। इन दिनों उक्त प्रवृत्ति का चरम विकास हुआ। [illegible] फुटकल पद्यों की ऐसी भरमार समूचे भारतीय साहित्य में [illegible] मिली है और यद्यपि अधिकांशतः ये पहले लक्षणों को देखकर [illegible] रख लिखे गये थे, फिर भी इनमें उत्तम पद्यों की संख्या इतनी अधिक है [illegible] रामचन्द्र शुक्ल-जैसे शास्त्रनिष्ठ और दाद देने में [illegible] कहने में कोई संकोच नहीं हुआ है कि "ऐसे सरस और मनोहर [illegible] के सारे लक्षण ग्रन्थों में चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी [illegible] होगी।" दो प्रकार से इस प्रकार के सरस पद्यों की रचना [illegible] पहले अलंकारों के लक्षणों पर से कवित्त [illegible] निरूपण के एक अत्यन्त सामान्य, पर महत्त्वपूर्ण [illegible] उपभेदों की सृष्टि करके और उनके लक्षणों पर [illegible] दूसरी बात की ओर कवियों की प्रवृत्ति [illegible] जिन पद्यों ने एक अलग शास्त्र की रचना [illegible] उसी शास्त्र ने लोक-भाषा को [illegible]।

करने का बहाना ढूंढ निकालते थे। फिर भी इस युग में ऐसे बहुत-से स्वतन्त्र भाव से लिखनेवाले कवि भी थे, परन्तु उन पर रीति-ग्रन्थों का प्रभाव सुस्पष्ट है।

लेकिन इस युग की कविता को विशिष्ट रूप देने के लिए यही सब-कुछ नहीं था। अर्थात् केवल लोक-भाषा से प्रभावित और बाद में सम्पूर्ण भाव से वैज्ञानिक विवेचना का रूप ग्रहण किया हुआ अलंकार-शास्त्र ही इस युग के (रीति-काल के) कवित्व को रूप नहीं दे रहा था, कुछ और उपादान भी काम कर रहे थे। यह लक्ष्य करने की बात है कि रीति-काल की समूची रूढ़ियाँ और कवि-प्रसिद्धियाँ वही नहीं थीं जो प्राचीन संस्कृत-काव्यों में मिलती हैं। इनमें बहुत-कुछ नयी थीं और बहुत-सी पुरानी भुला दी गयी थीं। स्त्री-रूप के उपमानों से बहुत-से भुला दिये गये और पुरुष-रूप को अत्यन्त कम महत्त्व दिया गया। एक नयी बात जो इस युग की कविता में दिखायी पड़ी वह यह है कि प्रायः सभी शृंगारात्मक उत्तम पद्यों का विषय श्रीकृष्ण और गोपियों का प्रेम है; उन्हीं की केलि-कथाएँ, उन्हीं की अभिसार-लीलाएँ और उन्हीं की वंशीप्रीति आदि। बिहारीलाल की प्रसिद्ध सतसई जो संसार के शृंगार-साहित्य का भूषण है, ऐसे गोपी-गोपाल की प्रेम-लीलाओं से ही भरी है। इस काल की कविता में यह बात इतनी अधिकता से पायी जाती है कि कभी-कभी आधुनिक युग का आलोचक बुरी तरह से इन कवियों पर बिगड़ खड़ा होता है। कभी-कभी इन्हें गन्दगी की नाली बहानेवाले, भगवान् के नाम पर कलंक प्रचार करनेवाले आदि भी कहा गया है, फिर भी इस विषय में दो मत नहीं कि ऐसा लिखनेवाले कवि काफी ईमानदार थे। वे सचमुच विचार करते थे कि, :

"राधा मोहनलाल की जिन्हें न भावत नेह।
परियो मुठी हजार दस, तिनकी आँखिन खेह॥"—मतिराम

इस विषय को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें एक और प्राचीन भारतीय परम्परा की जानकारी आवश्यक है। भारतीय साहित्य की यह शाखा अत्यधिक सम्पन्न है और इसमें इतना अधिक कवित्व है कि इसका विषय अलग होने पर भी यह काव्य के विवेचक की दृष्टि से बच नहीं सकती। यह शाखा स्तोत्रों के साहित्य की है। रामायण और महाभारत में ही स्तोत्रों की संख्या काफी है। पर सन् ईसवी के बाद के संस्कृत-साहित्य में इनकी संख्या बहुत बढ़ गयी थी। सबसे पुराना स्तोत्र जो कवित्व की दृष्टि से विवेचनीय माना जा सकता है, बाण का 'चण्डी-शतक' है, फिर मयूर का 'सूर्य-शतक' है; शंकराचार्य की विविध देवताओं की स्तुति आदि हैं। ऐसा जान पड़ता है कि आभीरों के आने और उनके धर्म विश्वासों के सम्मिश्रण से भागवत धर्म का जो वैष्णव रूप बाद में चलकर इतना शक्तिशाली हो उठा वह जब तक भागवत धर्म के सम्पर्क में नहीं आया था तब तक भीतर-ही-भीतर लोक-भाषा को और उसके द्वारा शास्त्रीय कवित्व को प्रभावित कर रहा था। इसके पहले हम देख चुके हैं कि हाल की सत्तसई में अहीर और अहीरिनों के प्रेम की लीलाओं का परिचय मिलता है। लोक-भाषा में इन गोप-गोपियों की प्रेम-लीलाओं का और भी प्रचार रहा होगा। किसी-किसी प्रदेश के ग्राम-गीतों से इस

मत की पुष्टि भी हुई है। परन्तु एक बार भागवत धर्म का आश्रय पा लेने के बाद यह अन्तर्निहित लोक-काव्य प्रचुर मात्रा में शास्त्र-प्रभावित काव्य में भी आने लगा होगा। राधा और श्रीकृष्ण के परम दैवत स्वीकृत होने से इस क्रिया में कोई बाधा नहीं पड़ी होगी। भारतीय स्तोत्रों के कवि भक्तिगद्गद भाव से भी जब कविता करते थे तो शिव, दुर्गा, विष्णु आदि देवी-देवताओं की शृंगार-लीला के वर्णन करने में कभी कुण्ठित नहीं होते थे। यह समझना गलत है कि केवल राधा-कृष्ण ही एक ही साथ उपास्य और शृंगार-लीला के आश्रय माने गये; चण्डी, लक्ष्मी, सरस्वती, गंगा, शिव, विष्णु आदि सभी देवताओं के स्तोत्रों में उनकी शृंगार-चेष्टाओं का भूरिशः उल्लेख है। यह जरूर है कि श्रीकृष्ण और गोपियों की सारी कथाएँ शृंगार-चेष्टा की कथाएँ हैं और इसीलिए इनकी स्तुतियों में इसी की प्रधानता हो गयी है।

प्राकृत और अपभ्रंश में तो बहुत प्राचीन काल से ही गोपियों के साथ गोपाल (यह गोपाल सदा कृष्ण नहीं हुआ करते थे) के प्रेम की चर्चा है, पर संस्कृत में इसका सर्व-प्राचीन उल्लेख आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के एक उदाहरण में ही पाया जाता है।[1] बाद में ग्यारहवीं शताब्दी में लीलाशुक के कृष्ण-कर्णामृत की रचना हुई। अपनी सरसता और तन्मय भावना के कारण यह ग्रन्थ सारे भारतवर्ष में शीघ्र ही फैल गया। उसके बाद ही जयदेव कवि के गीत-गोविन्द में यह भाव-प्रवण कवित्व अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा हुआ पाया जाता है। इसके बाद विद्यापति, चण्डीदास और सूरदास की रचनाओं में, जो लोक-भाषा में लिखित हैं, राधा-कृष्ण और अन्य गोपियों की प्रेम-लीलाएँ सम्पूर्ण विकसित रूप में पायी जाती हैं। इसके पूर्व निश्चय ही लोक-मुख में ऐसी अनेक गीतियाँ काफी प्रचलित रही होंगी। वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ-ही-साथ ये लोक-गीतियाँ शास्त्रसिद्ध आचार्यों द्वारा परिष्कृत की गयी होंगी। यह ध्यान देने की बात है कि बंगाल के चैतन्यदेव के शिष्यों ने, जिनमें मुख्य रूप-सनातन और जीव-गोस्वामी हैं, इन लीलाओं को सूक्ष्म रूप दिया था। इन्हीं ग्रन्थों में पहले-पहल अलंकारों और नायिकाओं के विवेचन के लिए राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं को उदाहरण के रूप में सजाया गया। नाट्य-शास्त्रीय रस-विवेचना के अन्यान्य अंगों की उपेक्षा करके केवल नायिकाओं का वर्गीकरण इस उद्देश्य से किया गया था कि गोपियों की विभिन्न प्रकृति के साथ रसराज श्रीकृष्ण के प्रेम-भाव के विविध रूपों को दिखाया जा सके। इस प्रकार लोक-भाषा का यह रूप, जो बहुत दिनों तक भीतर-ही-भीतर पक रहा था, शास्त्र की उँगली पकड़कर अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा। हिन्दी में वह अपने गीत-रूप में स्वतन्त्र होकर विकसित हो सका, अर्थात् अपने प्राचीन फुटकल पद्य-रूप में भी विकसित हुआ।

1. तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहः साक्षिणाम् ।
क्षेमं भद्र कलिन्दराजतनयातीरे लतावेश्मनाम् ॥ इत्यादि ।

यद्यपि गौड़ीय वैष्णवों ने कुछ पहले से ही नायिकाओं का इस प्रकार वर्गीकरण किया था कि उसके बहाने गोपी और गोपाल की लोक-कथाएँ गायी जा सकें, परन्तु उसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी के रीति-काल पर नहीं पड़ा। उज्ज्वल नीलमणि के साथ रीति-कालीन कवियों के लिखे हुए नायिका-भेद के ग्रन्थों की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। यह तो निश्चित है कि गौड़ीय वैष्णव मतवाद का प्रभाव व्रज के भक्तों पर पड़ा था, कई भक्तों ने उनसे प्रभावित होकर तद्भावभावित भजन भी गाये थे, एकाध ने नये सम्प्रदाय भी चलाये थे, परन्तु रीति-काल पर उनके वर्गीकरण और विवेचना का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता; यहाँ तक कि दोनों के कण्ठस्वर भी एक-से नहीं।[1] उज्ज्वल नीलमणि में पहली बार उज्ज्वल रस का आस्वादयिता भक्त माना गया है, समस्त अलंकार और रस-ग्रन्थों में पुनः-पुनः निर्दिष्ट 'सहृदय' नहीं। इसमें भक्ति को भी एक रस माना गया है। हिन्दी के रीति-कालीन आलंकारिकों (या कवियों) में से किसी-किसी ने भक्ति को दसवाँ रस माना जरूर है पर श्रोता उनके सहृदय और सुकवि ही हैं। उनके रीझने पर ही कवि अपनी रचना को सफल काव्य मानने को तैयार है, नहीं तो, अगर वे न रीझे तो बाद में वह सन्तोष कर लेगा कि चलो कविता नहीं तो न सही, राधा-कृष्ण का सुमिरन तो हो ही गया!—

रीझिहैं सुकवि जो तो जानौ कविताई
न तो राधिका-गुविन्द सुमिरन को बहानौ है।

परन्तु रीति-काल के कवियों ने रस का निरूपण बिल्कुल प्राचीन रस-शास्त्रियों की शैली पर किया है। शायद ही किसी कवि ने उज्ज्वल नीलमणि के अनुकरण पर 363 प्रकार की भिन्न-भिन्न स्वभाव और नामवाली गोपियों की चर्चा की हो। उज्ज्वल नीलमणि में गोपियों के स्वभाव और वस्त्राभूषण आदि के बारे में विस्तृत वर्णन है। कुछ गोपियाँ प्रखर स्वभाव की थीं, जैसे श्यामला, मंगला आदि। श्रीराधा और पाली आदि कुछ गोपियाँ मध्यम और चन्द्रावली आदि मृदु स्वभाव की थीं। इनमें भी स्वपक्षा, सुहृत्पक्षा, तटस्थपक्षा और प्रतिपक्षा ये चार भेद हैं। इनमें

1. रीति-काल की कविता का कण्ठस्वर पश्चिमी अपभ्रंश से अधिक मिलता-जुलता है। बिहारी आदि की कविताओं में तो भाषा-भाव-भंगी सब-कुछ उन्हीं से मिलती है। कभी-कभी बिहारी के समालोचकों ने ऐसे भाव बिहारी में पाये हैं जो उनके मत से मुसलमानी संसर्ग के फल हैं। वियोग-ताप से गुलाब की सीसी का फूटना या दृष्टि का हृदय बेधकर मार डालना, ऐसी ही उक्तियाँ बतायी गयी हैं। यह स्पष्ट ही अतिरंजना है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश के प्रकरण में इन भावों के दोहे आये हैं जो बिहारी के निश्चित रूप से मार्गदर्शक होंगे। दो ऐसे ही पद्य यहाँ दिये जाते हैं :

बिट्टीए मइ भणिय तुहुं, मा कुरु बङ्की दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिव, मारइ हिअइ पइट्ठि॥
धुडुक्कउ धुण्णी होईसइ, मुद्धि कवोलि निहित्तउ।
सासानल झाल झलक्किअउ, बाह सलिल संसित्तउ॥

कुछ वामा हैं, कुछ दक्षिणा हैं। श्रीराधिका की स्वपक्षा ललिता और विशाखा थीं। सुहृत्पक्षा श्यामला, तटस्थपक्षा भद्रा और प्रतिपक्षा चन्द्रावली थी। श्रीमती राधा वामा-मध्या थी, कभी नील-वस्त्र धारण करती, कभी लाल। ललिता प्रखरा थी, और मयूर-पुच्छ-जैसा वस्त्र धारण करती थी। विशाखा वामा-मध्या थी और तारावली-खचित वस्त्र पसन्द करती थी। इन्दुलेखा वामा-प्रखरा और अरुणवस्त्रा थीं। रगदेवी और सुदेवी वामा-मध्या और नील-वस्त्रा, चित्रा दक्षिणा, मृद्वी और नील-वसना; तुंग-विद्या, दक्षिणा-प्रखरा और शुक्ल-वस्त्रा; श्यामदा वामा-दाक्षिण्य-युक्त-प्रखरा और रक्त-वस्त्रा; भद्रा दक्षिणा मृद्वी और चित्र-वसना तथा चन्द्रावली दक्षिणा, मृद्वी और नील-वसना थीं। इनकी सखी पद्मा दक्षिणा और प्रखरा तथा शैव्या दक्षिणा और मृद्वी थी। ये सभी रक्त-वस्त्र धारण करती थीं। इस प्रकार उज्ज्वल नीलमणि ने गोपियो की बड़ी विस्तृत सूची दी है। सबके स्वभाव, वस्त्र और व्यवहार-भंगी को निपुण भाव से चित्रित किया गया है। परन्तु रीति-काल के किसी कवि ने इन गोपियो मे से अधिकांश का नाम शायद ही लिया हो। भूले-भटके क्वचित् कदाचित् ललिता, विशाखा और चन्द्रावली का नाम आ जाता है। राधिका इस स्थान पर निश्चयपूर्वक प्रधान स्थान ग्रहण करती हैं। समूचे रीति-काल के साहित्य मे गोपियों की स्वपक्षता, सुहृत्पक्षता और तटस्थता की चर्चा नहीं आती।

इन विविध नायिकाओं और उनकी दूतियों तथा उनके अंगज (अर्थात् भाव, हाव, हेला), अयत्नज (अर्थात् शोभा, कान्ति, माधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य) तथा स्वभावज (लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित और विहृत) अलंकारो तथा विविध सचार्यादि भावो का आश्रय करके कवियों ने बहुत-कुछ लिखा, पर सर्वत्र वे प्राचीन ग्रन्थो से चालित हो रहे थे। अत्यन्त पुराकाल में नाट्य-शास्त्र मे जो कुछ इस विषय मे कहा गया था और बाद मे दशरूपक और साहित्य-दर्पणादि ग्रन्थो में उसी के अनुवाद के रूप मे जो कुछ कहा गया था उससे अधिक किसी ने नही लिखा। इस प्रकार समूचा नायिका-भेद का साहित्य नाट्यशास्त्र के एक सामान्य अग पर लोकगम्य भाष्य के सिवा और कुछ नही है। परन्तु सस्कृत के नाटकों और काव्यों को केवल भरत या धनंजय के नायिका-भेद चालित नही कर रहे थे। उनके सामने एक और भी इतना ही महत्त्वपूर्ण शास्त्र था जो प्रत्यक्ष रूप से उनकी कृतियो का सयमन कर रहा था।

यह शास्त्र है वात्स्यायन का 'कामसूत्र'। यह तो नही कहा जा सकता कि वात्स्यायन का काल क्या था, पर इतना निश्चित है कि इस ग्रन्थ के बनने के बहुत पहले से भारतवर्ष की साम्पत्तिक अवस्था और राजकीय व्यवस्था बहुत ऊँचे दर्जे की रही होगी। कालिदास के ग्रन्थों से पण्डितों ने ऐसे प्रमाण ढूँढ निकालने के प्रयत्न किये है कि उक्त कवि को कामसूत्र का ज्ञान था। वात्स्यायन का बताया हुआ नागरक या रसिक अत्यन्त समृद्ध विलासी हुआ करता था। उसके पास

प्रचुर सम्पत्ति, पर्याप्त अवकाश, अकल्पनीय निश्चिन्तता होती थी। ऐसे विलासियों की सम्भावना उसी समय हो सकती है जब देश धन-धान्य से समृद्ध और सुरक्षित हो। अनुमानतः कामसूत्र का काल सन् ईसवी की दूसरी शताब्दी के आस-पास होना चाहिए। वात्स्यायन ने अपने पूर्ववर्ती अनेक विस्तृत कामशास्त्रों का सार सकलन करके यह ग्रन्थ लिखा था। इसमें युवा-युवतियों की बहुविध शृंगार-चेष्टाओं का केवल वर्णन ही नहीं दिया गया है, मर्यादा भी बाँध दी गयी है। किस स्त्री के साथ किस पुरुष का कैसा व्यवहार साधुजनोचित है और कैसा ग्राम्य और अभद्रजनोचित, इसकी भी मर्यादा इस ग्रन्थ मे बतायी गयी है। नायक-नायिकाओं की शृगार-चेष्टाओ मे, दैनिक जीवन मे, आहार-शयन-भोजन में, एक विशेष प्रकार के शिष्टाचार की धारणा कवियों ने इसी ग्रन्थ के आधार पर बनायी थी। देश की अवस्था बदलती गयी। नागरक-नागरिकाओ की स्थिति भी निश्चित ही परिवर्त्तित होती गयी होगी, परन्तु कामशास्त्रीय मर्यादा ज्यों-की-त्यों ही बनी रही। सस्कृत के अन्यान्य काव्य-ग्रन्थों की तरह कामसूत्र का सामाजिक वर्णन काल्पनिक नही जान पड़ता। वास्तव में ही उन दिनों उस प्रकार की अवस्था रही होगी। अवस्था-परिवर्त्तन के साथ-ही-साथ यह अनुभव किया जाने लगा कि कामसूत्र अपने विशुद्ध रूप मे नागरो के काम का नही हो सकता, इसलिए उसके अनावश्यक अग छाँटकर केवल काम की चीजों का आश्रय करके बहुत-से ग्रन्थ लिखे गये। कालान्तर में यही बाद के लिखे गये ग्रन्थ मध्यकाल की सामाजिक अवस्था के अनुकूल बनाकर हिन्दी में ग्रथित हुए। ये उत्तर-कालीन ग्रन्थ ही रीति-कालीन कवि के आदर्श थे। नायिका-भेद मे नायक-नायिकाओं के व्यवहार, कथोपकथन, शृगारचेष्टा और दैनिक कार्य-समूह इन्हीं ग्रन्थो से चालित हो रहे थे। यहाँ तक आकर नागर का वह पुराना आदर्श (उसका अतिरिक्त विलासमय जीवन) घिस-घिसकर साधारण गृहस्थ के रूप मे परिणत हो गया था। इस प्रकार एक तरफ नायिका-भेद का विषय जहाँ नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थों से लिया गया वहाँ उसका व्यावहारिक अंग कामशास्त्रीय-ग्रन्थो से अनुप्राणित था। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि रीति-काल का कवि केवल नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र की रटन्त विद्या का जानकार था। यह स्पष्ट करके समझ लेना चाहिए कि रीतिकाल मे लक्षण-ग्रन्थो की भरमार होने पर भी वह उस प्राचीन लोक-भाषा के साहित्य का ही विकास था जो कभी संस्कृत साहित्य को अत्यधिक प्रभावित कर सका था। इस विशेष काल मे जब कि शास्त्र-चिन्ता लोक-चिन्ता का रूप धारण करने लगी थी, वह पुरानी लौकिकता-परक लोक-काव्य-धारा शास्त्रीय मत के साथ मिलकर देखते-देखते विशाल रूप ग्रहण कर गयी। कवियों ने दुनिया को अपनी आँखो से देखने का कार्य बन्द नही कर दिया। नायिका-भेद की संकीर्ण सीमा में जितना लोकचित्र आ सकता था, इस काल का उतना चित्र निश्चय ही विश्वसनीय और मनोरम है। इतना दोष जरूर है कि यह चित्र असम्पूर्ण और विच्छिन्न है। शास्त्र-मत की प्रधानता ने इस काल के कवियो को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना-शक्ति के

प्रति अतिरिक्त सावधान बना दिया, उन्होंने शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अपने मत को गौण मान लिया, इसलिए स्वाधीन चिन्ता के प्रति एक अवज्ञा का भाव आ गया। यह भाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और वही इस युग में सबसे अधिक खतरनाक बात थी।

उपसंहार

[1]

समूचे भारतीय प्राचीन साहित्य को दो मोटे-मोटे विभागों में बाँट लिया जा सकता है; एक को साधारण भाव से वैदिक साहित्य और दूसरे को लौकिक साहित्य कह सकते हैं। इतिहास के अध्येता के लिए इन दोनो विभागो के बीच लकीर खीचने में विशेष संकोच नही करना पड़ेगा। शुरू से लेकर तूरानियन आक्रमण तक वैदिक साहित्य की एक अविच्छिन्न धारा स्पष्ट ही मालूम पड़ती है। तूरानियन आक्रमण के बाद भारतवर्ष के दो-सौ वर्ष का इतिहास अन्धकाराच्छन्न है। यह वही काल है जिसे विंसेण्ट स्मिथ ने 'डार्क एज' या तिमिरावृत युग नाम दिया है। सुप्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय जायसवालजी के उद्योग से इस युग के राजनीतिक इतिहास पर एक हल्का-सा आलोक पहुँचा जरूर है; पर इस विषय में दो मत नही हो सकते कि यह युग भारतीय इतिहास में सबसे कम परिचित है। साहित्यिक-दृष्टि से भी यह युग एक तरह से अन्धकार में ही है। सन् ईसवी की पहली से तीसरी शताब्दी तक का साहित्य का विद्यार्थी सहज ही उसे दो बड़े-बड़े हिस्सों में बाँट ले सकता है। पहले भाग की रचनाएँ निश्चयपूर्वक दूसरे विभाग की रचनाओं से भिन्न कोटि की है। यद्यपि साहित्यिक विभागो का नाम देना कभी निर्दोष नही होता, पर काम चलाने के लिए कुछ नाम रख लेना आवश्यक होता है। इस अध्याय में हमने पहले भाग का नाम वैदिक साहित्य और दूसरे का लौकिक रख लिया है। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, बौद्ध-ग्रन्थ, जैन-आगम और सूत्र-साहित्य शामिल हैं और लौकिक साहित्य में परवर्ती युग के काव्य, नाटक, आख्यायिका आदि हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि पूर्ववर्ती साहित्य में केवल रस-सृष्टि के लिए या लोक-रंजन के लिए कुछ भी नही लिखा गया, परवर्त्ती साहित्य में जिसे काव्य कहते है, वह वस्तु उसमे नही है। एक खास विषय को सामने रखकर, एक खास उद्देश्य से पूर्ववर्ती साहित्य रचित हुआ था। फिर भी, यह नहीं समझना चाहिए

कि उस युग में 'कवि' शब्द से द्योत्य तत्त्व बिल्कुल सोचा ही नहीं गया। पण्डितों ने देखा है ऋग्वेद में पाया जानेवाला 'कारु' शब्द कवि का ही वाचक है। कहते हैं कि इस बात का प्रमाण ऋग्वेद से ही पाया जा सकता है कि कवि (कारु) वैद्य की ही तरह एक पेशेवर आदमी होता था (ऋ. 9-112-3)। इतना ही नहीं, वह राजाओं और धन-सम्पन्न व्यक्तियों के दरबार में भी रहता था और उनकी कीर्त्ति-गाथा का गान भी करता था (7-73-1)। लेकिन वह सब अनुमान ही अनुमान है। जिन मन्त्रों को लेकर यह बातें सोची गयी हैं, उनमें कवि शब्द आता ही नहीं। 'कवि' शब्द समस्त वैदिक साहित्य में उसी गौरव और आदर के साथ प्रयुक्त हुआ है जिसके साथ 'ऋषि' शब्द। ऋग्वेद से ही ऐसे बीसियों मन्त्र उद्धृत कर दिये जा सकते हैं जहाँ सूक्त-रचयिताओं को ऋषि और कवि कहा गया है। इतना ही नहीं, 'कवि' शब्द से कभी-कभी सृष्टिकर्त्ता को भी स्मरण किया गया है।

सन् 1882 में सिविल सर्विस के अँगरेज परीक्षार्थियों के सामने व्याख्यान देते हुए प्रो. मैक्समूलर ने इस वैदिक साहित्य का एक शब्द में बड़ा सुन्दर परिचय दिया था, वह शब्द है अतीत, परे—Transcendent, Beyond! "उससे इस सान्त जगत् की बात कहो, वह कहेगा अनन्त के बिना सान्त जगत् निरर्थक है, असम्भव है। उससे मृत्यु की बात कहो, वह इसे जन्म कह देगा। उससे काल की बात कहो, वह इसे सनातन तत्त्व की छाया बता देगा। हमारे (यूरोपियनों के) निकट इन्द्रिय साधन हैं, शस्त्र हैं, ज्ञानप्राप्ति के शक्तिशाली इंजन हैं, किन्तु उसके (वैदिक युग के कवि के) लिए अगर सचमुच धोखा देनेवाले नहीं तो कम-से-कम सदा ही जबर्दस्त बन्धन हैं, आत्मा की स्वरूपोपलब्धि में बाधक हैं। हमारे लिए यह पृथ्वी, यह आकाश, यह जीवन, यह जो हम देख सकते हैं और हम छू सकते हैं, और जो हम सुन सकते हैं, निश्चित है, ध्रुव है; हम समझते हैं, यही हमारा घर है, यहीं हमें कर्त्तव्य करना है, यहीं हमें सुख-सुविधा प्राप्त है; लेकिन उसके लिए यह पृथ्वी एक ऐसी चीज है जो किसी समय नहीं थी, और ऐसा भी समय आवेगा जब यह नहीं रहेगी; यह जीवन एक छोटा-सा सपना है जिससे शीघ्र ही हमारा छुटकारा हो जायगा। हम जाग जायँगे। जो वस्तु औरों के निकट नितान्त सत्य है, उससे अधिक असत्य उसके निकट और कुछ है ही नहीं और जहाँ तक उसके घर का सम्बन्ध है, वह निश्चित जानता है कि वह और चाहे जहाँ कहीं भी हो, इस दुनिया में नहीं है।"

सन् ईसवी के आरम्भ में यह विचार भारतीय समाज में निश्चित सत्य के रूप में स्वीकार कर लिये गये थे, उसमें विचिकित्सा का भाव एकदम जाता रहा था। जो कुछ इस जगत् में दृष्ट हो रहा है उसका एक अदृष्ट कारण है, यह बात निस्सन्दिग्ध मान ली गयी थी। जन्मान्तर-व्यवस्था और कर्मफलवाद के सिद्धान्त ने ऐसी जबर्दस्त जड़ जमा ली थी कि परवर्ती युग के कवियों और मनीषियों के चित्त में इस जागतिक व्यवस्था के प्रति भूल में भी असन्तोष का आभास नहीं

मिलता। जो कुछ जगत् में हो रहा है, उसका एक निश्चित कारण है, उसमे प्रश्न करने और सन्देह करने की जगह ही नही। कवि एक शान्तिमय जगत् मे निवास करते थे; उसमें दुःख भी कष्ट भी, हास्य भी क्रन्दन भी, एक सामजस्यपूर्ण व्यवस्था का परिणाम समझा जाता था। कवि इन बातो से विचलित नही होता था। इसीलिए संस्कृत के इस युग के कवियो मे समाज-व्यवस्था के प्रति किसी प्रकार के विद्रोह की भावना, क्लेशपिष्ट जनसमुदाय के प्रति सहानुभूतिमय असन्तोष का भाव एकदम नहीं पाया जाता। कवि स्वयं दरिद्र या दुःखी न होते हो, सो बात नहीं। गरीबी का जितना करुण और हृदयस्पर्शी वर्णन संस्कृत काव्यों मे है वह अन्यत्र दुर्लभ है; फिर भी यह सारा प्रयत्न मानो एक वेबसी का प्रयत्न है, मानो उसको कवि अवश्यम्भावी और ध्रुव मान बैठा है, ऐसा अनुभव होता है। आप करुणाविगलित हृदय की धड़कन के साथ विधवा का मर्मस्पर्शी रोदन पढ़ जायेंगे; अपमानिता का साश्रु क्रन्दन सुन जायेंगे; निर्दलित का उच्छ्वासपूर्ण आवेग वर्दाश्त कर जायेंगे; पर बहुत कम ऐसा देखेंगे कि कवि ने एक बार भी आपका हृदय सहला देने के लिए विद्रोह के साथ कहा हो कि यह अन्याय है, हम इसका विरोध करते हैं। व्यक्तित्व की इतनी जबर्दस्त उपेक्षा ससार के साहित्य में दुर्लभ है, क्योंकि संस्कृत का कवि अपने-आपको,—अपने सुख-दुःख को अभिव्यक्त करने के लिए कविता करने नही बैठता था। उसका उद्देश्य कुछ और ही होता था।

[2]

वह उद्देश्य क्या था ?

आज के भारतीय लेखक के निकट इस प्रश्न का उत्तर जितना ही सहज है, उतना ही कठिन भी। आये दिन श्रद्धापरायण आलोचक यूरोपियन मत-वादों को धकिया देने के लिए भारतीय आचार्य-विशेष का मत उद्धृत करते है और आत्मगौरव के उल्लास में घोषित कर देते है कि 'हमारे यहाँ' यह बात इस रूप में मानी या कही गयी है। मानो भारतवर्ष का मत केवल वही एक आचार्य उपस्थित कर सकता है, मानो भारतवर्ष के हजारो वर्ष के सुदीर्घ इतिहास में नाम लेने योग्य एक ही कोई आचार्य हुआ है और दूसरे या तो है ही नही, या है भी तो एक ही बात माने बैठे है। यह रास्ता गलत है। किसी भी मत के विषय मे भारतीय मनीषा ने गड्डलिका-प्रवाह की नीति का अनुसरण नही किया है। प्रत्येक बात में ऐसे बहुत-से मत पाये जाते है जो परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध पड़ते हैं। काव्य के उद्देश्य और वक्तव्य के सम्बन्ध में भी मतभेद है; पर एक बात मे आश्चर्यजनक एकता है। प्रायः सभी पण्डित स्वीकार करते है कि काव्य का मुख्य उद्देश्य लोकोत्तर आनन्द और कीर्ति प्राप्त करने का है। कवि कविता के द्वारा अमर हो जाता है और जैसा कि भामह ने कहा है; वह मरकर भी जीता रहता है। जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है, सभी एकमत है। पर आनन्द प्राप्त करने की पद्धति मे मतभेद है। कोई तो यह समझता है कि कवि कविता कर लेने के बाद जब स्वयं

आलोचक की हैसियत से उसे देखता है तो उसे लोकोत्तर आनन्द प्राप्त होता है; और कोई यह समझता है कि काव्य के करते समय ही उसे वह आनन्द प्राप्त होता है। जो हो, इस विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कवि कीर्त्ति प्राप्त करता है। यह कीर्त्ति की लिप्सा ही कविता की सृष्टि के मूल में है। शास्त्रग्रन्थों में कीर्ति प्राप्त करने के उपायों का वर्णन है। कैसे राजाओं को प्रभावित किया जा सकता है; अभ्यास, शास्त्र-निष्ठा और तपोबल से किस प्रकार कवित्वशक्ति की प्राप्ति हो सकती है, इत्यादि बातों का बड़ा विशद वर्णन किया गया है। राजशेखर की प्रसिद्ध पुस्तक 'काव्यमीमांसा' से जान पड़ता है कि कवि को कीर्ति प्राप्त करने के लिए कितना आयास करना पड़ता था। एक बात जो यहाँ स्मरण कर लेने योग्य है वह यह है कि यद्यपि कविता की रचना के लिए प्रतिभा, शिक्षा और अभ्यास की आवश्यकता बतायी गयी है, पर इस बात पर अधिक जोर नहीं दिया गया कि केवल प्रतिभा ही कवित्व का कारण हो सकती है। सच पूछा जाय तो जिस व्यक्ति ने शास्त्राभ्यास नहीं किया वह संस्कृत आलंकारिक की दृष्टि में कवि ही नहीं हो सकता। कवि के लिए शास्त्राभ्यास नितान्त आवश्यक है। संस्कृत आलंकारिक की दृष्टि मे ग्रामीण गीतों या सन्तों की अटपटी बानी में कवित्व ही नहीं हो सकता। इस मनोवृत्ति का परिणाम पिछले खेवे के हिन्दी समालोचकों की आलोचनाएँ हैं, जिनमें देव, बिहारी आदि आलोच्य कवियों को सर्वशास्त्रों से परिचित सिद्ध करने की चेष्टा की गयी थी।

मध्ययुग में जब नये सिरे से हिन्दी कविता सिर उठाने लगी तो उसमें ये सब बातें नहीं थीं। उसमे शास्त्राभ्यास का स्थान गौण था। धार्मिक शास्त्रों के सम्बन्ध में भी कुछ सुनी-सुनायी बातें ही उसकी उपजीव्य थीं, पर शीघ्र ही शास्त्राभ्यास ने इस क्षेत्र में भी प्रवेश किया और बाद की कविताएँ जीवन से विच्छिन्न हो गयीं। कविगण नायक और नायिकाओं के और अलंकार तथा संचारी आदि भावों के पूर्व-निर्णीत वर्गीकरण का आश्रय लेकर एक बँधे-सधे सुर में एक बँधी-सधी बोली की कवायद करने लगे। संस्कृत के उत्तर-कालीन साहित्य का प्रभाव ही उन्हें चालित कर रहा था।

इस ओर इसके उपजीव्य उत्तर-कालीन संस्कृत साहित्य के साथ जब हम उन रचनाओं की तुलना करते हैं जो लोक-जीवन के साथ घनिष्ठ भाव से जड़ित थीं, तो सहज ही दोनों का भेद स्पष्ट होता है। मेरा मतलब गाँवों में प्रचलित गीतों और कथानकों से है। वहाँ हम प्रेम और वियोग में तड़पते हुए सच्चे हृदयों का वर्णन पाते हैं। भाई से विच्छिन्न बहन की करुण-कथा, सौत के, ननद के और सास के अकारण निक्षिप्त वाक्य-बाणों से विद्ध बहू कि मर्म-कहानी, साहूकार, जमींदार और महाजन के सताये गरीबों की करुण पुकार; आन पर कुर्बान हो जानेवाले विस्मृत वीरों की वीर्य-गाथा; अपहार्यमाणा सती का वीरत्वपूर्ण आत्मघात; नयी जवानी के प्रेम के घात-प्रतिघात; प्रियतम के मिलन-विरह और मातृ-प्रेम के अकृत्रिम भाव इन गीतों में भरे पड़े हैं। जन्म से लेकर मरन तक के काल में और

सोहाग-शयन से लेकर रणक्षेत्र तक फैले हुए विशाल स्थान में सर्वत्र इन गानों का गमन है। यही हिन्दी-भाषा की वास्तविक विभूति है। इसकी एक-एक वहू के चित्रण पर रीति-काल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खण्डिताएँ, और धीराएँ निछावर की जा सकती है; क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी-हुई होकर भी निष्प्राण है। ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र-विशेष की मुखापेक्षी नहीं हैं। ये अपने-आपमे ही परिपूर्ण है। मध्य-युग की हिन्दी की सुसंस्कृत समझी जानेवाली कविता मे जो बात सबसे अधिक खटकनेवाली है, वह है उसकी परमुखापेक्षिता। क्या अलकार, क्या नायिकाभेद, सर्वत्र इसमे उत्तर-कालीन सस्कृत साहित्य की नकल की गयी है और साथ-ही-साथ यह समझकर कि भाषा मे किया हुआ यह प्रयत्न संस्कृत के कवियो की तुलना मे नितान्त तुच्छ है!

ऊपर जो कुछ कहा गया है, यह चित्र का एक पहलू है। उसका दूसरा पहलू इससे कहीं अधिक उज्ज्वल और महत्त्वपूर्ण है। पिछले दो हजार वर्षों का भारतीय साहित्य जहाँ कवि के कवित्वों को उत्तरोत्तर खोता गया है; जनसाधारण के वास्तविक सुख-दुखों से हटकर अपने ही द्वारा निर्मित बन्धनो मे बराबर बँधता गया है, कीर्त्ति-प्राप्ति का केन्द्र अपने-आपको न बनाकर किसी अन्य ऐश्वर्य को बनाता गया है, वैयक्तिकता की स्वाधीनता को छोड़कर 'टाइप' रचना की पराधीनता को स्वीकार करता गया है, वहां निश्चयपूर्वक उसने कुछ ऐसी बातें संसार को दी हैं, जो अनुपम हैं। विशेषज्ञ पण्डितों ने समसामयिक ग्रीक, रोमन तथा अन्य समृद्ध समझे जानेवाले साहित्य के साथ तुलना करके देखा है कि कालिदास तो कालिदास, माघ और भारवि के साथ भी जिनका नाम लिया जा सके, ऐसे कवि भी समसामयिक साहित्य मे नही हैं। यदि हम पहली बातों को सामने रखकर इस बात पर विचार करते है, तो यह एक अद्‌भुत विरोधाभास-सा जान पडता है, किन्तु है यह ठीक। कारण यह है कि विविध बन्धनो के भीतर रहकर सस्कृत के कवि ने एक अपूर्व संयम का अभ्यास किया है, अपने-आपको मिटाकर वह सहज ही सर्वसाधारण का प्रतिनिधि हो सका है और वास्तविकता की कठोर विषमता के भीतर एक शाश्वत मंगल को प्राधान्य दे सका है। सच पूछा जाय तो जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है, उसकी दृष्टि मे स्त्री-पुरुष का प्रेम स्थायी नहीं हो सकता अगर वह वन्ध्य हो, अगर वह अपने-आपमें ही संकीर्ण हो रहे कल्याण को जन्म न दे और संसार में पुत्र-कन्या, अतिथि-प्रतिवेशी आदि के बीच विचित्र सौभाग्य रूप से व्याप्त न हो जाय। एक ओर संसार का निविड़ बन्धन और दूसरी ओर आत्मा की बन्धनहीन व्यापकता, इन दोनों का सामंजस्य सस्कृत कविता को एक अपूर्व माधुर्य से मण्डित कर सका है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है संस्कृत कवि की श्रद्धा और निष्ठा। शास्त्राभ्यास के साथ जहां प्रतिभा का मणि-काञ्चन योग हुआ है, वहाँ संस्कृत का कवि अतुलनीय है।

लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू मे हिन्दी की रीतिकालीन कविता मे यह उज्ज्वल पक्ष बहुत-कुछ म्लान हो गया था और पूर्ववर्णित अनुज्ज्वल अंग गाढ़ हो

उठा था। इसी समय हमारा सम्बन्ध पश्चिमी दुनिया से हुआ। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित हुआ और पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में इसने हिन्दी-साहित्य में युगान्तर उपस्थित कर दिया है। इस नये साहित्य की आलोचना करने के पहले हम एक बार फिर स्मरण कर लें कि यहाँ तक हमारी क्या पूंजी थी।

संस्कृत में लिखे हुए शास्त्रों पर हमारी अविचल श्रद्धा थी; हिन्दी में जो कुछ लिखा जा रहा था, वह निश्चित रूप से, कम अच्छा और inferior मान लिया गया था। कवि का व्यक्तित्व कविता में यथासम्भव कम प्रस्फुटित होता था, बँधे-बँधाये नियमों की अनुवर्तिता में कवित्व का साफल्य स्वीकृत हो चुका था, कविता रसपरक हो गयी थी, पर वह सम्पूर्णतः अपने को धर्म से अलग नहीं कर सकी थी। जन्मान्तरवाद निश्चित रूप से स्वीकृत हो जाने के कारण प्रचलित रूढ़ियों के विरुद्ध तीव्र सन्देह एकदम असम्भव था, काव्य शास्त्र की रूढ़ियाँ कविता का अविच्छेद अंग हो गयी थीं और साहित्य के नाम पर एकमात्र पद्य का राज्य था। इसी सम्पद को लेकर हम पश्चिम के संस्पर्श में आये। अपना पूर्वगौरव हम भूल चुके थे।

[3]

हम कविता की बात करते आ रहे थे। यह अच्छा ही हुआ था, क्योंकि नवयुग के आरम्भ में अपने प्राचीनों से हमने जो कुछ वर्तमान साहित्य का पाया था वह कविता ही थी। यहाँ हम बिना रुके कविता की बात करते जा सकेंगे। जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है, बहुत कम दिन पहले ही हमारे साहित्यिकों को नवयुग की हवा लगी है। जिस दिन कवि ने परिपाटीविहीन रसज्ञता और रूढ़िसमर्थित काव्य-कला को साथ ही चुनौती दी थी, उस दिन को साहित्यिक क्रान्ति का दिन समझना चाहिए। सब-कुछ झाड़-फटकाकर कवि ने आत्मनिर्मित आधार की कठोर भूमि पर अपने-आपको आजमाया। पहली बार उसने अपनी अनुभूति के ताने-बाने में एक संकीर्ण दुनिया तैयार की, संकीर्ण होने के साथ ही यह प्रसारधर्मा थी। इस भूमि पर, इस आत्मनिर्मित बेड़े के अन्दर खड़े होकर हिन्दी के कवि ने अपनी आँखों से दुनिया को देखा, कुछ समझा। पहली बार उसने प्रश्नभरी मुद्रा से दुनिया के तथाकथित सामंजस्य की ओर देखा। उसे सन्देह हुआ, असन्तोष हुआ, संसार रहस्यमय दिखा। हिन्दी कवि के विचार और हिन्दी-कविता की रूप-रेखा दूसरी हो गयी। केवल इसी दृष्टि से देखा जाय, तो हमारे आधुनिक कवियों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

लेकिन नवयुग की बात कहते समय हमें कविता को अन्त में ही ले आना चाहिए था। जो कोई भी नवयुग का आदिप्रवर्त्तक क्यों न हो, वह निश्चय ही गद्य-लेखक था। सच पूछा जाय तो नवयुग का साहित्य गद्य का साहित्य है। भाषा ने परिवर्तन के अनेक रूप देखे हैं, शब्दकोष में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है, गद्य की

शैलियों में जबर्दस्त परिवर्त्तन हुआ है, पद्य की भाषा एकदम बदल गयी है। हिन्दी के उपन्यास और कहानियाँ एकदम नयी चीज है। इस क्षेत्र में हिन्दी साहित्य की वेगवती यात्रा, जो 'चन्द्रकान्ता' से शुरू होकर 'गोदान' तक पहुँच चुकी है, बड़े मार्के की है। नाटकों में यद्यपि इतना बड़ा विकास नहीं हुआ है; पर वह नितान्त कम भी नहीं है। लिरिक (गीत-काव्य) में अभूतपूर्व परिवर्त्तन और नया प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है, और जैसा कि कभी वृद्ध पण्डित झुंझलाकर कहा करते हैं, छन्द, भाषा, रीति-नीति और यहाँ तक कि उपमा-रूपक आदि में भी आज की कविता प्रत्येक अंग्रेजी ताल-सुर पर नाचने लगी है। चाहे इन वृद्ध पण्डितों की आलोचना को ले लीजिए, या भारतीय राष्ट्र की विशुद्धता के वकीलों के लेख और व्याख्यान या धार्मिक और दार्शनिक मतवादों की व्याख्याएँ, या मासिक और सामयिक साहित्य—सर्वत्र सुर बदल गया है, अंग्रेजी ढग का अनुकरण हो रहा है और हमारा साहित्य निश्चित रूप से प्राचीनों की निर्धारित नियमावली से अलग हट गया है। यह तथ्य है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

लेकिन फिर भी साहित्य के उपरिलिखित रूप में जो परिवर्त्तन हुआ है, वह उसके अभ्यन्तर रूप को देखते हुए बहुत मामूली है। साहित्य का स्पिरिट ही बदल गया है। मनुष्य की वैयक्तिकता ने निश्चित रूप से साहित्य में स्थान पाया है। नारी ने अपने समानाधिकार के दावे के साथ साहित्य में प्रवेश किया है और दृढ तथा उदात्त कण्ठ से पिछली शताब्दी की कल्पित अवास्तविक नारी-मूर्त्ति के चित्रण का प्रतिवाद किया है। साहित्य अनजान में इस कल्पना से दूर हट गया है। वह दिन अब जाता रहा है जब प्रकृति सिर्फ उद्दीपन भाव के रूप में, या केवल सजावट के रूप में चित्रित की जाती थी और यदि नहीं गया है, तो जाने की तैयारी में है। आज प्रकृति के साथ साहित्य का रिश्ता आलम्बन का रिश्ता है, उद्दीपन का नहीं। आधुनिक कविता में प्रकृति में आध्यात्मिकता का भी आरोप देखा गया। ईश्वर का स्थान आज मानवता ने ले लिया है, पूजन-भजन के स्थान पर आज पीड़ित मानवता की सहायता और हमदर्दी प्रतिष्ठित हो चुकी है। प्राचीन धार्मिक विश्वासों की रूढ़ियों के हिल जाने के कारण आज के साहित्यिक ने संसार को नयी दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है और यूरोपियन साहित्य की रहस्य-भावना क्रमशः उसे अपनी ओर खींचने लगी है। प्रत्येक क्षेत्र में ऐतिहासिकता की प्रतिष्ठा इस बात का पक्का सबूत है कि भारतीय चिन्ता अपना पुराना रास्ता केवल छोड़ ही नहीं चुकी है, भूल भी गयी है।

ऊपर की कहानी एक जाति के बनने या बिगड़ने की कहानी है। एक बार आश्चर्य होता है उस भाषा की अपूर्व ग्राहिका-शक्ति पर, जो पचीस बरस के मामूली अर्से में इतना ग्रहण कर सकती है—नहीं, इतना परिवर्त्तन स्वीकार करके भी निर्विकार-सी बनी रह सकती है! और फिर आश्चर्य होता है उस जाति पर जो इतनी जल्दी इतना भूल सकती है! आज का हिन्दी-साहित्य हमारे लिए इतना निकट है कि हम उसको ठीक-ठीक नहीं देख सकते। सांख्य-कारिका में बताया

गया है कि अत्यन्त दूर और अत्यन्त नजदीक ये दोनों ही अवस्थाएँ प्रत्यक्ष की उपलब्धि में बाधक हैं। फिर विविध परिवर्तनों के आलोड़न-विलोड़न में इसकी ऊपरी सतह कुछ ऐसी फेनिल हो गयी है कि नीचे की गहराई साफ़ नजर नहीं आती। पर हम चाहे जितने भी उन्नत या अवनत हो गये हों, चाहे जितना भी आगे या पीछे हट आये हों, जो बात सर्वाधिक स्पष्ट है, वह है हमारी अनुकरण-क्षमता। हमने अन्धाधुन्ध अनुकरण किया है; अच्छा-बुरा जो कुछ मिला है, उसे उदरस्थ करने की चेष्टा की है, सत्-असत् जो कुछ अपना था, सब छोड़ते और भूलते गये हैं। शायद हम ऐसा करने को बाध्य थे, शायद यही स्वाभाविक है, पर जिस त्रुटि को कोई भी बर्दाश्त नहीं कर सकता यह यह है कि हमने अपनी वह सबसे बड़ी सम्पत्ति खो दी है, जिसने भारतीय साहित्य को, उसके सम्पूर्ण दोष-त्रुटियों के बाद भी, संसार के साहित्य में अद्वितीय बना रखा था। वह सम्पत्ति है—संयम, श्रद्धा और निष्ठा।

इस अनन्य-साधारण गुण के अभाव में कई जगह हमारी वैयक्तिकता साहित्य में दलदश्रु-भावुकता से आरम्भ करके हिस्टोरिक प्रमाद तक का रूप धारण करती जा रही है; प्रकृति का आलम्बन थोथी बकवाद और शून्यगर्भ प्रलाप-वाक्यों के रूप में प्रकट हो रहा है, व्यक्तिगत प्रेम-चर्चा विज्ञापनबाजी-सी मालूम होती है और मानवता के प्रति 'अर्पित श्रद्धांजलि' रटी हुई सूक्तियों का आकार ग्रहण कर गयी है। हमने संसार को नयी दृष्टि से देखा जरूर है; पर साधना और संयम के अभाव से हमारी दृष्टि व्यापक नहीं हो सकी है। नकल की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इसके अपवाद भी हैं और आशा का कारण इन अपवादों की बढ़ती हुई संख्या ही है।

[4]

सही बात, जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है, शायद यह है कि—"यूरोप का साहित्य और यूरोप का दर्शन मानस-शरीर को सहला नहीं देता, केवल धक्का मार देता है। यूरोप की सभ्यता चाहे अमृत हो, मदिरा हो, या हालाहल हो, उसका धर्म ही है मन को उत्तेजित करना, उसे स्थिर न रहने देना। इसी अंग्रेजी सभ्यता के संस्पर्श से हम समूचे देश के आदमी जिस किसी एक दिशा में चलने के लिए तथा अन्य लोगों को चलाने के लिए छटपटा उठे हैं। सौ बात की एक बात यह कि हम उन्नतिशील हों या अवनतिशील, लेकिन हम सब गतिशील जरूर हैं—कोई स्थितिशील नहीं।" हिन्दी के साहित्यिक भी गतिशील हैं, पर हजारों वर्ष की पुरानी सम्पत्ति को छोड़ देने के कारण हमारी गति सदा वांछित दिशा की ओर ही नहीं जा रही है। फिर भी इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि हम एक जीवित जाति के संस्पर्श में आये हैं और जीवन के आघात से ही जीवन की स्फूर्ति होती है। हजारों वर्ष के सुपुप्त देश को जगाने में भी कुछ समय लगेगा। आज की गतिशीलता वांछित दिशा में हो या अवांछित दिशा में, वह

हमारे जागरण का निश्चित सबूत है। जो लोग इसे आशंका और भय की दृष्टि से देखते हैं, वे गलती करते हैं। उन्हें याद रखना चाहिए कि 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' और जो लोग इसे आत्यन्तिक उन्नति समझकर झूमने लगते है, वे और भी गलती करते हैं, क्योंकि उन्हें महसूस करना चाहिए कि सभी पुरानी चीजें सड़ा ही नहीं करतीं।

एक दूसरी महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति भी है, जिसे हमने नवीनता के नशे में छोड़ दिया है। वह है हमारी सुदीर्घ साधनालब्ध दृष्टि। अपने काव्य के अभिधेय अर्थों की सीमा पार करके जिस प्रकार हमारा कवि एक अन्य अर्थ को ध्वनित करता था, उसी प्रकार वह इस ठोस रूपावरण जागतिक व्यापारों के भीतर भी एक रूपातीत सत्य को देखा करता था। हमारे कहने का यह मतलब नहीं है कि वह कविता में फिलासफी झाड़ा करता था—यह काम तो हम लोग अब करने लगे हैं, बहुत हाल में—हम केवल यही कहना चाहते है कि जिस प्रकार अर्थ में, उसी प्रकार परमार्थ मे भी वह एक ठोस रूप के परे की वस्तु—रस—को देखा करता था। इसीलिए हजार बन्धनों के भीतर रहकर भी वह मगल की सृष्टि कर सकता था। अब इस युग में, जिस प्रकार हमने अन्य विषयों में यूरोपियन कला का अनुकरण किया है, उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी हम अभिव्यक्ति को प्रधानता देने लगे है; व्यजना को हमने छोड़ और भुला दिया है। हम रूप की वास्तविकता की ओर प्रलुब्ध भाव से दौड़ पड़े है; परन्तु अरूप की वास्तविकता हमसे दूर हट गयी है। अनित्य का चित्रण हम सफलता के साथ करने लगे है; पर उसमें निहित शाश्वत का चित्रण हमारे साध्य के बाहर हो गया है। प्रो. लेवी ने कहा था कि कला के क्षेत्र में भारतीय प्रतिभा ने संसार को एक नूतन और श्रेष्ठ दान दिया था, जिसे प्रतीक-रूप से 'रस' शब्द के द्वारा प्रकट कर सकते हैं और जिसे हम वाक्यों में इस प्रकार कह सकते है कि कवि अभिव्यक्त (express) नहीं करता, व्यंग्य या ध्वनित (suggest) करता है। आज हमने अपने इस श्रेष्ठ दान को भुला दिया है और इसी के फलस्वरूप काव्य और आख्यायिका के क्षेत्र में कुरुचि और जुगुप्सामूलक रचनाओं की अधिकता हो गयी है। फिर भी हम कवि के साथ आश्वस्त हो सकते है, क्योंकि—"दूर देश का मलयसमीर देशान्तर साहित्य-कुंज में पुष्पोत्सव का ऋतु लाने में समर्थ हुआ है, इस बात का प्रमाण इतिहास में है। जहाँ से हो और जैसे भी हो, जीवन के आघात से जीवन जाग उठता है, मानवचित्त के लिए यह चिरकाल के लिए एक वास्तविक सत्य है।"

[5]

हाल ही में हिन्दी कविता गत पन्द्रह-बीस वर्षों की परम्परा से भी अलग होने लगी है। यह अलगाव मुख्यतः वक्तव्य-विषय में स्पष्ट हुआ है। असहयोग-आन्दोलन के बाद से खड़ी बोली की कविता में उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी कवियों का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है। इस श्रेणी के कवियों ने बाह्य जगत् को अपने

अन्तर के योग मे उपलब्ध किया था। कवि जगत् को अपनी रुचि, अपनी कल्पना और अपने सुख-दुःखो मे गुँथा हुआ देखता था और रचना-कौशल से उसका व्यक्ति-जगत् पाठक का उपभोग्य हो उठता था। यूरोपीय महायुद्ध के बाद इस विशेष दृष्टि में बहुत परिवर्त्तन हो गया है। वैसे तो परिवर्त्तन के लक्षण बहुत पहले से ही दृष्टिगोचर हो रहे थे, पर महायुद्ध की कठोरता, क्रूरता और घिनौनेपन ने यूरोपीय कवि के अन्दर बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया का भाव ला दिया। इधर की हिन्दी कविता में अप्रत्यक्ष रूप से इस युद्धोत्तरकालीन प्रतिक्रिया का प्रभाव भी दिखायी पड़ा है। इधर जो परिवर्त्तन हिन्दी कविता में अप्रत्यक्ष रूप से दिखायी दिया है वह युद्धोत्तरकालीन काव्य के प्रभाव-वश या अनुकरण करने की चेष्टावश नही, बल्कि आधुनिक युग के विचारो के कारण हुआ है। पिछले पचीस-तीस वर्षो की हिन्दी कविता मे, उसकी सैकड़ो वर्ष की परम्परा के विरुद्ध वैयक्तिकता का अबाध प्रवेश हुआ है। चाहे कवि कल्पना के द्वारा इस जगत् की विसदृशताओं से मुक्त एक मनोहर जगत् की सृष्टि कर रहा हो या चिन्ता द्वारा किसी अज्ञात रहस्य के भीतर प्रवेश करने की चेष्टा कर रहा हो, या अपनी अनुभूति के बल पर पाठक के वासनान्तर्विलीन मनोभावो को उत्तेजित कर रहा हो,—सर्वत्र उसकी वैयक्तिकता ही प्रधान हो उठती रही है। अत्यन्त आधुनिक कवि इस भावुकता को पसन्द नही करता। वह वस्तु को आत्म-निरपेक्ष भाव से देखने को ही सच्चा देखना मानता है। यह बात उसके निकट सत्य नही है कि वस्तु को उसने कैसा देखा, बल्कि यह कि वस्तु उसके बिना भी कैसी है। इस वैज्ञानिक चित्त-वृत्ति का प्रधान आनन्द कौतूहल मे है, उत्सुकता मे है, आत्मीयता में नही। और जैसा कि इस विषय के पण्डितों ने बताया है, विश्व को व्यक्तिगत आसक्त-भाव से न देखकर अनासक्त और तद्गत भाव से देखना ही आधुनिक दृष्टिकोण है। हाल के बहुत-से हिन्दी कवियों ने जगत् को इस दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। इसी दृष्टिकोण को उन्होने रूप से भाव की ओर जाना कहा है। इसके विरुद्ध कल तक वे भाव से रूप की ओर आने का ही प्रयत्न करते थे।

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त की कविताओं मे इस निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण का सबसे अधिक प्रकाश हुआ है। उनके द्वारा सम्पादित 'रूपाभ' नामक मासिक पत्र में इस प्रकार वाह्य जगत् को तद्गत और अनासक्त भाव से देखने का प्रयत्न करने-वाले कवियों की बहुत-सी कविताएँ प्रकाशित हुई थी, किन्तु यह समझना ठीक नही कि इस प्रकार के कवियों में कोई एक सामान्य प्रवृत्ति ही दिखायी पडी है। छोटी-मोटी ऐसी अनेक प्रवृत्तियां बीज रूप से दृष्टिगोचर हुई हैं जो भविष्य में निश्चित और विशेष आकार धारण कर सकती हैं। उनका मूल उद्गम भी सर्वत्र एक नही और आपाततः एक जैसी दिखायी देने पर भी उनका भावी विकास भी एक रूप में ही नही होगा। नीचे कुछ विशेष प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जाता है।

साहित्य मे समाजवादी सिद्धान्त के बहुल प्रचार से हो या प्रान्तीय स्वायत्त-

शासन की प्रतिक्रिया से हो, राष्ट्रीय भाव के कवियों में से अधिकांश ने भारत-माता के स्थान पर किसानों और मजदूरों का स्तव-गान आरम्भ किया है। इन स्तव-गायकों के सिवा बहुत-से ऐसे युवकों ने भी, जो भविष्य में चमक सकते हैं, गरीबों, मजदूरों और किसानों के सम्बन्ध में कविताएँ लिखी हैं। इन कविताओं की संख्या वर्गीकरण और विवेचना के लिए पर्याप्त नहीं है, फिर भी इनमें चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट ही लक्षित हो रही हैं। वे चार प्रकार के कवि ये हैं—(1) पहले वे लोग जो स्वयं गरीबी का जीवन बिता चुके या बिता रहे हैं अथवा गरीबों में हिल-मिलकर उनके सुख-दुःखों को गाढ़ भाव से अनुभव कर चुके हैं। ऐसे कवियों में गरीबों या शोषितों के प्रति हमदर्दी की अपेक्षा पूँजीपतियों और जमींदारों या शोषकों के प्रति प्रतिशोध और विक्षोभ के भाव ही अधिक प्रकाशित हुए हैं। इस श्रेणी के कवि बिहार में अधिक दिखायी दे रहे हैं। (2) दूसरे वे जो वर्तमान सामाजिक बुराइयों को ग्रन्थगत ज्ञान के द्वारा या आत्म-चिन्तन के द्वारा समझने की कोशिश करके इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि आर्थिक वितरण की विषमता ही समस्त दोषों का मूल कारण है। इन्होंने बुद्धि द्वारा विषय की उपलब्धि की है, इसलिए इनकी भाषा में आक्रामक गुण नहीं है, पर ये मध्यश्रेणी के उन लोगों को अपने विचारों के अनुकूल बना लेने की शक्ति रखते हैं जिन्हें समाज के अत्यन्त निचले और उपेक्षित स्तरों का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। (3) तीसरे वे हैं, जिन्होंने हवा में उड़ते हुए विचारों को पकड़कर छन्द के फ्रेम में बाँधा है। इनमें अधिकतर कवि-सम्मेलनों के वे अखाड़ेबाज कवि हैं जो प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विषय का कारण किसानों और मजदूरों को ही बताते हैं। (4) चौथी श्रेणी के कवि गरीबों की ओर मानवता के विचार से आकृष्ट हुए हैं। वे उन्हें शोषित समझकर शोषकों के विरुद्ध पाठक को उत्तेजित करने के लिए नहीं बल्कि उनके कष्टों का वर्णन कर मनुष्य की सत्प्रवृत्तियों को उत्तेजित करने के लिए कलम उठाते हैं। कभी-कभी एक ही कवि में इनमें की एकाधिक प्रवृत्तियाँ दृष्ट हुई हैं। अभी ये प्रवृत्तियाँ ऐसी कोमलावस्था में हैं कि उनके प्रतिनिधि कवियों को ढूँढ निकालना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रथम दो में से अन्यतर का प्रकाश कई कवियों में अधिक स्पष्टता के साथ हुआ है।

कुछ छिटके-फुटके प्रयत्न उस जाति की कविता के लिए भी हुए हैं, जिसे प्रभाववादी सम्प्रदाय की कविता कहते हैं। इस श्रेणी के कवि वक्तव्य-विषय की प्रत्येक छोटी-मोटी विशेषताओं को या उनके सौकुमार्य आदि विशेष धर्मों को अनावश्यक विस्तार के साथ वर्णन करने के पक्षपाती नहीं हैं। वे कहते हैं कि कला की मनोहारिता को तूल देना व्यक्तिगत मोह का लक्षण है। वक्तव्य-वस्तु की रमणीयता नहीं, बल्कि उसकी यथार्थता वर्णनीय होती है। उसका 'कैरेक्टर' उसकी समग्रता में से प्रकाशित होता है, विशेषता में से नहीं। इस समग्रता को प्रस्फुटित करने की अभी चेष्टा-भर ही हुई है, सफलता कम ही मिली है।

इन नवीनतम प्रवृत्तियों के साथ-ही-साथ पुरानी कल्पना-प्रधान और चिन्तन-

मूलक प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान हैं। श्री निराला ने 'तुलसीदास' के द्वारा एक नवीन मार्ग पर चलने की सूचना दी है। अपेक्षाकृत तरुण कवियों में अनुकरण की प्रवृत्ति खूब दिखायी पड़ी है। अधिकांश अनुकरण प्रसादजी, पन्तजी और महादेवीजी की कविताओं का हुआ है। कुछ अंश तक विवशतामूलक नैराश्य-भावनाओं और तज्जन्य क्षणिक आनन्द के यथा-लाभ-सन्तोषवाद के अनुकरण की भी चेष्टा हुई है। ऐसे तरुणों की यह ग्राहिका शक्ति मौलिकता के अभाव की निशानी है। इसका नियोग अन्य क्षेत्रों में होता तो साहित्य के लिए मंगल की बात होती।

[6]

दो कारणों से बहुत हाल में कविता की भाषा और शैली में भी परिवर्तन हुआ है। एक विषय को जब अनासक्त और तद्गत भाव से देखा जाता है तब स्वभावतः ही भावुकता को स्थान नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में कवि वैज्ञानिक की भाँति गद्य-मय भाषा लिखने लगता है। दूसरे, विषय की नवीनता को सम्पूर्ण रूप से अनुभव कराने के लिए कवि लोग जान-बूझकर ऐसी भाषा और शैली का व्यवहार करते हैं जो पाठक के मन को इस प्रकार झकझोर दे कि उस पर से प्राचीनता के संस्कार झड़ जायें। वे ऐसी उपमाओं, ऐसे रूपकों और ऐसी वक्रोक्तियों का व्यवहार करते हैं जो केवल नवीन ही नहीं, अद्भुत भी जँचें। इस श्रेणी का कवि अनायास ही, अपनी प्रिया के प्रेम की महत्ता दिखाते समय, कह सकता है—"हे प्रिये, तुम सूर्य से भी बड़ी हो, समुद्र से भी, मेढक से भी, कुकुरमुत्ते से भी।" यहाँ मेढक और कुकुरमुत्ता केवल पाठक के चित्त को झकझोरने के लिए ही व्यवहृत होंगे, यद्यपि उनका अन्तर्निहित तत्त्व यह हो सकता है कि समुद्र और सूर्य अपनी महत्ता में जितने सत्य है उतने ही सत्य मेढक और कुकुरमुत्ते भी हैं। ठीक इसी प्रकार की उक्तियाँ हिन्दी में अभी नहीं हुई हैं पर इस जाति की बहुत हुई हैं। कवि महानगरी की सड़कों पर घूमता हुआ उसकी अट्टालिकाओं में बैठी हुई प्रतीक्षा-परायण नवोढा या पार्कों में उद्विग्न-भाव से टहलते हुए प्रेमी को नहीं देखता, बल्कि गन्दी नालियों और कुष्ठजर्जर पीपवाही शव-कल्प शरीरों को देखता है। सिद्धान्ततः उसकी दृष्टि में नवोढा या उद्विग्न प्रेमी अपने-आपमें जितने सत्य हैं, उतने ही सत्य गन्दी नालियाँ और दुर्गन्धित शरीर भी हैं। परन्तु दूसरे का उल्लेख वह झकझोर देने के लिए और अपने नवीन विचारों को पूरे जोर से हृदयंगम करने के उद्देश्य से ही करता है। इन दो बातों के सिवा जिन निर्वैयक्तिक कवियों का लक्ष्य अपनी कविता को अपढ़ जनता तक पहुँचाना है, उनकी भाषा में भी सरलता की प्रवृत्ति दिखायी दी है। पुराने रास्ते पर चलनेवाले कवियों की भाषा में और कोई खास परिवर्तन तो नहीं हुआ पर लाक्षणिक वक्रता का ह्रास होता हुआ जान पड़ता है।

आधुनिक हिन्दी कविता की भाषा पर विचार करते समय जो बात सबसे अधिक उल्लेख-योग्य है वह यह है कि अत्यधिक प्रचारित और विज्ञापित होने पर

आज जबकि कवि अपनी ओर से यथासम्भव कम कहकर वस्तु के याथार्थ्य को समझने की चेष्टा कर रहा है, व्यंग्यार्थ का प्रधान होना ही उचित था। युद्धोत्तर-कालीन यूरोपीय काव्य में, कहते हैं, ऐसा ही हुआ है। परन्तु हिन्दी में ऐसा अभी नहीं हो पाया है। यहाँ वाच्य का व्यंग्य गुणीभूत हो गया है। इस अत्यन्त सीमित काल की कुछ परिमित कविताओं में, जो अभी नितान्त भ्रूणावस्था में ही हैं, यह बात चिन्ताजनक नहीं है। अभी कवि के समस्त पाठ्य-निरीक्षणों के भीतर से आधुनिक युग की हड़बड़ी, उसकी दीनता और उसके दुःख प्रकाशित नहीं हो पाये हैं। अधिकांश कविताएँ चाहते हुए भी यह व्यंग्य करने में असमर्थ रही हैं कि आज के युग का व्यक्ति वर्ग-संघर्ष से ऐसी बुरी तरह से पिस गया है कि उसे रोने-हँसने की या दुलार-प्यार जताने की फ़ुरसत भी नहीं। फिर भी इतनी आशा तो की ही जा सकती है कि इस प्रवृत्ति की बढ़ती के साथ-ही-साथ कविता में ध्वनि-प्राणता की मात्रा बढ़ती ही जायगी। लेकिन ध्वनि-प्राणता बढ़े या घटे, जो बात निश्चित है वह यह है कि प्राचीनों द्वारा निर्धारित रसों की ध्वनि की सम्भावना क्रमशः कम होती जा रही है। ये कविताएँ किसी स्थायी भाव को नहीं बल्कि नितान्त स्थायी मनोभावों को उत्तेजित करती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि आगे चलकर इनमें संघर्ष की, असन्तोष की और असामंजस्य की ध्वनि प्रधान होती जायगी और सहयोग की, सन्तोष की और सामंजस्य की ध्वनि क्रमशः क्षीण होती जायगी। काल-प्रवाह हमें इसी ओर लिये जा रहा है। ऊपर हम कविता की चर्चा ही प्रधान रूप से करते आये हैं, किन्तु पिछले पचीस-छब्बीस वर्षों में केवल कविता ने ही नवीन रूप ग्रहण किये हों ऐसी बात नहीं है। यह समय हिन्दी की चौमुखी उन्नति का है। प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिभाशाली लेखकों का उदय हुआ है। संक्षेप में इस विकास की चर्चा कर लेनी चाहिए।

[8]

सन् 1920 ई. भारतवर्ष के लिए युगान्तर ले आनेवाला वर्ष है। इस वर्ष भारतवर्ष का चित्त पुराने संस्कारों को झाड़कर नवीन मार्ग के अनुसन्धान में प्रवृत्त हुआ था। नवीन आशा और नवीन आकांक्षा के प्रति जैसा अडिग विश्वास इस समय दिखायी दिया वह शताब्दियों से अपरिचित-सा हो गया था। इसके पहले का भारतवर्ष यद्यपि आत्म-चेतना से शून्य नहीं था, पर उसका चित्त पूर्ण मुक्त नहीं हुआ था। धर्म और समाज के क्षेत्र में उन दिनों आर्य-समाज का जबर्दस्त प्रभाव था। आर्य-समाज ने भारतीय चिन्ता को बहुत झकझोर दिया था, पर प्राचीन आप्त-वाक्य को प्रमाण मानने की प्रवृत्ति को उसने और भी अधिक प्रतिष्ठित कर दिया। इसका परिणाम सभी क्षेत्रों में देखा गया। साहित्य के क्षेत्र में भी इस समय तक प्रमाण-ग्रन्थों के आधार पर विवेचना करने की प्रथा चल पड़ी थी। किसी कवि के काव्य के उत्कर्ष या अपकर्ष का [illegible] ने के लिए अलंकार-ग्रन्थों के प्रमाण ढूंढ़े जाते थे। [illegible] क्यों [illegible] नहीं, इस बात

अवलम्बित है। किसी वस्तु का मूल्य उसकी अपनी योग्यता के बल पर ही आंकने की प्रवृत्ति उन दिनों शिशु-अवस्था में ही थी। इस देश के साहित्यिक उन दिनों निश्चित रूप से आप्त-वाक्यों से चालित हो रहे थे। ये 'आप्त' देशी भी हो सकते थे और विदेशी भी, नये भी हो सकते थे और पुराने भी। इनके 'आप्तत्व' के लिए भी खोज-पूछ करना उन दिनों आवश्यक नहीं माना जाता था। हमारे शिक्षित वर्ग का अधिकांश उन दिनों यूरोपीय मनीषा की श्रेष्ठता स्वीकार कर चुका था।

अचानक यूरोप का प्रथम महायुद्ध आंधी की तरह आया और यूरोपीय श्रेष्ठता को अपने प्रचण्ड वेगों में बहा ले गया। देखा गया कि सारी बड़ी-बड़ी बातों के बावजूद भी मनुष्य सर्वत्र मनुष्य ही है। यूरोप के राष्ट्रीय संघटन वस्तुतः दुनिया को लूटने के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धी हैं। हम यह समझे बैठे थे कि हममें संघटन की क्षमता ही नहीं है। यह भ्रम टूट गया। यूरोपीय राष्ट्रों के संघटित दलों में जो एकता है वह उस एकता से मिलती-जुलती है जो ठगों में पायी जाती है। दुनिया के शोषण के लिए ही इनके विशेषज्ञों ने नाना प्रकार की राजनीतिक और आर्थिक नैतिकता की 'बोलियाँ' बना रखी हैं। इतिहास को देखने की इनकी अपनी विशेष दृष्टि है, नृतत्व-विद्या को समझने के अपने तरीके हैं। और सबकुछ एक विशेष प्रकार की स्थिति बनाये रखने के उद्देश्य से लिखा गया है। साहित्य भी इस दृष्टि से एकदम अस्पृष्ट नहीं है। भारतवर्ष ने बहुत दिनों के बाद पहली बार अनुभव किया कि हाथ पसारना लज्जा की बात है। ज्ञान के क्षेत्र में भी वही पाने का अधिकारी होता है जो देने का सामर्थ्य रखता है। हर क्षेत्र में दूसरों का अनुसरण लज्जाजनक है। वही चल सकता है जो अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है, वह नहीं जो केवल चलनेवालों के चलने की नकल करना चाहता है। हमारा अतीत जो अब तक अभिभूत करनेवाला साबित हुआ था, अब प्रेरणादायक सिद्ध हुआ। पुराने शास्त्रों का महत्त्व इस बात में नहीं है कि उनसे आधुनिक विदेशी ज्ञान-विज्ञान की तुलना या आधुनिक व्यक्तियों के उत्कर्ष-अपकर्ष की जांच की जाय; उनका महत्त्व इस बात में है कि वे हमारी मानसिक दुर्बलता को झाड़कर हममें आत्म-बल का संचार करते हैं। दुनिया में हम नौसिखुए नहीं हैं। हमने ज्ञान की प्रत्येक शाखा पर स्वतन्त्र दृष्टि से विचार किया है। हम आलसी नहीं थे, इस समय जैसे हैं उसी प्रकार बने रहना हमारा स्वाभाविक धर्म नहीं है। संसार के अन्यान्य देशों की तुलना में, समय पर विचार किया जाय तो, हम आगे ही रहते आये हैं। विपत्तियों का सामना हमें पहली बार नहीं करना पड़ रहा है। हमारे इतिहास में संघर्षों और संघातों की विशाल शृंखला है। हम बराबर उन संघर्षों में से तेजो-दृप्त होकर निकले हैं।

हममें स्वतन्त्र उद्भावना-शक्ति की कमी कभी नहीं रही। दीर्घ निद्रा के बाद भारतवर्ष पूर्ण चैतन्य के साथ जाग पड़ा। उसने सोचा संसार की जातियों को अपने से श्रेष्ठ समझने की भी आवश्यकता नहीं है, उनकी नकल करने की भी जरूरत नहीं है, हम अपना रास्ता आप निकाल लेंगे। 1920 ई. में भारतवर्ष के

मानस में कुछ इसी तरह की विचारधारा वह रही थी। परन्तु यह समझना भूल है कि अनुध्यात मार्ग सदा अनुध्यात मार्ग होता है। कार्यक्षेत्र मे उतरने पर नाना भाँति की वस्तु-स्थिति अनुध्यात मार्ग बदलने को विवश करती है। इंजीनियर गाड़ी के चक्कों को देखकर गन्तव्य तक पहुँचने का जो हिसाब वताता है वह सड़क की ऊबड़-खावड़ विषमताओं के कारण बाधित होता है। भारतवर्ष जिस रास्ते 1920 ई. में जाने की सोच रहा था, उस रास्ते पूर्ण रूप से नही जा सका। भीतरी कमजोरियां और बाहरी बाधाएँ कम नही थी। फिर भी इस वर्ष का महत्त्व है और वह यह कि इस बार भारतवर्ष ने अपनी आँखों से दुनिया को देखने का संकल्प किया।

यह काल तीन मोटे विभागों में बांट लिया जा सकता है। सन् 1920 से 1930 ई. तक का समय पुराने सस्कारों के प्रति विद्रोह और नवीन सस्कारो के बीजारोपण का समय है। इस काल मे बहुत-से पुराने कवि और लेखक अपनी लेखनी चला रहे थे, पर उनमें से बहुत थोड़ों ने नेतृत्व किया। जिन पुराने पण्डितों और कवियों ने नेतृत्व किया उनमें युगधर्म को पहचानने की अपूर्व क्षमता थी। थोड़े-से ही नाम ऐसे लिये जा सकते है जो 1920 ई. के पहले भी ज्ञात थे और बाद मे भी नेतृत्व के उपयुक्त थे। सबसे प्रमुख ये तीन है—रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द और 'प्रसाद'; बाबू श्यामसुन्दर दास का नाम इस प्रसग मे जान-बूझकर हम छोड़ रहे हैं। आगे उनकी चर्चा आयेगी। यहां उन लोगों के नाम लिये जा रहे हैं जो उस विशेष प्रवृत्ति के प्रतिनिधि थे, जो हमारी आलोच्य है, अर्थात् ये लोग पुराने संस्कारो के प्रति विद्रोह और नवीन सस्कारों के बीजारोपण में सक्रिय भाग लेनेवाले थे। इस प्रवृत्ति के और भी कई उन्नायक हुए, पर सभी करीब-करीब नये थे। सन् 1920 के पूर्व उनके नाम क्वचित् कदाचित् ही सुनायी पड़े थे। काव्य के क्षेत्र में सियारामशरण गुप्त, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा ऐसे ही है। उपन्यास के क्षेत्र मे जैनेन्द्रकुमार एकमात्र उल्लेख्य जान पड़ते हैं।

ऊपर जिन तीन नामों की चर्चा आयी है उन्हे दर्जनों नामों से चुन लेने का कारण बताना आवश्यक है। (1) रामचन्द्र शुक्ल हमारे आलोच्य काल के पहले से लिखते आ रहे थे, पर उनकी सर्वोत्तम कृतियाँ इसी काल की रचना है। भारतीय काव्यालोचन-शास्त्र का इतना गम्भीर और स्वतन्त्र विचारक हिन्दी मे तो दूसरा हुआ ही नही, अन्यान्य भारतीय भाषाओं मे भी हुआ है या नही, ठीक नही कह सकते। शायद नही हुआ। अलंकारशास्त्र के प्रत्येक अंग पर उन्होंने सूक्ष्म विचार किया था—शब्द-शक्ति, गुण-दोष, अलकार-विधान, रस आदि सभी विषयों पर उनका अपना सुचिन्तित मत था। वे प्राचीन भारतीय आलंकारिकों को खूब समझते थे; पर उनका अन्धानुकरण करनेवाले नहीं थे। रामचन्द्र शुक्ल से सर्वत्र सहमत होना सम्भव नही। वे इतने गम्भीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरसता उनकी बुद्धि की आंच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था। आपको या तो 'हाँ' कहना पड़ेगा या 'ना', बीच मे खड़े होने काकोई

उपाय नही। उनका 'अपना' मत सोलह आने अपना है। वे तनकर कहते हैं—"मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने-न-मानने की मुझे परवा नहीं।" फिर भी शुक्लजी प्रभावित करते है। नया लेखक उनसे डरता है, पुराना घबराता है, पण्डित सिर हिलाता है। वे पुराने की गुलामी पसन्द नही करते और नवीन की गुलामी तो उनके लिए एकदम असह्य है। शुक्लजी इसी बात में बड़े हैं और इसी जगह उनकी कमजोरी है। यदि किसी को उन्होंने एक बार नवीनता की गुलामी करते देख लिया तो फिर दीर्घ काल तक वह उनके अविश्वास का पात्र बना रहा।

(2) प्रेमचन्द हिन्दी कथा साहित्य की प्रौढ़ता के सबूत हैं। उन्होंने अतीत गौरव का पुराना राग नही गाया। वे ईमानदारी के साथ अपनी वर्तमान अवस्था का विश्लेषण करते रहे। उन्होने अपनी आँखों समाज को देखा था। वे इस नतीजे पर पहुँचे थे कि बन्धन भीतर का है, बाहर का नही। बाहरी बन्धन भी दो प्रकार के है—भूतकाल की सञ्चित स्मृतियों का जाल और भविष्य की चिन्ता से बचने के लिए संगृहीत जड सम्भार। एक का नाम है संस्कृति, दूसरे का सम्पत्ति। एक का रथवाहक धर्म है, दूसरे का राजनीति है। अपने एक मौजी पात्र (प्रोफेसर मेहता) के मुँह से 'गोदान' मे उन्होंने कहलवाया है—"मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवा नहीं करता। भविष्य की चिन्ता हमे कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हममें जीवन की शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह और भी क्षीण हो जाती है। हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर रूढ़ियों और विश्वास तथा इतिहासों के मलवे के नीचे दबे पड़े है, उठने का नाम नहीं लेते।" प्रेमचन्द का यह विश्वास ही उनकी विशेषता है। उन्होंने बडी ईमानदारी और गहराई के साथ अपना विशेष दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

(3) 'प्रसाद' ने यद्यपि प्राचीन गौरव का अध्ययन और मनन बहुत अधिक किया था, परन्तु उन्होने अपने समस्त अध्ययन को मनुष्य की दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया। अध्ययन अध्ययन के लिए नही है, मनुष्य के उद्धार और उन्नयन के लिए है। शास्त्र-ज्ञान इसी महान् उद्देश्य की सिद्धि से सार्थक होता है। प्रसाद ने नाटक, काव्य और कहानी-उपन्यास लिखे हैं। विषय अधिकांश प्राचीन साहित्य से लिये हैं; पर सबको नवीन भारत के बीजारोपण में विनियुक्त किया है। यह बात ध्यान देने की है कि प्रसादजी ने हमारे आलोच्य काल मे अपनी भाषा और प्रकाशनभंगी बदल दी थी।

अब तक हम भाषा के स्वरूप के विषय में झगड रहे थे। पण्डित महावीर-प्रसाद द्विवेदी जैसे पुरुष और ईमानदार व्यक्ति के हाथों भाषा परिमार्जित और परिष्कृत हो चुकी थी। हिन्दी गद्य सब-कुछ को आत्मसात् और अभिव्यक्त करने की आकांक्षा लेकर आगे बढ़ा। इस काल मे मनुष्य की वैयक्तिकता ने निश्चित रूप से साहित्य मे स्थान पाया। वह दिन सचमु[illegible] कविता की मुक्ति का दिन था जब कवि ने परिपाटी[illegible] रस [illegible] काव्य-कला

वर्मा, बच्चन आदि कवियों को बहुत सम्मान मिला। इन कवियों में समाज-व्यवस्था के प्रति असन्तोष स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ। प्रसाद, महादेवी और पन्त ने इस काल मे अपने नवीन विचारो को मूर्त्त रूप दिया। सभी नवीन कवियों को एक ही नाम देकर जो गलती की गयी थी वह अब प्रकट हुई। कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय, चन्द्रगुप्त, यशपाल आदि ने केवल असन्तोष की भावना को ही नही उकसाया, अपने रचनात्मक सुझाव भी उपस्थित किये। कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर अधिकांश प्रवृत्ति समाजवादी रही। विहार मे 'दिनकर' ने बहुत ही क्रान्तिकारी गान गाये। शुरू-शुरू में उनकी कविताओं मे युवजनोचित कल्पना का प्राधान्य रहा; पर बाद में उनकी प्रवृत्ति भी नवयुग के अन्यान्य कवियों के समान ही हो गयी। इस काल मे विहार मे कई प्रतिभाशाली कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। 'नेपाली' और आरसीप्रसाद सिंह ने अधिक कीर्ति प्राप्त की। नये नाटककारों में सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र और 'प्रेमी' ने नये आदर्श उपस्थित किये।

द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने के बाद—विशेषकर रूस के युद्ध-क्षेत्र में आ जाने के बाद—नवीन साहित्यिकों में मतभेद दिखायी दिया। कुछ दिनों तकहमारे नेताओं में भी निष्क्रियता का भाव बना रहा। युद्ध अप्रत्याशित नहीं था। परन्तु हमने—कम-से-कम साहित्यिकों ने—युद्धकालीन कर्त्तव्य की बात सोची ही नहीं थी और जब युद्ध शुरू हुआ तो कुछ दिनों तक ऐसा भाव बना रहा जैसे हमें कही भी कुछ सूझ न रहा हो। इस युद्ध में साम्राज्यवाद ने समाजवाद से हाथ मिलाया। हमारे साहित्यिक अब तक साम्राज्यवाद के विरोधी थे और समाजवाद की ओर झुक रहे थे। यहाँ उन्हे भारी कर्त्तव्य-द्वन्द्व का सामना करना पड़ा। एक दल ने इस गठबन्धन मे समाजवाद को प्रबल पाया और स्पष्ट घोषणा की कि यह युद्ध जनता का युद्ध है। अन्त मे साम्राज्यवाद इसमें अवश्य पिट जायगा। दूसरे ने सन्देह के साथ कहा कि साम्राज्यवाद कोई 'कुम्हड़े की बतिया' नही है जो उँगली देखते ही मर जाय। दोनो ओर से तर्कों की बौछार जारी रही। जिस प्रकार हम युद्ध-पूर्व-काल मे यह स्थिर नहीं कर सके थे कि युद्ध के समय हमारा क्या कर्त्तव्य होगा, उसी प्रकार इस समय भी यह तै नही कर सके कि शान्तिकाल में हमारा क्या कर्त्तव्य होगा। युद्ध-काल मे हम कोई बड़ा साहित्य पैदा कर सके है या नही, यह भविष्य ही बतायेगा; मेरा विश्वास है; नही कर सके हैं। मेरा यह भी विश्वास है कि युद्ध मे साम्राज्यवाद की कमर टूट गयी है। वह अपना पुराना बल दीर्घ काल तक सचय नही कर सकेगा, और इस बीच नयी व्यवस्था काफी शक्तिशाली हो जायगी। हमारे साहित्यिकों को अब उस नयी व्यवस्था की ही फिक्र करनी चाहिए। राजनीतिक नेता जब अपना कर्त्तव्य स्थिर कर लेंगे तो हम भी उनका अनुसरण करने लगेंगे, यह कुछ ठीक बात नही है, साहित्यस्रष्टा की आँखें दूर तक जानी चाहिए।

हम अब तक काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि रसात्मक साहित्य की ही

चर्चा करते आ रहे हैं। पर हमारी भाषा में केवल ये ही चीजें नहीं लिखी गयी है। जिस दिन हिन्दी के लेखक का चित्त मुक्त हुआ उस दिन उसने प्रायः सभी क्षेत्रों में प्रयत्न शुरू किया। साहित्य के अध्ययन के साधन जुटाने में कुछ पुराने लेखक इस काल में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करते रहे। श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, रामनरेश त्रिपाठी आदि के नाम बहुत दिनों तक याद किये जायेंगे। ग्रन्थ-सम्पादन इसके पहले कम ही हुआ था। इस काल में श्यामसुन्दरदास के अतिरिक्त कई अन्य विद्वानों ने बड़े महत्त्व के ग्रन्थ सम्पादित किये। ग्रन्थ-सम्पादन, शोधकर्म और ग्रन्थसंचय-जैसे महत्त्व के काम हिन्दी भाषा के माध्यम से पहले हुए भी नहीं थे और लोगों ने इसका महत्त्व भी नहीं समझा था। इस काल मे मुनि जिनविजय, रामचन्द्र शुक्ल, राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौशल्यायन, धीरेन्द्र वर्मा, रामकुमार वर्मा, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल जैसे विद्वानों ने इन क्षेत्रों मे महत्त्वपूर्ण कार्य किये। भाषा-विज्ञान के अध्ययन में विशेष रस लिया जाने लगा। श्यामसुन्दरदास, धीरेन्द्र वर्मा, मङ्गलदेव शास्त्री आदि पण्डितों ने इस विषय के उत्तम ग्रन्थ लिखे।

भारतीय इतिहास के क्षेत्र में ओझाजी पहले से ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। हमारे आलोच्य काल में जयचन्द विद्यालंकार ने मौलिक अनुसन्धान किये। राहुल सांकृत्यायन और सम्पूर्णानन्दजी-जैसे मनीषियों ने तत्त्वविचार के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे और भारतीय दर्शन के क्षेत्र मे बलदेव उपाध्याय, देवराज आदि के ग्रन्थ बहुत उपादेय हुए। कन्हैयालाल पोद्दार ने संस्कृत साहित्य का इतिहास भी लिखा। यद्यपि विज्ञान में हमारी भाषा ने कुछ नया नहीं दिया तथापि इस क्षेत्र में भी अनेक कृती वैज्ञानिक ग्रन्थ लिखते रहे। रामदास गौड़, फूलदेव सहाय वर्मा, गोरखप्रसाद, त्रिलोकीनाथ वर्मा, सत्यप्रकाश, महावीरप्रसाद आदि वैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न विषयों की बहुत उपयोगी पुस्तकें लिखी। इस प्रकार आज से पचीस वर्ष पहले हिन्दी ने जो सब-कुछ को अपनी आँखों देखने की दृष्टि पाने का यत्न आरम्भ किया था उसमें वह बहुत-कुछ सफलकाम रही। परन्तु यह सत्य है कि अभी तक इन अध्ययनों मे उतनी मौलिकता नहीं आ पायी है जितनी की आशा की जानी चाहिए। हिन्दी संसार की सर्वाधिक बोली जानेवाली छ-सात भाषाओं मे से है। उसका विस्तार जितना अधिक है, उसकी आवश्यकताएँ भी उतनी ही अधिक हैं। जितना कार्य हुआ है वह सन्तोषजनक बिल्कुल नहीं है, पर आशाजनक अवश्य है। हमने मुक्त दृष्टि पायी है, हम संसार की प्रत्येक वस्तु को अपनी आँखों देखना चाहते हैं, यह कम नहीं है। यदि हममें सुबुद्धि उत्पन्न हो गयी है तो चिन्ता की कोई बात नहीं, क्योंकि कुलीन जन की निर्धनता खलनेवाली बात नहीं होती, उसकी बुद्धिहीनता या कुबुद्धि ही चिन्ता का कारण होती है। हम कुलीन हैं, हमारे पूर्वजों ने ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र मे गम्भीर चिन्ता की थी, हमारा पुराना साहित्य यद्यपि अधिकांश खो गया है, तो भी जितना है उतना ही अत्यन्त विशाल और गहन है। हममें अगर आत्मचेतना आ गयी है तो निराश होने का कोई कारण नहीं।

ज्यों-ज्यों भारतवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आलोचना का प्रधान विषय होता गया है त्यों-त्यों उसे उसके यथार्थ रूप में जानने की प्रवृत्ति सारी दुनिया में—विशेषकर एशिया में—बढ़ती गयी है। इसीलिए हिन्दी अब भारतवर्ष की सीमा के बाहर भी पढ़ी-पढ़ायी जाने लगी है। उसके विचारकों के विचारों के आधार पर भारतवर्ष की आशा-आकांक्षा को समझने का प्रयत्न होने लगा है।

परिशिष्ट

संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त परिचय

संस्कृत में लिखे हुए ग्रन्थ

सन् 1840 ई. में एलफिन्स्टन नामक यूरोपियन पण्डित ने हिसाब लगाकर देखा था कि संस्कृत साहित्य मे जितने ग्रन्थ विद्यमान है, उनकी सख्या ग्रीक-लैटिन मे लिखे हुए ग्रन्थो की मिली हुई संख्या से कही अधिक है। मगर उस समय तक संस्कृत के बहुत कम ग्रन्थ पाये गये थे। इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि 1830 ई. में फ्रेडरिख जैसे साहित्यान्वेषी को केवल साढ़े-तीन सौ संस्कृत ग्रन्थों का पता था और 1852 ई. में वेवर ने अपने संस्कृत-साहित्य के इतिहास में जिन ग्रन्थों की चर्चा की थी उन सबकी सख्या 500 के ही आसपास थी। बाद मे वेवर की संगृहीत पुस्तकों की संख्या 1300 हो गयी थी। यदि 1840 ई. मे ही एलफिन्स्टन की बात ठीक थी तो आज तो कहना ही क्या है। सन् 1891 ई. में थियोडोर आफ्रेक्ट ने 'कैटलॉगस केटलागॉरम' नाम की सूची तैयार की। इसमें उस समय तक के पाये गये समस्त सस्कृत ग्रन्थों के नाम थे। इसमे वर्णित ग्रन्थों की संख्या 32 हजार के आसपास थी। और 1916 ई. मे महामहोपाध्याय प हरप्रसाद शास्त्री ने, जिन्हें नेपाल से बहुत-सी अज्ञात पुस्तकों को प्रकाश मे लाने का श्रेय प्राप्त है, 40 हजार से ऊपर संस्कृत ग्रन्थों की चर्चा की थी ! आज सख्या इससे भी कहीं ज्यादा है। तब से अब तक सुदूर मध्य एशिया, तिब्बत और नेपाल से बहुत-से खोये हुए समझे जानेवाले तथा अल्पज्ञात ग्रन्थो का पता लगा है और लगता जा रहा है। हाल में ही महापण्डित राहुल साकृत्यायन की तिब्बत-यात्रा ने इस संख्या को और भी अधिक बढ़ा दिया है। निःसन्देह इस समय तक सस्कृत मे लिखे गये ग्रन्थों की संख्या आधे लाख के पार हो गयी है। फिर भी सस्कृत ग्रन्थों की खोज का काम अभी बाल्यावस्था में ही है। सन् 1919 ई. मे, जब यह खोज का काम शुरू किया गया था, जर्मन विद्वान् श्लिगल को एक दर्जन से अधिक ग्रन्थों का भी पता न था !

इन ग्रन्थों का वर्गीकरण

विण्टरनित्ज ने लिखा है कि 'लिटेरेचर' (साहित्य) शब्द अपने व्यापक अर्थ में जो कुछ भी सूचित कर सकता है, वह सब सस्कृत मे वर्तमान है। धार्मिक और ऐहिकतापरक (सेक्यूलर) रचनाएँ, महाकाव्य, लिरिक, नाटकीय और नीति-

इनमें कर्मकाण्ड की ही प्रधानता है। कब और कैसे अग्नि प्रज्वलित करना चाहिए, कुश किधर और क्यों रखना चाहिए आदि यज्ञ-सम्बन्धी अनेक छोटी-मोटी बातों का विवेचन किया गया है, तथा जगह-जगह ऐतिहासिक और परम्परा-प्राप्त कहानियाँ भी है जो बाद में चलकर पुराण और इतिहास का रूप धारण करती है। यह ध्यान देने की बात है कि ब्राह्मणों मे सम्पूर्ण संहिता को प्रामाण्य रूप मे स्वीकार कर लिया गया है, अर्थात् संहिता और ब्राह्मण-काल के बीच काफी अन्तर वर्त्तमान था। लेकिन इससे यह नही समझना चाहिए कि संहिता और ब्राह्मणों के बीच मे कुछ और साहित्य बना ही नही। असल मे ब्राह्मणों मे से ही अनेक लुप्त हो गये हैं और यह जानने का कोई उपाय नहीं रह गया है कि उनमें क्या था। ब्राह्मणों ने जिस दृष्टि से संहिता को देखा है वह यद्यपि कर्मकाण्ड-प्रधान है, फिर भी उसमे व्याकरण, आयुर्वेद, दर्शन आदि का अस्पष्ट रूप विद्यमान है। ब्राह्मणो के अन्त मे दार्शनिक अध्यायों के रूप में आरण्यक और उपनिषद् हैं। इनमें आध्यात्मिक बातों का बड़ा गम्भीर विवेचन किया गया है। भारतवर्ष के सभी दार्शनिक सम्प्रदाय (बौद्धों और जैनों को छोड़कर) इन उपनिषदो मे ही अपना आदि-अस्तित्व स्वीकार करते है।

प्रधान-प्रधान ब्राह्मण ये हैं: ऐतरेय और शांखायन (ऋग्वेद); तैत्तिरीय (कृष्ण यजुर्वेद का); शतपथ (शुक्ल यजुर्वेद का); ताण्ड्य या पञ्चविंश, तवल्कार या जैमिनीय (सामवेद का); और गो-पथ (अथर्ववेद का)। जैसा कि पहले ही बताया गया है ब्राह्मणों के अन्त में आरण्यक है और आरण्यकों के अन्त में उपनिषद्। उपनिषदों की संख्या वैसे तो बहुत है पर ग्यारह प्राचीन हैं—ऐतरेय और कौशीतकी (ऋग्वेद के); छान्दोग्य और केन (सामवेद के); तैत्तिरीय, कठ और श्वेताश्वर (कृष्ण यजुर्वेद के); बृहदारण्यक, ईश (शुक्ल यजुर्वेद के) और प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य (अथर्ववेद के)। महामहोपाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री का विचार है कि सन् ईसवी से एक हजार वर्ष पहले तक यहाँ तक का साहित्य निश्चित रूप मे रचित हो चुका था।

वेदांग-साहित्य

(ई. पू. 1000-400 ई. तक)

वैदिक साहित्य काफी बड़ा हो चुका था। उसकी वैज्ञानिक छान-बीन भी आरम्भ हो गयी थी। वेदाङ्ग-युग में इन्ही प्रयत्नों का संग्रह हुआ। उन दिनो पढने-पढाने के लिए कण्ठस्थ करना नितान्त जरूरी था, इसीलिए इस युग मे सूत्र-रूप से बातें लिखी गयी। उद्देश्य यह था कि थोड़े मे बहुत याद कर लिया जाय। वेदाङ्ग-साहित्य सूत्रों में लिखा गया है। कहीं-कहीं ये सूत्र पद्य में भी हैं; पर अधिकतर गद्य में हैं। वैदिक साहित्य स्वतः प्रमाण माना जाता था; पर इस (वेदाङ्ग) श्रेणी के ग्रन्थों के लेखकों का नाम प्राय सर्वत्र पाया जाता है। अर्थात् यह साहित्य मनुष्य-कृत माना जाता था। (1) शिक्षा में उच्चारण की विधियों का निर्णय होता है।

इस अङ्ग पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे जो दुर्भाग्यवश अधिकतर लुप्त हो गये है। जो बचे हैं उनमें से कई यूरोपियन, अमरीकन और भारतीय पण्डितो द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुए हैं। (2) कल्प सूत्र तीन तरह के है, श्रौत-सूत्र, धर्म-सूत्र और गृह्य-सूत्र में वैदिक यज्ञों का विधान किया गया है। इन सूत्रों को आश्रय करके रचित बहुत थोडा साहित्य प्राप्त हुआ है। इस समय इनके आधार पर लिखित साहित्य में का अधिकाश सन् ईसवी की छठी से लेकर बारहवी शताब्दी तक ही लिखा गया था। धर्म-सूत्रों में ब्राह्मण के नित्य और नैमित्तिक कर्म का विधान है। छठी शताब्दी से लेकर आज तक इन सूत्रों को आश्रय करके एक विशाल साहित्य का निर्माण हुआ है। बाद की बनी स्मृतियों, टीकाओं, भाष्यों और निबन्धों में इस साहित्य का प्रचुर प्रसार हुआ है। स्मृतियाँ, धर्म-सूत्र तथा श्रौत और गृह्य सूत्रों में द्विज के संस्कारों और अन्यान्य कर्मो का विधान है। उस युग के सामाजिक आदर्श और परिस्थिति का अध्ययन करने की दृष्टि से इन सूत्रों का बड़ा महत्त्व है। विण्टरनित्ज का कहना है कि 'गृह्य-सूत्र' नृतत्त्व-विशारदों के बड़े काम की चीज है। यह याद रखना चाहिए कि ग्रीक और रोमन सामाजिक विधान को जानने के लिए पण्डितों को कितना परिश्रम करना पडा है, कितने प्रकार की बहुधा विस्रस्त सामग्री की छान-बीन करनी पड़ी है, पर यहाँ भारतवर्ष में अत्यन्त प्रामाणिक विवरण प्राप्त हैं और इन विवरणों को हम आँखो देखा विवरण कह सकते है। ये सूत्र मानो प्राचीन 'फोकलोर जर्नल' है। इन तीन प्रकार के सूत्रों के बाद एक चौथे प्रकार का सूत्र है जो सीधे श्रौत-सूत्रो से सम्बद्ध है। इसे शुल्व-सूत्र कहते हैं। इसमे यज्ञ-वेदियों के माप करने की विधि है। भारतीय पण्डितों का दावा है कि शुल्व-सूत्रों में रेखागणित-सम्बन्धी नियमों का वैज्ञानिक व्यवहार संसार में सबसे पहले हुआ था।

व्याकरण के सबसे प्रसिद्ध आचार्य पाणिनि का समय निश्चित रूप से ईसवी सन् से चार शताब्दी पहले है। इनकी लिखी अष्टाध्यायी की महिमा इस देश में अब भी प्रतिष्ठित है। कहते हैं कि संसार मे इतना परिपूर्ण व्याकरण अब तक नही लिखा गया। अष्टाध्यायी में 3863 सूत्र है, इन पर कात्यायन के शोधन और परिवर्त्तन-सम्बन्धी वार्त्तिक है। सूत्रों और वार्त्तिकों की मिली हुई संख्या 5100 से भी ऊपर है। इन दोनों पर पतञ्जलि ने लगभग 150 ई० पू० मे अपना प्रसिद्ध महाभाष्य लिखा। पाणिनि के पूर्व और भी अनेक व्याकरण-सम्प्रदाय थे। पाणिनि को आधार करके बहुत-से व्याकरण-ग्रन्थ लिखे गये है। अकेली अष्टाध्यायी पर पचास से अधिक व्याख्याएँ थी, जिनमे की अधिकाश लुप्त हो गयी हैं। पाणिनि के बाद, उन्ही की शैली और प्रतिपादित अर्थो के अनुकरण मे कई अन्य व्याकरण लिखे गये थे। इनमे प्रसिद्ध ये हैं—(1) कलाप (द्वितीय शताब्दी), (2) चान्द्र (षष्ठ शताब्दी), (3) जैनेन्द्र (आठवी शताब्दी), (4) शाकटायन (नवम शताब्दी), (5) संक्षिप्त सार (नवम शताब्दी), (6) सारस्वत (एकादश शताब्दी), (7) हेमचन्द्र (बारहवी शताब्दी), (8) मुग्धबोध (तेरहवीं शताब्दी),

(9) सुपद्म (चौदहवीं शताब्दी)। आजकल पाणिनि के सम्बन्ध में सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ भट्टोजि दीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी है।

निरुक्त वैदिक निघण्टु के भाष्य के रूप में सम्भवतः ईसा से छः सौ वर्ष पहले लिखा गया था। इसमें वैदिक शब्दों की निरुक्ति बतायी गयी है। कौन-सा शब्द क्यों किसी विशेष अर्थ में व्यवहृत हुआ है, यह बात समझायी गयी है। आधुनिक भाषा-शास्त्री इन सभी निरुक्तियों से सहमत नहीं होते; पर वे यह स्वीकार करते हैं कि वेदों को समझने के लिए निरुक्त नितान्त आवश्यक है। निरुक्त की एक टीका पायी गयी है जो बारहवीं शताब्दी के आस-पास की लिखी हुई है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि हिन्दुओं ने सन् ईसवी के बहुत पूर्व कोष-ग्रन्थ लिखे थे। इन कोषों में विषयानुसार एकार्थ के शब्दों का संग्रह रहता था। संसार की किसी जाति ने इतने पुराने जमाने में कोष नहीं लिखे। सन् ईसवी के आसपास का लिखा हुआ अमरकोष एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और इस तरह के बीसियों कोष सस्कृत में बने थे। आयुर्वेदिक वनस्पतियों के अर्थ और गुण के निदर्शक निघण्टुओं का वर्गीकरण आज भी विज्ञानसम्मत समझा जाता है।

छन्दःशास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ पिंगल-छन्दःसूत्र है। पिंगल कौन थे और कब पैदा हुए थे, यह अब भी निश्चित नहीं हुआ है। कुछ पण्डितों के मत से वे सम्राट् अशोक के गुरु थे। पिंगल का एक अन्य संस्करण प्राकृत पिंगल है जिसमें प्राकृत छन्दों के नियम बताये गये हैं; पर यह चौदहवीं शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं है। इस विषय पर बहुत-से ग्रन्थ लिखे गये हैं; पर सभी अपेक्षाकृत नवीन हैं।

वेदांगों में ज्योतिष एक महत्त्वपूर्ण विषय है। वेदांग-ज्योतिष नामक लगध-मुनिप्रणीत ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। इसके दो रूप हैं, ऋग्वेद का वेदांग और यजुर्वेद का वेदांग। दोनों में बहुत थोड़ा अन्तर है। इनमें सब मिलाकर 45 श्लोक हैं। इनमें की ज्योतिषिक गणना बहुत पुरानी है; केवल सूर्य और चन्द्रमा इन दो ही ग्रहों की मध्यम गति बतायी गयी है। दिन और रात की वृद्धि तथा क्षय को एक नियमित वेग से चालू मान लिया गया है। बाद के हिन्दू ज्योतिष को तीन स्कन्धों में विभाजित कर सकते हैं—संहिता, गणित और जातक। प्राच्यविद्या-विशारदों में से अधिकांश का मत है कि संहिता स्कन्ध मगों और जातक ग्रीकों से ग्रहण किया गया था। इन तीनों स्कन्धों पर सस्कृत में विशाल साहित्य का निर्माण हुआ है। विशेषकर गणित में हिन्दुओं ने ससार को बहुत बड़ा ज्ञान दिया है, हालांकि उन्होंने थोड़ा-बहुत ग्रीकों से भी ग्रहण किया है। आर्यभट्ट, लल्ल, वराह, ब्रह्मगुप्त, मुञ्जाल और भास्कराचार्य ने गणित-ज्योतिष को अभिनव समृद्धि से समृद्ध किया था। अत्यन्त आधुनिक काल में भी संस्कृत में ज्योतिष के ग्रन्थ बराबर लिखे जाते रहे हैं। म. म. चन्द्रशेखर सामन्त और म. म. पं. सुधाकर द्विवेदी के ग्रन्थ इस विषय में विशेष उल्लेख योग्य हैं।

पुराण-इतिहास
(ई. पू. 600-400 ई. तक)

सूत्रकाल के अन्त में संस्कृत में एक विशेष जाति का छन्द बहुत लोकप्रिय होने लगा था। इसका शास्त्रीय नाम 'अनुष्टुप्' है; पर साधारणतः यह 'श्लोक' नाम से मशहूर है। पुराण और इतिहास का अधिकांश इसी श्लोक मे लिखा गया है। कहते है कि महाभारत और रामायण सन् ईसवी से लगभग चार सौ वर्ष पहले लिखे गये थे। महाभारत परम्परा-समागत इतिहासों का संग्रह था और रामायण परम्परा से प्राप्त काव्य या एपिक था। लेकिन इन दोनों ग्रन्थो को हम जिस रूप में आज पाते है वह उतना पुराना नही है। समय-समय पर इनमे परिवर्त्तन होता रहा है। महाभारत साधारणतः कई रूपो में उपलब्ध होता है। उत्तर-भारत में उसका एक रूप है, दक्षिण भारत में दूसरा और मलाबार मे तीसरा। तीसरा महाभारत, विद्वानों की राय मे, ई. पूर्व की दूसरी शताब्दी मे पूर्ण हो गया था। उत्तर और दक्षिण के महाभारत में बहुत-सा प्रक्षेप है। रामायण भी पूर्वी भारत में एक तरह की है। मध्य भारत में दूसरी तरह की और पश्चिम भारत मे तीसरी तरह की। म. म. हरप्रसाद शास्त्री का कहना है कि रामायण के प्रथम और सप्तम काण्ड बाद के प्रक्षिप्त हैं।

पुराणों की संख्या इस देश में कितनी है, यह बताना कठिन है। साधारणत. अठारह महापुराण और इतने ही उपपुराणों की प्रधानता है, फिर भी पुराण नाम से प्रचलित ग्रन्थों की संख्या सौ से भी ऊपर है। पुराण कब बने थे, यह कहना बड़ा मुश्किल है। सभी पुराण एक ही समय मे नही बने। पर्जिटर, जो इस विषय के वैज्ञानिक विवेचक माने जाते हैं, कुछ पुराणों को सन् ईसवी के पूर्ववर्त्ती मानने में नही हिचकते। एक अत्यन्त विवादास्पद सिद्धान्त जैकसन ने स्थिर किया था जिसके अनुसार सन् ईसवी के छः सौ वर्ष पूर्व पुराण नामक कोई ग्रन्थ था जिसने नाना सम्प्रदायो के हाथ में पड़कर नाना भाँति का रूप धारण किया है। आजकल यह विश्वास किया जाने लगा है कि पुराणों में ऐसी बहुत-सी कहानियाँ और ऐतिहासिक घटनाएँ विवृत है जो आर्य-पूर्व जातियों की चीज है। स्व. विद्वद्वर काशीप्रसाद जायसवाल ने पुराणों के आधार पर इतिहास की प्रामाणिक सामग्रियाँ संग्रह की हैं। सो, कुछ भी क्यो न हो, म. म. हरप्रसाद शास्त्री का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि सन् ईसवी की पाँचवी शताब्दी मे पुराण तैयार हो चुके थे, यद्यपि बाद मे भी उनमें प्रक्षेप होता रहा है। इन पुराणों मे भारतीय धर्ममत, इतिहास और साधना के अध्ययन की प्रचुर सामग्री भरी पडी है। पौराणिक साहित्य बहुत बड़ा और मूल्यवान साहित्य है। जैनों के भी बहुत से पुराण लिखे गये जो अधिकांश में ब्राह्मणों के पुराणों की प्रतिद्वन्द्विता में लिखे गये होंगे।

धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र

कल्पसूत्रों की चर्चा करते समय बताया गया है कि इन सूत्रों को आश्रय करके एक विशाल साहित्य का निर्माण हुआ। स्मृतियाँ, जो इस विशाल साहित्य की अंग हैं, ऊपर बताये हुए पुराण-काल में ही अधिकतर निर्मित हुईं। सन् ईसवी के पहले इस प्रकार की अनेक स्मृतियाँ तैयार हो गयी थीं। मानव-धर्मशास्त्र या मनुस्मृति इन्हीं स्मृतियों के निचोड़ का संग्रह है। अर्थशास्त्र की भी अनेक पुस्तकें उस युग में लिखी गयी थीं। अर्थशास्त्र-सम्बन्धी बहुत से सिद्धान्त विभिन्न आचार्यों के नाम पर चल पड़े थे। कौटिल्य का अर्थशास्त्र इन्हीं सिद्धान्तों का संग्रह है। बाद में भी इस विषय पर ग्रन्थ लिखे गये जिनमें से अधिकांश इस समय लुप्त हो गये हैं।

कामशास्त्र की भी उन दिनों काफी चर्चा थी। अनेक आचार्यों ने ऐहिक सुख-भोग के नाना अंगों पर ग्रन्थ लिखे थे। इन सबका सार संग्रह करके सन् ईसवी की पहली या दूसरी शताब्दी में वात्स्यायन ने अपना प्रसिद्ध कामसूत्र लिखा। बाद में कामशास्त्र अत्यन्त सीमित अर्थ में बरता जाने लगा और सीमित अर्थ के विधायक बहुत-से ग्रन्थ लिखे गये।

दर्शन

(सन् 200-800 ई०)

भारतीय दर्शनों के मूल में वेद और उपनिषद हैं। जैन और बौद्ध दर्शन भी, जो अपने को वैदिक सम्प्रदाय का प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं, इनसे प्रभावित हुए थे। हाल ही में विश्वास किया जाने लगा है कि अध्यात्मवाद का मूल उत्स भारतवर्ष की आर्येतर जातियाँ थीं। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि जिस रूप में आज हम भारतीय दर्शन को पाते हैं उसकी प्रेरणा वेदों से प्राप्त हुई थी। दर्शन छः माने जाते हैं यद्यपि चौदहवीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने सोलह दर्शनों का उल्लेख किया था। छः मुख्य दर्शनों के नाम इस प्रकार हैं : सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त)। ये दर्शन सूत्ररूप में लिखे गये थे और इनको समझने के लिए भाष्यों की बड़ी जरूरत थी। सबसे पुराना भाष्य मीमांसा (पूर्व) पर शबर-भाष्य है। शबर के ही सम्प्रदाय में सुप्रसिद्ध कुमारिलभट्ट हुए जिन्हें बौद्धों को भारतवर्ष से निर्मूल करने का नाम प्राप्त है। इसके बाद न्याय का वात्स्यायन-भाष्य है। फिर वैशेषिक दर्शन पर प्रशस्तपाद का भाष्य है। आगे चलकर न्याय और वैशेषिक एक में मिल गये और 'नव्य न्याय' नाम से उत्तरकाल में एक प्रबल साहित्य सृष्ट हुआ। योगदर्शन के भाष्यकार व्यास का समय, म. म. हरप्रसाद शास्त्री के मत से, पाँचवीं सदी होना चाहिए। सांख्य के मूल सूत्र और भाष्य शायद खो गये हैं। सांख्य-सूत्र नाम से प्रचलित ग्रन्थ बाद का है। इस दर्शन पर सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ ईश्वरकृष्णाचार्य की सांख्यकारिका है, जो शायद सन् ईसवी की पाँचवीं शताब्दी (479 ई.) की लिखी है। कुछ यूरोपियन पण्डितों का

म. म. पण्डित विधुशेखर शास्त्री ने इन अनुवादों के आधार पर कई मूल ग्रन्थों का उद्धार किया है। इधर हाल में ही महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तिब्बत में पाये हैं।

आयुर्वेद और अन्य उपवेद

चारों वेदों के चार उपवेद हैं। इनका नाम है : आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और शिल्पवेद या विश्वकर्म-शास्त्र। चौथा उपवेद किसी-किसी के मत से तन्त्र है। इनमें सर्वाधिक उल्लेखयोग्य आयुर्वेद है। अथर्ववेद में आयुर्वेदिक ओषधियों का प्रचुर वर्णन है। आयुर्वेद के आठ अंग हैं—शल्य,[1] शालाक्य,[2] कायचिकित्सा, भूतविद्या,[3] कौमारभृत्य, अगदतन्त्र,[4] रसायनतन्त्र[5] और वाजीकरण[6]। सन् ईसवी के बहुत पहले इन अंगों पर अनेकों बड़ी-बड़ी पोथियाँ लिखी गयी थीं। पर दुर्भाग्यवश उनका अब नाम-भर शेष रह गया है। ग्रन्थों का सार संकलन करके चरक और सुश्रुत ने अपनी-अपनी प्रख्यात संहिताएँ लिखीं जो बाद में चलकर सारे संसार के चिकित्सा-शास्त्र को प्रभावित करने में समर्थ हुईं। बौद्ध त्रिपिटकों के सारे चीनी संस्करणों से जाना जाता है कि चरक महाराज कनिष्क (सन् ईसवी की प्रथम शताब्दी) के राजवैद्य थे। सुश्रुत का भी लगभग यही काल होना चाहिए, क्योंकि काशगर में मिले हुए वोअर मैनुस्क्रिप्ट्स से (जो निश्चय ही चौथी शताब्दी के होने चाहिए) चरक और सुश्रुत के उद्धरण पाये जाते हैं। पुरानी संहिताओं में भेड़ संहिता की एक प्रति पायी गयी है। चरक और सुश्रुत की संहिताओं के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वाग्भट का अष्टांगहृदय है। इन तीनों को आयुर्वेद की बृहत्त्रयी कहते है। बाद में इस शास्त्र पर असंख्य ग्रन्थ लिखे गये और अब तक लिखे जा रहे हैं। इन ग्रन्थों में से कई के तिब्बती अनुवाद सुरक्षित हैं जो मूल संस्कृत में खो गये माने जाते हैं। आधुनिक काल में म. म. गणनाथसेन का 'प्रत्यक्ष शारीरम्' आयुर्वेदिक साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

अन्य उपवेदो में गान्धर्ववेद की पुस्तकें पायी जाती है, पर अधिकतर बाद की लिखी हैं। शिल्पशास्त्र की पुस्तकों का बहुत कम पता लग पाया है। इस विषय के अधिकांश ग्रन्थ लुप्त हो गये है। कोई ग्रन्थ मेरे देखने में नहीं आया। केवल अग्निपुराण में, जिसे उस युग का विश्वकोष कह सकते है, इसकी चर्चा है। तन्त्र-शास्त्र की चर्चा अन्यत्र की गयी है।

अलंकृत काव्य, गद्य, नाटक, चम्पू और कहानियाँ

सन् ईसवी के आरम्भ तक संस्कृत मे कविता या तो धार्मिक उद्देश्य से लिखी जाती थी या आध्यात्मिक उद्देश्य से। (विण्टरनित्ज का खयाल है कि बहुत प्राचीन

1. Major Surgery. 2. Minor Surgery. 3. Demonology.
4. Toxicology. 5. Elixirs. 6. Aphrosidiacs

युग में ऐसी कविता भी जरूर लिखी जाती थी जिसका उद्देश्य केवल रस-सृष्टि था। नल-दमयन्ती का उपाख्यान एक ऐसा ही काव्य है जो बाद में महाभारत में अन्तर्भुक्त हो गया।) पर बाद में बात ऐसी नहीं रही। सन् ईसवी के आसपास कविता केवल रस-सृष्टि के उद्देश्य से लिखी जाने लगी और इस क्षेत्र में संस्कृत के कवियों ने कमाल किया। कालिदास के अमर काव्य रस-जगत् की अनमोल सम्पत्ति हैं। बाद में माघ, भारवि और श्रीहर्ष की मनोहारिणी रचनाओं ने संस्कृत साहित्य को अधिक समृद्ध किया। सैकड़ों कवियों के प्रबन्ध-काव्यों और उद्भट रचनाओं से संस्कृत का साहित्य बेजोड़ हो गया है।

पद्यमय काव्य के साथ ही गद्यमय काव्य का भी संस्कृत में विकास होने लगा था। इतना कलामय और 'रिदमिक' गद्य संसार की और किसी भाषा ने नहीं पैदा किया। वसुबन्धु की 'वासवदत्ता' और बाणभट्ट की 'कादम्बरी' अपने ढंग की अनोखी रचनाएँ हैं। गद्य और पद्य के मिलाये हुए रूप में एक और तरह की रचना भी संस्कृत साहित्य की एक विशेषता है। इसे चम्पू कहते हैं। गद्य का एक दूसरा रूप 'पंचतन्त्र' आदि कहानियों के रूप में पाया जाता है। बेनिफी ने पहले पंचतन्त्र की कहानियों का अनुवाद करके यूरोपियन कहानियों से तुलना की। उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि संसार की कहानियों का मूल भारतवर्ष ही है। पंचतन्त्र की कहानियों ने संसार की सारी भाषाओं के साहित्य को आश्चर्य-जनक रूप में प्रभावित किया है। पंचतन्त्र का माहात्म्य सारे संसार में प्रतिष्ठित हो गया है! बेनिफी के प्रयत्न से एक नये शास्त्र का ही जन्म हुआ जिसे कहानियों की आलोचना का तुलनात्मक साहित्य कहा जाता है। गुणाढ्य ने लगभग दो हजार वर्ष पहले पैशाची प्राकृत में 'बृहत्कथा' नामक कथा का ग्रन्थ लिखा था। यह मूल ग्रन्थ खो गया है; पर उसके संस्कृत रूपान्तर, जिनमें 'कथासरित्सागर,' 'बृहत्कथा-मंजरी,' 'बृहत्कथा श्लोकसंग्रह' आदि मुख्य हैं, पाये जाते हैं। इन कहानियों का आश्रय करके संस्कृत में अनेक कथा-ग्रन्थ लिखे गये हैं।

नाटक भी संस्कृत के कवियों की अपनी विशेषता है। ये ग्रीक नाटकों के समान नहीं हैं। प्रो. सिलवाँ लेवी ने कहा है कि भारतीय प्रतिभा ने एक नयी चीज को पैदा किया है जिसे सूत्र-रूप में 'रस' कहा जा सकता है। अर्थात् भारतीय नाटककार अभिहित[1] नहीं करता, व्यंग्य[2] करता है। शूद्रक का मृच्छकटिक यूरोपियन दृष्टि से भी एक सफल नाटक है। इसकी रचना सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी में हुई थी। बहुत दिनों तक विश्वास किया जाता था कि यह संस्कृत का आदिनाटक है। पर अब यह विश्वास निराधार साबित हुआ है। श्री गणपति शास्त्री ने भास के नाटकों का उद्धार किया है। ये नाटक सन् ईसवी के पहले के हैं। मध्य एशिया से कुछ बौद्ध नाटकों का भी उद्धार हुआ है। फिर कालिदास के नाटक हैं जिनमें से एक अभिज्ञान शाकुन्तल सम्पूर्ण जगत् का हृदयहार बन चुका

1. Express. 2. Suggest.

है। भवभूति का उत्तर-चरित भी समान रूप समादृत हुआ है। श्रीहर्ष की रत्नावली भारतीय आलोचकों की टेकनिक की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मुद्रा-राक्षस और वेणी-संहार अपने ढंग की अनोखी रचनाएँ हैं। नाटक बहुत-से बने और अब भी बनते जा रहे हैं। कुछ आधुनिक संस्कृत विद्वानों ने भी इस दिशा में अच्छा कार्य किया है।

नाटक और काव्य के विवेचनात्मक ग्रन्थ

नाटक और नाट्यकला-सम्बन्धी आलोचना इस देश में बहुत पुरानी है। कुछ पण्डितों की राय में यह वेदों से भी बहुत पुरानी है। सन् ईसवी के बहुत पूर्व अनेक नाट्य सूत्र रचे जा चुके थे। इनमें नाटकों का ही विवेचन नहीं था, रस, अलंकार संगीत, अभिनय आदि काव्य-सम्बन्धी सभी विषयों का समावेश था। सन् ईसवी के आरम्भ के समय इन सभी ग्रन्थों का सार संकलन करके भारतीय नाट्यशास्त्र संगृहीत हुआ। इसके बाद भामह और दण्डी के अलंकार-विवेचन के ग्रन्थ पाये जाते हैं जो शायद पाँचवीं और छठी शताब्दियों में लिखे गये थे। वामन, रुय्यक, राजशेखर आदि अनेक आचार्यों ने अपने-अपने विशेष काव्य-सिद्धान्त के प्रतिपादनात्मक अलंकार-ग्रन्थ लिखे। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में अत्यन्त विद्वता के साथ इस बात का प्रतिपादन किया कि ध्वनि ही काव्य की आत्मा है; रस सर्वोत्तम ध्वनि है। आनन्दवर्धन के मत को सर्वाधिक बल अभिनवगुप्त जैसे प्रतिभाशाली टीकाकार से मिला। फिर नाना सिद्धान्तों पर गम्भीर विवेचना करके मम्मट ने ईसा की दसवीं शताब्दी में काव्यप्रकाश लिखा, जो इस विषय का सर्वोत्तम ग्रन्थ माना जाता है। मम्मट के बाद उल्लेख-योग्य आचार्य साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ और रसगंगाधरकार जगन्नाथ हुए। पण्डितराज जगन्नाथ स्वयं अच्छे कवि थे। उनके विषय में कहा जा सकता है कि वे आलोचकों में सबसे बड़े कवि और कवियों में सबसे बड़े आलोचक थे। इन आचार्यों के बाद और भी अनेक पण्डितों ने ग्रन्थ और टीकाएँ लिखीं। पर अलंकारशास्त्र के इस अभ्युदय से वास्तविक काव्य को लाभ नहीं पहुँचा। इन अलंकारों ने फुटकर श्लोकों की प्रथा को उत्तेजित किया और उक्तिचमत्कार पर जोर दिया। यह एक आश्चर्य की बात है कि काव्य-विवेचना जिस समय अपने चरम उत्कर्ष पर थी, कविता उसी समय गिरती जा रही थी।

संकीर्ण काव्य, धर्म और दर्शन पर टीकाएँ
(सन् 800-1400 ई०)

काव्य के अपकर्ष-काल में भी संस्कृत साहित्य में अच्छी कविताओं की कमी न थी, पर इन कविताओं में ज्यादातर कृत्रिम वाक्य-विन्यास और दरबारीपन आ गया था। इस काल में कुछ जीवन-चरित, ऐतिहासिक प्रबन्ध लिखे गये। जैन आचार्यों ने कई उल्लेख-योग्य ऐतिहासिक प्रबन्ध लिखे। पर इस युग की सबसे

बड़ी विशेषता है धर्म-शास्त्रों की टीकाएँ। ये टीकाएँ कभी-कभी विराट् मौलिक ग्रन्थ हुआ करती थीं। टीकापन इनमें नाममात्र को ही रहता था। मनु के टीकाकार कुल्लूक भट्ट, मेधातिथि और गोविन्दराज टीकाकार के रूप में ही विख्यात हैं। अपरार्क, कर्क, नारायण, वरदराज, असहाय, रंगनाथ, सायण आदि आचार्य अपनी टीकाओं से अमर हो गये हैं। इन टीकाओं में टीकाकारों के अद्भुत पाण्डित्य और बहुश्रुतता को देखकर दंग रह जाना पड़ता है।

पर इसमें भी अधिक आकर्षक हैं इस युग की दार्शनिक भाष्यों की टीकाएँ। न तो दर्शनों पर के भाष्य ही महज टीका हैं और न इन भाष्यों की टीकाएँ ही। मूल को अपने विशेष सिद्धान्त का समर्थक सिद्ध करने के लिए ही ये भाष्य लिखे गये थे और इन भाष्यों की टीकाओं में विषय को और भी सावधानी से, और भी सूक्ष्मता के साथ विवृत किया गया है। भाष्यकारों की भाँति ये टीकाकार भी असाधारण-प्रतिभाशाली पण्डित थे। संस्कृत साहित्य का अधिकांश पाण्डित्य इन टीकाकारों के ही हाथ रक्षित हुआ है। वाचस्पति मिश्र ने छहों दर्शनों पर टीकाएँ लिखी थीं। नव्य न्याय के ग्रन्थों में टीकाएँ मूल ग्रन्थ से कहीं अधिक जटिल समझी जाती हैं। एकाधिक बार टीका की टीका तथा उसकी भी टीका होती है और फिर भी टीका करने का अवसर रहा ही करता है। आये-दिन पण्डितगण टीका की चौथी, पाँचवीं और छठी पुश्त तक तैयार करते रहते हैं। यह क्रम आज भी चल रहा है।

निबन्ध

राजा भोज एक तरह से अन्तिम हिन्दू संरक्षक थे जिन्होंने केवल विद्वानों को आश्रय ही नहीं दिया, नये सिरे से ग्रन्थ भी लिखे। इन्होंने ज्योतिष, तन्त्र और स्मृति पर ग्रन्थ लिखे। बाद में मुसलमानी शासन के प्रभाव से मौलिक ग्रन्थों की वृद्धि रुक गयी। इसी समय बड़े-बड़े निबन्ध लिखे गये जिनमें शत-शत प्रामाणिक ग्रन्थों के मतों की आलोचना करके शास्त्रीय व्यवस्थाओं का निर्देश होता था। कन्नौज के लक्ष्मीधर, कर्नाटक के मध्वाचार्य, बंगाल के शूलपाणि और जीमूतवाहन, मिथिला के चण्डेश्वर और वाचस्पति मिश्र, उड़ीसा के विद्याधर और नरसिंह, बुन्देलखण्ड के मित्र मिश्र, कुमायूँ के अनन्तभट्ट और तिलगाने के देवान्नभट्ट, काशी के कमलाकरभट्ट और नवद्वीप के रघुनन्दन आदि पण्डितों के निबन्ध-ग्रन्थों में अद्भुत पाण्डित्य का परिचय मिलता है।

तन्त्र-ग्रन्थ और भक्ति-साहित्य

म. म. पं. हरप्रसाद शास्त्री का विश्वास है कि तन्त्र सातवीं शताब्दी में भारत में आये। उसी समय नाथ-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ था और इनके प्रधान आचार्य, मीननाथ और गोरक्षनाथ ने इसके सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ लिखे थे। किन्तु ऐसे अनेक पण्डित हैं जो इस मत में सन्देह करते हैं और विश्वास करते

हैं कि अज्ञात काल से यह मत इस देश में वर्तमान है। हाल ही में स्वर्गीय श्री वुडरफ के तत्त्वावधान में इंग्लैण्ड में तन्त्र सोसाइटी स्थापित हुई है जिसने तन्त्र के अनेक प्राचीन ग्रन्थों को प्रकाशित किया है। तन्त्रों के सम्बन्ध में अभी विशेष कार्य नहीं हुआ है। लेकिन तन्त्र की सैकड़ों पुस्तकें विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। तन्त्रों का बनना उन्नीसवीं सदी तक जारी रहा है।

इस युग में एक बहुत बड़ा भक्ति-साहित्य रचित हुआ जिसका अधिक सम्बन्ध वैष्णव भक्तों से है। भक्ति-साहित्य के अधिकांश ग्रन्थ दक्षिण और बंगाल में रचित हुए। बंगाल के गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय में भक्तिमूलक नाटक, चम्पू, निबन्ध—सबकुछ लिखे गये हैं, यहाँ तक कि व्याकरण भी हरिनाम से विभूषित करके लिखे गये हैं। इन आचार्यों में चैतन्य महाप्रभु के शिष्य रूपसनातन और जीवगोस्वामी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भक्ति-साहित्य के साथ ही एक अनोखा साहित्य इस युग में रचित हुआ जो संसार के साहित्य में विरल है। यह है स्तोत्र-साहित्य। जैनों, वैष्णवों, शैवों और शाक्तों के इस विशाल साहित्य की तुलना नहीं की जा सकती।

पत्थरों और ताम्रपत्रों का साहित्य

संस्कृत-साहित्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा पुस्तकों के बाहर शिलाओं, पर्वत-पृष्ठों, मन्दिरों और ताम्रपत्रों पर बिखरा हुआ है। सबसे पुरानी लिपियाँ ईसवी सन् से भी पुरानी हैं। इन्हें महाराज अशोक ने लिखवाया था। परन्तु ये पाली में हैं। संस्कृत की लिपियाँ इसके बाद मिलती हैं। इन लेखों से महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अनुसन्धान हुए हैं। महाक्षत्रप रुद्रदामा का खुदवाया हुआ गिरनार का शिलालेख (150 ई.) गद्यकाव्य का उत्तम नमूना है। इसमें अलंकारों का उपयोग ही नहीं है, अलंकार शास्त्र का भी उल्लेख है। जब तक यूरोपियन पण्डितों ने इधर ध्यान नहीं दिया था, साहित्य का यह अंग उपेक्षित और अज्ञात पड़ा हुआ था। पर आज, यद्यपि ये अब भी सम्पूर्णतः उद्धृत नहीं हुए हैं, कोई भी संस्कृत का पण्डित इनको जाने बिना अपने को पूर्ण नहीं समझ सकता। इन विशाल लेखों का संग्रह बीसियों जिल्दों में हुआ है और होता जा रहा है।

फुटकर विषय

संस्कृत-साहित्य के अनेक अंगों पर यहाँ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसमें शिल्प-शास्त्र है, वास्तु-विज्ञान है, क्रीड़ापरक ग्रन्थ हैं, नाचने और गाने की विद्या है, पशुओं और पक्षियों के स्वभाव और पालन-पोषण की विद्या है, सामुद्रिक शास्त्र है, अरबी और फारसी विद्याओं का अनुवाद है, व्यवहार-शास्त्र है, नीति-ग्रन्थ हैं और सबके ऊपर सुभाषितों का अनुलनीय भण्डार है। अनेक विषयों के ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं, क्वचित् ये मिलते रहते हैं और प्रकाशित किये जाते हैं। पर अधिकांश विषयों के ग्रन्थनाम-शेष रह गये हैं और उनका परिचय अन्यान्य ग्रन्थों के उद्धरणों

से मिला करता है। इसके अतिरिक्त पाली, प्राकृत और अपभ्रंश का समूचा साहित्य किसी-न-किसी रूप में संस्कृत को आश्रय करके गठित हुआ था। आगे के पृष्ठों मे कुछ विस्तृत रूप से इनकी चर्चा की जा रही है।

अन्तिम बात

जिस भाषा के ग्रन्थों की संख्या अधिकांश नष्ट हो जाने पर भी आधे लाख से ऊपर चली गयी है—और इन ग्रन्थों मे से सैकड़ो ऐसे है जो दस हजार या उससे भी अधिक कभी लाख-लाख श्लोकों से बने है, जिस भाषा के साहित्य की रचना कम-से-कम पांच हजार वर्षो से अविच्छिन्न भाव से हो रही है, जिस भाषा के ग्रन्थों की रचना, पठन-पाठन और चिन्तन में भारतवर्ष के हजारों सर्वोत्तम मस्तिष्क सैकड़ों पुश्त तक लगे रहे है और आज भी बीसियो देशों के सैकड़ों मनीषी जिस भाषा की ओर से नवीन प्रकाश पाने के लिए आँखें बिछाये हुए हैं, उस भाषा के साहित्य का परिचय इन कई पृष्ठों में देना असम्भव है। सक्षेप मे इतना ही कहा जा सकता है कि हजारों वर्ग-मील मे विस्तृत करोड़ों की वासभूमि इस महादेश की हजारों वर्ष की चिरन्तन साधना का सर्वोत्कृष्ट सार इस भाषा में सचित है। संस्कृत भाषा संसार की अद्वितीय महिमाशालिनी भाषा है।

महाभारत क्या है ?

महाभारत को केवल एक ग्रन्थ या एक महाकाव्य कहने-भर से इसके बारे मे कुछ भी नही समझा जा सकता। असल मे, जैसा कि सुप्रसिद्ध जर्मन पण्डित विण्टर-नित्ज ने कहा है महाभारत अपने-आपमे सम्पूर्ण एक समग्र साहित्य (whole literature) है। महाभारत शब्द का अर्थ महायुद्ध है, क्योंकि पाणिनि (4-2-56) के मत से 'भारत' का अर्थ सग्राम ही होता है। पर जान पड़ता है, 'भारत' शब्द का सम्बन्ध भरत-वंश से है, क्योकि स्वय महाभारत मे ही इस कथा को 'महाभारत युद्ध' (14-81-8) और 'महाभारताख्यान' (1-62-39) कहा गया है। सम्भवतः 'महाभारत' शब्द इन्ही शब्दों का सक्षिप्त रूप हो, इसीलिए पण्डितों ने महाभारत का अर्थ किया है, 'भरतवशवालों के युद्ध की कथा'। स्वयं महाभारत मे इस नामकरण का एक मजेदार कारण दिया हुआ है। एक बार देव-ताओं ने स-रहस्य चारो वेदों को तराजू के एक पलड़े पर और महाभारत को दूसरे पलड़े पर रखकर तौला। महाभारत भारी निकला। इसीलिए 'महान्' और 'भार-

वान्' (भारी) होने के कारण यह 'महाभारत' कहा जाने लगा (1-1-269-71)।

ऋग्वेद में इन भरत-वंशवालों का उल्लेख है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में भरत को दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र बताया गया था। इन्हीं भरत के वंश में कुरु हुए जिनकी सन्तानों में आपसी झगड़े के कारण कभी घोर युद्ध हुआ था। भारतवर्ष के पुराने और नये साहित्य में इस युद्ध का इतना अधिक उल्लेख है कि उसकी चर्चा करना भी अनावश्यक जान पड़ता है। प्रधानतः महाभारत इन्हीं कुरुवंशियों के युद्ध की कहानी है।

किन्तु महाभारत केवल इस युद्ध की ही कहानी नहीं है। इस महाग्रन्थ का बहुत-सा अंश इस युद्ध की कहानी से किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं है। शत-शत वर्षों तक मूल कहानी के इर्द-गिर्द अनेक प्राचीनतर आख्यान और तत्त्ववाद जोड़े जाते रहे हैं। वे आख्यान मूल कहानी में इतने प्रकार से और इतने रूप में आ मिले हैं कि शायद यह निर्णय कभी नहीं हो सकेगा कि मूल कहानी क्या थी और उसमें कौन-सी कहानी कब जोड़ी गयी।

असल में महाभारत उस युग की ऐतिहासिक, नैतिक, पौराणिक, उपदेशमूलक और तत्त्ववाद-सम्बन्धी कथाओं का विशाल विश्वकोश है। भारतीय दृष्टि से महाभारत पाँचवाँ वेद है, इतिहास है, स्मृति है (शङ्कराचार्य), शास्त्र है और साथ ही काव्य है। आज तक किसी भारतीय पण्डित या आचार्य ने इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह नहीं किया। कम-से-कम दो हजार वर्ष से यह भारतीय जनता के मनोविनोद, ज्ञानार्जन, चरित्र-निर्माण और प्रेरणा-प्राप्ति का साधन रहा है।

स्वयं महाभारत अपने विषय में कहता है—"जैसे दही में मक्खन, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में आरण्यक, ओषधों में अमृत, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पादों में गौ श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त इतिहास में यह 'भारत' श्रेष्ठ है (1-1-261-3)। इस आख्यान को सुनने के बाद अन्य कथाएँ उसी तरह फीकी मालूम होंगी जिस प्रकार कोकिल की वाणी सुनकर काक की वाणी सुनना। जैसे पंचभूत से लोक की तीन संविधियाँ उद्भूत होती हैं, उसी प्रकार इस इतिहास को सुनकर कवि-बुद्धियाँ उत्पन्न होती है (1-2-382-3)।"

व्यासदेव ने महाभारत की कथा वैशम्पायन नामक अपने शिष्य को सुनायी। इन्हीं वैशम्पायन ने नागयज्ञ के अवसर पर यह कथा दूसरी बार सुनायी। तीसरी बार सूत-पुत्र शौनक ने ऋषियों को सुनायी। सारा महाभारत वैशम्पायन और जनमेजय के संवाद के रूप में कहा गया है। इन्हीं संवादों के भीतर अन्यान्य चरित्रों के संवाद होते रहते हैं। इन अन्तःसंवादों में जो बात विशेष रूप से याद रखने की है वह यह है कि युद्ध की सारी कथा, जिसे महाभारत का केन्द्र कहा जा सकता है, संजय ने धृतराष्ट्र को सुनायी है। पण्डितों का विश्वास है कि इस प्रकार संवाद के रूप में लिखा जाना ही महाभारत की प्राचीनता के प्रमाणों में से एक है। बाद में महाभारत का यह ढंग पुराणों ने ग्रहण किया। पर यह ध्यान देने की बात है कि वाल्मीकीय रामायण में इस प्रकार के संवाद-सूचक पृथक् वाक्यांश

(जनमेजय उवाच) नहीं है।

उपर्युक्त कथा से इतना स्पष्ट है कि महाभारत को तीन वार तीन वक्ताओं ने तीन प्रकार के श्रोताओं को सुनाया था। आदिपर्व में बताया है कि उपाख्यानों को छोड़कर 24000 श्लोकों की संहिता उन्होंने लिखी है। फिर उसी अध्याय में यह भी कहा गया है कि व्यासदेव ने 60 लाख श्लोक का काव्य लिखा था जिसमें 30 लाख देवों के लिए, 15 लाख पितरों के लिए, 14 लाख गन्धर्वों के लिए और बाकी एक लाख मनुष्यों के लिए लिखे गये थे (1-1-101)। इन्हीं एक लाख श्लोकों का यह विशाल काव्य आज का महाभारत है, इसलिए इसे 'शतसाहस्री संहिता' या 'सौ हजार श्लोकों का संग्रह-ग्रन्थ' कहा जाता है। आगे चलकर पाठकों को मालूम होगा कि इस बात का पक्का सबूत पाया गया है कि कम-से-कम दो हजार वर्ष पहले महाभारत में एक लाख श्लोक मौजूद थे।

कलकत्ते से छपे हुए महाभारत के 1; पर्वो मे 90092 श्लोक है। इसमें हरिवंश भी, जो महाभारत का खिल या परिशिष्ट है, जोड दिया जाय तो श्लोक-संख्या 106466 हो जाती है। हरिवंश मे एक भविष्यपर्व नामक पर्व है, पण्डितों की राय में यह पर्व बहुत बाद का प्रक्षिप्त होना चाहिए। अगर इस पर्व के श्लोकों को छोड़ दिया जाय तो सम्पूर्ण महाभारत और हरिवश मे कुल मिलाकर 1010-54 श्लोक होते है। यह संख्या एक लाख के बहुत निकट है। बम्बई से छपे हुए महाभारत में इससे 200 के करीब श्लोकों का अन्तर है।

महाभारत की मूल कहानी में परिवर्त्तन

जब कहा जाता है कि महाभारत की मूलकथा मे परिवर्त्तन हुआ है तो इसका यह अर्थ नही है कि सचमुच किसी ने बैठकर एक खास उद्देश्य को लेकर कहानी को बदला था। शताब्दियो तक महाभारत की कहानी सूतो के मुख मे फलती-फूलती रही। संजय भी सूत और लोमहर्षण भी सूत-पुत्र थे। अन्तिम बार वैशम्पायन ने जनमेजय को जो कहानी सुनायी, उसमे निश्चयपूर्वक पाण्डवों की और श्रीकृष्ण की प्रशंसा थी। वर्तमान महाभारत के श्रीकृष्ण एक अद्भुत व्यक्तित्व रखते हैं। पाण्डवों की ओर से जहाँ कही अन्यायाचरण हुआ है उसके सूत्रधार विचित्र रूप से वे ही रहे है; फिर भी महाभारत मे वे भगवान् के अवतार हैं, और उनके द्वारा अनुप्रेरित अन्यायाचरण को भी महाभारत में उनका अलौकिक चरित्र बताया गया है। जान पड़ता है कि महाभारत ने जिन दिनो वर्तमान रूप धारण किया था, उन दिनो भागवत मत का प्राबल्य था। इस भागवत मत में श्रीकृष्ण परम दैवत के रूप मे स्वीकार किये गये थे। यह दूसरी बात है कि द्वारका के राजा श्रीकृष्ण (जो महाभारत मे अपनी कूटनीति के लिए प्रसिद्ध हैं) और भागवतों के परम दैवत श्रीकृष्ण मूलतः एक ही व्यक्ति न हों और बाद में चलकर एक में मिल गये हों; पर इस बात में कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान महाभारत में सबसे अद्भुत और सबसे विशिष्ट चरित्र श्रीकृष्ण का है। भगवद्गीता-जैसी

शालिनी पुस्तक के वे गायक हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में और वेदों में भी यत्र-तत्र दो झगड़नेवाली क्षत्रिय जातियों का उल्लेख है; ये हैं कुरु और पांचाल जातियाँ। इससे कुछ पण्डितों ने अनुमान किया है कि असली महाभारत की लड़ाई कुरुओं और पांचालों की थी, पाण्डवों का स्थान उसमें गौण था।

यह ध्यान देने की बात है कि पाण्डवों में से कोई भी पाण्डु के अपने पुत्र नहीं थे, सभी कुन्ती या माद्री के पुत्र थे। हिन्दुओं में उन दिनों एक स्त्री के बहुविवाह का एकमात्र उदाहरण इन पाण्डवों ही के घर पाया जाता है, इसीलिए कुछ वायु-विकारग्रस्त आलोचक यहाँ तक कह गये हैं कि पाण्डव वास्तव में उत्तर-पार्वत्य प्रदेश के अधिवासी थे (जिनमें स्त्री का बहुविवाह अब भी प्रचलित है) और कुन्ती ने वहीं से इनकी आमदनी की थी और अपने पुत्र बताकर दुर्योधन के राज्य का हकदार बनाना चाहा था!

जो कुछ हो, इस बारे में प्रायः सभी पण्डित एकमत हैं कि महाभारतीय कहानी का स्वर बाद में बदल गया है। यही कारण है कि दुर्योधन, कर्ण आदि पुरुषों के दो-दो प्रकार के चरित्र महाभारत में ही, पास-ही-पास लिखे पाये जाते हैं। अभी-अभी लिखा मिलता है कि कर्ण के समान उदार, बहुश्रुत, वाग्मी और सत्पुरुष दूसरा नहीं था (और समग्र महाभारत के चरित्रों पर विचार करने से सचमुच कर्ण एक अद्वितीय मनुष्य जान पड़ते हैं) और थोड़ी देर बाद ही बताया जाता है कि उसके जैसा दम्भी और अन्यायकारी भी दूसरा नहीं।

संसार में महाभारत की कथाओं की लोकप्रियता

महाभारत की मूल कहानी के इर्द-गिर्द बहुत-सी प्राचीन वीर-गाथाएँ, नीति और उपदेश की कथाएँ, वैराग्य और मोक्ष को समझानेवाली कहानियाँ आ जमी है। इनमें से बहुतेरी बहुत प्राचीन है। इन कहानियों के सभ्य भाषाओं में अनुवाद हो चुके है। कई कथाएँ एक ही भाषा में तीन-तीन, चार-चार बार अनूदित हुई है। शकुन्तला, ययाति, नहुष, नल, रामचन्द्र, विदुला, सावित्री आदि की कहानियाँ (उपाख्यान) बहुत लोकप्रिय हुई है। इन उपाख्यानो को पश्चिमी पण्डितों ने Epic within Epic या 'महाकाव्य के भीतर महाकाव्य' नाम दिया है। असल में ये उपाख्यान अपने-आपमे पूर्ण और मानवीय मनोविकारो के बड़े संजीव और सरस चित्र है।

ऊपर जिन कहानियों की चर्चा की गयी है उनके अनुवाद अँगरेजी, जर्मन, फ्रेंच, इटालियन आदि भाषाओं में बहुत समादृत हुए है। सन् 1816 ई. में एफ. बप्प ने नल की कहानी लैटिन अनुवाद के साथ प्रकाशित करायी। श्लिगल-जैसे मनीषी ने इस कहानी को पढ़कर लिखा था :

"मैं सिर्फ इतना ही कहूँगा कि मेरी समझ में करुणा तथा भावना की दृष्टि से और भावों की कोमलता तथा विमोहक शक्ति के खयाल से नल-दमयन्ती का

उपाख्यान अद्वितीय है। इसकी रचना इस ढंग से की गयी है कि वह सबको आकर्षित करती है, चाहे वह बूढ़ा हो या जवान, उच्च जातीय हो या नीच जातीय, खास आलोचक हो अथवा सहज-बुद्धि से चीजों को पसन्द करनेवाला ही।"

इसी तरह सावित्री और सत्यवान की कहानी बाहर की दुनिया में बहुत लोकप्रिय हो गयी है। विण्टरनित्ज ने इस कथा के बारे में लिखा है :

"चाहे जिस किसी ने सावित्री के काव्य की रचना की हो, चाहे वह कोई शूद्र रहा हो या ब्राह्मण, वह अवश्यमेव सब कालों का एक सर्वोच्च कवि था। कोई महान् कवि ही इस उत्कृष्ट महिला-चरित्र को इतने मनोमोहक और आकर्षक ढंग से चित्रित कर सकता था और शुष्क उपदेशक की मनोवृत्ति में पड़े बिना भाग्य और मृत्यु पर प्रेम तथा पातिव्रत्य की विजय दिखला सकता था; और प्रतिभाशाली कलाकार ही जादू की तरह ऐसे आश्चर्यजनक चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित कर सकता था।"

उज्ज्वल चरित्रों का वन

महाभारत को उज्ज्वल चरित्रों का वन कहा जा सकता है। वह कवि-रूपी माली का यत्नपूर्वक सँवारा हुआ उद्यान नहीं है—जिसमें प्रत्येक लता-पुष्प-वृक्ष अपने सौन्दर्य के लिए बाहरी सहायता की अपेक्षा रखते हैं, बल्कि यह अपने-आपकी जीवनी शक्ति से परिपूर्ण वनस्पतियों और लताओं का अयत्नपरिवर्धित विशाल वन है जो अपनी उपमा आप ही है। मूल कथानक में जितने भी चरित्र हैं वे अपने-आपमें ही पूर्ण हैं। भीष्म-जैसे तेजस्वी और ज्ञानी, कर्ण-जैसा गम्भीर और वदान्य, द्रोण-जैसा योद्धा, बलराम-जैसा फक्कड़, कुन्ती और द्रौपदी-जैसी तेजोदृप्त नारियाँ, गान्धारी-जैसी पतिपरायणा, श्रीकृष्ण-जैसा उपस्थित-बुद्धि और गम्भीर तत्त्वदर्शी, युधिष्ठिर-जैसा सत्यपरायण, भीम-जैसा मस्तमौला, अर्जुन-जैसा वीर, विदुर-जैसा नीतिज्ञ चरित्र अन्यत्र दुर्लभ है। मूल कथानक को छोड़ दिया जाय, तो भी महाभारत के वर्णित नल और दमयन्ती, सावित्री और सत्यवान्, कच और देवयानी, शर्मिष्ठा और चित्रांगदा आदि चरित्र संसार के साहित्य में बेजोड़ हैं।

महाभारत का शायद ही कोई उत्तम चरित्र महलों के भीतर पलकर चमका हो। सब-के-सब एक तूफान के भीतर से गुजरे हैं। अपना रास्ता उन्होंने स्वयं बनाया है और अपनी रची हुई विपत्ति की चिता में वे हँसते-हँसते कूद गये हैं। महाभारत का अदना-से-अदना चरित्र भी डरना नहीं जानता। किसी के चेहरे पर कभी शिकन नहीं पड़ने पाती। पाठक महाभारत पढ़ते समय एक जादू-भरे वीरत्व के अरण्य में प्रवेश करता है जहाँ पद-पद पर विपत्ति है, पर भय नहीं है; जहाँ जीवन की चेष्टाएँ बार-बार असफलता की चट्टान पर टकराकर चूर-चूर हो जाती हैं, पर चेष्टा करनेवाला हतोत्साह नहीं होता; जहाँ गलती करनेवाला अपनी गलती पर गर्व करता है, प्रेम करनेवाला अपने प्रेम पर अभिमान करता है

और घृणा करनेवाला अपनी घृणा का खुलकर प्रदर्शन करता है। यहाँ सरलता है, दर्प है, तेज है, वीर्य है, महाभारत की नारी अपने नारीत्व पर अभिमान करती है, पुरुष इस अभिमान की रक्षा के लिए अपने को मृत्यु के हाथ सौंप देता है। प्राचीन भारत का, उसके समस्त दोष-गुणों के साथ, ऐसा सुन्दर और सच्चा निदर्शन दूसरा नहीं।

महाभारत का वर्त्तमान रूप

इस बात का निश्चित प्रमाण पाया गया है कि सन् ईसवी की पाँचवीं शताब्दी में महाभारत अपने वर्त्तमान रूप को धारण कर चुका था। सन् 643 ई. (या अधिक-से-अधिक 532 ई.) का एक दान-पत्र पाया गया है जिसमें स्पष्ट लिखा है कि वेदव्यास ने महाभारत में एक लाख श्लोक लिखे थे। महाभारत के सबसे लम्बे शान्ति और अनुशासन पर्व और हरिवंश भी निश्चय ही उस समय लगभग अपने इसी रूप में वर्त्तमान होंगे, क्योंकि बिना इन सबको मिलाये महाभारत के श्लोकों की संख्या एक लाख नहीं हो सकती। सन् 450-500 ई. के आसपास के ऐसे अनेक दान-पत्र पाये गये हैं, जिनमें महाभारत के श्लोक धर्म-शास्त्र के विधान मानकर उद्धृत किये गये हैं। उत्तरी बौद्ध-धर्म की अनेक पुस्तकें, जो मूल संस्कृत में लुप्त हो गयी हैं पर चीनी अनुवाद के रूप में सुरक्षित हैं, इस बात की प्रमाण हैं कि 330 ई. के लगभग भारतीय समाज में महाभारत पर बड़ी श्रद्धा थी। जो ग्रन्थ ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी में आज का वर्तमान रूप धारण कर गया था और इस प्रकार श्रद्धा और आदर का ग्रन्थ हो चुका था, उसने निश्चय ही कई सौ वर्ष पहले रूप-परिवर्त्तन करना बन्द कर दिया होगा। इसीलिए पण्डितों का अनुमान है कि कम-से-कम आज से दो हजार वर्ष पहले महाभारत को यह विशाल रूप प्राप्त हो गया होगा।

महाभारत के जितने रूप हैं, उनमें दो मुख्य हैं: उत्तरी रूप और दक्षिणी रूप। इतना निश्चित है कि किसी एक ही मूल रूप के ये दो रूपान्तर अतिप्राचीन काल में पृथक् हो गये थे। उत्तरी रूपान्तर के कई उपभेद हैं जो मूलतः एक होकर भी कई बातों में अपना विशेष रूप रखते हैं। कश्मीर में उत्तरी रूपान्तर दो उपभेदों में बँट गया है: शारदा में लिखा हुआ और देवनागरी लिपि में लिखा हुआ। पूर्वी प्रान्तों में आकर उत्तरी महाभारत ने तीन भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण किये हैं: नेपाली, मैथिली और बंगाली। ये तीनों रूप अपनी-अपनी विशेष लिपियों में लिखे पाये जाते हैं। युक्तप्रान्त और मध्य-प्रदेश में उत्तरी महाभारत का एक सामान्य रूप पाया जाता है जिसे पण्डितों ने देवनागरी रूपान्तर नाम दिया है। इस प्रकार उत्तर में आकर महाभारत ने छः भिन्न-भिन्न रूप धारण किये हैं।

दक्षिणी महाभारत के तीन मुख्य रूप है—मलयालम, तेलुगु और ग्रन्थलिपि में लिखा हुआ। तेलुगु और ग्रन्थलिपियों के पाठ प्रायः मिलते है, पर मलयालम का महाभारत इन दोनों से अलग है। किसी-किसी पण्डित के मत से यह अन्तिम

महाभारत अपने मूल रूप के बहुत निकट है।

महाभारत का काल

स्वाभावतः ही यह प्रश्न हो सकता है कि महाभारत का काल क्या है? जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, निश्चयपूर्वक इतना ही कहा जा सकता है कि आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले महाभारत को वर्तमान रूप प्राप्त हो चला था; परन्तु महाभारत की अनेक कहानियाँ उतनी ही पुरानी है जितने कि स्वय वेद। महाभारत के काल के सम्बन्ध में नाना विचारों की अवतारणा के बाद प्रो. विण्टरनित्ज निम्नांकित नौ सिद्धान्तो पर पहुँचे है—

(1) महाभारत की कितनी ही पौराणिक कहानियाँ, काव्य और वर्णनात्मक कथाएँ वैदिक काल तक पहुँचती है। (2) लेकिन वैदिक काल मे 'भारत' या 'महाभारत' नामक किसी काव्य का अस्तित्व नही था। (3) नीति-सम्बन्धी कितनी ही सूक्तियाँ और कथाएँ जो वर्त्तमान महाभारत के अंतर्गत सगृहीत है, वैराग्य-प्रवण सम्प्रदायों (जैन, बौद्ध आदि) से ग्रहण की गयी है। इनमें से कितनी ही ईसवी सन् से पूर्व की छठी शताब्दी तक की हो सकती है। (4) यदि ई. पूर्व की छठी से लेकर चौथी शताब्दी तक कोई महाभारत नामक काव्य-ग्रन्थ रहा भी हो, तो यह बौद्ध धर्म की आवास-भूमि में अपरिचित ही था, क्योकि बौद्ध ग्रन्थों मे इसकी कोई चर्चा नही मिलती। (5) ई. पूर्व की चौथी शताब्दी से पहले महाभारत काव्य के अस्तित्व का कोई निश्चित प्रमाण नही पाया जाता। (6) सन् ईसवी के पूर्व की चौथी शताब्दी से लेकर ई. सन् के बाद की चौथी शताब्दी तक महाभारत बनता और सगृहीत होता रहा। सम्भवतः क्रमशः ही इसने वर्त्तमान रूप धारण किया था। (7) ई. सन् की चौथी शताब्दी मे महाभारत ने सब मिलाकर यह वर्त्तमान रूप धारण कर लिया था। (8) बाद की शताब्दियों में भी छोटे-मोटे आख्यान और फुटकर श्लोक, कुछ-न-कुछ, मिलते ही रहे। (9) सारे महाभारत का एक काल नही है। काल-निर्णय करते समय इसके प्रत्येक भाग का काल-विचार अलग-अलग से होना चाहिए।

रामायण और पुराण

महाभारत की भाँति ही रामायण ने भी भारतीय जीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया है। परन्तु महाभारत जिस प्रकार अनेक कवियों की लेखनी से लिखे हुए

अनेक कवियों का विराट विश्वकोश है, उस प्रकार रामायण नहीं है। सारा-का-सारा काव्य प्रायः एक ही हाथ का लिखा हुआ है। प्रक्षिप्त अंश इसमें भी है, पर वह महाभारत से भिन्न जाति का है। विश्वास किया जाता है कि यह वैदिक साहित्य के बाद मानव-कवि का लिखा हुआ पहला काव्य है। इसीलिए इसके रचयिता वाल्मीकि को आदिकवि और इसे आदि-काव्य कहते हैं। विद्वानों की परीक्षा से भी यह सिद्ध हुआ है कि रामायण सचमुच काव्य (अलंकृत काव्य या ornate poetry) जाति के ग्रन्थों में सबसे पहला है। वाल्मीकि सचमुच ही एक ही कवि रहे होंगे, इस विषय में विद्वानों में मतभेद नहीं है। यह भी सम्भव है कि मूल में इस काव्य का जो रूप रहा हो, वह महाभारत से पूर्ववर्ती हो, परन्तु उसका वर्तमान रूप महाभारत के बाद का है। कहते हैं कि संसार के समूचे साहित्य में इस प्रकार का लोकप्रिय काव्य-जातीय ग्रन्थ नहीं है। समूचा भारतवर्ष एक स्वर से इसे पवित्र आदर्श काव्य-ग्रन्थ मानता है और सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का आधा इस महाकाव्य के द्वारा अनुप्रमाणित है। काव्य के आरम्भ में ही ऐसी भविष्यवाणी की गयी है जो अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई है।

प्रत्येक युग के आचार्य, कवि और नाटककार इस महाग्रन्थ से चालित हुए हैं। कालिदास और भवभूति की रचनाओं में इसका प्रभाव है और चौदहवीं शताब्दी के बाद के लोक-साहित्य में इसका बहुत अधिक प्रभाव विद्यमान है। लोक-जीवन पर भी इसका जबर्दस्त प्रभाव है। लोकप्रिय होने के कारण इसमें निरन्तर कुछ-न-कुछ प्रक्षेप होते रहे हैं और इस प्रकार इसका वर्तमान आकार 24,000 श्लोकों का हुआ है। विद्वानों का अनुमान है कि मूल काव्य में राम विष्णु के अवतार नहीं कहे गये होंगे, बाद में चलकर मूल ग्रन्थ में इस प्रकार की बातें प्रक्षेप की गयी होंगी। बाल-काण्ड और उत्तर-काण्ड निश्चित रूप से परवर्ती रचनाएँ हैं। इन्हीं दोनों में राम को विष्णु का अवतार बताया गया है और दूसरे से छठे काण्ड तक रामचन्द्र लौकिक नायक की भाँति अंकित किये गये हैं। ऐसे स्थल बहुत कम हैं (और ये निश्चय ही प्रक्षिप्त हैं) जहाँ उन्हें विष्णु का अवतार बताया गया हो। कभी-कभी बाल-काण्ड की घटनाओं के विरुद्ध कही हुई बातें भी अन्य काण्डों में मिल जाती हैं। उदाहरणार्थ, बाल-काण्ड में राम के साथ ही अन्यान्य भाइयों की भी शादी हो गयी है, पर आगे चलकर सूर्पणखा के प्रसंग में राम ने बताया है कि लक्ष्मण की शादी नहीं हुई है। दूसरे से छठे काण्ड तक में जो पौराणिक कहानियाँ आती हैं, वे काफी पुरानी हैं।

सारे भारतवर्ष में रामायण के कई रूप मिलते हैं जिनमें परस्पर बड़ा भेद है। कभी-कभी कई सर्ग एक प्रति में अधिक होते हैं और दूसरी में कम। साधारणतः तीन संस्करण अब तक मुद्रित होकर प्रचारित हुए हैं। अधिक प्रचलित बम्बई-वाला संस्करण है जो कई बार छप चुका है। बंगाली संस्करण भी कलकत्ते में कई बार छप चुका है। उत्तरी या कश्मीरी संस्करण प्रकाशित करने का भी प्रयत्न हो रहा है। जैकोबी का कहना है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष के प्रचलित पाठ-भेदों को छोड़

देने से रामायण का मूल रूप आसानी से पाया जा सकता है—अन्ततः उसका खोज निकालना उतना कठिन नहीं है जितना महाभारत का। सम्भवतः सब छोड़-छाड़कर 24,000 श्लोकों में से केवल एक-चौथाई बच रहे।

महाभारत की ही भांति रामायण के काल के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। इतना निश्चित है कि महाभारत के वर्त्तमान रूप प्राप्त होने के पहले ही रामायण को वर्त्तमान रूप प्राप्त हो गया था। महाभारत के वनपर्व में केवल रामायण की कथा ही नही आती, वाल्मीकि कवि की चर्चा, राम का विष्णु-अवतार होना आदि बातें भी पायी जाती है। कुछ कहानियां जिन्हे पण्डित-मण्डली बाद की प्रक्षिप्त मानने मे नहीं हिचकती (जैसे हनुमान का लंका-दाह) महाभारत मे पायी जाती हैं। इन सब बातों मे यह सिद्ध होता है कि रामायण के वर्तमान रूप का ही संक्षिप्त रूप महाभारत मे जोड़ा गया है। जिस प्रसंग में यह कहानी महाभारत में कही गयी है, वह भी मूल कथा के साथ कुछ विशेष योग नहीं रखती। द्रौपदी को कोई राक्षस चुरा ले जाता है और युधिष्ठिर दुःखित होते हैं। उन्ही को उत्साहित करने के लिए रामोपाख्यान सुनाया जाता है। अनुमान किया गया है कि द्रौपदीहरण की यह कहानी सीताहरण के आदर्श पर ही रची गयी होगी। महाभारत को वर्त्तमान रूप चौथी शताब्दी मे प्राप्त हो गया था, रामायण उससे दो-एक शताब्दी पहले ही यह रूप पा गया होगा। किन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि समूचा रामायण समूचे महाभारत से पुराना है। असल मे, जैसा कि एक यूरोपियन पण्डित ने कहा है, भारतीय साहित्य के इतिहास में यह अद्भुत विरोधाभास है कि रामायण महाभारत से प्राचीन है और महाभारत रामायण से प्राचीन। असल में महाभारत के अनेक उपाख्यान निश्चित ही रामायण से भी पूर्ववर्त्ती हैं। इनमें से कई की चर्चा रामायण मे भी आती है, जैसे नल, सावित्री आदि के उपाख्यान। परन्तु सम्पूर्ण रामायण में पाण्डवों की कही चर्चा नही मिलती। यह अनुमान किया गया है कि राम का विष्णु-रूप मे अवतार माना जाना कृष्ण के अवतार माने जाने के बाद की कल्पना है, यद्यपि राम कृष्ण के पूर्ववर्त्ती अवतार है। इसके सिवा रामायण मे वर्णित सभ्यता उतनी लडाकू नही है जितनी महाभारत मे वर्णित सभ्यता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि रामायण उत्तरकालीन समाज के कवि की रचना है और महाभारत पूर्वकालीन समाज के।

जिन दिनो त्रिपिटक की रचना (सकलन) हुई थी, उन दिनो राम की कथा जरूर प्रचलित रही होगी। जातक कथाओं मे इसके प्रमाण है, पर रामायण काव्य शायद ही रहा हो। सारे बौद्ध साहित्य में रामायण के दो प्रसिद्ध चरित्र रावण और हनुमान का नाम भी नही पाया जाता। इस पर से किसी-किसी ने अनुमान किया है कि रामायण काव्य बौद्ध-युग मे बना होगा। बना भी हो तो बौद्ध प्रदेशों मे अज्ञात रहा होगा लेकिन सम्पूर्ण-रामायण मे बौद्ध प्रवाह खोजने पर भी नही मिलेगा। केवल एक जगह राम के मुख से बुद्ध को नास्तिक कहलवाया गया है पर—

वह सभी प्रतियों में नहीं पाया जाता और प्रक्षिप्त सिद्ध हो चुका है। साथ ही इस प्रकार यह भी प्रमाणित होता है कि रामायण बौद्ध-काल के पहले ही रचित हो गया था। अवश्य ही प्रक्षेप बाद में भी होता रहा होगा। पर प्रक्षेप सन् ईसवी की पहली शताब्दी के बाद रुक गया होगा। खोज करने पर रामायण की कथा का बौद्धों और जैनों में समादृत होना पाया जा सकता है। वसुबन्धु के ग्रन्थों के जो चीनी अनुवाद सुरक्षित है, उनसे स्पष्ट है कि रामायण (लगभग इसी रूप में) बौद्धों में भी समादृत थी। सन् ईसवी की पहली शताब्दी में विमलसूरि ने रामायण की कथा को आश्रय करके 'पउमचरिय' नामक प्राकृत काव्य लिखा था जो जैन-धर्म और तत्त्ववाद के अनुकूल रचा गया था। 600 ई. के आस-पास कम्बोडिया में रामायण का धार्मिक ग्रंथ के रूप में प्रचार पाया जाता है। कनिष्क-युगीय बौद्ध कवि अश्वघोष के बुद्ध-चरित में ऐसे अंश हैं जो रामायण से मिलते-जुलते हैं। इन सब बातों पर से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि मूल रामायण बौद्ध-युग के पहले का है।

पुराण और उपपुराण

पुराण शब्द का अर्थ है 'पुराना', इसलिए पुराण-ग्रन्थों से मतलब उन ग्रन्थों से है जिनमें प्राचीन आख्यायिकाएँ संगृहीत हों। ब्राह्मणों, उपनिषदों और बौद्ध ग्रन्थों में यह शब्द कभी-कभी 'इतिहास' शब्द के साथ आया है और कभी-कभी 'इतिहास' के अर्थ में। कौटिल्य अर्थशास्त्र (1-5) के अनुसार इतिहास में पुराण और इतिवृत्त दोनों ही शामिल हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि पुराण इतिवृत्त से भिन्न वस्तु है। जो हो, पुराणों ने उत्तर-कालीन हिन्दू-धर्म को एकदम नया रूप दे दिया है और सच पूछा जाय तो सन् ईसवी के बाद का हिन्दू-धर्म धीरे-धीरे पौराणिक होते-होते अन्त में सम्पूर्ण रूप से पौराणिक हो गया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय साहित्य में पुराण-साहित्य कोई नयी चीज है। गौतम धर्म-सूत्र में (11-19) पुराण-साहित्य की स्पष्ट ही चर्चा है और आपस्तम्बीय धर्म-सूत्र में तो पुराणों से कई श्लोक उद्धृत किये गये हैं। एक ऐसा ही श्लोक 'भविष्यत्-पुराण' से उद्धृत किया गया है। इसीलिए 'भविष्य-पुराण' जैसे सर्वजन-स्वीकृत आधुनिक पुराण भी कितने प्राचीन है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। वर्त्तमान भविष्य-पुराण में यह श्लोक नहीं मिलता, पर इससे मिलता-जुलता श्लोक खोज निकालना मुश्किल नहीं है। यह तो निर्विवाद है कि कम-से-कम पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व के पहले ये धर्म-सूत्र बन गये थे, इसीलिए इस काल के पहले भी पुराण-जातीय ग्रन्थ रहे होंगे, यद्यपि उनका आकार-प्रकार हू-ब-हू वही नहीं होगा जो आज के पुराणों का है। पुराण-ग्रन्थ काफी लोकप्रचलित रहे हैं इसलिए उनमें परिवर्त्तन-परिवर्धन भी यथेच्छ हुआ है। परन्तु इसीलिए पुराण-साहित्य की प्राचीनता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। विद्वानों का अनुमान है कि इन पुराणों में वैदिक काल के पूर्ववर्त्ती काल का इतिहास भी कहीं-कहीं पाया जाता है।

महाभारत बनने के पहले पुराण-जातीय ग्रन्थ वर्त्तमान थे, इस विषय में अब कोई सन्देह नहीं करता। एक समय ऐसा गया है जब इन ग्रन्थों को अप्रामाणिक कहकर उड़ाने की चेष्टा की गयी थी; परन्तु अब इतिहास-अनुरागी उन्हें बहुत अमूल्य निधि मानने लगे हैं। उनमें की बेहूदी बातें उत्तर-कालीन पण्डितों की कृति समझी जाती हैं। असल में लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले से लेकर आज तक पुराण बहुत अविकसित बुद्धि के लोगों के हाथ में रहे है और फलत. उनमें बेहूदी बातें इतनी आ घुसी हैं कि पुराणों का मूल रूप खोज निकालना बड़ा दुष्कर कार्य हो गया है। पुराणों के लक्षण मे बताया गया है कि उनमें सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित इन पाँच बातों का वर्णन होना चाहिए। पुराणों की वशावलियाँ और उनकी कथाएँ निश्चय ही बहुत पुरानी है। पुराण के कर्त्ता व्यासजी ही माने जाते है।

पुराण नाम के ग्रन्थ बहुत हैं। पुराणों और उपपुराणों की संख्या सौ से ऊपर होगी। परन्तु सभी बड़े-बड़े पुराण अठारह पुराणों की चर्चा करते हैं। इनका क्रम यद्यपि सर्वत्र एक-सा नही है और कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि एक सूची मे एक पुराण का नाम है और दूसरी में दूसरे का, पर साधारणतः निम्नांकित अठारह पुराणों को प्रामाणिक माना जाता है :

1. ब्राह्म 2. पाद्म 3. वैष्णव, 4. शैव या वायवीय, 5. भागवत, 6. नारदीय 7. मार्कण्डेय, 8. आग्नेय, 9. भविष्य, 10. ब्रह्मवैवर्त, 11. लैंग, 12. वाराह, 13. स्कान्द, 14. वामन, 15. कौर्म, 16 मात्स्य, 17. गारुड, 18. ब्रह्माण्ड।

यह एक मजेदार बात है कि यह सूची प्रायः सब पुराणों मे दी हुई है (देखिए विष्णु. 36, भागवत. 12-13, पद्म. 1-62, वाराह. 112, मत्स्य. 53, अग्नि. 272 इत्यादि)। अर्थात् यह प्रत्येक पुराण स्वीकार करता है कि उसकी रचना के पहले अन्यान्य पुराण बन चुके थे। इन पुराणों के सिवा 18 उपपुराण बताये गये है, पर असल मे उपपुराणों की संख्या और भी अधिक है। पौराणिक कथाओं के अनुसार ब्रह्म ने सब पुराणों को कल्पादि मे पहले ही रचा था, उनसे मुनियों ने सुना और सुनकर भिन्न-भिन्न कल्प में अलग-अलग सहिताएँ लिखी। इस कल्प के द्वापर युग के अन्त में कलिकाल के अल्पज्ञ मनुष्यों के उपकारार्थ व्यासजी ने फिर से उन वचनों का सक्षेप करके पुराण-सहिताएँ लिखी। विष्णु-पुराण के अनुसार वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्प-शुद्धि सहित पुराण-सहिता की रचना करके उसे सूत लोमहर्षण को समर्पित किया। लोमहर्षण के छः शिष्य थे—सुमति, अग्निवर्चा, मित्रायु, अकृतव्रण, शांखायन और सावर्णि। अन्तिम तीन शिष्यों मे से प्रत्येक ने मूल-सहिता को अवलम्बन करके अपनी एक के बाद एक संहिता बनायी। इन्ही चार संहिताओं पर से सभी पुराण बने हैं। इनमें सबसे आदि-पुराण ब्राह्म-पुराण ही है। इस कथा से मालूम होता है कि व्यासजी ने सब संहिताएँ नही लिखी थी। उन्होंने किसी एक मूल संहिता की कथा अपने शिष्य को सुनायी थी। वहीं से शिष्य-प्रशिष्यों ने इन संहिताओं की अलग-अलग रचना की। वस्तुतः पुराणों की परीक्षा से इतना तो स्पष्ट ही है कि मूल रूप में ये काफी पुराने

इन पुराणों से सम्बद्ध बहुत-से माहात्म्य और स्तोत्रों के ग्रन्थ है। समूचा पुराण-साहित्य बहुत विशाल है। यह वर्त्तमान हिन्दू-धर्म के समझने का सबसे बड़ा साधन है। यद्यपि इनमे परस्पर-विरोधी और अतिरंजित घटनाएँ बहुत है, परन्तु बीचबीच में ऐसी अमूल्य साहित्यिक रचनाएँ और ऐतिहासिक उपादान है कि भारतीय साहित्य का विद्यार्थी कभी इनकी उपेक्षा नही कर सकता।

बौद्ध-साहित्य

वैदिक साहित्य की भाँति बौद्ध-साहित्य भारतवर्ष के प्रागैतिहासिक युग से सम्बद्ध नही है। इस साहित्य का निर्माण जिन दिनों हुआ था, उस काल को निस्सन्दिग्ध रूप से पण्डितों ने ऐतिहासिक युग माना है। बुद्धदेव की मृत्यु ईसवी-पूर्व पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई थी। लगभग पचास वर्षों तक वे धर्म-प्रचार करते रहे। इस प्रकार उनके धर्म-प्रचार का समय निश्चित रूप से ईसवी पूर्व की पाँचवी शताब्दी का मध्य भाग है। एक श्रेणी के बौद्ध लोगों का विश्वास है कि लका, स्याम, ब्रह्मा आदि देशों में प्रचलित और पाली भाषा मे लिखित जो बौद्ध-ग्रन्थ मिले हैं, उनमें के प्रधान-प्रधान बुद्धदेव के श्रीमुख से उच्चरित हुए थे। यदि यह विश्वसनीय हो तो पाली-साहित्य के मुख्य भाग का काल आसानी से ई. पू. पाँचवी शताब्दी मे मान ले सकते है; लेकिन स्वयं बौद्ध-ग्रन्थों मे ऐसी बातें हैं जो ऐसा विश्वास होने देने मे बाधक है। इतना तो ग्रन्थों में स्पष्ट ही है कि बुद्धदेव ने स्वयं कोई ग्रन्थ नही लिखा। पाली-साहित्य (वस्तुतः 'पालि-साहित्य') में जो कुछ है वह बुद्धदेव के वचनों का संग्रह या उसकी व्याख्या है। ग्रन्थों से पता चलता है कि ये संग्रह समय-समय पर आहूत बौद्ध संगीतियों या सम्मेलनों मे बड़े-बड़े आचार्यों के निर्णयानुसार संगृहीत हुए थे। पाली-ग्रन्थों में कुल मिलाकर ऐसी नौ संगीतियों का उल्लेख है। इनमें से जिन कई मुख्य संगीतियों का आलोच्य विषय के साथ बहुत अधिक सम्बन्ध है, उन्ही की चर्चा यहाँ की जायेगी।

प्रथम संगीति बुद्धदेव के महानिर्वाण के कुछ ही दिनों बाद राजगह (राजगृह) में स्थविर महाकाश्यप के उद्योग से हुई थी। उसका उद्देश्य धर्म और विनय का संस्थापन था। इस संगीति का सबसे प्राचीन विवरण चुल्लवग्ग (जिसकी चर्चा आगे की जायेगी) में पाया जाता है। चुल्लवग्ग स्वयं ही विनय-पिटक का एक अंग है, इसलिए इतना तो निर्विवाद है ही कि विनय-पिटक सम्पूर्णतः इस संगीति की पूर्ववर्ती बातों का ही संग्रह नही है। जिस बात में सबसे कम आपत्ति की गुंजाइश

हैं, पर इसमें भी सन्देह नहीं रह जाता कि अपने वर्तमान रूप में ये अनेक लोगों की नाना उद्देश्यों से लिखी हुई कथाओं के संग्रह हैं।

पुराणों के अध्ययन से कुछ बातें तो स्पष्ट ही आधुनिक जान पड़ती हैं। ब्राह्म पुराण को यद्यपि आदिपुराण कहा जाता है पर उसमें उड़ीसा के तीर्थों के माहात्म्य का विशेष विवरण है जो निश्चय ही बाद का होना चाहिए। साधारणतः सन् ईसवी की बारहवीं शताब्दी तक इसने वर्तमान रूप धारण कर लिया होगा। पद्म-पुराण में बौद्धों और जैनों की बातें हैं और उसके पिछले खण्ड और भी नये जान पड़ते हैं। विष्णु-पुराण में प्राचीनता के सभी लक्षण विद्यमान हैं। विष्णु के किसी बड़े मन्दिर या मठ आदि की चर्चा इसमें नहीं आती। रामानुजाचार्य ने इस पुराण के वचन उद्धृत किये हैं। किसी-किसी ने अनुमान किया है कि विष्णु-पुराण में उल्लिखित कैलकिल या कैकिल यवनों ने आन्ध्र देश में 500 से 900 ई. तक राज्य किया था, अतः इस पुराण का काल नवीं शताब्दी से अधिक पुराना नहीं होना चाहिए। पर यह केवल कल्पना-ही-कल्पना है, किसी ऐतिहासिक प्रमाण से सिद्ध नहीं है। वायु-पुराण सम्भवतः पुराने पुराणों का एक नमूना है। उसमें प्राचीनता के सभी लक्षण विद्यमान हैं। श्रीमद्भागवत समस्त पुराणों में अधिक प्रसिद्ध और सारे भारत में समादृत है। इसमें जो कवित्व है, वह बहुत ही ऊँचे दर्जे का है। रामायण और महाभारत की भाँति इसने भी भारतीय साहित्य को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। अकेले बंगाल में ही इसके चालीस से अधिक अनुवाद हैं। हिन्दी में भी इसके दशम स्कन्ध के अनुवादों की संख्या इससे कम न होगी। हिन्दी का गौरवभूत काव्य सूरसागर भागवत द्वारा ही प्रभावित है। किसी-किसी ने यह अफवाह उड़ा रखी है कि भागवत के कर्त्ता वोपदेव हैं, पर असल में वोपदेव ने भागवत के अनेक वचन संग्रह करके एक निबन्ध-ग्रन्थ लिखा था। भागवत-पुराण काफी पुराना है। सबसे बड़ी बात यह है कि अन्यान्य पुराणों की अपेक्षा यह एक हाथ की रचना अधिक है। इसमें विष्णु के सभी अवतारों का वर्णन है। विशेष रूप से श्रीकृष्णावतार की कथा है। नारदीय और बृहन्नारदीय पुराण बहुत कुछ माहात्म्य ग्रन्थ-से हैं और उत्तर-कालीन रचना जान पड़ते हैं। मार्कण्डेय-पुराण भी काफी पुराना है, यद्यपि किसी-किसी ने इसे नवीं-दसवीं शताब्दी की रचना सिद्ध किया है। अग्नि-पुराण नाना विषयों का एक विशाल विश्वकोश है। नाना भारतीय विद्याएँ, जिन पर लिखे गये स्वतन्त्र ग्रन्थ अधिकांश लोप हो गये हैं, इसमें सुरक्षित हैं। भारतीय साहित्य के विद्यार्थियों के लिए इसका मूल्य बहुत अधिक है। भविष्य और ब्रह्मवैवर्त्त में पुराणों के लक्षण नहीं मिलते। इसी प्रकार लिंग-पुराण भी एक कर्म-ग्रन्थ है। वाराह पुराण में रामानुजाचार्य का उल्लेख है। ये सभी पुराण बहुत पुराने नहीं हैं। सबको अन्तिम रूप तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ जान पड़ता है। स्कन्द-पुराण बहुत बड़ा और नाना दृष्टियों से काफी महत्त्वपूर्ण है। वामन, कूर्म, गरुड़ आदि पुराणों में पुराणों के सब लक्षण नहीं मिलते। इस प्रकार सभी पुराण बहुत प्राचीन नहीं हैं।

इन पुराणों से सम्बद्ध बहुत-से माहात्म्य और स्तोत्रों के ग्रन्थ है। समूचा पुराण-साहित्य बहुत विशाल है। यह वर्त्तमान हिन्दू-धर्म के समझने का सबसे बड़ा साधन है। यद्यपि इनमें परस्पर-विरोधी और अतिरंजित घटनाएँ बहुत है, परन्तु बीचबीच में ऐसी अमूल्य साहित्यिक रचनाएँ और ऐतिहासिक उपादान हैं कि भारतीय साहित्य का विद्यार्थी कभी इनकी उपेक्षा नही कर सकता।

बौद्ध-साहित्य

वैदिक साहित्य की भांति बौद्ध-साहित्य भारतवर्ष के प्रागैतिहासिक युग से सम्बद्ध नही है। इस साहित्य का निर्माण जिन दिनों हुआ था, उस काल को निस्सन्दिग्ध रूप से पण्डितों ने ऐतिहासिक युग माना है। बुद्धदेव की मृत्यु ईसवी-पूर्व पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई थी। लगभग पचास वर्षों तक वे धर्म-प्रचार करते रहे। इस प्रकार उनके धर्म-प्रचार का समय निश्चित रूप से ईसवी पूर्व की पाँचवी शताब्दी का मध्य भाग है। एक श्रेणी के बौद्ध लोगों का विश्वास है कि लंका, स्याम, ब्रह्मा आदि देशो में प्रचलित और पाली भाषा में लिखित जो बौद्ध-ग्रन्थ मिले हैं, उनमें के प्रधान-प्रधान बुद्धदेव के श्रीमुख से उच्चरित हुए थे। यदि यह विश्वसनीय हो तो पाली-साहित्य के मुख्य भाग का काल आसानी से ई. पू. पाँचवी शताब्दी मे मान ले सकते है; लेकिन स्वयं बौद्ध-ग्रन्थों में ऐसी बातें है जो ऐसा विश्वास होने देने मे बाधक हैं। इतना तो ग्रन्थों में स्पष्ट ही है कि बुद्धदेव ने स्वयं कोई ग्रन्थ नही लिखा। पाली-साहित्य (वस्तुतः 'पालि-साहित्य') में जो कुछ है वह बुद्धदेव के वचनों का संग्रह या उसकी व्याख्या है। ग्रन्थों से पता चलता है कि ये संग्रह समय-समय पर आहूत बौद्ध संगीतियों या सम्मेलनों में बड़े-बड़े आचार्यों के निर्णयानुसार संगृहीत हुए थे। पाली-ग्रन्थों में कुल मिलाकर ऐसी नौ संगीतियों का उल्लेख है। इनमें से जिन कई मुख्य संगीतियों का आलोच्य विषय के साथ बहुत अधिक सम्बन्ध है, उन्ही की चर्चा यहाँ की जायेगी।

प्रथम संगीति बुद्धदेव के महानिर्वाण के कुछ ही दिनों बाद राजगह (राजगृह) में स्थविर महाकाश्यप के उद्योग से हुई थी। उसका उद्देश्य धर्म और विनय का संस्थापन था। इस संगीति का सबसे प्राचीन विवरण चुल्लवग्ग (जिसकी चर्चा आगे की जायेगी) में पाया जाता है। चुल्लवग्ग स्वयं ही विनय-पिटक का एक अंग है, इसलिए इतना तो निर्विवाद है ही कि विनय-पिटक सम्पूर्णत. इस संगीति की पूर्ववर्ती बातों का ही संग्रह नहीं है। जिस बात में सबसे कम आपत्ति की गुंजाइश

है. यह यह कि धम्म और विनय-पिटक के प्राचीनतम भाग इसी संगीति में निर्धारित हुए होंगे और यदि बुद्धदेव ने सचमुच पाली भाषा में ही उपदेश दिया था (जिसमें बहुत-से पण्डित अब सन्देह करने लगे हैं) तो मानना पड़ेगा कि हमारे पास बहुत-कुछ बुद्धदेव के ज्यों-के-त्यों कहे हुए वचन भी प्राप्त हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण संगीति बुद्ध-निर्वाण के सौ वर्ष बाद वेसाली (वैशाली) में हुई थी। इसका भी सबसे प्राचीन विवरण चुल्लवग्ग में ही मिलता है; पर इसमें यह नहीं लिखा है कि यह संगीति बुद्ध-निर्वाण के सौ वर्ष के बाद हुई थी। बाद के ग्रन्थों (दीपवंश और महावंश) के अनुसार इस संगीति का उक्त समय बताया गया है। प्रथम संगीति में धम्म और विनय का संकलन हुआ, पर इसमें छोटे-छोटे नियमों का। कहते हैं कि वैशाली के भिक्षुओं ने दस प्राचीन नियमों का अप-व्यवहार किया था, उसी के संशोधन में इस संगीति को अधिक समय लगा। दीपवंश और महावंश के अनुसार यह संगीति आठ महीने तक चलती रही। ऊपर उल्लिखित दस नियमों के अतिरिक्त धर्म और विनय की आवृत्ति भी इस संगीति में हुई थी। पण्डितों का अनुमान है कि इस समय तक निश्चित रूप से विनय और धम्म-पिटक का कोई-न-कोई आकार रहा होगा, क्योंकि दस नियमों में विचारार्थ विनय और धम्म के पूर्व-निर्णीत नियमों की जरूरत रही होगी और यह जरूरत किसी नियम-संग्रह से ही पूरी की गयी होगी। उदाहरणार्थ, वैशाली के भिक्षुओं ने नियम किया था कि जहाँ नमक का अभाव होने की सम्भावना है, वहाँ उसे भी भिक्षु लोग सींगों में भरकर ले जा सकते हैं। अब इस बात के औचित्य के निर्णय के लिए किसी पूर्व-निर्णीत विधि-निषेध की आवश्यकता होनी चाहिए (श्रावस्ती में कथित सुत्तविभंग के अनुसार यह बात नियम-विरुद्ध है)। बुद्धदेव ने सारिपुत्त को ऐसा करने से मना किया था। इस प्रकार उस समय तक कुछ ग्रन्थ (भले ही वे मौखिक हों) जरूर बन चुके थे। तीसरी संगीति, जो वृजिपुत्त भिक्षुओं के उद्योग से आहूत हुई थी, हमारे विषय से उतनी सम्बद्ध नहीं है। सबसे महत्त्वपूर्ण संगीति चौथी है जिसे अशोक संगीति भी कहते हैं। लंका में प्राप्त परम्परा के अनुसार यही तीसरी संगीति है। कहा गया है कि जब अशोक ने बौद्ध-धर्म पर अपनी आस्था प्रकट की तो बहुत-से अन्य सम्प्रदाय के लोग भी बौद्ध-संघ में आ घुसे और अपना-अपना राग अलापने लगे। तंग आकर सम्राट् ने तिस्स मोग्गलिपुत्त को बुलवाया जिन्होंने सम्राट् को वास्तविक रहस्य समझाया। तब राजा ने एक-एक बौद्ध-भिक्षु को बुलाकर उसके मत के विषय में पूछा। कहा गया है कि जो लोग विभाज्यवादी (विभज्जवादी) थे उन्हीं को तिस्स ने असली बौद्ध माना और बाकी को श्वेत वस्त्र पहनवाकर निकाल बाहर किया। इन्हीं तिस्स (तिष्य) ने चुने हुए एक हजार भिक्षुओं की सभा बुलायी जो नौ महीने की निरन्तर आलोचना के बाद तीन पिटकों या पिटारों का संग्रह करने में समर्थ हुई। ये तीन पिटक हैं : विनय-पिटक, सुत्त-पिटक और अभिधम्म-पिटक। संक्षेप में इन्हें त्रिपिटक कहते हैं। अन्तिम पिटक का एक-एक अंग कथावत्थु तिष्य का रचित बताया जाता है। लक्ष्य करने की बात यह है कि स्थविरवादियों के सम्प्रदाय को छोड़कर और

किसी सम्प्रदाय के ग्रन्थों मे इस संगीति का उल्लेख नही मिलता। अशोक की प्रशस्तियों में भी इसकी चर्चा नही है यद्यपि सारनाथ, साँची और कौशाम्बी की स्तम्भ-लिपियो मे अशोक ने अनाचारपरायण भिक्षुओ को श्वेत वस्त्र पहनवाकर निकाल देने का जो आदेश दिया है, उसके साथ इसका सामजस्य स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार ईसवी-पूर्व तीसरी शताब्दी में इन ग्रन्थों का संगृहीत होना सिद्ध होता है। पण्डितो ने तीन पिटको मे से ही यह बात सिद्ध करने की कोशिश की है कि अशोक के बहुत बाद तक भी इनमे बहुत-सी बातें जोड़ी, बदली और सुधारी जाती रही। फिर भी इतना मान लेने मे किसी को भी कोई आपत्ति नही कि ईसा मसीह के जन्म के दो सौ वर्ष पहले इन पिटकों के मुख्य भाग निश्चय ही संगृहीत हो गये थे, यद्यपि इनके वर्त्तमान रूपो में जो भाषा पायी जाती है वह बुद्ध या अशोक के युग की भाषा नही हो सकती। पिटको से ही पता चलता है कि अशोक के पहले ही बुद्ध-वचनों का भाषान्तर करना शुरू कर दिया गया था। किसी-किसी ने तो संस्कृत में भी अनुवाद किया था जिसका स्वय बुद्धदेव ने निषेध किया था। इस प्रकार पिटको में जो भाषा सुरक्षित है, उसकी विशुद्धता सन्देह से परे नहीं है।

ऊपर जो विवरण दिया गया है वह पाली-साहित्य का है। इसी को एकमात्र बौद्ध-साहित्य मान लेना ठीक नही। जैसा कि ऊपर बताये हुए अशोक-संगीति के विवरण से स्पष्ट है, यह केवल एक सम्प्रदाय का संग्रह है। यह भी नही कहा जा सकता कि यही बौद्धों का प्राचीनतम साहित्य है। चीनी तुर्किस्तान में पाये गये कुछ संस्कृत ग्रन्थो ने पण्डितों को यह सोचने को बाध्य किया है कि पाली और संस्कृत दोनों ही किसी एक ही सामान्य भाषा से संगृहीत ग्रन्थों के रूपान्तर हो सकते है। जो बात निस्संकोच कही जा सकती है वह यह है कि अन्यान्य सम्प्रदाय के प्रामाणिक प्राचीन संग्रहों के अभाव मे यही संग्रह (पालीवाला) हमारे लिए बुद्ध-धर्म के मूल रूप को समझने मे सर्वाधिक सहायक है। इनके अतिरिक्त संस्कृत और अर्धसंस्कृत में लिखे हुए अनेकानेक बौद्ध-ग्रन्थ पाये गये है और अब भी खोजकर निकाले जा रहे हैं। इनमें से अधिकाश ग्रन्थों के अनुवाद चीनी, तिब्बती और मंगोलियन भाषाओ में सुरक्षित है। सच पूछा जाय तो ये अनुवाद ही बौद्ध संस्कृत-ग्रन्थो की जानकारी के प्रधान सहायक है। इनकी चर्चा हम इसी प्रबन्ध मे यथास्थान करेंगे।

पाली-साहित्य

हिन्दी में हम जिसे 'पाली' लिखा करते हैं वह मूल शब्द 'पालि' है जो पंक्ति का वाचक है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार समग्र बौद्ध साहित्य दो भागों मे विभक्त है—(1) पालि या पिटक; (2) अनुपालि या अनुपिटक। इसके अनुसार पालि बुद्ध वचनयुक्त त्रिपिटक को कहते हैं और अनुपालि में वह समग्र साहित्य है जो है तो पिटक के बाहर, पर जिसका आधार या उपजीव्य त्रिपिटक ही हैं। इसमें अर्थकथा, आचार्यवाद, कोष, संग्रह, वंश, टीका-अनुटीका, व्याकरण, दीपिका ग्रन्थि

इत्यादि सम्मिलित हैं। इनमें त्रिपिटक ही प्रधान हैं। इनमें बुद्धदेव के मूल वचन संगृहीत माने जाते है। छः प्रकार के विभाग किये गये हैं। श्री बेनीमाधव बाडुया महाशय ने ये विभाग इस प्रकार गिनाये हैं :

(1) उपदेश और आदेश के अनुसार बुद्ध-वचन दो प्रकार के हैं : धर्म और विनय। (2) काल पर्याय-क्रम से तीन प्रकार के हैं : प्रथम (बुद्धत्वप्राप्ति के पश्चात् पहले-पहल निकले हुए वाक्य), अन्तिम (मृत्युसमय के उपदेश) और मध्यम (अर्थात् इन दोनों के बीच समस्त जीवन के दिये हुए उपदेश)। (3) पिटक के अनुसार तीन प्रकार : सुत्त (सूत्र), विनय और अभिधम्म (अभिधर्म) हैं। (4) निकाय या आगम के अनुसार पांच प्रकार : दीघनिकाय या दीघागम (दीर्घागम), मज्झिमनिकाय (मध्यमागम), संयुत्तनिकाय (संयुक्तागम), अंगुत्तरनिकाय (एकोत्तरागम), खुद्दकनिकाय (क्षुद्रकागम)। (5) अंग या श्रेणी के अनुसार नौ प्रकार—सुत्त (सूत्र), गेय्य (गेय), वय्याकरण, (व्याकरण), गाथा, उदान, इतिवुत्तक (इत्युक्तक), अब्भुतधम्म (अद्भुतधर्म), वेदल्ल (वेदल्य)। (6) पाठ या परिच्छेद-गणना के अनुसार 84,000 धम्मखन्ध या धर्मस्कन्ध।

त्रिपिटक

पण्डितों ने विचार करके देखा है कि जब तक बुद्धदेव का धर्म लोकव्यापी नहीं हुआ था, तब तक वे धर्म के विषय में ही चिन्ता करते रहे। धीरे-धीरे उनका धर्म जब फैल गया और बहुत-से शिष्य उनके निकट एकत्र हो गये तो उन्होंने उनमें नियम के प्रति एक अनास्था का भाव लक्ष्य किया और वे धर्म और विनय (discipline) दोनों पर जोर देने लगे। इसके बाद उन्होंने अकेले 'धर्म' शब्द का व्यवहार कभी नहीं किया। भिक्षुओं को भी धर्म और विनय दोनों का प्रचार करने को कहते रहे। प्रथम संगीति के विवरण में कहा गया है कि महाकाश्यप ने भिक्षुसंघ से पूछा कि धर्म और विनय में से पहले किसका पाठ होगा, तो भिक्षुओं ने कहा था कि विनय ही बुद्धशासन की आयु है, विनय के अभाव में बुद्धशासन टिकेगा नहीं। इस प्रकार बुद्ध के निर्वाण के बाद ही भिक्षुसंघ में विनय की जबरदस्त प्रतिष्ठा हो गयी थी। प्रथम संगीति में धर्म और विनय की ही चर्चा हुई थी, किन्तु बुद्ध की मृत्यु के बहुत बाद उनके अनुभवी शिष्य ने धर्म के अंश-विशेष (अर्थात् दार्शनिक चिन्ता के अनुकूल विषयों) का अवलम्बन करके एक नये साहित्य का उद्भावन किया। इसका नाम रखा गया अभिधम्म (अभिधर्म)। बुद्ध-वचनों के जो अंश 'धर्म' नाम से प्रचलित थे, उन्हीं को सूत्र या सूत्रान्त नाम दिया गया। जिसे बुद्धदेव ने विनय नाम दिया था, वह उसी नाम से प्रचलित हुआ। अशोक-संगीति के अवसर पर ये तीनों भाग पृथक्-पृथक् नामों से संकलित हुए। प्रत्येक को एक-एक पिटक या पिटारा कहा गया। इन्हीं तीनों को त्रिपिटक कहते हैं। इन्हीं तीन पिटारों में बुद्धदेव के अमूल्य विचार सुरक्षित [illegible] सम्बन्धी शिक्षा विनय में, चित्त-विषयक आदेश सूत्र में और प्रज्ञा [illegible] अभिधर्म में

सुरक्षित हैं।

विनय-पिटक

विनय-पिटक में ये सम्मिलित है—

1. पाराजिक कण्ड } विभंग
2. पाचित्तिय कण्ड }

3. महावग्ग } खन्धक
4. चुल्लवग्ग }

5. परिवार

किसी-किसी पण्डित ने इसी में भिक्खु पातिमोक्ख और भिक्खुनी पातिमोक्ख (या एक शब्द में उभयानि पातिमोक्खानि) को इस पिटक के अन्तर्गत माना है; पर ऐसा मानने का कोई कारण नही, क्योकि ये दोनों पातिमोक्ख या प्रतिमोक्ष असल में दोनों विभंगों के ही अन्तर्गत है। प्रतिमोक्षों मे जो नियम दिये गये है, विभंगो में हू-ब-हू वही दिये गये है। विशेषता यह है कि इन घटनाओ का विवरण भी विभंगों में दिया गया है जिनके कारण वे नियम बनाये गये थे। इस प्रकार या तो प्रतिमोक्ष का ही घटना-विवरण बढाकर विभग बनाया गया है, या विभंग का संक्षिप्त रूप प्रतिमोक्ष है। दूसरा पक्ष ही विद्वानों को अधिक मान्य है। विभग शब्द का अर्थ ही है चूर्ण करके बनाये हुए नियम, अर्थात् जो नियम पातिमोक्खों में ठोस भाव से गुंथे हुए थे, उन्हें तोड़-तोडकर घटना-पुरस्सर सम्पादित करके विभगो में सरल और बोधगम्य बनाया गया है। फिर पण्डितो ने जो इन पातिमोक्खों को अलग ग्रन्थ माना है वह नितान्त उपेक्षणीय भी नही है, क्योकि स्थान-स्थान पर प्रतिमोक्षो के साथ विभागों का थोड़ा-बहुत अन्तर भी मिल जाया करता है। जो बात निस्संकोच मानी जा सकती है, वह यह है कि दोनो विभग असल मे पातिमोक्खों के एक प्रकार के सटीक सस्करण ही है। हर अमावस्या और पूर्णिमा को भिक्षु लोग एकत्र होकर पातिमोक्खो का पाठ किया करते थे। प्रत्येक अध्याय के अन्त में प्रधान पूछा करते थे कि भिक्षुओं मे से किसी ने उक्त अध्याय मे वर्णित कोई अपराध किया है या नहीं और भिक्षुगण ईमानदारी के साथ अपने-अपने पाप स्वीकार किया करते थे। इसी को उपोसथ कहा करते थे। पण्डितो का अनुमान है कि मूल बौद्ध धर्म के आदि-ग्रन्थों मे पातिमोक्ख जरूर रहा होगा, क्योकि सौभाग्य-वश प्रतिमोक्ष का एक संस्कृत, एक तिब्बती और कम-से-कम चार चीनी अनुवाद अब तक पाये जा चुके है जो पाली-भाषावाले पातिमोक्ख से बहुत-कुछ मिलते हैं। वर्तमान पातिमोक्ख मे 227 नियम हैं, जिनमे 152 निश्चय ही प्राचीन होंगे।

महावग्ग और चुल्लवग्ग को खन्धक (स्कन्धक) कहते हैं। असल मे यह भी सुत्तविभगों में बताया गया है कि भिक्खु कैसे रहेगा, कैसे खायेगा, कैसे हँसेगा, कैसे चीवर धारण करेगा, क्या सोचेगा और क्या नहीं सोचेगा, इत्यादि। स्कन्धो मे संघ के नियम, उपोसथ में भाग लेने के नियम, वर्षावास के नियम, पादुकाधारण,

रथारोहण और वस्त्रों के व्यवहार के विधि-निषेधों का विवरण है। चुल्लवग्ग के प्रथम नौ वर्गों में संघ के भीतर छोटे-मोटे मर्यादा-भंगजनक अपराधों का प्रतिविधान है। इनमें भिक्षुओं के आपसी झगड़े, उनके एक-दूसरे के प्रति कैसे व्यवहार होने चाहिए आदि बातें बतायी गयी हैं। दसवें वर्ग में भिक्षुनियों के नियम बनाये गये हैं।

पातिमोक्खों में एक भारी जटिल भिक्षु-समाज का परिचय मिलता है और खन्धकों में आकर यह समाज और भी जटिलतर हो गया है। छोटी-से-छोटी बात का भी विचार किया गया है। भिक्षु को नियमानुसार भिक्षा पर ही निर्भर रहना चाहिए, पर साथ ही वह बड़े-बड़े रईसों का निमन्त्रण भी स्वीकार कर सकता है।[1] उसे इधर-उधर से बटोरकर सी हुई कन्था धारण करनी चाहिए; पर यह कन्था रेशमी या ऊनी वस्त्रों की भी हो सकती है। उसे मनसा, वाचा और कर्मणा अहिंसक होना चाहिए, पर वह मछली भी खा सकता है, बशर्ते कि उसके लिए न मारी

1. मेरा यह वक्तव्य अगस्त 1939 के 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुआ था। उस पर आलोचना करते हुए बौद्ध शास्त्रों के विशेषज्ञ श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने नवम्बर 1939 ई. के 'विशाल भारत' में एक नोट लिखा था। उक्त विद्वान् का कहना है कि "इस ग्रन्थ में (पातिमोक्खों और खन्धकों में वर्णित जटिल भिक्षुसमाज के उपपादक वाक्यों में) द्विवेदीजी की लेखनी में उतनी जिम्मेदारी नहीं रही। क्या हम जान सकते हैं कि पातिमोक्ख का कौन-सा नियम है जिसका अर्थ पण्डितजी ने 'भिक्षा पर ही निर्भर रहना चाहिए' किया है; और कौन-सा दूसरा नियम है जिसका अर्थ पण्डितजी ने 'बड़े बड़े रईसों के निमन्त्रण भी स्वीकार कर सकता है', किया है ?' भदन्त आनन्द जैसे पण्डित ने इसकी सफाई माँगी है इसलिए अपनी बात समझा देना मेरा कर्तव्य हो जाता है। वस्तुतः भदन्तजी ने जल्दी में इस अंश को पढ़ा है। ऊपर के पैराग्राफ से स्पष्ट है कि मैंने जो यह लिखा था 'भिक्षु को भिक्षा पर ही निर्भर करना चाहिए' इत्यादि, उसका सम्बन्ध प्रतिमोक्षों से नहीं बल्कि खन्धकों (महावग्ग और चुल्लवग्ग) से है। महावग्ग (1-2-6) में स्पष्ट ही लिखा है कि बुद्धदेव ने चार निश्चयों की व्यवस्था की थी जिनमें पहला यह है—'यह प्रव्रज्या भिक्षा माँगे भोजन के निश्चय से है, इसके (पालन में) जिन्दगी-भर तुझे उद्योग करना चाहिए। हाँ (यह) अधिक लाभ भी (तेरे लिए विहित है)—संघ-भोज, (तेरे) उद्देश्य से बना भोजन, निमन्त्रण, शलाका भोजन, पाक्षिक (भोज), उपोसथ के दिन का (भोज), प्रतिपद का भोज।" (—राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)। जब बुद्धदेव को यह नियम करते हुए बताया गया है, उस समय का प्रसंग यह है कि 'उस समय राजगृह में उत्तम भोजों का सिलसिला चल रहा था—तब एक ब्राह्मण के मन में ऐसा हुआ—यह शाक्यपुत्रीय (=बौद्ध) श्रमण(=साधु), शील और आचार में आराम से रहनेवाले हैं, सुन्दर भोजन करके वात-रहित शय्याओं में सोते हैं। क्यों न मैं भी शाक्यपुत्रीय साधुओं में साधु बनूं!' इत्यादि (अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन)। प्रसंग से स्पष्ट है कि ये उत्तम भोज रईसों के निमन्त्रण में होते होंगे। इसलिए मेरा यह कहना कि 'भिक्षु को नियमानुसार भिक्षा पर ही निर्भर रहना चाहिए, साथ ही वह बड़े-बड़े रईसों का निमन्त्रण भी स्वीकार कर सकता है' भित्तिहीन नहीं है। मैं समझता हूँ आदरणीय भदन्त आनन्द इस सफाई से सन्तुष्ट हो जायेंगे।

गयी हो। इसीलिए विण्टरनित्ज का विचार है कि इस प्रकार दो कोटियों पर गये हुए नियमों के बनने में निश्चय ही सैकड़ों वर्ष लगे होंगे और इसीलिए एक प्रकार के पण्डित है जो इन पुस्तकों में आये हुए बुद्धदेव के संवाद को बहुत महत्त्व नहीं देते; पर दूसरे ऐसे भी है जो मानते है कि ये नियम बहुत-कुछ बुद्ध-पूर्व संन्यासी-सम्प्रदायों से लिये गये होंगे और इस तरह काफी प्राचीन हो सकते है। इसमें सन्देह नही कि महावग्ग की कई कहानियाँ (विशेषकर जो शुरू मे आयी है) काफी प्राचीन हैं; पर खन्धकों के भीतर ऐसी बातें हैं जिनसे सिद्ध होता है कि इनका सकलन प्रतिमोक्षों के बहुत बाद हुआ है। विनय-पिटक के इन ग्रन्थों का ब्राह्मण-ग्रन्थों से बहुत मेल है और पण्डितों ने वैदिक सूत्र-ग्रन्थो के नियमो के साथ इन नियमो का मनोरंजक साम्य दिखाया है।

परिवार का अर्थ है परिशिष्ट। असल मे यह बहुत बाद का बना हुआ ग्रन्थ है। सम्भवतः किसी सिंहली भिक्षु ने इसे लिखकर विनय-पिटक मे जोड़ दिया है। इसमे अनुक्रमणिका, परिशिष्ट आदि है; यह बहुत-कुछ वेद और वेदांग ग्रन्थो के अनुक्रमणी और परिशिष्ट आदि की जाति के है, और प्रश्न तथा उत्तर के रूप मे लिखित हैं।

सुत्त-पिटक

जिस प्रकार विनय-पिटक से हम बौद्ध-संघ और भिक्षुओं के दैनन्दिन आचार-व्यवहारों को समझ सकते है, उसी प्रकार सुत्त-पिटक से हम बौद्ध-धर्म को समझते हैं। इस पिटक के पञ्च निकाय (समूह) या आगम है—दीघ-निकाय, मज्झिम-निकाय, सयुत्त-निकाय, अगुत्तर-निकाय और खुद्दक-निकाय। प्रथम चार निकाय सूत्रों के संग्रह हैं। दीघ-निकाय में बड़े-बड़े सूत्र, मज्झिम मे मध्यम मान के सूत्र, संयुत्त निकाय में सयुक्त विषयों के सूत्र और अंगुत्तर-निकाय मे एक-दो आदि संख्याओं के सूत्र है।

सूत्र किसे कहते है, इस विषय में अर्थकथाओ में अनेक अर्थ दिये हैं : सुत्त उसे कहते हैं जो सूचना दे, जो सुष्ठु भाव से कहा गया हो, जो सवन-(या फलप्रसव-) कारी हो, सूदन यानी गाय के थन से दूध की तरह अर्थ जिससे निःसृत हो रहा हो, जो सुत्राण करे, बढई के सूत्रों को तरह विज्ञानों का माप करे, इत्यादि। निकायों में या तो बुद्धदेव के (कभी-कभी उनके किसी प्रधान शिष्य के) उपदेशों की बात है, या फिर इतिहास-संवाद के रूप मे बातचीत। इस प्रकार बड़ी सरलता के साथ प्रश्नोत्तर-छल से भगवान बुद्ध गूढ विषयों को समझा देते हैं। निकाय शब्द के लिए पाली मे आगम शब्द भी प्रचलित है; पर संस्कृत मे जो निकाय थे, उन्हें आगम ही कहा जाता है। सम्भवतः, निकाय स्थविरवादियों का शब्द है। दिव्यावदान में चार आगमों का स्पष्ट उल्लेख है : दीर्घ, मध्यम, संयुक्त और एकोत्तर। पाँचवें क्षुद्रक का कोई उल्लेख न देखकर किसी-किसी पण्डित ने सन्देह किया था कि यह निकाय बाद का है। दिव्यावदान सर्वास्तिवाद का ग्रन्थ है और लेवी साहब ने सिद्ध

रथारोहण और वस्त्रों के व्यवहार के विधि-निषेधों का विवरण है। चुल्लवग्ग के प्रथम नौ वर्गों में संघ के भीतर छोटे-मोटे मर्यादा-भंगजन्य अपराधों का प्रतिविधान है। इनमें भिक्षुओं के आपसी झगड़े, उनके एक-दूसरे के प्रति कैसे व्यवहार होने चाहिए आदि बातें बतायी गयी हैं। दसवें वर्ग में भिक्षुणियों के नियम बताये गये हैं।

पातिमोक्खों में एक काफी जटिल भिक्षु-समाज का परिचय मिलता है और खन्धकों में आकर यह समाज और भी जटिलतर हो गया है। छोटी-से-छोटी बात का भी विचार किया गया है। भिक्षु को नियमानुसार भिक्षा पर ही निर्भर रहना चाहिए; पर साथ ही वह बड़े-बड़े रईसों का निमन्त्रण भी स्वीकार कर सकता है।[1] उसे इधर-उधर से बटोरकर सी हुई कन्था धारण करनी चाहिए; पर यह कन्था रेशमी या ऊनी वस्त्रों की भी हो सकती है। उसे मनसा, वाचा और कर्मणा अहिंसक होना चाहिए, पर वह मछली भी खा सकता है, बशर्ते कि उसके लिए न मारी

1. मेरा यह वक्तव्य अगस्त 1939 के 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुआ था। उस पर आलोचना करते हुए बौद्ध शास्त्रों के विशेषज्ञ श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने नवम्बर 1939 ई. के 'विशाल भारत' में एक नोट लिखा था। उक्त विद्वान् का कहना है कि "इस मत में (पातिमोक्खों और खन्धकों में वर्णित जटिल भिक्षुसमाज के उपपादक वाक्यों में) द्विवेदीजी की लेखनी में उतनी जिम्मेदारी नहीं रही। क्या हम जान सकते हैं कि पातिमोक्ख का कौन-सा नियम है जिसका अर्थ पण्डितजी ने 'भिक्षा पर ही निर्भर रहना चाहिए' किया है; और कौन-सा दूसरा नियम है जिसका अर्थ पण्डितजी ने 'बड़े बड़े रईसों के निमन्त्रण भी स्वीकार कर सकता है', किया है ?' भदन्त आनन्द जैसे पण्डित ने इसकी सफाई माँगी है, इसलिए अपनी बात समझा देना मेरा कर्त्तव्य हो जाता है। वस्तुतः भदन्तजी ने जल्दी में इस प्रश्न को पूछा है। ऊपर के पैराग्राफ से स्पष्ट है कि मैंने जो यह लिखा था 'भिक्षु को भिक्षा पर ही निर्भर करना चाहिए' इत्यादि, उसका सम्बन्ध प्रतिमोक्षों से नहीं बल्कि खन्धकों (महावग्ग और चुल्लवग्ग) से है। महावग्ग (1-2-6) में स्पष्ट ही लिखा है कि बुद्धदेव ने चार निश्चयों की व्यवस्था की थी, जिनमें पहला यह है—'यह प्रव्रज्या भिक्षा माँगे भोजन के निश्चय से है, इसके (पालन में) जिन्दगी-भर तुझे उद्योग करना चाहिए। हाँ (यह) अधिक लाभ भी (तेरे लिए विहित है)—संघ-भोज, (तेरे) उद्देश्य से बना भोजन, निमन्त्रण, शलाका भोजन, पाक्षिक (भोज), उपोसथ के दिन का (भोज), प्रतिपद् का भोज।" (—राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)। जब बुद्धदेव को यह नियम करते हुए बताया गया है, उस समय का प्रसंग यह है कि 'उस समय राजगृह में उत्तम भोजों का सिलसिला चल रहा था—तब एक ब्राह्मण के मन में ऐसा हुआ—यह शाक्यपुत्रीय (=बौद्ध) श्रमण(=साधु), शील और आचार में आराम से रहनेवाले हैं, सुन्दर भोजन करके शान्त शय्याओं में सोते हैं। क्यों न मैं भी शाक्यपुत्रीय साधुओं में साधु बनूँ।' इत्यादि (अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन)। प्रसंग से स्पष्ट है कि ये उत्तम भोज रईसों के निमन्त्रण में होते होंगे। इसलिए मेरा यह कहना कि 'भिक्षु को नियमानुसार भिक्षा पर ही निर्भर रहना चाहिए, साथ ही वह बड़े-बड़े रईसों का निमन्त्रण भी स्वीकार कर सकता है' भित्तिहीन नहीं है। मैं समझता हूँ आदरणीय भदन्त आनन्द इस सफाई से सन्तुष्ट हो जायेंगे।

गयी हो। इसीलिए विण्टरनित्ज का विचार है कि इस प्रकार दो कोटियों पर गये हुए नियमों के बनने में निश्चय ही सैकड़ो वर्ष लगे होंगे और इसीलिए एक प्रकार के पण्डित हैं जो इन पुस्तकों में आये हुए बुद्धदेव के सवाद को बहुत महत्त्व नही देते; पर दूसरे ऐसे भी है जो मानते है कि ये नियम बहुत-कुछ बुद्ध-पूर्व संन्यासी-सम्प्रदायों से लिये गये होंगे और इस तरह काफी प्राचीन हो सकते है। इसमे सन्देह नही कि महावग्ग की कई कहानियाँ (विशेषकर जो शुरू में आयी है) काफी प्राचीन हैं; पर खन्धकों के भीतर ऐसो बातें है जिनसे सिद्ध होता है कि इनका संकलन प्रतिमोक्षों के बहुत बाद हुआ है। विनय-पिटक के इन ग्रन्थों का ब्राह्मण-ग्रन्थों से बहुत मेल है और पण्डितों ने वैदिक सूत्र-ग्रन्थो के नियमो के साथ इन नियमो का मनोरंजक साम्य दिखाया है।

परिवार का अर्थ है परिशिष्ट। असल मे यह बहुत बाद का बना हुआ ग्रन्थ है। सम्भवतः किसी सिंहली भिक्षु ने इसे लिखकर विनय-पिटक मे जोड दिया है। इसमें अनुक्रमणिका, परिशिष्ट आदि है; यह बहुत-कुछ वेद और वेदाग ग्रन्थो के अनुक्रमणी और परिशिष्ट आदि की जाति के है, और प्रश्न तथा उत्तर के रूप मे लिखित हैं।

सुत्त-पिटक

जिस प्रकार विनय-पिटक से हम बौद्ध-संघ और भिक्षुओं के दैनन्दिन आचार-व्यवहारों को समझ सकते हैं, उसी प्रकार सुत्त-पिटक से हम बौद्ध-धर्म को समझते है। इस पिटक के पञ्ज निकाय (समूह) या आगम है—दीघ-निकाय, मज्झिम-निकाय, संयुत्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय और खुद्दक-निकाय। प्रथम चार निकाय सूत्रों के संग्रह है। दीघ-निकाय में बड़े-बड़े सूत्र, मज्झिम मे मध्यम मान के सूत्र, संयुत निकाय में सयुक्त विषयों के सूत्र और अंगुत्तर-निकाय मे एक-दो आदि संख्याओं के सूत्र है।

सूत्र किसे कहते हैं, इस विषय मे अर्थकथाओं मे अनेक अर्थ दिये है : सुत्त उसे कहते हैं जो सूचना दे, जो सुष्ठु भाव से कहा गया हो, जो सवन-(या फलप्रसव-) कारी हो, सूदन यानी गाय के थन से दूध की तरह अर्थ जिससे नि.सृत हो रहा हो, जो सुत्राण करे, बढई के सूत्रों को तरह विज्ञानों का माप करे, इत्यादि। निकायों में या तो बुद्धदेव के (कभी-कभी उनके किसी प्रधान शिष्य के) उपदेशों की बात है, या फिर इतिहास-संवाद के रूप मे बातचीत। इस प्रकार बड़ी सरलता के साथ प्रश्नोत्तर-छल से भगवान बुद्ध गूढ विषयों को समझा देते हैं। निकाय शब्द के लिए पाली में आगम शब्द भी प्रचलित है; पर संस्कृत मे जो निकाय थे, उन्हे आगम ही कहा जाता है। सम्भवत:, निकाय स्थविरवादियो का शब्द है। दिव्यावदान में चार आगमों का स्पष्ट उल्लेख है : दीर्घ, मध्यम, संयुक्त और एकोत्तर। पांचवें क्षुद्रक का कोई उल्लेख न देखकर किसी-किसी पण्डित ने सन्देह किया था कि यह निकाय बाद का है। दिव्यावदान सर्वास्तिवाद का ग्रन्थ है और लेवी साहब ने सिद्ध

किया है कि इस सम्प्रदाय के पास भी क्षुद्रक-निकाय नामक आगम वर्तमान था। बुद्धघोष नामक प्रसिद्ध भाष्यकार ने सुदिन्न नामक एक भिक्षु का मत उद्धृत किया है जिससे जान पड़ता है कि प्राचीन काल में कोई-कोई ऐसे भिक्षु थे जो क्षुद्रक-निकाय को सूत्र-पिटक के अन्तर्गत नही मानना चाहते थे। दो बौद्ध सम्प्रदायों में क्षुद्रक-निकाय के ग्रन्थों की दो प्रकार की सूची दी हुई है—दीघ-माणकों के मत से 12 और मज्झिम-माणकों के मत से 15। अन्तिम मत को ही प्रमाण समझकर बुद्धघोष ने निम्नांकित पन्द्रह ग्रन्थों की सूची दी है—(1) खुद्दकपाठ, (2) धम्मपद, (3) उदान, (4) इतिवुत्तक, (5) सुत्तनिपात, (6) विमानवत्थु, (7) पेतवत्थु, (8) थेरगाथा, (9) थेरीगाथा, (10) जातक, (11) निद्देश, (12) पटिसम्भिदा, (13) अभिधान, (14) बुद्धवंस, (15) चारियापिटक। अन्तिम तीन ग्रन्थ मज्झिम-माणकों ने दीघ-माणकों से अधिक स्वीकार किये हैं। यह एक विशाल साहित्य है और इसकी रचना सैकड़ों वर्षों तक होती रही है। हम स्थानाभाव के कारण उसका विशेष वर्णन देने में असमर्थ हैं।

अभिधम्म-पिटक

जैसा कि पहले ही बताया गया है, अभिधम्म-पिटक बुद्धदेव के बहुत बाद संग्रह किये गये थे। सुत्त-पिटक की प्रतिपाद्य वस्तु से कोई नवीनता इसमें नहीं है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि सुत्त-पिटक सरल, सरस और सहज बौद्ध सिद्धान्तों का संग्रह है और अभिधम्म में पण्डिताऊपन, रूक्षता और वर्गीकरण की अधिकता है। फिर भी बौद्ध-दर्शन, बौद्ध-परिभाषा आदि के समझने में यह पिटक बहुत ही उपयोगी है। महाबोधिवंश की तालिका के अनुसार निम्नांकित ग्रन्थ अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत है—धम्मसगणि, विभग, कथावत्थु, पुग्गलपञ्ञत्ति, धातुकथा, यमन, पट्ठान या महापट्ठान।

अनुपालि या अनुपिटक ग्रन्थ

अनुपालि या अनुपिटक ग्रन्थ त्रिपिटक के आधार पर ही रचित हैं। इनमे अधिकांश लंका के भिक्षुओ के लिखे है। कुछ अपवाद भी है। जो अनुपालि ग्रन्थ लंका में नही लिखे गये, उनमे सबसे प्रसिद्ध है मिलिन्दपण्णहो या मिलिन्दप्रश्न। ग्रीक राजा मीनाण्डर और बौद्ध सन्यासी नागसेन के बीच जो तत्त्व-चर्चा हुई थी, उसी का यह लिपिबद्ध रूप है। यह ग्रन्थ मीनाण्डर के राज्यकाल के ही आसपास रचित हुआ होगा। इसकी प्रतिष्ठा हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों मे है और बौद्ध लोगो मे यह त्रिपिटक के समान हो समादृत होता है। विद्वानों ने इसके वार्त्तालाप को दीघ-निकाय आदि ग्रन्थों से अधिक परिमार्जित बताया है। संसार के वार्त्तालाप-साहित्य मे इस ग्रन्थ का बहुत ही श्रेष्ठ स्थान है। दूसरा ग्रन्थ जो भारतवर्ष मे लिखा गया था वह है नेत्तिप्रकरण जिसे नेत्तिगन्ध या नेत्ति भी कहते हैं। इसमें बुद्धदेव की शिक्षाओं का क्रमबद्ध विवरण दिया हुआ है। कहते हैं कि

अभिधम्म-पिटक के अन्तिम दो ग्रन्थों से भी यह अधिक प्राचीन है और इसके कर्ता बुद्धदेव के शिष्य महाकच्चायन हैं जो पेटकोपदेश के भी रचयिता माने जाते हैं।

लेकिन ऐसा विश्वास किया जाता है कि अनुपिटक ग्रन्थों में का अधिकांश लंका में ही रचित हुआ था। लंका के भिक्षुओं के निकट हम बुद्ध-वचनों के अपेक्षाकृत विश्वसनीय संकलनों को सुरक्षित रखने के लिए ही ऋणी नहीं है, बल्कि इन भिक्षुओं के उन समस्त प्रयत्नों के लिए भी, जो उन्होंने उक्त साहित्य को बोधगम्य और समृद्ध बनाने के लिए किया है, हम सदा ऋणी रहेंगे। इन प्रयत्नों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं बुद्धघोष की अट्ठकथाएँ (या भाष्य)। सिंहली परम्परा के अनुसार अर्थकथाएँ (पा.-अट्ठकथा = भाष्य) भी प्रथम संगीति-काल से ही चली आ रही हैं, जिन्हें महिन्द ने वट्टगामणी के तत्त्वावधान में सिंहली भाषा में अनूदित किया था। इसी अनुवाद को बुद्धघोष ने पाँचवीं शताब्दी में पाली में भाषान्तरित किया। पण्डितों का विचार है कि असल में यह परम्परा भारतीय प्रकृति की देन है, जो किसी वस्तु को तब तक प्रमाण्य नहीं मानती, जब तक कि प्राचीन परम्परा के साथ उसका योग न साबित हो जाय और बुद्धघोष वास्तव में इन अर्थकथाओं के कर्त्ता है। पर इस विषय में कोई सन्देह नहीं करता कि बुद्धघोष को निश्चय ही सिंहली रूप में कुछ भारतीय भिक्षुओं की व्याख्याएँ मिली थीं जो उनके भाष्य का मेरुदण्ड है। इन्हीं प्राचीनों को बुद्धघोष ने 'पोराणा' (प्राचीन लोग) कहकर उद्धृत किया है। सिंहली अनुवाद में मूल पाली पद्य ज्यों-के-त्यों रखे गये थे। भारतवर्ष में ज्यों-ज्यों स्थविरवाद अन्यान्य सम्प्रदायों द्वारा अभिभूत होता गया, त्यों-त्यों लंका में उसका केन्द्र दृढ़ होता गया।[1]

लंका में जो नयी चीजें लिखी गयीं, उनमें सबसे पहले निदान-कथा का नाम लिया जाना चाहिए। यह बुद्धदेव का जीवनचरित है और जातक की टीका 'जातकत्थवण्णना' के आरम्भ में है। इसमें बुद्धदेव का जो जीवनवृत्त दिया हुआ है वह महायान सम्प्रदाय के संस्कृत-ग्रन्थों से मिलता है, अतः यह माना जाता है कि इसका भी आधार निश्चय ही कोई भारतीय कहानी रही होगी, जो उस समय लंका में पहुँची होगी जब महायान सम्प्रदाय संगठित होगा, या फिर दोनों जीवन-वृत्तों का कोई एक ही सामान्य आधार होगा। इसीलिए यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। जातकत्थवण्णना (सं. जातकार्थवर्णना) के लेखक भी बुद्धघोष ही माने जाते है, अतः इसके कर्त्ता भी वही समझे जाते है। कहते है कि बुद्धघोष बौद्ध-गया के पास के रहनेवाले ब्राह्मण थे, जो बाद में बौद्ध होकर सिंहल चले गये थे। इन्होंने प्रायः सभी मुख्य त्रिपिटक ग्रन्थों की टीका लिखी है। विसुद्धिमग्गो (विशुद्धि-मार्ग) के लेखक भी वही माने जाते है। असल में यह भी एक श्लोक को आश्रय करके लिखी हुई टीका ही है। ये बहुत श्रेष्ठ कोटि के भाष्यकार माने जाते

1. अनिरुद्धाचार्य का अभिधम्मत्थसंग्रह नामक ग्रन्थ भी (विभावनी-टीका-सहित) सिंहली परम्परा की बहुमूल्य देन है।

हैं। इनके लिखे हुए ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—विसुद्धिमग्गो, समन्तपासादिका (विनय-पिटक), सुमंगलविलासिनी (दीघ.), पपञ्चसूदनी (मज्झिम.), सारत्थपकासिनी (संयुत्त.), मनोरथपूरनी (अंगु.), कंखावितरणी (पाति.) इत्यादि। इनके अनतिपश्चात् धम्मपाल नामक टीकाकार हुए जिन्होंने त्रिपिटक के उन सभी ग्रन्थों पर, जिन्हें बुद्धघोष छोड़ गये थे, परमत्थदीपिनी नाम की टीका लिखी। ये ग्रन्थ हैं—इतिवुत्तक, उदान, चरियापिटक, थेरगाथा, विमानवत्थु और पेतवत्थु। कहते हैं कि ये दक्षिण-भारत के रहनेवाले ब्राह्मण थे और अनुमानतः सिंहल के अनुराधपुर में पढ़े थे। इन अर्थकथाओं के आधार पर दो ऐतिहासिक काव्य दीपवंश और महावंश भी लिखे गये। दोनों ही काव्य पाँचवीं शताब्दी की कृति माने जाते हैं। दीपवंश की अपेक्षा महावंश का काव्यत्व अधिक प्रशंसित हुआ है। अर्थकथाएँ और ये दोनों काव्य बाद में एक बहुत बड़ी काव्य-परम्परा को उत्तेजित कर सके। इस परम्परा के मुख्य ग्रन्थ बोधिवंश, दाठावंश और थूपवंश हैं। ये भी पहले सिंहली भाषा में लिखे गये थे और बाद में पाली में भाषान्तरित हुए। इस तरह बुद्धघोष के बाद से ई. सन् की बारहवीं शताब्दी तक लंका में बहुत-से पाली-ग्रन्थ लिखित हुए। बुद्धदत्त नामक एक भिक्षु ने, जो बुद्धघोष के समसामयिक माने जाते हैं (पर इसमें पण्डितों ने सन्देह किया है), अभिधम्मावतार, रूपारूप-विभाग और विनय-विनिश्चय नामक ग्रन्थ लिखे थे। इसके बाद भी पाली में ग्रन्थ लिखे जाते रहे और आज भी लिखे जाते हैं, जिनमें कितने ही काफी महत्त्वपूर्ण हैं। ब्रह्मदेश में तो ग्यारहवीं शताब्दी के पहले पाली भाषा पहुँची ही नहीं थी। बाद की शताब्दियों में वहाँ भी कई अच्छी पुस्तकें लिखी गयीं; पर प्रायः सबके आधार जातक-ग्रन्थ ही थे। पाली में ज्योतिष, व्याकरण आदि विषयों पर भी लिखने का प्रयत्न किया गया; पर बहुत कम।

बौद्ध संस्कृत-साहित्य

अब तक जिस बौद्ध-साहित्य का परिचय दिया गया है, वह पाली में लिखा हुआ है। यह समूचा साहित्य हीनयान के स्थविरवादियों का है। बौद्ध धर्म के अन्यान्य सम्प्रदाय भारतवर्ष से उठ गये हैं। अशोक-संगीति के अवसर पर 18 बौद्ध सम्प्रदायों की चर्चा मिलती है। इन सबके अपने-अपने पिटक थे, जो सम्भवतः ब्राह्मणों की वैदिक शाखाओं की भाँति कुछ न्यूनाधिक पाठ-भेद रखते थे। परन्तु वैदिक शाखाओं से इनकी एक विशेषता थी। इनमें केवल पाठ का ही नहीं, भाषा का भी

भेद था। स्थविरवादियों का साहित्य पाली भाषा में है, पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यही भाषा बुद्ध की उच्चरित भाषा हो। ऐसे कुछ संस्कृत और मिश्र-संस्कृत के ग्रन्थ पाये गये हैं जो या तो बौद्ध-सम्प्रदायों के हैं या उनके द्वारा प्रभावित हैं। हीनयान और महायान ग्रन्थों का मोटे तौर पर भेद समझना हो, तो हिन्दुओं के ज्ञानपन्थ और भक्तिपन्थ के उदाहरण से समझा जा सकता है। हीनयान के साधक अनेक यत्न के बाद निर्वाणप्राप्ति को सम्भव बताते है, जो निश्चय ही बहुत कम लोगों को सुलभ है, पर महायानवाले साधक जप, मन्त्र, पूजा-पाठ आदि के द्वारा निर्वाण को बहुत सहजसाध्य और सर्वलोकसुलभ बताते हैं। यद्यपि संस्कृत या अर्ध-संस्कृत का साहित्य महायान-सम्प्रदाय का ही अधिक है; पर ऐसा नहीं कह सकते कि इस भाषा में हीनयान का साहित्य एकदम है ही नहीं। लोकोत्तर-वादी बौद्ध, जो अधिकाश महायान से प्रभावित थे, वस्तुतः हीनयानी ही थे। फिर सर्वास्तिवादी भी जो कश्मीर, गन्धार आदि सरहदी सूबों में फैले हुए थे, हीनयानी ही थे। यही लोग तिब्बत, चीन और मध्य एशिया में भी अपना प्रभाव-विस्तार कर सके थे। इनका अपना संस्कृत साहित्य था। आज तक इनके मत के सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सके है, फिर भी कुछ यूरोपियन पण्डितों ने पूर्वी तुर्किस्तान से इनके ग्रन्थों के छोटे-बड़े बहुत-से छिन्न अंशों का उद्धार किया है। फिर महावस्तु, दिव्यावदान और ललितविस्तर (परिचय आगे देखिए) में भी इनका उल्लेख पाया जाता है। मूल सर्वास्तिवादियों के प्रसिद्ध ग्रन्थों का चीनी यात्री इत्सिंग ने चीनी भाषा में अनुवाद किया था। संस्कृत और पाली ग्रन्थों में समानता बहुत है, पर अन्तर भी कम नहीं है, इसका कारण यह अनुमान किया है कि शायद दोनों ही उस मूल मागधी रूप से लिखे गये हों, जो अब खो गये हैं और बाद में स्वतन्त्र भाव से प्रक्षिप्त अंश जोड़े जाते रहे हों।

भारतवर्ष में बौद्ध धर्म केवल नाम-शेष ही रह गया है। इसका भग्नावशेष केवल उत्तरी प्रान्त नेपाल में बचा हुआ है। वहां के गुरखे तो हिन्दू हैं; नेवारी लोग बौद्ध हैं। उनमें केवल इन नौ ग्रन्थों का प्रचार है: प्रज्ञापारमिता, गण्डव्यूह, दशभूमीश्वर, समाधिराज, लंकावतार, सद्धर्म-पुण्डरीक, तथागत-गुह्यक, ललित-विस्तर और सुवर्णप्रभा। इनके अतिरिक्त यहाँ और भी कई ग्रन्थ खोज में मिले हैं, जिनमें महावस्तु और दिव्यावदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। बहुत दिनों तक विद्वानों की धारणा रही कि ये ग्रन्थ वस्तुतः पाली के ग्रन्थों के ही संस्कृत रूपान्तर हैं, जो स्थान-स्थान पर बदल दिये गये हैं। यही कहा जाता रहा कि इस संस्कृत शाखा में विनय-ग्रन्थ नहीं है पर अब ये बातें गलत साबित हो गयी हैं। महावस्तु, असल में, लोकोत्तरवादियों का विनय ही है जो महासांघिकों में भी गृहीत हो गया है। हाल ही में यह भी समझा जाने लगा है कि दिव्यावदान भी मूल सर्वास्ति-वादियों के विनय के आधार पर ही रचित है। नेपाली ग्रन्थों में और भी ऐसी बातें मिली हैं, जिनके विषय में लोगों की धारणा थी कि ये पाली की विशेषता हैं। फिर तिब्बत में बहुत-से संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद पाये गये हैं। इस देश में बौद्ध धर्म

सातवीं शताब्दी में पहुँचा था। वहाँ ये ग्रन्थ दो भागों में विभक्त किये गये हैं—कँजुर और तंजुर। पहले में मूल ग्रन्थों के अनुवाद हैं और दूसरे में व्याख्यापरक ग्रन्थ और व्यवहार-सम्बन्धी पुस्तिकाएँ हैं। कँजुर के सात विभाग हैं—दुल्व (विनय), शेर्-चिन् (प्रज्ञापारमिता), फल्-चेन् (अवतंसक), द्कोन्-त्सेग्स (रत्नकूट), म्दङ-दस् (निर्वाण), मदो-दे (सूत्र) और र-ग्युद्-म्दा (तन्त्र)। ये सभी संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हैं। फिर चीन में सन् ईसवी की पहली शताब्दी में ही बौद्ध धर्म का प्रवेशारम्भ शुरू हुआ। वहाँ सन् 518 से 1010 ई. तक बौद्ध धर्म बारह बार गया। प्रत्येक बार कुछ-न-कुछ नये अनुवाद हुए, इसीलिए चीन में कभी-कभी एक ही ग्रन्थ के कई-कई अनुवाद पाये जाते हैं। परन्तु जिसे चीनी त्रिपिटक कहा जाता है वह नाममात्र का ही त्रिपिटक है। कोई ऐसा सिद्धान्त और मतवाद नहीं, जो इसमें स्थान न पा सका हो। इसके बाद कोरिया में चीन से मूल अनुवाद-ग्रन्थ 1010 ई. में ले जाये गये थे, जो सब-के-सब जापान में अब भी सुरक्षित हैं। इन समस्त उद्गमों से बौद्धों के संस्कृत-साहित्य की विशालता की एक झलक हम पा सकते हैं। हाल ही में यूरोपियन और भारतीय पण्डितों ने अनेक यत्नों के साथ इन ग्रन्थों में से कई को फिर से संस्कृत में उल्था किया है। यह काम अभी शुरू ही हुआ है।

चीनी पर्यटक हुएन्त्सांग के जीवन से जान पड़ता है कि वे महायानसूत्रों के 224 ग्रन्थ; अभिधर्म के 192 ग्रन्थ; स्थविर-सम्प्रदाय के सूत्र, विनय और अभिधर्मजातीय 14 ग्रन्थ; महासांघिक सम्प्रदाय के इसी श्रेणी के 15 ग्रन्थ; महीशास्त्रक सम्प्रदाय के तीनों श्रेणी के 22 ग्रन्थ; काश्यपीय सम्प्रदाय के ऐसे ही 17 ग्रन्थ, धर्मगुप्त-सम्प्रदाय के 42 ग्रन्थ; साथ ले गये थे। इस पर से यह अनुमान करना अयौक्तिक नहीं कि सभी बौद्ध-सम्प्रदायों के अपने-अपने त्रिपिटक थे और सबके पास अपने-अपने विशाल साहित्य वर्त्तमान थे। चीनी तालिका में मूल-सर्वास्तिवाद, महासांघिक, महीशास्त्रक, सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्त और काश्यपीय सम्प्रदाय के विनय-ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। अभिधर्म-पिटक के प्रसंग में सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के छ: पादशास्त्र या प्रकरण-ग्रन्थों और सम्मितीय सम्प्रदाय के केवल एक ग्रन्थ का उल्लेख है। कुछ पण्डित हुएन्त्सांग के विवरण को प्रामाणिक नहीं मानते और कहना चाहते हैं कि केवल सर्वास्तिवादी और वैभाषिक सम्प्रदायों के पास ही पालि-त्रिपिटक के अनुरूप त्रिपिटक थे।

लेकिन केवल त्रिपिटक ग्रन्थ ही संस्कृत में लिखे गये हों, ऐसी बात नहीं है। बौद्ध नाटक और काव्य तथा स्तोत्र आदि ग्रन्थ भी काफी लिखे गये थे। इनमें से कइयों का साहित्यिक मूल्य बहुत अधिक कूता गया है। प्रसिद्ध कवि, नाटककार और दार्शनिक अश्वघोष को कालिदास का भी मार्गदर्शक बताया गया है। उनके 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' निश्चय ही संस्कृत-काव्य के भूषण हैं। इन दो ग्रन्थों के सिवा मध्यएशिया से उनके द्वारा रचित एक नाटक के छिन्न अंश का भी उद्धार किया गया है। उनका सूत्रालंकार कहानियों का ग्रन्थ है जो जातक के ढंग पर

लिखी गयी हैं। अश्वघोष का एक ग्रन्थ वज्रसूची आधुनिक पाठकों के लिए काफी मनोरंजक हो सकता है। इसमें जाति-वर्ण-व्यवस्था को अस्वाभाविक सिद्ध किया गया है। अश्वघोष ने महायान के तत्त्ववाद पर भी पुस्तकें लिखी हैं। इनके सम्प्रदाय के दो और भी प्रसिद्ध कवि हो गये हैं—मातृचेट और आर्यशूर। अगर तिब्बती अनुवादों पर विश्वास किया जाय, तो मातृचेट अश्वघोष का ही दूसरा नाम है। शूर या आर्यशूर की जातकमाला उनके पूर्ववर्ती वैभाषिक कवि कुमारलात की कल्पनामण्डितिका के ढंग पर लिखी गयी है। आर्यचन्द्र की पुस्तक का थोड़ा अंश ही संस्कृत में प्राप्त हुआ है। पर यह पुस्तक कई बार चीन, तिब्बत मंगोलिया आदि की भाषा में अनूदित हो चुकी है।

महावस्तु और ललितविस्तर

ललितविस्तर ने चौथी शताब्दी तक निश्चित रूप से यह रूप धारण कर लिया होगा। ललितविस्तर यद्यपि बुद्धदेव के जीवन का वास्तविक महाकाव्य नहीं है, पर इसमें सभी बातें मूल रूप से विद्यमान हैं, जो ऐसे काव्य का उपादान हैं। पण्डितों का अनुमान है कि अश्वघोष ने अपने प्रसिद्ध काव्य बुद्ध-चरित्र का मसाला इसी ग्रन्थ के प्राचीनतर रूप से संग्रह किया होगा।

अवदान-साहित्य

अवदान का सम्बन्ध पालि-भाषा के शब्द से होना चाहिए। इसका अर्थ होता है कोई उल्लेखयोग्य कार्य। कभी-कभी इसका व्यवहार खराब अर्थ में भी हुआ है। अवदानों में जातक-कथाओं की भाँति बुद्धदेव के पूर्ववर्त्ती जन्मों की उल्लेखयोग्य-घटनाओं का निबन्धन होता है। कहा जाता है कि अवदानों का भी प्राचीनतम रूप हीनयान-सम्प्रदाय से सम्बद्ध था; पर वर्त्तमान रूप का सम्बन्ध केवल महायान-सम्प्रदाय से ही है। आर्यशूर और आर्यचन्द्र की जिन दो पुस्तकों (जातकमाला और कल्पनामण्डितिका) की पहले चर्चा की जा चुकी है, वे असल में अवदान की जाति की ही है।

अवदानशतक में सौ अवदान संगृहीत है। इस ग्रन्थ का अनुवाद सन् ईसवी के दो सौ वर्ष बाद चीनी भाषा में हो गया था। इसमें महायानीय पौराणिकता का भी बहुत कम प्रभाव विद्यमान है। इस श्रेणी की एक और पुस्तक कर्मशतक है जो अधिकांश अवदानशतक की ही भाँति है। दुर्भाग्यवश इसका पता केवल एक तिब्बती अनुवाद से ही चलता है। इस जाति के ग्रन्थों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ दिव्यावदान है जो यद्यपि अवदानशतक के बाद संगृहीत है, पर इसमें ऐसी बहुत-सी कहानियाँ है जो मूलतः अवदानशतक की कहानियों की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। ऐसा अनुमान किया गया है कि इसकी घटनाएँ सम्भवतः मूल सर्वास्तिवादियों (हीनयानी) के विनय-पिटक से ली गयी होंगी। कहानियाँ अधिकतर संस्कृत-गद्य में लिखी गयी है, जिनमें बीच-बीच में प्राचीन गाथाएँ भी है। कभी-कभी काव्य पद्धति की अलकृत कविताएँ भी मिल जाती है, जो इस बात का सबूत है कि पुस्तक-रचना के समय काव्य-पद्धति काफी अग्रसर हो चुकी होगी। अनुमान है कि इसका वर्त्तमान रूप अन्तिम बार सन् ईसवी की चौथी शताब्दी में निश्चित हो गया होगा। इन पुस्तकों से और इनमें भी विशेष रूप से अवदानशतक से काव्यात्मक पद्यों का संग्रह करके कई पुस्तकें लिखी गयी है जिनमें कल्पद्रुमावदानमाला, रत्नावदानमाला, अशोकावदानमाला और द्वाविंशावदान मुख्य है। एक और पुस्तक, जिसे भद्रकल्पावदान कहते है, उपगुप्त और अशोक की 34 कहानियों की है। अवदानशतक की कहानियों को अधिकाश में उपजीव्य मानकर लिखी हुई दूसरी पुस्तक विचावदान है। अन्तिम महत्त्वपूर्ण प्रसिद्ध कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र की अवदान-कल्पलता है जो ग्यारहवी शताब्दी में लिखी गयी थी। तिब्बत में इस पुस्तक का बहुत मान है। ऊपर के संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि अवदान एक

समय में बहुत ही लोकप्रिय विषय था। इस विषय के निश्चय ही सैकड़ों ग्रन्थ लिखे गये होंगे जो कालचक्र के पहिये के नीचे पिस गये हैं। कइयों का पता चीनी और तिब्बती अनुवादों की कृपा से ही लगा है। अवदानों में से कई ऐसे हैं जिनकी भाषा अलंकृत और मँजी हुई है और जो कवित्व के सुन्दर नमूने हैं।

महायानसूत्र

अब तक जिस साहित्य की चर्चा हुई है उसका एक पैर हीनयान में है और दूसरा महायान में। अब जिन ग्रन्थों की चर्चा की जायगी वे सम्पूर्णतः महायान-सम्प्रदाय के हैं। महायानसूत्रों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सद्धर्म-पुण्डरीक है। जो कोई भी महायान-सम्प्रदाय के साथ परिचित होना चाहे, उसके लिए इससे अधिक अच्छी सहायक पुस्तक दूसरी नहीं है। इस ग्रन्थ के शाक्यमुनि (बुद्ध) में मनुष्य के कुछ भी चरित्र अवशिष्ट नहीं रह गये हैं। वे देवताओं के भी देवता, स्वयम्भू और भूतगात्र के परित्राता हैं। उनकी तुलना बहुत-कुछ वैष्णव अवतारों के साथ की जा सकती है। उनका जन्म और मृत्यु केवल दिखावा-भर है, असल में वे इन दोनों से अतीत हैं। एक बात जो उल्लेख-योग्य है वह यह है कि सद्धर्म-पुण्डरीक के बुद्धदेव पाली के बुद्ध की भाँति एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूम-घूमकर धर्म-प्रचार नहीं करते, बल्कि सहस्रों बोधिसत्त्वों और देवताओं से घिरे हुए गृध्रकूट पर्वत पर बैठे रहते हैं और जब धर्म की वर्षा करना चाहते हैं, जब धर्म का नगाड़ा बजाना चाहते हैं, जब धर्म की विशाल ज्योति उद्भासित करना चाहते हैं, तब उनके भ्रूओं के एक केश से ज्योतिरेखा निकलती है, जो अठारह हजार बुद्ध-लोकों को प्रकाशित करती है और बोधिसत्व मैत्रेय को आश्चर्यजनक ज्योति दिखाती हुई अन्त में बुद्धदेव के पास ही लौट आती है। इसी तरह पुण्डरीक-लिखित बुद्ध-सिद्धान्त भी पाली ग्रन्थों से भिन्न है। जो कोई भी बुद्ध का उपदेश सुनता है, कोई पुण्यकार्य करता है, कोई स्तूप बनवा देता है, वही बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है। वहाँ मुक्ति बहुत सहज है। यहाँ का बौद्ध धर्म उत्तरकालीन पौराणिक हिन्दू धर्म की याद दिला देता है। पुण्डरीक का चीनी भाषा में पहला अनुवाद सन् 223 ई. में हुआ था। बाद में और भी कई अनुवाद हुए। सौभाग्यवश मूल ग्रन्थ के कुछ छिन्न अंश तुर्किस्तान में भी पाये गये हैं। यह प्राप्त अंश हू-ब-हू नेपाली ग्रन्थ से नहीं मिलता, इसलिए यह अनुमान किया गया है कि इस ग्रन्थ के अन्ततः दो रूप निश्चय ही रहे होंगे।

बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर का गुणगान करनेवाला एक और महायानसूत्र पाया जाता है, जिसका पूरा नाम अवलोकितेश्वर-गुण-कारण्डव्यूह है; पर संक्षेप में इसे 'कारण्ड-व्यूह' कहा करते हैं। इसकी रचना और शैली सब ब्राह्मण पुराणों के ढंग की है। पण्डितों के मत से इसका पद्यांश तो सन् ईसवी की चौथी शताब्दी में ही लिखा गया होगा; पर गद्यांश बाद का लिखा गया होगा। अवलोकितेश्वर की कल्पना बहुत उच्च कोटि की है। जब तक समस्त प्राणियों का दुःखमोचन न हो

जाय, तब तक अवलोकितेश्वर बुद्धत्त्व भी नहीं प्राप्त करना चाहते। जिस प्रकार कारण्ड-व्यूह मे अवलोकितेश्वर की महिमा गायी जाती है, उसी प्रकार सुखावती-व्यूह मे अमिताभ बोधिसत्त्व की। सुखावती-व्यूह के नाम से दो पुस्तकें संस्कृत में पायी जाती है, एक छोटी और दूसरी बड़ी। इनमें का प्रधान प्रतिपाद्य यह है कि जो कोई अमिताभ का गुण-कीर्तन करता है, वह बुद्धलोक को प्राप्त होता है। बड़ी पुस्तक के बारह अनुवाद चीनी भाषा मे हो चुके हैं। सबसे पुराना अनुवाद 147 ई. और 186 ई. के बीच का है। छोटी पुस्तक भी तीन बार अनूदित हुई थी। सबसे पुराना अनुवाद कुमारजीव का है जो 420 ई. में हुआ था। चीनी अनुवादों से एक और तरह के ग्रन्थो का भी पता चलता है। वे है अमितायुर्ध्यान-सूत्र। इस श्रेणी का एक और ग्रन्थ अक्षोभ्य-व्यूह पाया गया है जिसमे अक्षोभ्य नामक बोधिसत्त्व का माहात्म्य वर्णित है। इसके भी दो चीनी अनुवाद पाये जाते हैं। पुराना चौथी शताब्दी का है।

इनके अतिरिक्त दार्शनिक महायानसूत्र भी है। सबसे महत्त्वपूर्ण हैं प्रज्ञापारमिताएँ। इनका प्रतिपाद्य विषय है बोधिसत्त्व की छ प्रकार की पारमिता या पूर्णता और विशेष भाव से प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान की पूर्णता। यह पूर्णता शून्यता के ज्ञान से होती है। नेपाल मे दो प्रकार की परम्परागत प्रसिद्धियाँ प्रचलित है। एक के अनुसार पहले सवा लाख श्लोको की प्रज्ञापारमिता थी जो बाद मे क्रमशः एक लाख, पचीस हजार, दस हजार और अन्त मे आठ हजार श्लोकों मे सक्षिप्त हुई। दूसरी प्रसिद्धि के अनुसार आठ हजारवाली प्रज्ञापारमिता ही पहली है; बाकी उसी पर से क्रमशः बढायी गयी है। भारतवर्ष मे बहुत अधिक प्रज्ञापारमिताएँ लिखी गयी थीं। तिब्बत और चीन मे तो ये और भी बढ़ती ही गयी। चीनी और तिब्बती मे लम्बी पारमिताओं के अनुवाद हैं। कई तो लाख-लाख श्लोको की है। खूब सम्भव है कि अष्टसाहस्रिका या आठ सहस्र श्लोकोवाली प्रज्ञापारमिता ही प्राचीन हो।

इन पारमिताओं मे समस्त जागतिक व्यापारो को माया और अस्तित्त्वहीन बताया गया है। यहाँ तक कि बुद्धदेव और बोधिसत्त्व भी नहीं है। समस्त पारमिताओ मे इतनी पुनरुक्ति और एकघृष्टता है कि पढते-पढते तबीयत ऊब जाती है। शायद इन लम्बी रचनाओ का कारण यह हो कि इनका पाठ करना और पाठ का दीर्घ काल तक चलना सन्यासियो का आवश्यक कर्तव्य था और कामकाजहीन सन्यासियो को इन्हे बढाते जाने में ही लाभ रहा हो। कभी-कभी गैर-बौद्ध विद्वानो को इसमे व्यर्थ की ऊल-जलूल (nonsense) बातें नजर आयी हैं; पर इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इनके आधारभूत सिद्धान्तों में गहराई रही होगी। कई महायान आचार्यों ने, जो निश्चय ही बड़े भारी-भारी दार्शनिक थे—जैसे नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु आदि—इन पारमिताओं पर टीकाएँ लिखी हैं। दुर्भाग्यवश ये टीकाएँ मूल रूप मे उपलब्ध नहीं हुई हैं, केवल चीनी और तिब्बती अनुवादों से इनके विषय मे हम जान सकते हैं।

चीन मे छठी शताब्दी मे एक अवतंसक सम्प्रदाय का उद्भव हुआ। इसका

और जापान के केगन-सम्प्रदाय का सर्वमान्य सूत्र बुद्धावतसक है जिसकी चर्चा महाव्युत्पत्ति नामक बौद्ध-कोप मे आती है। चीनी परम्परा के अनुसार छह अवतंसक सूत्र थे जिनमें सबसे बड़ा एक लाख गाथाओं का था और जो सबसे छोटा था उसमें 36000 गाथाएँ थी। सन् 419 ई. मे छोटे अवतंसक सूत्र का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था। इस प्रकार का कोई अवतसक सूत्र आजकल संस्कृत मे उपलब्ध नही है, लेकिन एक गण्डव्यूह महायानसूत्र है जो चीनी अनुवाद मे मिलता है। दशभूमिक या दशभूमीश्वर इन्हीं अवतंसको का एक अंश माना जाता है। इनमे उन दशभूमियो या पदों की चर्चा है जिससे बुद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है। तिब्बती और चीनी अनुवादों से इन अवतसकों की तरह एक रत्नकूट का भी पता चलता है। यह सन् ईसवी की दूसरी शताब्दी मे चीनी भाषा में अनूदित हुआ था। उक्त अनुवादो में कई परिपृच्छाग्रन्थों की भी चर्चा है जिनमे एक मुख्य राष्ट्रपाल-परिपृच्छा या राष्ट्रपाल-सूत्र है। इसका अनुवाद चीन मे छठी शताब्दी मे हुआ था।

जिस प्रकार प्रज्ञापारमिताएँ शून्यवाद का प्रचार करती है, उसी प्रकार सद्धर्म-लंकावतार-सूत्र विज्ञानवाद का। विज्ञानवाद शून्यवाद का ही कुछ नरम रूप है जो यद्यपि जगत् को वाह्यतः असत् मानता है, पर आन्तरिक अनुभूति के निकट उसकी सत्ता को स्वीकार भी करता है। पण्डितों का कहना है कि उक्त ग्रन्थ एक ही बार नही लिखा गया होगा। इसमें निरन्तर प्रक्षेप होते रहे है। तीन वार यह चीनी भाषा मे अनूदित हुआ। सबसे पहला अनुवाद गुणभद्रक ने 443 ई. मे किया था। उत्तर-कालीन महायानसूत्रो मे समाधिराज या चन्द्रप्रदीप-सूत्र और सुवर्ण-प्रभास उल्लेख-योग्य है। अन्तिम पुस्तक महायानी देशों मे बहुत प्रचलित है। इसका एक छिन्न अंश मध्यएशिया में भी पाया गया है। इसके भी कई चीनी अनुवाद हुए। प्राप्त प्राचीन अनुवाद पाँचवी शताब्दी का है।

कुछ महायानी आचार्य

अश्वघोष, मातृचेट और आर्यशूर का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। और भी कई ऐसे आचार्य हुए है जिन्होंने अपनी दार्शनिक चिन्ताओं, ग्रन्थो, टीका और काव्यों से संस्कृत-साहित्य को बहुतस मृद्ध किया। इनमे कई-एक, जिनकी कीर्ति भारतवर्ष की सीमा लांघकर सुदूर-पूर्व मे फैल गयी थी, भारतवर्ष की विशेष गौरव की वस्तु है। नागार्जुन, आर्यदेव, वसुबन्धु, असग, शान्तिदेव आदि पण्डितो की लोकोत्तर प्रतिभा का गर्व आज भी यह देश औचित्य के साथ कर सकता है। कुमारजीव के किये हुए चीनी अनुवाद आज चीन में क्लासिक माने जाते है। इन्होंने सैकडो बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। भारतवर्ष से जाकर वहाँ की भाषा पर अधिकार करके अनुवाद करना आसान काम नही है। इनके सिवा अन्य अनेको आचार्यो ने भी चीन और तिब्बत की भाषा मे अनुवाद किये हैं। आज भारतवर्ष की खोयी हुई सम्पत्ति को सुरक्षित रखने का सम्पूर्ण श्रेय इन परिव्राजक आचार्यों को और साथ ही चीन और तिब्बत के गुणज्ञ जन-समुदाय को है।

नागार्जुन माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य थे। उन्होंने अपनी माध्यमिक कारिका पर स्वयमेव अकुतोभया नामक टीका लिखी थी। भारतीय दार्शनिक और वैज्ञानिक साहित्य में यह प्रथा खूब लोकप्रिय हुई थी। कहते हैं नागार्जुन ही इस प्रथा (कारिका और टीका दोनों लिखने की प्रथा) के आदि-प्रवर्तक हैं। नागार्जुन के दो और ग्रन्थ है—युक्तिषष्टिका और थ्रीलेख। इत्सिंग ने दूसरे को भारतवर्ष में खूब प्रचलित देखा था। आर्यदेव नागार्जुन के शिष्य थे। इन्हीं को काणदेव भी कहते हैं। शायद इनकी एक आँख कानी थी। इनके नाम पर अनेक ग्रन्थ चलते हैं। सबसे प्रसिद्ध है चतुःशतक, जिसे तिब्बती अनुवाद के आधार पर विश्व-भारती के भूतपूर्व आचार्य प. विधुशेखर भट्टाचार्य ने फिर से संस्कृत मे उल्था करके सम्पादन किया है। यह माध्यमिक सम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इनके नाम पर एक और चित्त-विशुद्धि-प्रकरण नामक ग्रन्थ भी चलता है जिसके कुछ छिन्न अंश प्राप्त हुए है। पण्डित लोग इसको इनकी रचना मानने मे हिचकिचाते है। चीनी अनुवादो में दो और ग्रन्थ भी इनके अनुवादित है।

अब तक समझा जाता था कि असंग या आर्यासंग ही महायान योगाचार सम्प्रदाय के आदि-आचार्य थे। परन्तु असल में इस सम्प्रदाय के आदि-आचार्य इनके गुरु मैत्रेयनाथ थे। यह सम्प्रदाय विज्ञानवाद का ही प्रचारक है। अभिसम्यालंकार-कारिका या प्रज्ञापारमितोपदेश-शास्त्र मैत्रेयनाथ की रचना है। चौथी शताब्दी में पंचविंशसहस्र-प्रज्ञापारमिता के साथ चीनी भाषा मे इसका अनुवाद हो गया था। महायानसूत्रालंकार भी इन्ही का लिखा हुआ ग्रन्थ है। असंगदेव की प्रसिद्ध पुस्तक योगाचारभूमिशास्त्र या सप्तदशभूमिशास्त्र का केवल एक अंश ही मूल संस्कृत में उपलब्ध हो सका है। किसी-किसी ने इसे भी मैत्रेयनाथ की ही रचना कहा है; पर हुएन्त्सांग तथा तिब्बती ऐतिहासिक इसे असंगलिखित ही बताते हैं। इसके भी कई चीनी अनुवाद हुए है। पुराना अनुवाद छठी शताब्दी का है। असंग के भाई वसुबन्धु का प्रधान ग्रन्थ अभिधर्मकोश है जो मूल संस्कृत मे नहीं पाया जा सका है। इसके भी चीनी भाषा में कई अनुवाद हुए हैं। सातवी शताब्दी में यह ग्रन्थ इस देश में इतना लोकप्रिय था कि सुप्रसिद्ध कवि बाण ने लिखा है कि तोते भी आपस में इसकी चर्चा किया करते थे। चीन और जापान में यह भी बौद्ध धर्म का पाठ्य ग्रन्थ है और विवादास्पद-व्यवस्थाओं के निर्णय के लिए प्रमाण माना जाता है। इस आचार्य ने अपने भाई असंग की मृत्यु के पश्चात् अनेक महायानसूत्रों की टीकाएँ लिखी। तिब्बत में इनके नाम पर और भी अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। नागार्जुन और आर्यदेव के सम्प्रदाय के दो और प्रसिद्ध टीकाकार हुए—बुद्धपालित और भाव्यविवेक (भव्य)। ये दोनों क्रमशः आगमिक और स्वतन्त्र सम्प्रदायों के आचार्य है।

माध्यमिक और विज्ञानवादी मतों के समन्वय की भी चेष्टा हुई थी। महायान-श्रद्धोत्पाद नामक ग्रन्थ मे यही चेष्टा है। इसके कर्त्ता अश्वघोष माने जाते हैं। यह ग्रन्थ सातवी शताब्दी में चीनी भाषा में अनूदित हुआ था। हुएन्त्सांग जब भारतवर्ष में तीर्थयात्रा को आये थे, तो इस ग्रन्थ का यहाँ प्रचार न देखकर उन्होंने

फिर से इसे संस्कृत में उल्था करके प्रचारित किया था। दुर्भाग्यवश यह उल्था भी अब नहीं पाया जाता। चीनी अनुवाद, जिस पर से हुएन्त्साग ने पुनर्वार संस्कृत किया था, सुरक्षित है और चीन, कोरिया और जापान में बहुत लोकप्रिय है।

पाँचवी शताब्दी में वसुबन्धु के सम्प्रदाय में तीन बड़े-बड़े आचार्य हुए जिनके नाम हैं : स्थिरमति, दिङ्नाग और धर्मपाल। इनमें दिङ्नाग बौद्ध-न्याय के प्रतिष्ठाता कहे जाते हैं। कहते हैं कि ये महाकवि कालिदास के प्रतिद्वन्द्वी थे। इसी सम्प्रदाय में धर्मकीर्ति और चन्द्रकीर्ति भी नामी टीकाकार हो गये हैं। चन्द्रगोमिन् का नाम बौद्ध वैयाकरण, दार्शनिक और कवि के रूप में विख्यात है। शान्तिदेव, जो गुजरात के राज-पुत्र कहे जाते हैं, निःसन्देह बहुत उच्च कोटि के कवि थे। इनके तीन ग्रन्थ— शिक्षा-समुच्चय, सूत्रसमुच्चय और बोधिचर्यावतार बौद्धों में प्रसिद्ध हैं। अन्तिम पुस्तक प्राप्त हुई है और यह सचमुच ही विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि है। कहते हैं कि भूसुकपाद नामक सिद्ध से ये अभिन्न हैं। आठवीं शताब्दी में सुप्रसिद्ध बौद्ध आचार्य शान्तिरक्षित हुए, जिनका तत्त्वसंग्रह नामक दार्शनिक ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ तक आते-आते बौद्ध-स्रोत भारतवर्ष में प्रायः सूख चला था। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में एकमात्र उल्लेख-योग्य आचार्य अद्वयराज हुए जिन्होंने महायान और वज्रयान-सम्बन्धी कविताएँ लिखीं।

माहात्म्य, स्तोत्र, धारणी और तन्त्र

बौद्ध माहात्म्य और स्तोत्र हिन्दुओं के-से हैं। स्वयम्भू-पुराण का नाम यद्यपि पुराण है, पर है वह एक माहात्म्यग्रन्थ। बौद्धों का स्तोत्र-साहित्य काफी बड़ा है। सबसे अधिक स्तोत्र तारा के हैं। तारा अवलोकितेश्वर की शक्ति और प्रज्ञास्वरूपा है। इन स्तोत्रों और माहात्म्यों के चिह्न प्राचीन सूत्रों में पाये जाते हैं।

धारणी मन्त्रों की पुस्तकें हैं। नाना प्रकार के मन्त्र, जिनके जप से सब प्रकार की बाधाएँ दूर हो जाती हैं, इनमें संगृहीत हैं। महायानसूत्रों में भी ये धारणियाँ पायी जाती हैं। असल में धारणी और सूत्रों में कभी भी कड़ाई के साथ भेद नहीं किया गया। धारणियों के नाम पर सूत्र और सूत्रों के नाम पर धारणियाँ प्रायः पायी जाती हैं। इन धारणियों के विचित्र मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होता। उदाहरणार्थ, साँपों के भगाने का मन्त्र है, "सर-सर सिरी-सिरी सुरु-सुरु नागानां जय-जय जिवि-जिवि जुवु-जुवु।" इसमें 'सर' और 'नागाना' सार्थक पद कहे जा सकते हैं; पर समूचे वाक्य में वे भी निरर्थक-से हो गये हैं। इन मन्त्रों के जप करने से निर्दिष्ट सिद्धिलाभ होने की बात कही गयी है। ये मन्त्र उत्तरकालीन हिन्दू समाज में बहुधा ज्यों-के-त्यों आ गये हैं : असल में अन्तिम समय में बौद्ध धर्म का प्रधान सम्बल मन्त्र-तन्त्र ही रह गये थे। मन्त्रयान और वज्रयान बौद्ध धर्म के अन्तिम प्रतिनिधि हैं; परन्तु ये भी धीरे-धीरे शैवादि मतों में घुल-मिल गये।

तन्त्रों की पुस्तकें प्रायः शाक्तों-जैसी ही हैं, अन्तर इतना ही है कि उनमें थोड़ा-बहुत बौद्धत्व बाकी है। इनमें बताया गया है कि किस विशेष सिद्धि के लिए

नागार्जुन माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य थे। उन्होंने अपनी माध्यमिक कारिका पर स्वयमेव अकुतोभया नामक टीका लिखी थी। भारतीय दार्शनिक और वैज्ञानिक साहित्य में यह प्रथा खूब लोकप्रिय हुई थी। कहते हैं नागार्जुन ही इस प्रथा (कारिका और टीका दोनों लिखने की प्रथा) के आदि-प्रवर्त्तक हैं। नागार्जुन के दो और ग्रन्थ हैं—युक्तिपष्टिका और श्रीलेख। इत्सिंग ने दूसरे को भारतवर्ष में खूब प्रचलित देखा था। आर्यदेव नागार्जुन के शिष्य थे। इन्हीं को काणदेव भी कहते हैं। शायद इनकी एक आँख कानी थी। इनके नाम पर अनेक ग्रन्थ चलते हैं। सबसे प्रसिद्ध है चतुःशतक, जिसे तिब्बती अनुवाद के आधार पर विश्व-भारती के भूतपूर्व आचार्य पं. विधुशेखर भट्टाचार्य ने फिर से संस्कृत में उल्था करके सम्पादन किया है। यह माध्यमिक सम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इनके नाम पर एक और चित्त-विशुद्धि-प्रकरण नामक ग्रन्थ भी चलता है जिसके कुछ छिन्न अंश प्राप्त हुए हैं। पण्डित लोग इसको इनकी रचना मानने में हिचकिचाते हैं। चीनी अनुवादों में दो और ग्रन्थ भी इनके अनुवादित हैं।

अब तक समझा जाता था कि असंग या आर्यासंग ही महायान योगाचार सम्प्रदाय के आदि-आचार्य थे। परन्तु असल में इस सम्प्रदाय के आदि-आचार्य इनके गुरु मैत्रेयनाथ थे। यह सम्प्रदाय विज्ञानवाद का ही प्रचारक है। अभिसम्यालंकार-कारिका या प्रज्ञापारमितोपदेश-शास्त्र मैत्रेयनाथ की रचना है। चौथी शताब्दी में पंचविंशसहस्र-प्रज्ञापारमिता के साथ चीनी भाषा में इसका अनुवाद हो गया था। महायानसूत्रालंकार भी इन्हीं का लिखा हुआ ग्रन्थ है। असंगदेव की प्रसिद्ध पुस्तक योगाचारभूमिशास्त्र या सप्तदशभूमिशास्त्र का केवल एक अंश ही मूल संस्कृत में उपलब्ध हो सका है। किसी-किसी ने इसे भी मैत्रेयनाथ की ही रचना कहा है; पर हुएन्त्सांग तथा तिब्बती ऐतिहासिक इसे असंगलिखित ही बताते हैं। इसके भी कई चीनी अनुवाद हुए हैं। पुराना अनुवाद छठी शताब्दी का है। असंग के भाई वसुबन्धु का प्रधान ग्रन्थ अभिधर्मकोश है जो मूल संस्कृत में नहीं पाया जा सका है। इसके भी चीनी भाषा में कई अनुवाद हुए हैं। सातवीं शताब्दी में यह ग्रन्थ इस देश में इतना लोकप्रिय था कि सुप्रसिद्ध कवि बाण ने लिखा है कि तोते भी आपस में इसकी चर्चा किया करते थे। चीन और जापान में यह भी बौद्ध धर्म का पाठ्य ग्रन्थ है और विवादास्पद-व्यवस्थाओं के निर्णय के लिए प्रमाण माना जाता है। इस आचार्य ने अपने भाई असंग की मृत्यु के पश्चात् अनेक महायानसूत्रों की टीकाएँ लिखीं। तिब्बत में इनके नाम पर और भी अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। नागार्जुन और आर्यदेव के सम्प्रदाय के दो और प्रसिद्ध टीकाकार हुए—बुद्धपालित और भाव्यविवेक (भव्य)। ये दोनों क्रमशः आगमिक और स्वतन्त्र सम्प्रदायों के आचार्य हैं।

माध्यमिक और विज्ञानवादी मतों के समन्वय की भी चेष्टा हुई थी। महायान-श्रद्धोत्पाद नामक ग्रन्थ में यही चेष्टा है। इसके कर्ता अश्वघोष माने जाते हैं। यह ग्रन्थ सातवीं शताब्दी में चीनी भाषा में अनूदित हुआ था। हुएन्त्सांग जब भारतवर्ष में तीर्थयात्रा को आये थे, तो इस ग्रन्थ का यहाँ प्रचार न देखकर उन्होंने

फिर से उसे संस्कृत में रूपान्तर करके प्रचारित किया था। दुर्भाग्यवश वह ग्रन्थ भी अब नहीं पाया जाता। चीनी अनुवाद, जिस पर से [illegible] ने दुबारा संस्कृत किया था, सुरक्षित है और चीन, कोरिया और जापान में बहुत लोकप्रिय है।

पाँचवीं शताब्दी में वसुबन्धु के सम्प्रदाय में तीन बड़े-बड़े आचार्य हुए जिनके नाम हैं : स्थिरमति, दिङ्नाग और धर्मपाल। इनमें दिङ्नाग बौद्ध-न्याय के प्रतिष्ठाता कहे जाते हैं। कहते हैं कि वे महाकवि कालिदास के प्रतिद्वन्द्वी थे। इसी सम्प्रदाय में धर्मकीर्ति और चन्द्रकीर्ति भी नामी टीकाकार हो गये हैं। धर्मकीर्ति का नाम बौद्ध नैयायिक, दार्शनिक और कवि के रूप में विख्यात है। शान्तिदेव, जो गुजरात के राजपुत्र कहे जाते हैं, निःसन्देह बहुत उच्च कोटि के कवि थे। इनके तीन ग्रन्थ—शिक्षा-समुच्चय, सूत्रसमुच्चय और बोधिचर्यावतार बौद्धों में प्रसिद्ध हैं। अन्तिम पुस्तक प्राप्त हुई है और वह सचमुच ही विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि है। कहते हैं कि भुसुकपाद नामक सिद्ध से ये अभिन्न हैं। आठवीं शताब्दी में सुप्रसिद्ध बौद्ध आचार्य शान्तिरक्षित हुए, जिनका तत्त्वसंग्रह नामक दार्शनिक ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ तक आते-आते बौद्ध-स्रोत भारतवर्ष में प्रायः सूख चला था। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में एकमात्र उल्लेख-योग्य आचार्य अद्वयवज्र हुए जिन्होंने महायान और वज्रयान-सम्बन्धी कविताएँ लिखीं।

माहात्म्य, स्तोत्र, धारणी और तन्त्र

बौद्ध माहात्म्य और स्तोत्र हिन्दुओं के-से हैं। स्वयम्भू-पुराण का नाम यद्यपि पुराण है, पर है वह एक माहात्म्यग्रन्थ। बौद्धों का स्तोत्र-साहित्य काफी बड़ा है। सबसे अधिक स्तोत्र तारा के हैं। तारा अवलोकितेश्वर की शक्ति और प्रज्ञास्वरूपा है। इन स्तोत्रों और माहात्म्यों के चिह्न प्राचीन सूत्रों में पाये जाते हैं।

धारणी मन्त्रों की पुस्तकें हैं। नाना प्रकार के मन्त्र, जिनके जप से सब प्रकार की बाधाएँ दूर हो जाती हैं, इनमें संगृहीत हैं। महायानसूत्रों में भी ये धारणियाँ पायी जाती हैं। वस्तुतः धारणी और सूत्रों में कभी भी कड़ाई के साथ भेद नहीं किया गया। धारणियों के नाम पर सूत्र और सूत्रों के नाम पर धारणियाँ प्रायः पायी जाती हैं। इन धारणियों के विचित्र मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होता। उदाहरणार्थ, साँपों के भगाने का मन्त्र है, "सर-सर सिरी-सिरी सुरु-सुरु नागानां जय-जय जिवि-जिवि जुवु-जुवु।" इसमें 'सर' और 'नागाना' सार्थक पद कहे जा सकते हैं; पर समूचे वाक्य में वे भी निरर्थक-से हो गये हैं। इन मन्त्रों के जप करने से निर्दिष्ट सिद्धिलाभ होने की बात कही गयी है। ये मन्त्र उत्तरकालीन हिन्दू समाज में बहुधा ज्यों-के-त्यों आ गये हैं : असल में अन्तिम समय में बौद्ध धर्म का प्रधान सम्बल मन्त्र-तन्त्र ही रह गये थे। महायान और वज्रयान बौद्ध धर्म के [illegible] प्रतिनिधि हैं; परन्तु ये भी धीरे-धीरे शैवादि मतों से घुल-मिल गये।

तन्त्रों की पुस्तकें प्रायः ब्राह्मणों-जैसी ही हैं, अन्तर इतना ही है [illegible] थोड़ा-बहुत बौद्धत्व पाया जाता है। [illegible]

किस विशेष देवता का किस विशेष मुद्रा में ध्यान करना चाहिए। ध्यान के लिए देवता के अंगों का पूरा विवरण दिया गया है और मूर्ति-शिल्प के द्वारा इस प्रक्रिया को सहजबोध्य भी बनाया गया है। यह मूर्ति-शिल्प बौद्ध-तन्त्रों की अमूल्य देन है। इनमें मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि की विधियाँ भी बतायी गयी हैं और जपार्थ मन्त्र-निर्देश भी है। कभी अभीष्ट-सिद्धि के लिए यन्त्रों का विधान भी है। ये यन्त्र अक्षरों या अंकों के रहस्यमय कोष्ठक हैं। इन्हें विशेष मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके धारण करने से भौतिक बाधाएँ दूर होती हैं। पण्डितों का अनुमान है कि तन्त्रों के इस विपुल साहित्य पर शैव तन्त्रों का खूब प्रभाव है।

उपसंहार

विशाल बौद्ध-साहित्य, जिसने आधी से अधिक दुनिया को अप्रत्यक्ष भाव से प्रभावित किया था और जिसकी अमूल्य चिन्ताएँ अब भी भ्रान्त मानवसमाज को मार्ग दिखा सकती हैं, अपने अन्तिम दिनों में धारणी, मन्त्रों और यन्त्रों का शिकार हो गया। वह जहाँ से निकला था, अन्त में उसी विशाल हिन्दू वाङ्मय में विलीन हो गया। संसार के इतिहास में उसका उद्भव, प्रसार और विलय, तीनों ही अतुलनीय आश्चर्यजनक व्यापार हैं।

जैन-साहित्य

जैन धर्म के प्रवर्तक या संस्कर्त्ता महावीर स्वामी (निगण्ठ नातपुत्त) बुद्धदेव के पूर्ववर्त्ती थे। परन्तु जैन-साहित्य इस समय जिस रूप में मिलता है, उसके महावीर-कालीन होने में बहुतों को सन्देह है। जैनों के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं: श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर ग्रन्थों से मालूम होता है [illegible] महावीर स्वामी ने जो उपदेश दिया था उसे उनके दो प्रधान शिष्यों [illegible] र सुधर्मा ने, जो गणधर कहलाते थे, [illegible] में संकलित [illegible] सकलन

महावीर के निर्वाण की दूसरी शताब्दी में मगध में एक द्वादशवर्षव्यापी बड़ा भारी अकाल पड़ा। उस समय मौर्य चन्द्रगुप्त राज्य कर रहा था। अकालताडित होकर आचार्य भद्रबाहु अपने बहुत-से शिष्योंसहित कर्णाटक देश में चले गये। जो लोग मगध में रह गये उनके नेता स्थूलभद्र हुए।

स्थूलभद्र को पूर्वोक्त द्वादशांगी के लुप्त हो जाने का डर हुआ, इसलिए उन्होंने महावीर-निर्वाण के लगभग 160 वर्ष बाद पाटलीपुत्र में श्रमण-संघ की एक सभा बुलायी। उन सबके सहयोग से सम्प्रदाय के मान्य तत्त्वों का ग्यारह अंगों में संकलन किया गया। यह संग्रह 'पाटिपुत्र-वाचना' कहलाता है। बारहवें अंग दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद) के चौदह भागों में से, जो कि पुव्व या पूर्व कहलाते थे, अन्तिम चार पूर्व नष्ट हो चुके थे, अर्थात् उन्हें सभी शिष्य प्राय: भूल गये थे। फिर भी जो कुछ याद था, उसका संग्रह कर लिया गया। इस सभा में भद्रबाहु उपस्थित नहीं थे।

भद्रबाहु ने लौटकर देखा कि उनके वापस आये हुए दल के साथ इस दल का बड़ा भेद है। जो लोग मगध में रह गये थे वे वस्त्र पहनने लगे; परन्तु भद्रबाहु और उनके शिष्य कड़ाई के साथ महावीर के नियमों का पालन करते रहे। जान पड़ता है, यहीं से जैनों के दो सम्प्रदाय हो गये। भद्रबाहु और उनके शिष्य दिगम्बर और स्थूलभद्र और उनके शिष्य श्वेताम्बर कहलाये। इसका परिणाम यह हुआ कि दिगम्बरों ने पाटलीपुत्र की सभा द्वारा सगृहीत अंगों और पूर्वों को अस्वीकार कर दिया और कह दिया कि असली अंग-पूर्व तो लुप्त हो चुके हैं।

कुछ समय और बीतने पर जान पडता है कि श्वेताम्बरों का पूर्वोक्त संकलन भी अव्यवस्थित या अस्तव्यस्त हो गया और तब महावीर-निर्वाण की छठी शताब्दी में आर्य स्कन्दिल के आधिपत्य में मथुरा में फिर एक सभा की गयी और फिर जो कुछ बच रहा था वह सुव्यवस्थित किया गया। इस उद्धार को 'माथुरी-वाचना' कहते हैं। इसके बाद महावीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी के लगभग (सन् ईसवी की छठी शताब्दी) वल्लभी-नगरी (काठियावाड़) में एक और सभा की गयी जिसके अध्यक्ष देवर्धिगणि क्षमाश्रमण हुए जो उन दिनों सम्प्रदाय के गणधर या नेता थे। इस सभा में फिर से ग्यारह अंगों का संकलन हुआ। बारहवाँ अंग दृष्टिवाद तो इसके पहले ही लुप्त हो चुका था। इस समय जो ग्यारह अंग उपलब्ध हैं वे देवर्धि-गणि के सकलन किये हुए माने जाते हैं।

इस वर्णन से इतना तो स्पष्ट है कि अंगों का वर्त्तमान आकार छठी शताब्दी का है और इसलिए इनमें निश्चय ही महावीर स्वामी के बाद की बहुत बातें घुल-मिल गयी होंगी। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें प्राचीन अंश है ही नहीं। असल में संग्रह और संकलन चाहे जब क्यों न किया जाय, उसमें प्राचीन अंशों का यथासम्भव सुरक्षित रखा जाना ही अधिक संगत जान पडता है। और फिर वल्लभ की सभा ने पाटलीपुत्र और मथुरावाली सभा के सकलन का ही संस्कार या जीर्णोद्धार किया था, कुछ नया सकलन नहीं किया था।

दिगम्बरों के मत से भगवान् महावीर की दिव्य वाणी को अवधारण करके

उनके प्रथम शिष्य इन्द्रभूति (गौतम) गणधर ने अंग-ग्रन्थों की रचना की।[1] फिर उन्होंने अपने सधर्मा सुधर्मा (लोमहर्ष) को और सुधर्मा स्वामी ने जम्बूस्वामी को दिया। जम्बूस्वामी से अन्य मुनियों ने उनका अध्ययन किया। यह सब महावीर स्वामी के जीवन-काल मे हुआ। इसके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए। इन्हें पूर्वोक्त अग और पूर्वों का सम्पूर्ण ज्ञान था। महावीर निर्वाण के 62 वर्ष बाद तक जम्बूस्वामी का और उनके 100 वर्ष बाद तक भद्रबाहु का समय है। अर्थात् दिगम्बर शास्त्रों के अनुसार महावीर-निर्वाण के 162 वर्ष बाद तक अग और पूर्वों का अस्तित्व रहा।

इसके बाद वे क्रमशः लुप्त हो गये और वीर-निर्वाण 683 तक एक तरह से सर्वथा लुप्त हो गये। अन्तिम अंगधारी लोहार्य (द्वितीय) बतलाये गये है जिनको केवल एक आचारांग का ज्ञान था।

इसके बाद अंग और पूर्वों के एक देश के ज्ञाता और उस देश के भी अशो के ज्ञाता आचार्य हुए जिनमें सौराष्ट्र के गिरिनगर के धरसेनाचार्य का नाम उल्लेखनीय है। उन्हें अग्रायणीपूर्व के पचमवस्तुगत महाकर्मप्राभृत का ज्ञान था। इन्होंने अपने अन्तिम काल में आन्ध्रदेश से भूतबलि और पुष्पदन्त नामक शिष्यों को बुलाकर पढाया और तब इन शिष्यों ने विक्रम की लगभग दूसरी शताब्दी में षट्खण्डागम तथा कषायप्राभृत सिद्धान्तों की रचना की। ये सिद्धान्त-ग्रन्थ बड़ी विशाल टीकाओं के सहित अब तक सिर्फ कर्णाटक के मूडबिद्री नामक स्थान में सुरक्षित थे, अन्यत्र कही नही थे। कुछ ही समय हुआ इनमें से दो टीका-ग्रन्थ धवला और जय-धवला बाहर आये है और उनमें से एक वीरसेनाचार्यकृत धवला टीका का प्रकाशन आरम्भ हो गया है।[2] इस टीका के निर्माण का समय शक सवत् 738 है।

ऐसा मालूम होता है कि श्वेताम्बर-मान्य अंग-ग्रन्थ एक काल के लिखे हुए नहीं हैं। सम्भवतः इनकी अव्यवहित रचना महावीर-निर्वाण के बाद से लेकर कुछ-न-कुछ देवर्द्धिगणि के काल तक होती रही होगी। इसका एक प्रमाण यह भी है कि आर्य सुधर्मा, आर्य श्याम और भद्रबाहु आदि महावीर के परवर्ती अनेक आचार्य अंगों और उपांगों के रचयिता माने जाते हैं।

सम्पूर्ण जैनागम छः भागों में विभक्त है—(1) बारह अंग, (2) बारह उवग या उपांग, (3) दस पइण्णा या प्रकीर्णक, (4) छह छेयसुत्त या छेदसूत्र, (5) दो सूत्र-ग्रन्थ, (6) चार मूल सुत्त या मूल सूत्र। ये सभी ग्रन्थ आर्ष या अर्ध-मागधी प्राकृत मे लिखे हुए हैं। कुछ आचार्यों के मत से बारहवाँ अंग दृष्टिवाद संस्कृत में था। बाकी जैन साहित्य महाराष्ट्री प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत में है।

1. तेनेन्द्रभूतिगणिना तद्दिव्यवचोऽवबुध्य तत्त्वेन।
   ग्रन्थोऽङ्गपूर्वनाम्ना प्रतिरचितो युगपदपराह्णे ॥ 66 ॥ —श्रुतावतार
2. कषायप्राभृत सिद्धान्त की जयधवला का भी प्रकाशन आरम्भ हो गया है। इसके सिवाय षट्खण्डागम का छठा खण्ड महाबन्ध भी छपने लगा है।

अंग और उपांग

पहला अंग आयारगसुत्त या आचारांगसूत्र है जो दो विस्तृत श्रुत-स्कन्धों मे जैन मुनियों के कर्त्तव्याकर्तव्य-आचार का निर्देश करता है। विद्वानों के मत से इसका प्रथम श्रुत-स्कन्ध दूसरे से पुराना होना चाहिए। बौद्ध-साहित्य मे जिस प्रकार गद्य-पद्यमय रचनाएँ पायी जाती है, ठीक वैसी ही इसमे भी है। जैन और बौद्ध शास्त्रों मे जो अन्तर स्पष्ट दिखायी देता है, वह यह है कि जहाँ बौद्ध-सघ के नियमों मे बहुत-कुछ ढील दिखलायी पड़ती है, वहाँ जैन-सघ के नियमों और अनुशासनों में बडी कड़ाई की व्यवस्था है।

बारह अग ये है : 1. आयारगसुत्त (आचारागसूत्र), 2. सूयगडग (सूत्रकृताग), 3. ठाणांग (स्थानांग), 4. समवायग (समवायाग), 5. भगवती वियाहण्णति (भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति), 6. नाया धम्मकहाओ (ज्ञातृ धर्मकथा.), 7. उवासगदसाओ(उपासकदशाः), 8. अन्तगडसाओ (अन्तकृद्दशा), 9. अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपातिकदशाः), 10. पण्हवागरणाई (प्रश्नव्याकरणानि), 11. विवागसुयं (विपाकश्रुतं), 12. दिट्ठवाय (दृष्टिवाद)।

बारह उपांग ये है : 1. उववाइय (औपपातिक), 2. रायपसेणइज्ज (राजप्रश्नीय), 3. जीवाभिगम, 4. पन्नवणा (प्रज्ञापना), 5. सूरपण्णत्ति (सूर्य-प्रज्ञप्ति) 6. जम्बुद्दीवपणत्ति (जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति), 7. चन्द-पण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति), 8. निरयावली (नरकावलिका), 9. कप्पावडसिआओ (कल्पावतसिका.), 10. पुप्फचूलिआओ (पुप्पचूलिकाः), वण्हिदसाओ (वृष्णिदशाः)।

दस पइण्णा (प्रकीर्णक) ये है : 1. वीरभद्रलिखित चऊसरण (चतुःशरण), 2. आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), 3. भत्तपरिण्णा (भक्तपरिज्ञा), 4. सन्थार (सस्तार), 5. तण्डुल-वेयालिय (तन्दुलवैचारिक), 6. चन्दाविज्झय (चन्द्रवेध्यक), 7. देविन्दत्थअ (देवेन्द्रस्तव), 8. गणिविज्जा (गणिविद्या), 9. महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान), 10. वीरत्थअ (वीरस्तव)।

छः छेदसूत्र ये हैं : 1. निसीह (निशीथ), 2. महानिसीह (महानिशीय), 3. ववहार (व्यवहार), 4. आचारदसाओ (आचारदशाः), 5. कप्प (बृहत्कल्प), 6. पचकप्प (पंचकल्प)। पंचकल्प के बदले कोई-कोई जिनभद्र रचित जीयकप्प या जीतकल्प को छठा सूत्र मानते है।

चार मूल सुत्त (मूलसूत्र) ये हैं : 1. उत्तराज्झाय (उत्तराध्याय) या उत्तरांझयन (उत्तराध्ययन), 2. आवस्सयन (आवश्यक), 3. दसवेआलिय (दशवैकालिक), 4. पिण्डनिज्जुत्ति (पिण्डनिर्युक्ति)। तृतीय और चतुर्थ मूल सूत्रों के स्थान पर कभी-कभी ओहनिज्जुत्ति (ओघनिर्युक्ति) और पक्खीसुत्त (पाक्षिक सूत्र) का नाम लिया जाता है।

दो और ग्रन्थ इस प्रकार हैं—1. नन्दीसुत्त (नन्दिसूत्र) और 2. अणुयोगदार (अणुयोगद्वार)।

आचार्य शंकर स्वामी हुए जिन्होंने अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा की। इस शताब्दी में सर्वाधिक प्रतिभाशाली जैन आचार्य हरिभद्र हुए जो ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होकर समस्त ब्राह्मण शास्त्रों के अध्ययन के बाद जैन हुए थे। इनके लिखे 88 ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं; जिनमें बहुत-से छप चुके हैं।

बारहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने दर्शन, व्याकरण और काव्य तीनों में समान भाव से कलम चलायी। इन नाना विषयों में, नाना भाषाओं में और नाना मतों में अगाध पाण्डित्य प्राप्त करने के कारण इन्हें शिष्य-मण्डली 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा करती थी। इस शताब्दी में और इसके बाद भी जैनग्रन्थों और टीकाओं की बाढ़-सी आ गयी। इन दिनों की लिखी हुई सिद्धान्तग्रन्थों की अनेक टीकाएँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। असल में यह युग ही टीकाओं का था; भारतीय मनीषा सर्वत्र टीका में व्यस्त थी।

विमलसूरि का 'पउमचरिय' (पद्मचरित) नामक प्राकृत काव्य, जो शायद सन् ईसवी के आरम्भकाल में लिखा गया था, काफी मनोरंजक है। इसमें राम की कथा है जो हिन्दुओं की रामायण से बहुत भिन्न है। ग्रन्थ में वाल्मीकि को मिथ्यावादी कहा गया है। इस पर से यह अनुमान करना असंगत नहीं कि कवि ने वाल्मीकि की रामायण को देखा था। दशरथ की तीन रानियों में कौशल्या के स्थान पर अपराजिता नाम है जो पद्म या राम की माता थीं। दशरथ के बड़े भाई थे अनन्तरथ। ये जैन साधु हो गये थे, इसीलिए दशरथ को राज्य लेना पड़ा। जनक ने अपनी कन्या सीता को राम से ब्याहने का इसलिए विचार किया था कि राम (पद्म) ने म्लेच्छों के विरुद्ध जनक की सहायता की थी। परन्तु विद्याधर लोग झगड़ पड़े कि सीता पहले से उनके राजकुमार चन्द्रगति की वाग्दत्ता थी। इसी झगड़े को मिटाने के लिए धनुषवाली स्वयंवर-सभा हुई थी। अन्त में दशरथ जैन भिक्षु हो गये। भरत की भी यही इच्छा थी, पर राम और कैकेयी के आग्रह से वे तब तक के लिए राज्य सँभालने को प्रस्तुत हो गये जब तक पद्म (राम) न लौट आयें। आगे की कथा प्रायः सब वही है। अन्त में राम को निर्वाण प्राप्त होता है। यहाँ राम सम्पूर्ण जैन वातावरण में पले हैं।

सन् 675 ई. में रविषेण ने संस्कृत में जो पद्मचरित लिखा वह विमल के प्राकृत पउमचरिय का प्रायः संस्कृत रूपान्तर या अनुवाद है। गुणभद्र भदन्त के उत्तरपुराण के अड़सठवें पर्व में और हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित के सातवें पर्व में भी यह कथा है। हेमचन्द्र की कृति को जैन-रामायण भी कहते हैं। रामायण की भाँति महाभारत की कथा भी जैन ग्रन्थों में बार-बार आयी है। सबसे पुराना संघदास गणि का वसुदेवहिण्डी नामक विशाल ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है और संस्कृत में पुन्नाटसंघ के आचार्य जिनसेन का 66सर्गी हरिवंश पुराण है। सकलकीर्ति आदि और भी अनेक विद्वानों ने हरिवंशपुराण लिखे हैं। इसी तरह 1200 ई. में मलधारि देवप्रभसूरि ने पाण्डवचरित नामक एक काव्य लिखा था जो महाभारत का संक्षिप्त रूप है। सोलहवीं शताब्दी में शुभचन्द्र ने एक पाण्डवपुराण,

जिसे जैन-महाभारत भी कहते है, लिखा था। अपभ्रंश भाषा मे तो महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, स्वयम्भु, पुष्पदन्त आदि-आदि अनेक कवियों ने लिखे है।

जैन पुराणों के मूल प्रतिपाद्य विषय 63 महापुरुषो के चरित्र है। इनमे 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव और 9 प्रतिवासुदेव है। इन चरित्रों के आधार पर लिखे गये ग्रन्थों को दिगम्बर लोग साधारणतः 'पुराण' कहते है और श्वेताम्बर लोग 'चरित'। पुराणों में सबसे पुराना त्रिषष्टिलक्षण महापुराण (संक्षेप में महापुराण) है जिसके आदिपुराण और उत्तरपुराण, ऐसे दो भाग है। आदिपुराण के अन्तिम पाँच अध्यायों को छोड़कर बाकी के लेखक जिनसेन (पंचस्तूपान्वयी) है तथा अन्तिम पाँच अध्याय और समूचा उत्तरपुराण उनके शिष्य गुणभद्र का लिखा हुआ है। पुराणों की कथाएँ बहुधा राजा श्रेणिक (बिम्बसार) के प्रश्न करने पर गौतम गणधर द्वारा कहलायी गयी है। महापुराण का रचना-काल शायद सन् ईसवी की नवी शताब्दी है। इन पुराणों से मिलते हुए श्वेताम्बर चरितो मे सबसे प्रसिद्ध है हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित, जिसे आचार्य ने स्वयं महाकाव्य कहा है। इस अंश की बहुत-सी कहानियाँ यूरोपियनो के मत से विश्व-साहित्य मे स्थान पाने योग्य है। वीरनन्दी का चन्द्रप्रभचरित, वादिराज का पार्श्वनाथचरित, हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, धनंजय का द्विसन्धान, वाग्भट का नेमिनिर्वाण, अभयदेव का जयन्तविजय, मुनिचन्द्र का शान्तिनाथचरित आदि उच्च कोटि के महाकाव्य है। ऐसे भी चरित हैं जो 63 पुराणपुरुषो के अतिरिक्त अन्य प्रद्युम्न, नागकुमार, वरांग, यशोधर, जीवधर, जम्बूस्वामी, जिनदत्त, श्रीपाल आदि महात्माओं के है और इनकी सख्या काफी अधिक है। पार्श्वनाथचरित को अवलम्बन करके लिखे गये काव्यों की भी सख्या कम नही है। वादिराज, असग, वादिचन्द्र, सकलकीर्त्ति, माणिक्यचन्द्र, भावदेव और उदयवीर गणि आदि अनेक दिगम्बर-श्वेताम्बर कवियों ने इस विषय पर खूब लेखनी चलायी है।

जैनों के साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग प्रबन्ध है, जिन्हें ऐतिहासिक विवृतियाँ कह सकते है। चन्द्रप्रभसूरि का प्रभावकचरित, मेरुतुङ्ग का प्रबन्ध-चिन्तामणि (1306 ई.), राजशेखर का प्रबन्धकोष (1308 ई.), जिनप्रभसूरि का तीर्थकल्प (1326-31 ई.) आदि रचनाएँ नाना दृष्टियों से बहुत ही महत्त्व-पूर्ण हैं। इन प्रबन्धों ने इस बात को असिद्ध कर दिया है कि भारतीयों में ऐति-हासिक दृष्टि का अभाव था। इसी प्रकार जैन मुनियों की लिखी कहानियो की पुस्तकें भी काफी मनोरंजक है। पालित्त (पादलिप्त) सूर की तरङ्गवती कथा काफी प्राचीन पुस्तक है। हरिभद्र का प्राकृत गद्यकाव्य समारइच्च-कहा एक धार्मिक कथा-ग्रन्थ है। इसी तरह की 'कुवलयमाला' कथा भी है जिसके रचयिता दाक्षिण्यचिह्न उद्योतनसूरि हैं (आठवी शताब्दी)। इसी के अनुकरण पर सिद्धर्षि ने संस्कृत मे उपमितिभवप्रपञ्चा कथा लिखी थी (906 ई.)। धनपाल का अपभ्रंश काव्य 'भविसयत्त-कहा' काफी प्रसिद्ध है। ऐसी और भी अनेक कथाएँ लिखी गयी

है। यद्यपि ये धर्म-कथाएँ कही जाती हैं, पर अधिकांश में काल्पनिक कहानियाँ हैं। चम्पू जाति के काव्य भी जैन साहित्य में बहुत अधिक हैं। सोमदेव का यशस्तिलक (959 ई.) काफी प्रसिद्धि पा चुका है। हरिचन्द्र का जीवन्धरचम्पू, अर्हद्दास का पुरुदेवचम्पू (13वीं सदी) आदि इसी जाति की रचनाएँ हैं। धनपाल की तिलकमंजरी (970 ई.), ओडयदेव (वादीभसिंह) की गद्यचिन्तामणि, कादम्बरी के ढंग के गद्यकाव्य हैं (11वीं सदी)। इनके अतिरिक्त कहानियों की और भी स्वतंत्र पुस्तकें हैं जिनका मूल उद्देश्य जैन-धर्म की महिमा वर्णन करना है। कथाओं के कई संग्रह भी हैं जो कथाकोश कहलाते हैं। इनमें पुन्नाटसंघ के आचार्य हरिषेण का कथाकोश सबसे पुराना है (932 ई.)। प्रभाचन्द्र, नेमिदत्त ब्रह्मचारी, रामचन्द्र मुमुक्षु आदि के कथाकोश अपेक्षाकृत नवीन हैं।

श्रीचन्द्र का एक कथाकोश अपभ्रंश भाषा में भी है। ऐसे ही जिनेश्वर, देवभद्र, राजशेखर, हेमहंस आदि के कथा-ग्रन्थ हैं। यह साहित्य इतना विशाल है कि इस क्षुद्रकाय परिचय में सबका नाम देना भी मुश्किल है। नाना दृष्टियों से, विशेषकर जनसाधारण के जीवन के सम्बन्ध में जानने के लिए, इन ग्रन्थों का बड़ा महत्त्व है।

जैन आचार्यों ने नाटक भी लिखे हैं जिनमें से अधिकांश अप्रकाशित हैं। हेमचन्द्राचार्य के शिष्य रामचन्द्रसूरि के कई नाटक हैं। नलविलास, सत्यहरिश्चन्द्र, कौमुदीमित्रानन्द, राघवाभ्युदय, निर्भय-भीम-व्यायोग आदि नाटक प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, इन्होंने 100 प्रकरण-ग्रन्थ लिखे थे। विजयपाल के द्रौपदी-स्वयंवर, हस्तिमल्ल के विक्रान्त-कौरव और सुभद्रा में भी महाभारतीय कथाओं को नाटक का रूप दिया गया है। हस्तिमल्ल ने रामायण की कथा का आश्रय लेकर मैथिली-कल्याण और अंजनापवनंजय नामक दो और नाटक लिखे हैं। यशश्चन्द्र का मुद्रित कुमुदचन्द्र एक साम्प्रदायिक नाटक है जिसमें कुमुदचन्द्र नामक दिगम्बर पण्डित का श्वेताम्बर पण्डित से पराजित होना वर्णन किया गया है (1124 ई.)। वादिचन्द्रसूरि का ज्ञानसूर्योदय श्रीकृष्ण मिश्र के सुप्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के ढंग का, एक तरह से उसके उत्तररूप में लिखा हुआ नाटक है। जयसिंह का हम्मीर-मद-मर्दन ऐतिहासिक नाटक है। सन् 1203 ई. के आसपास यशःपाल ने मोहराज-पराजय नामक रूपक लिखा था। मेघप्रभाचार्य का धर्माभ्युदय काफी मशहूर है।

काव्य-नाटकों के सिवा जैन कवियों ने हिन्दू और बौद्ध आचार्यों की भाँति एक बहुत बड़े स्तोत्र-साहित्य की भी रचना की है। नीति-ग्रन्थों की भी जैन-साहित्य में कमी नहीं है। राष्ट्रकूट अमोघवर्ष … प्रश्न… …को ब्राह्मण, बौद्ध और … जैन

त्याग इत्यादि। हेमचन्द्र का योगशास्त्र और शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव बहुत लोकप्रिय ग्रन्थ है। और भी अनेक नीतिग्रन्थ है जिनमे सोमप्रभ के कुमारपालप्रतिबोध, सूक्तिमुक्तावली और शृंगारवैराग्यतरंगिणी, चारित्रसुन्दर का शीलदूत (1420 ई.), समयसुन्दर की गाथासहस्री (1360 ई.) प्रसिद्ध है।

लेकिन जैन आचार्यों का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है उनकी दार्शनिक सैद्धान्तिक उक्तियाँ। यह जानी हुई बात है कि इन पण्डितो ने न्यायशास्त्र को पूर्णता तक पहुँचाने में बहुत काम किया है। इनमें सबसे प्राचीन आचार्य जो दोनो सम्प्रदायों मे आदृत होते है, समन्तभद्र और सिद्धसेन है। कुन्द-कुन्द, अमृतचन्द्र, कार्तिकेय स्वामी, उमास्वाति, देवनन्दि, अकलक, प्रभाचन्द्र, वादिराज, सोमदेव, आशाधर आदि दिगम्बर आचार्यों ने भारतीय चिन्ताधारा को बहुत अधिक समृद्ध किया है। इसी प्रकार श्वेताम्बर आचार्यो मे हरिभद्र, मल्लवादी, वादिदेवसूरि, मल्लिषेण, अभयदेव, हेमचन्द्र, यशोविजय आदि ने जैनदर्शन पर महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी है जो निश्चित रूप से भारतीय पाण्डित्य का भूषण है। इन दार्शनिक ग्रन्थो के सिवाय जैन सम्प्रदाय के बाहर नाना क्षेत्रो मे, जैसे काव्य, नाटक, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोष, अलंकार, गणित और राजनीति आदि विषयो पर भी जैन आचार्यों ने लिखा है। बौद्धों की अपेक्षा वे इस क्षेत्र मे अधिक असाम्प्रदायिक है। फिर गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, तेलुगु, तमिल और विशेष रूप से कन्नडी साहित्य मे भी उनका दान अत्यधिक है। कन्नडी साहित्य पर तो ईसा की तेरहवी शताब्दी तक जैनो का एकाधिपत्य रहा है। कन्नडी के उपलब्ध साहित्य के लगभग दो-तिहाई ग्रन्थ जैन विद्वानो के रचे हुए हैं। इस प्रकार भारतीय चिन्ता की समृद्धि में यह सम्प्रदाय बहुत महत्त्वपूर्ण है।

कवि-प्रसिद्धियाँ

'कवि-समय' शब्द का अर्थ है कवियों का आचार या सम्प्रदाय। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले राजशेखर ने किया था। उनका मतलब यह था यद्यपि देश, काल आदि के विरुद्ध विषयों का वर्णन करना कवित्व का दोष है, तथापि कुछ ऐसी बातें कविजन परम्परा से वर्णन करते आये हैं जिन्हें निर्दोष मान लेना उचित है। 'कविसमय' शब्द से मिलता-जुलता एक और शब्द अलंकार-शास्त्र में प्रयुक्त हुआ है, यह है 'काव्य-समय'। इस शब्द का प्रथम, और शायद अन्तिम भी, प्रयोग वामन के 'अलंकारसूत्र' में पाया जाता है (काव्यालंकार-सूत्र 5-1)। किन्तु इन दोनों शब्दों के प्रयोग अलग-अलग अर्थों में हुए हैं। वामन के मत मे लोक-शास्त्र के

है। यद्यपि ये धर्म-कथाएँ कही जाती हैं, पर अधिकांश में काल्पनिक कहानियाँ हैं। चम्पू जाति के काव्य भी जैन साहित्य में बहुत अधिक हैं। सोमदेव का यशस्तिलक (959 ई.) काफी प्रसिद्धि पा चुका है। हरिचन्द्र का जीवन्धरचम्पू, अर्हद्दास का पुरुदेवचम्पू (13वीं सदी) आदि इसी जाति की रचनाएँ हैं। धनपाल की तिलकमंजरी (970 ई.), ओडयदेव (वादीभसिंह) की गद्यचिन्तामणि, कादम्बरी के ढङ्ग के गद्यकाव्य है (11वीं सदी)। इनके अतिरिक्त कहानियों की और भी दर्जनों पुस्तकें हैं जिनका मूल उद्देश्य जैन-धर्म की महिमा वर्णन करना है। कथाओं के कई संग्रह भी हैं जो कथाकोश कहलाते हैं। इनमें पुन्नाटसंघ के आचार्य हरिषेण का कथाकोश सबसे पुराना है (932 ई.)। प्रभाचन्द्र, नेमिदत्त ब्रह्मचारी, रामचन्द्र मुमुक्षु आदि के कथाकोश अपेक्षाकृत नवीन हैं।

श्रीचन्द्र का एक कथाकोश अपभ्रंश भाषा में भी है। ऐसे ही जिनेश्वर, देवभद्र, राजशेखर, हेमहंस आदि के कथा-ग्रन्थ हैं। यह साहित्य इतना विशाल है कि इस क्षुद्रकाय परिचय में सबका नाम देना भी मुश्किल है। नाना दृष्टियों से, विशेषकर जनसाधारण के जीवन के सम्बन्ध में जानने के लिए, इन ग्रन्थों का बहुत महत्त्व है।

जैन आचार्यों ने नाटक भी लिखे हैं जिनमें के अधिकांश असाम्प्रदायिक हैं। हेमचन्द्राचार्य के शिष्य रामचन्द्रसूरि के कई नाटक हैं। नलविलास, सत्यहरिश्चन्द्र, कौमुदीमित्रानन्द, राघवाभ्युदय, निर्भय-भीम-व्यायोग आदि नाटक प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, इन्होंने 100 प्रकरण-ग्रन्थ लिखे थे। विजयपाल के द्रौपदी-स्वयंवर, हस्तिमल्ल के विक्रान्त-कौरव और सुभद्रा में भी महाभारतीय कथाओं को नाटक का रूप दिया गया है। हस्तिमल्ल ने रामायण की कथा का आश्रय लेकर मैथिली-कल्याण और अजनापवनंजय नामक दो और नाटक लिखे है। यशश्चन्द्र का मुद्रित कुमुदचन्द्र एक साम्प्रदायिक नाटक है जिसमें कुमुदचन्द्र नामक दिगम्बर पण्डित का श्वेताम्बर पण्डित से पराजित होना वर्णन किया गया है (1124 ई.)। वादिचन्द्रसूरि का ज्ञानसूर्योदय श्रीकृष्ण मिश्र के सुप्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के ढंग का, एक तरह से उसके उत्तररूप में लिखा हुआ नाटक है। जयसिंह का हम्मीर-मद-मर्दन ऐतिहासिक नाटक है। सन् 1203 ई. के आसपास यशःपाल ने मोहराज-पराजय नामक रूपक लिखा था। मेघप्रभाचार्य का धर्माभ्युदय काफी मशहूर है।

काव्य-नाटकों के सिवा जैन कवियों ने हिन्दू और बौद्ध आचार्यों की भाँति एक बहुत बड़े स्तोत्र-साहित्य की भी रचना की है। नीति-ग्रन्थों की भी जैन-साहित्य में कमी नहीं है। राष्ट्रकूट अमोघवर्ष की प्रश्नोत्तर-रत्नमाला को ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी अपनी सम्पत्ति मानते है। इसके सिवाय प्राकृत और संस्कृत में जैन पण्डितों के लिखे हुए विविध नीतिग्रन्थ बहुत अधिक है। दिगम्बर आचार्य अमितगति के सुभाषितरत्नसन्दोह, योगसार और धर्मपरीक्षा (1093 ई.) महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में सभी जैन-प्रिय विषय हैं : वैराग्य, स्त्री-निन्दा, ब्राह्मण-निन्दा,

त्याग इत्यादि। हेमचन्द्र का योगशास्त्र और शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव बहुत लोकप्रिय ग्रन्थ हैं। और भी अनेक नीतिग्रन्थ हैं जिनमें सोमप्रभ के कुमारपालप्रतिबोध, सूक्तिमुक्तावली और शृंगारवैराग्यतरंगिणी, चारित्रसुन्दर का शीलदूत (1420 ई.), समयसुन्दर की गाथासहस्री (1360 ई) प्रसिद्ध है।

लेकिन जैन आचार्यों का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है उनकी दार्शनिक सैद्धान्तिक उक्तियाँ। यह जानी हुई बात है कि इन पण्डितों ने न्यायशास्त्र को पूर्णता तक पहुँचाने में बहुत काम किया है। इनमें सबसे प्राचीन आचार्य जो दोनों सम्प्रदायों में आदृत होते हैं, समन्तभद्र और सिद्धसेन हैं। कुन्द-कुन्द, अमृतचन्द्र, कार्तिकेय स्वामी, उमास्वाति, देवनन्दि, अकलंक, प्रभाचन्द्र, वादिराज, सोमदेव, आशाधर आदि दिगम्बर आचार्यों ने भारतीय चिन्ताधारा को बहुत अधिक समृद्ध किया है। इसी प्रकार श्वेताम्बर आचार्यों में हरिभद्र, मल्लवादी, वादिदेवसूरि, मल्लिषेण, अभयदेव, हेमचन्द्र, यशोविजय आदि ने जैनदर्शन पर महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं जो निश्चित रूप से भारतीय पाण्डित्य का भूषण है। इन दार्शनिक ग्रन्थों के सिवाय जैन सम्प्रदाय के बाहर नाना क्षेत्रों में, जैसे काव्य, नाटक, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोष, अलंकार, गणित और राजनीति आदि विषयों पर भी जैन आचार्यों ने लिखा है। बौद्धों की अपेक्षा वे इस क्षेत्र में अधिक असाम्प्रदायिक है। फिर गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, तेलुगु, तमिल और विशेष रूप से कन्नडी साहित्य में भी उनका दान अत्यधिक है। कन्नडी साहित्य पर तो ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक जैनों का एकाधिपत्य रहा है। कन्नडी के उपलब्ध साहित्य के लगभग दो-तिहाई ग्रन्थ जैन विद्वानों के रचे हुए है। इस प्रकार भारतीय चिन्ता की समृद्धि में यह सम्प्रदाय बहुत महत्त्वपूर्ण है।

कवि-प्रसिद्धियाँ

'कवि-समय' शब्द का अर्थ है कवियों का आचार या सम्प्रदाय। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले राजशेखर ने किया था। उनका मतलब यह था यद्यपि देश, काल आदि के विरुद्ध विषयों का वर्णन करना कवित्व का दोष है, तथापि कुछ ऐसी बातें कविजन परम्परा से वर्णन करते आये हैं जिन्हें निर्दोष मान लेना उचित है। 'कविसमय' शब्द से मिलता-जुलता एक और शब्द अलंकार-शास्त्र में प्रयुक्त हुआ है, वह है 'काव्य-समय'। इस शब्द का प्रथम, और शायद अन्तिम भी, प्रयोग वामन के 'अलंकारसूत्र' में पाया जाता है (काव्यालंकार-सूत्र 5-1)। किन्तु इन दोनों शब्दों के प्रयोग अलग-अलग अर्थों में हुए हैं। वामन के मत से लोक-शास्त्र के

विरुद्ध अर्थों का प्रयोग ही काव्य-समय है। इसका अन्तर्भाव बाद के किये हुए आलंकारिकों के दोष-प्रकरण में हो जाता है। भामह और दण्डी ने 'काव्य-समय' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, परन्तु 'दोष' शब्द से उनका भी अभिप्राय देश, काल, न्याय और आगम का विरोधी और प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त से हीन होना है (भामह 4-2)। राजशेखर यह तो मानते हैं कि अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थों का निबन्धन दोष है, पर उनका कहना यह है कि प्राचीन काल के कवि परम्परा से जिन बातों का वर्णन करते आ रहे हैं, आज इस काल और इस देश में वे बातें नहीं मिलतीं, तो भी उन्हें हम दोष नहीं कह सकते, जबकि शास्त्र अनन्त हैं, काल अनन्त है और देश भी अनन्त है। इसलिए लोक और शास्त्र-विरोधी वे ही बातें कवि-समय के अन्तर्गत आती हैं जिन्हें प्राचीन काल के पण्डित सहस्रशाख वेदों का अवगाहन करके, शास्त्रों का अवबोध करके, देशान्तर और द्वीपान्तर का परिभ्रमण करके निश्चित कर गये हैं। देश-कालवश उनका यदि व्यतिक्रम हो भी गया हो तो उन्हें अस्वीकार नहीं करना चाहिए।

1. कवि समय

काव्य-मीमांसा के देखने से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि राजशेखर स्वयं प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षक थे और उनके मत से प्राकृतिक निरीक्षण का अभाव कवि का महान् दोष था। उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि जो कवि अनुसन्धान नहीं करता, उसके गुण भी दोष हो जाते हैं और जो सावधान रहता है, उसके दोष भी गुण हो जाते हैं (काव्यमीमांसा, अ. 18)। काव्य में इसी निरीक्षण को प्रवृत्त करने के लिए उन्होंने काव्य-मीमांसा में देश-काल-विभाग की सुन्दर अवतारणा की है। कवि-समयवाला अध्याय उनके अनुसन्धान का ही फल है। कवियों के काव्य में जो कवि-समय सुप्त की तरह पड़ा हुआ था, उसे उन्होंने यथाबुद्धि जगा दिया (काव्य-मीमांसा, अ. 16, पृ 89)। बाद के आलंकारिकों में से कितनों ही ने आँख मूँदकर उनका अनुकरण किया है। इनमें अजितसेन का अलंकार-चिन्तामणि (पृ. 7-8), अमर की काव्य-कल्पलतावृत्ति (द्वितीय प्रतान, पृ. 30-31) और देवेश्वर की कवि-कल्पलता (पृ. 40-42) उल्लेख-योग्य है। केशव मिश्र का अलंकारशेखर इस दिशा में यद्यपि राजशेखर के प्रदर्शित मार्ग पर ही चलता है, पर उसमें अनेक अन्य विषयों का भी समावेश है। राम तर्कवागीश ने साहित्य-दर्पण की टीका में हू-ब-हू अलंकारशेखर की बातें ही उद्धृत कर दी हैं।

साहित्य-दर्पण के दोषप्रकरण में विश्वनाथ ने भी कवि-समय (आख्यात) का उल्लेख किया है (साहित्य-दर्पण 7-23, 24, 25)। इसकी और काव्यमीमांसा की प्रायः सभी बातें मिलती हैं। पर कुछ विशेष बातें भी हैं। विश्वनाथ ने शायद सर्वप्रथम कवि-समय के प्रसंग में वृक्षदोहद का उल्लेख किया है। इसके बाद अलंकार-शेखर में केशव मिश्र ने भी अशोक और बकुल के दोहदों को कवि-समय के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

2. वृक्ष-दोहद

'दोहद' शब्द का अर्थ गर्भवती की इच्छा है। कहा गया है कि यह शब्द 'दौहृद' शब्द का, जिसका अर्थ इसी से मिलता है, प्राकृत रूप है। कालक्रम से यह प्राकृत शब्द ही संस्कृत भाषा मे गृहीत हो गया। वृक्ष के साथ 'दोहद' शब्द का पुष्पोद्गम के अर्थ मे प्रयोग होता है। शब्दार्णव के अनुसार कुशल व्यक्तियो द्वारा तरुगुल्म-लता प्रभृति मे जिन द्रव्यों और क्रियाओ से अकाल मे ही पुष्पोद्गम कराया जाता है, उसे दोहद कहते है (मेघदूत 2-17 पर मल्लि-टीका)। नैषधीय चरित (3-21), रघुवंश (8-62) और मेघदूत में इसी अर्थ मे इन शब्दो का प्रयोग हुआ है। संस्कृत-काव्य और मूर्ति तथा चित्र-शिल्प मे स्त्रियो के पदाघात से अशोकवृक्ष के पुष्पित होने की बहुत चर्चा है। इसके बाद बकुलवृक्ष के दोहद का उल्लेख है। बकुल स्त्रियों की मुखमदिरा से सिंचकर पुष्पित हो जाता है। कालिदास के ग्रन्थो मे अशोक और बकुल इन दो वृक्षों के दोहद का ही उल्लेख है। मल्लिनाथ ने मेघदूत 2-17 की टीका में अशोक और बकुल के अतिरिक्त अन्य कई वृक्षो के दोहद का भी उल्लेख किया है। इस श्लोक मे स्त्री के विभिन्न अगों और क्रियाओं के संस्पर्श से प्रियंगु, बकुल, अशोक, तिलक, कुरबक, मन्दार, चम्पक, आम, नमेरु और कर्णिकार के पुष्पित होने की बात है (तत्-तत् प्रकरण देखिए)। इस वृक्ष-दोहद को मल्लिनाथ 'कवि-प्रसिद्धि' कहते है; पर काव्यमीमासा या उसके अनुयायी ग्रन्थों में वृक्ष-दोहद-सम्बन्धी 'कवि-समय' की बिल्कुल चर्चा नही है। केवल साहित्य-दर्पण और अलंकार-शेखर अशोक और बकुल-सम्बन्धी कवि-प्रसिद्धियो का उल्लेख करते है। काव्य-मीमांसा में 'कवि-समय' के प्रकरण मे वृक्ष-दोहद का उल्लेख न होने पर भी उसी ग्रन्थ से अशोक, बकुल, तिलक और कुरबक-सम्बन्धी प्रसिद्धियो का समर्थन होता है।[1] जान पड़ता है कि राजशेखर इस बात को देश-काल-विरुद्ध नही मानते थे। मल्लिनाथ ने कुमारसम्भव (3-26) की टीका मे अन्यत्र वृक्ष-दोहद-

1. काव्यमीमांसा के तेरहवें अध्याय में ये दो श्लोक उद्धृत हैं—

कुरबक कुचाघात-क्रीडारसेन वियुज्यसे।
बकुलविटपिन् स्मर्तव्य ते मुखासवसेचनम् ॥
चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोकसशोकता-
मिति निजपुरत्यागे यस्य द्विषां जगदु स्त्रिय ॥
मुखमदिरया पादन्यासैर्विलास-विलोकितै-
र्बकुलविटपी रक्ताशोकस्तथा तिलकद्रुमः
जलनिधितटीकान्ताराणां क्रमात् ककुभां जये।
झटिति गमिता यद्वर्गाभिर्विकासमहोत्सवम् ॥

अठारहवें अध्याय के वसन्त-वर्णन में यह श्लोक है—

नालिङ्गितः कुरबकस्तिलको न दृष्टो नो ताडितश्च सुदृशां चरणैरशोकः।
सिक्तो न वक्त्रमधुना बकुलश्च चैत्रे चित्र तथापि भवति प्रसवावकीर्णः ॥

सम्बन्धी कवि-प्रसिद्धियों के प्रसंग में उपर्युक्त चार वृक्षों का चर्चापरक एक संग्रह-श्लोक उद्धृत किया है। ऐसा जान पड़ता है कि राजशेखर को इसी संग्रह-श्लोक से परिचय था। जो हो, संस्कृत साहित्य में वृक्ष-दोहद-सम्बन्धी प्रसिद्धियों में इन चार वृक्षों की ही विशेष रूप से चर्चा है। मूर्तियों और भित्ति-चित्रों आदि में केवल अशोक का पुष्पोद्गम ही चित्रित मिलता है (दे. शीर्षक 3)। अन्य वृक्षों के दोहद हमें देखने को नहीं मिले। केवल एक चित्र देखकर तिलक का सन्देह होता है। उपर्युक्त स्थल पर इसकी चर्चा की जायेगी।

3. वृक्ष-दोहद का मूल

वृक्ष-दोहद भारतीय साहित्य और शिल्प में एक विचित्र चीज है। इसका रहस्य अतीत के धुंधले प्रकाश में आच्छन्न है। आगे इसे समझने की चेष्टा की जा रही है।

इस रहस्य को समझने के लिए एक विस्तृत इतिहास पर धैर्य के साथ दृष्टि-पात करना होगा। विक्रम के सैकड़ों वर्ष पहले भारतवर्ष में एक समृद्ध आर्येतर सभ्यता वर्तमान थी। आर्यों की राजनीतिक और भाषा-सम्बन्धी विजय के बाद यह जाति भी धीरे-धीरे उनकी छत्रच्छाया के अन्दर आ गयी। पर इसके पहले आर्यों के साथ इसका पर्याप्त संघर्ष हुआ होगा। राजनीतिक दृष्टि से इसकी विजय हुई हो या पराजय, परन्तु भारतीय साहित्य और शिल्प पर इस जाति ने अपनी ऐसी अमिट छाप लगा दी है कि हजारों वर्ष की निरन्तर उपेक्षा के बाद भी वह अपने सम्पूर्ण रस-सौन्दर्य के साथ जीवित है। हमारा मतलब यक्षों और नागों से है।

शायद यूरोपियन पण्डितों में से फर्गुसन ने ही पहले-पहल विद्वत्ता के साथ यक्षों और नागों के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व की ओर पण्डित-मण्डली का ध्यान आकृष्ट किया। अपनी पुस्तक 'ट्री ऐण्ड सर्पेण्ट वरशिप' (वृक्ष और साँपों की पूजा) में उन्होंने कहा कि यक्ष और नाग, जो क्रमशः उर्वरता और वृष्टि के देवता माने गये थे, एक जातिवर्ण-हीन दस्यु या असुर जाति के उपास्य थे। क्रमशः ज्यों-ज्यों फर्गुसन के मत की आलोचना होने लगी त्यों-त्यों नये-नये रहस्य प्रकट होते गये। इस सिलसिले में दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं; वोगेल (Vogel) की 'इण्डियन सर्पेण्ट लोर' और ए. के. कुमारस्वामी का 'यक्ष' (दो भाग)। दूसरी पुस्तक में प्राचीन साहित्य और मूर्ति-शिल्प के विस्तृत अध्ययन से इस विषय को प्रकाश में लाया गया है।

किया है। कुबेर, जो एक युग में वरुण के अधीन माने जाते थे, उत्तर दिशा के दिग्पाल माने जाने लगे। पूर्ववर्ती ग्रन्थों और विशेषकर जैन और बौद्ध आगमों से जाना जाता है कि कुबेर, सोम आदि यक्षपति देवाधिदेव वरुण के अधीन देवता थे। बौद्ध आगमों के अनुसार वेस्सण (वैश्रवण—कुबेर) उत्तर के, धतरट्ठ (धृतराष्ट्र) पूर्व के, विरूढक दक्षिण के और विरुपक्ख (विरूपाक्ष) पश्चिम के दिग्पाल हैं। इनके अधीनस्थ यज्ञ मे कुम्भाण्ड, गन्धर्व, अप्सरस् और नाग—ये जातियां हैं जो जल और वृक्ष की अधिष्ठात्री देवता है। ऊपर बताये हुए चारों दिग्पालों की मूर्तियां भरहुत में पायी गयी है और उनका नाम देकर उन्हें यक्ख अर्थात् यक्ष कहा गया है। किस प्रकार बाद को वरुण का स्थान इन्द्र ने ले लिया और किस प्रकार गन्धर्व और अप्सराएँ वरुण के हाथ से च्युत होकर इन्द्र के दरबार की गायक-गायिकाएँ-भर बनी रह गयी, यह बात मनोरंजक होने पर भी यहाँ अप्रासंगिक है। फिर भी, कवि-समय और वृक्ष-दोहद के अध्ययन मे ये बातें बहुत सहायक है, अतएव उनकी कुछ चर्चा करना यहाँ आवश्यक है।

यद्यपि यक्षों और नागों के देवता कुबेर, सोम, अप्सरस् और अधिदेवता वरुण दिग्पाल के रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों में ही स्वीकृत हो चुके थे, पर बाद के साहित्य मे यक्ष और यक्षिणी अपदेवता समझे जाने लगे थे। उनका पुराना पद (जल और वृक्षों का अधिपतित्व) किसी-न-किसी रूप मे रामायण और महाभारत मे स्वीकृत है। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ आती है जिनमें सन्तानार्थिनी स्त्रियां वृक्षों के उपदेवता यक्षों के पास सन्तान-कामना से जाती थीं। वस्तुत. यक्ष और यक्षिणी मूल रूप में उर्वरता के ही देवता थे। भरहुत, बोधगया, साँची, मथुरा आदि मे सन्तानार्थिनी स्त्रियों के इस प्रकार वृक्ष के पास जाकर यक्षों से वर प्राप्त करने की मूर्तियां बहुत अधिक पायी गयी है। इन वृक्षों के पास अंकित स्त्रियां प्राय नग्न उत्कीर्ण है, केवल कटि-देश में एक चौड़ी मेखला पहने हुए हैं। वृक्षों मे अधिकतर न्यग्रोध, प्लक्ष, अश्वत्थ, उदुम्बर आदि वृक्ष ही उत्कीर्ण हैं।

इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय वृक्ष अशोक है। जिस प्रकार वृक्ष-देवता स्त्रियों मे दोहद-संचार करते थे, उसी प्रकार सुन्दरी स्त्रियों की अधिष्ठात्री यक्षिणियां स्त्री-अंग के संस्पर्श से वृक्षों मे भी दोहद-संचार करती थी। अशोकषष्ठी और अशोकाष्टमी व्रत में अशोक वृक्ष की पूजा सन्तान-कामिनी होकर करने का विधान है। चैत्र शुक्ल अष्टमी को अशोक की आठ कोमल पत्तियां भक्षण करने से दोहद-संचार होना धर्मग्रन्थों से स्पष्ट है (निर्णयसिन्धु, तिथितत्त्व आदि)। अशोक वृक्षों में दोहद-संचार करती हुई स्त्रियों की मूर्तियां भारतीय शिल्पकला की अतिपरिचित बात है। मथुरा म्यूजियम में एक ऐसी उत्कीर्ण मूर्ति सुरक्षित है जिसमे एक यक्षिणी अशोक वृक्ष की शाखा पकड़े खड़ी है और पादाघात से अशोक को कुसुमित कर रही है। तंजोर के सुब्रह्मण्यम् मन्दिर के द्वार पर एक यक्षिणी-मूर्ति अशोक मे दोहद उत्पन्न करती हुई उत्कीर्ण है। इसका वाहन मकर है और हाथ में लीलाम्बुज है। मथुरा की एक मकरवाहना यक्षिणी-मूर्ति आजकल लखनऊ

म्यूजियम में सुरक्षित है। यह भी अशोक वृक्ष में दोहद उत्पन्न करती हुई उत्कीर्ण है। एक इसी प्रकार की मूर्ति बोस्टन की ललित-कला-प्रदर्शनी (म्यूजियम आफ फाइन आर्ट्स) में रखी हुई है। यह भी मथुरा में पायी गयी थी और समय के हिसाब से ईसा से लगभग दो सौ वर्ष पुरानी है। सम्भवतः पुन्नाग (तिलक ?) वृक्ष में दोहदोत्पादिनी एक मूर्ति कलकत्ता म्यूजियम में है, जो भरहुत के एक रेलिंग पिलर पर उत्कीर्ण थी। इसका समय भी सन् ईसवी के लगभग दो सौ वर्ष पूर्व है। ऐसी और भी अनेक मूर्त्तियाँ नाना प्रदर्शनियों में सुरक्षित हैं।

भरहुत, साँची, मथुरा आदि में प्राप्त यक्षिणी-मूर्त्तियों का शरीरगठन और बनावट देखकर इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि ये स्त्रियाँ पहाड़ी जाति की हैं। असल में यक्ष और नागपूजक जातियाँ उत्तर की रहनेवाली थीं। सारे उत्तर भारत में प्राचीन शिल्पकार्य इन्हीं जातियों की कृतियाँ हैं। गुप्तकाल में जब कि भारतीय सभ्यता आर्य और आर्येतर सभ्यताओं के मेल से नये रूप में समृद्ध हो उठी, काव्य और शिल्प में यक्षों और नागों का सम्पूर्ण ग्रहण हुआ।

4. गन्धर्व, अप्सराएँ और कवि-प्रसिद्धियाँ

पूर्व-वैदिक युग में गन्धर्व और अप्सराएँ एकदम अपरिचित थीं। धीरे-धीरे उत्तर-वैदिक काल में आर्य लोग इन्हें लक्ष्य करने लगे। सोम इन्हीं गन्धर्वों के हाथ में था (शत. 3-3-3-11)। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ में इन्द्र का प्रतिनिधि गन्धर्वों से सोम क्रय करता है। कुमारस्वामी ने प्रमाणपुरस्सर सिद्ध किया है कि गन्धर्व वृक्षों के अधिष्ठाता और अप्सराएँ उर्वरता की अधिष्ठात्री देवियाँ मानी जाती थीं (यक्ष, प्रथम भाग—पृ. 32-33)।[1] हम यक्ष और यक्षिणियों के वृक्ष और उर्वरता की अधिष्ठात्री होने की चर्चा कर चुके हैं। असल में यक्ष और यक्षिणी और गन्धर्व और अप्सरा एकार्थवाचक देवता हैं। शुरू में ये कुबेर के अनुचर माने जाते थे। पर जब हिन्दूधर्म में इस प्रकार की प्रवृत्ति आयी कि आर्येतर देवताओं में जो उत्तम है वह इन्द्र के पास होना चाहिए (और भी बाद में ये वस्तुएँ उपेन्द्र या विष्णु की होने लगीं) तो गन्धर्व और अप्सरस् तो इन्द्र के अनुचर हो गये और साधारण अर्थवाचक यक्ष और यक्षिणी कुबेर के अनुचर माने जाते रहे। यहाँ एक बात कह रखना आवश्यक है कि शतपथ ब्राह्मण (9-4-1-2 और 4) के अनुसार गन्धर्व और अप्सराएँ मिथुन रूप में प्रजापति से उत्पन्न हुई थीं। उर्वशी की कहानी के प्रसंग में शतपथ (11-5-1-4) में अप्सराओं को हंसिनी के रूप में पानी में तैरते वर्णन किया गया है।

प्राचीन विश्वास के अनुसार वरुण समुद्र के देवता हैं और सारी सृष्टि इसी

1. ए के कुमारस्वामी निम्नांकित प्लेटें देखने को कहते हैं : Banerji, R. D. : Bas Reliefs of Badami, Mem A. S. I. 25, Plates XI, XXIc. XXXIII a और c इत्यादि।

देवाधिदेव से उत्पन्न हुई है। समुद्र और जल के देवता होने के कारण वरुण का वाहन मकर है। उनकी स्त्री गौरी का वाहन भी मकर है। अग्निपुराण (51 वाँ अध्याय) में वरुण को मकरवाहन कहा गया है और विष्णुधर्मोत्तर (2-52) मे मकरकेतन। वरुण का मकरवाहन होना अनेक प्राचीन मूर्त्तियो और चित्रों में अंकित है। बदामी, मैसूर और भुवनेश्वर के लिंगराज मन्दिर की अनेक मूर्त्तियाँ इस बात का प्रमाण है।

हरिवंश और भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कामदेव के अवतार है। विष्णुधर्मोत्तर (3-58) के अनुसार कामदेव और उनकी स्त्री रति क्रमशः वरुण और उनकी पत्नी गौरी के अवतार हैं। यहाँ वरुण को मकरवाहन न कहकर मकरकेतन कहा गया है। जैन आगमों से स्पष्ट है कि कामदेव एक यक्षाधिप (उत्तराध्ययन टीका, जैकोबी, पृ. 39) थे। वेसनगर में शुंग (तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व) का एक मकरध्वज स्तम्भ तीन फुट ऊँचा पाया गया है जो ग्वालियर म्यूजियम में सुरक्षित है।[1] बदामी में[2] रति के साथ मकरवाहन और मकरकेतन काममूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। पण्डितों का, इसीलिए, अनुमान है कि कामदेव और यक्षाधिपति वरुण मूलतः एक ही देवता है, और नही तो कम-से-कम एक ही देवता के दो भिन्न रूप तो हैं ही (बुद्धचरित 10-2)। बौद्ध मार यक्ष कामदेव का रूप है ही। पौराणिक आख्यानों से यह प्रकट ही है कि कामदेव के प्रधान सहायक गन्धर्व और अप्सराएँ है। कामदेव स्वयं उर्वरता और प्रजनन के देवता है। यक्षों और यक्षिणियो का सम्बन्ध सदा वृक्षो और जलाशयों से रहा है। इसीलिए कामदेव भी स्वभावतः वृक्षों के देवता सिद्ध होते हैं। वसन्त उनका मित्र है जो वृक्षों में नवजीवन सचार किया करता है। धनुष और बाण उनके पुष्पमय हैं।

मकर का भारतीय संस्कृति और काव्यकला मे एक विशिष्ट स्थान है, क्योकि वरुण समुद्र के अधिपति है, और मकर समुद्र का प्रतीक है। जल का एक और प्रतीक है कमल। शतपथ ब्राह्मण (8-4-1-7) में जल को कमल कहा गया है और यह पृथ्वी उस कमल का एक दल कही गयी है। प्राचीन रजन-शिल्प में कमल का इसीलिए इतना प्राचुर्य है कि वह जल का और फलतः जीवन का प्रतीक होने से अत्यन्त मंगलमय समझा जाता था। कमल में ही वरुण और उनकी स्त्री गौरी वास करती हैं। समुद्र रत्नालय है और वरुण समुद्राधिपति। इसीलिए उन्हें लक्ष्मीनिधि माना जाता था। बाद में यह शब्द कुबेर का वाचक हो गया। मगर यह एक लक्ष्य करने की बात है कि समुद्रोत्पन्न लक्ष्मी का, जो बाद मे विष्णु की पत्नी हुई, एक नाम वरुणानी भी है। कवि-प्रसिद्धि के अनुसार लक्ष्मी और सम्पद् एकार्थक है (दे. शीर्षक-31) और कमल में लक्ष्मी का वास है। इस प्रसग में

1. Cunningham, A. S. : Reports, P. 42-43, Plate XIV.
2. R. D. Banerji : Bas Reliefs of Badami, Mem A. S. I. 25., 1928, P. 34.

वरुणानी शब्द का भी संकेत पूर्ण है।[1]

अब यक्ष-पूजा और अनेक कवि-प्रसिद्धियों का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। वृक्ष-दोहद का तो यक्ष-पूजा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है ही, अन्यान्य बातों का भी यथेष्ट सम्बन्ध है। इससे यह बात काफी स्पष्ट हो जाती है कि सर्वत्र जलाशयों में कमल का वर्णन इसलिए किया जाता है (दे. शीर्षक 19) कि कमल जल और जीवन का प्रतीक है। इसी प्रकार सर्वत्र जलाशयों में हंसों का वर्णन करना भी कवियों का सम्प्रदाय है; क्योंकि हंस-मिथुन यक्ष और यक्षिणियों के प्रतीक हैं जो जल और वृक्षों के तथा रस और उर्वरता के देवता हैं। प्राचीन काल में नव-वधू के परिधान-दुकूल पर हंस-मिथुन अंकित हुआ करते थे।[2] यह मंगलमय समझा जाता था, क्योंकि हंस-मिथुन उर्वरता और रस के प्रतीक माने जाते थे। केवल काव्य में ही नहीं, मन्दिरों, स्तम्भों आदि पर भी हिन्दू कलाकारों ने सर्वत्र नदी, तालाब और समुद्र में हंस-मिथुन और कमल प्रचुर मात्रा में अंकित किये हैं। इसी प्रकार मकर का वर्णन केवल समुद्र में ही होता भी। इस तरह स्पष्ट हो जाता है (दे. शीर्षक 32-1) कि मकर समुद्र का ही प्रतीक और वरुण का वाहन है। इसी तरह कामदेव के पुष्पमय बाणों की प्रसिद्धि का मूल कारण (दे. शीर्षक 7-1), लक्ष्मी और सम्पद् की एकता (शीर्षक 31) तथा लक्ष्मी का कमलवास (शीर्षक 19-4) इत्यादि अनेक बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

5. अशोक

[1]

कवि-प्रसिद्धि है कि अशोक में फल नहीं होते।[3] इस वृक्ष के विषय में वैद्यों में मतभेद है। पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार में एक तरह के प्रलम्ब और तरंगायित पत्रोंवाले वृक्ष को 'अशोक' कहते हैं। इसके फल काले-काले और गोल-गोल होते हैं। वैद्य लोग भी इसका व्यवहार करते हैं। पर अन्याय प्रदेश के वैद्य इसे अशोक नहीं मानते। यह असल में अशोक है भी नहीं। सुश्रुत की टीका में डल्हण ने लिखा है[4] कि अशोक के पुष्प लोहित या लाल होते हैं। निघण्टुकारों ने इसका नाम रक्तपल्लव, मधु-पुष्प बताया है।[5] इन नामों से अनुमान होता है कि यह वसन्त में खिलता है, फूल सुनहरे और पल्लव लाल होते हैं। अर्थात् वैद्यक-शास्त्रकारों ने दो तरह के अशोक-पुष्प लक्ष्य किये हैं, लाल और सुनहरा। रामायण में अशोक-पुष्प के अंगारसमान स्तवकों (गुच्छों) का वर्णन पाया जाता है।[6] राजशेखर ने

1. विशेष विस्तार के लिए देखिए A. K. Coomarswami : Yaksa, Vol II.
2. कुमारसम्भव, 5-67
3. काव्यमीमांसा, अध्याय 14; साहित्यदर्पण, 7-25; अलंकारशेखर, मरीचि 15
4. सुश्रुत, सूत्रस्थान, अध्याय 38
5. भावप्रकाश, पुष्पवर्ग 41-12
6. वाल्मीकि रामायण, 4-1-29

अपनी काव्य-मीमांसा में अशोक के तीन प्रकार के पुष्पों का वर्णन किया है—लाल, पीत और नील।[1] रामायण (वाल्मीकीय) में नील अशोक-पुष्पों का वर्णन पाया जाता है।[2] कालिदास ने सुन्दरियों के नील अलक में पिरोये अशोक-पुष्पों का उल्लेख किया है।[3] वसन्तकाल में, कवि ने बताया है कि, केवल अशोक के पुष्प ही उत्तेजक नहीं हैं, उसके किसलय भी प्रिया के श्रवणमूल में विराजमान होकर मादक हो गये हैं।[4] उन दिनों अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग, शिरीष और प्रियगु के वृक्ष मांगल्य समझे जाते थे और उपवनों और प्रासादों के अग्र भाग में लगाये जाते थे।[5] इसीलिए उस युग के कवियों की दृष्टि सबसे पहले इन वृक्षों पर पड़ती थी। कालिदास को यह वृक्ष अत्यन्त प्रिय था। कुमारसम्भव में अशोक-पुष्पाभरण-धारिणी उमा के सौन्दर्य का बड़ा सुन्दर वर्णन है।[6] मल्लिनाथ ने अशोक-कल्प से[7] एक श्लोक उद्धृत करके बताया है कि अशोक-पुष्प दो प्रकार के होते है, श्वेत और रक्त। पहला सर्व-सिद्धिदायक है और दूसरा (लाल) स्मरवर्द्धक है। इसीलिए कालिदास ने लाल फूल का ही वर्णन किया है।

यद्यपि यह वृक्ष कवियों को इतना प्रिय रहा है तथापि यह आश्चर्य की बात है कि इसके किसलय और पुष्प के सिवा और किसी अंग का वर्णन नहीं किया गया। बहुत-से कवियों ने तो साफ लिखा है कि इसके फल नहीं होते[8] जबकि असल में अशोक वृक्ष के फल होते हैं। फूल इसके गुच्छाकार होते हैं। कालिदास ने इन गुच्छों का वर्णन किया है।[9] पहले इनका रग पके नीबू के फल के रग का होता है और बाद में लाल हो जाता है। इसके पत्र-प्रान्त ईषत् तरंगायित होते है। तरुणावस्था मे पत्ते लम्बे-लम्बे लाल रहते हैं। बाद मे हरे हो जाते है। इसके फल छीमियों के रूप में होते है।[10] ब्राण्डिस ने दो तरह के अशोकों का उल्लेख किया है।[11]

[2]

एक दूसरी कवि-प्रसिद्धि है कि सुन्दरियों के पदाघात से अशोक में पुष्प खिल

1. काव्यमीमांसा, 18
2. वा. रा. 4-1-79
3. ऋतुसहार, 6-5
4. रघुवश, 5
5. बृहत्सहिता, 52-3
6. कुमारसम्भव, 3-53
7. मेघदूत, 2-17 पर मल्लिनाथ की टीका।
8. काव्यमीमासा, 14
9. रघुवश, 13
10. विरजाचरण गुप्त · वनौषधिदर्पण, पृ 46
11. Brandis : Indian Trees, P. 15 and 25.

जाते हैं। राजशेखर ने कवि-समय के प्रसंग में इसका कोई उल्लेख नहीं किया तथापि उनकी काव्य-मीमांसा में ही इस विश्वास के पोषक उदाहरण मिल जाते हैं।[1] महाकवि कालिदास को इस विश्वास की जानकारी थी।[2] मालविकाग्निमित्र के तृतीय अंक की सारी कथा मालविका के पदाघात से अशोक-वृक्ष को पुष्पित कर देने की क्रिया को केन्द्र करके रचित हुई है।[3] कुमारसम्भव में वसन्त का माहात्म्य वर्णन करते हुए महाकवि ने बताया है कि अशोक स्कन्ध पर पल्लवित और कुसुमित हो गया, उसने सुन्दरियों के आसिञ्जितनूपुर-चरणों की अपेक्षा न की।[4] रत्नावली नाटिका में भी इस विश्वास का समर्थन पाया जाता है।[5] बाद के कवियों ने तो इसका भूरि-भूरि वर्णन किया है।[6] आलंकारिकों ने यह नहीं बताया है कि अशोक पर पदाघात करते समय स्त्री के पैर में नूपुर रहना आवश्यक है या नहीं और न यही बताया है कि स्त्री के किस पैर की चोट से अशोक वृक्ष में पुष्पोद्गम होता है। कुमारसम्भव (3-36) की व्याख्या में मल्लिनाथ ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें बताया गया है कि नूपुर के शब्द सहित चरणों के आघात से ही अशोक कुसुमित होता है। मेघदूत के यक्ष ने मेघ से अपने उद्यान के अशोक-वृक्ष के वर्णन के सिलसिले में कहा है कि वह तुम्हारी सखी (यक्षिणी) के वामपाद का अभिलाषी है।[7] उत्कीर्ण मूर्त्तियों में अशोक दोहद-समुत्पादिनी यक्षिणियों के वाम पैर ही वृक्ष में आघात देने के लिए उठे हुए अंकित हैं।[8] राजनिघण्टु के अनुसार अशोक का एक नाम वामांघ्रिघातन भी है।[9] इसमें का 'वामांघ्रि' पद 'बायाँ चरण' और 'स्त्री का चरण' दोनों का वाचक हो सकता है।

6. कर्णिकार

कर्णिकार वृक्ष के आगे स्त्रियाँ अगर नृत्य करें तो वह पुष्पित हो जाता है।[10] भावप्रकाश के मत से इस वृक्ष के दो नाम और है—परिव्याध और पद्मोत्पल।[11] लेकिन इन नामों से इस पुष्प के सम्बन्ध में विशेष कुछ जाना नहीं जाता। राजनिघण्टुकार के मत से क्षुद्र आरग्वध को ही कर्णिकार कहते हैं। आरग्वध को हिन्दी

1. साहित्यदर्पण 7-24, मेघदूत 2-17 मल्लिनाथ टीका; कुमारसम्भव, 3-26 मल्लिनाथ की टीका, अलंकारशेखर, 15
2. दे. श. 2
3. मालविकाग्निमित्र, 3-12
4. कुमारसम्भव, 3-26
5. रत्नावली, 1-15
6. सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृ. 379
7. मेघदूत, 2-17
8. *A. K. Coomarswami, Yaksa, pl. 6. fig. 1 & 3*
9. शब्दकल्पद्रुम, प्रथम खण्ड., पृ. 137
10. मेघदूत, 2-17 पर मल्लिनाथ की टीका।
11. भावप्रकाश, पुष्पवर्ग 40

में अमलतास कहते हैं। बंगाल में यह 'सोनालु गाछ' या सुनहरा वृक्ष कहलाता है।[1] शान्ति-निकेतन में आरग्वध के वृक्ष हैं। इनके फूल पीले और फल लम्बी-लम्बी कड़ी छीमियों के रूप में होते हैं जिनमें पक्तिबद्ध बीज होते हैं। वनौषधि-दर्पणकार के मत से कर्णिकार के ये ही लक्षण हैं। अमलतास का वृक्ष वैशाख-जेठ के महीने में फूलता है, किन्तु छोटा अमलतास या लघु आरग्वध कुछ पहले ही फूलता है। रामायण में वसन्त-वर्णन के अवसर पर कर्णिकार के सुनहरे पुष्पों का वर्णन मिलता है।[2] इससे वृक्ष की यष्टिमान आकृति का भी आभास मिलता है।[3] असल में कर्णिकार वृक्ष नातिस्थूल होता है। महाकवि कालिदास ने वसन्त में कर्णिकार पुष्पों को खिलते देखा था।[4] उनके मत से भी कर्णिकार के फूल सुनहरे होते हैं।[5] इसी प्रकार राजशेखर ने[6] वसन्त में ही कर्णिकार वृक्ष का प्रस्फुटित होना बताया है। कवियों ने कर्णिकार-पुष्प को निर्गन्ध कहा है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर विचारने से कोई सन्देह नहीं रह जाता कि क्षुद्र आरग्वध या छोटे फूलोंवाला अमलतास ही कर्णिकार है। ब्राण्डिस ने इसे केसिया (Cassia) जाति का वृक्ष माना है। उनके वर्गीकरण के अनुसार यह और अशोक एक ही श्रेणी के वृक्ष हैं। कालिदास ने प्रायः ही कर्णिकार और अशोक की एक साथ चर्चा की है।[7] उस युग में सुन्दरियाँ कभी कान में और कभी केश में कर्णिकार और अशोक-पुष्पों को धारण करती थीं। ऋतुसंहार में कान में नवकर्णिकार-पुष्प और चचल नील अलकों में अशोक-पुष्प सुशोभित दिखता है, तो कुमारसम्भव में पार्वती नील-अलकों में नवकर्णिकार-पुष्पों को धारण किये दिखती है।[8] महाकवि ने शायद इसके रंग के कारण ही इसमें अग्नित्व का आभास पाया था।[9]

कर्णिकार वृक्ष अयत्नसम्भूत होता है और सारे भारतवर्ष तथा ब्रह्म देश में पाया जाता है; सिन्ध की घाटियों और पेशावर की ओर बहुतायत से मिलता है। उत्तरी हिमालय के प्रदेशों में इसे चार हजार फुट की ऊँचाई पर फूलते देखा गया है। यात्रियों ने हिमालय प्रदेश के कर्णिकार-वृक्षों के सौन्दर्य की उच्छ्वसित प्रशंसा की है।[10]

हिन्दी में जिस पुष्प को कनेर कहते हैं उससे कर्णिकार का शायद रंग-साम्य

1. वनौषधिदर्पण, (1839 शक), पृ. 76
2. रा, 1-21
3. रा., 4-1-73
4. ऋतुसंहार, 6-5
5. कुमारसम्भव, 3-53
6. काव्यमीमांसा, अध्याय 18
7. कुमारसम्भव, 3-28
8. ऋतुसंहार, 5-5; कुमारसम्भव, 3 62
9. ऋतुसंहार, 6
10. Indian Trees, P. 253

के सिवा और कोई सम्बन्ध नहीं।

7. कामदेव

कामदेव के सम्बन्ध में कई कवि-प्रसिद्धियाँ है। इनको दो श्रेणियों मे विभाजित कर सकते है। पहली में उनके शस्त्रों-सम्बन्धी प्रसिद्धियाँ है और दूसरी मे स्वय काम-सम्बन्धी। इस प्रकार: (1) कामदेव के धनुष और बाण पुष्पमय हैं, धनुष की मौर्वी रोलम्बमाला या भ्रमर-श्रेणी की है और इनके बाणों से युवकों का हृदय फट जाया करता है।[1] (2) ये मूर्त भी हैं और अमूर्त भी, उनके ध्वज मे मत्स्य और मकर एकार्थवाचक है।[2]

(1) पौराणिक कथा है कि कामदेव को शिव ने जब भस्म किया तो उनका मणिखचित धनुष पाँच टुकड़ों में विभक्त होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। रुक्मविभूषित पृष्ठवाला मुष्टिबन्ध (मूठ) चम्पा का फूल हुआ, वज्र (हीरा) का बना हुआ वह नाह स्थान बकुल पुष्प हुआ, इन्द्रनील-शोभित कोटि-देश पाटल पुष्प मे परिवर्तित हो गया था, नाह और मुष्टिबन्ध का मध्यवर्ती स्थान, जो चन्द्रकान्त मणि की प्रभा से प्रदीप्त था, जाती-पुष्प हुआ और मूठ के ऊपर और कोटि के नीचे का हिस्सा जिसमें विद्रुम मणि जड़ी थी, मल्ली के रूप मे पृथ्वी पर पैदा हुआ।[3] तब से काम का धनुष पुष्पमय होकर ही पृथ्वी पर विराजमान है। कामदेव के पुष्पमय पाँच बाणो मे अरविन्द (कमल), अशोक, आम, नवमल्लिका और नीलोत्पल हैं। किसी-किसी के मत मे द्रावण, शोषण, तापन, मोहन और उन्मादन; या सम्मोहन, समुद्वेगबीज, स्तम्भनकारण, उन्मादन, ज्वलन और चेतनाहरण ये कामबाण है; या सम्मोहन, उन्मादन, शोषण, तापन और स्तम्भन ये ही कामबाण है। एक और मत यह है कि पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये ही पाँच कामदेव के बाण है।[4]

एक पौराणिक आख्यान इस प्रकार है: ब्रह्मा ने सन्ध्या नामक एक कन्या को उत्पन्न किया। लड़की ज्यो ही पैदा हुई कि ब्रह्मा और उसकी लड़की दोनों के मन को काम ने अपने बाणों से विक्षुब्ध किया। इससे प्रजापति और सन्ध्या दोनों बहुत लज्जित हुए। सन्ध्या ने बाद को घोर तप करके विष्णु से यह वर माँग लिया कि अब से पैदा होते ही किसी आदमी को काम विक्षुब्ध न कर सके। तब से विष्णु ने नियम कर दिया कि काम केवल युवकों का ही मन या हृदय विद्ध कर सकता है और क्वचित् कदाचित् किशोर-किशोरियों का।[5] कवियों ने काम के बाणों से युवक-युवतियों के हृदय का फटना अनेक प्रकार से वर्णन किया है।

1. साहित्यदर्पण, 7-24
2. काव्यमीमांसा, अध्याय 16; अलंकारशेखर, 15
3. वामनपुराण, अध्याय 6
4. काव्यमीमांसा, अध्याय 16
5. कालिकापुराण, अध्याय 19-22

(2) ऊपर जो प्रजापति और सन्ध्या की कहानी दी हुई है उसी के अनुसार प्रजापति ने काम को यह शाप दिया कि वह शिव के नेत्राग्निसम्भूत अग्नि में जले। कामदेव जब इस शापवश भस्म हुआ तो उसकी स्त्री रति ने कठिन तपश्चरण से शिव को सन्तुष्ट किया और यह वर पाया कि काम अमूर्त्त भाव से ही प्राणियों में संचरित होगा और द्वापर में श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में मूर्त्त रूप ग्रहण करेगा। तब से काम के मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों रूपों का कविजन वर्णन करते आये हैं। यह लक्ष्य करने की बात है कि मूर्त्तियों में काम और रति की मूर्त्तियाँ सर्वत्र साथ ही उत्कीर्ण पायी गयी हैं।

कामदेव के और वरुण के तथा अन्यान्य यक्षों और यक्षिणियों के रूप में मकर का इतना अधिक और इतने प्रकार से भारतीय शिल्प में चित्रण है कि उसके विषय में कुछ विशेष कहना व्यर्थ है। बदामी, कैलासनाथ, एलोरा आदि में मकरध्वज के साथ काम और रति की मूर्त्तियाँ पायी गयी हैं।[1] मकरकेतन और झषकेतन एकार्थ-वाचक है, इस पर से आनन्दस्वामी का अनुमान है कि शतपथ ब्राह्मण (1-8-1) का सींगवाला झष और मकर एक ही वस्तु है।[2] वास्तव में इस प्रकार के मकर उत्कीर्ण भी हैं। सन् ईसवी से पूर्व के मकरध्वज बेसनगर में प्राप्त हुए हैं।

8. कुन्द

कुन्द का पुष्प सफेद रंग का होता है। यह सारे भारतवर्ष में पाया जाता है। रामायण में वसन्त के समय इसके खिलने का उल्लेख है।[3] इसके कुड्मल ठीक सफेद नहीं होते। मूल के पास से पंखड़ियों का ऊपरी भाग ईषत् रक्ताभ होता है, पर फूल विकसित होने पर एकदम सफेद दिखायी देता है। कवि-प्रसिद्धि है कि इसके कुड्मल भी सफेद होते हैं।[4] इस सम्बन्ध में उल्लेख-योग्य बात इतनी ही है कि काव्य-मीमांसा, कवि-कल्पलता-वृत्ति, अलंकारशेखर आदि के मत से कुन्द के कुड्मल वास्तव में लाल होते हैं। किन्तु अजितसेन के अलंकार-चिन्तामणि के अनुसार वे असल में हरित होते हैं। कविगण इसके कुड्मल को श्वेत ही वर्णन करते हैं।[5]

9. कुमुद

धन्वन्तरि-निघण्टु के मत से पद्म के सात भेद हैं (पद्म-प्रकरण देखिए)। कुमुद

1. Yaksa 11. P. 25. और भी देखिए शीर्षक 4,
2. वही, पृ. 52
3. रामायण 4-1-77
4. काव्यमीमांसा, अध्याय 15; अलंकारशेखर, मरीचि 15; अलंकारचिन्तामणि, पृ. 7-8; कविकल्पलतावृत्ति 2, पृ. 30-31; कविकल्पलता पृ. 41
5. माघ 11-7

उनमें से एक है।[1] उक्त निघण्टु के मत से कुमुद का ही दूसरा नाम कल्हार है। किन्तु अमरकोष के अनुसार सौगन्धिक ही (श्वेत पद्म) कल्हार कहलाता है, कुमुद नहीं।[2] भाव-प्रकाश में भी कुमुद और कल्हार को अलग-अलग माना है।[3] भाव-प्रकाश और अमरकोष[4] दोनों के मत से कुमुद केवल सफेद ही होता है, लेकिन कई वैद्य एक लाल कुमुद का भी वर्णन करते है।[5] डल्हण ने इसका लोकनाम 'कुइया' कहा है।[6] कालिदास ने कुमुद का वर्णन शरत्काल में किया है।[7]

जिस प्रकार पद्म का वर्णन सर्वत्र जलाशयों में करना कवि-समय है, उसी प्रकार कुमुद का भी।[8] केवल दिन में इसका विकसित होना नहीं माना जाता।[9] भाव-प्रकाश के मत से नाल-पत्र आदि सर्वावयव-सम्पन्न कुमुद को कुमुदिनी कहते हैं।[10]

10. कुरबक

कुरवक स्त्रियों के आलिंगन से पुष्पित हो जाता है। अमरसिंह के मत से यह झिण्टी का एक भेद है। झिण्टी चार प्रकार की होती है—रक्त, श्वेत, पीत और नील पुष्पोंवाली। धन्वन्तरि-निघण्टु के मत से पीत सौरेयक (या झिण्टी) को कुरण्टक और रक्त को कुरवक कहते है। झिण्टी को हिन्दी में कटसरैया या पियावासा कहते हैं। लाल फूलों की कटसरैया ही कुरवक कहलाती है। अमरकोष के अनुसार भी कुरबक के फूल लाल होते है। रामायण के वसन्त-वर्णन में रक्त-कुरवकों का उल्लेख मिलता है।[11] कालिदास ने श्यामावदातारुण अर्थात् कालिमा सफेदी लिये हुए लाल कुरवक पुष्पों का वर्णन किया है।

मेरे मित्र प्रो. हरिदास मित्र ने, जिनको वृक्ष-विज्ञान के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी है, शान्ति निकेतन में लगे हुए एक वृक्ष को कुरवक बतलाया है। यह वृक्ष कचनार की जाति का है। कद में कुछ छोटा और ज रा झाड़ीदार होता हैं। देखने से पहले जान पड़ता है कि कचनार ही है। वसन्त के आरम्भ में ही फूलता है, फूल सादे होते हैं, वृन्त के पास पखड़ियों के किनारे पर ईषत् लालिमा होती है। इस

1. वनौषधिदर्पण, पृ. 401
2. अमरकोष, 10-35
3. भावप्रकाश, 1-1 पुष्पवर्ग।
4. अमर, 10-36
5. वनौषधिदर्पण, पृ. 501
6. सुश्रुत सूत्रस्थान, 13-13 टीका।
7. ऋतुसंहार, 3-2
8. काव्यमीमांसा, अध्याय 13; अलंकारशेखर, मरीचि 15; कविकल्पलता द्वितीय प्रतान इत्यादि।
9. काव्यमीमांसा।
10. भावप्रकाश, पुष्पवर्ग, 1-2
11. रा., 1-21

पुष्प को देखकर कोविदार का स्मरण हो आता है। निघण्टुकारों ने कोविदार और काञ्चनार को एक ही पुष्प माना है। पर भाव मिश्र ने दोनों का अलग-अलग पाठ किया है।[1] भाव मिश्र के मत से काञ्चनार शोण-पुष्प या लाल फूलों का होता है और कोविदार श्वेत पुष्प का। राजशेखर ने वसन्त-वर्णन के प्रसंग में काञ्चनार और कोविदार का अलग-अलग वर्णन किया है।[2] लेकिन रामायण[3] और ऋतुसंहार[4] में कोविदार पुष्प का वर्णन शरद् ऋतु में किया गया है। हमें ठीक नहीं मालूम कि कोई काञ्चनार शरद् ऋतु में खिलता है या नहीं, पर ऊपर के उद्धरणों से इतना तो स्पष्ट ही है कि राजशेखर और भाव मिश्र एक तरह का कोविदार जानते थे और वाल्मीकि और कालिदास दूसरी तरह का। हरिदास बाबू का वृक्ष भाव मिश्र सम्मत कोविदार तो नहीं है? अन्ततः वह कुरवक तो नहीं ही है।

कालिदास ने कुरवक-पुष्प वसन्त ऋतु में खिलते देखा था। रघुवंश में इसका वर्णन वसन्त में आया है।[5] मालविकाग्निमित्र के वसन्त-वर्णन का ऊपर उल्लेख हो चुका है। ऊपर की प्रसिद्धि का उल्लेख काव्य-मीमांसा में नहीं है। पर काव्य-मीमांसा के उद्धृत श्लोकों से इस प्रसिद्धि का समर्थन होता है (दे. 2 टि.)। मेघदूत में कालिदास ने यक्ष के उद्यान के प्रसंग में उससे कहलाया है कि उस उद्यान के माधवी-मण्डप का बेड़ा कुरवक का था। मालविकाग्निमित्र के अन्तिम अंक से जान पड़ता है कि वसन्त की प्रौढ़ावस्था में कुरवक के फल गिरने लगे जाते हैं।[6] इन दो बातों से भी कुरवक-पुष्प का कटसरैया होना ही ठीक जान पड़ता है।

11. कोकिल

कवि-समय है कि कोकिल केवल वसन्त में ही बोलते हैं। यह सच है कि ग्रीष्म और वर्षा में भी कोकिल बोला करता है, पर उसके स्वर में जो मिठास वसन्त में होती है, वह अन्यान्य ऋतुओं में नहीं।[7] शरत्काल से लेकर शिशिर तक कोकिल ऐसा मौन रहता है कि कई वैज्ञानिकों तक को भ्रम हो गया है कि यह पक्षी शीतकाल में यह देश छोड़कर अन्यत्र चला जाता है।[8] किन्तु व्हिस्लर ने लक्ष्य किया है कि कोकिल भारतवर्ष में ही एक स्थान से दूसरे को ऋतुओं की सुविधा के अनुसार जाता-आता रहता है।[9] कुछ अत्यधिक शीतल स्थानों को छोड़ दिया जाय

1. भावप्रकाश, पुष्पवर्ग।
2. काव्यमीमांसा, 19 अध्याय।
3. रा. 4-30-62।
4. ऋतुसंहार, 3-6
5. रघुवंश, 9-29
6. माल., 5-4
7. काव्यमीमांसा, 14; अलंकारशेखर, 15; कविकल्पलता, द्वि. स्तान; अलंकारचिन्तामणि।
8. कालिदासेर पाखी, पृ. 110
9. A Popular Hand Book of Indian Birds, P. 252.

तो प्रायः सारे भारत में प्रायः साल-भर यह पक्षी पाया जाता है और चुपचाप पत्रान्तराल में लुक-छिपकर काल यापन करता है। आश्चर्य की बात यह है कि अन्य ऋतुओं में इसका मौन शायद ही कभी भग होता हो।[1] वसन्तकाल में यह पक्षी, जब तक गर्भाधान नही हो जाता, तब तक मत्तभाव से कूजन करता रहता है—

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन मत्तः प्रिया चुम्बति रागदृष्टः।[2]

कोकिल को कवियों ने वसन्त और मदन दोनों का साधन वर्णन किया है।[3] यद्यपि आलंकारिकों का यह कहना सही है कि कोकिल वसन्त के अतिरिक्त अन्य ऋतु में भी बोलता है, पर यह और भी सही है कि वसन्त का कूजन ही अद्वितीय और अपूर्व होता है। शरत् से हेमन्त तक तो यह शायद ही कभी बोलता हो।

12. चकोर

चकोर चन्द्रिका का पान करते है।[4] अमरकोष के टीकाकार क्षीरस्वामी ने लिखा है कि चकोर चन्द्रिका से तृप्त होते है।[5] चकोर और मयूर एक ही जाति के पक्षी है। काव्यों में जिस प्रकार मयूर के शुक्लापाग का वर्णन पाया जाता है, उसी प्रकार चकोर के चन्द्रिका-पान का वास्तविक आधार है।[6] पक्षितत्त्वज्ञो ने लक्ष्य किया है कि यद्यपि चकोर रह-रहकर दिन में भी बोल उठता है, पर सन्ध्या समय यह अत्यन्त मुखर हो उठता है। इस मुखरता में भावुक पक्षी-मर्मज्ञों को उत्सुकता का मिश्रण अनुभूत हुआ है।[7]

13. चक्रवाक-मिथुन (चकवा-चकई)

यह हंस-जाति का पक्षी है। दिन मे सदा चक्रवाक जोड़ों मे ही पाये जाते हैं। भारतीय भाषाओ के काव्य-ग्रन्थ इस पक्षी के प्रणयाख्यान से भरे पड़े है। कवि-समय यह है कि चक्रवाक और चक्रवाकी दिन में नदी या जलाशय के एक ही किनारे रहते हैं पर रात में अलग-अलग हो जाते हैं, पुरुष इस किनारे पड़ा रह जाता है तो स्त्री उस किनारे। सारी रात वियोग में कटती है।[8] अग्निवेश रामायण की कथा है कि स्त्री-वियोग में कातर राम को देखकर चक्रवाको ने हँसी उड़ाई

1. कालिदासेर पाखी, पृ. 110
2. ऋतुसंहार, 6
3. वही।
4. काव्यमीमांसा, 14; साहित्यदर्पण, 7-23
5. अमर., 5-35 टी.।
6. कालिदासेर पाखी, पृ. 148
7. Hume and Marshall: The Game Birds cf India, Burmah and Cylone.. Vol. II (1879), P. 38, Quoted in कालिदासेर पाखी।
8. काव्यमीमांसा ,14; अलंकारशेखर, 15; अलंकारचिन्तामणि, 7-8 आदि।

थी। परिणामवश उन्हें इस प्रकार वियुक्त होने का अभिशाप-भागी होना पड़ा।[1] राजशेखर ने इसे कवि-समय के अन्तर्गत मानकर इस विश्वास की सचाई पर सन्देह किया है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण भट्ट ने चक्रवाक के परिचय में इसका निशा-वियोगी होना बताया है।[2] कालिदास के ग्रन्थों से इस विश्वास का समर्थन होता है। पौष मास में नदी में तपश्चरण करती हुई पार्वती वियोग से कातर चक्रवाकमिथुनों की कातर पुकार सुनती हुई काल काटा करती थी। पक्षि-विद्या के प्रसिद्ध पण्डित श्री सत्यचरण लाहा ने लिखा है कि यह पक्षी भारतवर्ष का स्थायी अधिवासी नहीं है। चैत्र, वैशाख में यह हिमालय की ओर यात्रा करता है। देखा गया है कि 10-15 हजार फुट ऊँचे पर्वतों के गर्तों में यह अपना नीड़ निर्माण करता है। उक्त विद्वान् ने स्वयं सिक्किम और हिमालय के पर्यटन-काल में छागू ह्रद (12600 फुट) कि में इनको वास करते जून मास में देखा था। शरत्काल में ये फिर भारतवर्ष को लौट आते हैं।

वाल्मीकीय[3] और तुलसीदास के[4] रामायणों से जान पड़ता है कि यह पक्षी वर्षाकाल में अन्यत्र चला जाता है। एक अन्य जाति का चक्रवाक शरत्काल में भारतवर्ष में आता है और साल-भर अन्यत्र रहता है।[5]

कालिदास के रघुवंश आदि ग्रन्थों से जान पड़ता है कि उन्होंने इस पक्षी को सारे भारतवर्ष में देखा था। असल में यह सारे भारतवर्ष में पाया भी जाता है। चकवा-चकई की वियोग-कथा की सचाई की अच्छी जाँच अभी नहीं हुई है। स्टुआर्ट बेकर ने रात में पक्षि-मिथुन को वियुक्त भाव से विचरण करते देखा था। ये एक-दूसरे को उत्कण्ठा-भरी आवाज से पुकारते-से जान पड़ते थे।[6] कालिदास ने परस्पराक्रन्दी चक्रवाकों का उल्लेख किया है।[7] व्हिस्लर ने[8] लिखा है कि ये पक्षी दिन में अपने जोड़े के साथ बैठकर या खड़े रहकर आराम करते हैं। दिन में ये बहुत कम ही विचरण करते हैं। अगर कहीं चले भी तो साथ ही साथ। किन्तु रात में अलग होकर आहारचयन करते हैं। रामायण में इनके सहचारी होकर विचरण करने का उल्लेख है।[9] रात को शायद आहार-चयनार्थ इनका वियुक्त होना ही कवि-प्रसिद्धि का मूल है।[10]

1. कादम्बरी की टीका में इस कथा का उल्लेख है।
2. सूत्रस्थान, 46-105
3. वाल्मीकीय रामायण, 4-28-16
4. किष्किन्धाकाण्ड।
5. जलचारी, पृ. 110
6. Ducks and Their Allies, 1921, P. 146. कालिदासेर पाखी में उद्धृत।
7. कुमार. 5-26
8. A Popular Hand Book of Indian Birds, 1928, P. 407.
9. रामा. 4-30-10।
10. सत्यचरण लाहा—कालिदासेर पाखी, पृ. 127

यह पक्षी प्रधानतः उद्भिज्जाशी है। कालिदास ने इन्हें उत्पल-केसर भक्षण करते वर्णन किया है। ऋतुसंहार में कमल-केसर भक्षण करते हुए और परस्पर क्रन्दन करते हुए चक्रवाकों का वर्णन मिलता है।

14. चन्दन

[1]

कवि-समय के अनुसार चन्दन में फूल और फल का वर्णन नहीं होना चाहिए।[1] भावप्रकाश में श्वेत, पीत और रक्त इन तीन प्रकार के चन्दनों का उल्लेख है। पीत चन्दन को ही कालीयक और हरिचन्दन कहा गया है। धन्वन्तरि के मत से चन्दन और श्वेतचन्दन एक ही चीज हैं। मलय पर्वत पर जो चन्दन होता है उसे भद्रश्री कहते हैं। तैलपर्ण और गोशीर्ष पर्वत पर भी इन्हीं पर्वतों के नामवाले चन्दन होते हैं।[2] वनौषधि-दर्पणकार अनेक शास्त्रीय चर्चा के बाद स्थिर करते हैं कि श्वेत और पीत चन्दन दो चीजें नहीं हैं।[3] चन्दन वृक्ष में बहुसंख्यक, छोटे, प्रथमावस्था में फीके और बाद को बैंगनी फूल होते हैं। फल गोल और मसृण होते हैं जो पकने पर काले हो जाते हैं।[4] तथापि कविजन इसके फल और पुष्प का वर्णन नहीं करते।[5]

यद्यपि कवि-समय के अनुसार चन्दन में फल-पुष्प का वर्णन नहीं होता, पर रामायण में इसका पुष्पित होना वर्णित है।[6] परवर्ती कवियों में भी किसी-किसी ने इसके फल-फूल का वर्णन किया है।[7]

[2]

चन्दन के बारे में एक दूसरी प्रसिद्धि यह है कि वह केवल मलय पर्वत पर ही होता है।[8] आयुर्वेदिक ग्रन्थों के अनुसार स्थान-भेद के पांच प्रकार के चन्दन बताये गये हैं। भद्रश्री मलयपर्वत पर होता है; गोशीर्ष, बर्कर और तैलपर्ण इन्हीं नामों के पर्वतों पर होते हैं। बेट्ट और सुक्कड एक ही चीज हैं; एक कच्चे कटे वृक्ष से आता है, दूसरा स्वयं पके वृक्ष से। किसी-किसी के मत से मलयज चन्दन तथा बेट्ट और सुक्कड एक ही चीज हैं।[9] ब्राण्डिस ने लिखा है कि यह वेस्टर्न पेनिनसुला में नासिक

1. काव्यमीमांसा, अध्याय 13; साहित्य-दर्पण, 7-25; अलंकारशेखर, 15, इत्यादि।
2. कर्पूरादिवर्ग, 14-16
3. वनौषधिदर्पण, पृ. 25-26
4-5. वही।
6. रामायण, 4-1, 82-83
7. सुभाषित-रत्नभाण्डागार, पृ. 377
8. काव्यमीमांसा, 14; अलंकारशेखर, 15; अलंकारचिन्तामणि, 7-8
9. वनौषधिदर्पण।

से लेकर उत्तरी अर्काट के जिलों तक प्रचुर परिमाण में उत्पन्न होता है। बगीचों में लगाने से उत्तरभारत में सहारनपुर तक उपजते देखा गया है। इसके फूल फरवरी से जुलाई तक खिलते रहते हैं।[1]

इस कवि-प्रसिद्धि का मूल शायद यह हो कि मलयपर्वत पर ही यह बहुतायत से होता है। राजशेखर ने मलयपर्वत की चार विशेषताओं में से एक यह बतायी है कि इस पर्वत पर सर्पवेष्टित चन्दन के वृक्ष होते हैं।[2] इस पर्वत पर के नीम, कुटज आदि वृक्ष भी चन्दन के समान सुरभित हो जाते हैं, ऐसा कविगण वर्णन करते हैं।[3]

15. चम्पक (चम्पा)

कवि-प्रसिद्धि है कि रमणियों के पटु-मृदुहास्य से चम्पा पुष्पित हो जाता है।[4] यह भारतवर्ष का परिचित पुष्प है और इसके फूल पीले नारंगी रंग के होते हैं। कवियों ने इसे कनकवर्ण कहकर वर्णन किया है। कहते हैं कि इसके उत्कट गन्ध के कारण भौंरे इसके पास नहीं जाते।[5] पश्चिमी घाट और मलय प्रायद्वीप में यह बहुतायत से होता है और यत्न करने से सारे भारतवर्ष, बर्मा, सीलोन और इण्डोचाइना में हो सकता है।[6] वसन्त-वर्णन के प्रसंग में रामायण में इसका उल्लेख है।[7] कालिदास ने इसे वसन्त-वर्णन के अन्त में याद किया है।[8] असल में यह वसन्त और ग्रीष्म की सन्धि में ही खिलता भी है। राजशेखर ने ग्रीष्म में इसका वर्णन किया है।[9]

16. तिलक

सुन्दरियों के वीक्षण-मात्र से तिलक पुष्प कुसुमित हो जाता है।[10] मुझे ठीक मालूम नहीं कि तिलक वृक्ष कैसा होता है। भावप्रकाश में पुष्पवर्ग में इसका उल्लेख है सही, पर उससे इसका आकार-प्रकार जानने में कुछ सहायता नहीं मिलती। ब्राण्डिस ने एक 'तिलकी' वृक्ष की चर्चा की है। यह चिनाब से लेकर सिक्किम तक पार्वत्य प्रदेशों में पाया जाता है। मध्यप्रदेश, कोंकण, दक्षिणी प्रदेश और उड़ीसा में

1. Brandis : Indian Trees, P. 553.
2. काव्य-मीमांसा, 17 अध्याय।
3. सुभाषित-रत्नभाण्डागार, पृ. 399
4. मेघदूत, 2-17, मल्लिनाथ की टीका।
5. सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृ. 379
6. Brandis : Indian Trees, P. 8.
7. रा. 4-1-78
8. ऋतुसंहार।
9. काव्यमीमांसा, 18; वामनपुराण, अध्याय 6
10. मेघदूत, 2-17; टीका और कुमार. 3-26 टीका।

ये वृक्ष पाये जाते है। ब्राण्डिस का अनुमान है कि ऊपर जमीन को शस्यश्यामल बनाने के लिए इस वृक्ष का उपयोग किया जा सकता है। यह वृक्ष वसन्तकाल में खिलता है। फूल नीलाभ श्वेत होते है।[1] रामायण में वसन्त-काल में तिलक-पुष्प की मञ्जरी का वर्णन मिलता है।[2] कालिदास के मालविकाग्निमित्र में तिलक-पुष्प का वर्णन है।[3] टीकाकार का अनुमान है कि वहाँ तिलक-पुष्प के लाल रंग की ओर कवि इशारा करना चाहता है। उस श्लोकमें कहा गया है कि तरुणियों की तिलक-क्रिया तिलक-पुष्पों से आक्रान्त हो गयी है। शब्दकल्पद्रुम के मत से तिलक और पुन्नाग एक ही वृक्ष है।[4] पर राजशेखर ने तिलक को वसन्त मे खिलते देखा था और पुन्नाग को हेमन्त मे।[5] राजशेखर ने वसन्त मे तिलक-पुष्प का जो वर्णन किया है उससे सिद्ध होता है कि उन्हे इस कवि-प्रसिद्धि की जानकारी थी, फिर भी उन्होने इसे कवि-समय के अन्तर्गत नही माना है। कालिदास ने वसन्त-वर्णन के प्रसंग में इसका स्मरण किया है।

17. नमेरु

सुन्दरियो के गान से नमेरु-वृक्ष विकसित हो जाता है। विश्वकोप के अनुसार नमेरु का ही दूसरा नाम सुरपुन्नाग है। कालिदास के काव्यों में हिमालय पर्वत पर इसका वर्णन पाया जाता है।[6] कैलास पर जब शिव ध्यानावस्थ होकर बैठ गये तो उनके गण नमेरु-पुष्पों के आभूषण और भूर्जत्वक् पहनकर मनःशिला से अनुलिप्त होकर पार्वत्य औषधों से व्याप्त शिलातलों पर जा विराजे।[7] कालिदास के ग्रन्थों से इस वृक्ष का घनच्छाय होना भी प्रकट होता है। शिव जिस स्थान पर ध्यानावस्थ होकर बैठे थे उसके प्रान्त-भाग में नमेरु-वृक्ष की शाखाएँ झुकी हुई थी।[8]

18. नीलोत्पल

[1]

नीलोत्पल का भी कवि-समय के अनुसार पद्म की ही भाँति नदी-समुद्र आदि में वर्णन होना चाहिए।[9] अल्हण के मत से उत्पल और नीलोत्पल एक ही वस्तु हैं।

1. Brandis : Indian Trees, P. 253.
2. रा. 4-1-58; और भी देखिए रा. 4-1-78
3. मा. 3-5
4. शब्दकल्पद्रुम—'तिलक' शब्द देखिए।
5. काव्य-मीमांसा, 18
6. कुमारसम्भव, 1-55 पर मल्लिनाथ की टीका।
7. कुमारसम्भव, 1-55
8. कुमारसम्भव, 3-43
9. काव्यमीमांसा, 14; अलंकारशेखर 15; कविकल्पलतावृत्ति, 2; अलंकारचिन्तामणि 7-8।

क्योंकि उत्पल उस कमल को कहते हैं जो ईषत् नील हो।[1] धन्वन्तरि-निघण्टु के मत से भी यह कमल का ही एक भेद है।[2] नीलकमल का वैष्णव-साहित्य में भूरि-भूरि उल्लेख है, पर असल में यह कही भारतवर्ष में होता है या नहीं, इस विषय में सन्देह है। सुना है, वृन्दावन में किसी वैष्णव महात्मा को रासोत्सव के लिए नीलकमल की आवश्यकता पड़ी। उन्होंने सारे भारतवर्ष में इसकी खोज की। न मिल सकने पर आस्ट्रेलिया से नीलकमल मँगाने पड़े। पर वैद्यक-ग्रन्थों से पता चलता है कि नील-कमल इस देश में कोई कवि-कल्पित वस्तु नहीं है। बहुत प्राचीन युग से इसका औषधार्थ प्रयोग पाया जाता है। राजशेखर भी इसे कविकल्पना नहीं समझते। कवियों ने नदी में इसका वर्णन किया है।[3] पण्डित रामनरेशजी त्रिपाठी ने मुझे बताया है कि कश्मीर में नीलोत्पल होता है और उसे स्थानीय लोग 'नीलोफर' कहते हैं।

[2]

दूसरी प्रसिद्धि यह है कि नीलोत्पल दिन में नहीं खिलता, रात में विकसित होता है।[4] डल्हण ने सौगन्धिक कमल को चन्द्रविकासी कहा है।[5] सौगन्धिक नील-कमल को ही कहते है ('पद्म' देखिए)। काव्य-मीमांसा मे इस प्रसिद्धि का समर्थक श्लोक उदाहृत है।[6]

19. पद्म (कमल)

कवि-समय के अनुसार (1) पद्म दिन में खिलते है।[7] नदी, समुद्र आदि में भी होते है।[8] (2) उनके मुकुल हरे नहीं होते हैं।[9] (3) उनके पुष्प मे लक्ष्मी का वास होता है। और (4) हेमन्त तथा शिशिर के सिवा अन्य सभी ऋतुओं में उनका वर्णन होता है।[10]

पद्म के कई भेद होते हैं। धन्वन्तरीय निघण्टु के मत से ये सात प्रकार के होते है—पुण्डरीक (अत्यन्त श्वेत), सौगन्धिक (नील पद्म), रक्त पद्म, कुमुद और तीन प्रकार के क्षुद्र उत्पल हैं।[11] डल्हण के मत से सौगन्धिक कमल चन्द्रिका पाकर

1. सुश्रुत, सूत्रस्थान 13-13 टीका।
2. वनौषधिदर्पण, पृ. 401-3
3. काव्यमीमांसा, 14
4. काव्यमीमासा, 14; अलंकारशेखर, 15; अलंकारचिन्तामणि, 7-8
5. सुश्रुत, सूत्र. 13-13 टीका
6. काव्यमीमांसा, अध्याय 14
7. साहित्यदर्पण, 7-25
8-9. काव्यमीमासा, 14; अलंकारशेखर, 15 इत्यादि।
10. अलंकारशेखर, मरीचि 15
11. वनौषधिदर्पण, पृ. 401

विकसित होता है और इसका एक नाम गर्दभ-पुष्प है। किन्तु चक्रपाणि ने इसका भाषा नाम गुन्धी लिखा है।[1] चक्रपाणि बंगाली थे किन्तु बंगाल में गुन्धी नाम से आजकल जो कमल प्रसिद्ध है वह अत्यन्त सुरभित नहीं होता, जैसा कि डल्हण के कथानुसार उसे होना चाहिए।[2] वह नील भी नहीं होता। दीर्घकाल तक साफ न किये हुए कर्दम-बहुल जलाशयों में ही कमल लिया करता है। लक्ष्य करने की बात है कि यद्यपि धन्वन्तरीय निघण्टु के मत से सौगन्धिक नील होता है और डल्हण इसे चन्द्रिकाविकासी मानते हैं, पर वाल्मीकीय रामायण के समय नीलपद्म और सौगन्धिक एक ही चीज नहीं समझे जाते थे। वसन्त-वर्णन के प्रसंग में आदि-कवि ने एक ही जगह पद्म, सौगन्धिक और नीलपद्म का खिलना वर्णन किया है।[3] कोकनद या रक्तपद्म ग्रीष्म में खिलता है और इसके फल वर्षा में पक जाते हैं। इसके फूल कुछ गुलाबी रंग के और दलों के अग्रभाग क्रमशः लाल होते हैं। कमल के मूल बड़ी दूर तक पानी में धँसे होते हैं। मूल अँगूठे की तरह मोटा और मसृण होता है। शतदल पद्म के दल 20 से लेकर 70 तक पाये जाते हैं। फूल जिस नाल पर खिला होता है उसे मृणाल कहते हैं। इसमें अनतिसूक्ष्म काँटे होते हैं। श्वेत-पद्म का रंग कुन्द के फूल के समान होता है।[4]

भारतीय साहित्य, कला और संस्कृति में पद्म का बहुत बड़ा स्थान है। ऐसा भारतीय कलाकार या कवि, मनीषी या साधक नहीं पाया जायेगा जिसने इस पुष्प को किसी-न-किसी रूप में अपना आदर्श न माना हो। जहाँ वह अपने सौन्दर्य के कारण कवियों का परम प्रिय रहा है वहाँ वह सहज निःशंक होने के कारण साधकों का आदर्श भी रहा है। यद्यपि यह बहते पानी में प्रायः नहीं पाया जाता, पर कवियों ने नदी में इसका वर्णन किया है। महाकवि कालिदास ने वर्षाकाल में शिप्रा नदी में कमल-पुष्पों का उल्लेख किया है।[5] वे वसन्त[6] तथा ग्रीष्म में[7] भी इस पुष्प को न भूल सके थे।

राजशेखर ने कवि-समय के प्रसंग में पद्म के दिवाविकास का उल्लेख नहीं किया, पर साहित्य-दर्पण में इस बात की चर्चा है। कहना न होगा कि कवियों ने कमल का दिन में विकसित होना वर्णन किया है।[8] राजशेखर के उदाहृत एक श्लोक से जान पड़ता है कि कवि ने आदिवराह के श्वेत दाँतों से पुण्डरीक-मुकुल की उपमा

1. चरकसंहिता, सू. 4 अध्याय टीका।
2. सुश्रुत, सूत्रस्थान 13-13 टीका।
3. रामायण, 4-1
4. वनौषधिदर्पण, पृ. 401-2
5. मेघदूत, 1-30
6. कुमारसम्भव, 3-37
7. ऋतुसंहार, 1-28
8 सुभाषितरत्नभा, 389

दी है।[1] असल में पुण्डरीक के मुकुल सफेद नहीं होते। राजशेखर ने यह बात लक्ष्य भी की थी। पद्म में लक्ष्मी का निवास तो भारतीय कवियों का अतिपरिचित विषय है।[2]

20. प्रियंगु

[1]

कवि-समय के अनुसार प्रियंगु स्त्रियों के स्पर्श से विकसित हो उठता है।[3] प्राचीन युग में महलों और बगीचों के अग्रभाग में प्रियंगु के वृक्ष लगाये जाते थे।[4] लेकिन आजकल इस पुष्प के बारे में पर्याप्त मतभेद है। बंगाल और बिहार के पंसारी एक तरह का प्रियंगु-फूल बेचते हैं जो सुगन्धित नहीं होता; पर अमरकोष[5], धन्वन्तरिनिघण्टु[6] और चक्रदत्त[7] के अनुसार प्रियंगु में सुगन्ध होनी चाहिए। कवि ने ऋतु-संहार में सुगन्धित द्रव्यों के साथ ही प्रियंगु का वर्णन किया है।[8] बृहत्संहिता के गन्धयुक्ति प्रकरण में प्रियंगु का उल्लेख सुगन्धित द्रव्यों में है।[9] चरक ने प्रियंगु और चन्दन-चर्चित रमणियों के कोमल स्पर्श को दाह की महौषध बताया है।[10] पर हमें स्त्रियों के स्पर्श से प्रियंगु-पुष्प के विकसित होने का उदाहरण काव्य में नहीं मिला।

[2]

प्रियंगु के विषय में दूसरा कवि-समय है कि यद्यपि इसके पुष्प पीत वर्ण के होते हैं तथापि उसे पीत नहीं वर्णन करना चाहिए।[11] राजशेखर ने उदाहरण देने के लिए जो श्लोक उद्धृत किया है उसमें प्रियंगु-पुष्प को श्याम रंग का बताया गया है।[12] प्रियंगु का एक नाम श्यामा लता भी है।[13] कविराज विरजादास गुप्त ने बृहन्निघण्टु-रत्नाकर से उद्धृत करके बताया है कि इस वृक्ष का एक नाम 'कृष्णपुष्पी' भी है।[14] इस पर से वे अनुमान करते हैं कि यह फूल काला होता

1. काव्यमीमांसा, 24
2. सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृ. 390
3. दे. शी. 2 टि. 1
4. बृहत् संहिता, 55-3
5. अमर, 4-55
6. वनौषधिदर्पण, पृ. 446
7. चरक-संहिता टीका।
8. ऋतुसंहार, 6-12
9. बृहत्-संहिता, 77-29
10. दाहचिकित्सा।
11. काव्यमीमांसा, 15; अलंकारशेखर, 15; अलंकारचिन्तामणि, पृ. 7-8 इत्यादि।
12. काव्यमीमांसा, 15
13. ऋतुसंहार, 6-12 टीका।
14. वनौषधिदर्पण, पृ. 445

होगा। डिमक खोरी ने[1] अपनी पुस्तक के प्रथम खण्ड, पृष्ठ 343 पर प्रियंगु के पुष्पों का पीला होना लिखा है, किन्तु एक दूसरे वनस्पतिशास्त्री नाइट ने 'फिगर्स आफ् इण्डियन प्लाण्ट्स' नामक ग्रन्थ के प्रथम खण्ड, पृष्ठ 166 पर इसका जो चित्र दिया है उससे डिमक के मत का ऐक्य नही सिद्ध होता।

नवग्रह-स्तोत्र मे बुध के प्रणाम-मन्त्र मे *प्रियंगु-कलिका का श्याम* होना उल्लिखित है। किन्तु यह लक्ष्य करने की बात है कि बुध के ध्यान में सर्वत्र बुध का वर्ण पीत बताया गया है। यहाँ अचानक प्रियंगु-कलिका के समान बुध का श्याम वर्ण होना आश्चर्य का विषय ही है। क्या यह अनुमान असंगत होगा कि पहले पाठ मे 'प्रियंगु-कलिका-पीत' था, बाद मे किसी कवि-समय के जानकार ने 'पीत' को काटकर 'श्याम' कर दिया ? यह जरूर है कि ज्योतिष-ग्रन्थों के अनुसार बुध का वर्ण दूर्वाश्याम है।[2]

21. भूर्जपत्र

कवि-समय के अनुसार केवल हिमालय में ही भूर्जत्वक् का वर्णन होना चाहिए।[3] हिमालय में ये बहुतायत से पाये भी जाते हैं। इनकी ऊँचाई कभी-कभी 60 फुट तक होती है। सिरे पर बहुत-सी शाखा-प्रशाखाएँ होती है। कुरम उपत्यका में यह वृक्ष 10-15 हजार फुट की ऊँचाई पर पाया गया है। हिमालय में 14000 फुट और उत्तरी पंजाब में 7000 फुट की ऊँचाई पर इसके वृक्ष होते है। भारतवर्ष में सतलज की घाटी से लेकर नेपाल-गढवाल तक 5000 से 10000 फुट की ऊँचाई पर ये वृक्ष पाये गये है। चीन और जापान में भी ये वृक्ष मिलते हैं। एक दूसरी जाति के भोजपत्र दार्जिलिंग की तराई, आसाम की पहाड़ियो और लोअर ब्रह्मा की पहाड़ियों पर पाये जाते है।[4] पर सब बातो का ध्यान रखते हुए इतना निःसन्देह कहा जा सकता है कि भूर्जपत्र मुख्यत: हिमालय पर्वत-माला का ही वृक्ष है। कालिदास ने हिमालय और कैलास के वर्णन में इसका नाम लिया है।[5] राजशेखर ने पश्चिमी वायु के वर्णन मे हिमालय पर्वत के भूर्जद्रुमों का वर्णन किया है।[6]

22. मन्दार

मन्दार रमणियों के नर्म वाक्यों से पुष्पित होता है।[7] यह इन्द्र के नन्दन-कानन

1. वनौषधिदर्पण में उद्धृत।
2. बृहज्जातक, 3-2
3 काव्यमीमांसा 14; साहित्यदर्पण, 7-25; अलंकारशेखर मरीचि, 15 इत्यादि।
4 Brandis : Indian Trees, P. 622.
5. कुमारसम्भव, 1-7 और 1-55
6 काव्यमीमांसा, 18
7. मेघदूत, 2-17 मल्लिनाथ की टीका।

के पांच पुष्पों में से एक है।[1] इस नाम का एक पुष्प पंजाब और मारवाड़ की ओर प्रचलित है; पर ब्रांडिस ने अपने ग्रन्थ मे इस जाति के मन्दार का जो चित्र दिया है उसमें पुष्पों के स्तवक हैं।[2] कालिदास के परिचित मन्दार के वृक्ष में पुष्प-स्तवक हुआ करते थे। मन्दार अर्क और धत्तूर के वृक्ष को भी कहते है, पर असल मे कवि-वर्णित मन्दार वनस्पतिशास्त्रियों का परिचित 'कोरल ट्री' है। इसका वृक्ष कुछ पीलापन लिये भूरे रंग का होता है। पुष्प-स्तवक में बैंगनी रग से मिलते रग के गोल-गोल छोटे-छोटे पुष्प होते है। वृक्ष वहुत वड़ा नही होता।[3] अलकापुरी-वाला बालमन्दार वृक्ष इतना ऊँचा था कि उसके पुष्प हाथ से ही छुए जा सकते थे।[4] इन्द्राणी के अलक में मन्दारपुष्प सुशोभित रहा करते थे।[5] शकुन्तला नाटक मे इन्द्र ने दुष्यन्त को मन्दार-माला दी थी।[6] कुमारसम्भव, रघुवश और विक्रमोर्वशीय में महाकवि ने कई जगह इस मोहक पुष्प का वर्णन किया है।[7]

23. मयूर

कवि-समय के अनुसार मयूर केवल वर्षा-ऋतु में नृत्य करते है।[8] भारतवर्ष में दो जाति के मयूर पाये जाते हैं, एक का कण्ठ नीला होता है और अपांग (दृष्टि) शुक्ल होता है, दूसरे का कण्ठ नील नहीं होता। पहली जाति का मोर ही भारतवर्ष में सर्वत्र पाया जाता है। कवि-समय के अनुसार मयूर का कण्ठ नील ही वर्णन करना चाहिए। कालिदास ने इसी जाति के मयूर का वर्णन किया है।[9] जून से लेकर सितम्बर तक मयूरों के गर्भाधान और सहवास का समय है। मयूरी को प्रलुब्ध करने के लिए इस समय पुरुष-मयूर प्रमत्त भाव से नृत्य करता है।[10] मेघ देखकर पर्वतों पर इसका मनोमोहक नृत्य और समुत्सुक केकाध्वनि करना एक निरतिशय नैसर्गिक व्यापार है। वर्षा ऋतु के अन्त में जब गर्भाधान हो जाता है, तब इसका पुच्छ (वर्ह) स्खलित हो जाता है। फिर इसका नृत्य या तो होता ही नही, या क्वचित् कदाचित् दिख भी गया तो मनोहर नही होता। रामायण मे इन गलितवर्ह पक्षियों का उल्लेख है।[11] कालिदास ने भी इस बर्हस्खलन व्यापार को लक्ष्य किया

1. अमरकोष, 1-50
2. Indian Trees.
3. वही।
4. मेघदूत, 1-75
5. रघुवंश, 6-23
6. अभिज्ञानशाकुन्तल, 7-2
7. कुमारसम्भव, 5-80; विक्रमोर्वशी, 4-35
8. काव्यमीमांसा, 14; साहित्यदर्पण, 7-25
9. मेघदूत।
10. Hume and Marshall, The Game birds of India Burmah and Ceylone, Vol. III., P. 427.
11. रा. 4-30-10 और 4-30-33

था। मेघदूत से जान पड़ता है कि भवानी इस स्वयं-स्खलित वर्ह को कानों में धारण करती थी। गोपवेशधारी विष्णु भी स्खलित वर्ह का आभरण धारण करते थे।

पक्षितत्त्वज्ञों ने इस बात पर जोर जरूर दिया है कि मयूर वर्षाकाल में प्रमत्त भाव से नृत्य करता है, पर इसका अन्य ऋतुओं में नृत्य भी विरल-दर्शन नहीं है। रामायण में वसन्त-वर्णन के अवसर पर आदि-कवि ने मयूरियों से घिरे हुए मद-मूर्च्छित और प्रनृत्यमान मयूरों का वर्णन किया है।[1]

24. मालती

मालती-लता साल में दो बार फूलती है, वसन्त में और वर्षा तथा शरद् में। लेकिन कवि-समय के अनुसार इसका वर्णन वसन्त में नहीं होना चाहिए।[2] मालती के इस दो बार पुष्पोद्गम को देखकर ही कवि रवीन्द्रनाथ ने एक गान में कहा है—हे मालती, तुममें यह दुविधा क्यों है? कालिदास ने वर्षा[3] और शरत्[4] दोनों ऋतुओं में मालती-पुष्प का विकसित होना वर्णन किया है। रामायण में आदि-कवि ने वर्षा ऋतु के मेघाच्छन्न आकाश के वर्णन के सिलसिले में कहा है कि मालती के विकसित होने से ही सूर्य के अस्त हो जाने का अनुभव होता है।[5] सुप्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य ने ऋतु-चिन्हों का वर्णन करते समय मालती का वर्षा में खिलना ही वर्णन किया है। फिर भी संस्कृत-साहित्य में मालती का वसन्तविकास-वर्णन कम नहीं है। वाल्मीकि-रामायण में[6] तो इसका वसन्त-विकास वर्णित है ही, प्राचीन कवि व्यासदास[7] और विज्जका का[8] भी वर्णन इस बात का समर्थक है। मालती का एक नाम जाती भी है। वैद्यक के सभी निघण्टुकार इस बात को मानते है, लेकिन भाव-प्रकाश में जाती और मालती ये जुदी लताएँ मान ली गयी हैं और ग्रन्थकार ने जाती का भाषा-नाम चमेली बताया है। वनौषधिदर्पणकार इस सिद्धान्त से बड़े चक्कर में पड़ गये हैं और इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि भावप्रकाश में पहले के ग्रन्थों में जाती और मालती एक हैं और बाद के ग्रन्थों में जाती का अर्थ चमेली है और मालती का मालती।[9] हम इस विचित्र सिद्धान्त की कोई जरूरत नहीं समझते।

1. रा. 4, 1, 36-37, और भी देखिए, 4, 1, 38-39-40
2. काव्यमीमांसा, 14; साहित्यदर्पण, 7-25; अलंकारशेखर, 15
3. ऋतुसंहार, 2-24
4 वही, 3-2
5. वाल्मीकि रामायण, 4-28-52
6. रा., 4-1-76
7. सुभाषितावली, 1658
8. काव्यप्रकाश 1 में उद्धृत।
9 वनौषधिदर्पण, पृ. 551-2

25. मुक्ता (मोती)

कवि-प्रसिद्धि है कि केवल ताम्रपर्णी नदी में ही मोती पैदा होते है ।[1] शास्त्रों के अनुसार हाथी, मेघ, सूअर, मछली, शुक्ति (सीपी), बाँस, साँप, मेढक,— इन आठ चीजों से मोती पैदा होते है। गरुड़पुराण मेढकवाले मोती की चर्चा नही करता और उसके मत से इन सबमें शुक्त्युद्भव मोती ही श्रेष्ठ है । यही एकमात्र प्रकाशमान और वेध्य होता है। शंख और हाथी से पैदा हुआ मोती सर्वाधम है ।[2] गरुड़पुराण के अनुसार मोती आठ आकारों से आते है—सिंहल, परलोक (मेघो से मतलब है), सौराष्ट्र, ताम्रपर्ण, पारसु, कौवेर, पाण्ड्य और विराट् । जिन चीजो से मोती पैदा होते हैं उनमें स्वाति का जल पड़ने से ही मोती हो सकते है, यह पौराणिक विश्वास है । यह सब होते हुए भी कविजन केवल ताम्रपर्णी नदी में ही मोतियों का वर्णन करते हैं ।[3]

26 रंग[4]

कवि-समय के अनुसार यश, हास आदि का रंग सफेद, अपयश और पाप आदि का काला, क्रोध और अनुराग आदि का लाल होता है ।[5]

फूलों मे कुन्द-कुड्मल का रंग लाल नही वर्णन किया जाता, कमल-मुकुल का हरा और प्रियंगु-पुष्पों का रंग पीत नही वर्णित होता ।

सामान्यतः मणि-माणिक्य का रंग लाल[6], पुष्पो का सफेद[7] और मेघ का काला माना जाता है ।[8]

1 काव्य-मीमासा, 14; अलकारशेखर, 15 आदि
2 गरुड़पुराण, अध्याय 69-4; शब्दकल्पद्रुम ।
3. काव्य-मीमासा, 14
4. काव्यमीमांसा, अध्याय 14-16; अलकारशेखर, 15 इत्यादि ।
5. अलकारशेखर लाल वर्णन के लिए इन वस्तुओ का और निर्देश करता है—जपा, रत्न, सूर्य, पद्म, पल्लव, बन्धूक, दाड़िम और करज (अगुली) ।
6. सामान्यतया श्वेत रग के लिए अलंकारशेखर और योग करता है—पुष्प, जल, छत्र, वस्त्र ।
7. काले के लिए अलंकारशेखर और कहता है—शैल, मेघ, वृक्ष, समुद्र, लता, भिल्ल, असुर, पक और केश । पीले के लिए अलकारशेखर निर्देश करता है—शालिमण्डूक, वल्क और पराग ।
8. अन्यत्र (17 अध्याय) अलंकारशेखर निम्नलिखित भाव से रंग का निर्देश करता है—

श्वेत—चन्द्र, इन्द्र के घोड़े, शिव, नारद, भार्गव, हली, शेष, सर्प, इन्द्र का हाथी, सिंह, सौध, शरत् काल के मेघ, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्तमणि, केंचुर, मन्दार, हिमालय, हिम, हास, मृणाल, स्वर्गंगा, हस्तिदन्त अभ्रक, सिकता, अमृत, लोध्र, गुण, कैरव, शर्करा ।

नील—कृष्ण, चन्द्रचिन्ह, व्यास, राम, अर्जुन, शनि, द्रौपदी, काली, राजपट्ट, विद्रुरज, विष, अवकाश, कुहू, अगरु, पाप, तम, रात्रि, अद्भुत और शृंगार-रस, मद, ताप,

कृष्ण, नील, हरित, श्याम आदि रंगों का प्रयोग एक-दूसरे के स्थान पर किया जा सकता है। यह मान लिया जाता है कि ये रंग एकार्थवाचक हैं। इसी प्रकार पीत और रक्त को तथा श्वेत और गौर को एक ही रंग मान लिया जाता है।

आँखों का वर्णन अनेक रंग का किया जाता है—कभी श्याम, कभी कृष्ण, कभी श्वेत, कभी लाल और कभी मिश्र रंग।

27. राजहंस

कवि-समय के अनुसार वर्षाकाल में हंस उड़कर मानसरोवर को चले जाते हैं।[1] कालिदास ने भी वर्षाकाल में मानस-सर के लिए उत्कण्ठित हंसों को कैलास की ओर उड़ते जाते देखा था।[2] हंस अनेक जातियों के होते हैं। अमरकोष के मत से लाल चरण और चोंचवाले सित (श्वेत) वर्ण के हंस को राजहंस कहते हैं।[3] भारतवर्ष में इस जाति के हंस विरल नहीं। व्हिस्लर का कहना है कि उत्तर और मध्य एशिया में जब कड़ाके की सर्दी पड़ने लगती है तो हंस जाति के अनेक पक्षी दल बाँधकर दक्षिण की ओर अक्लान्त भाव से दिवा-रात्रि उड़ते हुए हिमालय पर्वत को लाँघते दिखायी देते हैं। ये प्रजनन और आहार की सुविधाओं के लिए जुलाई के आरम्भ में ही फिर हिमालय को लाँघना शुरू कर देते हैं। सितम्बर के महीने में इन प्रव्राजकों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है। हिमालय को पूर्वी और पश्चिमी दोनों सिरों से ये पार करते हैं।[4] मेघों के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

कई जातियों के हंस तिब्बत की लड़ाक झील में और कैलास के पाददेश में अवस्थित मानसरोवर में अण्डा देते हैं। हिमालय के नाना स्थानों में और मानसरोवर में भी, पक्षितत्त्वज्ञों ने राजहंसों तथा अन्यान्य हंसों को वर्षाकाल में अवस्थान करते देखा है।[5] इससे जान पड़ता है कि उक्त कविप्रसिद्धि नितान्त अमूलक

बाण, बुद्ध, बलराम के वस्त्र, यम, राक्षस, मोर का कण्ठ, कृत्या, छाया, गज, शृंगार और दुष्ट का अन्त करण।

लाल—क्षात्रधर्म, त्रेता, रौद्ररस, चकोर, कोकिल, पारावत के नेत्र, कपि-मुख, तेज.सार, मंगल, कुंकुम, तक्षक, जिह्वा, इन्द्रगोप, खद्योत, विद्युत्, कुञ्जरबिन्दु।

पीत—दीप, जीव, इन्द्र, गरुड़, शिव के नेत्र और जटा, ब्रह्मा, वीररस, स्वर्ण, वानर, द्वापर, गोरोचन, किंजल्क, चक्रवाकी, हरिताल मन.शिल।

धूसर—रज, लूता, करभ, गृहगोधा, कपोल, मूषक, दुर्गा, काककण्ठ, गर्दभ।

हरित—सूर्याश्व, बुध, मरकत आदि।

1. साहित्यदर्पण, 7-33।
2. मेघ.।
3. अमरकोष, 5-04
4. A Popular Hand book of Indian Birds, 1928, P. XXI.
5. रामायण, 4-1-78

नहीं है। इतना जरूर है कि सभी हंस मानसरोवर में ही नहीं जाते। हिमालय के यात्रियों ने यह भी लक्ष्य किया है कि कभी-कभी हिमालय की ही झीलों में अनुकूल वास मिलने पर ये पक्षी अन्यत्र नहीं जाते। यक्ष के उद्यान की वापी में वास करनेवाले हंस मेघों को देखकर भी मानसरोवर के लिए उत्कण्ठित नहीं हुए थे।[1] कारण्डव और कादम्ब आदि पक्षी भी हंस की जाति के हैं। अति धूसर पक्ष का कलहंस कादम्ब कहलाता है और कारण्डव एक जाति का शुक्ल हंस है।[2] कालिदास ने वर्षाकाल में इनका भी प्रव्रजन वर्णन किया है।

एक दूसरा कवि-समय है कि जलाशयमात्र में हंस का वर्णन होना चाहिए।[3] वराहमिहिर ने उन वापियों को शुभ-फलप्रद बताया है जिनमें सदैव हंसादि पक्षियों का वास रहे।[4] पक्षितत्त्वज्ञों ने लक्ष्य किया है कि अक्तूबर से जुलाई तक हंस जाति के अनेक पक्षी सारे भारत की स्वच्छतोया नदियों और जलाशयों में वास करते हैं। कई जाति के जलचारी पक्षी तो साल-भर जलाशयों में रहते हैं। रामायण में वसन्तकाल में हंस पक्षियों का वर्णन मिलता है। महाकवि कालिदास ने ऋतुसंहार में शरत्काल में और शिशिर ऋतु में इन पक्षियों का वर्णन किया है। राजशेखर ने भी शरत्काल में इन पक्षियों का वर्णन किया है।[5]

28. वकुल (बकुल)

सुन्दरियों की मुख-मदिरा से सिंचकर बकुल-पुष्प कुसुमित हो जाता है।[6] वकुल का हिन्दी नाम मौलसिरी है। अपने विशाल आकार, घनी छाया और आमोदमय पुष्पों के कारण यह वृक्ष साधारण जनता और कवि दोनों का परम प्रिय है। राजशेखरकृत काव्य-मीमांसा में ऊपर की कवि-प्रसिद्धि का उल्लेख नहीं है, पर इस ग्रन्थ से वकुल के इस गुण का समर्थन होता है। कालिदास के मेघदूत[7] और रघुवंश[8] आदि ग्रन्थों से इस वृक्ष के इस गुण का समर्थन होता है।

रामायण में वसन्त ऋतु में इसका खिलना वर्णित है।[9] कालिदास ने इस पुष्प का वर्षा और वसन्त दोनों ऋतुओं में वर्णन किया है।[10] जयदेव के गीतगोविन्द में

1. ऋतुसंहार।
2. गीतगोविन्द, प्रथम सर्ग।
3. काव्यमीमांसा, 18 अध्याय।
4. देखिए शीर्षक 7 (1)
5. काव्यमीमांसा, 14; अलंकारशेखर, 15 इत्यादि।
6 काव्यमीमांसा, 14
7. ऋतुसंहार, 3-15
8. विद्धशाल-भंजिका, 2-19
9. कालिदासेर पाखी, पृ. 10
10. मेघदूत।

वसन्त-वर्णन में इस पुष्प की चर्चा है।[1] असल में यह वसन्त के अन्त में खिलने लगता है और शरत्काल तक खिलता रहता है। राजशेखर ने इसके वसन्तविकास का वर्णन किया है।[2] शरत्काल में इसके फूल बड़े मादक-गन्धी हो जाते हैं। इसी-लिए निघण्टुकारों ने इसका एक नाम 'शीधुगन्ध' रखा है। बकुल का ही नाम केसर भी है। पौराणिक कथा के अनुसार काम के धनुष का ही यह पार्थिव रूप है।[3]

शेफालिका के पुष्प कवि-समय के अनुसार केवल रात में झड़ते हैं।[4] शेफाली या शेफालिका नाम के दो वृक्ष वैद्यक-शास्त्र में प्रसिद्ध हैं; एक निर्गुण्डी और दूसरा हरसिंगार।[5] पुष्पों के प्रसंग में कविगण दूसरे का ही वर्णन करते हैं। निर्गुण्डी को वैद्यों ने पुष्पवर्ग में नहीं माना है। शेफाली सारे भारतवर्ष में पायी जाती है। कोंकण में यह वर्षा में खिलती है और अन्यान्य प्रदेशों में वर्षा के अन्त में खिलने लगती है और सारे शरत्काल तक खिलती रहती है।[6] इसके पुष्प श्वेत रंग के बड़े ही कोमल होते हैं। पुष्पनाल ईषत् पिंगलाभ लाल रंग के होते हैं। रात को ही शेफाली विकसित होकर वनभूमि को सुरभिसिक्त कर देती है। उषःकाल होते ही इसके पुष्प झड़ने लगते हैं और सूर्योदय होते-होते वनभूमि श्वेत पुष्पों से आवृत हो जाती है। सूर्योदय के बाद तक भी पुष्प झड़ते रहते हैं, पर कविजन इसका वर्णन सूर्योदय के पहले ही करते हैं।[7] कालिदास से शरद् ऋतु में इस पुष्प का वर्णन किया है।[8] राजशेखर ने अपनी विद्धशालभंजिका में चन्द्र के बिना शेफाली के न खिलने का उल्लेख किया है। राजशेखर ने अन्यत्र शरद्-ऋतु में इस पुष्प का विकसित होना लक्ष्य किया है। उनकी काव्य-मीमांसा में उदाहृत एक चन्द्रोदय वर्णन-परक श्लोक से मालूम होता है कि उस समय शेफालिका के पुष्प झड़ चुके होते हैं।

29. सहकार (आम)

कहते हैं, सुन्दरियों की मुँह की हवा पाकर सहकार-तरु या आम का वृक्ष कुसुमित हो जाता है।[9] आम स्वनामधन्य वृक्ष है। अपने पल्लव, पुष्प और फल

1. सुश्रुत सूत्र. 46-105 टीका।
2. काव्यमीमांसा, 14; साहित्यदर्पण, 7 23; अलंकारशेखर-मरीचि, 15
3. बृहत्संहिता, 56-4-5
4. रामायण, 4-13-6-64
5. ऋतुसंहार, 3
6. काव्यमीमांसा, 18; शरद्वर्णन।
7. मेघदूत, 1-17 और कुमारसम्भव, 3-26 पर मल्लिनाथ की टीका।
8. मेघ. 2-17
9. मेघदूत, 2-17 पर मल्लिनाथ की टीका।

के रूप में किसी अन्य वृक्ष ने सहृदयों और कलाकारों को उसका आधा भी प्रभावित नहीं किया जितना इस वृक्ष ने। कवियों ने सहकार-लता का भी वर्णन किया है। आम की एक लता होती भी है। सुना है, लता रूप मे आम नयी उपज है; पर कालिदास ने सहकार-लता का वर्णन किया है।[1] वह क्या कोरी कवि-कल्पना है? शायद उसी युग में आम की लताएँ होने लगी थी। कवि ने ठीक ही कहा है कि उपवन मे तो वैसे कितने ही पुष्प खिले हैं, पर पुष्पकेतु के विश्वविजय में अकेला सहकार ही सहकारी है।

30. समानार्थक

निम्नलिखित बातें भिन्नार्थक होते हुए भी एकार्थक की तरह प्रयुक्त की जाती है।[2] (1) चन्द्रमा मे शश और हरिण की एकार्थता प्रसिद्ध है, (2) काम की ध्वजा के प्रसंग में मत्स्य और मकर समानार्थक मान लिये जाते है, (3) अत्रिनेत्र और समुद्रोत्पन्न चन्द्रमा एकार्थक मान लिये जाते हैं, (4) नारायण और माधव एक ही देवता हैं, (5) दामोदर, शेष, कूर्म आदि एकार्थक अवतार मान लिये गये हैं, (6) लक्ष्मी के अर्थ में कमला और सम्पद् शब्द की एकता स्वीकार कर ली गयी है, (7) द्वादश आदित्य एक ही माने जाते है, (8) स्वर्ण, पराग और अग्नि के प्रसंग में पीत और लोहित की एकता मान ली गयी है।[3]

31. संकीर्ण कवि-प्रसिद्धियाँ

(1) पर्वतमाला में सुवर्ण, रत्न आदि का वर्णन; अन्धकार का मुष्टि-ग्राह्य और सूची-भेद्य होना; ज्योत्स्ना का घड़े मे भरा जाना; कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष में ज्योत्स्ना और अन्धकार की समानता होते हुए भी पहले को तमोमय और दूसरे को चन्द्रिकामय वर्णन करना; शिव और चन्द्रमा का बहुकाल से जन्म होते हुए भी उन्हें बालरूप में वर्णन करना; समुद्रों की संख्या चार और सात दोनो वर्णन करना;[4] भुवनों की संख्या तीन, सात और चौदह कहकर वर्णन करना;[5] विद्याएँ अठारह भी है, चार भी है और चौदह भी, यह स्वीकार करना[6] और मकर का

1. रघुवंश, 9
2. काव्यमीमांसा।
3. अलंकारशेखर, 15
4. शब्दकल्पद्रुम, तृतीय खण्ड, 520 पृष्ठ पर उद्धृत वह्निपुराण का वचन।
5. तीन भुवन ये हैं—भूः, भुवः, स्वः। सात भुवन (लोक) इस प्रकार हैं—भूः, भुवः, स्वः, मह, जनः, तपः, सत्यः, इन्हीं में सप्तद्वीप अर्थात् जम्बू, शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मक, मेद, पुष्कर का योग करने से भुवन चौदह होते हैं—अग्निपुराण, गणमानाध्याय।
6. प्रायश्चित तत्त्व में विष्णु पुराण से ये श्लोक उद्धृत हैं जिनसे विद्या की चौदह और अठारह संख्याएँ प्रकट होती हैं : →

वर्णन केवल समुद्र में करना।

(2) आकाश में मालिन्य का वर्णन करना; काम-बाणों की तरह स्त्री के कटाक्ष से युवक जन का हृदय फटना।

(3) सर्वत्र जल मे शैवाल का वर्णन करना; स्त्रियों के वर्णन मे रोमावली और त्रिवली का वर्णन करना, फिर वे चाहे हों या न हों; स्त्रियों को साधारणतः श्याम वर्णन करना और उनके स्तनपान का सामान्यतया उल्लेख न करना; देवताओं के प्रसंग में पहले देवता और तब देवी का वर्णन, पर मनुष्यों के प्रसंग में पहले नायिका और तब नायक का वर्णन; मनुष्यों का सिर से और देवताओं का पैर से आरम्भ करना; स्थलचारी जीवों का जल में भी वर्णन करना; रण में मरे हुए पुरुष का सूर्यमण्डल को भेद करते हुए जाते वर्णन करना; लोकों को सृष्ट्यादि में महत-रूप और सृष्ट्यान्त मे सूक्ष्मरूप वर्णन करना; शब्द से पहाड़ का फटना; आकाश का सौ धनु ऊपर वर्णन करना; उपाधि और नाम की एकता, जैसे शंकर और वृषवाहन; चिह्न, वाहन और ध्वज को एक ही वस्तु न मानना; शिव को शूली (शूलवाला) तो कहना पर सर्पी (सर्पवाला) न कहना; चन्द्रमा को शशी (शशवाला) कहना; पर हरिणी (हरिणवाला) न कहना; महादेव को इन्दुमौलि (जिसके सिर पर चन्द्रमा है) तो कहना पर गंगामौलि (जिसके सिर पर गंगा है) कभी न कहना; र और ल, ड और ल, व और व, श और स का भेद न मानना; चित्र-काव्य में अनुस्वार-विसर्ग की गणना न करना; इव, वत, वा, हि, ही, ह, स्म, वत, वै, नु, किल, एव और च : इन अव्ययों को पद के आदि में व्यवहृत न करना; भूत, इन्द्र, भारत और ईश : इन शब्दों के पूर्व में महत् शब्द को निरर्थक ही प्रयोग करना (अर्थात् महेन्द्र और इन्द्र; महाभारत और भारत इत्यादि में कोई अर्थ-भेद नहीं होता) और ब्राह्मण, वृष्टि, भोज्य, औषध, पथ्य आदि के पूर्ववर्ती महत् शब्द का दुष्ट अर्थ में प्रयोग करना।

अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थस्य विद्या . [illegible] ताः

स्त्री का रूप : स्त्री के रूप के सम्बन्ध में अधिकांश रूढ़ियाँ सामुद्रिक लक्षणों, देवियों के रूप तथा काम-शास्त्रीय विश्वासों आदि से गृहीत हुई हैं। समग्र स्त्री-शरीर की उपमा चन्द्रकला, कमल-रज्जु, शिरीषमाला, विद्युल्लता, तारा, सोने की लता या सोने की छड़ी, दमनक-यष्टि और दीप-शिखा आदि से दी जाती है।[1] लक्ष्य करने की बात है कि कविगण स्त्री-शरीर का वर्णन साधारणतः श्यामल रूप में नहीं करते[2] बल्कि श्वेत या गौर रूप में करते हैं। वस्तुतः श्वेत और गौर भी कवियों के लिए एकार्थक शब्द है।[3] गोवर्धन के मत से स्त्री-शरीर में निम्नलिखित कई गुण होने चाहिए : सौन्दर्य, मृदुता, कृशता, अति कोमलता, कान्ति, उज्ज्वलता और आबल्य या सुकुमारता।[4] स्त्री-शरीर के उपमेय इन गुणों को ध्यान मे रख-कर ही ढूँढ़े गये थे। इन गुणों का नाना देवियो के रूप से सगृहीत होना अनुमान का विषय है। लक्ष्मी और गौरी के ध्यान में स्वर्ण-प्रभा, अन्नपूर्णा और सरस्वती के ध्यान में सौकुमार्य या आबल्य, तुलसी के ध्यान मे अंग का यष्टित्व और आबल्य, सावित्री और सरस्वती के ध्यान मे औज्ज्वल्य तथा राधिका और सरस्वती के ध्यान में कान्ति का उल्लेख पाया है।[5] इन देवियों के रूप में सौन्दर्य को प्रधान

1. अलंकारशेखर 13-1।
2. कवि-प्रसिद्धियाँ देखिए।
3. वही।
4. अलकारशेखर मे उद्धृत।
5. लक्ष्मी का ध्यान—

    कान्त्या कांचनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजै-
    र्हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम्।
    बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलाम्
    क्षौमाबद्धनितम्बभागललितां वन्देऽरविन्दस्थिताम्। —पुरोहितदर्पण, पृ. 166
    नवयौवनसम्पन्नां तप्तकांचनसन्निभाम्।
    त्रिनेत्रां द्विभुजां रम्यां दिव्यकुण्डलभाषिणीम्॥ —प्रणतोषिणी, पृ. 558

    गौरी का ध्यान—

    हेमाभां बिभ्रतीं दोर्भिर्दर्पणाञ्जनसाधने।
    पाशांकुशौ सर्वभूषां तां गौरीं सर्वदा भजे॥—पुरोहितदर्पण, पृ. 332

    सरस्वती का ध्यान—

    तरुणशकलमिन्दोर्बिभ्रती शुभ्रकान्तिः
    कुचभरनमितांगी सन्निषण्णा सिताब्जे।
    निजकरकमलोद्यल्लेखनी पुस्तकश्रीः
    सकलविभवसिद्ध्यै पातु वाग्देवता नः॥—पुरोहितदर्पण, पृ. 227 →

उपादान माना गया है। समस्त देवियों को वस्त्रालंकार से युक्त माना गया है और इस प्रकार आभरणों को भारतीय काव्य में स्त्री-रूप का एक आवश्यक अंग मान लिया है। इसीलिए दमनक-यष्टि और सपुष्पा लता के साथ ही स्त्री-शरीर की तुलना करना रूढ़ हो गया है। कामशास्त्र में चार प्रकार की स्त्रियाँ मानी गयी हैं; पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी। इनमें प्रथम दो श्रेष्ठ हैं और इसीलिए सौन्दर्य का आदर्श उनके लक्षणों से भी ग्रहण किया गया है। उक्त गुण इन दो जातियों की स्त्रियों में भी पाये जाते हैं।[1]

→ तुलसी का ध्यान—

ध्यायेद्देवी नवशशिमुखी पक्वबिंबाधरोष्ठी
विद्योतन्ती कुचयुगभरान्नम्रकल्पांगयष्टिम्।
ईषद्धास्योल्लसितवदनां चन्द्रसूर्याग्निनेत्रां
श्वेतांगी तामभयवरदां श्वेतपद्मासनस्थाम्॥—प्रणतोषिणी, पृ. 713

अन्नपूर्णा का ध्यान—

रक्ता विचित्रवसना नवचन्द्रचूडामन्नप्रदाननिरता स्तनभारनम्राम्।
नृत्यन्तमिन्दुशकलाभरणं विलोक्य हृष्टां भजे भगवती भवदुःखहन्त्रीम्॥

सावित्री का ध्यान—

सावित्री द्विभुजां पद्मासनस्थां हंसवाहनाम्,
शुद्धस्फटिकसंकाशां दिव्याभरणभूषिताम्।
पक्वबिम्बाधरोष्ठी पूर्णचन्द्रनिभाननाम्,
ललाटतिलकोपेतां मध्यक्षीणामहं भजे।

राधिका का ध्यान—

अमलकमलकान्ति नीलवस्त्रां सुकेशीं,
शशधरसमवक्त्रां खञ्जनाक्षीं मनोज्ञाम्॥
स्तनयुगगतमुक्तादामदीप्तां किशोरीम्।
व्रजपतिसुतकान्तां राधिकामाश्रयेऽहम्॥—पुरोहितदर्पण

1 पद्मिनी का लक्षण—

भवति कमलनेत्रा नासिकाक्षुद्ररन्ध्रा
अविरलकुचयुग्मा दीर्घकेशी कृशांगी
मृदुवचनसुशीला नृत्यगीतानुरक्ता
सकलतनुसुवेशा पद्मिनी पद्मगन्धा॥

चित्रिणी का लक्षण—

भवति रतिरसज्ञा नातिदीर्घा न खर्वा
तिलकुसुमसुनासा स्निग्धदेहोत्पलाक्षी।
कठिनघनकुचाढ्या सुन्दरी सा सुशीला
सकलगुणविचित्रा चित्रिणी चित्ररक्ता।—रतिरहस्य

दूसरी लक्ष्य करने की बात यह है कि काव्य में, यदि विशेष कोई कारण न हो तो, स्त्री को या तो सत्त्वगुण-प्रधान वर्णन करते है या रजोगुण-प्रधान (विलासिनी)। इसीलिए तमःप्रधान कृष्णवर्ण के साथ कोई उपमा नही दी जाती। स्त्री-शरीर के रंग के लिए साधारणतः रोचना, स्वर्ण, विद्युत्, हरिद्रा (हल्दी), वराटक (कौड़ी), चम्पा, केतकपुष्प (केवड़ा) आदि की उपमा देते है। ये उपमान ही स्त्री-शरीर के रंग के लिए रूढ़ हो गये है। अ. शे. 13-2।

मुखमण्डल, केश आदि : स्त्री-शरीर के वर्णन में सबसे अधिक ध्यान मुखमण्डल के ऊपर दिया गया है। सारे मुख की चन्द्रमा, कमल या दर्पण के साथ उपमा देना कवियों में रूढ़ हो गया है। साधारणतः केश, ललाट, कपोल, मुख, नासिका, नेत्र, अधर, ओष्ठ, दाँत, वाणी और कण्ठ : ये ही मुखमण्डल के वर्णनीय अवयव हैं।

गोवर्धन के मत से केशों में दीर्घता, कुटिलता, मृदुता, निविड़ता और नीलिमा आदि गुण वर्णन किये जाने चाहिए।[1] सामुद्रिक लक्षणों मे केशों का स्निग्ध, नील, मृदु और कुंचित होना सुखकर बताया गया है[2] और इनके विपरीत गुण असौभाग्य-लक्षण माने गये हैं। दैवज्ञ कामधेनु के मत से सूक्ष्म और नील रोम सौभाग्य के लक्षण हैं।[3] इन गुणों को बताने के लिए कवियों में साधारणतः निम्नलिखित उपमाएँ रूढ़ हैं : अन्धकार, शैवाल, मेघ, वई, (मयूरपुच्छ), भ्रमरश्रेणी, चामर, यमुनातरंग, नीलमणि, नीलकमल, आकाश; धूप का धुआँ, इत्यादि।[4] केश की वेणी के लिए साधारणतः सर्प, तलवार, भ्रमरपंक्ति और धम्मिल या जूड़े के लिए राहु की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। केश के बीचोबीच की माँग के लिए रास्ता, दण्ड, गंगा की धारा आदि उपमाएँ दी जाती है।[5]

ललाट की उपमा के लिए अष्टमी का चाँद या स्वर्णपट्टिका प्रसिद्ध उपमाएँ हैं।[6] सामुद्रिक लक्षणों मे ललाट का समतल होना अर्थात् न बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा होना सौभाग्य का लक्षण माना जाता है।[7] कपोलों में गोवर्धन के मत से वर्णनीय गुण स्वच्छता[8] है। इस गुण के लिए कवि ने इसका उपमान चन्द्रमा और दर्पण को चुना है।[9]

1. गोवर्धन (अ. शे. से उद्धृत)।
2. बृहत्संहिता, 70-9
3. दैवज्ञकामधेनु, 16-31
4. अलंकारशेखर, 13-3
5. कविकल्पलता।
6. अलंकारशेखर, 13-3, 14-4
7. बृहत्संहिता, 70-8
8. अ. शे. से उद्धृत।
9 अलंकारशेखर, 13-4

नेत्रों का वर्णन कवियों ने अनेक प्रकार से किया है। स्निग्धता, विशालता, लोलता, कटाक्षों की दीर्घता, नीलता, प्रान्त भाग की लालिमा, श्वेतता, बरौनियों की निविड़ता : ये आँखों के गुण हैं।[1] वराह ने उन आँखों को प्रशस्त कहा है जो नीलकमल की द्युति हरण करनेवाली हों।[2] इन गुणों का सादृश्य दिखाने के लिए कवियों ने निम्नलिखित उपमेयों का वर्णन भूरिशः किया है : मृग, मृग-नेत्र, कमल, कमल-पत्र, मत्स्य, खंजन, चकोर—इन तीनों की आँखें; केतक, भ्रमर, कामबाण आदि।[3] ध्यान देने की बात यह है कि सभी उपमाएँ नेत्रों के आकार के ऊपर आदृत नहीं हैं। कुछ में उनके आकार, कुछ में गुण और कुछ में उनकी क्रियाएँ द्योतित है। गुण ऊपर बताये गये हैं : क्रिया, कटाक्षपात या अपांगदर्शन और सम्मोहनकारिता है। इसीलिए कटाक्ष की उपमा विषामृत, बाण और मदिरा से दी जाती है।[4] इसके सिवा कटाक्ष की उपमा यमुना की तरंगों और भृंगावलियों से दी गयी है।[5] नेत्रों के रंग के प्रसंग में कवियों ने श्वेत, रक्त और कृष्ण, इन तीन रंगों में से एक, दो या तीनों का यथारुचि और यथासमय वर्णन किया है।[6] श्वेत वर्णन के कारण कभी-कभी कुन्द पुष्पों से भी इनकी उपमा दी गयी है। वीक्षण या देखने की क्रिया के सम्बन्ध में कमल के पुष्पों की वर्षा या उनका उद्गमन आदि भी उपमित हुए हैं।[7] नेत्रों के आकार के लिए मत्स्य, कमल, कमलदल, मृग-नेत्र, खंजन आदि उपमान हैं। प्राचीन चित्रों और मूर्तियों में इन वस्तुओं के सादृश्यरक्षी नेत्र बहुत पाये जाते हैं। मत्स्य की उपमा केवल सादृश्य में ही नहीं बल्कि सजलता के लिए भी व्यवहृत हुई है। सूरदास ने सजल नयनों की उपमा के लिए मत्स्यों में ही थोड़ी-सी योग्यता देखी थी।

दोनों भ्रुवों का टेढ़ा होना, न बहुत मोटा और न बहुत मिला हुआ होना, सौभाग्य का लक्षण माना गया है।[8] इसलिए उनकी उपमा वल्ली, धनुष—विशेषकर काम-धनुष, तरंग, भृंगावली और पल्लवों से दी जाती है।[9] कभी-कभी सर्प और भ्रुवों के उपमान कहे गये हैं।[10]

नासा के दोनों पुट समान होने चाहिए।[11] इसके लिए तिल के फूल की उपमा

1. गोवर्धन।
2. बृहत्संहिता, 70-7
3. अ. शे., 13-6
4. अ. शे., पृ. 47
5. अ. शे., 13-15
6. कवि-प्रसिद्धियाँ देखिए।
7. अ. शे., पृ. 40
8. बृ. सं., 70-8
9. अलंकारशेखर, 13-4
10. वही, पृ. 48
11. बृ० सं० 70-7; गरुड़पुराण 44 अध्याय।

देते हैं।[1] श्रीहर्ष ने सुझाया है कि इसका वर्णन काम के तरकश के रूप में भी किया जाना चाहिए।[2] इसके सिवा सुग्गे की चोंच से भी इसकी उपमा देने की रीति[3] है। अलंकार-शेखर में अन्यत्र (पृ. 48) पाटली पुष्प को भी नासिका का उपमान माना गया है। निःश्वास का सुगन्धित वर्णन करना भी कवियों में रूढ़ है।

गोवर्धन के अधरों के लिए अत्यन्त माधुर्य, उच्छूनता (स्फीति) और लालिमा ये तीन गुण वर्णनीय बताये हैं।[4] वराहमिहिर ने बन्धुजवी के समान लाल और अमांसल (पतले) अधर को प्रशस्त बताया है।[5] इन गुणों को ध्यान में रखकर अधरों के लिए प्रवाल (मूंगे), बिम्बाफल, बन्धूकपुष्प, पल्लव तथा मीठे पदार्थों से उपमा देने की प्रथा है।[6] मुख के भीतरी अवयवों में दांतों में श्वेतता, अधोभाग की लालिमा और अत्यन्त दीप्ति वर्णनीय गुण माने गये हैं।[7] इनके सिवा दांतों का बत्तीस होना भी सौभाग्य का लक्षण माना जाता है। इन गुणों के लिए मुक्ता, माणिक्य, नारंगी, दाड़िम, कुन्दकली और ताराओं से उपमा देते हैं।[8] सामुद्रिक लक्षणों के अनुसार कुन्दकली के समान दांत स्त्रियों को पति-सुख के दाता माने गये हैं।[9] दांतों का सम्बन्ध हँसी से है। शायद इसीलिए हास्य में भी इन गुणों का होना आवश्यक समझा गया है। इसके लिए ज्योत्स्ना, चन्द्रमा, फूल, अमृत के फेन और कैरव की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। जीभ की उपमा अंचल, दोला आदि से देते हैं।[10] जीभ की अपेक्षा वाणी का वर्णन करना ही कवियों में अधिक प्रसिद्ध है। गोवर्धन ने वाणी में दो गुण वर्णनीय बताये हैं—माधुर्य और स्पष्टता (अ. शे., पृ. 19)। इसके लिए उपमान हैं—हंसावली, शुक, किन्नर, वेणु, वीणा, कोकिल और मीठी चीजें।[11] कण्ठ के लिए गोवर्धन ने दीर्घता और त्रिरेखता ये दो गुण बताये हैं (अह. शे. पृ. 49)। इसका उपमान कम्बु (शंख) और कपोत है। ग्रीवा और कण्ठ के उपमान एक ही हैं। वराह ने कम्बु के समान ग्रीवा को सुख का कारण माना है। वराह ने कोकिल और हंस के समान वाणी को अनल्प सुख का कारण कहा है (70-7) और ग्रीवा के लिए भी 'ग्रीवा च कंबुनिचितार्थ-सुखानि धत्ते'[12] (70-7) कहा है।

1, अ. शे., 13-5
2. क. शे., टीका कामतूणीकृत्य नामां बर्ण्यंते इति श्रीहर्षः।
3 अ. शे., पृ. 48
4. गोवर्धन।
5. बृ. सं, 70-6
6. अ. शे., 13-7
7. गोवर्धन।
8. अलंकारशेखर, 13-8
9. बृ. सं., 70-6
10. अलंकारशेखर, 13-15
11-12. अलंकारशेखर, 13-8

यह आश्चर्य की बात है कि कवि लोग जहाँ मुखमण्डल पर तिल का भी वर्णन करना नहीं छोड़ते वहाँ वे कान को एकदम भूल गये हैं। कान का वर्णन कवियों ने जहाँ किया है वहाँ स्वतन्त्र बुद्धि से, रूढ़ि के पालनार्थ नहीं।

कण्ठ और कटि का मध्यवर्त्ती भाग : इस प्रदेश के निम्नलिखित अंग विशेष रूप से वर्णनीय समझे गये हैं—बाहु, हाथ, अंगुलियाँ, नख, वक्षःस्थल, नाभि त्रिवली, रोमवली, पृष्ठ और कटि। उदर का कोई स्वतन्त्र वर्णन नहीं मिलता; जहाँ मिलता है वहाँ कटि या मध्यभाग के अर्थ में उसका प्रयोग रूढ़ हो गया है। गोवर्धन के मत से भुज में मृदुता और समता; हाथ में मृदुता, शीतलता और ललाई; स्तनों में अग्रभाग की श्यामता और नाभिगामिता ये वर्णनीय गुण हैं। इन गुणों के अनुरूप कवियों में इन अंगों के लिए कई उपमान परम्परा से प्रचलित हैं। भुजाओं के लिए बिस (कमल)-लता, मृणाल नाल, और विद्युद्वल्ली तथा हाथों के लिए पद्म, पल्लव और विद्रुम की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। सामुद्रिक लक्षणों में हाथ की अंगुलियों की कृशता को सौभाग्य का लक्षण बताया गया है।[1] इसलिए इनकी उपमा कभी-कभी मूँगों की टहनियों से दी है।[2] हथेली का न बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा होना अखण्ड सौभाग्य का कारण है।[3] नखों के लिए कभी चन्द्रकला, कभी कुन्द की कली और कभी-कभी (जैसा कि कवि कल्पलताकार ने संग्रह किया है) पल्लव भी उपमान के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।[4] वराह ने इन अंगों में इन गुणों का होना अखण्ड सौभाग्य का लक्षण माना है।

स्त्री का वक्षोदेश प्राचीन और मध्ययुग के कवियों का विशेष रुचिकर अंग रहा है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इस अंग का औन्नत्य, श्यामाग्रता, विस्तृति, दृढ़ता, पाण्डुता आदि गुण काव्यशास्त्रियों के वर्णनीय माने गये हैं। वराह ने भी वर्तुलाकृत, घन, अविषम और कठिन उरस्यों को प्रशस्त कहा है (बृ. सं., 70-6)। इन गुणों के लिए कवियों में ये उपमान रूढ़ हैं : पूँगफल (सुपारी), कमल, कमल-कोरक, बिल्व (बेल), ताल, गुच्छ, हाथी का कुम्भ, पहाड़, घड़ा, शिव, चक्रवाक, सौवीर, जम्बीर, बीजपूर, समुद्र, छोलंग आदि।[5] सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार स्त्रियों की दक्षिणावर्त्त नाभि प्रशस्त मानी गयी है। इस गुण को अभिव्यक्त करने के लिए कवियों में निम्नलिखित उपमान प्रसिद्ध है : रसातल, आवर्त्त, ह्रद, कूप, नद आदि।[6] कभी-कभी रक्तपुष्प और विवर या पुष्करिणी के कमल के साथ भी उसकी उपमा दी गयी है।[7] नाभि के ऊपर से जो हल्की रोमराजि ऊपर उठी होती है वह भी कवियों

1. अलंकारशेखर, 13-9; और बृहत्संहिता स्त्रीलक्षणाध्याय।
2. कविकल्पलता।
3. बृहत्संहिता, 70 अध्याय।
4-5. अलंकारशेखर, पृ. 40
6. अलंकारशेखर, 13, 10-11 ; बृहत्संहिता 7-4।
7. कविकल्पलता, 13

का बहुत प्रिय विषय रहा है। गोवर्धन ने उसमें मृदुता, श्यामता, सूक्ष्मता और नाभिगामिता : इन गुणों को वर्णनीय कहा है। नाभि के निचले भाग को वलि कहते है। तीन वलियों का होना सौभाग्य का लक्षण माना गया है।[1] इसीलिए इसकी उपमा के लिए नदी, उसकी तरगें, सोपान, नि श्रेणी आदि उपमाएँ कवियों में प्रसिद्ध हैं। पीठ का वर्णन प्रायः कवियों में प्रसिद्ध नही है, साधारणतः स्त्री के अग्रभाग के सौन्दर्य का वर्णन ही प्रसिद्ध है; पर अवस्था विशेष में (जैसे मान के समय मुँह फिराकर बैठी हुई अवस्था मे) पीठ की उपमा कचन पट्टिका से दी जाती है, कटि का क्षीण वर्णन ही प्रशस्त माना गया है। इसकी पराकाष्ठा दिखाने के लिए कभी-कभी कविगण उसका वर्णन शून्य-रूप में करते है। साधारणतः निम्नलिखित उपमाएँ कटि के लिए प्रसिद्ध है : सुई की नोक, शून्य, अणु, वेदी, सिंह की कटि और मुष्टिग्राह्यता।[2]

कटि का अधोभाग : इस प्रदेश मे जघन, नितम्ब, उरु, चरण, अँगूठा, नख, नूपुरध्वनि, गमन आदि वर्णनीय विषय है। गोवर्धन ने जंघा में कान्ति, वृत्तानुपूर्वता, नातिदीर्घता, अत्यन्त मन्दता और शीतलता, ये वर्णनीय गुण बताये है। वराह ने कहा है कि जिस कुमारी के चरण स्निग्ध, उन्नत, आगे को पतले और लाल नाखूनवाले हों; सम, उपचित, सुन्दर और गुप्त गुल्फ-समन्वित हों; अंगुलियाँ सटी हुई तथा चरणतल कमल की कान्तिवाला हो; उसके साथ विवाह करनेवाले पुरुष को राज्य-प्राप्ति होती है। फिर भी जिस कन्या की जाँघें रोमरहित और शिराहीन हों, दोनों जानु सम हों; घुटनों की सन्धियाँ ऊबड़-खाबड़ न हों; उरुदेश घन और हाथी के सूँड के समान हों; गुह्य देश विपुल और अश्वत्थ-पत्र के समान हो; श्रोणी, ललाट और उरु कछुए की पीठ की भाँति बीच मे ऊँचे और दोनो ओर ढालू हों; मणिबन्ध गूढ़ तथा नितम्ब विस्तीर्ण और मांसल हों; तो कन्या श्रीयुक्त होती है।[3] इन गुणों को लक्ष्य करके कवि जघन की उपमा पुलिन से, नितम्ब की उपमा पीढ़ा, प्रस्तर, पृथ्वी, पहाड़, चक्र आदि से, उरु की उपमा हाथी की सूँड़, कदली-स्तम्भ और करभ से, चरणो की उपमा पल्लव, कमल, स्थल-पद्म और प्रवाल से और अँगूठे के नख की उपमा प्रवाल से देते है। गति का सम्बन्ध इन्हीं अंगों से है अतः इनके ऐसा रहते गति का मन्द होना स्वाभाविक है। अतएव इसकी उपमा भी हाथी और हंस के गमन से दी गयी है। नूपुर-ध्वनि की उपमा सारस, हंस आदि के शब्दों के साथ देना प्रसिद्ध है।[4]

इस प्रकार कवियों में स्त्री-रूप का वर्णन प्रसिद्ध है। स्त्री-रूप के सम्बन्ध में सामुद्रिक लक्षणों के लिए गरुड़पुराण 64 अध्याय द्रष्टव्य है।

1. बृहत्संहिता, 70
2. अलंकारशेखर 13, 11-12
3. बृहत्संहिता, 70-1-3
4. अलंकारशेखर, 13-13-14

हिन्दी साहित्य

उसका उद्भव और विकास

अपनी मूक सेवाओं से साहित्य को महान् और गतिशील
बनानेवाले अगणित अख्यात और अज्ञात साहित्य-
साधकों को यह पुस्तक समर्पित है, जिनका
नाम इतिहासकार नही जानता।

प्रस्तावना

'हिन्दी' शब्द का अर्थ : हिन्दी भारतवर्ष के एक बहुत विशाल प्रदेश की साहित्य-भाषा है। राजस्थान और पंजाब राज्य की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार के पूर्वी सीमान्त तक तथा उत्तरप्रदेश के उत्तरी सीमान्त से लेकर मध्यप्रदेश के मध्य तक के अनेक राज्यों की साहित्यिक भाषा को हम हिन्दी कहते आये हैं। इस प्रदेश में अनेक स्थानीय बोलियां प्रचलित है। सबका भाषा-शास्त्रीय ढांचा एक-जैसा ही नही है, साहित्य में भी किसी एक ही बोली के ढांचे का सदा व्यवहार नहीं होता था, फिर भी हिन्दी साहित्य की चर्चा करनेवाले सभी देशी-विदेशी विद्वान् इस विस्तृत प्रदेश के साहित्यिक प्रयत्नों के लिए व्यवहृत भाषा या भाषाओं को हिन्दी कहते रहे है। वस्तुतः हिन्दी साहित्य के इतिहास मे 'हिन्दी' शब्द का व्यवहार बड़े व्यापक अर्थों मे होता रहा है।

जिस विशाल भू-भाग को आज हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्र कहा जाता है, उसका कोई एक नाम खोजना कठिन है। परन्तु इसके मुख्य भाग को पुराने जमाने से ही मध्य-देश कहते रहे है। यद्यपि वर्त्तमान भारतवर्ष के रूप को देखते हुए इस विस्तीर्ण भू-भाग को 'मध्य-देश' कहना ठीक नही मालूम होता, तो भी यह शब्द प्राचीन काल से ही बहुत अधिक परिचित है, इसलिए इस पुस्तक में हम 'हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्र' जैसे भारी-भरकम शब्द का सदा व्यवहार न करके 'मध्य-देश' का ही व्यवहार करेंगे।

लगभग एक सहस्र वर्षों से इस मध्य-देश मे साहित्यिक प्रयत्नों के लिए एक प्रकार की केन्द्रीय भाषा का व्यवहार होता रहा है। देश-काल भेद से साहित्यिक भाषा के रूपों में भेद अवश्य पाया जाता है, परन्तु प्रयत्न बराबर यही रहा है कि भाषा केन्द्रीय भाषा के निकट रहे। हिन्दी की एकता इस प्रयत्न में ही है। यह परम्परा आज भी ज्यों-की-त्यों है। यद्यपि इस भाग में अनेक उपभाषाओं का प्रयोग होता है, किन्तु समाचारपत्र, सभा-समितियों की कार्यवाहियां, पाठ्यपुस्तकें, व्याख्यान और विचार-विमर्श आदि कार्य केन्द्रीय भाषा में ही किये जाते हैं। 'हिन्दी' शब्द का व्यवहार इसी केन्द्रोन्मुख भाषा के अर्थ में होता है। जिन क्षेत्रों के लोग अपने साहित्यिक प्रयत्नों में केन्द्रोन्मुखी भाषा का प्रयोग करते हैं, वे ही आज हिन्दी-भाषी कहे जाते हैं। इनका यह प्रयत्न नया नही है। वस्तुतः हिन्दी शब्द उतना एक-रूपा भाषा के अर्थ में व्यवहृत नही होता, जितना परम्परा के

अर्थ में होता है।

दीर्घ काल से हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक अपभ्रंश भाषा के साहित्य को भी हिन्दी साहित्य के पूर्वरूप के रूप में ग्रहण करते आये हैं। मिश्रबन्धुओं ने अपनी पुस्तक मे अनेक अपभ्रंश रचनाओं को स्थान दिया है। स्वर्गीय पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तो अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' कहना अधिक पसन्द करते थे (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन सस्करण, भाग-2)। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास के प्रथम संस्करण में आदिकाल के अन्दर अपभ्रंश रचनाओं की भी गणना की थी, क्योंकि "वे सदा से भाषा-काव्य के अन्तर्गत मानी जाती रही हैं।" सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री राहुल सांकृत्यायन ने भी अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी कहा है। उन्होंने जब बौद्ध सिद्धों के पदों और दोहों को हिन्दी कहा था, तब बड़ा विरोध हुआ था, क्योंकि बंगाल के विद्वान् उसे बंगला मानते आये हैं। इसी तरह गुजरात के विद्वान् पश्चिमी अपभ्रंश की रचनाओं को 'जूनी गुजराती' अर्थात् पुरानी गुजराती मानते आये है। विद्वानों ने अनेक बार यह प्रश्न किया है, कि क्या अपभ्रंश को हिन्दी कहा जा सकता है?

अपभ्रंश का साहित्य : बहुत दिनों तक पण्डितों को अपभ्रंश साहित्य की जानकारी बहुत कम थी। कम तो अब भी है, पर अब पहले की अपेक्षा इस भाषा का बहुत अधिक साहित्य हमारे पास है। सन् 1877 ई. में पिशेल ने हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण का सुसम्पादित संस्करण निकाला था। इस पुस्तक के अन्त में प्राकृतों से भिन्न अपभ्रंश भाषा का व्याकरण दिया हुआ है, और अपभ्रंश के पदों के उदाहरण के लिए अपभ्रंश के कुछ पद्य—अधिकतर दोहे—उद्धृत किये गये हैं। हेमचन्द्राचार्य जैन धर्म के महान् आचार्य थे, वे अपने समय में 'कलिकाल-सर्वज्ञ' कहे जाते थे। इनके प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश की चर्चा है। अन्य प्राकृतों में व्याकरण के प्रयोगों का उदाहरण देते समय तो उन्होंने एक शब्द या एक वाक्यांश को पर्याप्त समझा है, पर अपभ्रंश के पदों का उदाहरण देते समय उन्होंने पूरे-पूरे दोहे उद्धृत किये है। इससे इस भाषा के प्रति आचार्य की ममता सूचित होती है। वे उन सभी से एक शब्द या आवश्यकता पड़ने पर एक ही वाक्यांश उद्धृत कर सकते थे, पर उन्होने ऐसा न करके पूरा पद्य उद्धृत किया है। इस प्रकार बहुत-सी अमूल्य साहित्यिक रचनाएँ लुप्त होने से बच गयी हैं। बहुत दिनों तक अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन के लिए विद्वान् लोग इन्हीं दोहों से सन्तोष करते आये हैं। इनमे कई कवियों की रचनाएँ हैं। कुछ रचनाएँ हेमचन्द्राचार्य की भी हो सकती हैं। पिशेल ने भी जब 1902 ई. मे जर्मन भाषा मे अपनी पुस्तक प्रकाशित की, तो प्रधान रूप से इन दोहों का अध्ययन किया, और अन्य उपलब्ध साहित्य अर्थात् 'विक्रमोर्वशीय', 'सरस्वती कण्ठाभरण', 'वैताल-पंचविशति', 'सिंहासनद्वात्रिंशतिका' और 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' आदि ग्रन्थों में प्रसंग-क्रम से आयी हुई कुछ अपभ्रंश रचनाओं का उपयोग किया। उनका विश्वास था कि अपभ्रंश का विशाल साहित्य अब खो गया है, बहुत दिनों तक अध्ययन

इससे आगे नहीं बढ़ा। गुलेरीजी ने अपनी पुस्तक में 'कुमारपाल चरित' तथा 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' आदि में संगृहीत पद्यों की चर्चा की है। पर हेमचन्द्राचार्य के संगृहीत दोहे उनके भी प्रधान सम्बल थे। बहुत दिनों तक इन्हीं पुस्तकों में प्राप्त बिखरी हुई सामग्री से अपभ्रंश भाषा और साहित्य का मर्म समझा जाता रहा।

सन् 1913-14 ई. में एक जर्मन विद्वान् हर्मन याकोबी इस देश में आये। अहमदाबाद के एक जैन ग्रन्थ-भाण्डार का अवलोकन करते हुए, एक साधु के पास उन्हें 'भविसयत्त कहा' की एक प्रति मिली। उन्होंने इसकी भाषा देखकर समझा कि यह अपभ्रंश की रचना है। इस समाचार से विद्वानों में बड़ा उत्साह आया और अन्य अपभ्रंश ग्रन्थों के पाने की आशा बलवती हुई। बाद में अनेक जैन भाण्डारों की खोज करने पर अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्राप्त हुई। यद्यपि ये रचनाएँ अधिकांश में जैन कवियों की लिखी थी, परन्तु इनसे लोकभाषा के अनेक काव्य-रूपों पर बिल्कुल नया और चकित कर देनेवाला आलोक पड़ा। स्वयम्भू, पुष्पदन्त, धनपाल, जोइन्दु, रामसिंह आदि प्रथम श्रेणी के जैन कवियों की तो रचनाएँ प्राप्त ही हुईं, अब्दुल रहमान-जैसे मुसलमान कवि की उत्तम रचना भी प्राप्त हुई। अब हमारे सामने समृद्ध अपभ्रंश साहित्य का बहुत उत्तम निदर्शन है।

जैनेतर अपभ्रंश : सन् 1916 ई. में म. म. पं. हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल से प्राप्त अनेक बौद्ध सिद्धों के पदों और दोहों को 'बौद्ध गान ओ दोहा'[1] नाम देकर बंगाक्षरों में प्रकाशित किया। इन पदों और दोहों की भाषा को शास्त्रीजी ने बंगला कहा। बाद में डॉ. शहीदुल्ला और डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची तथा पं. राहुल सांकृत्यायन के प्रयत्नों से इस श्रेणी के और साहित्य का भी कुछ-कुछ प्रकाशन हुआ। वस्तुतः इन दोहों और पदों की भाषा भी अपभ्रंश ही है, पर कुछ पूर्वी प्रयोग उनमें अवश्य है। दोहों की भाषा में तो परिनिष्ठित अपभ्रंश की मात्रा अधिक है। अर्थात् इनमें भी केन्द्रीय भाषा के निकट जाने का प्रयत्न है। शास्त्रीजी के उद्योगों से ही विद्यापति की 'कीर्त्तिलता'[2] का प्रकाशन हुआ। इस पुस्तक की और इसके साथ ही इसी कवि की लिखी हुई एक और पुस्तक 'कीर्त्तिपताका' की सूचना तो ग्रियर्सन ने पहले ही दे रखी थी, पर इसे प्रकाशित करने का श्रेय शास्त्रीजी को है। विद्यापति ने स्वयं इस पुस्तक की भाषा को 'अवहट्ठ' (अपभ्रष्ट—अपभ्रंश) कहा है। इसमें भी मैथिली प्रयोग मिलते हैं। इसमें गद्य

1. बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता से 1323 बंगाब्द में बंगला अक्षरों में प्रकाशित; बाद में 'दोहा कोष' डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा सम्पादित होकर नगराक्षरों में कलकत्ते से प्रकाशित।
2. प्रथम बार बंगाक्षरों में महामहोपाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री के सम्पादन में बंगला अनुवाद के साथ कलकत्ते से 1331 बंगाब्द में और बाद में डॉ. बाबूराम सक्सेना के सम्पादन में नगराक्षरों में हिन्दी अनुवाद सहित काशी नागरी प्रचारिणी सभा से ई. 1956 में प्रकाशित।

का भी प्रयोग है। अधिकांश मैथिली प्रयोग गद्य में ही मिलते हैं। पद्यों में अपभ्रंश के प्रयोग ही अधिक मिलते हैं। इस पुस्तक में भी केन्द्रीय भाषा के निकट रहने का वैसा ही प्रयत्न है, जैसा बौद्ध सिद्धों के दोहों में है।

राजपूताने में 'ढोला मारू' के दोहे बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके प्राचीनतर रूप का सम्पादन राजस्थान के तीन विद्वानों—श्री रामसिंह, श्री सूर्यकरण पारीक और श्री नरोत्तम स्वामी एम. ए.—ने किया,[1] और इस प्रकार अपभ्रंश के निकट जानेवाली भाषा के अध्ययन का एक और मूल उपलब्ध हुआ।

लक्ष्मीधर नाम के एक और पण्डित ने लगभग चौदहवीं शताब्दी के अन्त में 'प्राकृत पैंगलम्' नामक एक ग्रन्थ संग्रह किया जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों की विवेचना है, और उदाहरण-रूप में कई ऐसे कवियों की रचनाएँ उद्धृत हैं, जिनका पता और किसी मूल से नहीं लगता। इस ग्रन्थ में उद्धृत कविताओं में से कई कवियों के नाम भी मिल जाते हैं, पर अधिकांश कविताओं के रचयिता अज्ञात ही हैं। यह 'बिब्लियोथिका इण्डिका' में प्रकाशित हुआ था। जिन प्रतियों के आधार पर इसका सम्पादन हुआ है, उनका समय सोलहवीं शताब्दी से पहले का बताया गया है। डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी का अनुमान है, कि इसमें नवीं से बारहवीं शताब्दी तक के कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। इस प्रकार जैनेतर अपभ्रंश का भी एक काफी अच्छा साहित्य हमें उपलब्ध हो गया है। इन प्रकाशित रचनाओं के आधार पर, और 'स्वयम्भू' नामक प्रसिद्ध जैन कवि की अप्रकाशित रचनाओं का अध्ययन करके सुप्रसिद्ध विद्वान् पं. राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्यधारा' नाम का एक उपयोगी संग्रह प्रकाशित किया है। इसमें अब तक के प्राप्त अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी की अनेक रचनाओं के नमूने प्राप्त हो जाते हैं।[2] राहुलजी ने जिन कवियों की रचनाओं को अपने संग्रह में स्थान दिया है, उनकी सूची ही सिद्ध करती है कि अब विद्वानों के सामने काफी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक

1. 'ढोला मारूरा दोहा'—काशी नागरी प्रचारिणी सभा से सं. 1991 में प्रकाशित।
2. (1) आठवीं शताब्दी के कवि—सरहपा, सबरपा, स्वयम्भू, भुसुकपा;
   (2) नवीं शताब्दी के कवि—लुइपा, विरूपा, डोम्बिपा, दारिकपा, गुण्डरिपा, गोरक्षपा, टेंटणपा, महीपा, भादेपा, धामपा;
   (3) दसवीं शताब्दी के कवि—देवसेन, तिलोपा, पुष्पदन्त, शान्तिपा, योगीन्दु (जोइन्दु), रामसिंह, धनपाल;
   (4) ग्यारहवीं शताब्दी के कवि—एक अज्ञातनामा कवि, अब्दुर्रहमान, बब्बर, कनकामर मुनि, जिनदत्त सूरि;
   (5) बारहवीं शताब्दी के कवि—हेमचन्द्र, हरिभद्र, आमभट्ट, शालिभद्र, विद्याधर, सोमप्रभ, जिनपद्म, विजयचन्द्र, चन्द्र;
   (6) तेरहवीं शताब्दी के कवि—लक्खण, जज्जल, अज्ञात, अभयदेव सूरि, हरिब्रह्म, दो अज्ञात, राजशेखर सूरि।

सामग्री प्राप्त हो गयी है।

अपभ्रंश साहित्य को भाषा काव्य कहा गया है : इस अपभ्रंश साहित्य को मध्य-देश में उसी प्रकार भाषा-काव्य समझा जाता रहा है, जिस प्रकार परवर्ती ब्रजभाषा या अवधी की कविता को (जिसे हिन्दी कहने मे किसी पण्डित को संकोच नहीं होगा)। 'कुमारपालचरित' को और 'हम्मीररासो' को भाषा-काव्य ही माना गया है। शिवसिंह ने किसी पुरानी अनुश्रुति के आधार पर (जो सम्भवतः टॉड के 'राजस्थान' से समर्थित है) भाषा का प्रथम कवि पुष्प नामक किसी कवि को बताया है, जो अवन्ती के राजा भोज के 'मान' नामक पूर्वपुरुष का भाट था। वे लिखते हैं कि "संवत् सात सौ सत्तर विक्रमादित्य मे राजा 'मान' अवन्तीपुर का बड़ा पण्डित और अलंकार विद्या में अद्वितीय था। उसके पास पुष्प भाट ने प्रथम संस्कृत ग्रन्थ पढ़ पीछे भाषा में दोहा बनाये। हमको भाषा की जड़ यही कवि मालूम होता है।" अनुमान है कि यह पुष्प और कोई नहीं सुप्रसिद्ध अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त ही थे।

ये मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा कृष्ण के सभा-कवि थे। मान्यखेटवालों का एक बार उज्जयिनी पर अधिकार हो गया था। ऐसा जान पड़ता है, कि मान्यखेट का ही परवर्ती रूप राजा 'मान' हो गया है, और सभा-कवि का बाद में भाट हो जाना भी कुछ आश्चर्य की बात नही है। यह अनुश्रुति विकृत रूप में ही प्राप्त हुई है। संवत् 770 के साथ इस अनुमान का कोई तुक नही है, क्योंकि पुष्पदन्त बहुत बाद के (दसवीं शताब्दी के) कवि है, और मान्यखेट का उज्जयिनी पर अधिकार भी दसवी शताब्दी में हुआ था। लेकिन पुष्प और पुष्पदन्त को एकता में इस कल्पित संवत् को बाधक नही होने देना चाहिए। परन्तु यह अनुमान ठीक हो या न हो, इतना तो मान ही लिया जा सकता है, कि आठवी शताब्दी का पुष्प नामक कवि, जिसकी चर्चा शिवसिंह ने की है, अपभ्रंश का कवि ही होगा; क्योंकि उस समय की उपलब्ध सभी रचनाएँ अपभ्रंश की हैं। इस प्रकार अपभ्रंश काव्य को 'भाषा-काव्य' कहने की प्रथा बहुत पुरानी है। भाषा की दृष्टि से हेमचन्द्राचार्य द्वारा परिभाषित परिनिष्ठित अपभ्रंश के साथ पुरानी हिन्दी का—जिसमे ब्रज, अवधी, बुन्देली, बघेली, राजस्थानी आदि की गणना की जाती है—घनिष्ठ सम्बन्ध तो है, परन्तु उसे बहुत निकट का सम्बन्ध नही कह सकते। कुछ भाषा-शास्त्रियों ने तो इनमे से प्रत्येक भाषा के पूर्ववर्ती भिन्न-भिन्न अपभ्रंशो की कल्पना की है। विशुद्ध भाषा-शास्त्र की दृष्टि से अपभ्रंश मध्यकालीन आर्य-भाषा के तीन रूपों—पाली, प्राकृत, अपभ्रंश—में अन्तिम है। इसी से आधुनिक आर्य-भाषाओं का विकास बताया जाता है। ग्रियर्सन ने कल्पना की थी, कि प्रत्येक आधुनिक आर्य-भाषा की एक अपनी अपभ्रंश-भाषा थी। इन दिनों हमारे पास ऐसा कोई निश्चित पुस्तकी-प्रमाण उपलब्ध नही है, जिससे इस कल्पना के पक्ष या विपक्ष मे दृढ़ता के साथ कुछ कहा जा सके। लेकिन यह बिल्कुल सम्भव नही है, कि एक ही प्राकृतोत्तर अपभ्रंश से आधुनिक विभिन्न आर्य-भाषाएँ विकसित हुई हों। उदाहरणार्थ मागधी प्राकृत से जो अपभ्रंश भाषा विकसित हुई वही आधुनिक

बंगला, उड़िया, असमी, मागधी, मैथिली और भोजपुरी के रूप में बदल गयी हो, यह सम्भव नहीं जान पड़ता । इन सबकी पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषाएँ निश्चय ही अलग-अलग रूपों में रही होंगी । यद्यपि उनमें उतना अन्तर नहीं होगा, जितना इन दिनों हो गया है । इन्हीं अपभ्रंश बोलियों से साहित्यिक अपभ्रंश का रूप बना है । शुरू-शुरू में इसमें प्राकृत का बहुत प्रभाव रहा होगा । नमिसाधु ने काव्यालंकार की टीका में कहा है, कि वस्तुतः प्राकृत (महाराष्ट्री) ही अपभ्रंश है, जिसके साथ शौरसेनी, मागधी आदि के बहुत-से रूप मिल गये हैं । परवर्ती अपभ्रंश वैय्याकरणों ने नागर, उपनागर, व्राचड नाम के तीन भेद किये हैं । इनमें नागर गुजरात की भाषा रही होगी, उपनागर पश्चिमी राजस्थान और दक्षिणी पंजाब की भाषा रही होगी और व्राचड को लाट और विदर्भ की भाषा कहा गया है । हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश की चर्चा की है, वह नागर अपभ्रंश है जिसका आधार शौरसेनी प्राकृत है । आधुनिक गुजराती और राजस्थानी इस नागर अपभ्रंश से विकसित हुई जान पड़ती है । विद्वानों ने दिखाया है कि हेमचन्द्र के उदाहरणों में जो भाषा है, उसमें अनेक बोलियों का मिश्रण है । वस्तुतः यह किसी एक देश और एक काल की बोली नहीं है । यह भी एक साहित्यिक भाषा है, और हेमचन्द्र के युग तक उसी प्रकार मृत और अप्रचलित हो चली थी जिस प्रकार अन्य प्राकृत भाषाएँ । खड़ी बोली का उससे सीधा विकास नहीं हुआ । इस साहित्यिक भाषा का प्रधान आधार वह अपभ्रंश बोली है, जो सम्भवतः छठी-सातवीं शताब्दी तक जीवित रही होगी । व्रजभाषा और खड़ी बोली की पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषा की भाँति ही वह शौरसेनी प्राकृत से विकसित हुई होगी । इस प्रकार खड़ी बोली और व्रजभाषा इसकी एक पुश्त पहले की भाषा से प्रत्यक्ष सम्बन्धित है, और इससे परोक्ष रूप से । परन्तु यदि साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से विचार किया जाय, तो अपभ्रंश के प्रायः सभी काव्य-रूपों की परम्परा प्रायः हिन्दी में ही सुरक्षित है । हमने ऊपर जिस सामग्री का उल्लेख किया है उसमें कई प्रकार के काव्य-रूप प्राप्त होते हैं, वे सभी काव्य-रूप—अधिकांश प्रायः ज्यों-के-त्यों और कुछ थोड़ा बदलकर—मध्य-देश के साहित्य में निरन्तर व्यवहृत होते आये हैं ।

अपभ्रंश के तीन बन्ध : अपभ्रंश साहित्य में तीन प्रकार के बन्ध पाये जाते हैं, तीनों के कई-कई रूप अब तक के प्राप्त साहित्य में उपलब्ध हुए हैं । इन सबको हिन्दी साहित्य में सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है । शायद ही किसी अन्य प्रान्तीय भाषा के साहित्य में इन सब रूपों की उपल[illegible] ।

मुख्य बन्ध तीन हैं : 1. [illegible] बन्ध, 2. पद्ध[illegible]द के बन्ध [illegible] गेय पद-बन्ध । इनके सिवा छप्पय और [illegible] । एक-एक करके इनका परिचय दि[illegible] जस

1. दोहा बन्ध—दोह[illegible] अपना [illegible] प्रकार गाथा प्राकृत का [illegible] 'गाथा [illegible] 'दोहा बन्ध' [illegible] था ।

में 'दूहा विद्या' में विवाद करनेवाले दो चारणों की कथा आयी है, जो यह सूचित करता है कि अपभ्रंश-काव्य को 'दूहा विद्या' भी कहने लगे थे। दोहा अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य में एकदम अपरिचित है। किन्तु परवर्ती हिन्दी-साहित्य में यह छन्द अपनी पूरी महिमा के साथ वर्तमान है। चार प्रकार से इनका प्रयोग अपभ्रंश-साहित्य में हुआ है :

(1) निर्गुण-प्रधान और धार्मिक उपदेशमूलक दोहे—बौद्ध सिद्धों और जैन मुनियों की रचनाओं में इस श्रेणी के दोहे मिलते हैं। इनकी सीधी परम्परा में सन्त कवियों के दोहे हैं। परवर्ती निर्गुणमार्गी सन्त कवियों के दोहों को 'साखी' कहा जाने लगा था। इनकी स्थापना-शैली, वक्तव्य वस्तु और कहने के ढंग में बहुत साम्य है। धार्मिक उपदेश के कुछ दोहे हेमचन्द्र के दोहों में भी मिल जाते हैं।

(2) शृंगारी दोहे—प्राकृत की गाथाओं की भाँति ये फुटकर द्विपंक्तिबद्ध दोहे अपभ्रंश में बहुत अधिक प्रचलित थे। इनमें रूपवर्णन, विरह की उग्रता, मिलन के उल्लास और हाव-भाव-लीला आदि के बहुत सुन्दर वर्णन हुआ करते थे। हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण में तथा प्रबन्ध-चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में ऐसे दोहे पर्याप्त मात्रा में संगृहीत हुए हैं। इन दोहों की सीधी परम्परा ढोला मारू के दोहों और बिहारी, मतिराम की सतसैयों में तथा मुबारक अली के शतकों आदि में सुरक्षित है।

(3) नीति-विषयक दोहे—इनका भी पता हेमचन्द्राचार्य के संगृहीत दोहों से ही लगता है। इनमें मनुष्य को अवसरोचित कर्त्तव्य की शिक्षा दी जाती है। यह परम्परा भी हिन्दी साहित्य में सुरक्षित है। रहीम, तुलसीदास, वृन्द और बिहारी की रचनाओं में इस श्रेणी के दोहे बहुत आये हैं।

(4) वीररस के दोहे—ये अपभ्रंश साहित्य की अपनी विशेषता है। इन दोहों में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण नयी बात यह है, कि स्त्रियों के मुख से अपने वीर पतियों के सम्बन्ध में अपूर्व दर्पोक्तियाँ कहलायी गयी हैं। इसके पूर्व के साहित्य में इस श्रेणी की रचनाएँ क्वचित्-कदाचित् ही मिलती है। राजस्थानी के साहित्य में यह विशेषता प्रचुर मात्रा में सुरक्षित हुई है, और हिन्दी की अन्याय उपभाषाओं में भी इस श्रेणी का साहित्य खोजा जा सकता है।

2. पद्धड़िया बन्ध : अपभ्रंश में अनेक चरितकाव्य पाये जाते हैं। ये पद्धड़िया बन्ध में लिखे जाते थे। स्वयम्भू, धनपाल, पुष्पदन्त आदि जैन कवियों के अपभ्रंश काव्य मिले हैं। इन चरितकाव्यों में पद्धरी या पद्धड़िया छन्द की आठ-आठ (या कभी-कभी कुछ कम-ज्यादा) पंक्तियों के बाद घत्ता दिया रहता है। इसे 'कडवक' कहते हैं।

पद्धरी 16 मात्रा का मात्रिक छन्द है। इस छन्द के नाम पर इस पद्धति पर लिखे जानेवाले काव्यों को पद्धड़िया बन्ध कहा गया है। स्वयम्भू ने चतुर्मुख को पद्धड़िया बन्ध का श्रेष्ठ कवि कहा है। अलिल्लह आदि छन्दों में लिखे गये काव्यों

को भी उपचार से पद्धड़िया वन्ध ही कहा गया है।

जिनदत्त सूरि के उपदेश-रसायन-रास में 16 मात्रा का अलिल्लह छन्द है। परन्तु टीकाकार ने इसे भी पद्धटिका वन्ध या पद्धड़िया वन्ध कहा है। इससे जान पड़ता है कि पद्धड़िया वन्ध के लिए पद्धरी छन्द की ही आवश्यकता नहीं है। कोई भी 16 मात्रा का छन्द-वन्ध पद्धड़िया वन्ध के अन्तर्गत आ सकता है। पश्चिमी भारत मे पद्धड़ी और अलिल्लह छन्दों की आठ-आठ पंक्तियों पर घत्ता देने की प्रथा पायी जाती है। पर जान पड़ता है कि पूर्व-भारत में चरित-काव्य के लिए चौपाई और दोहों का अधिक उपयोग होता था। सबसे प्रथम चौपाई और दोहों की पद्धति का प्रयोग सरहपा नामक वौद्ध सिद्ध की रचनाओं में मिलता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने भ्रमवश यह लिख दिया है, कि सभी जैन चरित-काव्य दोहा-चौपाइयों में लिखे गये है। वस्तुत अव तक प्राप्त पश्चिमी अपभ्रंश के साहित्य में दोहा का घत्ता देने की प्रथा नही पायी गयी। बहुत बाद में पश्चिमी अपभ्रंश मे दोहा का घत्ता दिया जाने लगा था। 'पृथ्वीराजरासो' में बहुत कम स्थलो पर इस पद्धति का प्रयोग है, और विद्यापति की 'कीर्त्तिलता' में एक या दो स्थान पर। पर अवधी भाषा मे लिखे काव्यों मे चौपाई-दोहों की पद्धति को ही अपनाया गया है। कबीरदास की रचनाओं में भी इस पद्धति का प्रयोग है, किन्तु प्रधान रूप से कथा-काव्य के लिए ही इसका उपयोग अधिक होता था। बाद मे सन्तों के साहित्य में चौपाइयों को रमैनी कहा जाने लगा। कथा का सूत्र मिलाने के लिए भी चौपाइयों का प्रयोग किया गया है। पन्द्रहवीं शताब्दी के जैन कवि कुशल लाभ ने ढोला के दोहों मे कथा-सूत्र की योजना के लिए इस छन्द का उपयोग किया है। इस प्रकार परवर्त्ती हिन्दी साहित्य में चौपाई-दोहोंवाली प्रथा भी बहुत अधिक मात्रा में सुरक्षित हुई है। तुलसीदास ने दोहा-चौपाइयों की शैली को अपने चरम विकास तक पहुँचा दिया। उनके पहले के सूफी कवियो ने कथानक-काव्यों के लिए इसी शैली को चुना था। सम्भवत: सन्त कवियों मे से किसी ने कुछ पौराणिक ढंग के उपाख्यान भी इसी शैली में लिखे थे। तुलसीदास ने जब क्लेश के साथ कहा था, कि—

'साखी सवदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहि अधम कवि निंदहि वेद पुरान।'

तो कुछ ऐसे उपाख्यानों की ओर ही उनका इशारा था। 'कहनी' शायद सूफी कवियों के प्रेमाख्यानक काव्य हैं, या विद्यापति की 'कीर्त्तिलता' के समान प्राकृत-जन-गुन-गानमूलक 'पुरुष कहाणी' हैं। तुलसीदास के पहले की दो और पुस्तकें दोहे-चौपाई की शैली में लिखी पायी गयी हैं। एक तो अद्वैतवाद के खण्डनार्थ लिखा हुआ भागवतदास का 'भेद-भास्कर' और दूसरा किसी चन्द नामक कवि का लिखा हुआ हितोपदेश का अनुवाद (1506 ई.)। ये दोनों पुस्तकें यदि सचमुच ही तुलसीदास के पहले की हैं तो सिर्फ काव्य-रूपों के अध्ययन की दृष्टि से कुछ महत्त्व रखती हैं। अस्तु।

3. गेय पद-बन्ध : अपभ्रंश के गान करने योग्य पदों का बहुत अधिक साहित्य था। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में दो प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा की है। एक तो वह अपभ्रंश, जिसकी चर्चा उन्होंने अपने व्याकरण में की है। यह साहित्यिक भाषा थी। दूसरी ग्राम्य अपभ्रंश, जो सम्भवतः लोकभाषा थी और जीवित थी। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से यह भाषा अधिक अग्रसर भाषा है। इस प्रकार की ग्राम्य अपभ्रंश भाषा में 'रासक-डोम्बिका' आदि श्रेणी की गेय रचनाएँ लिखी जाती थीं। अपभ्रंश में अब्दुल रहमान नामक ग्यारहवीं शताब्दी के कवि का लिखा हुआ एक विरहव्यापक रासक-ग्रन्थ मिला है। हिन्दी के परवर्त्ती साहित्य में रासो जाति के अनेक गेय काव्य मिलते हैं। रासक एक छन्द का भी नाम है। जान पड़ता है कि शुरू-शुरू में इस श्रेणी की रचनाओं में रासक छन्द का प्राधान्य होता था। 'सन्देश-रासक' में एक तिहाई पद्य रासक छन्द में है। परन्तु 'पृथ्वीराज रासो' में इसका बहुत कम प्रयोग है। बाद में रासक गेय पदों का नाम ही रह गया। हिन्दी में केवल वीर राजाओं के नाम पर लिखे गये रासक या रासो ही बचे हैं। बाकी काव्य लुप्त हो गये हैं, परन्तु पुरानी गुजराती में अनेक लौकिक प्रेम-कथानकों के 'रासे' मिलते हैं।

गेय पदों का अपभ्रंश साहित्य भी बहुत थोड़ा ही बचा है। बौद्ध सिद्धों के कुछ गेय पद बच रहे हैं। परन्तु इसकी परम्परा हिन्दी साहित्य में जी रही है। कबीर, सूरदास, दादू, तुलसीदास आदि महाकवियों की रचनाओं के गेय पद इसके सबूत हैं।

प्राकृत पैंगलम्[1] से पता चलता है कि अपभ्रंश में और प्रकार के छन्द प्रचलित थे। छप्पय, कुण्डलिया, रोला, उल्लाला आदि छन्द उन दिनों बहुत लोकप्रिय थे। इन सबकी परम्परा परवर्त्ती हिन्दी साहित्य में जीवित और शक्तिशाली मिलती है।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य में प्रायः पूरी परम्पराएँ ज्यों-की-त्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्रान्तीय साहित्य में ये सारी-की-सारी विशेषताएँ इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों। यह सब देखकर यदि हिन्दी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है, तो इसे बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता। इन ऊपरी साहित्य-रूपों को छोड़ भी दिया जाय, तो इस साहित्य की प्राण-धारा निरवच्छिन्न रूप से परवर्त्ती हिन्दी साहित्य में प्रवाहित होती रही है। हम आगे इस बात की विस्तृत रूप से आलोचना करने का अवसर पायेंगे। प्रकृत यही है कि इन साम्यों को देखकर यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य का ही मूल रूप समझा, तो ठीक ही किया है।

1. प्रथम बार 'बिब्लिओथिका इण्डिका' ग्रन्थमाला में श्री चन्द्रमोहन घोष के सम्पादकत्व में सन् 1902 में प्रकाशित। फिर 'प्राकृत पिंगल सूत्राणि' के रूप में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

है कि ये रचनाएँ ही हिन्दी-साहित्य के विकास के प्रसंग में विवेच्य हो सकती हैं। वस्तुतः ये ही हिन्दी की पूर्ववर्त्ती अपभ्रंश भाषा के नमूने उपस्थित करती है। जैन आचार्यों द्वारा लिखित साहित्य से हम काव्यों के विषय मे अनुमान कर सकते है। परन्तु दो कारणों से हिन्दी के परवर्त्ती साहित्य पर जैन साहित्य का सीधा प्रभाव नहीं मिलता। एक तो यह पूरा साहित्य मध्य-देश के बाहर लिखा गया, और दूसरे, इस साहित्य में एक ऐसी धार्मिक दृष्टि की प्रधानता है जिसने मध्य-देश के साहित्य को बहुत ही थोड़ा प्रभावित किया है।

अपभ्रंश के जैन साहित्य का महत्त्व : फिर भी हिन्दी साहित्य के अध्ययन में जैन अपभ्रंश साहित्य की सहायता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। यदि दसवीं शताब्दी तक मिली हुई अपभ्रंश रचनाओं पर विचार किया जाय तो स्पष्ट रूप से मालूम होगा, कि जिस विशाल भूभाग को हमने शुरू मे ही मध्य-देश कहा है उसमे लिखा हुआ साहित्य बहुत ही कम मात्रा में उपलब्ध हुआ है। उसके आधार पर हम उस विशाल और महत्त्वपूर्ण साहित्य के विकास का कुछ भी अन्दाजा नही लगा सकते, जो आगे चलकर मूल मध्य-देश मे सूरदास, तुलसीदास, जायसी और बिहारी-जैसे कवियों की रचनाओं के रूप मे प्रकट हुआ है। दसवीं शताब्दी से पहले की जो रचनाएँ निःसन्दिग्ध रूप से 'हिन्दी रचनाएँ' मानी जाती हैं, उनमे प्रायः सबकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है, और यदि किसी प्रकार उनके मूल रूप का पता लग भी जाय, तो भी वे मूल मध्य-देश के किनारे पर पड़े हुए प्रदेशों की रचनाएँ हैं। परन्तु इन जैन आचार्यों और कवियों की रचनाएँ निस्सन्देह मूल रूप में और प्रामाणिक रूप में सुरक्षित हैं। उनके अध्ययन से तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति पर जो भी प्रकाश पड़ता है वह वास्तविक और विश्वसनीय है। इस दृष्टि से जैन रचनाओं का महत्त्व बहुत अधिक है। ये हमे लोकभाषा के काव्य-रूपों को समझने मे सहायता पहुँचाती हैं और साथ ही उस काल की भाषागत अवस्थाओं और प्रवृत्तियों को समझने की कुंजी भी देती हैं।

अपभ्रंश जैन रचनाओं का वर्गीकरण : अपभ्रंश में अनेक चरित-काव्य लिखे गये थे, जिनकी परम्परा आगे चलकर हिन्दी के चरित-काव्यों में प्राप्त होती है। परन्तु ये काव्य अब बहुत कम उपलब्ध होते हैं। बाणभट्ट के एक मित्र ईशान कवि थे, जो 'भाषा कवि' अर्थात् अपभ्रंश के कवि थे। पुष्पदन्त ने विनय प्रकट करते हुए महापुराण में कहा है कि 'मैंने न तो चतुर्भुज, स्वयम्भू, श्रीहर्ष और द्रोण को ही देखा है और न बाण और ईशान जैसे सुकवियो का ही अवलोकन किया है'। इनमें चतुर्भुज और स्वयम्भू तो अपभ्रंश के परिचित कवि हैं ही, ईशान भी अच्छे कवि रहे होंगे ऐसा स्पष्ट मालूम होता है। आजकल केवल जैन चरित-कवियो की रचनाएँ ही उपलब्ध हो सकी हैं। ईशान की कोई रचना प्राप्त नही है। स्वयम्भू अपभ्रंश के उन सबसे पुराने कवियों में हैं जिनकी रचना उपलब्ध है। इनकी चार महत्त्वपूर्ण रचनाओं का पता चला है : 'पउम चरिउ' (रामायण), 'रिट्ठणेमि चरिउ', 'पंचमी चरिउ' और 'स्वयम्भूछन्द'। केवल अन्तिम पुस्तक पूरी छपी है (तीन

साहित्यिक अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी : पहले ही बताया गया है कि स्वर्गीय पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने साहित्यिक अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहना उचित समझा था। उनके मत से इसका नाम पुरानी राजस्थानी या पुरानी गुजराती आदि नहीं दिया जा सकता; क्योंकि उससे केवल भेद-बुद्धि ही दृढ़ होती है। साहित्यिक अपभ्रंश भाषा लगभग समूचे उत्तर भारत में एक ही थी। उनमें कुछ-कुछ प्रादेशिक पुट अवश्य होते थे, पर परिनिष्ठित (स्टैण्डर्ड) अपभ्रंश एक ही थी। इसी परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा को गुलेरीजी ने 'पुरानी हिन्दी' कहा है। उनका कहना है कि "कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक-सी ही थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता की भाषा ब्रजभाषा कहलाती थी, वैसे ही अपभ्रंश को भी 'पुरानी हिन्दी' कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देश-काल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो।" यह विचार भाषाशास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है। भाषाशास्त्र के अर्थ में जिसे हम हिन्दी (खड़ी बोली, ब्रज-भाषा, अवधी आदि) कहते हैं, वह इस साहित्यिक अपभ्रंश से सीधे विकसित नहीं हुई है। व्यवहार मे पंजाब से लेकर बिहार तक बोली जानेवाली सभी उप-भाषाओं को 'हिन्दी' कहते हैं। इसका मुख्य कारण इस विस्तृत भूभाग के निवासियों की साहित्यिक-भाषा की केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति है। गुलेरीजी इस व्यावहारिक अर्थ पर जोर देते हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है, कि "यदि यह भाषा (साहित्यिक अपभ्रंश) हिन्दी नहीं है, तो ब्रजभाषा भी हिन्दी नही है और तुलसीदास की उक्तियाँ भी हिन्दी नही हैं।" जहाँ तक नाम का प्रश्न है, गुलेरीजी का सुझाव पण्डितों को मान्य नही हुआ है। अपभ्रंश को अब कोई भी पुरानी हिन्दी नहीं कहता। परन्तु जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है, निःसन्देह हिन्दी का परवर्त्ती साहित्य अपभ्रंश साहित्य से क्रमशः विकसित हुआ है।

हिन्दी की पूर्ववर्त्ती अपभ्रंश भाषा : पहले ही कहा गया है कि हेमचन्द्राचार्य ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है। एक तो वह परिनिष्ठित अपभ्रंश है, जिसका व्याकरण उन्होंने स्वयं लिखा है और जो अपभ्रंश के अधिकांश जैन कवियों और आचार्यों की रचनाओं में व्यवहृत हुई है। दूसरी श्रेणी की भाषा को हेमचन्द्र ने 'ग्राम्य' कहा है। इसमें 'रासक', 'डोम्बिका'[1] आदि की श्रेणी के लोकप्रचलित गेय और अभिनेय काव्य लिखे जाते थे। यह भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई (एडवांस्ड) बतायी जाती है। इसी में बौद्धों के पद और दोहे, प्राकृत पैंगल के उदाहृत अधिकांश पद्य, 'सन्देशरासक' आदि रचनाएँ लिखी गयी हैं। वस्तुतः यही भाषा आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई है। इसकी भाषा, शैली, काव्य-गत रियायती अधिकार, स्थापना-पद्धति, छन्द आदि ज्यों-के-त्यों परवर्त्ती हिन्दी साहित्य में आ गये हैं। मेरा विचार

1. गेय डोम्बिका-भाण-प्रस्थान, शिगक-भाणिका-प्रेरणा-रामाक्रीड़-हल्लीसक रासक गोष्ठी श्रीगदित-रागकाव्यादि ।
—काव्यानुशासन, 8-5

है कि ये रचनाएँ ही हिन्दी-साहित्य के विकास के प्रसंग मे विवेच्य हो सकती हैं। वस्तुतः ये ही हिन्दी की पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषा के नमूने उपस्थित करती है। जैन आचार्यों द्वारा लिखित साहित्य से हम काव्यो के विषय में अनुमान कर सकते है। परन्तु दो कारणों से हिन्दी के परवर्ती साहित्य पर जैन साहित्य का सीधा प्रभाव नहीं मिलता। एक तो यह पूरा साहित्य मध्य-देश के बाहर लिखा गया, और दूसरे, इस साहित्य में एक ऐसी धार्मिक दृष्टि की प्रधानता है जिसने मध्य-देश के साहित्य को बहुत ही थोड़ा प्रभावित किया है।

अपभ्रंश के जैन साहित्य का महत्त्व : फिर भी हिन्दी साहित्य के अध्ययन मे जैन अपभ्रंश साहित्य की सहायता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। यदि दसवीं शताब्दी तक मिली हुई अपभ्रंश रचनाओं पर विचार किया जाय तो स्पष्ट रूप से मालूम होगा, कि जिस विशाल भूभाग को हमने शुरू में ही मध्य-देश कहा है उसमें लिखा हुआ साहित्य बहुत ही कम मात्रा में उपलब्ध हुआ है। उसके आधार पर हम उस विशाल और महत्त्वपूर्ण साहित्य के विकास का कुछ भी अन्दाजा नही लगा सकते, जो आगे चलकर मूल मध्य-देश में सूरदास, तुलसीदास, जायसी और बिहारी-जैसे कवियों की रचनाओं के रूप में प्रकट हुआ है। दसवीं शताब्दी से पहले की जो रचनाएँ निःस्सन्दिग्ध रूप से 'हिन्दी रचनाएँ' मानी जाती हैं, उनमे प्रायः सबकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है, और यदि किसी प्रकार उनके मूल रूप का पता लग भी जाय, तो भी वे मूल मध्य-देश के किनारे पर पड़े हुए प्रदेशों की रचनाएँ हैं। परन्तु इन जैन आचार्यों और कवियों की रचनाएँ निस्सन्देह मूल रूप में और प्रामाणिक रूप में सुरक्षित हैं। उनके अध्ययन से तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति पर जो भी प्रकाश पड़ता है वह वास्तविक और विश्वसनीय है। इस दृष्टि से जैन रचनाओं का महत्त्व बहुत अधिक है। ये हमें लोकभाषा के काव्य-रूपों को समझने में सहायता पहुँचाती हैं और साथ ही उस काल की भाषागत अवस्थाओं और प्रवृत्तियों को समझने की कुंजी भी देती हैं।

अपभ्रंश जैन रचनाओं का वर्गीकरण : अपभ्रंश में अनेक चरित-काव्य लिखे गये थे, जिनकी परम्परा आगे चलकर हिन्दी के चरित-काव्यों में प्राप्त होती है। परन्तु ये काव्य अब बहुत कम उपलब्ध होते हैं। बाणभट्ट के एक मित्र ईशान कवि थे, जो 'भाषा कवि' अर्थात् अपभ्रंश के कवि थे। पुष्पदन्त ने विनय प्रकट करते हुए महापुराण में कहा है कि 'मैंने न तो चतुर्मुख, स्वयम्भू, श्रीहर्ष और द्रोण को ही देखा है और न बाण और ईशान जैसे सुकवियों का ही अवलोकन किया है'। इनमें चतुर्मुख और स्वयम्भू तो अपभ्रंश के परिचित कवि हैं ही, ईशान भी अच्छे कवि रहे होंगे ऐसा स्पष्ट मालूम होता है। आजकल केवल जैन चरित-कवियो की रचनाएँ ही उपलब्ध हो सकी हैं। ईशान की कोई रचना प्राप्त नहीं है। स्वयम्भू अपभ्रंश के उन सबसे पुराने कवियों में हैं जिनकी रचना उपलब्ध है। इनकी चार महत्त्वपूर्ण रचनाओं का पता चला है : 'पउम चरिउ' (रामायण), 'रिट्ठणेमि चरिउ', 'पंचमी चरिउ' और 'स्वयम्भूछन्द'। केवल अन्तिम पुस्तक पूरी छपी है (तीन

अध्याय एशियाटिक सोसायटी के नवें जर्नल 1935 ई. में और बाकी पाँच अध्याय बाम्बे यूनिवर्सिटी जर्नल 1936 ई. में)। बाकी पुस्तकों के केवल थोड़े-थोड़े अंश प्रकाशित हुए हैं। रामायण के कुछ कवित्वपूर्ण अंश राहुलजी ने 'काव्य-धारा' में प्रकाशित किये है। वस्तुतः यही पुस्तक स्वयम्भू की सर्वोत्तम रचना है। इसमे स्वयम्भू की कवित्व-शक्ति का बहुत सुन्दर परिचय मिलता है। परन्तु साहित्य के इतिहास के जिज्ञासु के लिए 'स्वयम्भूछन्द' भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें उदाहरण के लिए अपभ्रंश के निम्नांकित कवियों की रचनाएँ उद्धृत हैं: 'चउमुह' (चतुर्मुख), धुत्त, धनदेव, छइल्ल, अज्जदेव (आर्यदेव), गोइन्द (गोविन्द), सुद्धसील, जिणआस, विअड्ढ। इससे पता चलता है कि स्वयम्भू के पहले अपभ्रंश-काव्य की बहुत महत्त्वपूर्ण परम्परा थी। जिस प्रकार नवी शताब्दी के पहले के अपभ्रंश साहित्य के लिए 'प्राकृत पैंगल' का महत्त्व है, उसी प्रकार आठवी शताब्दी के पहले की रचनाओं के लिए इस ग्रन्थ का महत्त्व है, स्वयम्भू का समय आठवी शताब्दी के आसपास ही होगा; क्योंकि इन्होंने स्वयं रविषेण (577 ई.) की चर्चा की है, और पुष्पदन्त ने (दसवी शताब्दी) इनका नाम लिया है। इन्ही दोनों के बीच का कोई समय स्वयम्भू का समय होगा। स्वयम्भू के पुत्र त्रिभुवन भी बहुत अच्छे कवि थे। उन्होंने अपने पिता के काव्यों में अधिक अध्याय जोड़कर उन्हे बढ़ाया था।

स्वयम्भू अपभ्रंश के सर्वोत्तम कवियों में हैं। हरिषेण ने अपनी 'धम्म परीक्खा' में अपभ्रंश के तीन कवि माने है: चतुर्मुख, स्वयम्भू और पुष्प दन्त। इनमें चतुर्मुख पुराने हैं, परन्तु इनका कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही हुआ। स्वयम्भू ने इन्हें पद्धड़िया बन्ध का दाता (प्रवर्त्तक) कहा है—'चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय।' पर दुर्भाग्यवश इनकी कोई रचना उपलब्ध नही हुई है। पुष्पदन्त के कई ग्रन्थों का पता लगा है। अधिकांश प्रकाशित भी हो गये हैं। ये दसवी शताब्दी के मान्यखेट के प्रतापी राजा कर्ण के महामात्य भीम के सभा-कवि थे। बहुत ही मनस्वी व्यक्ति थे। अपने को 'अभिमानमेरु' कहा करते थे। इनको ही हिन्दी की भूली हुई अनुश्रुतियों में राजा मान का पुष्प-कवि कहा गया है। इनकी तीन रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, और तीनों ही प्रकाशित हैं। ये हैं: 1. 'तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार' (त्रिषष्टि महापुरुष-गुणालंकार), 2. 'णायकुमारचरिउ' (नागकुमार चरित),[1] 3. 'जसहरचरिउ' (यशोधरचरित)[2]। पुष्पदन्त बहुत ही शक्ति-सम्पन्न कवि थे। काव्य के सभी रूपों और अवयवों पर इनका पूर्ण अधिकार था। अपने 'तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार' में इन्होंने बड़े गर्व के साथ घोषणा की है, कि जो इस ग्रन्थ में है, वह और कहीं मिल ही नहीं सकता—'किं चान्यद्यदिहास्ति जैन चरिते नान्यत्र तद् विद्यते'।

दसवीं शताब्दी में धनपाल नामक जैन कवि ने 'भविसयत्त कहा'[3] नामक प्रसिद्ध चरित-काव्य की रचना की थी। ये सम्भवतः पुष्पदन्त से थोड़े पहले के हैं।

1. डॉ. हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित और 1933 में कारंजा से प्रकाशित।
2. डॉ. पी. एल. वैद्य द्वारा सम्पादित और 1931 में कारंजा से प्रकाशित।
3. बड़ौदा से गायकवाड़ संस्कृत ग्रन्थमाला में 1923 ई. में प्रकाशित।

इनकी रचना काफी सुप्रसिद्धि पा चुकी है। और भी कई जैन कवियों के लिखे चरित-काव्य उपलब्ध हुए हैं, जैसे 'करकण्डुचरिउ'[1] (बारहवी शती), 'सुदर्शनचरिउ' (ग्यारहवी शती), पंजुणचरिउ' और सुकुमालचरिउ' (तेरहवीं शती), 'नेमिनाहचरिउ' और पुरोशलचरिउ, (पन्द्रहवीं शती), इत्यादि। इनमें केवल 'करकण्डु-चरिउ' ही प्रकाशित हुआ है। बाकी अभी अप्रकाशित हैं।

इन चरित-काव्यों के अध्ययन से परवर्त्ती काल के हिन्दी साहित्य के कथानकों, कथानक-रूढ़ियों, काव्यरूपों, कविप्रसिद्धियों, छन्दोयोजना, वर्णनशैली, वस्तु-विन्यास, कविकौशल आदि की कहानी वहुत स्पष्ट हो जाती है। इसलिए इन काव्यों से हिन्दी साहित्य के विकास के अध्ययन मे बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है।

आठवीं-नवीं शती के जैन मरमी कवि जोइन्दु (योगीन्दु या योगीन्द्र) के दो ग्रन्थ 'परमात्मप्रकाश'[2] और 'योगसार'[3] दोहों में उपलब्ध हुए हैं। इन दोहों का स्वर नाथ योगियों के स्वर से इतना अधिक मिलता है, कि इनमे से अधिकांश पर से यदि जैन विशेषण हटा दिया जाय, तो यह समझना कठिन हो जायेगा कि ये निर्गुण-मार्गियों के दोहे नहीं है। भाषा, भाव, शैली आदि की दृष्टि से ये दोहे निर्गुणिया साधकों की श्रेणी में ही आते हैं। इसी प्रकार दसवी शताब्दी के कवि रामसिंह की रचना 'पाहुड़ दोहा' प्राप्त हुई है, जो भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से उसी श्रेणी में आती है। इन दोहों मे कबीर, दादू आदि की परवर्त्ती दोहाबद्ध रचनाओं की परम्परा स्पष्ट होती है।

हेमचन्द्र के व्याकरण में तथा मेरुतुंग के 'प्रवन्ध-चिन्तामणि' में संगृहीत दोहों —जिनमें निश्चित रूप से जैनेतर कवियों की रचनाएँ भी सगृहीत हैं—ने हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी के सामने खोज और विचार का नवीन क्षेत्र उद्घाटित किया है। इन दोहों में उस श्रेणी की शृङ्गारिक रचनाएँ संगृहीत हैं, जो आगे चलकर बिहारी, मतिराम, मुबारक आदि की परम्परा के समझने में सहायक हैं, और दूसरी ओर नीति-विषयक रचनाएँ है, जो रहीम और वृन्द के दोहों की परम्परा का स्मरण दिलाती है। इसके वीर-रस के दोहे डिंगल की वीर-परम्परा को स्पष्ट करने में सहायक हैं। इसी प्रकार जैन कवियों की चर्चरी, फागु, रास आदि रचनाएँ परवर्त्ती साहित्य के काव्य-रूपों के समझने में सहायक हैं।

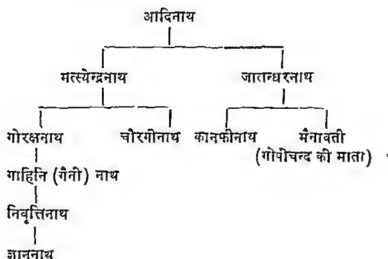
सन्धा भाषा या उलटवाँसियों की परम्परा : पहले ही बताया गया है कि महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री ने अनेक बौद्ध सिद्धों की रचनाओं का प्रकाशन कराया था। उन्होंने उसकी भाषा को एक हजार वर्ष पुरानी बंगला कहा था। बाद में डॉ. शहीदुल्ला, डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के प्रयत्नों से इस दिशा में और भी कार्य हुआ, और नयी सामग्री प्राप्त हुई। बौद्ध धर्म अन्तिम दिनों में मन्त्र-तन्त्र की साधना में बदल गया था। वज्रयान और महायान में इसी जाति की साधना का प्राधान्य है। ये लोग 'सिद्ध'

1. डॉ. हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित होकर 1934 ई. में कारंजा से प्रकाशित।
2-3. डॉ. ए. एन. उपाध्ये द्वारा सम्पादित होकर बम्बई से प्रकाशित।

संख्या	नाथसिद्ध	संख्या	सहजयानी सिद्ध	विशेष
1	मीननाथ	1	लूहिपा	
2	गोरक्षनाथ	2	लीलापा	
3	चौरंगीनाथ	3	विरूपा	नाथसिद्ध नं. 10
4	चामरीनाथ	4	डोम्भीपा	
5	तन्तिपा	5	शवरीपा	नाथसिद्ध नं. 47 से तुलनीय
6	हालिपा	6	सरहपा	
7	केदारिपा	7	कंकालीपा	
8	धोंगपा	8	मीनपा	नाथ परम्परा के सख्या 1 से तुलनीय
9	दारिपा	9	गोरक्षपा	नाथसिद्ध नं. 2
10	विरूपा	10	चोरंगीपा	नाथसिद्ध न. 3
11	कपाली	11	वीणापा	
12	कमारी	12	शान्तिपा	नाथसिद्ध नं. 44 से तुलनीय
13	कान्ह	13	सन्तिपा	नाथसिद्ध न. 5 से तुलनीय
14	कनखल	14	चमरिपा	
15	मेखल	15	खड्गपा	
16	उन्मन	16	नागार्जुन	नाथसिद्ध 22
17	काण्डलि	17	कण्हपा	नाथसिद्ध 13 से तुलनीय
18	धोबी	18	कर्णरिपा (आर्यदेव)	
19	जालन्धर	19	थगनपा	नाथसिद्ध 48 से तुलनीय
20	टोंगी	20	नारोपा	
21	मवह	21	शलिपा (शीलपा) शृगालीपाद ?	नाथसिद्ध 55 से तुलनीय
22	नागार्जुन	22	तिलोपा	

संख्या	नाथसिद्ध	संख्या	सहजयानी सिद्ध	विशेष
45	भर्तृहरि	45	कमरिपा (कम्मरिपा)	नाथसिद्ध 12 से तुलनीय
46	भीषण	46	जालन्धरपा (जालन्धारक)	नाथसिद्ध 19 से तुलनीय
47	भटी	47	राहुलपा	
48	गगनपा	48	धर्मरिपा (धर्मरि)	
49	गमार	49	धोकरिपा	
50	मेनुरा	50	मेदनीपा (हालीपा ?)	नाथसिद्ध 6 से तुलनीय
51	कुमारी	51	पंकजपा	
52	जीवन	52	घण्टा (वज्रघण्टा) पा	
53	अघोसाधव	53	जोगिपा (अजोगिपा)	
54	गिरिवर	54	चेलुकपा	
55	सियारी	55	गुण्डरिपा (गोरुरपा)	
56	नागवालि	56	लुचिकपा	
57	विभवत्	57	निर्गुणपा	
58	सारंग	58	जयानन्त	
59	विविसिधज	59	चर्पटीपा (पचरीपा)	नाथसिद्ध 31 से तुलनीय
60	मगरधज	60	चम्पकपा	नाथसिद्ध 2 से तुलनीय
61	अचित	61	भिखनपा	नाथसिद्ध 46 से तुलनीय
62	विचित	62	भलिपा	नाथसिद्ध 66 से तुलनीय
63	नेचक	63	कुमरिपा	नाथसिद्ध 51 से तुलनीय
64	चारल	64	चवरि (जवरि) अजपालिपा	नाथसिद्ध 4 से तुलनीय
65	नाचन	65	मलिभद्र (योगिनी)	नाथसिद्ध 74 से तुलनीय
66	भीलो	66	मेखलपा (योगिनी)	नाथसिद्ध 15 से तुलनीय

'श्रीज्ञानेश्वरचरित्र' में पं. लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर ने ज्ञाननाथ तक की गुरु-परम्परा इस प्रकार बतायी है :



इस प्रकार यदि नवनाथों, कापालिकों, ज्ञाननाथ तक के गुरु-सिद्धों और 'वर्णरत्नाकर' के चौरासी नाथसिद्धों को नाथ-परम्परा में मान लिया जाय तो चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ होने के पूर्व लगभग सवा सौ सिद्धों के नाम उपलब्ध होते है। इनमें तन्त्र-ग्रन्थों के मानव गुरुओं का उल्लेख नही है; क्योंकि यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वे गुरु नाथ-सिद्ध होंगे ही। नेपाली परम्परा के नाथ शिव के आनन्द और शक्ति के प्रतीक जान पड़ते हैं। कान्ह, कन्हड़ी, करणीपा, कालश्रीनाथ आदि एक ही सिद्ध के नाम के उच्चारण-भेद से भिन्न रूप हैं। 'हठयोग प्रदीपिका' के ढिण्ढिणी, सहजयानी सिद्ध ढेण्ढण और 'वर्णरत्नाकर' के ढेण्ढस एक ही सिद्ध हैं। 'वर्णरत्नाकर' की मेनुरा मेना या मयनामती का ही नामान्तर जान पड़ता है। काल भैरवनाथ और भैरवनाथ एक ही हो सकते हैं और *नागनाथ, नागार्जुन और नागा अरजन्द एक ही व्यक्ति के* नाम हैं।

नाथ सम्प्रदाय और उसका साहित्य : स्पष्ट है कि वज्रयानी सिद्धों के साथ इन शैव नाथपन्थी सिद्धों का कभी घनिष्ठ योग था। इनकी शैली बहुत-कुछ सहजयानी सिद्धो की शैली ही है। परवर्त्ती हिन्दी साहित्य के निर्गुण मार्ग के साधक सन्तों ने इन्ही नाथसिद्धों से इस शैली को प्राप्त किया है।

इस विषय को लेकर काफी वितण्डावाद हुआ है, कि इनका समय क्या है। कभी यह समय पहली-दूसरी शताब्दी में, कभी आठवीं-दसवी शताब्दी में, कभी बारहवीं-चौदहवी शताब्दी मे रखा गया है। इसका कारण यह है, कि गोरक्षनाथ को भिन्न-भिन्न अनुश्रुतियों में उन पुराने प्रवर्त्तकों के साथ मिला दिया गया है,

जिनके सम्प्रदायों को गोरक्षनाथ ने अपनी बारहपन्थी शाखा में मिला लिया था। दसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कश्मीरी आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने 'तन्त्रालोक' में मच्छन्द विभु या मत्स्येन्द्रनाथ की वन्दना की है। इससे सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ दसवीं शताब्दी के पूर्व अवतरित हुए थे। तिब्बती परम्परा के साथ इस तथ्य को मिलाकर देखें तो यह समय नवीं शताब्दी के आरम्भ में पड़ता है। गोरक्षनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे, इसलिए उनका समय भी इसी के आसपास होगा। हिन्दी में गोरक्षनाथ के नाम से प्रचलित अनेक रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। बहुत-सी रचनाएँ संस्कृत[1] की हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त हिन्दी में भी गोरक्षनाथ की कई पुस्तकें पायी जाती हैं। स्वर्गीय डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी' में उनमें से कुछ का प्रकाशन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन से कराया था।[2]

डॉ. बड़थ्वाल ने अनेक प्रतियों की जाँच करके इनमें से प्रथम चौदह को प्रामाणिक समझा है। 'ज्ञानचौतीसा' समय पर न मिल सकने के कारण वे प्रकाशित न करा सके। बाकी तेरह पुस्तकों को उन्होंने इस संग्रह में प्रकाशित कराया था। शेष पुस्तकों के विषय में उन्होंने सन्देह प्रकट किया है। 'सबदी' गोरक्षनाथ की सबसे प्रामाणिक रचना है। डॉ. मोहनसिंह ने 'गोरखबोध' में प्रकाशित सिद्धान्तों को बहुत प्रामाणिक माना है। पर इधर हाल में प्रबोधचन्द्र बागची ने मत्स्येन्द्रनाथ के कई संस्कृत ग्रन्थों का प्रकाशन कराया है। इन पुस्तकों में प्रकाशित प्रतिपादित सिद्धान्तों से 'गोरखबोध' में प्रकाशित सिद्धान्तों का कोई साम्य नहीं है। सही बात

1. संस्कृत रचनाएँ ये हैं—(1) 'अमनस्क', (2) 'अमरौघशासनम्', (3) 'अवधूतगीता', (4) 'गोरक्षकल्प', (5) 'गोरक्षकौमुदी', (6) 'गोरक्षगीता', (7) 'गोरक्षचिकित्सा', (8) 'गोरक्षपञ्चय', (9) 'गोरक्षपद्धति', (10) 'गोरक्षशतक', (11) 'गोरक्षशास्त्र', (12) 'गोरक्षसंहिता', (13) 'चतुरशीत्यासन', (14) 'ज्ञानप्रकाशशतक', (15) 'ज्ञानशतक', (16) 'ज्ञानामृतयोग', (17) 'नाड़ीज्ञानप्रदीपिका', (18) 'महार्थमंजरी', (19) 'योगचिन्तामणि', (20) 'योगमार्तण्ड', (21) 'योगबीज', (22) 'योग-शास्त्र', (23) 'योग', इत्यादि।

2. डॉ. बड़थ्वाल के खोजस्वरूप 40 पुस्तकों का पता चला है, वे निम्नांकित हैं—(1) 'सबद', (2) 'पद', (3) 'सिष्यादर्शन', (4) 'प्राणसंकली', (5) 'नरवैबोध', (6) 'आत्मबोध', (7) 'अभयमात्रायोग', (8) 'पन्द्रहतिथि', (9) 'सप्तवार', (10) 'मछिन्द्रगोरखबोध', (11) 'रोमावली', (12) 'ज्ञानतिलक', (13) 'ग्यानचौंतीसा', (14) 'पंचमात्रा', (15) 'गोरख-गणेश-गोष्ठी', (16) 'गोरखदत्त गोष्ठी', (ज्ञानदीपबोध) (17) 'महादेवगोरखगोष्ठी', (18) 'सिष्ट-पुरान', (19) 'दयाबोध', (20) 'जातिभौंरावली', (21) 'नवग्रह' (22) नवरात्रि', (23) 'अष्टपारछ्या', (24) 'रहरास', (25) 'ज्ञानमाला', (26) 'आत्मबोध' (27) 'व्रत', (28) 'निरंजनपुरान', (29) 'गोरखवचन', (30) 'इन्द्रियदेवता', (31) 'मूलगर्भावली', (32) खाणीवाणी', (33) 'गोरखसत', (34) 'अष्टमुद्रा', (35) 'चौबीससिद्धि', (36) 'षडक्षरी', (37) 'पंचअग्नि', (38) 'अष्टचक्र', (39) 'अवलिसिलूक', (40) 'काफिरबोध'।

यह है कि गोरक्षनाथ के नाम पर प्रचलित हिन्दी-संस्कृत ग्रन्थों की प्रमाणिकता के बारे मे कुछ भी कहना कठिन है। हिन्दी-रचनाओं की जो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, वे बहुत पुरानी नही हैं, और अधिकांश निश्चित रूप से परवर्त्ती है। 'सबदी' अवश्य प्राचीन जान पड़ती है, पर उसके बारे मे भी निश्चित रूप से कहना कठिन है। तुलसीदास ने कुछ 'सबदियाँ' देखी अवश्य थी, पर यह बताना कठिन है कि वे 'सबदियाँ' गोरखनाथ की ही थी, अथवा अन्य निर्गुणिया सन्तो की।

संवाद-ग्रन्थ : गोरखनाथ के नाम पर चलनेवाली पुस्तकों से ऐसा जान पड़ता है कि दो महात्माओं के संवादरूप मे अपने दार्शनिक मत और धार्मिक विश्वास-पद्धति को प्रकट करने की इस पद्धति का बहुल प्रचार नाथपन्थियों ने ही किया। ऐसा तो नही कहा जा सकता, कि पहले संवादरूप मे सिद्धान्तप्रतिपादन की प्रथा थी ही नही। परन्तु दो साधकों के प्रश्नोत्तर-रूप मे सिद्धान्त-प्रतिपादन की जिस शैली का प्राधान्य इस पन्थ के ग्रन्थो में मिलता है, वह पहले अपरिचित हो थी। इस पद्धति ने परवर्त्ती सन्त-साहित्य को खूब प्रभावित किया था, और संवादरूप मे ऐसे अनेक ग्रन्थ लिखे गये, जिनका उद्देश्य सम्प्रदाय के विश्वास और मत का प्रचार था। 'मछिन्द्र गोरखबोध' जिसे संक्षेप में 'गोरख बोध' कहा जाता है, ऐसा ही संवादग्रन्थ है। यद्यपि यह ग्रन्थ गोरखनाथ का लिखा हुआ कहा जाता है, तथापि हम इसे मत्स्येन्द्रनाथ के सिद्धान्तो का व्याख्यापक ग्रन्थ ही कह सकते है, क्योंकि इसमें गोरखनाथ प्रश्नकर्त्ता है और उत्तर देनेवाले मत्स्येन्द्रनाथ। ऐसा विश्वास न करना ही उचित जान पड़ता है, कि गोरखनाथ ने स्वयं ऐसा ग्रन्थ लिखा होगा। अधिक-से-अधिक इसे परवर्त्ती योगी-सम्प्रदाय का विश्वास-व्यापक ग्रन्थ ही कहा जा सकता है। इसमें आत्मा, मन, पवन, नाद, विन्दु, सुरति और निरति आदि के स्वरूप का सुन्दर विवेचन किया गया है।

गोरखनाथ के पद : गोरखनाथ के नाम पर जो पद मिले हैं, वे कितने पुराने हैं यह बता सकना कठिन है। इनमें से कुछ अवश्य बहुत पुराने और गोरक्ष-कथित हो सकते है। यद्यपि इनकी भाषा बहुत बदल गयी है। इन पदों मे कई कबीर के नाम से, कई नानक के और दादूदयाल के नाम से भी पाये गये हैं। कुछ पद लोकोक्ति का रूप धारण कर चुके है, कुछ का जोगीड़ा के रूप मे व्यवहार होता है और कुछ लोक मे अनुभवसिद्ध ज्ञान के रूप मे चल पड़े है। इन पदों में यद्यपि योगियों के लिए ही उपदेश है, अतएव इनमे भी उसी प्रकार की साधना-मूलक बातें पायी जाती है, जो इस प्रकार की सभी रचनाओ मे मिलती हैं। बहुत-से पद ऐसे हैं, जिनमे लेखक के नैतिक विश्वास का पता चलता है। ऐसी नैतिक विश्वास-वाली रचनाएँ आगे चलकर लोक मे अनुभूत ज्ञान के समान चल पड़ी हैं। जिस प्रकार के ज्ञान का उपदेश इस साहित्य में किया गया है, उसमें गुरु का होना परमा-वश्यक माना गया है, और चित्त की शुद्धता पर अधिक ज़ोर दिया गया है। कहा गया है कि मानसिक दृढ़ता के रहते कोई भी विघ्न योगी को विचलित नही कर सकता। काम और क्रोध में मन आसक्त न हो, और चित्त की शिथिलता उसे बहकने न दे

तो हँसने-खेलनेवालों से नाथजी प्रसन्न ही होते हैं और ऐसे योगी के लिए लाखों अप्सराएँ भी विघ्न उपस्थित नहीं कर सकती :

हँसिवा पेलिवा रहिवा रंग।
काम क्रोध ना करिवा संग॥
हँसिवा पेलिवा गाइवा गीत।
दिढ़ करि राखिवा आपना चीत॥
हँसिवा पेलिवा धरिवा ध्यान।
अहि विधि कथिया ब्रह्म गियान॥
हँसे पेले ना करे मन भंग।
ते निहचल सदा नाथ के संग॥

और

नौलख पातरि आगे नाँचे पीछे सहज अखाडा।
ऐसे मन लै योगी पेलै तव अन्तरि वसै भण्डारा॥

इन पदों में सहज जीवन पर बहुत जोर दिया गया है। यद्यपि अनेक प्रकार की यौगिक क्रियाओं पर भी बहुत अधिक जोर दिया गया है, और जो लोग इन क्रियाओं को नहीं कर सकते उन पर दया और क्षोभ की भावना प्रकट की गयी है; तथापि बीच-बीच में ऐसे सहज जीवन का आदर्श उपस्थित किया गया है, जो प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनुकरणीय है :

हवकि ना वोलिवा, ढबकि ना चालिवा धीरे-धीरे धरिवा पावं।
गरव न करिवा सहजे रहिवा भणन्त गोरख रावम्॥

सहज शीलवान गृही को भी गंगाजल के समान पवित्र बताया गया है :

सहज शील का धरे सरीर, सो गिरही गंगा का नीर।

इन पदों में ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक और मानसिक पवित्रता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि और मद्य-मांस के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है। हिन्दी में पाये जानेवाले पदों में यह स्वर बहुत स्पष्ट और बलशाली है। इसने परवर्ती सन्तों के लिए श्रद्धाचरण-प्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। जिन सन्त साधकों की रचनाओं से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित है, उन्हें बहुत-कुछ बनी बनायी भूमि मिली थी।

इस साहित्य की सबसे बड़ी कमजोरी इसका रूखापन और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव है। इसी ने इस साहित्य को नीरस, लोक-विद्विष्ट और क्षयिष्णु बना दिया था। फिर भी यह दृढ़ कण्ठ-स्वर उत्तरी भारत के धार्मिक वातावरण को शुद्ध और उदात्त बनाने में बड़ा सहायक हुआ। इस दृढ़ कण्ठ-स्वर ने यहाँ की धार्मिक साधना में गलदश्रु भावुकता और दुलमुलेपन को आने नहीं दिया। परवर्ती हिन्दी साहित्य में चरित्रगत दृढ़ता, आचरण-शुद्धि और मानसिक पवित्रता का जो स्वर सुनायी पड़ता है, उसका श्रेय इस साहित्य को ही है। इसीलिए इस पन्थ के साहित्य से परवर्ती हिन्दी साहित्य का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पुराने नाथ सिद्धों में से कई के नाम पर प्रचलित हिन्दी रचनाएँ उपलब्ध हुई है जो 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' के नाम से नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई हैं। इनमें अजयपाल, गोपीचन्द, जालन्ध्रीपाव, मच्छिन्द्रनाथ, काणेरी, चरपटनाथ, चौरंगीनाथ, घोड़ाचूली, धूधलीमल, परवत सिद्ध (?), बाल गूंदाई आदि पुराने नाथ सिद्धों की बानियाँ हैं जो बारहवीं शती के पूर्व हो चुके थे। कुछ बानियों की भाषा और शैली सन्देहास्पद है, पर कुछ की प्राचीनता में सन्देह करने का अवकाश बहुत कम है।

नाथ साहित्य की अप्रामाणिकता : इस प्रकार दसवीं शताब्दी तक के साहित्य में जितना जैन और बौद्ध मूलों से प्राप्त हुआ है, उतना तो बहुत-कुछ विश्वसनीय है। परन्तु जो नाथ-साधकों के माध्यम से प्राप्त हुआ है, उसके विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसकी भाषा और वक्तव्यवस्तु में कितना अंश सचमुच पुराना है। भाषा में तो बहुत अधिक परिवर्त्तन हुआ है। गोरखनाथ के नाम पर चलनेवाली रचनाओं की भाषा को देखते हुए उन्हें बहुत पुराना नहीं कहा जा सकता। कुछ की रचना तो बहुत बाद में हुई है। फिर भी उनमें ध्यान देने योग्य बातें हैं अवश्य।

दसवीं शताब्दी तक के लोकभाषा साहित्य के मुख्य लक्षण : दसवीं शताब्दी तक के लोकभाषा के साहित्य में प्रधान रूप से ब्राह्मण-मत के विरोधी सम्प्रदायों की लोकभाषा में निबद्ध रचनाएँ प्राप्त होती हैं। यह पूरा-का-पूरा साहित्य धार्मिक है। इसमें सहज जीवन पर, आन्तरिक शुचिता पर और सचाई के जीवन पर अधिक जोर दिया गया है और बाह्याचार, छूतछात, कृच्छ्र साधना आदि पर आघात किया गया है। योगमत पर सभी सम्प्रदायों की आस्था थी। योगमत के बहुल प्रचार ने लोगों को सिद्धियों का प्रेमी बना दिया था। सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार की साधनाएँ प्रचलित थीं। साधारणतः विश्वास किया जाता था कि मानव-शरीर में पाँच अत्यन्त रहस्यमय वस्तुएँ हैं, जिनमें से किसी एक को भी वश में कर लेने से मनुष्य को सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। ये पाँच रहस्यमय वस्तुएँ हैं—मन, प्राण, शुक्र, वाक् और कुण्डलिनी। इन्हीं पाँचों के संयमन के तरीकों को राजयोग, हठयोग, वज्रयान, जपयोग और कुण्डलीयोग कहते हैं, जिनके अनेक भेदोपभेद चल पड़े थे। इनमें कई साधनाएँ विकृत भी हो गयीं और कई प्रकार की ऐसी क्रियाओं में विश्वास करने लगीं जो नैतिक दृष्टि से अत्यन्त हीन स्तर की थीं। इनकी प्रतिक्रिया नाथपन्थी सिद्धों के सुस्पष्ट नैतिक उपदेशों में प्राप्त होती है। परन्तु दसवीं शताब्दी के इन साधकों की दृष्टि मुख्य रूप से सिद्धियों पर ही निबद्ध थी। परवर्त्ती साहित्य में भी भक्ति-आन्दोलन के आने के पहले इन सिद्धियों का ही बोलबाला था।

लौकिक रस का साहित्य भी इस समय लिखा अवश्य जा रहा था। सम्भवतः हेमचन्द्र के उदाहरणों में से कई इस काल की रचनाएँ हैं, परन्तु उनके बारे में कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है। केवल इतना निश्चित है कि दोहों में और पद्धडिया बन्ध में लिखे हुए चरित-काव्यों में लौकिक काव्य बहुत लिखे गये थे। 'सन्देश-

रासक' और हेमचन्द्र तथा मेरुतुंग के ग्रन्थों के दोहों की परम्परा का बीजारोप इस काल में अवश्य हो गया था।

[इस काल के अध्ययन में सहायक हिन्दी पुस्तकें मिश्रबन्धु : 'मिश्रबन्धु-विनोद'; रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'; राहुल सांकृत्यायन : 'हिन्दी काव्यधारा', हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'नाथ सम्प्रदाय'; रामकुमार वर्मा : 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'।]

हिन्दी साहित्य का आदिकाल
[1000-1400 ई.]

आदिकाल : पूर्ववर्ती अध्याय में दसवीं शताब्दी के पहले के साहित्यिक प्रयत्नों की एक रूप-रेखा प्रस्तुत की गयी है। उससे पता चलता है कि परवर्ती शताब्दियों में जो प्रवृत्तियाँ अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई हैं, उनमें बहुत-सी ऐसी हैं जिनका बीज दसवीं शताब्दी से बहुत पहले पड़ चुका था। परन्तु उस काल तक लोकभाषा का जो साहित्य प्राप्त होता है वह परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही साहित्य है, उसमें हिन्दी भाषा का रूप स्पष्ट नहीं हुआ है। परन्तु दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के समय में लोकभाषा में लिखित जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा का रूप दिखायी देता है। दसवीं शताब्दी की भाषा के गद्य में तत्सम शब्दों का व्यवहार बढ़ने लगा था, परन्तु पद्य की भाषा में तद्भव शब्दों का ही एकच्छत्र राज्य था। चौदहवीं शताब्दी तक के साहित्य में इसी प्रवृत्ति की प्रधानता मिलती है। वस्तुतः छन्द, काव्यरूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोकभाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है, यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है। इसलिए दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोकभाषा साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुतः वह हिन्दी की आधुनिक बोलियों में से किसी-किसी के पूर्व-रूप के रूप में ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक दसवीं शताब्दी से इस साहित्य का आरम्भ स्वीकार करते हैं। इसी समय से हिन्दी भाषा का आदिकाल माना जा सकता है। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने सं. 1050 (993 ई.) से इसका आरम्भ माना है।

दो श्रेणी की रचनाएँ : इस काल में दो प्रकार की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—एक तो जैन भाण्डारों में सुरक्षित, और अधिकांश में जैन प्रभावापन्न परिनिष्ठित-साहित्यिक अपभ्रंश की रचनाएँ हैं; और दूसरी लोक-परम्परा में बहती हुई आनेवाली, और मूल रूप से अत्यन्त भिन्न बनी हुई लोकभाषा की रचनाएँ। प्रथम श्रेणी में हेमचन्द्र के व्याकरण, मेरुतुंग के 'प्रबन्धचिन्तामणि', राजशेखर के 'प्रबन्धकोश' आदि में संगृहीत दोहे; अब्दुर्रहमान का 'सन्देशरासक' तथा लक्ष्मीधर के 'प्राकृत पैंगलम्' में उदाहृत लोकभाषा के छन्द हैं। इनको हम प्रामाणिक रचना कह सकते हैं। दूसरी श्रेणी में 'पृथ्वीराजरासो' और 'परमालरासो' आदि रचनाएँ हैं, जिनके मूल रूप बहुत परिवर्तित और विकृत हो गये हैं। इन्हें हम सन्दिग्ध-ग्रन्थ कह सकते हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि अब तक जिन रचनाओं की चर्चा की गयी है, उनमें अपेक्षाकृत जो प्रामाणिक और विश्वसनीय हैं वे मध्य-देश के सीमान्त के प्रदेशों में संगृहीत या लिखित रचनाएँ हैं। चाहे वे गुजरात में संगृहीत सुरक्षित जैन कवियों की रचनाएँ हों, या गौड़ (बंगाल) देश के पाल राजाओं के संरक्षण में संगृहीत बौद्ध सिद्धों की कृतियाँ हों, सब मध्य-देश के बाहर प्राप्त हुई हैं। मूल मध्य-देश में जहाँ आगे चलकर ब्रजभाषा और अवधी का साहित्य उद्भूत और विकसित हुआ है, वहाँ किसी प्रामाणिक साहित्यिक रचना का प्रमाण सन् ईस्वी की चौदहवीं शताब्दी से पहले का नहीं मिलता। चाहे वे नाथ सिद्धों की रचनाएँ हों, चाहे चन्द और जगनिक जैसे चारण कवियों की हों, सभी विकृत और परिवर्तित रूप में ही उपलब्ध हैं। केवल 'प्राकृतपैंगलम्' में उदाहृत कुछ पद्यों के विषय में हम निस्सन्दिग्ध रूप से कह सकते हैं कि वे रचनाएँ मूल रूप में सुरक्षित हैं। राजपूताने के 'ढोला मारू रा दोहा' जैसे प्रसिद्ध काव्यों की प्रामाणिकता के विषय में भी सन्देह ही है। इस प्रकार मूल मध्य-देश में चौदहवीं शताब्दी के पहले की प्रामाणिक रचनाएँ प्रायः एकदम अप्राप्त हैं। ऊपर हमने प्रामाणिक और सन्दिग्ध नाम का जो विभाग किया है, उसके विषय में यही कहा जा सकता है, कि सन्दिग्ध रचनाएँ वे हैं जो मूल मध्य-देश में रची गयी थीं; और अपेक्षाकृत प्रामाणिक रचनाएँ वे हैं जो मध्य-देश के बाहर गुजरात, मान्यखेट, बरार, महाराष्ट्र, गौड़ और नेपाल में सुरक्षित हैं। कारण क्या है ?

प्रामाणिक रचनाओं के अभाव के कारण : जिन दिनों हिन्दी साहित्य बनने लगा, उन्हीं दिनों मध्य-देश पर बारम्बार मुसलमानों के आक्रमण हुए। उन दिनों उत्तर भारत की केन्द्रीय राजशक्ति दुर्बल हो गयी थी। कान्यकुब्ज के प्रतीहार राजा राज्यपाल ने जब महमूद गजनवी को आत्मसमर्पण किया, तो अधीनस्थ राजपूत रजवाड़े बिगड़ खड़े हुए और उसे मार डाला। उन्होंने उसके पुत्र को गद्दी पर बैठा तो दिया, लेकिन वस्तुतः दिल्ली और साँभर के चौहान और कालिंजर के चन्देल स्वतन्त्र राजा हो गये। राजशक्ति क्षीण और हत-वीर्य हो गयी। इसी समय काशी और कान्यकुब्ज पर गाहड़वार वंश का राज्य स्थापित हुआ। लगभग दो

सौ वर्षों से पश्चिम के सोलंकी और पूर्व के पालवंशी राजा लोग कान्यकुब्ज की राजलक्ष्मी को हस्तगत करने का प्रयत्न कर रहे थे। अब सांभर के चौहान, कालिंजर के चन्देल और गजनी के अमीरों ने भी कान्यकुब्ज की राजलक्ष्मी को हड़प लेने का प्रयत्न शुरू किया। इस बात का प्रमाण उपलब्ध है, कि दसवीं शताब्दी में त्रिपुर (तेवार) के राजा कर्ण ने काशी को अपनी राजधानी बनाना चाहा, और उसने चम्पारन तक समूचे सरयूपार के इलाके को हस्तगत कर लिया था। गोरखपुर जिले में इसके कई दान-पत्र प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार काशी-कान्यकुब्ज के अधिपतियों को पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन सब ओर शत्रुओं का सामना करना पड़ता था। गाहड़वारों में गोविन्दचन्द्र बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसने अपने अभिलेखों में अपने को 'गौड़ों की दुर्वार गज सेना का कुम्भ विदीर्ण करनेवाला' कहा है और यह भी लिखा है, कि वह गजनी के अमीरों को नित्य लड़ाई के खेल खेलाया करता था। गोविन्दचन्द्र ने यह अच्छी तरह समझ लिया था, कि उत्तरी भारत के विशाल मैदान का शासक वही हो सकता है, जिसके पास घोड़ों की सुशिक्षित सेना हो। इसीलिए उसने गर्वपूर्वक घोषणा की है, कि 'मैं उस पृथ्वी का भोग करता हूँ जो निरन्तर दौड़ते हुए घोड़ों की टाप की मुद्रा से मुद्रित होती रहती है।' इसीलिए वह अपने काल का अश्वपति राजा कहलाता था। इसी प्रकार गौड के शासक अपने को गजपति और कलिंग के शासक नरपति कहते थे। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने 'पद्मावत' में अश्वपति, गजपति और नरपति नामक तीन राजाओं की चर्चा की है जो इसी काल की परम्परा का अवशेष जान पड़ता है। बारहवीं शताब्दी के बाद के अभिलेखों में ये शब्द नहीं मिलते। सिर्फ जायसी के 'पद्मावत' में ही ये शब्द सुरक्षित रह गये हैं। यह तथ्य सम्भवतः बताता है कि जायसी ने अपने काव्य के लिए जिस कहानी का उपयोग किया था, वह कम-से-कम चार सौ वर्ष पुरानी अवश्य थी।

गाहड़वारों के राज्यकाल में कान्यकुब्ज की लक्ष्मी बहुत-कुछ स्थिर हो गयी और मध्य-देश का मुख्य भाग उन्हीं के शासन में बना रहा, परन्तु ऐसा जान पड़ता है, कि ये गाहड़वार राजा इस प्रदेश के बाहर से आये थे और काशी और कान्यकुब्ज की स्थानीय जनता से अपने को बहुत दिनों तक भिन्न समझते रहे। कुछ लोगों का अनुमान है कि वे दक्षिण से आये थे। किन्तु यह अनुमान बहुत पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है। दो बातें इसके पक्ष में कही जाती हैं। एक तो नयचन्द्र नामक जैन कवि की एक संस्कृत नाटिका प्राप्त हुई है, जिसमें वैतालिकों ने अन्तिम गाहड़वार राजा जयचन्द्र की स्तुति मराठी भाषा में की है। यह कवि चौदहवीं शताब्दी का है। इसकी देशभाषा में मराठी का प्रयोग अधिक-से-अधिक यही सूचित करता है कि कवि की मातृभाषा मराठी थी। दूसरा प्रमाण यह दिया जाता है कि गोविन्दचन्द्र के जितने भी दान-पत्र मिले हैं वे दक्षिणी ब्राह्मणों को दिये गये दान हैं। परन्तु विद्वानों ने इस धारणा को भ्रान्त ही समझा है। एक दूसरे प्रकार के पण्डित हैं जिनका मत है कि गाहड़वार पश्चिम से आये थे। जो भी

हो, इतना तो निश्चित है कि गाहड़वारों ने देशभाषा को उतना प्रोत्साहन नहीं दिया, जितना चौहानों, सोलकियों, परमारों और चन्देलों ने दिया। गाहड़वार संस्कृत के अधिक संरक्षक थे। इधर हाल में 'युक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' नाम का एक व्याकरण-ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, जो गोविन्दचन्द्र के सभा-पण्डित दामोदर भट्ट का लिखा कहा जाता है। डॉ. मोतीचन्द्र का अनुमान है कि इसमें राजकुमारों को काशी और कान्यकुब्ज की भाषा सिखाने का प्रयत्न है। यदि यह अनुमान सत्य है तो इससे भी यह अनुमान होता है, कि गाहड़वार राजा इस प्रदेश की भाषा के जानकार न थे। गोविन्दचन्द्र के पौत्र जयचन्द्र कान्यकुब्ज के अन्तिम राजा थे। इनके दरबार में देशी भाषा के कवियों का सम्मान होने लगा। इनके महामन्त्री विद्याधर भट्ट स्वयं भी देशी भाषा के अच्छे कवि थे। इनकी कुछ रचनाएँ 'प्राकृत-पैंगलम्' में उदाहरण रूप में उद्धृत की गयी हैं। किन्तु जब इस प्रतापी राज-वंश ने देशभाषा को प्रोत्साहन देना शुरू किया, तभी दुर्दैव का प्रचण्ड आघात हुआ और काशी कान्यकुब्ज की लक्ष्मी मुसलमानों के हाथ चली गयी। यह इतिहास बहुत ही करुण है, और इसके गर्भ में भावी भारतवर्ष के दुरवस्था के बीज वर्तमान हैं।

पुराने साहित्य का संरक्षण : लोकभाषा का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। वह लोकमुख में ही जीवित रहा है। जो रचनाएँ धर्मबुद्धि या कलाप्रेम पा गयीं वे ही कथंचित् सुरक्षित रह सकी हैं। बौद्ध साहित्य में कुछ लोकभाषा की रचनाएँ सुरक्षित रह गयी हैं और कुछ जैन साहित्य का आश्रय पाकर बच गयी हैं। जिन रचनाओं को धर्म का सहारा नहीं मिला, वे बनती रहीं और परवर्ती काल में परिवर्तित, परिवर्द्धित या विस्मृत होती रहीं। पुराने साहित्य का संरक्षण तीन प्रकार से हुआ है—(1) राजकीय संरक्षण से, (2) संगठित धर्म-सम्प्रदाय के प्रयत्न से, (3) लोकपरम्परा से। जिन दिनों देशभाषा परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश से आगे बढ़कर काव्य का वाहन बनने लगी थी, उन दिनों उत्तरी भारत का राजनीतिक वातावरण बहुत ही विक्षुब्ध था। मध्य-देश की शक्तिशाली राजशक्ति ने देशभाषा को संरक्षण नहीं दिया, और विधर्मियों के तीव्र आक्रमण के कारण संगठित धर्म-सम्प्रदाय मध्य-देश के प्रान्तभाग में या दूर गुजरात, नेपाल आदि सुरक्षित देशों में हट गये। यही कारण है कि इस काल के मध्य-देश की भाषा के साहित्य को न तो राजकीय या शास्त्राश्रय प्राप्त हुआ और न जैन और बौद्धों के समान सुसंगठित धर्म-सम्प्रदाय का ही संरक्षण मिल सका। कुछ अन्तिम खेवे के राजाओं के साथ रहनेवाले कवियों की रचनाएँ लोकमुख में सुरक्षित रह गयी। 'पृथ्वीराजरासो' और 'आल्हखण्ड' ऐसी रचनाएँ हैं … प्रामाणिकता सन्देह से परे नहीं।

लिया गया था कि इन रचनाओं का सम्बन्ध जिन राजाओं के नाम के साथ है उन्ही के समय में ये लिखी भी गयी थी, पर अब इस विश्वास को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा है।

खुमानरासो : 'खुमानरासो' नामक पुस्तक के बारे मे 'शिवसिंहसरोज' मे बताया गया है कि किसी अज्ञातनामा भाट ने 'खुमानरासो' नाम का काव्य लिखा था, जिसमे श्री राजचन्द्र से लेकर खुमान तक के नरपतियों का वर्णन है। कर्नल टॉड ने भी इस पुस्तक की चर्चा विस्तारपूर्वक की थी। चित्तौर मे खुमान नाम के तीन राजा हुए हैं. जिनमें प्रथम का राज्य-समय 752 ई. से 808 ई. तक, दूसरे का 813 ई. से 843 ई. तक, और तीसरे का 908 ई. से 933 ई. तक था। चूंकि 'खुमानरासो' मे खलीफा अलमामू (813-33 ई.) का आक्रमण हुआ था, इसलिए अनुमान लगाया गया है कि 'खुमानरासो' की रचना दूसरे खुमान के समय मे हुई होगी, अर्थात् यह पुस्तक सन् ई. की नवीं शताब्दी के आरम्भ की रचना है। इसके लेखक का नाम दलपति विजय है। आजकल 'खुमानरासो' की जो प्रति मिलती है वह अपूर्ण है। कर्नल टॉड ने जो प्रति देखी थी, वह इससे कहीं विस्तृत और पूर्ण थी। वर्तमान 'खुमानरासो' में महाराणा राजसिंह (राज्यकाल 1652-70 ई.) तक के राजाओ का वर्णन है। स्पष्ट ही यह ग्रन्थ उतना प्राचीन नही है जितना समझा गया है। श्री मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' मे लिखा है कि "ये तपागच्छीय जैन साधु शान्तिविजय के शिष्य थे'। इनका असली नाम दलपत था, पर दीक्षा के बाद बदलकर दौलतविजय रख दिया था। हिन्दी के विद्वानों ने इन्हें मेवाड़ के रावल खुमाण (सं. 870) का समकालीन होना अनुमानित किया है, जो गलत है। वास्तव मे इनका रचनाकाल सं. 1730 से लेकर सं. 1760 के मध्य तक है।" इस प्रकार इस ग्रन्थ की चर्चा हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे नहीं होनी चाहिए।

बीसलदेवरासो : नरपति नाल्ह का 'बीसलदेवरासो' भी सन्दिग्ध रचना ही है। ग्रन्थ में निर्माण-काल इस प्रकार दिया है :

बारह सौ बहोत्तरहाँ मझारि।
जेठ बदी नवमी बुधवारि।
नाल्ह रसायन आरंभइ।
सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि[1]॥

इसका मतलब यह है कि नरपति नाल्ह नामक कवि ने सं. 1212 मे अर्थात् 1155 ई. में इस ग्रन्थ का आरम्भ किया था। चूंकि पुस्तक में सर्वत्र वर्तमान-कालिक क्रिया का प्रयोग है, अतएव ग्रन्थ के सम्पादक श्री सत्यजीवन वर्मा ने

1. श्री सत्यजीवन वर्मा द्वारा सम्पादित और सं. 2008 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित। हाल ही में डा. माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित होकर प्रयाग से प्रकाशित।

भट्ट केदार और मधुकर भट्ट : इसी प्रकार भट्ट केदार और मधुकर नामक दो भाट कवियों के विषय में कहा जाता है कि इन्होंने जयचन्द के यशवर्णन के लिए 'जयचन्दप्रकाश' और 'जयमयकजसचन्द्रिका' नाम के ग्रन्थ लिखे थे। ये पुस्तकें मिलती नहीं। केवल इनका उल्लेख बीकानेर के राज-पुस्तक-भाण्डार में सुरक्षित सिंघायच दयालदास कृत 'राठौण री ख्यात' में मिलता है। इस प्रकार ये पुस्तकें सिर्फ नोटिस मात्र हैं। 'शिवसिंह सरोज' में लिखा है कि ये कवि अलाउद्दीन गोरी के कवि थे। अलाउद्दीन मुहम्मद गोरी का चाचा था और उसी की ओर से राज्य करता था। 'पृथ्वीराजरासो' में भी दुर्गा केदार और माधव भाट नामक दो कवियों की चर्चा आती है और चन्दवरदाई के साथ उनकी प्रतिद्वन्द्विता का भी विस्तार-पूर्वक वर्णन दिया है। यह नहीं समझना चाहिए कि गोरी के दरबार में हिन्दू कवियों का आना असम्भव है। वस्तुतः महमूद के पहले गजनी में ब्राह्मणवंश का राज्य था और यह बिल्कुल असम्भव नहीं है कि पुराने राजवंश के नष्ट हो जाने के बाद उसके आश्रित कवि नये राजाओं की सेवाओं में लग गये हों। जो हो, जब तक इन कवियों की पुस्तकें नहीं मिल जातीं तब तक इस विवाद में पड़ना व्यर्थ है कि ये कवि जयचन्द के दरबारी थे अथवा गोरी के।

हम्मीररासो : इसी प्रकार शार्ङ्गधर कवि के 'हम्मीररासो' की रचना भी असन्दिग्ध नहीं है। 'प्राकृत पैंगलम्' में कुछ पद्य ऐसे आये हैं जिनमें हम्मीर की वीरता का वर्णन है; जैसे :

पिंधउ दिढ सण्णाह बाह उप्पर पक्खर दइ।
बंधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर बअण लइ।
उड्डल णहपह भमउ खग्ग रिउ सीसहि डारउ।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पब्बअ अप्फालउ।
हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुहमह जलउ।
सुरताण-सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिअ चलउ।

ऐसे और भी कुछ पद्य हैं। 'शिवसिंहसरोज' में कहा गया था कि चन्द की औलाद में शार्ङ्गधर कवि हुए थे। जिन्होंने 'हम्मीररासा' और 'हम्मीर काव्य' भाषा में बनाया था। स्वर्गीय पं. रामचन्द्र शुक्ल ने इस बात को ध्यान में रखते हुए अनुमान किया कि 'प्राकृतपैंगलम्' के जिन उदाहरणों में हम्मीर की कीर्तिकथा है वे असली 'हम्मीररासो' के पद्य हैं। परन्तु ऊपर जो पद्य दिया हुआ है और जिसे शुक्लजी ने उद्धृत भी किया है, उसमें 'जज्जल भणइ'—जज्जल की भणति—दी हुई है। 'प्राकृतपैंगलम्' की टीका में कहा गया है कि 'जज्जलस्योक्तिरियम्' अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इन पद्यों को जज्जल कवि की रचना माना है। दो बातें हो सकती हैं—या तो यह किसी ऐसे काव्य के पद्य हैं जिसमें जज्जल कोई पात्र है अथवा यह स्वयं जज्जल की उक्तियाँ हैं।

शुक्लजी प्रथम मत को मानते हैं, राहुलजी दूसरे मत को। लेकिन अगर प्रथम

मत स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी यह कैसे मान लिया जा सकता है कि यह काव्य शार्ङ्गधर का लिखा हुआ 'हम्मीररासो' ही था ! जब तक कोई पुष्ट प्रमाण नही मिल जाता तब तक यह बात निश्चित और असन्दिग्ध नही कही जा सकती।

शार्ङ्गधर द्वारा संगृहीत 'शार्ङ्गधरपद्धति' नामक एक संस्कृत पद्यकोष अवश्य मिलता है जिसमें शार्ङ्गधर की कुछ अपनी रचनाएँ भी है। ऐसे तो इसके सब पद्य संस्कृत के हैं, किन्तु कुछ मन्त्र और कुछ मिश्रभाषा की ऐसी रचनाएं भी हैं जिनमें तत्काल प्रचलित लोकभाषा का कुछ आभास मिल जाता है। भाषा चित्र के नमूने के रूप में श्रीकण्ठ पण्डित का यह श्लोक उल्लेख योग्य है :

नूनं बादल छाइ खेह पसरी निःश्राण शब्दः खरः।
शत्रुं पाडि लूटालि तोडि हनिसौं एवं भणन्त्युद्भटाः।
झूठे गर्वभरा मघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे
कंठ पागि निवेश जाह शरण श्री मल्ल देवं विभुम् ॥

—श्लोक सं. 550

विजयपालरासो : मिश्रबन्धुओं ने नल्लसिंह रचित 'विजयपालरासो' को भी इसी काल की रचना बताया है। कहा गया है कि नल्लसिंह ने सं. 1093 मे हुई विजयपालसिंह और पंग राजा की लड़ाई का वर्णन किया है। मिश्रबन्धुओं ने इसका रचनाकाल सं. 1355 माना है। लेकिन यह भी बहुत पुराना ग्रन्थ नही मालूम होता। इसकी भाषा और शैली पर विचार करने से मालूम होता है कि इसकी रचना बहुत बाद में हुई होगी।

इसी प्रकार सन् 1293 ई. में अमीर खुसरो की रचनाएँ[1] प्रारम्भ हुई। अमीर खुसरो निस्सन्देह बहुत मेधावी विद्वान् और सुकवि थे। उनकी रचनाओ में तत्काल प्रचलित हिन्दी का प्रयोग हुआ होगा। परन्तु उनके नाम पर जितनी पहेलियाँ, मुकरियाँ और ढकोसले प्रचलित है वे न तो मूल रूप में ही सुरक्षित है और न सब-के-सब प्राचीन ही हैं। इस प्रकार साहित्यिक कोटि मे आनेवाले ये ग्रन्थ बहुत सन्दिग्ध है। कुछ तो निश्चित रूप से परवर्ती हैं, कुछ के अस्तित्व का ही ठिकाना नही और कुछ का अस्तित्व केवल अनुमान से मान लिया गया है। आदिकाल के इतिहास-लेखकों ने इन ग्रन्थों की ऐतिहासिकता के पक्ष-विपक्ष में बहुत-सी व्यर्थ की दलीलें पेश की हैं जो निरर्थक ही नही है, साहित्य के विद्यार्थी के ऊपर बोझ के समान हैं और शुद्ध साहित्यिक आलोचना की गति को रुद्ध करने का कार्य करती है।

अर्द्धप्रामाणिक रचनाएँ—पृथ्वीराजरासो : इस काल की कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जिन्हे हम अर्द्धप्रामाणिक कह सकते हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण और

1. (1) 'खालिक बारी', मुफीदे खालिक प्रेस, आगरा, 1869 ई.
   (2) „ „ सूरजमल, कमरुद्दीनखाँ, पटना, 1870 ई.
   (3) 'अमीर खुसरो की हिन्दी कविता', काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1922

प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पृथ्वीराजरासो'[1] है। काशी ना. प्र. स. प्रकाशित 'पृथ्वीराजरासो' में ढाई हजार पृष्ठ हैं जो 69 सर्गों में विभाजित है। सबसे बड़ा समय 'कनवज्ज युद्ध' है जो सम्भवतः रासो का मूल कथानक है। यह विश्वास किया जाता है कि चन्द पृथ्वीराज का मित्र, कवि और सलाहकार था। रासो में वह तीनों रूपों में चित्रित है। इस ग्रन्थ के अनुसार दोनों के जन्म और मरण की तिथि भी एक है। इस प्रकार सदा साथ रहनेवाले अभिन्न मित्र की रचना निश्चय ही बहुत प्रामाणिक होनी चाहिए, यही सोचकर सुप्रसिद्ध विद्वत्सभा रायल एसियाटिक सोसायटी, बंगाल ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन आरम्भ किया था। कुछ थोड़ा-सा अंश प्रकाशित भी हो चुका था, किन्तु इसी समय डॉ. बूलर को 'पृथ्वीराजविजय' नामक संस्कृत काव्य की एक खण्डित प्रति हाथ लगी। उस पुस्तक की परीक्षा करने के बाद डॉ. बूलर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'पृथ्वीराजविजय' इतिहास की दृष्टि से अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है और 'पृथ्वीराजरासो' अत्यन्त अप्रामाणिक; क्योंकि पृथ्वीराजकालीन अभिलेखों से 'पृथ्वीराजविजय' में वर्णित घटनाएँ तो मिल जाती है, लेकिन 'पृथ्वीराजरासो' में वर्णित घटनाएँ नहीं मिलतीं। उनका पत्र सोसायटी के प्रोसीडिंग्स में छापा गया और 'पृथ्वीराजरासो' का प्रकाशन बन्द कर दिया गया। उन दिनों के यूरोपियन विद्वान् मध्य-देश की रचनाओं का महत्त्व दो दृष्टियों से आँकते थे—ऐतिहासिक तथ्यों को प्राप्त करने और भाषाशास्त्रीय समस्याओं को सुलझाने की दृष्टि से। रासो से यह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता था। कितनी ही ऐसी अनमिल बातें इस पुस्तक में मिली जो इसके ऐतिहासिक रूप को निर्विवाद रूप से गलत साबित करती थीं। 'पृथ्वीराजविजय' के अनुसार पृथ्वीराज सोमेश्वर और कर्पूरदेवी के पुत्र थे। कर्पूरदेवी चेदि-नरेश की कन्या थी। जब पुत्र पृथ्वीराज नाबालिग था तो माता ने कदम्बवास नामक मन्त्री की सहायता से राज्य-संचालन किया था। यह बात अभिलेखों से मिलती है जबकि 'पृथ्वीराजरासो' के अनुसार यह दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री के लड़के थे। मजेदार बात यह है कि 'पृथ्वीराजविजय' में चन्दबरदाई नामक किसी कवि का नाम नहीं है। एक जगह चन्द्रराज कवि का उल्लेख अवश्य है, परन्तु उसे कुछ विद्वानों ने कश्मीरी कवि चन्द्रक से अभिन्न माना है। और भी बहुत-सी अनैतिहासिक बातें रासो में मिलती हैं; जैसे :

1. 'पृथ्वीराजरासो'—(1) एसियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल से 1883-86 ई. में आरम्भिक अंश प्रकाशित; (2) मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या सम्पादित, ई. जे. लाजरस एण्ड को., बनारस, सन् 1888-1904 ई.; (3) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से श्यामसुन्दरदास आदि द्वारा सम्पादित, 1905-13 ई.; (4) 'पृथ्वीराजरासो' के दो समय (रेवातट और पद्मावती समय), लखनऊ, 1942; (5) 'असली पृथ्वीराजरासो', मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, 1938; (6) केवल रेवातट समय, 'हिन्दी के कवि और काव्य' (प्रथम भाग) में 1937 ई. में प्रयाग से प्रकाशित; (7) 'संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो', हजारीप्रसाद द्विवेदी और नामवरसिंह द्वारा सम्पादित, साहित्य भवन, प्रयाग, 1952

1. आबू पहाड़ के राजा जेत और सलक बताये गये हैं जिनका तात्कालिक शिला-लेखों में कोई उल्लेख नहीं मिलता, और उस समय आबू पर सचमुच ही राज्य करनेवाले धारावर्ष परमार की इस ग्रन्थ में कोई चर्चा ही नहीं।

2. गुजरात का राजा भीमसेन रासो के अनुसार पृथ्वीराज के हाथो मारा गया था। पर शिलालेखों पर विश्वास किया जाय, तो वह पृथ्वीराज के बहुत बाद तक जीता रहा।

3. शाहबुद्दीन, रासो के अनुसार, पृथ्वीराज के तीर से मारा गया था, पर ऐतिहासिक तथ्य यह है कि सन् 1203 ई. में गक्करों के हाथ मारा गया।

4. पृथ्वीराज की बहन पृथाकुँवरि, रासो के अनुसार, चित्तौड़ के राजा समरसिंह से ब्याही गयी थी जो इतिहास विरुद्ध है, क्योंकि समरसिंह के अभिलेख 1278 ई. और 1285 ई. के बीच के मिले हैं। इसके बहुत पहले पृथ्वीराज परलोक चले गये थे।

5. 'पृथ्वीराजरासो' में जो तिथियाँ दी गयी है वे वास्तविक ऐतिहासिक प्रमाणों की तुलना में निराधार है। इस प्रकार और, की और भी अनेक प्रकार की, ऐतिहासिक असंगतियाँ इस पुस्तक में मिलती है। सं. 1986 की नागरी प्रचारिणी पत्रिका में म. म. श्री गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा ने विस्तारपूर्वक 'पृथ्वीराजरासो' की अनैतिहासिकता सिद्ध की है। उपसंहार करते हुए उन्होंने उसी लेख में लिखा है कि "इस तरह हमने जाँच कर देखा कि पृथ्वीराजरासो बिल्कुल अनैतिहासिक ग्रन्थ है। उसमें चौहानों, प्रतीहारों और सोलंकियो की उत्पत्ति सम्बन्धी कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई, बहिन, पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत-सी घटनाओं के संवत् और प्रायः सभी घटनाएँ तथा सामन्तों आदि के नाम अशुद्ध और कल्पित है। कुछ सुनी-सुनायी बातों के आधार पर उक्त वृहत् काव्य की रचना की गयी है। यदि पृथ्वीराजरासो पृथ्वीराज के समय में लिखा जाता तो इतनी बड़ी अशुद्धियों का होना असम्भव था। भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ प्राचीन नहीं दीखता। इसकी डिंगल भाषा में जो कहीं-कहीं प्राचीनता का आभास होता है वह तो डिंगल की विशेषता ही है। ... वस्तुतः पृथ्वीराजरासो वि. सं. १६०० के आसपास लिखा गया।......यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराजरासो का मूलग्रन्थ उसके वर्त्तमान परिमाण से बहुत छोटा था, परन्तु पीछे से बढ़ाया गया है क्योंकि आज से १८५ वर्ष पूर्व उसी के वंशज कवि यदुनाथ ने उसका १०५०० श्लोकों का होना लिखा है जो वर्त्तमान रासो का प्रमाण है।...."

ओझाजी की अन्तिम उक्ति बहुत कमजोर है। इधर हाल में उसकी कमजोरी का सबूत भी मिल चुका है।

रासो के सम्पादक श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या और बाबू श्यामसुन्दरदास ने इन्हें इतिहास-सम्मत सिद्ध करने का बहुत प्रयत्न किया है। यहाँ तक कि विशुद्ध अनुमान के बल पर आनन्द सम्वत् की भी कल्पना की है, पर फिर भी

रासो की ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं की जा सकती। म. म. गौरीशंकर हीराचन्द-जी ओझा को तो इनमें इतनी असंगतियाँ दिखायी दीं कि उन्होंने इसे जाली ग्रन्थ कह दिया। तब से हिन्दी साहित्य के इतिहास नामक ग्रन्थों में रासो की ऐतिहासिकता और अनैतिहासिकता पर पन्ने रँगे जा रहे हैं। इस निरर्थक मन्थन से जो दुस्तर फेनराशि तैयार हुई है, उसे पार करके ग्रन्थ के साहित्यिक रस तक पहुँचना हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिए असम्भव-सा व्यापार हो गया है।

इधर बाबू रामनारायण दूगड़जी को उदयपुर राज्य के 'विक्टोरिया हॉल' में एक पुस्तक मिली है जिसमें एक छन्द इस आशय का है कि चन्द के छन्द इधर-उधर बिखरे हुए थे जिन्हें राजा अमरसिंह ने एकत्र करवाकर वर्तमान रूप दिया था। उदयपुर के राजवंश में अमरसिंह नाम के दो राजा हुए थे। एक का राज्यकाल 1621 ई. तक था तथा दूसरे का 1698 ई. से 1710 ई. तक। राजसिंह ने राजसमुद्र नामक तालाब की चौकी पर 'राजप्रशस्ति' नामक एक संस्कृत महाकाव्य खुदवाया था (1675 ई.), जिससे विदित होता है कि उस समय रासो का निर्माण हो चुका था। अतएव रासो के संग्रह करानेवाले अमरसिंह प्रथम अमरसिंह ही होंगे। ऐसा भी कहा जाता है कि 'राजप्रशस्ति' काव्य लिखाने के लिए महाराणा राजसिंह ने प्रचुर अर्थ व्यय किया था। उसी समय किसी प्रतिभाशाली चारण ने नाना स्थानों से जोड़-बटोरकर यह महाकाव्य तैयार किया होगा। इसलिए रासो का वर्तमान रूप अधिक-से-अधिक सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में ही प्राप्त हुआ होगा।

पृथ्वीराजरासो के प्रामाणिक अंश : जहाँ तक रासो की ऐतिहासिकता का सम्बन्ध है, डॉ. बूलर, मॉरिसन, गौ. ही. ओझा, मुंशी देवीप्रसादजी आदि प्रामाणिक ऐतिहासिक लेखकों ने उसे अविश्वसनीय सिद्ध कर दिया है। अब इसको लिखित घटनाओं को ऐतिहासिक सिद्ध करने का प्रयत्न बन्द कर देना ही उचित है। किन्तु फिर भी रासो का महत्त्व है। बहुत दिनों तक विद्वानों में यह विश्वास रहा है कि यद्यपि रासो में प्रक्षिप्त अंश बहुत हैं, तथापि इसमें चन्द के कुछ-न-कुछ वचन अवश्य हैं जो काफी पुराने हैं। अब तक यही विश्वास किया जाता रहा है कि प्रक्षेपों के समुद्र में से मूल कविताओं के मोती चुन लेना असम्भव ही है। इधर हाल में मुनि जिन-विजयजी ने 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में 'जयचन्द प्रबन्ध' नामक एक प्रबन्ध प्रकाशित किया, जिसमें चन्द के नाम से चार छप्पय दिये हैं। इसकी भाषा परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश के निकट की भाषा है, यद्यपि उसमें कुछ चिह्न ऐसे भी मिलते हैं जिनसे हम अनुमान कर सकते हैं कि 'सन्देशरासक' की भाषा के सदृश यह भाषा भी कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा है। जिस प्रति से ये छप्पय उद्धृत किये गये हैं वह सम्भवतः पन्द्रहवीं शताब्दी की लिखी हुई है। इससे यह सिद्ध होता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में लोगों को चन्द के छप्पय का ज्ञान था और ये छप्पय परिनिष्ठित अपभ्रंश से थोड़ी आगे बढ़ी भाषा में लिखे गये थे। इन पद्यों के प्रकाशन के बाद से अब इस विषय में किसी को सन्देह नहीं रह गया है कि चन्द नामक कोई कवि पृथ्वीराज

के दरबार में अवश्य थे और उन्होंने ग्रन्थ भी लिखा है। सौभाग्यवश वर्त्तमान रासो में भी ये छन्द कुछ विकृत रूप में प्राप्त हो गये है। इस पर से यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्त्तमान रासो में चन्द के मूल छन्द अवश्य मिले हुए हैं।

'पृथ्वीराजरासो' का अध्ययन करने के बाद और नवी-दसवी शताब्दी मे प्रचलित कथाओं के लक्षण और काव्य-रूपों को ध्यान मे रखकर देखने से ऐसा लगता है कि यद्यपि चन्द के मूल वचनों को खोज लेना अब भी कठिन है, किन्तु उसमे क्या-क्या वस्तुएँ थी और कौन-कौन-सी कथाएँ थी, इस बात का पता लगा लेना उतना कठिन नही है। उन दिनों की कथाएँ दो व्यक्तियो के संवाद के रूप में लिखी जाती थी। चन्द ने भी रासो को शुक और शुकी के संवाद में लिखा था जैसे विद्यापति ने 'कीर्त्तिलता' को भृङ्ग और भृङ्गी के सवाद के रूप मे लिखा था और कौतूहल कवि ने 'लीलावती कथा' को कवि और कविपत्नी के संवाद के रूप मे लिखा था। फिर चन्दबरदाई का यह काव्य रासक भी है, जो गेय काव्य हुआ करता था, जिसमे मृदु और उद्धत प्रयोग हुआ करते थे। 'सन्देशरासक' मे जिस प्रकार कवि ने अपनी नम्रता प्रकट करते हुए कहा है कि बड़े-बड़े कवियों की रचनाएँ उपलब्ध है तो क्या छोटे कवि अपनी रचनाओं से आनन्दित न हो, उसी प्रकार और उसी शैली मे 'पृथ्वीराजरासो' मे भी यह बात कही गयी है। इतना ही नहीं, एक-दो प्राकृत गाथाएँ तो रासो मे भी प्रायः वही हैं जो 'सन्देशरासक' मे हैं।[1]

फिर, 'सन्देशरासक' में बीच-बीच में कवि सूचना देता है कि अमुक पात्र ने अमुक छन्द में अपनी बात कही। उसी प्रकार 'पृथ्वीराजरासो' मे भी बीच-बीच में कह दिया गया है कि अमुक पात्र ने अमुक छन्द मे अपनी बात कही। इन सब बातों पर विचार करने से ऐसा जान पड़ता है कि चन्द ने भी अपभ्रंश के रासकों की शैली पर ही अपना रासो लिखा। 'सन्देशरासक' में लगभग एक तिहाई पद्य रासक छन्दों में है। 'पृथ्वीराजरासो' में रासक छन्द बहुत कम व्यवहृत हुआ है। पर 'सन्देशरासक' से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि रासक ग्रन्थों मे दूसरे छन्दों का, विशेषकर दोहा और गाथा का, प्रचुर प्रयोग होता था। वीररस की प्रधानता होने के कारण चन्द ने छप्पय छन्दों का अधिक प्रयोग किया था, इस दृष्टि से विचार करने पर रासो के निम्नांकित प्रसंग प्रामाणिक जान पड़ते हैं :

1. आरम्भिक अंश, 2. इछिनी विवाह, 3. शशिव्रता का गन्धर्व विवाह, 4. तोमर पाहार का शहाबुद्दीन का पकड़ना, 5. संयोगिता का जन्म, विवाह तथा इछिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और समझौता।[2]

इन प्रसंगों की विशेषता : इन अंशों में भाषा मे उस प्रकार का बेडौल और

1. विशेष विस्तार के लिए देखिए—हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', पटना, 1952।
2. विशेष विस्तार के लिए 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' देखिए।

बेमेल ठूँसठाँस नहीं है और कवित्त का सहज प्रवाह है। इसमें चन्दवरदाई ऐसे सहज-प्रफुल्ल कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं जो विषम परिस्थितियों से भी जीवनरस खींचते रहते हैं। वे केवल कल्पनाविलासी कवि ही नहीं, निपुण मन्त्रदाता के रूप में भी सामने आते हैं। चाहे रूप और शोभा का वर्णन हो, चाहे ऋतुवर्णन की उत्फुल्लता का प्रसंग हो, या युद्ध की भेरी का प्रसंग हो, चन्दवरदाई सर्वत्र एक समान अविचलित और प्रसन्न दिखायी पड़ते हैं। रूप और सौन्दर्य के प्रसंग में उनकी कविता रुकना ही नहीं जानती। निस्सन्देह उन्होंने काव्यगत रूढ़ियों का बहुत व्यवहार किया है और परम्परा-प्रचलित उपमानों से सौन्दर्य की अभिव्यंजना उनके साहित्य का प्रधान कौशल है, तथापि वह कवि के आनन्दनिर्झर चित्त को पूर्ण रूप से प्रकट करती है। कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से तो चन्द का काव्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और परवर्तीकाल में जिन लोगों ने उसमें प्रक्षेप किया है वे चन्द की इस प्रवृत्ति को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे, इसीलिए प्रक्षेप करनेवालों ने चुन-चुन करके कथानक-रूढ़ियों और काव्य-रूढ़ियों का सन्निवेश किया है।

साधारणतः भारतीय कथाओं में कथानक को अभीष्ट दिशा में मोड़ने के लिए निम्नांकित कथानक-रूढियों का व्यवहार हुआ है :

1. स्वप्न में प्रियमूर्त्ति-दर्शन, 2. कहानी कहनेवाला सुआ, 3. शिकार खेलते समय घोड़े का जंगल में मार्ग भूलना, 4. मुनि का शाप, 5. रूपपरिवर्त्तन, 6. लिंगपरिवर्त्तन, 7. परकायप्रवेश, 8. आकाशवाणी, 9. अभिज्ञान या साहिदानी, 10. परिचारिका का राजा से प्रेम और उसका राजकन्या रूप में अभिज्ञान, 11. नायिका का चित्र, 12. नायक का औदार्य, 13. विरहवेदन, 14. चौर्यप्रेम और फिर विवाह, 15. नट-नटी द्वारा रूप-श्रवण और प्रेम, 16.सन्देशवाहक हंस या कपोत, 17. विजनवन में सुन्दरियों से साक्षात्कार, 18.उजाड़ शहर का मिल जाना और वहाँ नायक का राजा हो जाना, 19. शत्रु-सन्तापित सरदार की प्रिया को शरण देना और युद्ध मोल लेना, 20. अति-प्राकृत दृश्य से लक्ष्मीप्राप्ति का शकुन इत्यादि-इत्यादि।

रासो में कवित्व : लगभग इन सभी कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग 'पृथ्वीराजरासो' में किया गया है। महत्त्वपूर्ण प्रत्येक विवाह के समय नट का, नर्त्तकी का, स्वप्नदर्शन का, चित्रदर्शन का, हंस-दौत्य या शुक-दौत्य का उपयोग किया गया है। शशिव्रता और संयोगिता, इन दोनों मुख्य रानियों को अप्सरा का अवतार बताया गया है। प्रत्येक विवाह में आगे या पीछे कुछ-न-कुछ युद्ध का प्रसंग अवश्य आता है और प्राचीन निजन्धरी कथाओं के समान कन्याहरण प्रधान रूप से वर्णित हुआ है। शोभा चाहे प्रकृति की हो या मनुष्य की हो, परम्परा-प्रचलित रूढ़ उपमानों के सहारे ही निखरी है और अधीनस्थ सामन्तों की स्वामि-भक्ति और पराक्रम अत्यन्त उज्ज्वल रूप में प्रकट हुआ है। छन्दों का परिवर्तन बहुत अधिक हुआ है। पर कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आयी है। बारहवीं-तेरहवीं शती के अपभ्रंश साहित्य में छन्दों का यह परिवर्तन बहुत अधिक प्रचलित हो गया था। जो लोग

छन्द-परिवर्त्तन के लिए केशव को दोषी समझते हैं, वे बहुत ऊपर से काव्य-रूपों की आलोचना करते हैं। वस्तुतः केशव की 'रामचन्द्रिका' तक आते-आते यह छन्दो-बहुला प्रथा निर्जीव और विकृत हो गयी थी। अत्यधिक प्रक्षेप होते रहने के बाद भी 'पृथ्वीराजरासो' में यह प्रथा सजीव रूप मे वर्त्तमान है। अनुकरण करनेवालो ने भी चन्द की शैली को ठीक रूप मे पकड़ा है और वर्त्तमान रूप मे भी रासो के छन्द जब बदलते है तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करते है।

वर्त्तमान रासो में युद्धो का प्रसंग बहुत अधिक है; और शहाबुद्दीन तो इसमें हर मौके-बेमौके अनायास आ पडता है। अधिकतर भट्टभणन्त और गलत तिथियों का हिसाब ऐसे प्रसंग में आता है। ऐसा कहने में कुछ भी संकोच मालूम नही पड़ता, कि ये युद्धों के अनावश्यक विस्तारित वर्णन, चौहान और कमधुज्ज के सरदारों के नामों की सूची आदि बातें परवर्त्ती ठूंसठांस है। मूल रासो शुक और शुकी के संवाद रूप में ही लिखा गया था और सम्भवतः 'कीर्तिलता' के समान प्रत्येक समय के आरम्भ में शुक और शुकी प्रसंग उसमे भी था। इधर रासो के अनेक संक्षिप्त संस्करणों का पता लगा है, और पण्डितों में यह जल्पना-कल्पना आरम्भ हुई है कि इन्हीं छोटे संस्करणों मे से कोई रासो का मूल रूप है, या नहीं। अभी तक इन संस्करणों का जो कुछ विवरण देखने में आया है, उससे तो ऐसा ही लगता है कि ये सब संस्करण रासो के सक्षेप रूप ही हैं।

परमालरासो : इस काल में 'पृथ्वीराजरासो' के समान ही जागनिक लिखित 'परमालरासो' नामक एक ग्रन्थ का नाम मिलता है। कहते है कि कालिंजर के राजा परमाल (परमर्दि देव) के यहाँ जागनिक नाम के एक भाट थे, जिन्होंने महोबे के दो देशप्रसिद्ध वीरों, आल्हा और ऊदल के चरित्र का एक वीर काव्य लिखा था। फर्रुखाबाद के कलक्टर मि. चार्ल्स इलियट ने लोक मे प्रचलित इन गीतो का सग्रह 'आल्हा-खण्ड'[1] के नाम से छपवाया था। निस्सन्देह इस नये रूप में बहुत-सी नयी बातें आ गयी हैं और जागनिक के मूल ग्रन्थ का क्या रूप था, यह कह सकना कठिन हो गया है। अनुमानतः इस संग्रह का वीरत्वपूर्ण स्वर तो सुरक्षित है, लेकिन भाषा और कथानकों में बहुत अधिक परिवर्त्तन हो गया है। इसीलिए चन्दवरदाई के 'पृथ्वीराजरासो' की तरह इस ग्रन्थ को भी अर्द्ध-प्रामाणिक ही कह सकते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि या तो जागनिक का काव्य बहुत दिनों तक बुन्देलखण्ड के बाहर प्रसारित नही हुआ, या यह रचा ही बहुत बाद में गया। पुराने साहित्य में इस अत्यन्त लोकप्रिय काव्य का कहीं उल्लेख नही मिलता, और गोसाईं तुलसीदासजी ने इस श्रेणी के काव्य-रूप को शायद सुना ही नहीं था। यदि उन्होंने

1. (1) पद्मावती खण्ड तथा आल्हा खण्ड; केशवप्रसाद सम्पा., आगरा, 1871
   (2) पद्मावती खण्ड तथा आल्हा खण्ड; हरदेवसहाय सम्पा., मेरठ, 1880
   (3) पद्मावती खण्ड तथा आल्हा खण्ड; चार्ल्स इलियट सम्पा., मुंशी रामस्वरूप, फतेहगढ़, 1831

सुना होता तो अपने स्वभाव और नियम के अनुसार इस पद्धति को भी राममय अवश्य बनाते।

डिंगल-काव्य : राजपूताने के कुछ अन्य कवियों के लिखे हुए, इस काल के आसायित और श्रीधर आदि कवियों के कुछ अन्य वीरकाव्य भी प्राप्त हुए हैं। इसी काल में राजपूताने मे डिंगल-काव्य का आरम्भ हुआ। डिंगल अपभ्रंश के योग से बनी हुई राजस्थानी भाषा का साहित्यिक नाम था। डिंगल के तौल पर राजस्थानी कवियों ने एक और शब्द गढ़ लिया था, जिसका नाम है पिंगल। प्रादेशिक बोलियो के साथ मध्यदेशीय भाषा का मिश्रण होने से एक प्रकार की सर्व-भारतीय भाषा बनी, जिसे हिन्दी में ब्रजभाषा या केवल 'भाषा' कहते थे। इसी श्रेणी की भाषा को राजस्थानी कवि 'पिंगल' कहा करते थे। डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से बतायी गयी है। कुछ लोग इसका अर्थ गँवारू भाषा करते हैं। कुछ 'डिम+गल' के योग से इसका अर्थ डमरू की आवाजवाली वीर-रस की भाषा करते है, और कुछ दूसरे डीग या अतिशयोक्तिपूर्ण बातों से इसका सम्बन्ध जोड़ते है। किन्तु डिंगल वस्तुतः राजस्थानी चारणों की राजस्तुति और वीर दर्पोक्तियों को वहन करानेवाली भाषा का नाम है। पिंगल छन्द-शास्त्र के रचयिता का नाम है, और इसीलिए उस काल की परिष्कृत भाषा (ब्रजभाषा) का नाम 'पिंगल' दे दिया गया है। बहुत दिनों तक शौरसेनी प्राकृत को और इसीलिए उससे निकली ब्रजभाषा को नाग-भाषा कहा जाता रहा। मिर्जाखाँ ने फ़ारसी में लिखे हुए ब्रजभाषा के व्याकरण में प्राकृत को नाग-लोक की भाषा कहा है। पिंगल स्वयं नाग थे, सम्भवतः पिंगल का अर्थ हुआ शौरसेनी प्राकृत या ब्रजभाषा। युद्धों के प्रसंग में 'पृथ्वीराजरासो' की भाषा डिंगल का रूप धारण करती है, किन्तु विवाह और प्रेम के सुकुमार प्रसंगों मे वह प्रधान रूप से पिंगल ही बनी रहती है। वस्तुतः मूल 'पृथ्वीराजरासो' शौरसेनी अपभ्रंश में लिखा गया था, जो परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न और उससे कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा थी।

ऐतिहासिक काव्य क्या हैं ? : मैंने अपनी 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' नामक पुस्तक मे दिखाया है कि सातवीं-आठवीं शताब्दी से इस देश में ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर काव्य लिखने की प्रथा खूब चली। इन्हीं दिनों ईरान के साहित्य में भी इस प्रथा का प्रवेश हुआ। इस काल में उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त से बहुत-सी जातियों का प्रवेश इस देश में होता रहा। वे राज्य-स्थापन करने में भी समर्थ हुईं। पता नहीं कि उन जातियों की स्वदेशी प्रथा की क्या-क्या बातें इस देश में चलीं। साहित्य में नये-नये काव्यरूपों का प्रवेश इस काल में हुआ अवश्य। सम्भवतः ऐतिहासिक पुरुषों के नाम पर काव्य लिखने या लिखाने की चलन भी उनके संसर्ग का फल हो। परन्तु भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम-भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही जिसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण-संग्रह की ओर कम; कल्पनाविलास का अधिक मान था, तथ्यनिरूपण का कम; सम्भावनाओं की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओं की ओर कम; उल्लसित

आनन्द की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार इतिहास को कल्पना के हाथों परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिये गये हैं। राजा का विवाह, शत्रुविजय, जलक्रीड़ा, शैल-वन-विहार, दोला-विलास, नृत्य-गान-प्रीति—ये सब बातें ही प्रमुख हो उठी है। बाद मे क्रमशः इतिहास का अंश कम होता गया और सम्भावनाओं का जोर बढ़ता गया। राजा के शत्रु होते है, उनसे युद्ध होता है। इतिहास की दृष्टि मे एक युद्ध हुआ, और भी तो हो सकते थे। कवि सम्भावना को देखेगा। राजा के एकाधिक विवाह होते थे। यह तथ्य अनेकों विवाहो की सम्भावना उत्पन्न करता है; जलक्रीड़ा और वन-विहार की सम्भावना की ओर सकेत करता है और कवि को अपनी कल्पना के पंख खोल देने का अवसर देता है। उत्तरकाल के ऐतिहासिक काव्यों में इसकी भरमार है। ऐतिहासिक विद्वान् के लिए संगति मिलाना कठिन हो जाता है।

वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक-जैसा बना देने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है—जैसे राम, बुद्ध, कृष्ण आदि—और कुछ मे काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजन्धरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है—जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल। जायसी के रतनसेन, रासो के पृथ्वीराज मे तथ्य और कल्पना का—फैक्ट्स और फिक्शन का—अद्‌भुत योग हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्‌भुत-शक्ति मे और मनुष्य के अपूर्व शक्तिभाण्डार होने में दृढ़ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यों को सदा काल्पनिक रग मे रँगा है। यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा, तब भी इतिहास का कार्य नही हुआ। अन्त तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं। फिर भी निजन्धरी कथाओं से वे इस अर्थ में भिन्न थीं कि उनमें बाह्य तथ्यात्मक जगत् से कुछ-न-कुछ योग अवश्य रहता था। कभी-कभी मात्रा में कमी-बेशी तो हुआ करती थी, पर योग रहता अवश्य था। निजन्धरी कथाएँ अपने-आपमें ही परिपूर्ण होती थीं।

जिस प्रकार भारतीय कवि काल्पनिक कथानकों में ऐसी घटनाओं को नहीं आने देता जो दुःखपरक विरोधों को उकसायें, उसी प्रकार वह ऐतिहासिक कथानकों मे भी करता है। सिद्धान्ततः काव्य में उस वस्तु का आना भारतीय कवि उचित नही समझता जो तथ्य और औचित्य की भावनाओं में विरोध उत्पन्न करे, दुःखोद्रेचक विषम परिस्थितियों—ट्रेजिक कण्ट्रेडिक्शन्स—की सृष्टि करे; परन्तु वास्तव जीवन में ऐसी बातें होती ही रहती हैं। इसलिए इतिहासाश्रित काव्य में भी ऐसी बातें आयेंगी ही। बहुत कम कवियों ने ऐसी घटनाओं की उपेक्षा कर जाने की बुद्धि से अपने को मुक्त रखा है। यही कारण है कि इन ऐतिहासिक काव्यों के नायक को धीरोदात्त बनाने की प्रवृत्ति ही प्रबल हो गयी है; परन्तु वास्तविक

जीवन के कर्त्तव्य-द्वन्द्व, आत्मविरोध और आत्मप्रतिरोध जैसी बातें उनमें नहीं आ पातीं। ऐसी बातों के न आने से इतिहास का रस भी नहीं आ पाता और कथानायक कल्पित पात्र की कोटि में आ जाता है। फिर जीवन में कभी हास्योद्रेचक अनमिल स्वर भी मिल जाते हैं। संस्कृत काव्य का कर्त्ता कुछ अधिक गम्भीर रहने में विश्वास करता है और ऐसे प्रसंगों को छोड़ जाता है। और ऐसे प्रसंगों को तो वह भरसक नहीं आने देना चाहता जहाँ कथानायक के नैतिक पतन की सूचना मिलने की आशंका हो। यदि ऐसे प्रसंगों की वह अवतारणा भी करता है तो घटनाओं और परिस्थितियों का ऐसा जाल तानता है, जिसमें नायक का कर्त्तव्य उचित रूप में प्रतिभात हो। सब मिलाकर ऐतिहासिक काव्य काल्पनिक निजन्धरी कथानकों पर आश्रित काव्य से बहुत भिन्न नहीं होते। उनसे आप इतिहास के शोध की सामग्री संग्रह कर सकते हैं, पर इतिहास को नहीं पा सकते—इतिहास, जो जीवन्त मनुष्य के विकास की जीवन्तकथा होता है, जो कालप्रवाह से नित्य उद्घाटित होते रहनेवाले नव-नव घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय-यात्रा का चित्र उपस्थित करता है, और जो काल के परदे पर प्रतिफलित होनेवाले नये-नये दृश्यों को हमारे सामने सहज भाव से उद्घाटित करता रहता है। भारतीय कवि इतिहास-प्रसिद्ध पात्र को भी निजन्धरी कथानकों की ऊँचाई तक ले जाना चाहता है। इस कार्य के लिए वह कुछ कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग करता है जो कथानक को अभिलषित दिशा में मोड़ देने के लिए दीर्घकाल से प्रचलित हैं। इनसे कथानक में सरसता आती है और घटनाप्रवाह में एक प्रकार की लोच आ जाती है। अस्तु।

सन्देशरासक : मुलतान के ग्यारहवीं शती (?) के कवि अद्दहमाण या अब्दुलरहमान ने 'सन्देशरासक'[1] नाम की एक बड़ी सुन्दर प्रेमकहानी लिखी थी। इस पर दो संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध हुई हैं। टीकाकार ने लिखा है कि उसे कवि के मुँह से काव्य का भाव सुनने का अवसर तो नहीं मिला, पर एक अन्य व्यक्ति से सुनकर वह अर्थ लिख रहा है। किसी-किसी विद्वान् ने टीकाकार की इस उक्ति पर से यह बताने का प्रयत्न किया है कि चौदहवीं शताब्दी के टीकाकार की बात से अनुमान होता है कि उसे कवि के मुँह से काव्य का भाव सुनने का अवसर मिल सकता था, पर किसी कारणवश मिला नहीं। अर्थात् कवि अधिक-से-अधिक तेरहवीं शती के अन्त में वर्त्तमान होगा। इस उक्ति में कुछ सार अवश्य है, परन्तु इस युक्ति को बहुत दूर तक न घसीटना ही अच्छा है। हेमचन्द्र के दोहों में 'सन्देशरासक' के एक दोहे को उदाहृत देखकर इसे ग्यारहवीं शती का काव्य ही मानना ठीक जान पड़ता है। जो हो, 'सन्देशरासक' की प्रेम-कहानी मुलतान के आसपास के प्रदेशों में गायी गयी होगी। मध्ययुग की अनेक प्रेम-कथाओं की उत्स-भूमि यही प्रदेश रहा है। 'हीर राँझा की कहानी', 'पूरन भगत की कहानी', और 'नौटंकी की

1. सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से [illegible] सम्पादित।

कहानी' की जन्मभूमि यही प्रदेश रहा है।

'सन्देशरासक' की कहानी बहुत सरल और मर्मस्पर्शी है, यद्यपि वह कुछ आदिम मनोभाववाली रचनाओं की श्रेणी की है। मुलतान से जाते हुए किसी पथिक से एक विरहिणी स्त्री का साक्षात्कार होता है, जिसका पति कार्यवश मुलतान गया था। वह विरहिणी अपना दुखड़ा सुनाती है और वर्ष के भिन्न-भिन्न ऋतुओं में उस पर जो बीती है उसकी कहानी सुना देती है और फिर प्रिय के लिए कुछ सन्देश भेजती है। इस सन्देश में ऐसी करुण वेदना है, जो पाठक को बरबस आकृष्ट करती है। उपमाएँ अधिकांश में यद्यपि परम्परागत और रूढ़ ही हैं, तथापि बाह्य-वृत्त की वैसी व्यंजना उसमें नहीं है जैसी आन्तरिक अनुभूति की। ऋतुवर्णन के प्रसंग में बाह्य-प्रकृति इस रूप में चित्रित नहीं हुई, जिससे आन्तरिक अनुभूति की व्यंजना दब जाय। प्रिय के नगर से आनेवाले अपरिचित पथिक के प्रति नायिका के चित्त में किसी प्रकार के दुराव का भाव नहीं है। वह बड़े सहज ढंग से अपनी कहानी कह जाती है। सारा वातावरण विश्वास और घरेलूपन का वातावरण है।

सन्देशरासक और पृथ्वीराजरासो : 'सन्देशरासक' बहुत महत्त्वपूर्ण विरह-काव्य है। एक तरफ 'ढोला मारू' की मारवाणी की याद दिलाता है, और दूसरी तरफ 'पद्मावत' की नागमती की। यह 'पृथ्वीराजरासो' से भिन्न प्रकृति का काव्य है। 'पृथ्वीराजरासो' प्रेम के मिलनपक्ष का काव्य है, और 'सन्देशरासक' विरहपक्ष का; रासो काव्य-रूढ़ियों के द्वारा वातावरण तैयार करता है, और 'सन्देशरासक' हृदय की मर्म-वेदना के द्वारा। 'रासो' में घर के बाहर का वातावरण प्रमुख है, और 'सन्देशरासक' में भीतर का। 'रासो' नये-नये प्रेम का 'रोमांस' प्रस्तुत करता है, और 'सन्देशरासक' पुरानी प्रीति को निखार देता है।

प्राकृत पैंगलम के उदाहरण : 'प्राकृत पैंगलम' में विद्याधर, शार्ङ्गधर (?), जज्जल, बब्बर आदि कवियों की रचनाओं में कई प्रकार के विषय हैं—वीर, शृंगार, नीति, शिवस्तुति, विष्णुस्तुति, ऋतुवर्णन आदि। पर इनकी मात्रा बहुत कम है। परन्तु ये सभी रचनाएँ और 'सन्देशरासक', 'पृथ्वीराजरासो', 'कीर्त्तिलता' आदि के कवि उस श्रेणी के कवि नहीं थे, जिन्हें आदिम-मनोवृत्ति के कवि कहते हैं। वस्तुतः इन रचनाओं में एक दीर्घकालीन परम्परा का स्पष्ट परिचय मिलता है। ये कवि काव्य-लक्षणों के जानकार थे, प्राचीनतर कवियों की रचनाओं के अभ्यासी थे, और अपने काव्य के गुण-दोषों के प्रति सचेत थे। इसीलिए इन्हें साहित्य के आरम्भिक काल का कवि कहना ठीक नहीं। इस दृष्टि से भी हिन्दी के इस काल के साहित्य को दीर्घकाल से चली आती हुई परम्परा का बढ़ावा समझना ही संगत जान पड़ता है। काव्यगत रूढ़ियों और कथानक-रूढ़ियों का इस साहित्य में जमकर प्रयोग किया गया है। इसीलिए इस श्रेणी की रचनाओं में आदिम कविता की स्पष्टता, अव्यवहित प्रभाव-विस्तरण, और अनगढ़ भाव नहीं हैं, बल्कि शास्त्रीय कविता की जटिलता और सुगढ़ भाव-व्यंजना का प्रयास मिलता है।

वस्तुतः 'हिन्दी का आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिर्मुक्त, काव्य-रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग और सचेत कवियों का काल है।

कीर्तिलता की विशेषता : सौभाग्यवश विद्यापति की कीर्तिलता में कोई प्रक्षेप नहीं हो सका, और उसमें थोड़ी-बहुत ताजगी बची रह गयी है। ऐतिहासिक काव्यों में 'कीर्तिलता' का स्थान कुछ विशिष्ट है। यद्यपि यह पुस्तक भी आश्रयदाता समसामयिक राजा की कीर्ति गाने के उद्देश्य से ही लिखी गयी है और कविजनोचित अलकृत भाषा में रची गयी है, तथापि इसमें ऐतिहासिक तथ्य कल्पित घटनाओं या सम्भावनाओं के द्वारा धूमिल नहीं हो गया है। कीर्तिसिंह का चरित्र बहुत ही स्पष्ट और उज्ज्वल रूप में चित्रित हुआ है। कवि की लेखनी चित्रकार की उस तूलिका के समान नहीं है जो छाया और आलोक के सामंजस्य से चित्रों को ग्राह्य बनाती है; बल्कि उस शिल्पी की टाँकी के समान है जो मूर्तियों को भित्तिगात्र में उभार देता है, हम उत्कीर्ण मूर्ति की ऊँचाई-नीचाई का पूरा-पूरा अनुभव करते हैं। उस काल के मुसलमानों का, हिन्दुओं का, सामन्तों का, शहरों का, लड़ाइयों का, सेना के सिपाहियों का इतना जीवन्त और यथार्थ वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है। कवि ने जो भी सामने आ गया उसका ब्योरेवार वर्णन करके चित्र को यथार्थ बनाने का प्रयत्न नहीं किया है, बल्कि आवश्यकतानुसार निर्वाचन, चयन और समजस योजना के द्वारा चित्र को पूर्ण और सजीव बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार यह काव्य इतिहास की सामग्री से निर्मित होकर भी केवल तथ्य-निरूपक पुस्तक नहीं बना है; बल्कि सचमुच का काव्य बना है। बहुत कम स्थलों पर कवि ने केवल सम्भावनाओं को बृहदाकार बनाया है। कीर्तिसिंह का वीररूप भी स्पष्ट हो जाता है और जौनपुर के सुलतान फीरोजशाह के सामने उसका अति नम्र भक्तिमान रूप भी प्रकट हुआ है। इन चित्रणों में कवि ने कीर्तिसिंह के द्वितीय रूप को दबाने या उज्ज्वलतर रूप में चित्रित करने का प्रयास नहीं किया; बल्कि ऐतिहासिक तथ्य को इस भाँति रखने का प्रयत्न किया है कि जिस स्थान पर कथानायक झुकता है, वहाँ भी वह पाठक की सहानुभूति और परिशंसन का पात्र बना रहता है। छन्दों के चुनाव में भी कवि ने कुशलता का परिचय दिया है। तथ्यात्मक विवरण को मोड़ने के साथ-ही-साथ वह छन्दों को बदल देता है और पाठक के चित्त में उत्पन्न हो सकनेवाली एकघृष्टता या मोनोटोनी को कम कर देता है। सब मिलाकर 'कीर्तिलता' अपने समय का बहुत ही सुन्दर चित्र उपस्थित करती है। वह इतिहास का कविदृष्ट जीवन्त रूप है। उसमें न तो काव्य के प्रति पक्षपात है, न इतिहास की उपेक्षा; उसमें यथास्थान पाठक के चित्त में करुणा, सहानुभूति, हास्य, औत्सुक्य और उत्कण्ठा जाग्रत करने के विचित्र गुण हैं। इस पुस्तक में उन कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग बहुत कम किया गया है जो संस्कृत, प्राकृत और

अपभ्रंश की रचनाओं में एक ही प्रकार के अभिप्राय ला देती हैं और तथ्यात्मक जगत् से कम सम्बन्ध रखकर कल्पना-विलास की ओर पाठक का मन मोड़ दिया करती हैं। परन्तु इसकी भाषा साहित्यिक परिनिष्ठित अपभ्रंश से भिन्न भाषा है; क्योंकि इसमें तत्कालीन मैथिली का मिश्रण है। साधारणतः अपभ्रंश के कवि अपनी भाषा को अपभ्रंश नहीं कहते थे। संस्कृत विद्वान् ही इसको अपभ्रंश या बिगड़ी हुई भाषा कहते हैं। चौदहवीं शताब्दी के दो संस्कृत के पण्डितों अर्थात् विद्यापति और ज्योतिरीश्वर ने इस भाषा को 'अवहट्ठ' कहा है। इसीलिए कुछ विद्वानों ने परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा को अपभ्रंश न कहकर 'अवहट्ठ' कहना शुरू किया है। परन्तु भाषाशास्त्रियों में यह शब्द अभी तक स्वीकृत नहीं हुआ है।

विद्यापति : 'कीर्त्तिलता' के रचयिता विद्यापति मिथिला के विसपी नामक ग्राम के रहनेवाले थे। राजा शिवसिंह ने सन् ईस्वी की चौदहवीं शती में यह ग्राम अभिनव जयदेव की उपाधि-सहित दिया था। कहते हैं, इस दान-पत्र के अक्षरों का तत्कालीन प्रचलित वर्ण-माला से साम्य नहीं है। इसे विद्वानों ने जाली दान-पत्र बताया है। सम्भवतः इनका जन्म 1368 ई. में हुआ था, और पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक ये जीवित रहे। 'कीर्त्तिलता' में इन्होंने अपने को कीर्त्तिसिंह का लेखन-कवि कहा है जो सम्भवतः इन्हें कीर्त्तिसिंह का बाल्य-बन्धु सिद्ध करता है। इस हिसाब से इनका जन्मकाल कुछ और पहले होना चाहिए। विद्वानों का अनुमान है कि इस हिसाब से उनका जन्म 1360 ई. में हुआ होगा।

मैथिली में लिखित विद्यापति की पदावली[1] की भाषा के वर्तमान रूप के सम्बन्ध में सन्देह करने का कारण है; इसका वक्तव्य विषय राधा तथा अन्य गोपियों के साथ-साथ श्रीकृष्ण की प्रेमलीला है। इस पुस्तक की विस्तृत चर्चा हम आगे भक्त कवियों के प्रसंग में करेंगे। राधा और कृष्ण के प्रेम-प्रसगों को यह पुस्तक प्रथम बार उत्तर भारत में गेय पदों में प्रकाशित करती है। इस पुस्तक के पदों ने आगे चलकर बंगाल, असम और उड़ीसा के वैष्णव भक्तों को खूब प्रभावित किया और यह उन प्रदेशों के भक्ति-साहित्य में नयी प्रेरणा और नयी प्राणधारा संचारित करने में समर्थ हुई। इसीलिए पूर्वी प्रदेशों में सर्वत्र यह पुस्तक धर्म-ग्रन्थ की महिमा पा सकी है।

कीर्त्तिलता की भाषा : 'कीर्त्तिलता' अपने काल की बहुत सुन्दर और प्रामाणिक रचना है। इसकी भाषा में पुरानी मैथिली के कई चिह्न पाये जाते हैं; जैसे विशेषण और क्रिया में स्त्रीलिंग का व्यवहार; बहुवचन में न्हि, न्ह, आ, या; किसी भी विभक्तिचिन्ह का अभाव; कर्त्ता में ए, जे का प्रयोग या परसर्गाभाव; तृतीया में ए और हि; पंचमी में तहें और सओ; षष्ठी में करि, करो, कर और

1. (1) नगेन्द्रनाथ गुप्त, लाहौर, 1910; (2) रामवृक्ष शर्मा 'बेनीपुरी', लहेरियासराय, 1926 और बाद में भी।

करेओ का व्यवहार है। सप्तमी में ए, एँ और हि का प्रयोग है। सभी विभक्तियों के लिए चन्द्रबिन्दु का व्यवहार है। वर्तमानकाल उत्तम-पुरुप मे ओ, ओ; मध्य-पुरुप मे सी तथा अन्य पुरुष में इ, ए और यि का प्रयोग है। विधिक्रिया में उ, ऊँ और ह का व्यवहार है। भूतकाल में इअ और भविष्य में इह विकरण प्रत्यय का प्रयोग है। कृदन्त के लिए न्ते और न्ता का प्रयोग है। पूर्वकालिक के लिए इ, ए का व्यवहार तथा स्वरों का सानुनासिकीकरण है।

कीर्तिलता का काव्यरूप : ऐसा जान पड़ता है कि 'कीर्तिलता' वहुत-कुछ उसी शैली में लिखी गयी थी, जिसमें चन्दबरदाई ने 'पृथ्वीराजरासो' लिखा था। यह भृंग और भृंगी के संवादरूप में है; इसमें भी संस्कृत और प्राकृत के छन्दों का प्रयोग है। संस्कृत और प्राकृत के छन्द रासो में वहुत आये है। जिन स्थानों पर ये छन्द व्यवहृत हुए हैं, वहाँ रासो के कवि ने भापा मे थोड़ा संस्कृत की छौंक देना चाहा है। या, यह भी हो सकता है कि मूलरूप में वे छन्द संस्कृत में लिखे गये हों; और रासो के वर्त्तमान रूप में विकृत हो गये हों। विद्यापति ने भी आरम्भ में और अन्त में संस्कृत छन्दों का आश्रय लिया है और भापा भी संस्कृत रखी है। रासो की भाँति 'कीर्तिलता' में भी गाथा (गाहा) छन्द का व्यवहार प्राकृत भापा मे हुआ है। यह विशेप लक्ष्य करने की वात है कि संस्कृत और प्राकृत के पदों मे तथा गद्य मे भी तुक मिलाने का प्रयास किया गया है, जो अपभ्रंश-परम्परा के अनुकूल ही है। पद्धरी छन्द का इस ग्रन्थ मे भी उपयोग है। अपभ्रंश के चरित-काव्यों मे पद्धरी का इतना अधिक प्रयोग है, कि इस शैली का नाम ही 'पद्धड़िया वन्ध' रख दिया गया था। अपभ्रंश के सुप्रसिद्ध कवि स्वयम्भू ने चतुर्मुख नामक अपने पूर्ववर्त्ती अपभ्रंश कवि को 'पद्धड़िया वन्ध' का प्रवर्त्तक कहा है। 'कीर्तिलता' मे इस छन्द का इतना व्यापक प्रयोग तो नही है, पर जो है वह इस बात को सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि यह ग्रन्थ अपभ्रंश-काव्यों की कथा-साहित्य की परम्परा में ही पड़ता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विद्यापति ने इस ग्रन्थ को अपभ्रंश में प्रचलित कथा-काव्यों की श्रेणी में ही रखना चाहा था। फिर भी उन्होंने इस काव्य को कथा नही कहा था, वल्कि 'काहाणी' कहा है। इसका क्या कारण हो सकता है?

'काहाणी' का रूप : काशी के सुप्रसिद्ध राजा गोविन्दचन्द्र के सभा-पण्डित दामोदर भट्ट ने 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' नाम से एक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। इस पुस्तक से काशी की तात्कालिक भापा का कुछ परिचय मिलता है और यह भी पता लगता है कि उन दिनों इस लोकभापा में कथा और कहानियाँ लिखी जाती थीं। उन कहानियों का काव्य-रूप कैसा था, यह जानने का कोई साधन अब प्राप्त नही है। अपभ्रंश काव्यों में कथा को उसी श्रेणी का अलंकृत काव्य माना गया है, जिस श्रेणी की रचनाएँ संस्कृत में मिलती हैं। पुष्पदन्त के 'नागचरित' में एक जगह एक अलकारहीना रानी की उपमा सुकविकृता-कथा से दी गयी है, जो यह सूचित करता है कि अपभ्रंश कवियों को कथा में अलंकार और रस देने की रुचि थी। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' की भापा को अलंकृत करने का प्रयत्न किया

है। दामोदर भट्ट की पुस्तक से पता चलता है कि उन दिनों कहानियों में गद्य का भी प्रयोग होता था। सम्भवतः संस्कृत के 'चम्पू' काव्यों के ढंग की ये रचनाएँ होती थीं। विद्यापति की 'कीर्तिलता' में गद्य का प्रचुर प्रयोग है। यद्यपि 'लीलावती' नामक प्राकृत कथा में भी कहीं-कहीं गद्य थोड़ा-बहुत आ गया है, पर वह नाममात्र को है। अपभ्रंश के चरित-काव्यों में तो गद्य का लोप ही हो गया था। इस प्रकार विद्यापति की 'कीर्तिलता' इस बात में अपभ्रंश के चरित-काव्यों से विशिष्ट है। रुद्रट के सामने जो संस्कृतेतर भाषाओं की कथाएँ थीं, उनमें भी कहीं-कहीं गद्य का प्रयोग होता था। जान पड़ता है कि विद्यापति के पूर्ववर्ती काल में जो कथाएँ लिखी गयीं, उनमें गद्य का प्रयोग होने लगा था। फिर कथा-काव्यों में राज्यलाभ तथा कन्याहरण और गन्धर्व-विवाहों का प्राधान्य होता था, जो 'कीर्तिलता' में केवल राज्यलाभ तक ही सीमित रह गया है। इस प्रकार विद्यापति की 'कीर्तिलता' कथा-काव्य के कुछ लक्षणों से युक्त नहीं है। इसलिए वह ठीक-ठीक 'कथा' नाम नहीं पा सकती। जान पड़ता है कि विद्यापति ने अपने काव्य को कथा से भिन्न श्रेणी की रचना समझकर उसे 'काहाणी' कहा था। इसमें कथा के मुख्य-मुख्य लक्षण आ जाते हैं और एकाध लक्षण छूट जाते हैं। यह भी हो सकता है कि विद्यापति के पूर्व में इस 'कहानी' नाम की अन्य रचनाएँ भी रही हों जिनकी सूचना दामोदर भट्ट की पुस्तक में मिल जाती है। यहाँ उल्लेख-योग्य है कि विद्या-पति की एक अन्य पुस्तक 'कीर्तिपताका' है, जिसमें प्रेम-कथा वर्णित है। सम्भवतः विद्यापति ने कथा के दोनों उद्देश्यों—युद्ध और प्रेम—के लिए अलग-अलग पुस्तकें लिखी थी।

इस पुस्तक में कई प्रकार की भाषाएँ हैं। गद्य में तो संस्कृत पदावली का प्राचुर्य है, केवल बीच-बीच में मैथिली की विभक्तियों का [illegible] है। पद्य में दोहों और छप्पयों में अपभ्रंश के निकट भाषा का प्रयोग है, परन्तु [illegible]-गीतिका आदि छन्दों में मैथिली का पुट मिल जाता है। पद्यों में तद्भव शब्दों का ही प्रयोग है, किन्तु गद्य में तत्सम शब्दों का आधिक्य है। यह भाषा उस काल की सूचना देती है जब बोल-चाल की भाषा में तद्भव शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था, परन्तु पद्य की भाषा में अपभ्रंश भाषा का [illegible]; आधुनिक भाषा के [illegible] कुछ लोग इस मत के पोषक थे कि [illegible] भाषा का [illegible]

उस युग की भाषा, शैली, छन्दोविधान आदि का अध्ययन सुकर होता है। इन दो दृष्टियों से इन रचनाओं का महत्त्व है। फिर इन रचनाओं में सहज सत्य को कभी-कभी बड़ी प्रभावशाली भाषा में प्रकट किया गया है, जो तत्कालीन रूढ़ि-प्रवण धर्म-विचारों से जकड़े मनुष्य को—विद्युत् की चमक के समान—सत्य को उद्भासित कर देता है। मनुष्य-चित्त को रूढ़िग्रस्त धर्म-भावना से मुक्त करके और सहज सत्य के प्रति उन्मुख करके उन्होंने परवर्ती भक्त कवियों के लिए क्षेत्र प्रस्तुत किया है। इसलिए इन रचनाओं को हम साहित्य के इतिहास से हटा नहीं सकते। इन्होंने जितनी दूर तक मनुष्य-चित्त को रूढ़ि के विचार से मुक्त करके सहज सत्य तक पहुँचाने में सहायता की है, उतनी दूर तक वे सच्चे साहित्य के अन्तर्गत गिनी जाने योग्य हैं। इन रचनाओं से इससे अधिक की आशा साहित्य के विद्यार्थी को नहीं करनी चाहिए।

दूसरी श्रेणी में चारण कवियों के चरित-काव्य हैं जिनमें राजस्तुति, युद्ध, विवाह आदि के वर्णन हैं। साधारणतः इनमें परम्परा से प्राप्त काव्य-रूढ़ियों के साँचे में ढली हुई, चिराचरित कथानक-रूढ़ियों से पली हुई, और बँधे-बँधाये मार्ग में चली हुई कविता ही प्राप्त होती है। सिर्फ एक बात में इसमें नवीन प्राणों का स्पन्दन सुनायी देता है, और नवीन वक्तव्य-भंगिमा की ताजगी अनुभूत होती है। वह है इस श्रेणी की रचनाओं की वीर दर्पोक्तियाँ। इस साहित्य के पुरुष स्वामी के लिए हँसते-हँसते प्राण दे देते हैं, मदमत्त कुंजर-घटा में अवलील या धँस जाते हैं, दुर्धर्ष शत्रु-वाहिनी से अकेले भी भिड़ पड़ते हैं, और उनकी स्त्रियाँ पति के इस वीरत्व पर अभिमान करती हैं, और मन-वचन-कर्म से पति के साथ सूर्यमण्डल को भेदकर अज्ञात-अननुभूत आनन्दलोक में यात्रा करने के लिए सदा प्रस्तुत रहती हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण में ही इस श्रेणी के वीरदर्प का यह नया स्वर सुनायी देने लगा है। उसमें नवीन ताजगी तो है ही, सहज अकुतोभय भावना से उसमें अपूर्व तेजस्विता भी मिलने लगती है। बाद में ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों इसमें बासीपन आता गया; और ढलती बयस की भारसाम्य-विहीन (डिस्बैलेंस्ड) अतिरंजना और अवरंजना बढ़ती गयी। सत्रहवीं शताब्दी में जब रासो का नये सिरे से सम्पादन हुआ, तो इस श्रेणी की भारसाम्य-विहीन प्रवृत्ति-वाली रचनाएँ उसमें घुस आयीं। आल्हाकाव्य के वर्त्तमान रूप की भी यही कहानी है।

इस काल का नाम : इन दोनों विशेषताओं को ध्यान में रखकर हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इस काल का नाम देने का प्रयास किया है। स्वर्गीय पं. रामचन्द्र शुक्ल ने इसका नाम 'वीरगाथाकाल' दिया था; क्योंकि उनका विश्वास था कि इस काल की जो रचनाएँ साहित्यिक कोटि में आने योग्य हैं उनमें अधिकांश वीरगाथाएँ हैं। हमारे पिछले विवेचन से स्पष्ट है कि यह नाम वर्तमान ज्ञान के आलोक में बहुत उचित नहीं प्रतीत होता। शुक्लजी ने इन रचनाओं को प्रामाणिक मानकर इस काल का नामकरण किया था, इनमें से अधिकांश सन्दिग्ध

और अप्रामाणिक हैं। फिर इधर अनेक अज्ञातपूर्व काव्यों का पता लगा है जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। नामकरण के समय शुक्लजी के सामने ये पुस्तकें नहीं थीं। परन्तु यह सत्य है कि इस काल की रचनाओं में वीररस का एक नया स्वर सुनायी देता है। इस काल में वीररस को सचमुच ही बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त है। किन्तु इसी काल में या इसके कुछ पूर्व से ही नाथपन्थी और सहजयानी सिद्धां तथा जैन मुनियों की निर्गुणिया भावापन्न कविताएँ भी प्राप्त होती हैं। इन रचनाओं का महत्त्व पहले दिखाया जा चुका है। सातवीं-आठवीं शताब्दी से इन रचनाओं की प्राप्ति होने लगती है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायनजी ने आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक के काव्य में दो प्रकार के भाव पाये हैं—1. सिद्धों की वाणी, और 2. *सामन्तों की स्तुति। इसलिए उन्होंने इस काल को सिद्ध-सामन्त युग कहा है।* किन्तु इस नाम से उन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लौकिक रस की रचनाओं का कुछ भी आभास नहीं मिलता जो परवर्ती काव्य में भी बहुत व्यापक रूप में प्रकट हुई हैं। कुछ आलोचकों को इस काल का नाम 'आदिकाल' ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इस पुस्तक में भी इस काल को इसी नाम से कहा गया है। इस नाम से एक भ्रामक धारणा की सृष्टि होती है। हमने ऊपर इस बात को दिखाया है। यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है। क्योंकि यद्यपि साहित्य की दृष्टि से यह काल बहुत-कुछ अपभ्रंश काल का बढ़ाव ही है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना लेकर आता है। इसमें भावी हिन्दी भाषा और उसके काव्यरूप अंकुरित हुए हैं।

[इस काल के अध्ययन के लिए सहायक पुस्तकें—मिश्रबन्धु : 'मिश्र-बन्धु विनोद'; रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'; हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल'; राहुल सांकृत्यायन : 'हिन्दी काव्यधारा'; उदयनारायण तिवारी : 'वीर-काव्य संग्रह'; रामकुमार वर्मा : 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'; मोतीलाल मेनारिया : 'राजस्थानी साहित्य की रूप-रेखा'; नामवरसिंह : 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग'; 'राजस्थान भारती' (त्रैमासिक)।]

भक्ति-साहित्य

वास्तविक हिन्दी साहित्य का आरम्भ

भक्ति-साहित्य का आरम्भ : चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दीभाषी प्रदेशों में देशी भाषा का साहित्य कैसा था, इस बात की धारणा बहुत अस्पष्ट रूप में ही होती है। हम केवल इतना जानते हैं कि पूर्वी प्रदेशों में सहजयानी और नाथपन्थी साधकों की साधनात्मक रचनाएँ प्राप्त होती हैं और पश्चिमी प्रदेशों में नीति, शृंगार और कथानक-साहित्य की कुछ रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। एक में भावुकता, विद्रोह और रहस्यवादी मनोवृत्ति का प्राधान्य है और दूसरी में नियम-निष्ठा, रूढ़िपालन और स्पष्टवादिता का स्वर है; एक में सहज सत्य को आध्यात्मिक वातावरण में सजाया गया है, दूसरी में ऐहलौकिक वायुमण्डल में। चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में दोनों प्रकार की रचनाएँ एक में सिमटने लगी थी। दोनों के मिश्रण से उस भावी साहित्य की सूचना इसी समय मिलने लगी, जो समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति-साहित्य है। यह एक नयी दुनिया है और जैसा कि डाक्टर ग्रियर्सन ने कहा है, "कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवीं तथा बाद की शताब्दियों का साहित्य पढ़ने का मौका मिला है, उस भारी व्यवधान को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो पुरानी और नयी धार्मिक भावनाओं में विद्यमान है। हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं, जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी भी देखा है। यहाँ तक कि वह बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक व्यापक और विशाल है, क्योंकि उसका प्रभाव आज भी वर्त्तमान है। इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं, बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पण्डितों की जाति की नहीं हैं, बल्कि जिनकी समता मध्ययुग के यूरोपियन भक्त बर्नर्ड आफ क्लेयरवक्स, टामस-ए-केम्पिस और सेण्ट थेरिसा से है।" जो लोग इस युग के वास्तविक विकास की कथा नहीं जानते उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा कैसे हुआ। स्वयं डॉक्टर ग्रियर्सन ने लिखा है कि "बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नयी बात दिखायी दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आयी और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चय नहीं कर सकता ···।" इत्यादि। ग्रियर्सन का अनुमान है कि वह ईसाइयत की देन है। ईस्वी सन् की दूसरी या तीसरी शताब्दी में नेस्टोरियन ईसाई मद्रास प्रेसीडेन्सी के कुछ हिस्सों में आ बसे थे और रामानुजाचार्य को इन्हीं ईसाई भक्तों से भावावेश और प्रेमोल्लास के धर्म का सन्देश मिला। यह बात एकदम गलत है। अब इस अटकल के सहारे स्थिर किये हुए मत पर कोई विश्वास नहीं करता, इसलिए

इसका उत्तर देना बेकार है।

यह भी बताया गया है कि जब मुसलमान हिन्दुओं पर अत्याचार करने लगे तो निराश होकर हिन्दू लोग भगवान् का भजन करने लगे। यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिर तोड़ रहे थे, तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान् की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में। असल बात यह है कि जिस बात को ग्रियर्सन ने 'अचानक बिजली की चमक के समान फैल जाना' लिखा है वह ऐसा नहीं है। उसके लिए सैकड़ों वर्ष से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे। फिर भी ऊपर-ऊपर से देखने पर लगता है कि उसका प्रादुर्भाव एकाएक हो गया। इसका कारण उस काल की लोकप्रवृत्ति का शास्त्रसिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओं से मुक्त हो जाना है। शास्त्रसिद्ध आचार्य दक्षिण के वैष्णव थे। सन् ईस्वी की सातवीं शताब्दी से—और किसी के मत से तो और भी पूर्व से—दक्षिण में वैष्णव भक्ति ने बड़ा जोर पकड़ा। इसके पुरस्कर्त्ता आलवार भक्त कहे जाते हैं। इनकी संख्या बारह है जिनमें कम-से-कम नौ को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं है। इनमें 'आण्डाल' नाम की एक महिला भी थी। इनमें से अनेक ऐसी जातियों में उत्पन्न बताये जाते हैं जिन्हें अस्पृश्य समझा जाता है। इन्हीं लोगों की परम्परा में सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुजाचार्य का प्रादुर्भाव हुआ।

उन दिनों भी दक्षिण में आज की ही भाँति जाति-विचार जटिलतर अवस्था में था, फिर भी रामानुजाचार्य-जैसे सद्वंशजात, सर्वजन-श्रद्धेय आचार्य ने तथाकथित नीच जातियों में प्रचलित ऐकान्तिक भक्ति-धर्म को बहुमान दिया और देशी भाषा में लिखित शठकोप, तिरुवल्लुवर प्रभृति के शास्त्रों को वैष्णवों के वेद का सम्मान देकर समादर दिया। धर्म की दृष्टि से सभी समान माने गये, पर सामाजिक व्यवहार में जातिभेद की मर्यादाएँ बनी रहीं। एक मध्यमार्ग यह निकाला गया कि प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग भोजन करे, इसी को दक्षिण में तेनकलै या दक्षिणवाद कहते हैं। इस बात को कुछ अधिक स्वाधीनता समझकर पन्द्रहवीं शताब्दी में वेदान्तदेशिक ने इसके साथ वेदवाद और प्राचीन रीति को पुनः प्रवर्तित किया। स्पष्ट है कि आलवारों का भक्तिवाद भी जनसाधारण की वस्तु था, जो शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारत में फैल गया। भक्तों के अनुभूतिगम्य सहज सत्य को बाद के आचार्यों ने दर्शन का क्रमबद्ध और सुचिन्तित रूप दिया।

उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन : यही बात उत्तर भारत के विषय में भी सत्य है। यहाँ भी साधारण जनता के भीतर जो धर्म-भावना वर्तमान थी, उसने शास्त्र की अंगुलि पकड़कर अपने को शक्तिशाली रूप में प्रकट किया। इन प्रदेशों में पौराणिक धर्म का प्रचार पहले से ही था। गाहड़वार राजाओं के समय उत्तर

भारत प्रधान रूप से स्मार्त्त धर्मावलम्बी था। निस्सन्देह नाथों का शैव धर्म भी पर्याप्त प्रभावशाली था, किन्तु साधारण जनता स्मार्त्त मतावलम्बी थी। भक्ति के लिए जो बात नितान्त आवश्यक है वह है भगवान् के ऐसे रूप की कल्पना जिसके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। उत्तर भारत की जनता विष्णु के विविध अवतारों मे विश्वास करती थी। यद्यपि 'महाभारत' के पुराने अंशों से पता चलता है कि पहले विष्णु के छः ही अवतार माने जाते थे, परन्तु धीरे-धीरे वह संख्या दस तक पहुँच गयी और मध्ययुग के सबसे अधिक प्रभावशाली पुराण 'भागवत' में अवतारों की संख्या 24 तक हो गयी है। इस युग में अवतार को माननेवाली दृष्टि में थोड़ा परिवर्तन भी हुआ है। पहले विश्वास किया जाता था कि भगवान् दुष्टों के दमन और साधुओं के परित्राण के लिए अवतार धारण करते हैं—गीता में अवतार का हेतु यही बताया गया है—किन्तु बाद में इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। भागवत पुराण के अनुसार भगवान् बैकुण्ठ आदि धामों मे तीन रूपों में रहते हैं—स्वयंरूप, तदेकात्मरूप और आवेशरूप। स्वयंरूप तो श्रीकृष्ण हैं। तदेकात्मरूप में उन अवतारों की गणना होती है जो तत्त्वतः भगवत्-रूप होकर भी रूप और आकार में भिन्न होते हैं। मत्स्य, वाराह, कूर्म आदि अवतार इसके उदाहरण है। ज्ञानशक्ति आदि विभाग द्वारा भगवान् जिन महत्तम जीवों में आविष्ट होकर रहते है उन नारद, शेष, सनक सनन्दन आदि महानुभावों को आवेशरूप कहा जाता है। इस काल तक आकर यह विश्वास किया जाने लगा कि भगवान् के अवतार का मुख्य हेतु भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीला का विस्तार करना ही है। भक्त भगवान् के चरित का अनुशीलन किसी अन्य उद्देश्य से नहीं, भक्ति पाने के उद्देश्य से करते हैं। 'भागवत' का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ऐकान्तिक भक्ति ही है। कैवल्य (मोक्ष) या अपुनर्भव को भी भक्त लोग इसके सामने तुच्छ समझते हैं।

मध्यकालीन भक्ति-साहित्य का प्रधान स्वर अवतारवाद : मध्यकाल के भक्तिमार्ग में इसी ऐकान्तिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है। अवतारों की कल्पना ने इसको बहुत सहारा दिया। अवतारों से ही उस लीला का विस्तार होता है जिसका श्रवण और मनन भक्ति का प्रधान साधन है। अवतारों की विविध लीलाओं के फलस्वरूप ही विविध नामों का उद्भव होता है, जिनका कीर्त्तन और जप भक्त के लिए बहुत आवश्यक साधन है। भक्ति के लिए भगवान् के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध आवश्यक है और अवतार उस सम्बन्ध के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि मध्ययुग के प्रायः सभी धार्मिक सम्प्रदायों ने किसी-न-किसी रूप में अवतार की कल्पना अवश्य की है। शिव के अनेक अवतारों की चर्चा मिलती है। गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ को भी शिव का अवतार माना गया है। और तो और, आगे चलकर अवतारवाद के घोर विरोधी कबीर को भी 'ज्ञानीजी' का अवतार ही माना जाने लगा। केवल भगवान् के ही अवतार में नहीं, सन्तों के अवतार में भी विश्वास किया जाने लगा। इस प्रकार सूरदास उद्धव के,

हितहरिवंश मुरली के और तुलसीदास वाल्मीकि के अवतार समझे गये। वस्तुतः सगुण भक्ति के मार्ग के मूल मे अवतार की कल्पना है।

मुख्य अवतार : वैसे तो अवतारों की संख्या बहुत मानी गयी है, परन्तु मुख्य अवतार राम और कृष्ण के हैं। इनमें भी कृष्णावतार की कल्पना पुरानी और व्यापक है। इन दो अवतारों की प्रधानता स्थापित होने का प्रधान कारण इनकी लीला की बहुलता ही है। शुरू के साहित्य और शिल्प में इनका प्रधान चरित दुष्टों का दमन और भक्तों की उनसे रक्षा ही था, पर धीरे-धीरे दुष्टदमनवाला रूप दबता गया और लीलारूप ही प्रधान होता गया। श्रीकृष्णावतार के दो मुख्य रूप हैं। एक में वे यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न है, वीर हैं, राजा हैं, कंसारि है; दूसरे में वे गोपाल हैं, गोपीजनवल्लभ हैं, 'राधाधर-सुधापानशालि-वनमाली' हैं। प्रथम रूप का पता बहुत पुराने ग्रन्थों से चल जाता है, परन्तु दूसरा रूप अपेक्षाकृत नवीन है।

रामावतार का महत्त्व भी बहुत अधिक रहा है। पुराने-से-पुराने अवतार-प्रसंगों में भी श्रीरामचन्द्र का उल्लेख मिलता है। कालिदास ने 'रघुवश' में विस्तार-पूर्वक चर्चा की है कि किस प्रकार विष्णु को भूभार-हरण के लिए देवताओं ने प्रसन्न किया था। हमेशा से श्रीरामचन्द्र दुष्ट-दमनकारी और मर्यादापुरुषोत्तम के रूप मे चित्रित हुए है। पन्द्रहवी शताब्दी के बाद के साहित्य में राम के भक्त साहित्यिकों में भी लीलागान की दृष्टि समादृत हुई, किन्तु उनका दुष्टदमन और मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप कभी भी म्लान नही हुआ। अठारहवी शताब्दी के बाद के साहित्य में श्रीरामचरित को भी माधुर्य भावना के रंग में रँगना पड़ा और ऐसे साहित्य की रचना हुई जिसमे प्रेम-क्रीड़ा और रासलीला का प्राधान्य था।

नौवी-दसवीं शताब्दी के बाद से भारतीय साहित्य में 'दशावतारचरित' नाम देकर अनेक काव्य लिखे गये। पृथ्वीराजरसो में भी एक 'दसम' है जो वस्तुतः दशावतारचरित है। इन पुस्तकों में दस अवतारो की स्तुति और चरित लिखे गये हैं, लेकिन प्रधानता राम और कृष्ण की ही है। मनुष्य-रूप में होने के कारण और मनुष्य को प्रभावित करनेवाली लीलाओं का आश्रय होने के कारण इन दो अवतारों को प्रधानता मिल गयी है। तुलसीदासजी के बाद से उत्तरी भारत में राम-अवतार को बहुत प्रमुखता प्राप्त हो गयी, परन्तु श्रीकृष्ण-अवतार की महिमा घटी नहीं, क्योंकि श्रीकृष्णावतार की लीलाओं में एक विचित्र मानवीय रस है। सख्य, वात्सल्य और माधुर्य की लीलाओं का आश्रय होने के कारण यह चरित सार्वभौम आकर्षण का कारण बना है।

दो मुख्य आचार्य : उत्तर भारत में भक्ति की धारा को नये सिरे से प्रवाहित करने का श्रेय दो आचार्यों को है—स्वामी रामानन्द और महाप्रभु वल्लभाचार्य। स्वामी रामानन्द का सम्बन्ध दो श्रेणी के भक्तों से बताया जाता है। एक तो वे जो निर्गुण भाव से राम के उपासक भक्त थे; दूसरे वे, जो राम की उपासना अवतार

रूप में करते थे। इन दोनों प्रकार के भक्तों में प्रधान समानता केवल रामनाम की थी। दूसरे आचार्य वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्णभक्ति का प्रचार किया। इन्होंने लीला-पक्ष पर बहुत अधिक जोर दिया, इसीलिए इस सम्प्रदाय के भक्तों में भगवान् के धर्मरक्षक मर्यादापुरुषोत्तम और दुष्टदमन रूप गौण हो गये और निखिलानन्द सन्दोह प्रेममय रूप प्रधान हो गया। बंगाल के श्री चैतन्यदेव के अनुयायी भक्तों ने भी वृन्दावन को अपना साधनाक्षेत्र बनाया था। इनमें रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी और जीव गोस्वामी-बड़े भारी शास्त्रज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने 'भागवत' द्वारा प्रचारित भक्ति को क्रमबद्ध दर्शन और तर्कसंगत शास्त्र का रूप दिया। परन्तु प्रधान रूप से इन गौड़ीय वैष्णवों में उपासनाभाव विह्वल आराधना के रूप में ही प्रकट हुआ। ये लोग गोपी-भाव से भगवान् का भजन करते हैं। इन लोगों का व्रज की भक्तिधारा पर प्रभाव पड़ा है और शास्त्रीय चिन्तन-पद्धति पर भी इनकी विचारधारा का प्रभाव पड़ा है। यहां तक कि अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में गलता (जयपुर), चित्रकूट, जनकपुर और अयोध्या की मधुर भाव की उपासना भी इन आचार्यों के ग्रन्थों से प्रभावित हुई है। बंगाल के 'प्रेम-विलास' और 'भक्ति-रत्नाकर' नामक ग्रन्थों से पता चलता है कि चैतन्यदेव के प्रधान शिष्य श्री नित्यानन्द प्रभु की छोटी पत्नी जाह्नवीदेवी जब वृन्दावन गयी, तो उन्हें यह देखकर बड़ा दुःख हुआ कि श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधिका की मूर्त्ति की कहीं पूजा नहीं होती थी। घर लौटकर उन्होंने नयान भास्कर नामक मूर्त्तिकार से श्रीराधिका की मूर्त्तियां बनवायीं और उन्हें वृन्दावन भिजवाया। जीव गोस्वामी की आज्ञा से ये मूर्त्तियां भगवान् के पार्श्व में रखी गयीं और तभी से श्रीकृष्ण के साथ राधिका की भी पूजा होने लगी। इस प्रकार गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय ने भक्ति-साहित्य की भावधारा और विचार-दर्शन को ही नहीं, उसकी उपासना-पद्धति को भी प्रभावित किया है।

आगे चलकर व्रजभूमि में ऐसे भी सन्त हुए, जिनके भक्तगण यह नहीं स्वीकार करना चाहते थे कि उनका वल्लभाचार्य और श्री चैतन्यदेव के सम्प्रदायों से किसी प्रकार भी सम्बन्ध है। यथास्थान उनकी चर्चा आगे की जायेगी। उनका सम्बन्ध इन सम्प्रदायों से हो चाहे न हो, परन्तु उनकी विचारधारा पर इन सम्प्रदायों के भक्तों का प्रभाव पड़ा अवश्य है।

वल्लभाचार्य : महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म सं. 1535 को वैशाख कृष्णा एकादशी को अर्थात् 1478 ई. में हुआ था और ये सं. 1587 अर्थात् 1530 ई. तक जीवित रहे। ये नाना शास्त्रों के निष्णात पण्डित थे। इनका प्रवर्तित मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है। भगवान् के अनुग्रह से ही प्रेम-प्रधान भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति होती है। भगवान् के इस अनुग्रह को ही पोषण या पुष्टि कहते हैं। इसी से इस मार्ग को पुष्टिमार्ग कहते हैं। जीव तीन प्रकार के होते हैं—प्रवाहजीव, मर्यादाजीव और पुष्टिजीव। प्रवाहजीव तो सांसारिक पचड़ों में पड़े हुए साधारण कोटि के जीव हैं; मर्यादाजीव सामाजिक विधि-निषेध के अनुसार चलनेवाले तथा लोक-मर्यादा का पालन करनेवाले मध्यम कोटि के जीव हैं, परन्तु पुष्टिजीव वे

ही हैं जो भगवान् पर एकान्त भाव से विश्वास करते है, उनके अनुग्रह का भरोसा करते हैं और इसी अनुग्रह से पोषण पाते हुए अन्त में नित्यलीला में लीन होते हैं। तात्पर्य यह है कि पुष्टिमार्ग भगवान् के अनुग्रह पर पूर्ण रूप से निर्भर रहने का मार्ग है, इसमें शास्त्रविहित विधि-निषेध का बन्धन नहीं है। इनके सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वेदान्तसूत्र पर लिखा हुआ अणुभाष्य और भागवत की सुबोधिनी टीका हैं। इनकी और भी कई पुस्तकें मिलती हैं, पर ये दोनों विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। पहली शुद्धाद्वैतवाद का प्रधान मूल है और दूसरी भक्ति-सिद्धान्तों का आकर ग्रन्थ।

गेय पदों की परम्परा : वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में पायी जानेवाली परम्पराओं से पता चलता है कि सूरदास ने महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी। एक मनोरंजक कहानी में बताया गया है कि सूरदास पहले दीनभाव से भजन बनाया करते थे। बाद में महाप्रभु के उपदेश से लीलागान करने लगे। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सूरदास को यह वस्तु एकदम नयी प्राप्त हो गयी। इस बात को जानने का कोई साधन नहीं है कि सूरदास के पहले लीलागान किस प्रकार का होता था। हमने पहले ही देखा है कि ध्रुवक या टेक देकर पद लिखने की प्रथा पूर्व भारत में पहले ही से थी। बारहवीं शताब्दी के कवि जयदेव के संस्कृत पद, बौद्ध साधकों के गान, और चण्डीदास और विद्यापति के पद इस बात के सबूत हैं। भगवान् के अवतार को लक्ष्य बनाकर लीलागान करनेवाले भक्तों में सूरदास के पूर्व के तीन भक्तों की चर्चा प्रायः की जाती है—उड़ीसा के संस्कृत कवि जयदेव, बंगाल के चण्डीदास और मिथिला के विद्यापति। वे तीनों ही महाप्रभु चैतन्यदेव के प्रिय थे और उनके भक्तों के साथ वृन्दावन में भी इन तीन कवियों के भजन निश्चित रूप से पहुँच चुके थे। जहाँ तक 'सूरसागर' का सम्बन्ध है, उसमें 'गीतगोविन्द' के प्रभाव का प्रमाण तो खोजा जा सकता है, परन्तु विद्यापति या चण्डीदास के भजनों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव इस ग्रन्थ में नहीं खोजा जा सकता। हिन्दी साहित्य का इतिहास कहे जानेवाले ग्रन्थों में सूरदास के भजनों की परम्परा को विद्यापति के पदों के साथ मिलाने का प्रयत्न किया जाता है, पर विद्यापति की वैष्णव पदावली का प्रभाव पूर्व की ओर ही अधिक रहा है। इसने बंगाल, असम और उड़ीसा के साहित्य को तो प्रभावित किया है, किन्तु पश्चिम के साहित्य को प्रत्यक्ष रूप से वह प्रभावित नहीं कर सका। टेक या ध्रुवक देकर पद लिखने की प्रथा पश्चिम भारत में भी थी, यह बात सिद्ध की जा सकती है। राजपूताने के नाथ-सिद्धों के भजन काफी पुराने हैं और 'ग्रन्थसाहेब' में संगृहीत पश्चिम और दक्षिण प्रदेशों के भक्तों की इस श्रेणी की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। दसवीं शताब्दी के कवि क्षेमेन्द्र के 'दशावतारचरित' में गोपियों के मुख से एक भजन गवाया गया है जो बहुत-कुछ 'गीतगोविन्द' की पद्धति पर है। भजन इस प्रकार है :

ललितविलासकलासुखखेलन—
ललनालोभनशोभनयौवन मानितनवमदने।

अलिकुलकोकिलकुवलयकज्जल—
कालकलिन्दसुताविव लज्जल, कालियकुलदमने।
केशिकिशोरमहासुरमारण,
दारुणगोकुलदुरितविदारण गोवर्धनधरणे।
कस्य न नयनयुगं रतिसङ्गे,
मज्जति मनसिजतरलतरङ्गे, वररमणीरमणे।
—'दशावतारचरित,' 8-173

इससे यह सूचित होता है कि पश्चिम भारत में भी लोकभाषा में भी उस प्रकार के गान प्रचलित थे जिनका पता 'गीतगोविन्द' के भजनों में लगता है। निश्चय ही व्रजभूमि में भी इस प्रकार के भजन प्रचलित थे। तानसेन और बैजूबावरा के पदों में इस श्रेणी के गानों का संस्कार किया गया था और हो सकता है कि सूरदासजी भी वल्लभाचार्य से मिलने के पहले दैन्य भाव के भजनो के साथ इस जाति के भजन भी बनाया करते हों। दीर्घ काल से इस प्रकार के पद जनता में प्रचलित थे, और जनता के पदों में दो बातों की ही प्रधानता रहती है—शृंगार की और धर्म की। शृंगार और धर्म के लिए रचे जानेवाले इन पदों को सूरदास ने नया स्वर दिया। इनमें भगवान् की लीला की प्रमुखता हो गयी और ऐकान्तिक भक्ति का प्राधान्य प्रतिष्ठित हुआ।

भाषा में परिवर्तन : शास्त्रीय मतवाद का सहारा पाने के कारण इन भजनों की भाषा भी बदली। दसवीं शताब्दी के बाद से हमारे साहित्य में धीरे-धीरे गद्य की भाषा में तत्सम शब्दो का प्रचार बढ़ने लगा था। सूरदास आदि भक्त कवियों के साहित्य में पद्य में भी संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रवेश हुआ। पद्य की भाषा को अपभ्रंश की रूढ़ियों से जकड़ने का प्रयत्न शिथिल हुआ और बोलचाल की भाषा का सहज-प्रसन्न प्रवाह आया। यहाँ से क्या भाव, क्या भाषा और क्या वक्तव्य वस्तु, सब ओर से नवीन प्राणों का स्पन्दन दिखायी दिया। अब सच पूछा जाय तो यहीं से हिन्दी भाषा के साहित्य का वास्तविक सूत्रपात हुआ। इसके पहले के 400 वर्षों का साहित्य अपभ्रंश की रूढ़ियो से जकड़ा हुआ था, ह्रासोन्मुखी कविता के कवि-समयों और काव्य-रूढ़ियो से ग्रस्त था, गतानुगतिक ढंग से पिटे-पिटाये छन्दों में बँधी-सधी बोलियों के बोलने का अभ्यस्त था। उसमें पुरानी प्रथा के अन्धानुकरण की जरठ मनोवृत्ति का प्राधान्य था। यहाँ से उसमें नवीन आदर्शों के निर्माण का उल्लास और नवीन आशाओं और आकांक्षाओं को रूप देने का उत्साह प्रकट हुआ।

सांस्कृतिक द्वन्द्व का काल : जिस काल से हिन्दी साहित्य का बनना शुरू हुआ, वह काल भारतीय इतिहास का बहुत ही उथल-पुथल और परिवर्तन का काल है। इस समय देश की केन्द्रीय शक्ति क्षीण हो गयी थी और पश्चिमी सीमान्त से मुसलमानों का आक्रमण हो रहा था। आक्रमण होना कोई नयी बात नही थी, इसके पहले भी भारत पर अनेक आक्रमण हो चुके थे, परन्तु वे

आक्रमण अधिकतर सैनिक और राजनीतिक आक्रमण थे। परन्तु इस बार का आक्रमण एक विशिष्ट धर्ममत और संस्कृति का भी आक्रमण था। इस बार के आक्रमणकारी एक संगठित धर्म या मजहब के अनुयायी थे। मजहब और संगठित धर्मसंस्था भारत के लिए अपरिचित ही थी। इस धर्ममत में एक ईश्वर को माना जाता है, एक आचरण का पालन किया जाता है, और ये लोग जब किसी नस्ल, कबीले या जाति के व्यक्ति को एक बार अपने संगठित समूह में मिला लेते हैं तो उसकी सारी विशेषताएँ दूर हो जाती हैं। यह धर्म-साधना व्यक्तिगत नहीं, समूहगत होती है। यहाँ धार्मिक और सामाजिक विधि-निषेध एक-दूसरे से गुँथे होते हैं। भारतीय समाज नाना जातियों का सम्मिश्रण था। किसी जाति का कोई व्यक्ति दूसरे में नहीं जा सकता था। परन्तु मजहब ठीक इससे उल्टा है, वह व्यक्ति को अपने समूह का अंग बना देता है, और अंगीकृत होने के बाद व्यक्ति की जाति हमेशा के लिए गायब हो जाती है। भारतीय समाज जातिगत विशेषता रखते हुए व्यक्तिगत साधना का पक्षपाती था, जबकि इस्लाम जातिगत विशेषता का लोप करके समूहगत उपासना का प्रचारक था। एक का केन्द्र-बिन्दु चारित्र्य था, दूसरे का धर्ममत। भारतीय समाज में यह स्वीकृत तथ्य था कि विश्वास चाहे जो भी हो, चरित्र शुद्ध है तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है, फिर चाहे वह किसी जाति का क्यों न हो। मुसलमानी समाज के साधारण लोगों का विश्वास था कि इस्लाम ने जो धर्ममत प्रचार किया है उसको स्वीकार कर लेनेवाला ही अनन्त स्वर्ग का अधिकारी होता है, और जो इस धर्ममत को नहीं मानता है, वह अनन्त नरक में जाने के लिए बाध्य है। इसलाम ने भारत के समस्त कुफ्र को तोड़ डालने की प्रतिज्ञा लेकर इस देश में पदार्पण किया।

जाति-प्रथा की कठोरता का कारण : इस देश की धार्मिक और सामाजिक स्थिति पर इसकी बड़ी ही कठोर प्रतिक्रिया हुई। भारतीय समाज अपनी आत्मरक्षा के लिए धीरे-धीरे अपने-आपमें ही सिमटता गया। ऊँची समझी जानेवाली जातियों में सुरक्षित स्थान में पहुँचकर अपनी विशेषता बनाये रखने का उद्योग शुरू हुआ और इस प्रकार देश-विदेश के नाम से अपना परिचय देने की प्रथा चल पड़ी। दसवीं शताब्दी के पहले के दान-पत्रों में ब्राह्मणों के केवल गोत्र और प्रवर का उल्लेख मिलता है किन्तु बाद के दान-पत्रों में देश और ग्राम भी दिये जाने लगे और यह सकोचनशील प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती गयी।

इस प्रकार यह अद्‌भुत विरोधाभास है कि जाति-पाँति के कुफ्र को तोड़नेवाले धर्म-सम्प्रदाय के सम्पर्क में आने के बाद हिन्दुओं की जाति-पाँति की प्रथा और भी संकीर्ण और कठोर हो गयी और कसी जाने लगी। इस कसाव का परिणाम यह हुआ कि किनारे पर पड़ी हुई बहुत-सी जातियाँ छँट गयीं और बहुत दिनों तक ना-हिन्दू ना-मुसलमान बनी रहीं। बहुत-सी पाशुपत मत को माननेवाली और संन्यासी से गृहस्थ बनी जातियाँ धीरे-धीरे मुसलमान होने लगीं। इस प्रकार काशी की जुलाहा जाति नाथमत को माननेवाली थी, जो निरन्तर उपेक्षित रहने के कारण

क्रमशः मुसलमान होती गयी। इसी जाति में मध्यकाल के स्वाधीनचेता सन्त कबीर उत्पन्न हुए थे।

टीका युग : दसवीं से चौदहवीं शताब्दी में एक ओर जहाँ उत्तर भारत से समस्त हिन्दू राज्य नष्ट हो गये, वहीं दूसरी ओर सामाजिक और धार्मिक संकीर्णता से हिन्दू जाति अभिभूत हो गयी। विचार के क्षेत्र में यह युग टीकाओं का है। ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में यह विश्वास कर लिया गया कि जो कुछ उत्तम और अवि-संवादी सत्य है, वह पूर्वकाल के ऋषियों ने और आचार्यों ने लिख दिया है। इस युग के आदमी केवल उसके अर्थ समझने का प्रयास कर सकते हैं, नया कुछ नहीं दे सकते। टीकाओं की टीका और उसकी भी टीका लिखने में इस काल के पण्डितों ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। एक दूसरे प्रकार का प्रयोग संगति लगानेवाले निवन्ध-ग्रन्थ थे जो बहुत-कुछ टीकाओं की ही श्रेणी के हैं। ऐसी ही स्वाधीन चिन्ता की कुण्ठा के समय बौद्ध और नाथ-सिद्धों ने अपनी अक्खड़ शैली में वाह्याचार और निरर्थक रूढ़ियों का विरोध किया। परन्तु उनके पास देने लायक कोई नयी सामग्री नहीं थी, वे केवल अर्थहीन आचारों का विरोध-भर करते रहे।

नाथमत और भक्तिमार्ग : ऐसे ही समय में दक्षिण से भक्ति की नयी धारा उत्तर भारत की ओर आयी। उन दिनों उत्तर के हठयोगियों का धर्ममत प्रबल था। उनमें और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एक के लिए समाज की ऊँच-नीच भावना उपहास और आक्रमण का विषय थी, पर दूसरे के लिए मर्यादा और स्फूर्त्ति का। वज्रयानी और नाथपन्थी योगी डटकर जातिभेद पर आघात करता था, वाह्याचार और उन्मूलक श्रेष्ठता को फटकर बताता था और चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भटकते हुए माया के गुलाम गृहस्थों से अपने को श्रेष्ठ समझता था। दक्षिण से आया हुआ भक्तिवाद समाज में प्रचलित वर्णव्यवस्था और ऊँच-नीच मर्यादा को स्वीकार करके भी उसकी कठोरता को शिथिल करने में समर्थ हुआ। इनके पास अनन्त शक्ति, ऐश्वर्य और प्रेम के आकर लीलामय भग-वान् की भक्ति का सम्बल था। एक बार भगवान् की शरण गहने पर नीच-से-नीच व्यक्ति अनायास भवसागर पार कर सकता था। इस युग के हिन्दू गृहस्थ के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण निधि थी। इसे बौद्ध और नाथसिद्ध नहीं दे सके थे, टीका और निबन्धों के लेखक शास्त्रज्ञ विद्वान् नहीं बता सके थे और अलंकारों से लदी हुई कविता भी नहीं दिया सकी थी।

क्या भक्ति-आन्दोलन प्रतिक्रिया है ? : कुछ विद्वानों ने इस भक्ति-आन्दोलन को हारी हुई हिन्दू जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रिया के रूप में बताया है। यह बात ठीक नहीं है। प्रतिक्रिया तो जातिगत कठोरता और धर्मगत संकीर्णता के रूप में प्रकट हुई थी। उस जातिगत कठोरता का एक परिणाम यह हुआ कि इस काल में हिन्दुओं में वैरागी साधुओं की विशाल वाहिनी खड़ी हो गयी, क्योंकि जाति के कठोर शिकंजे से निकल भागने का एकमात्र उपाय साधु हो जाना ही रह गया था। भक्तिमतवाद ने इस अवस्था को सँभाला और हिन्दुओं में नवीन और

उदार आशावादी दृष्टि प्रतिष्ठित की। चौदहवीं शताब्दी के बाद हिन्दी साहित्य की मूल प्रेरणा भक्ति ही रही। इसके पूर्ववर्ती साहित्य में यह वस्तु नही है, इसीलिए उसमें न तो किसी प्रकार का स्पन्दन दिखायी देता है और न वक्तव्य-वस्तु की कोई ताजगी। चौदहवीं शताब्दी के बाद का हिन्दी साहित्य अत्यन्त संवेदनशील प्राणधारा से उद्वेलित है और महान् आदर्शों से अनुप्राणित है। रोगमुक्त मनुष्य की भांति उसमे स्वास्थ्यजन्य क्षुधा और नैरुज्यजन्य स्फूर्त्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। यहाँ से हिन्दी साहित्य नये मोड़ पर खड़ा हो जाता है और यद्यपि वह पुरानी परम्परा से एकदम विच्युत नहीं हो जाता, तथापि उसमें रूप और शोभा के प्रति रुग्ण आकर्पण का अभाव है। रूप और शोभा में वह दैवी ज्योति देख सकता है और अपने पाठक को ऊँचे धरातल पर बैठाकर तलदेश की गन्दगी से दूर रख सकता है। इस साहित्य में कृत्रिमता का अभाव है और सहज-सरल मानव-जीवन के प्रति आस्था है।

गुरु रामानन्द : इस भक्ति आन्दोलन के आरम्भ में इस युग के महागुरु रामानन्द का नाम सुनायी देता है। इसके पहले भी कुछ भक्त-सन्तों की साहित्य-रचना प्राप्त होती है जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे। परन्तु रामानन्द अपने पाण्डित्य और औदार्य के कारण सबसे श्रेष्ठ ठहरते हैं। माघ कृष्ण सप्तमी संवत् 1356 वि. अर्थात् सन् ईस्वी की तेरहवी शताब्दी के अन्त में इनका जन्म हुआ था और लगभग पूरी चौदहवीं शताब्दी-भर ये अपने धार्मिक प्रचार का कार्य करते रहे। ऐसी प्रसिद्धि है कि प्रयाग के किसी कान्यकुब्ज ब्राह्मण वंश में इनका जन्म हुआ था। इनके लिखे तीन संस्कृत ग्रन्थ प्राप्त हैं। एक तो वेदान्त सूत्रों पर 'आनन्दभाष्य', दूसरा 'श्रीरामार्चन पद्धति', और तीसरा 'वैष्णव मताब्जभास्कर'। 'श्रीरामार्चन पद्धति' में उन्होंने जो गुरु-परम्परा दी है, उसके अनुसार रामानन्दजी रामानुज से चौदह पीढ़ी नीचे आते हैं। रामानुजजी का परलोकवास 1137 ई. में हुआ था। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिए 20 वर्ष का समय रखें तो इनका समय सन् ईस्वी की चौदहवीं शताब्दी के शुरू में या तेरहवीं के अन्त में पड़ेगा।

आनन्द भाष्य और प्रसंग परिजात : 'आनन्द भाष्य' के विषय में विद्वानों मे मतभेद है। अभी तक कोई ऐसा पुष्ट प्रणाम नहीं उपलब्ध हुआ जिससे यह कहा जा सके कि स्वामी रामानन्द ने इस भाष्य को नही लिखा था। रामानुजाचार्य के मत से इस भाष्य के प्रतिपादित मत का अन्तर नाममात्र का है। यह तो मान ही लिया जा सकता है कि रामानन्दजी मनस्वी सन्त थे, इसलिए उन्होंने स्वय यदि भाष्य लिखकर अपनी स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति का उपयोग किया हो तो यह आश्चर्य या शंका की बात नही है। परन्तु इधर साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्वितावश बहुत-सी जाली पुस्तकें तैयार होने लगी है, अतः खूब सावधानी से इनकी छानबीन होनी चाहिए। रामानन्द के 'आनन्दभाष्य' के सम्बन्ध में भी इस प्रकार की सावधानी आवश्यक है। हाल ही में 'प्रसंग पारिजात' नामक विचित्र पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसकी भाषा से लेकर भविष्यवाणियों के विषय तक सभी बातें मनोरंजक हैं।

पुस्तक पैशाची भाषा में लिखी बतायी जाती है। इसे स्वामी रामानन्दजी के साथ रहनेवाले किसी स्वामी चेतनदास ने दैवी शक्ति की सहायता से लिखा था। इसमें स्वामीजी का जीवन-वृत्त तो आया ही है, उनकी भविष्यवाणियाँ भी हैं। एक अष्टपदी में कबीरदास के मोहनदास के रूप में अवतरित होकर देश को स्वाधीन कराने की भी भविष्यवाणी है। अब तक यह ग्रन्थ इसलिए नहीं प्रकाशित किया गया था कि इसमें एक स्थान पर कहा गया है कि जब तक स्वराज्य न हो जाये तब तक जो इसे प्रकाशित करेगा वह पागल हो जायेगा। सौभाग्यवश अब वह बाधा नहीं है। अब प्रकाशित करनेवालों के पागल होने की कोई आशंका तो नहीं है, पर विश्वासपूर्वक इसे सत्य माननेवालों के वैसा हो जाने की पूर्ण आशंका बनी हुई है। इसकी भाषा का एक नमूना इस प्रकार है :

मस्तीन सुरवा डाहिवी । आसीम औरम थाहिवी ॥
धीधी घुना नुप जाहिवी । फीफी फिना सत साहिवी ॥
कोड़ीस कोणप करतरी । उनग्रीस ओखर घरधरी ॥
फातेस जसता जरजरी । टाणेस टरबर भरभरी ॥

मूड़ मारकर भी कोई पैशाची का पण्डित इस नयी पिशाच भाषा का उद्धार नहीं कर सकेगा। सौभाग्यवश टीकाकार ने इसका अर्थ स्पष्ट कर दिया है : संघ-वार्त्ता-रूपी दिव्य निनाद को सुनकर सर्पराज शेष ध्यानमग्न हो गये, लक्ष्मी-रूपी मृगी आनन्दित और थकित हो गयी, इत्यादि। बाबा तुलसीदासजी के साथ रहनेवाले बाबा वेणीमाधवदास की 'डायरी' का जो सम्मान विद्वानों ने किया है, उसे देखते हुए इस प्रकार की नयी-नयी वाणियों का अवतार होने लगना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। तुलसीदास की पत्नी और चेलों की बातें छप चुकी हैं। यदि उनकी ससुराल के अन्य सम्बन्धियों की भी कुछ रचनाएँ छप जायें तो आश्चर्य करने की बात नहीं होगी। ऐसी भारवर्द्धक पुस्तकों की कड़ी आलोचना होनी चाहिए, नहीं तो साहित्य के इतिहास में ऐसी बे-सिर-पैर की पुस्तकों के तथ्य की आलोचना होने लगेगी तो फिर साहित्य के मूल प्रवाह को समझना असम्भव हो जायगा। नित्य नये ग्रामों के जन्म-स्थान होने के दावों ने साहित्य के मन्दिर के सामने बे-मतलब के कूड़ों का अम्बार लगा रखा है। अस्तु।

रामानुज और रामानन्द : कुछ पण्डितों का दावा है कि रामानन्द चाहे जिस दृष्टि से रामानुज के मतावलम्बी क्यों न रहे हों, तत्त्वदृष्टि से तो उनके मतावलम्बी नहीं थे। कुछ दूसरे पण्डित ठीक इसके विरुद्ध मत का प्रतिपादन करते हैं। वे तत्त्व-दृष्टि से तो रामानन्द को रामानुज का अनुयायी मानते हैं, पर उपासना-पद्धति में एकदम अलग। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सारी परम्पराएँ रामानन्द का रामानुज सम्प्रदाय से सम्बन्ध बताती हैं, पर साथ ही कुछ ऐसी दलीलें भी उपस्थित की गयी हैं जिनसे इस अनुमान की पुष्टि हो जाती है कि दोनों आचार्यों का सम्बन्ध दूर-दूर का ही था। कहा गया है कि रामानन्द द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय में राम और सीता को जिस प्रकार एकमात्र परमाराध्य माना जाता है, उस

प्रकार रामानुज के प्रवर्तित श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में नहीं माना जाता। श्रीवैष्णव सभी अवतारों की उपासना करते है। फिर रामानन्दी लोगों मे जो मन्त्र प्रचलित हैं, वे भी रामानुज सम्प्रदाय के मन्त्र से भिन्न हैं। उनका तिलक रामानुजी-मत के तिलक से मिलता-जुलता है, फिर भी हू-ब-हू वही नहीं है बल्कि थोड़ा भिन्न है। स्वयं रामानन्दजी त्रिदण्डी संन्यासी नही थे, यह भी सिद्ध किया गया है। फिर एक बात और भी विचारणीय है—रामानन्दी सम्प्रदाय का नाम भी हू-ब-हू वही नही जो रामानुजीय सम्प्रदाय का है। इस प्रकार नीचे लिखी तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों सम्प्रदायों में सभी महत्त्वपूर्ण बातों मे भेद है :

	रामानुजीय	रामानन्दीय
सम्प्रदाय	श्रीवैष्णव सम्प्रदाय	ॐ श्रीसम्प्रदाय
मन्त्र	नमो नारायणाय	ॐ रामायनमः
भाष्य	श्रीभाष्य	आनन्दभाष्य

फिर भी परम्परा से रामानन्द का सम्बन्ध रामानुजीय सम्प्रदाय से सिद्ध है। इसका एक समाधान इस प्रकार से किया गया है कि तमिल देश मे बहुत पुराने जमाने से कोई राम सम्प्रदाय चला आ रहा था जो कभी श्रीवैष्णवो में प्रविष्ट हो गया था। रामानन्द उसी सम्प्रदाय के आचार्य थे। कहा गया है कि ऐसा मान लेने से सभी बातों की सन्तोषजनक मीमांसा हो जाती है। पहले एक समस्या खडी करके फिर उसका समाधान करने का प्रयत्न भारतीय साहित्य और समाज के क्षेत्र में यह अकेला ही नहीं है।

आनन्दभाष्य का मत : रामानन्दजी का रचित बताया जानेवाला 'आनन्द-भाष्य' अनन्य भक्ति को ही मोक्ष का एकमात्र और अव्यवहित उपाय मानता है और प्रपत्ति को मोक्ष का हेतु, और कर्म को भक्ति का अग बताता है। इसके अनुसार जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म है। इसके अनुसार जीवों का परस्पर-भेद और नानात्व सिद्ध है। इसी प्रकार स्वरूपतः जीव अणु, कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता तथा नित्य हैं। जीव और ब्रह्म का भेद है। यह मत वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करता है, विवर्त्तवाद का बारम्बार प्रत्याखान करता है और 'नारद पांचरात्र' को प्रमाणरूप में उद्धृत करता है। निर्विशेषक ब्रह्म का अनेक स्थलों पर तिरस्कार करके और सविशेषक ब्रह्म का प्रतिपादन करके सत्ख्यातिवाद को स्वीकार करता है। इस प्रकार जहाँ तक इस भाष्य के मुख्य प्रतिपादित सिद्धान्तों का प्रश्न है, उसकी प्रामाणिकता को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है।

परन्तु सुप्रसिद्ध विद्वान् फर्कुहर का कहना है कि परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि पहले-पहल रामानन्दजी ही 'अध्यात्म रामायण' और 'अगस्त्य-सुतीक्ष्ण सवाद' दक्षिण से ले आये थे। निस्सन्देह उनके सम्प्रदाय मे इन ग्रन्थों का बड़ा समादर है। प्रसिद्ध रामभक्त गोसाईं तुलसीदास के 'रामचरितमानस' पर इन ग्रन्थों का

प्रभाव सर्वविदित है। आज भी रामानन्दी वैष्णव इन ग्रन्थों को सम्प्रदायमान्य ग्रन्थ मानते हैं और यह आश्चर्य की बात है कि ये ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत की अपेक्षा शंकर-मत की ओर अधिक झुकते हैं (तुलनीय—'अध्यात्म रामायण', 1-32-52)। इस प्रकार यह अनुमान असंगत नहीं कहा जा सकता कि रामानुजजी के मत में भक्ति ही बड़ी चीज थी, तत्त्ववाद नहीं। उनके शिष्यों में केवल एक बात को छोड़कर बाकी बातों में काफी स्वतन्त्रता का परिचय पाया जाता है। वह बात है अनन्य भक्ति। उनके कितने ही शिष्य उनकी भाँति वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं मानते, जीवों का ब्रह्म से भेद नहीं मानते और कितने तो यह भी नहीं मानना चाहते कि दिव्य गुणों से भगवान् का सगुणत्व भी सिद्ध होता है और सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है। केवल प्रपत्ति या शरणागति को मोक्ष का साधन समझने में उनके सभी शिष्य एक हैं।

रामानन्द के गुरु राघवानन्द थे। भक्तमाल में नाभादासजी ने गुरु राघवानन्द को ही रामानन्द का गुरु माना है। इन गुरु राघवानन्द की एक हिन्दी रचना 'सिद्धान्त पंचमात्रा' प्राप्त हुई है, जो काशी विद्यापीठ से प्रकाशित और स्व. डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित 'योग प्रवाह' नामक पुस्तक में संगृहीत है। 'सिद्धान्त पंचमात्रा' से ही स्पष्ट हो जाता है कि राघवानन्दजी योग-मार्ग की साधना से परिचित थे और अन्तःसाधना और अनुभवसिद्ध ज्ञान की महिमा के विश्वासी थे। गुरु रामानन्द को उदार दृष्टि और व्यापक भक्तिचेतना अपने गुरु से उत्तराधिकार के रूप में ही मिली थी।

रामानन्द में कुछ-न-कुछ ऐसी साधना अवश्य थी जिसके कारण योगप्रधान भक्ति-मार्ग, निर्गुणपन्थी भक्तिमार्ग और सगुणोपासक भक्तिमार्ग, तीनों ही के पुरस्कर्त्ता भक्तों ने उन्हें अपना गुरु माना है।

'गुरुग्रन्थसाहब' में इनका एक पद संगृहीत है जिसमें इन्होंने बहुत-कुछ निर्गुण उपासकों की ही तरह अपने विचार प्रकट किये हैं।

जहां जाईए तहँ जल पषान, तू परि रहिउ है नभ समान।
वेद पुरान सब देंपे जोई, ऊहां तउ जोइऐ जउ इहां न कोई॥

हिन्दी में गुरु रामानन्द की नयी रचनाएँ प्राप्त होती हैं जो आकार में बहुत छोटी है। स्व. डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इनकी 'रामरक्षा', 'ज्ञानलीला', 'योगचिन्तामणि', 'ज्ञान तिलक नाम' की रचनाओं का सम्पादन किया था जो अब नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हैं। इनमें 'रामरक्षा' को उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक रचना समझा था, किन्तु खोज-विवरणों से इसके अनेक रूपों का पता चलता है। अन्य रचनाओं के प्राप्त रूप भी पूर्ण रूप से प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। परन्तु इन रचनाओं से रामानन्द के विश्वासों का थोड़ा-बहुत पता तो चल ही जाता है। इन ग्रन्थों में से कई बाद में रामानन्द के नाम के साथ जोड़े गये जान पड़ते हैं (आगे देखिए)।

'भक्तमाल' में इनके बारह शिष्य बताये गये हैं—अनन्तानन्द, सुखानन्द,

सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, भावानन्द, पीपा, कबीर, सेन, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसुरी। इनमें से कई छोटी समझी जानेवाली जातियों में उत्पन्न हुए हैं जो रामानन्द के औदार्य के साक्षी हैं।

रामानन्द और वल्लभाचार्य का प्रभाव : इस प्रकार इन दो महात्माओं (श्री रामानन्द और श्री वल्लभाचार्य) ने इस काल के साहित्य को प्रधान रूप से प्रभावित किया। हिन्दीभाषी प्रदेशों में जो धर्म-साधनाएँ उन दिनों प्रचलित थीं, उन पर इन आचार्यों द्वारा प्रवर्तित भक्ति-भावधारा का प्रभाव पड़ा। निर्गुण भावापन्न योगप्रधान भावधारा के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ा और वह निर्गुण मार्ग के रूप में प्रकट हुआ। प्रेमलीला-प्रधान सगुण भावधारा के क्षेत्र में वह श्रीकृष्ण-अवतार को केन्द्र करके अपूर्व प्रेमाभक्ति के रूप में प्रकट हुआ और स्मार्तभावप्रधान पौराणिक विश्वासों के क्षेत्र में उसने राम-अवतार को केन्द्र करके अत्यन्त विशाल रूप में आत्मप्रकाश किया। इस प्रकार यह भक्ति का अंकुर तीन रूप में विकसित हुआ। यही भक्ति-साहित्य हिन्दी की मुख्य भावधारा है। इसी ने उत्तर भारत के लोकचित्त को मथित और चालित किया है, इसी ने उसे नवीन लक्ष्य और नवीन आदर्श दिये हैं।

महान् आदर्श का साहित्य : रामानन्द और वल्लभाचार्य के पहले का हिन्दी साहित्य किसी बड़े आदर्श से चालित नहीं था। आश्रयदाता राजाओं के गुणकीर्तन और काव्यगत रूढ़ियों पर आधारित साहित्य सूक्तियों को जन्म दे सकता है, पर वह समाज को किसी नये रास्ते पर चलने की स्फूर्ति नहीं दे सकता। चौदहवीं शताब्दी से पूर्व के साहित्य ने कोई नयी प्रेरणा नहीं दी। किन्तु नया साहित्य मनुष्य-जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद्‌भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्विक जीवन, और साधन है भगवान् के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का गान। इस साहित्य को प्रेरणा देनेवाला तत्त्व भक्ति है, इसीलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से सब प्रकार से भिन्न है। उसका लक्ष्य था—राजसंरक्षण, कवियश और वाक्‌सिद्धि। प्रेरक तत्त्व के बदलने के कारण पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद का साहित्य बिल्कुल नवीन-सा जान पड़ता है। चन्द, जज्जल, विद्याधर, शार्ङ्गधर आदि की रचनाओं में अनाडम्बर स्वस्थ जीवन और अलौकिक पारमार्थिक लक्ष्य प्राप्त करने की स्फूर्तिदायिनी प्रेरणा नहीं है। परन्तु इस युग के साहित्य में वह प्रेरणा पूरी शक्ति के साथ काम करती दिखायी देती है। यही कारण है कि इस काल के आरम्भ में ही कबीर, नानक, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, मलिक मुहम्मद जायसी और दादूदयाल जैसे महान् साहित्यकार उत्पन्न हुए जो अपने-अपने क्षेत्रों में दिक्‌पाल-जैसे दिखायी देते हैं। इस काल का हिन्दी साहित्य ऊर्ध्वबाहु होकर घोषणा करता है कि लक्ष्य बड़ा होने से ही साहित्य बड़ा होता है। जिस दिन हिन्दी साहित्य इस तथ्य को भूल गया और सूक्तियों को लेकर खिलवाड़ करने के चक्कर में पड़ गया, उसी दिन से साहित्य का अधःपतन शुरू हुआ।

वास्तविक लोक-साहित्य : इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद सचमुच का लोकभाषा का साहित्य बना। भाषा इसकी वास्तविक और सच्ची है, शैली सहज और प्रसन्न। लोक-प्रचलित काव्यरूपों के साथ जीवन के बड़े लक्ष्य और आदर्श का योग हो जाने से इस साहित्य में अपूर्व तेजस्विता आ गयी है। इसके छन्दों में किसी प्रकार की कृत्रिमता का बोझ नहीं है और भाषा और भाव के अनाडम्बर महिमा को वहन करने में यह पूर्ण समर्थ है। यहाँ से मात्रिक छन्दों का अबाध प्रवेश होता है। हिन्दी के जितने भी महान् कवि हुए हैं, उनकी रचनाएँ मात्रिक वृत्तों में ही चमकी है। जिन कवियों ने कई छन्दों में रचना की है वे भी मात्रिक छन्दोंवाली रचना लिखकर ही कृतकार्य हुए हैं। यहाँ से हिन्दी कविता ने अपने असली छन्दों को पहचाना। सम्भवतः लोक में इन्हीं छन्दों का अधिक प्रचार था।

निर्गुण-भक्ति का साहित्य

रामानन्द के शिष्य : पिछले अध्याय में मध्ययुग के महान् गुरु रामानन्द की चर्चा हुई है। नाभादासजी के 'भक्तमाल'[1] में इनके बारह शिष्यों की चर्चा है। ये बारह शिष्य हैं— 1. अनन्तानन्द 2. सुखानन्द, 3. सुरसुरानन्द, 4. नरहर्यानन्द, 5. भावानन्द, 6. पीपा, 7. कबीर, 8. सेना, 9.धना, 10. रैदास, 11. पद्मावती, 12. सुरसुरी। इनमें से कई भक्तों को तथाकथित छोटी जातियों में उत्पन्न कहा जाता है। उस काल में उच्च समझे जानेवाले वर्ण के लोग छोटी समझी जानेवाली जातियों के प्रति जिस दृष्टि से देखते थे, उसे देखते हुए रामानन्द का अद्भुत साहस, मानव-प्रेम और औदार्य आश्चर्यचकित करनेवाले हैं। यदि नाभादासजी का वक्तव्य विश्वसनीय हो तो मानना पड़ेगा कि उन्होंने अपने शिष्यों पर किसी प्रकार का आचारधर्म लादा नहीं। प्रत्येक को अपने स्वभाव, रुचि और संस्कार के अनुसार भक्ति की साधना की छूट दी। यह महागुरु ही कर सकता है। शिष्य को अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का पूर्ण अवसर आकाशधर्मा गुरु ही दे सकता है।

1. (1) 'भक्तमाल', नुरुलसाम सील, कलकत्ता, 1873; (2) सटीक—, सखाराम मिलेत, बम्बई, 1876; (3) चश्म-ए-नूर प्रेस, अमृतसर, 1886; (4) वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1896; (5) सीतारामशरण भगवानप्रसाद, अयोध्या, 1904; (6) सटीक—, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, कल्याण, 1909 [?]; (7) सटीक—, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।

इनमें अनन्तानन्द के शिष्य कृष्णदास पयहारी हुए जो भक्तमाल के लेखक नाभादास के गुरु महात्मा अग्रदास के गुरु थे। नरहर्यानन्द का सम्बन्ध भक्तप्रवर तुलसीदासजी से बताया जाता है। रैदास से कभी मीराबाई ने दीक्षा ली थी, यह प्रसिद्ध है। सुरसुरानन्द की परम्परा में दादूदयाल और सुन्दरदास हुए। इस प्रकार रामानन्द की शिष्य-परम्परा में विभिन्न भाव से भजन करनेवाले भक्त हुए। तुलसीदास सगुण-मार्गी थे, कबीर और दादू निर्गुणमार्गी। दोनों प्रकार के सन्तों मे समानता सिर्फ एक ही बात की है। दोनों ही 'राम' के भक्त है। ऐसा जान पड़ता है कि स्वामी रामानन्द ने अपने शिष्यों को अनन्य भक्ति का ही उपदेश दिया था। अपनी रुचि और संस्कारो के अनुसार उन लोगों ने उसे नाना रूपों में विकसित किया। यह रामानन्द के औदार्य का प्रमाण है। आकाश की भाँति उन्होंने अपनी छाया में शिष्यों को बढ़ने का पूर्ण अवकाश दिया। वे मध्यकाल के सच्चे महागुरु थे। उन्होंने युग-धर्म की नाड़ी पहचानी थी।

नाथपन्थी योगियों से सम्पर्क : इस बात का तो ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध है कि रामानन्द के शिष्यों मे से किसी-किसी ने नाथ-मार्गी योगियों के प्रतिष्ठित अखाड़ों को अपने प्रभाव में लाकर उनके शिष्यों को अपना अनुयायी बनाया है। जयपुर के पास जो गलता की गद्दी है वह पहले नाथमत के अनुयायियों के हाथ में थी। अपने प्रभाव से रामानन्द के शिष्य कृष्णदास पयहारी ने उस पर अधिकार किया। आमेर के राजा इसके बाद रामानन्दी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। रामानुज सम्प्रदाय में तोताद्रि का जो महत्त्व है वही रामानन्दी सम्प्रदाय में इस गद्दी को प्राप्त हुआ और इसे 'उत्तर तोताद्रि' कहा जाने लगा। इस घटना से आसानी से समझा जा सकता है कि इस स्थान की पूजा-पद्धति, विश्वासो और धारणाओं में कुछ प्राचीनतर भाव रह गये हैं। कितनी भी सावधानी क्यों न बरती गयी हो, नाथपन्थी मठ के शिष्यों को एकदम नहीं बदला जा सका होगा; बहुत-सी बातें वैसी ही रह गयी होंगी। ऐसे अवसरों पर प्रायः ऐसा ही होता है कि पुराने गुरु के स्थान पर नये गुरु का नाम बैठा दिया जाता है और शेष बातें वैसी ही चलती रहती हैं। पयहारीजी के दो प्रसिद्ध शिष्यों में से एक कील्हदास की प्रवृत्ति रामभक्ति के साथ योग-साधना की ओर बनी हुई थी। नाभादास ने इन्हें अष्टांग योग का उपासक कहा है। तपसी नामक वैरागियों की शाखा में प्रसिद्ध है कि रामानन्द ने बारह वर्ष तक योग-साधना की थी। इसी प्रकार के नवदीक्षित योगि-भक्तों में रामानन्द के नाम से प्रचारित ऐसी पुस्तकें मिलती हैं जिनमें योग-महिमा और नाद-विन्दु की उपासना प्रचारित है। 'योगचिन्तामणि', 'रामरक्षास्तोत्र', आदि ग्रन्थ केवल नवदीक्षित भक्तों की पुरानी प्रथा और विश्वास के साथ उनके नाम को सम्बन्धित कर देने का प्रयास जान पड़ते है। इन पुस्तकों में जिन बातों का प्रचार किया गया है, वे पुराने मत का अवशेष हैं। नये गुरु का नाम जोड़कर उन्हें नये विश्वास के अनुरूप कर लिया गया है। कभी-कभी पुराने वाक्यों में जहाँ पुराने गुरु और पुराने उपास्य का नाम होता है, वहाँ नये गुरु और नये उपास्य का नाम जोड़ने

भी प्रमाण मिलता है। 'रामरक्षास्तोत्र' के अनेक उपलब्ध रूपों में यही प्रयास है।

नामदेव : नामदेव कबीर के पूर्ववर्ती निर्गुण भाव के साधक थे। कबीर ने अपनी पुस्तकों में बड़े गौरव के साथ इनका नाम लिया है और 'गुरुग्रन्थसाहब' में इनके भजनों का बड़े आदर के साथ संग्रह किया गया है। कहते हैं कि ये जाति के छीपी थे। महाराष्ट्र के सतारा जिले में नरसी वैनी गाँव में 1267 ई. में इनका जन्म बताया जाता है। इनके गुरु सन्त विसोवा सेचर थे और सन्त ज्ञानेश्वर के प्रति भी इनकी भक्ति थी। नामदेव के भजन मराठी और हिन्दी दोनों में उपलब्ध हैं। हिन्दी भजन 'गुरुग्रन्थसाहब' में संगृहीत है। इन भजनों की संख्या 60 से भी अधिक है। इनमें उनके प्रेम-निर्भर सहज अकपट चित्त का बहुत अच्छा प्रकाशन हुआ है।

महाराष्ट्र के हिन्दी कवि : महाराष्ट्र के अनेक भक्तों ने हिन्दी में कविता लिखी हैं। श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव ने संवत् 1986 की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (भाग 10) में इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा था। उनके लेख से जान पड़ता है कि जन्मकाल से ही हिन्दी भाषा की यह विशेषता रही है कि भारत के दूरस्थ प्रान्तों के दूरदर्शी सन्त-महात्मा, राजा-महाराजा, कवि तथा योद्धा स्थानीय भाषाओं के अतिरिक्त इसमें (हिन्दी में) भी रचना करते चले आ रहे हैं। महाराष्ट्र और गुजरात में यह परम्परा आज तक अक्षुण्ण चली आ रही है। प्रमाण के लिए महाराष्ट्र को लीजिए। चन्दबरदाई के काल में चालुक्यवंशी महाराज सोमेश्वर 'सर्वज्ञभूप' उपनाम से हिन्दी में काव्य-रचना करते रहे। उनके 'मानसोल्लास' ग्रन्थ में राग-रागिनियों का वर्णन हिन्दी भाषा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस ग्रन्थ का रचना-काल 1184 सं. विक्रमी (1127 ई.) है।

राजा-महाराजा लोगों के अतिरिक्त सन्त-महात्माओं की रचनाएँ महाराष्ट्र-वासियों को हिन्दी से अभिज्ञ कराने में सहायक होती रहीं। महानुभाव पंथ (जयकृष्णी) के संस्थापक चक्रधर महाराज का रचनाकाल शाके 1194 है। जयकृष्णी पन्थ का प्रसार महाराष्ट्र से सीमान्त प्रदेश तक हुआ था। इसीलिए इस पन्थ के अनुवर्ती सन्त-महात्मा अपनी शिष्य-परम्परा को अपने धार्मिक सिद्धान्तों का बोध कराने के लिए हिन्दी में रचना करते रहे। श्री चक्रधरजी उभाम्बर दामोदर ने ईश-भक्ति विषयक विभिन्न राग-रागिनियों की कविताएँ रचीं जो उत्कृष्ट कोटि की रचनाएँ मानी जाती हैं।

इसी प्रकार नाथपन्थी साधु-महात्माओं ने हिन्दी में प्रचुर रचनाएँ कीं। ज्ञानेश्वर महाराज और मुक्ताबाई की हिन्दी कविता का पाठ आज भी महाराष्ट्र में होता है। नामदेवजी ने मराठी के साथ-साथ हिन्दी में भी प्रचुर रचना की।

सूर-तुलसी-काल में वैष्णव भक्तों की हिन्दी रचनाएँ अपना अलग विशेष महत्त्व रखती हैं। भानुदास, जनार्दन स्वामी, दादू पिंजारा, एकनाथ, तुलाराम, कान्होबा, जनी जनार्दन की रचनाएँ हिन्दी साहित्य में अमूल्य निधि हैं।

महात्माओं के अतिरिक्त मुसलमान और हिन्दू शासकों ने भी हिन्दी में रचनाएँ की। इब्राहीम शाह का 'नवरस' हिन्दी विषयक एक अनुपम ग्रन्थ है। शिवाजी के पिता शाहजी के दरबार में 38 कवियों का उल्लेख मिलता है। जयराम, रघुनाथ व्यास, रघुनाथ कवि, ठाकुर चतुरद, लछीराम, श्याम गुसाईं, ठा. शिवदास केहरि, गंग, गय, ददेव सुखलाल, रामानुज, दुर्ग ठाकुर, सुविद्ध राव, विश्वम्भर भाटकी की रचनाएँ आज भी उपलब्ध हैं। इस काल में महानुभावपन्थी कृष्ण मुनि, चक्रमणि व्यास, विधिचन्द्र शर्मा की विविध रचनाएँ मिलती है। 'अवताररासा', 'ब्रह्मविद्यार्थप्रकाश' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध है। शिवाजी महाराज स्वयं कवि थे और कवियों का आदर करते थे। भूषण, गगेश, श्री गोविन्द आदि विविध कवियों की रचनाएँ उपलब्ध हैं।

शिवाजी के समकालीन नाथपन्थीय सन्त मानसिंह नाथ स्वामी के अतिरिक्त नाभा, सेनानाई, शेख सुलतान, शेख फरीद, काजी मुहम्मद, जिन्दा फकीर, सैयद हुसेन, बहादुर बाबा, लतीफ शाह, सुलतान कादर आदि की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। अस्तु।

जयदेव : यहाँ प्रसंग नामदेवजी का है। नामदेवजी के समान ही दूरस्थ प्रान्त के एक और भी पुराने भक्त जयदेव के कुछ निर्गुण भाव के पद 'ग्रन्थसाहब' में संगृहीत हैं। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि यह 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव से अभिन्न है, परन्तु 'ग्रन्थसाहब' में संगृहीत पद केवल विषयवस्तु की दृष्टि से ही 'गीतगोविन्द' से भिन्न नही है. उनमे 'गीतगोविन्द' के रचयिता की चपल-चटुल शैली और मनोहर पद-विन्यास का कुछ भी साम्य नही मिलता। इसलिए साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह विश्वास करना कठिन है कि दोनों जयदेव एक ही हैं।

कबीरदास : निर्गुण भाव के साधको में निस्सन्देह कबीरदास प्रमुख और श्रेष्ठ है। काशी में किसी सद्योधर्मान्तरित जुलाहा जाति में इनका प्रादुर्भाव हुआ था। प्रसिद्ध यह है कि ये किसी विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे। माता ने सामाजिक भय से काशी के लहरतारा तालाब के पास इन्हें फेंक दिया था, वही नीरू और नीमा नामक जुलाहा दम्पति ने इन्हें प्राप्त किया और पाल-पोसकर बड़ा किया। यह प्रसिद्धि कहाँ तक सत्य है, यह नही कहा जा सकता। पर निर्विवाद बात यह है कि ये काशी की जुलाहा जाति में पालित और वर्धित हुए थे। यह जुलाहा जाति नाथपन्थी योगियो की शिष्य थी और इस जाति के लोगों में उनके विश्वास और संस्कार पूरी मात्रा में वर्त्तमान थे। मुसलमान ये नाम मात्र के ही थे। इस नाथ-भावापन्न सद्योधर्मान्तरित जुलाहा जाति में पालित होने के कारण कबीरदास में नाथपन्थी विश्वास सहज रूप में वर्त्तमान थे। उनका मन योगियों के संस्कार में सुसंस्कृत था। इसी क्षेत्र में इस काल के श्रेष्ठ गुरु स्वामी रामानन्द द्वारा प्रचारित भक्ति-सिद्धान्त का बीज पड़ा। इस प्रकार कबीर में एक ओर यौगिक सिद्धान्तों की पूरी जानकारी है, तो दूसरी ओर भक्ति-साधना की बलदायिनी प्रेरणा।

कबीरदास का जन्म कब हुआ था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्प्रदाय मे माना जाता है कि,

चौदह सौ पचपन साल गए, चंद्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए॥

अर्थात् कबीरदास का जन्म सं. 1455 की ज्येष्ठ पूर्णिमा को हुआ था। परन्तु गणना से ज्येष्ठ पूर्णिमा को इस वर्ष सोमवार नहीं पड़ता, 1456 सं. में पड़ता है। इसलिए विद्वानों का विचार है कि कबीरदास का जन्म सं. 1456 अर्थात् 1399 ई. में हुआ था। लोकप्रसिद्धियों में बताया गया है कि अँधेरे में गंगातट पर सोये हुए कबीर के शरीर पर रामानन्दजी के खड़ाऊँ पड़ गये थे और वे 'राम-राम' कह उठे थे। रामानन्द से कबीर के दीक्षा लेने की यही कहानी है। कबीर के मुसलमान शिष्य बताते है कि उन्होंने प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख़ तक़ी से दीक्षा ली थी। कबीर के पदों मे शेख तकी का नाम आया है, किन्तु उसमें उस प्रकार की श्रद्धा का भाव नहीं मिलता जो किसी गुरु के लिए अपेक्षित है; जैसे—'घट-घट है अबिनासी सुनहु तकी तुम शेख'। इस पद्य मे कबीर शेख़ तकी को गुरुभाव से स्मरण करते नहीं जान पड़ते, किन्तु इसके विरुद्ध कबीर ने जहाँ कहीं भी रामानन्द का नाम लिया है, वहाँ उनका नाम बड़े गौरव और श्रद्धा के साथ लिया है। जैसे:

सतगुरु के परताप ते मिटि गयो सब दुख दंद।
कह कबीर दुविधा मिटी, गुरु मिलिया रामानंद॥

इससे सिद्ध होता है कि कबीर वस्तुतः रामानन्द के शिष्य थे और उन्हीं से उन्हें रामनाम का अपूर्व मन्त्र मिला था।

कबीर की विशेषता : पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर सबसे शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक व्यक्ति थे। संयोग से वे ऐसे युग-सन्धि के समय उत्पन्न हुए थे, जिसे हम विविध धर्म-साधनाओं और मनोभावनाओं का चौराहा कह सकते हैं। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं, वे प्रायः सभी उनके लिए बन्द थे। वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे। वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान् की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान् के नृसिंहावतार की मानो प्रतिमूर्त्ति थे। नृसिंह की भाँति नाना असम्भव समझी जानेवाली परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे। हिरण्यकशिपु ने वर माँग लिया था कि उसको मार सकनेवाला न मनुष्य हो, न पशु; मारे जाने का समय न दिन हो, न रात; मारे जाने का स्थान न पृथ्वी हो, न आकाश; मार सकनेवाला हथियार न धातु का हो, न पाषाण का, इत्यादि। इसीलिए उसे मार सकना एक असम्भव और आश्चर्यजनक व्यापार था। नृसिंह ने इसीलिए नाना कोटियों के मिलन-बिन्दु को चुना था। असम्भव व्यापार के लिए शायद ऐसी ही परस्पर-विरोधी कोटियों का मिलन-बिन्दु भगवान को अभीष्ट होता है। कबीरदास

ऐसे ही मिलन-विन्दु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्तिमार्ग; जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना; उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर-विरुद्ध दिशा में गये मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखायी दे जाते थे। वह कबीरदास का भगवद्-दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग किया।

कबीर के ग्रन्थ : वैसे तो कबीर के नाम पर चलने वाली पुस्तकों की संख्या कई दर्जनों तक पहुँचती है, परन्तु इनमे अधिकाश वस्तुतः कबीर की लिखित नही है।[1] कबीरदास साक्षर नही थे, इसे तो सभी स्वीकार करते हैं। उन्होंने जो कुछ पद लिखे थे, वे दूसरों के संग्रह किये है। यह बता सकना कठिन है कि कौन-सी रचना उनकी अपनी है और कौन-सी परवर्तीकाल के भक्तो का प्रक्षेप। उनकी रचनाओं का कोई भी संग्रह ऐसा नही मिला है जिसके बारे में निस्सन्दिग्ध होकर कहा जा सके कि यह उनके समय की रचना है।

1. कबीरदास के लिखे कहे जानेवाले मुद्रित ग्रन्थ—(1) कबीरदास का बीजक, विश्वनाथसिंहजू की टीका, बनारस, 1868; (2) वही, नवलकिशोर प्रेस, 1915; (3) वही, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई 1904; (4) वही, पादरी अहमदशाह सम्पा., कानपुर, 1911; (5) मूल बीजक, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, 1823; (6) वही, प्रेमचन्द सम्पा., कलकत्ता, 1890; (7) वही, गंगाप्रसाद आदर्श, लखनऊ, 1898; (8) वही, विचारदास, बनारस, 1928; (9) वही, रामखेलावन गोसाईं, धनौती मठ, 1938 ई.; (10) बीजक, पूरनदास कृत तृज्या टीका सहित, लखनऊ, 1892; (11) वही, वेंकटेश्वर प्रेस, 1905; (12) वही, बालगोविन्द मिस्त्री, इलाहाबाद, 1805; (13) वही, जम्बू शहर, 1905; (14) वही, पुरुषोत्तम मावजी, बम्बई, 1911; (15) राघवदास की टीका सहित, बनारस, 1940; (16) वही, सस्कृत टीका सहित, बड़ोदा, 1950; (17) कबीरदास की रमैनी, विश्वनाथसिंह, बनारस, 1866; (18)—की शब्दावली, बेल्वेडियर प्रेस, इलाहाबाद, 1922; (19) 'अखरावती', बे. प्रे., इलाहाबाद, 1913; (20)—का अनुरागसागर, रावलपिण्डी, 1902; (21) वही, लखनऊ, 1903; (22) वही, पटना, 1907; (23) वही, लक्ष्मी वेंकटेश्वर, कल्याण, 1895; (24) वही, बनारस, 1929; (25)—का आत्मबोध, हैदराबाद सिन्ध, 1901; (26)—का काफिरबोध, बबोला, 1892; (27)—का बोधसागर (6 भाग), वेंकटेश्वर, 1906; (28) कबीरसागर, कल्याण, 1921; (29)—की साखी, लखनऊ, 1899; (30) साखी-संग्रह, इलाहबाद, 1918, (31) 'सत्य कबीर की साखी' (युगलानन्द), बम्बई; (32) 'सद्-गुरु कबीर की साखी' (राघवदास), बड़ोदा; (33) साखी, बनारस, 1940; (34) मूल बीजक, हंसराज शास्त्री, बाराबंकी, 1950; (35) 'हंसमुक्तावली', बम्बई, 1905; (36) 'हंसमुक्ता शब्दावली', बम्बई, 1905; (37) 'ज्ञानसमाज', गुड़गाँव, 1869; (38) वही, मुरादाबाद, 1911; (39) 'कबीर बाणी', बम्बई, 1910; (40) 'कबीर वचनावली' (अयोध्यासिंह उपाध्याय), बनारस; (41) 'कबीर ग्रन्थावली', ना. प्र. सभा, 1928; (42) 'सन्त कबीर' (डा. रामकुमार वर्मा), इलाहाबाद, 1940; इत्यादि-इत्यादि।

कबीर ग्रन्थावली : तीन मूलों से प्राप्त रचनाओं के बारे में प्रामाणिकता का दावा किया गया है। एक तो ना. प्र. स. द्वारा प्रकाशित और श्री श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रन्थावली' है, जिसकी आधारभूत प्रति के सम्बन्ध में यह दावा किया गया है कि वह कबीरदास की मृत्यु से पन्द्रह वर्ष पहले लिखी जा चुकी थी, अतः वह अत्यधिक प्रामाणिक है। मैंने अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में सिद्ध किया है कि यह दावा गलत है। ना. प्र. स. द्वारा प्रकाशित पुस्तक में उक्त प्रति के अन्तिम पृष्ठ का फोटो दिया गया है। उसमें जो संवत् दिया हुआ है वह बाद की लिखावट मे है। एक बार 'इति श्री कबीर जी की वाणी संपूरन समाप्त' इत्यादि लिखकर फिर से अपेक्षाकृत मोटी लिखावट में 'संपूर्ण सं. 1561' इत्यादि लिखना क्या सन्देहास्पद नही है? पहली बार 'संपूरन और दूसरी बार 'संपूर्ण' लिखना भी सकेतपूर्ण है। पुष्पिका की अन्तिम डेढ़ पंक्तियां स्पष्ट ही दूसरे हाथ की लिखावट है। अतः यह पुस्तक 1561 की नही हो सकती। वस्तुतः यह परवर्ती काल की लिखावट है। डॉ. श्यामसुन्दरदास ने इस प्रति का नाम 'क' दिया है। एक और प्रति से भी सम्पादन मे सहायता ली गयी है। बाबू साहब ने उसका नाम 'ख' दिया है। वह 1881 अर्थात् सन् 1824 ई. की लिखी है।

दोनों प्रतियों मे पाठ-भेद बहुत कम है। 'क' प्रति की अपेक्षा 'ख' मे 131 दोहे और पांच पद अधिक है। ऐसा जान पड़ता है कि दोनों प्रतियों के लेखनकाल में बहुत अधिक अन्तर नहीं होगा। इसका एक प्रमाण तो यह है कि दोनों पुस्तकों मे रमैनी शब्द का व्यवहार है जो बहुत बाद में सन्त-साहित्य में प्रचलित हुआ है। 'ख' प्रति मे तो एक ऐसी रमैनी है जिसे 'बीजक' में भी रमैनी नही कहा गया। 'बीजक' के प्रसग मे हम इस बात पर विचार करेंगे। यहां प्रकृत यह है कि 'कबीर ग्रन्थावली' की 'क' प्रति 'ख' प्रति से बहुत अधिक पुरानी नही है। सम्भवतः यह भी अठारहवी शती के अन्त्य भाग में संकलित हुई है।

आदिग्रन्थ के पद : यह प्रसिद्ध है कि सं. 1661 अर्थात् 1605 ई. मे सिखों के 'गुरुग्रन्थसाहब' का संकलन किया गया था। इसमें कबीर की बहुत-सी वाणियो का संकलन किया गया है। आदिग्रन्थ से इन वाणियो को उद्धृत करके डॉ. रामकुमार वर्मा ने इन्हें अलग से मुद्रित कराया है। इस संग्रह में ऐसे पद जरूर हैं जो सन् 1605 तक कबीर-लिखित माने जाते थे। सम्भवतः कबीर के पदों का सबसे पुराना संग्रह यही है। ग्रन्थसाहब मे ही कभी-कभी दूसरे सन्तों के नाम से भी यही पद मिल गये हैं जो कबीर के नाम से संगृहीत हैं। इससे यह सन्देह होता है कि आदिग्रन्थ मे सकलित पदों की प्रामाणिकता भी उतनी विश्वसनीय नहीं है। फिर भी प्राचीनता की दृष्टि से इसका सम्मान है।

बीजक : तीसरा सग्रह कबीरपन्थी सम्प्रदाय मे समादृत 'बीजक' है। यह सम्प्रदाय मे सब-से अधिक मान्य ग्रन्थ है। यह प्रसिद्धि है कि कबीरदास ने स्वयं इस ग्रन्थ को अपने दो शिष्यों जगजीवनदास और भगवानदास को दिया था। भगवानदास द्वारा स्थापित गद्दी इस समय छपरा जिले के धनौती गढ़ मे

है। कहा जाता है कि वर्तमान 'बीजक' अठारहवीं शताब्दी में धनौती मठ से प्रकाशित हुआ है। पिछले पचास वर्षों में इसकी बहुत चर्चा हुई है और कबीर सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के समझने के लिए इसी ग्रन्थ को प्रमाण माना जाता रहा है। इस पर कई महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गयी हैं जिनमें दो बहुत अधिक प्रसिद्ध हैं। एक तो पूरनदास की लिखी हुई 'त्रिज्या' टीका, जो पहले-पहल 1892 में प्रकाशित हुई थी और बाद में बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस तथा अन्य कई स्थानों से प्रकाशित हुई, और दूसरी रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंहजू देव की टीका जो प्रथम बार बनारस में छपी थी और बाद में कई जगहों से प्रकाशित होती रही। 'बीजक' की टीकाओं में यह सबसे अधिक पाण्डित्यपूर्ण है, परन्तु इसमें साकेतवासी राम का प्रतिपादन है, अतएव सम्प्रदाय में इसका आदर नहीं है।

रमैनी : 'बीजक' का महत्त्वपूर्ण अंश रमैनियाँ हैं। इनमें साधारणतः सात-सात चौपाइयों के बाद एक-एक दोहा संकलित किया गया है, जिसे कबीरपन्थी सम्प्रदाय में 'साखी' कहते हैं। इनमें से कुछ रमैनियाँ आदिग्रन्थ में भी मिल जाती हैं, पर उन्हें किसी राग के नाम से ही लिखा गया है। इससे जान पड़ता है कि आदिग्रन्थ के संकलित होने तक 'रमैनी' शब्द का प्रयोग नहीं होता था। ना. प्र. स. की खोज-रिपोर्ट के अनुसार कबीर-कृत सबसे पुरानी बतायी जानेवाली हस्तलिखित प्रतियाँ चार हैं—'कबीरजी के पद', 'कबीरजी की साखी', 'कबीरजी की रमैनी' और 'कबीरजी की कृत'। इनका लिपिकाल सं. 1649 बताया गया है। खोज करने पर डॉ. राजकुमार वर्मा को यह दोनों ही बातें निराधार मालूम हुईं। सभा को इन पुस्तकों का सन्धान जोधपुर से प्राप्त हुआ था। डॉ. वर्मा ने जोधपुर से इन पुस्तकों को मँगाया। उनमें 'कबीरजी की कृत' और 'कबीरजी की रमैनी' तो थी ही नहीं, एक पुस्तक के सिवाय किसी में लिपिकाल भी नहीं दिया था। अतः यह अनुमान करने में कोई बाधा नहीं कि 'रमैनी' शब्द का प्रचलन बाद में हुआ। आगे चलकर कबीरपन्थी सम्प्रदाय में दोहे-चौपाइयों में लिखी बातों को 'रमैनी' कहना रूढ़ हो गया। इस प्रकार 'बीजक' में जिसे 'ग्यान चौंतीसा' कहा गया है और आदिग्रन्थ में जिसे 'बावन आखरी' कहा गया है, उसे भी सं. 1881 में लिखी हुई 'कबीर ग्रन्थावली' की 'ख' प्रति में 'रमैनी' कहा गया है। मेरा अनुमान है कि दोहा-चौपाइयों में लिखी गयी तुलसीदास के रामायण के प्रभाव ने कबीरपन्थियों को भी अपनी रामायण बनाने को प्रोत्साहित किया और सन् ई. की अठारहवीं शताब्दी में किसी समय दोहा-चौपाई में लिखित पदों को 'रमैनी' कहा जाने लगा। बाद में चलकर तो कबीरपन्थी साधुओं ने जो कुछ भी लिखा, उसे कबीर-कृत रमैनी मान लिया गया। 'अक्षर-खण्ड की रमैनी' रामरहस साहब की लिखी हुई है, पर यह भी कबीर के नाम पर चल पड़ी है। इसी प्रकार 'बलख की रमैनी', 'पंज की रमैनी' आदि ऐसी ही रमैनियाँ हैं। इन बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि 'बीजक' का वर्तमान रूप अठारहवीं शताब्दी में कभी प्राप्त हुआ होगा। लगभग इसी समय

का भी नये सिरे से संघटन हुआ और 'बीजक' ने इस नव-संघटित धर्म-सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थ का काम किया। इसी के बाद इस पर टीकाओं की भी आवश्यकता अनुभूत हुई होगी।

साखी : कबीर की रचनाओं में साखी और शब्द अर्थात् 'दोहे और पद' पर्याप्त पुराने हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी को इस प्रकार की रचनाएँ देखने को मिली थीं। ये 'साखी सबदी दोहरा' लिखने वालों से बहुत प्रसन्न नहीं थे। 'साखी' शब्द का अर्थ है साक्षी अर्थात् ये वाक्य मानो गुरु के उपदेशों का प्रत्यक्ष रूप हैं। बौद्ध सिद्ध कण्हपा ने 'साखि करब जालन्धर पाएँ' वाले पद में गुरु को साक्षी बनाने की बात कही है। जान पड़ता है कि आगे चलकर गुरु के उपदेशों को ही गुरु को 'साखी' समझा जाने लगा। शुरू-शुरू में गुरु के सभी उपदेशों को – चाहे वे जिस किसी छन्द में लिखे गये हों, 'साखी' कहा जाता होगा। गोस्वामीजी ने 'दोहरा' को 'साखी' से अलग गिनाया है, जिससे दो बातें सूचित होती हैं – एक तो यह कि सभी दोहों को 'साखी' नहीं कहा जाता था और दूसरे यह कि साखी दोहों से भिन्न छन्द में भी लिखी जाती थी।

'ग्रन्थसाहब' में कबीर की साखियों को 'सलोकु' या 'श्लोक' कहा गया है। 'बीजक' में संगृहीत साखियों का कोई विभाग नहीं है, परन्तु 'कबीर ग्रन्थावली' में इन साखियों को अंगों में विभाजित किया गया है; जैसे 'गुरु को अंग', 'निहकरमी पतिव्रता को अंग' इत्यादि। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि बाद में चलकर साखियों को गुरु का अंग ही मान लिया गया है। कहा जाता है कि दादूदयाल की साखियों को प्रथम बार उनके शिष्य रज्जबजी ने अंगों में विभाजित किया था और तभी से साखियों को अंगों में विभाजित करने की प्रथा चल पड़ी। यदि यह सत्य है कि रज्जबजी के अंग-विभाजन के बाद ही साखियों को अंगों में विभाजित किया जाने लगा, तो 'कबीर ग्रन्थावली' का संकलन-काल भी निश्चय ही रज्जबजी के बाद ही होगा। कबीर की साखियों का विश्लेषण करने से पता चलेगा कि अंगों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी।

शब्द : 'शब्द' वस्तुतः गेय पद हैं। इनकी परम्परा बहुत पुरानी है। बौद्ध और नाथ सिद्धों ने ध्रुवक देकर विभिन्न रागों में पद लिखे थे। कबीरदास के पद उसी परम्परा के हैं। 'बीजक' में जो पद संगृहीत हैं उनमें खण्डन-मण्डन की ओर ज्ञान की कथनी की प्रवृत्ति अधिक है, और 'ग्रन्थसाहब' तथा 'कबीर ग्रन्थावली' में संगृहीत पदों में भक्ति और आत्म-समर्पण के भावों की प्रधानता है। ऐसा जान पड़ता है कि 'बीजक' को सम्प्रदाय का धर्मग्रन्थ बनाने का प्रयत्न अधिक हुआ है और इसीलिए उसके स्वर को ज्ञान-प्रधान और आक्रामक बनाने का प्रयत्न किया गया है। निस्सन्देह कबीरदास में रूढ़ियों, साम्प्रदायिक भावनाओं और निरर्थक बाह्याचारों पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति थी, पर यह उनकी नकारात्मक दृष्टि थी। उनकी वास्तविक देन तो उनकी भक्ति-भावना ही थी।

कबीर का व्यक्तित्व 'बीजक' में कम है : कबीर में एक प्रकार की फक्कड़

मस्ती और फक्कड़ाना लापरवाही के भाव मिलते है। उनमें अपने-आपके ऊपर अखण्ड विश्वास था। उन्होने कभी भी अपने ज्ञान को, अपने गुरु को, अपनी साधना को सन्देह की दृष्टि से नही देखा। वे जब पण्डित या शेख पर आक्रमण करने को उद्यत होते हैं तो उन्हें इस प्रकार पुकारते हैं मानो वे नितान्त नगण्य जीव हों, केवल वाह्याचारों के गट्ठर, केवल कुसंस्कारों के गुड्डे, साधारण हिन्दू गृहस्थ पर आक्रमण करते समय लापरवाह रहते है और इस लापरवाही के कारण ही उनके आक्रमण-मूलक पदों में एक सहज-सरल भाव और एक जीवन्त काव्य मूर्तिमान हो उठा है। यही लापरवाही कबीर के व्यंग्यों की जान है। उनके पूर्ववर्ती सिद्धों और योगियो ने भी आक्रमणकारी उक्तियाँ कही है, पर उनमे उनके मन की हीनता-ग्रन्थि स्पष्ट हो जाती है, मानो वे लोमड़ी के खट्टे अंगूरो की प्रतिध्वनि हों। उनमें तर्क तो है पर लापरवाही नही है, आक्रोश तो है पर मस्ती नही है; क्योंकि वे बराबर परपक्ष की सम्भावना से चिन्तित रहते थे। कबीरदास के आक्रमणो में जहाँ लापरवाही का कवच है वहाँ आत्मविश्वास का कृपाण भी है। 'कबीर ग्रन्थावली' के पदों और साखियों मे यह घरफूँक मस्ती और फक्कड़ाना लापरवाही मिल जाती है; परन्तु 'बीजक' के पदों में वह बहुत कम हो गयी है। इसीलिए भाव की दृष्टि से 'कबीर ग्रन्थावली' के पदों में कबीरदास का मूल रूप अधिक सुरक्षित है। दोनों ही संग्रहों में पायी जानेवाली आक्रमण-मूलक उक्तियों की तुलना करने से ही यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

कबीरदास मुख्य रूप से भक्त थे। वे उन निरर्थक आचारों को व्यर्थ समझते थे, जो असली बात को ढँक देते है और झूठी बातों को प्राधान्य दे देते हैं। उनके प्रेम के आदर्श सती और शूर है। जो प्रेम या भक्ति पद-पद पर भक्त को भाव-विह्वल कर देती है, मन और बुद्धि का मन्थन करके मनुष्य को परवश बना देती है और जो उन्मत्त भावावेश के द्वारा भक्त को हतचेतन बना देती है, वह कबीर को अभीष्ट नही। प्रेम के क्षेत्र में वह गलदश्रु भावुकता को कभी बर्दाश्त नहीं करते। बड़ी चीज का मूल्य भी बड़ा होता है। भगवान्-जैसे प्रेमी को पाने के लिए भी मनुष्य को बड़े-से-बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है। और अपने आपा को देने से बढ़कर मनुष्य और कौन सा मूल्य चुका सकता है?

यह तो घरु है प्रेम का, खाला का घरु नाँहि।
सीस उतारे भुइँ धरे, सो पइठे इहि माँहि॥

इसी अनाविल आत्म-समर्पण ने कबीर की रचनाओ को श्रेष्ठ काव्य बना दिया है। संसार में जहाँ कही भी यह रचना गयी है, वहीं इसने लोगों को प्रभावित किया है। सहज सत्य को सहज ढंग से वर्णन करने में कबीरदास अपना प्रतिद्वन्द्वी नही जानते। वे मनुष्य-बुद्धि को व्याहत करनेवाली सभी वस्तुओं को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे। पण्डित, शेख, मुनि, पीर, औलिया, क़ुरान, पुरान, रोजा, नमाज, एकादशी, मन्दिर और मस्जिद उन दिनों मनुष्य चित्त को अभिभूत कर बैठे थे, परन्तु वे कबीरदास का मार्ग न रोक सके। इसीलिए

कबीर अपने युग के सबसे बड़े क्रान्तदर्शी थे।

कबीर सम्प्रदाय का साहित्य : यह कह सकना कठिन है कि कबीर सम्प्रदाय का संघटन कब आरम्भ हुआ। कबीरपन्थ की इस समय दो मुख्य शाखाएँ हैं—कबीरचौरा (बनारस) वाली और छत्तीसगढ़वाली। दोनों की गुरु-परम्पराएँ उपलब्ध हैं। दोनों का दावा है कि उनके संस्थापक कबीर के साक्षात् शिष्य थे। अब, जहाँ तक कबीरदास का सम्बन्ध है, वे सम्प्रदाय-स्थापना के विरोधी ही थे। उनके पुत्र कमाल से सम्प्रदाय-स्थापन के लिए प्रार्थना की गयी थी, पर उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि ऐसा करने से हमें 'आध्यात्मिक गुरुहत्या का पाप लगेगा'। कहते हैं, इसी अपराध के कारण शिष्यों में यह उक्ति प्रचलित हुई कि 'बूड़ा वंश कबीर का जो उपजा पूत कमाल'।[1] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि कमाल के विरोध के होते हुए भी सुरतगोपाल और धर्मदास को आश्रय करके कबीर का सम्प्रदाय गठित होकर ही रहा।[2] फिर भी यह कहना सम्भव नहीं है कि काशीवाली शाखा के प्रवर्तक महात्मा सुरतगोपाल ने सचमुच ही सम्प्रदाय का संघटन किया था या नहीं। कुछ शिष्य-मण्डली का होना एक बात है और सम्प्रदाय का संघटन दूसरी बात। महात्मा सुरतगोपाल द्वारा प्रवर्तित कहा जानेवाला कबीरचौरा का सम्प्रदाय निश्चय ही धर्मदासी शाखा से अधिक प्राचीन है।

सुरतगोपाली शाखा : आजकल कबीरचौरावाली शाखा के प्रधान गुरु महात्मा रामविलास साहेब हैं। ये इक्कीसवें गुरु हैं।[3] कहा जाता है कि कबीरचौरा में गुरुओं की जो समाधियाँ है, उनमें बहुत प्राचीन गुरुओं की समाधियाँ नहीं हैं। सबसे पुरानी समाधि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ की है। उन दिनों काशी के राजा महाराजा बलवन्तसिंह (मृत्यु 1770 ई.) और उनके पुत्र महाराजा चेतसिंह सम्प्रदाय के भक्तों में से थे। इसके कुछ पहले अवश्य ही सम्प्रदाय का पूर्ण संघटन हो गया रहा होगा। यह भी कहा जाता है कि नीरूटीला आठवें गुरु सुखदास ने अधिकृत किया था और वर्त्तमान चौरा तो बाद में अधिकृत हुआ है। इतना निश्चित है कि पुराने गुरुओं का बहुत ब्यौरेवार इतिहास सुरक्षित नहीं है। और यह इस बात का सबूत है कि कबीर की मृत्यु के दीर्घकाल बाद तक सम्प्रदाय का कोई अच्छा-सा सुसंघटित रूप नहीं था।[4] परन्तु फिर भी सुरतगोपालजी द्वारा स्थापित गद्दी का बहुत मान है। 'बीजक' की टीकाओं के द्वारा और नये-नये ग्रन्थों के

1. दादू, उपक्रमणिका, पृ. 13-14
2. वही, पृ. 15
3. कबीरचौरा की गुरुपरम्परा इस प्रकार है—(1) कबीर, (2) सुरतगोपाल, (3) ज्ञानदास, (4) श्यामदास, (5) लालदास, (6) हरिदास, (7) सीतलदास, (8) सुखदास, (9) हुलासदास, (10) माधोदास, (11) कोकिलदास, (12) रामदास, (13) महादास, (14) हरिदास, (15) शरणदास, (16) पूरनदास, (17) निर्मलदास, (18) रंगीदास, (19) गुरुप्रसाद, (20) प्रेमदास, (21) रामविलासदास। ['गुरुमहात्म्य', बनारस, पृ. 2-2]
4. 'कबीर एण्ड हिज फालोअर्स', पृ. 94

वर्ष मान लिया जाय तो 275 वर्ष होते हैं और इस प्रकार महात्मा धर्मदास का गुरु-पद ग्रहण करने का समय 1894—275=1619 ई. ठहरता है। यह बात काफी उलझन में डाल देती है; क्योंकि प्रसिद्ध यह है कि धर्मदास जब उत्तर भारत में तीर्थयात्रा के लिए गये थे, तो मथुरा में कबीरदास से उनकी मुलाकात हुई थी और बाद में गढ़ बँधो (बाँधवगढ़,रीवाँ राज्य की उन दिनों की राजधानी) में भी कबीरदास से उनकी मुलाकात हुई थी। कबीरदास की मृत्यु-तिथि 1517 ई. से इधर नहीं ले आयी जा सकती। इसका मतलब यह हुआ कि कबीरदास के साक्षात्कार के कम-से-कम सौ वर्ष बाद धर्मदास गुरुपद पर आसीन हुए। यह बात कुछ ठीक नहीं जँचती। के. साहब ने लिखा है कि केवल दो बातें हो सकती हैं। एक तो यह कि कुछ गुरुओं के नाम छूट गये हैं या फिर यह कि धर्मदास वस्तुतः कबीर के समकालीन नहीं थे। सम्प्रदाय-प्रतिष्ठा के बाद उनको कबीर का साक्षात् शिष्य कहा गया होगा। उनकी दूसरी बात ही अधिक सम्भव जान पड़ती है।[1] परन्तु इन दोनों ही अनुमानों से एक ही नतीजे पर पहुँचा जा सकता है। वह यह कि पन्थ का दृढ़ संघटन सत्रहवीं शताब्दी के पहले नहीं हुआ था। यदि सचमुच ही धर्मदास परवर्त्ती थे और कबीर के साक्षात् शिष्य नहीं थे (जैसा कि सम्भव नहीं जान पड़ता), तब तो सम्प्रदाय-स्थापन परवर्त्ती सिद्ध हो ही जाता है, पर यदि प्रथम अनुमान ठीक हो, अर्थात् कुछ गुरुओं के नाम भुला दिये गये हों, तो भी सिद्ध होता है कि सम्प्रदाय का संघटन शुरू-शुरू में या तो एकदम हुआ ही नहीं था या हुआ था भी तो वह तब बहुत शिथिल था। नहीं तो गुरुओं के नाम भुलाये नहीं जाते।

इस प्रसंग में लक्ष्य करने की बात यह है कि कुछ प्रमाण इस प्रकार के भी उपलब्ध हैं जिनसे पता लगता है कि मगहर में कबीरदास का जब तिरोधान हो गया तो उसके बाद वे पुनर्वार मथुरा में प्रगट हुए। भारत-पथिक कबीरपन्थी स्वामी युगलानन्दजी ने 'श्री भक्तमालान्तर्गत' कबीर-कथा संशोधित करके छपायी है। इस कथा में स्पष्ट लिखा है कि मगहर में तिरोधान होने के बाद कबीर साहब मथुरा में प्रगट हुए[2] और बाद में बाँधवगढ़ आ गये। कबीरपन्थी लोगों के विश्वास

1. 'कबीर एण्ड हिज फालोअर्स', पृ. 99

2. मगहर गये एक समय कबीरा। लीला कीन्ही तजन सरीरा।
अतिशय पुष्प तुरत मँगाई। ता में निज तन दियो दुराई।
सब के देखत तज्यो शरीरा। हिंदू यमन हु के भई भीरा।
हिंदू यमन शिष्य रहे दोऊ। आपसु में भार्यं सब कोऊ।
यमन कहै माटी में दैहैं। हिंदू कहैं अनल में सैहैं।
तब दोउ जाय पुष्प हटायो। नाहिं कबीर शरीर निहायो।
आधे आधे लै दोऊ सुमना। दाह्यो हिंदू गाड़्यो जमना।
भये कबीर प्रगट मथुरा में। विचरन लगे सकल बसुधा में।
यह विधि गहैं अनेकन गाथा। सति कबीर है वपु जगनाथा।
यह लीला करि सकल कबीरा। आयो बाँधव पुनि मतिधीरा।

के अनुसार इसमें कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः कबीर साहब उनके मत से मनुष्य रूप में अवतरित नहीं हुए थे बल्कि मानुष रूप में प्रतिभात होते थे। किसी बादशाह ने जब उन पर तलवार चलायी थी, तो तलवार उनके शरीर से इस प्रकार निकल गयी थी जैसे हवा के भीतर से निकल गयी हो! इसलिए कबीर का पुनर्वार प्रगट होना कबीरपन्थी विश्वास के अनुसार असम्भव नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि कबीर की मृत्यु के बहुत बाद धर्मदास मथुरा गये थे और उन्हें भावरूप में कबीर का साक्षात्कार हुआ था। जो हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि कबीर साहब के तिरोधान के बहुत बाद सम्प्रदाय का संघटन हुआ था।

भगताही पन्थ : धनौती मठ के भगताही पन्थ ने साहित्य को क्या दिया है, यह अभी स्पष्ट नहीं हो सका है। कहते हैं कि 'बीजक' प्रथम बार यहीं से प्रचारित हुआ था। इस पन्थ के संस्थापक महात्मा भगवानदास थे। हाल ही में पं. रामखेलावन गोस्वामी ने मूल 'बीजक' का वह पाठ प्रकाशित कराया है जो भगवान गोस्वामी साहेब का पाठ बताया गया है। इस पुस्तक में इस पन्थ के इक्कीस गुरुओं का नामोल्लेख है। परम्परा इस प्रकार है : कबीर साहेब—भगवान् गोसाईं—घनश्याम गोसाईं—उद्धोरण गोसाईं—दवन गोसाईं—गुणाकर गोसाईं—गणेश गोसाईं—कोकिल गोसाईं—बनवारी गोसाईं—नयन गोसाईं—भीषम गोसाईं—भूपाल गोसाईं—परमेश्वर गोसाईं—गुणपाल गोसाईं—शेषमन गोसाईं—जयमन गोसाईं—हरिनाम गोसाईं—स्वरूप गोसाईं—रामरूप गोसाईं—रघुनन्दन गोसाईं—रामधारी गोसाईं। मूल 'बीजक' के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय ने और क्या साहित्य दिया है, यह पता नहीं।

ऐसा जान पड़ता है कि सत्रहवीं शताब्दी तक कबीरदास के श्रद्धालु भक्त और शिष्यों ने दृढ़ भाव से सम्प्रदाय संघटित करने की आवश्यकता नहीं समझी। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी शिष्य-परम्परा नहीं चल रही थी। वस्तुतः स्थिति यह जान पड़ती है कि कबीरदास के तिरोधान के बाद उनका निर्गुण मत बिना किसी बड़ी बाधा के समाज के एक समुदाय को स्वीकार हो गया।

नवीन शास्त्रीय साहित्य की आवश्यकता : सम्भवतः इनमें निचले स्तर के वे लोग थे। जो किसी समय बौद्धप्रभाव में थे या नाथ योगियों के प्रभाव में आ गये थे। धीरे-धीरे समाज के उपरले स्तर के लोगों पर भी कबीरदास का प्रभाव फैलने लगा था। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में कई राजवंश इस प्रभाव के अन्तर्गत आ गये थे। उसी समय किसी अज्ञात कारण से सम्प्रदाय को दृढ़ भाव से संघटित करने की आवश्यकता अनुभूत हुई। ऐसा जान पड़ता है कि समाज के उपरले स्तर के व्यक्ति केवल अटपटी बानियों से सन्तोष नहीं पा रहे थे और भाषा में उन्हें अधिक

→ अब सो गुहा कबीर को, बौधव दुर्ग मझार।
जगन्नाथ को पंथ सो, पावत नहिं कोउ पार।

—कबीर कथा, पृ. 39

शास्त्रीय और आकर्षक साहित्य प्राप्त होने लगा था। वह कौन-सा साहित्य था, यह अनुमान-भर किया जा सकता है। मेरा अनुमान है कि यह तुलसीदास का साहित्य था। इस साहित्य ने निर्गुणवादियों को केवल चेला बनाने तक ही अपनी कार्यवाही सीमित न रखने को बाध्य किया। सम्भवतः सत्रहवीं शताब्दी में ही कबीरदास की वाणियों की आक्रमणमूलक और युक्तिमूलक वाणियों का संकलन और सम्पादन किया गया। यही 'बीजक' है। परन्तु केवल 'बीजक' का संकलन ही पर्याप्त नहीं था। सम्प्रदाय में दो प्रकार के शिष्य थे—एक अत्यन्त निचले स्तर के और दूसरे उपरले स्तर के। एक को सन्तुष्ट करने के लिए पौराणिक कथाएँ आवश्यक थी और दूसरे को सन्तुष्ट करने के लिए दार्शनिक व्याख्याएँ। अठारहवीं शताब्दी के बाद दोनों प्रकार के साहित्य लिखे गये। धर्मदासी शाखा के पाँचवें गुरु प्रमोध (प्रबोध)-नाम 1819 ई. में गुरुपद पर समासीन हुए। इन्हें सम्प्रदाय में 'गुरु बालापीर' कहकर अत्यधिक सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है। बहुत-सी कबीरपन्थी पुस्तकें इनके समय मे लिखी गयी। सम्भवतः इन्होंने स्वयं भी पुस्तकें लिखी।

रैदास : रामानन्द के शिष्य कहे जानेवाले अन्य सन्तों में कुछ थोड़े-से ही ऐसे हैं, जिन्हें साहित्य के इतिहास मे विवेचनीय समझा जा सकता है। भिन्न-भिन्न कालों मे जिन साधकों की रचनाएँ प्राप्त हुई है, उनकी चर्चा यहाँ की जा रही है। इनमें प्रथम और प्रमुख तो चमार जाति के भूषण रैदास हैं जिनकी कोई पूरी पुस्तक अभी तक उपलब्ध नहीं है, लेकिन उनकी फुटकल वाणियाँ[1] प्राप्त हुई हैं। इन वाणियो से जान पड़ता है कि वे जाति के चमार थे, उनके कुटुम्ब के लोग बनारस के आसपास ही ढोर ढोने का काम करते थे और नानकदेव, कबीर, सधना और सेना नाई नाम के अन्य सन्त इनके पहले तर चुके थे। एक परम्परा के अनुसार वे कबीर से उम्र में बड़े थे। परन्तु आगे जो बातें बतायी जा रही हैं, उन्हें देखते हुए यह बात बहुत विश्वसनीय नहीं जान पडती। अपनी जाति का व्यवसाय करते हुए वे भगवद्भजन में लीन रहा करते थे। कहते हैं, एक बार जब किसी ने कबीर से भगवत्प्राप्ति का रास्ता पूछा तो उन्होने उत्तर दिया कि 'मैं तो छोटा बच्चा था, माँ की गोद में बैठकर गन्तव्य स्थान पर पहुँच गया, रास्ता रैदास को मालूम है क्योंकि माँ ने उसके सिर पर एक गठरी भी रख दी थी।' कबीर की इस कथित उक्ति का यह अर्थ लगाया जाता है कि वे रैदास से उम्र में छोटे थे। सिर पर गठरी ढोकर लाने का अर्थ यह है कि उन्होने बड़ी कठिनाइयों से जीविका उपार्जन करते हुए भगवद्भजन का रास्ता अपनाया था।

परन्तु रैदास का सम्बन्ध मीराबाई से भी बताया जाता है। मीराबाई ने बड़ी भक्ति के साथ अपने भजनों में इनका नाम लिया है। इनका कोई पृथक् सम्प्रदाय नही है, किन्तु फर्रुखाबाद जिले के 'साधो' सम्प्रदायवालों को इनकी परम्परा में

1 (1) 'रैदासजी की बानी', बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, 1909 ई.
(2) 'रैदास-रामायण', स्वामी मुक्तानन्द गिरि, आगरा, 1925 ई.

माना जाता है। कहा जाता है कि रैदास के शिष्य उदयदास थे और उनके शिष्य धीरभानु थे, जिन्होंने पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य मे सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इन सब बातों पर विचार करने से यह जान पड़ता है कि ये कबीर से कुछ बाद मे उत्पन्न हुए होंगे। सम्भवतः सन् ईस्वी की पन्द्रहवी शताब्दी के मध्यभाग में यह वर्त्तमान थे। आदिग्रन्थ में इनके 100 के करीब पद सगृहीत है। बेलवेडियर प्रेस से इनकी वाणियों का जो नया संग्रह निकला है, उसमे कुछ नये पद भी है। दोनों पदों के संग्रहों में पाठ-भेद भी है। इन्ही दोनो सग्रहो के आधार पर रैदासजी की वाणी पर विचार किया जा सकता है। उपलब्ध वाणियो मे ऐसा कुछ नही है जिससे यह समझा जाये कि वे सगुणमार्ग के विरोधी थे, परन्तु स्वर उनका निर्गुणवादियों का ही है।

रैदास की विशेषता : रैदास के भजनों में अत्यन्त शान्त और निरीह भक्त-हृदय का परिचय मिलता है। साधारणतः निर्गुण सन्तो मे कुछ-न-कुछ सुरति, निरति और इंगला, पिंगला का विचार आ ही जाता है। रैदास के कुछ भजनों में भी वे स्पष्ट आये हैं, परन्तु रैदास की वाणियाँ इन उलझनदार बातों से मुक्त है। यद्यपि उनमें अद्वैत वेदान्तियो के परिचित उपमानों तथा नाथो और निरजनों के सहज, शून्य आदि शब्द भी आ जाते है, फिर भी उनमे किसी प्रकार की वक्रता या अटपटापन नहीं है और न ज्ञान के दिखावे का आडम्बर ही है। उदाहरणार्थ,

माधो भरम कैसे न विलाइ,
तातें द्वैत दरसे आइ।
कनक कुंडल सूत पट ज्यों रजु भुअंग भ्रम जैसा।
जल तरंग पाहन प्रतिमा ज्यो ब्रह्म गति ऐसा।
विमल एक रस उपजे न विनसै उदय अस्त दोउ नाही।
विगताविगत घटै नहि कबहूँ बसत बसै सब माही।
निश्चल निराकार अज अनुपम निर्भय गति गोविंदा।
अगम अगोचर अच्छर अतरक निरगुन अत अनता।
सदा अतीत ज्ञान धन वर्जित निर्विकार अविनासी।
कह रैदास सहज सुन्न सत जीवन्मुक्ति निधि कासी।

इन पदों मे एक प्रकार की ऐसी आत्म-निवेदन और परमात्म-विरह की पीड़ा है जो केवल तत्वज्ञान की चर्चा से प्राप्त नही हो सकती। वह ऐसे हृदय की अनुभूति है जो ज्ञान की चर्चा से जटिल नहीं बना है, बल्कि प्रेमानुभूति से अत्यन्त सहज हो गया है। उन्होने एक स्थान पर कहा है कि "हे भगवान्, यह भी कैसी प्रीति है कि तुम मुझे देख रहे हो पर मैं तुम्हें नही देख पा रहा हूँ ! इस विसदृश प्रीति की बात जब सोचता हूँ तो मेरी मति-बुद्धि खो जाती है। परस्पर की प्रीति तो ऐसी होनी चाहिए कि तुम भी मुझे देखो और मैं भी तुम्हे देखूँ।"

तू मोंहि देखै हौं तोंहि देखौं, प्रीत परस्पर होई।
तू मोंहि देखै तोंहि न देखौं, यहि मति बुधि सब खोई।

अनाडम्बर, सहज शैली और निरीह आत्म-समर्पण के क्षेत्र में रैदास के साथ कम सन्तों की तुलना की जा सकती है। यदि हार्दिक भावों की प्रेषणीयता काव्य का उत्तम गुण हो तो निस्सन्देह रैदास के भजन इस गुण से समृद्ध हैं। सीधे-सादे पदों में सन्त कवि के हृद्‌भाव बड़ी सफाई से प्रकट हुए हैं और वे अनायास सहृदय को प्रभावित करते हैं। उनका आत्म-निवेदन, दैन्य भाव और सहजभक्ति पाठक के हृदय में इसी श्रेणी के भाव संचारित करते हैं। इसी को काव्य में प्रेषणीयता का गुण कहते हैं।

सधना, सेना, पीपा, धना : दूसरे भक्तों में सन्त सधना हैं जिन्हें कसाई जाति का बताया जाता है। इनका एक पद आदिग्रन्थ में संगृहीत है। अनुमान किया जाता है कि यह नामदेव के समकालीन थे। फिर नाई जाति के भक्त सेन या सेना हैं जिनके विषय में दो प्रसिद्धियाँ प्रचलित हैं। एक के अनुसार तो वे बीदर के राजा के यहाँ नियुक्त थे और सन्त ज्ञानेश्वर के शिष्यों में थे और दूसरी के अनुसार वे बांधवगढ़ के राजा के नौकर थे और स्वामी रामानन्द के शिष्यों में एक थे। दोनों प्रसिद्धियों के पक्ष में कुछ-न-कुछ प्रमाण मिल जाते हैं। इनके मराठी भाषा में लिखित पद प्राप्त हुए हैं और एक हिन्दी पद आदिग्रन्थ में भी संगृहीत है। सम्भवतः ये दक्षिण से चलकर उत्तर में रामानन्द के सम्पर्क में आये थे। इनकी कुछ फुटकर बानियाँ हिन्दी और मराठी में प्राप्त होती हैं। इन्हीं के समान पीपाजी नाम के भक्त भी रामानन्द के शिष्यों में गिने जाते हैं। डाक्टर फर्कुहर के अनुसार इनका जन्म 1482 ई. है, किन्तु कनिंघम ने गागरौन राज की वंशावली के अनुसार यह समय 1417-42 ई. माना है। मेवाड़ के इतिहास से पता चलता है कि ये राणा कुम्भा के समकालीन थे (1418-68 ई.)। इनके भजनों में कबीर का नाम बड़े प्रेम से लिया गया है। इससे जान पड़ता है कि ये अवस्था में कबीर से छोटे थे। फिर, राजस्थान के टोंक इलाके के धुअनगाँव में उत्पन्न धना भगत नामक जाट जाति के सन्त भी रामानन्द के शिष्य बताये जाते हैं। मेकालिफ ने इनका जन्म सन् 1472 ई. ठहराया है। इनके भजनों में कबीर, सेन, रैदास और पीपाजी का नाम आता है जिससे पता चलता है कि ये उनसे परवर्ती होंगे। 'गुरुग्रन्थसाहब' में इनके चार पद संगृहीत हैं। रामानन्द के शिष्य कहे जानेवाले शिष्यों में ये लोग निर्गुण-भावधारा के भक्त हैं। सगुण-भावधारा के भक्तों की चर्चा अवसर आने पर की जायेगी।

बावरी साहिबा और उनका सम्प्रदाय : बावरी साहिबा द्वारा प्रवर्तित बावरी सम्प्रदाय के सन्त भी अपना सम्बन्ध स्वामी रामानन्द से जोड़ते हैं। सम्प्रदाय की अनुश्रुतियों के अनुसार बावरी साहिबा मायानन्द की शिष्या थीं और मायानन्द रामानन्द के प्रशिष्य और दयानन्द के शिष्य थे। इस प्रकार यह सम्प्रदाय भी अपना सम्बन्ध सुप्रसिद्ध स्वामी रामानन्द के साथ जोड़ता है। दयानन्द और

मायानन्द दोनों ही गाजीपुर जिले के पटना गाँव के निवासी बताये जाते हैं, परन्तु इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं हुई। बावरी साहिबा अकबर की समकालीना थी और अच्छी कविता लिख लेती थी। यह बावरी नाम सम्भवतः भगवत्प्रेम मे मस्त रहने के कारण पड़ा था। एक सवैया में इस ओर आशय भी किया गया है :

बावरी रावरी का कहिए मन है के पतंग भरै नित भाँवरी।
भाँवरि जानहि संत सुजान जिन्हें हरि रूप दिये दरसावरी।
साँवरी सूरत मोहनी मूरत, देकर ग्यान अनंत लखावरी।
खाँवरी सौंह तिहारी प्रभू गति रावरी देखि भई मति बावरी।

स्पष्ट ही भाषा पर इनका बहुत अच्छा अधिकार था। दुर्भाग्यवश इनके केवल दो ही पद प्राप्त हुए है। इनके शिष्य संत बीरू साहब भी अच्छे कवि थे। दुर्भाग्यवश इनकी भी बहुत कम रचनाएँ प्राप्त हुई हैं।

कमाल : इसी प्रकार कमाल भी कबीर साहब के पुत्र बताये जाते हैं और यह प्रसिद्ध है कि जब उनसे कबीर सम्प्रदाय की स्थापना की बात कही गयी थी तो वे राजी नही हुए और कबीर के दुनियादार चेलों ने खिन्न होकर कहा था :

'बूड़ा वंश कबीर का जो उपजे पूत कमाल।'

इनके नाम पर चलनेवाले कुछ पद संग्रह-ग्रन्थों में मिल जाते हैं। परन्तु इनकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है। इन पदो में वारकरी सम्प्रदाय के भक्तों के प्रति इनकी निष्ठा प्रतीत होती है। इनकी समाधि मगहर में कबीरजी की समाधि के पास ही है।

दादूदयाल : राजपूताना के प्रसिद्ध सन्त दादूदयाल (1544-1602 ई.) का सम्बन्ध कमाल से जोड़ा जाता है। इनका जन्म-स्थान अहमदाबाद बताया जाता है, परन्तु अहमदाबाद में इनका कोई स्मारक नही मिलता। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण वंश में उत्पन्न बताते हैं और कुछ लोग धुनिया वंश में। पं. सुधाकर द्विवेदी ने इनको मोची वंश में उत्पन्न बताया था। धुनियावाली प्रसिद्धि अधिक प्रामाणिक जान पड़ती है। बंगाल के बाउल सन्तों में प्रसिद्ध दादू-वन्दना के एक पद के आधार पर आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अनुमान किया है कि इनका नाम दाऊद था जो बाद में चलकर दादू हो गया। इनके सम्प्रदाय में यही विश्वास किया जाता है कि ये ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि 11 वर्ष की अवस्था में किसी अज्ञात सन्त से इन्हे दीक्षा प्राप्त हुई और 18 वर्ष में इनका फिर से साक्षात्कार हुआ। सम्प्रदाय में इस अज्ञात गुरु का नाम बुड्ढन या वृद्धानन्द बताया जाता है। तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने साँभर में ब्रह्म सम्प्रदाय की स्थापना की। इनके दो पुत्र गरीबदास और मिसकीनदास थे, जिनमें गरीबदास अच्छी कविता करते थे। 1584 ई. मे, कहते हैं कि, सम्राट् अकबर ने दादू को फतहपुर सीकरी में बुलाकर सत्संग किया था जो चालीस दिन तक चलता रहा।

दादूदयाल की वाणियों का संग्रह पहले तो इनके दो शिष्यों सन्तदास और

जगन्नदास ने 'हरड़े बानी' नाम देकर किया था, फिर रज्जबजी ने 'अंग वन्धु' नाम देकर इसका नये सिरे से सम्पादन किया। दादू की वाणियाँ अपने सहज-मधुर गुणों के आकर्षण के कारण बराबर लोकप्रिय बनी रहीं। स्व. महामहोपाध्याय पं. सुधाकर द्विवेदी, रायसाहब चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, राय दलगंजन सिंह, आचार्य क्षितिमोहन सेन आदि विद्वानों ने समय-समय पर इन वाणियों का सम्पादन किया है। इधर हाल में स्वामी मंगलदास के सम्पादकत्व में उन वाणियों का एक सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित हुआ है। दूसरी रचना 'काया वेलि' है जिसमें साढ़े तीन सौ से अधिक पद हैं।[1]

दादू का व्यक्तित्व और साहित्य : दादू तुलसीदास के समकालीन थे। वे कबीरदास के मार्ग के अनुगामी थे। उनकी उक्तियों में बहुत-कुछ कबीरदास की छाया है। फिर भी वे वही नहीं थे जो कबीरदास थे। सम्भवतः समाज के निचले स्तर से उनका भी आविर्भाव हुआ था, जन्मगत अवहेलना को लेकर इनका भी विकास हुआ था, पर उस युग तक कबीर का प्रवर्तित निर्गुणमतवाद काफी लोकप्रिय हो गया था। नीच कही जानेवाली जातियों में उत्पन्न महापुरुषों ने अपनी प्रतिभा और भगवन्निष्ठा के बल पर समाज के विरोध का भाव कम कर दिया था। दादू ने शायद इसीलिए परम्परा समागत उच्च-नीच विधान के लिए उत्तरदायी समझी जानेवाली जातियों पर उस तीव्रता के साथ आक्रमण नहीं किया जिसके साथ कबीर ने किया था। इसके सिवा उनके स्वभाव में भी कबीर के मस्तानेपन के बदले विनयमिश्रित मधुरता अधिक थी। सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रूढ़ियों और साधना-सम्बन्धी मिथ्याचारों पर आघात करते समय दादू कभी उग्र नहीं होते। अपनी बात कहते समय वे बहुत नम्र और प्रीत दिखते हैं। अपने जीवनकाल में ही वे इतने प्रख्यात हुए थे कि सम्राट् अकबर ने उन्हें सीकरी में बुलाकर चालीस दिन तक निरन्तर सत्संग किया था, फिर भी दादू के पदों में अभिमान के भाव बिल्कुल नहीं हैं। उन्होंने बराबर इस बात पर जोर दिया है कि भक्त होने के लिए नम्र, शीलवान, अफलाकांक्षी और वीर होना चाहिए। कायरता उनके निकट साधना की सबसे बड़ी शत्रु है। वही साधक हो सकता है जो वीर हो, सिर उतारकर रख सके। कबीर (क—बीर) अपना सिर काटकर ('क' अक्षर छोड़कर) ही वीर हो सके थे। जो साहस के साथ मिथ्याचार का विरोध नहीं कर सकता वह वीर भी नहीं, वह वीर साधक भी नहीं। दादू के इस

1. दादूदयाल के मुद्रित ग्रन्थ—(1) पदसंग्रह, ब्रह्मविद्या प्रचार कार्यालय, लाहौर; (2) दादूदयाल की बानी, का. ना. प्र. सभा, 1905; (3)—की बानी, चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, अजमेर, 1905; (4)—की बानी, बेलवेडियर, इलाहाबाद 1918; (5)—के शब्द, सुधाकर द्विवेदी, ना. प्र. सभा, बनारस, 1907; (6)—की साखियाँ, खानापुर, 1918; (7)—कलबल, सहारनपुर, 1925; (8)—की बानी, स्वामी मङ्गलदासजी, जयपुर, 1951; (9)—नागाक्षरों में बँगला अनुवाद के साथ (क्षितिमोहन सेन), शान्तिनिकेतन, 1934।

कथन का बेढंगा अर्थ करके बाद के उनके शिष्यों का एक दल (नागा) केवल लड़ाकू ही रह गया।

कबीर की भाँति दादू ने भी रूपकों का कहीं-कहीं आश्रय लिया है, पर अधिक नहीं। अधिकांश में उनकी उक्तियाँ सीधी और सहज ही समझ में आ जाने लायक होती है। उनके पदों में जहाँ निर्गुण, निराकार, निरंजन को व्यक्तिगत भगवान् के रूप में उपलब्ध किया गया है वहाँ वे कवित्व के उत्तम उदाहरण हो गये है। ऐसी अवस्था में प्रेम का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है कि बरबस सूफी भावापन्न कवियों की याद आ जाती है। सूफियों की भाँति इन्होंने भी प्रेम को ही भगवान् का रूप और जाति बताया है। विरह के पदों में, सीमा का असीम से मिलने के लिए तड़पना सहृदय को मर्माहत किये बिना नहीं रह सकता।

भाषा उनकी यद्यपि पश्चिमी राजस्थानी से मिली हुई परिमार्जित हिन्दी है तथापि उसमें गजब का जोर है। स्थान-स्थान पर प्रकृति का जो वर्णन उन्होंने किया है, वह देखने ही योग्य है। भाषा में किसी प्रकार का काव्यगुण आरोप नहीं किया गया, छन्दों का नियम प्रायः भंग होता रहता है, फिर भी अपने स्वाभाविक वेग के कारण वह अत्यन्त प्रभावजनक हुई है।

कबीर की भाँति दादूदयाल भी जिन पाठकों को उद्देश्य करके लिखते हैं, वे साधारण कोटि के अशिक्षित आदमी है। उनके योग्य भाषा लिखने में दादू को स्वभावतः ही सफलता मिली है; क्योकि वे स्वयं भी कोई पण्डित नहीं थे, और जो कुछ कहते थे, अनुभव के बल पर कहते थे। उनके पदो मे मुसलमानी साधना के शब्द भी अधिक प्रयुक्त हुए है। वे स्वयं जन्म से मुसलमान हों या न हों, मुस्लिम उपासना-पद्धति के संसर्ग में आ चुके थे, फिर भी उनका मत अधिकतर हिन्दू भावापन्न था। कबीर के समान मस्तमौला न होने के कारण वे प्रेम के वियोग और संयोग के रूपकों में वैसी मस्ती तो नहीं ला सके हैं, पर स्वभावतः सरल और निरीह होने के कारण ज्यादा सहज और पुरअसर बना सके हैं। कबीर का स्वभाव एक तरह के तेज से दृढ़ था, और दादू का स्वभाव नम्रता से मुलायम। कबीर के लिए उनका स्वभाव बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ; क्योंकि उन्हें अपने रास्ते के बहुत-से झाड़-झंखाड़ साफ करने थे। दादू को मैदान बहुत-कुछ साफ मिला था और उसमे उनके मीठे स्वभाव ने आश्चर्यजनक असर पैदा किया। यही कारण है कि दादू को कबीर की अपेक्षा अधिक शिष्य और सम्मानदाता मिले। पर जीवन में कहीं भी दादू कबीर के महत्त्व को न भूल सके और पद-पद पर कबीर का उदाहरण देकर साधना-पद्धति का निर्देश करते रहे।

सुन्दरदास तथा अन्य शिष्य : दादू के शिष्यों में सुन्दरदास सर्वाधिक शास्त्रीय ज्ञानसम्पन्न महात्मा थे। बहुत छोटी उमर में उन्होंने दादू का शिष्यत्व ग्रहण किया था। बाद में काशी में आकर बहुत दीर्घकाल तक शास्त्राभ्यास किया था। इसका परिणाम यह हुआ था कि उनकी कविता के बाह्य उपकरण

शास्त्रीय दृष्टि से कथंचित् निर्दोष हो सके थे, पर वक्तव्य विषय का स्वाभाविक वेग, जो इस जाति के सन्तों की सबसे बड़ी विशेषता है, कम हो गया। विषय अधिकांश में संस्कृत ग्रन्थों से संगृहीत तत्त्ववाद है जो हिन्दी कविता में नयी चीज होने पर भी शास्त्रीय ज्ञान रखनेवाले सहृदयों के लिये विशेष आकर्षक नहीं है। छत्रबन्ध आदि प्रहेलिकाओं से भी उन्होंने अपने काव्य को सजाने का प्रयास किया है। असल में सुन्दरदास सन्तों में अपने बाह्य उपकरणों के कारण विशेष स्थान के अधिकारी हो सके हैं। फिर भी इस विषय में तो कोई सन्देह नहीं कि शास्त्रीय ढंग के वे एकमात्र निर्गुणिया कवि हैं।

सुन्दरदास का अनुभव विस्तृत था, देशदेशान्तर घूमा हुआ था। जब कभी वेदान्त का तत्त्वज्ञान छोड़कर ये अन्य विषयों पर लिखते थे, तब निस्सन्देह रचना उत्तम कोटि की होती थी। कुछ लोगों का अनुमान है कि सुन्दरदास एकमात्र ऐसे निर्गुणिया साधक थे, जिन्होंने सुशिक्षित होने के कारण लोकधर्म की उपेक्षा नहीं की है। लेकिन यह भ्रम है। कबीर, दादू आदि सन्तों ने पतिव्रता के अंगों में पति-व्रता धर्म का खूब बखान किया है। साधना में भक्त को भी इस व्रत का पालन करने का विधान किया है और वीरों का सम्मान तो दादू से अधिक अन्यत्र दुर्लभ ही है। दादू के 152 मुख्य शिष्य बताये जाते हैं। उनके पुत्र गरीबदास (1579-1636 ई.) इन्हीं के शिष्यों में है। जनगोपालजी ने 'दादू की जन्मलीला' में और राघवदास ने अपने 'भक्तमाल' में इन्हें दादू का पुत्र कहा है। परन्तु गरीब-दासजी की वाणियों के सम्पादक स्वामी मंगलदास का मत है कि ये दादूदयाल के पुत्र नहीं बल्कि पोष्य पुत्र थे; क्योंकि अपनी वाणियों में इन्होंने दादू को गुरु ही कहा है, पिता या जनक नहीं। इनकी वाणियों में अनभय प्रबोध साखी, चौबोले और पद हैं। दादू के शिष्यों में 'सर्वङ्ग बावनी' के लेखक भीखनजी भी अपनी रचनाओं के लिए विख्यात हैं। रज्जबजी ने अपनी 'सर्वंगी' में और जगन्नाथजी ने 'गुणगंजनामा' में एक वाजिदजी नामक दादू के शिष्य की चर्चा की है, जिनकी थोड़ी-सी रचनाएँ प्राप्त हैं।

दादू के साहित्यिक शिष्य : पर साहित्यिक दृष्टि से दादू के शिष्यों में सर्वाधिक उल्लेख्य तीन ही हैं—रज्जबजी, जगन्नाथजी और सुन्दरदास। इनमें भी रज्जबदास निश्चय ही दादू के शिष्यों में सबसे अधिक कवित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। उनकी भाषा में भी राजस्थानीपन और मुसलमानीपन अधिक है, तथाकथित शास्त्रीय काव्यगुण का उसमें अभाव है, फिर भी एक आश्चर्यजनक विचार-प्रौढ़ता, वेगवत्ता और स्वाभाविकता है। और लोग जिसको कई पद में कहते हैं, रज्जब उस तत्त्व को सहज ही छोटे दोहे में कह जाते हैं। उनके वक्तव्य विषय भी वही हैं जो साधारणतः निर्गुण भावापन्न साधकों के होते हैं, पर साफ और सहज अधिक।

दादूदयाल की शिष्य-परम्परा में और भी अनेक सन्त हुए जो कविता करते थे, पर उनकी 'कविता' कविता का स्थान नहीं पा सकी। जगजीवन साहब इसी

परम्परा में हुए थे जिन्होंने सतनामी सम्प्रदाय चलाया। इनकी 93 बानियाँ भी साधारण कोटि की हैं।

जम्भनाथ : बिस्नोई सम्प्रदाय के संस्थापक जम्भनाथ (1451-1535 ई.) जोधपुर के नागौर इलाके के पयासर गाँव के रहनेवाले थे। इनकी रचनाओं में योग, अजपाजाप आदि बातों की प्रधानता है।

सिंगाजी : मध्यप्रदेश के बड़वानीप्रदेश के खूजर गाँव में सन्त सिंगाजी (1519-59 ई.) का जन्म हुआ था। ये भामागढ़ के राजा के पत्रवाहक थे और एक रुपया वेतन पाते थे। एक बार मनागीरजी के भजनों को सुनकर उनकी ओर आकृष्ट हुए। इनकी रचनाओं का एक छोटा-सा संग्रह खण्डवा से प्रकाशित हुआ है।

हरिदास निरंजनी : श्री हरिदास निरंजनी (सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और सत्रहवीं का पूर्वार्द्ध) निरंजनी सम्प्रदाय के संस्थापक थे। ये कई सम्प्रदायों में दीक्षित होकर नाना प्रकार की साधनाओं का अनुभव कर चुके थे। पहले ये दादू के शिष्य प्रागदास (मृत्यु 1613 ई.) के शिष्य थे, फिर कबीरपन्थ की ओर आकृष्ट हुए और अन्त में नाथ सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुए। इसके बाद इन्होंने निरंजनी सम्प्रदाय की स्थापना की। इस सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि ये डिण्डवाड़ा के क्षत्री थे। 43 वर्ष तक गृहस्थ रहकर नाथ सम्प्रदाय मे दीक्षित हुए। सन् 1643 ई. मे इनकी मृत्यु बतायी जाती है। श्री हरिपुरुपजी ने इनकी रचनाओं का सम्पादन किया है। इनके शिष्य-प्रशिष्यों में कई अच्छे साहित्यिक हो गये है। ये स्वयं भी अच्छी कविता लिख लिया करते थे। इनकी रचनाओं का एक नमूना यह है :

सखी हो मास बसंत विराजै।
गोपी ग्वाल घेरि गोकुल में वेणु मधुर ध्वनि बाजै।
भागे सुरत पाँच नग गुथ्या, मन मोती मधि आया।
विकसत कमल परमनिधि प्रगटत हरि कूँ हार चढ़ाया।
गरब गुलाब चरणतल चुरिया, अगर अबीर खिड़ाया।
परमल प्रीत परसि परि पूरन विवु में प्राण समाया।
अंक नालि निहचल नव निरभय ए कौतूहल भारी।
जन हरिदास आनंद निज नगरी, खेलै फाग मुरारी।

सिख गुरुओं का साहित्य

गुरु नानकदेव : मध्ययुग के जिन महात्माओं ने भारतीय धर्म-साधना और समाज-व्यवस्था को गम्भीर भाव से प्रभावित किया है, उनमे गुरु नानकदेव का स्थान प्रमुख है। इनका जन्म सं. 1526 (1469 ई.) की अक्षय तृतीया को पंजाब के राईभोई के तलवण्डी नामक ग्राम में हुआ था, जो अब ननकानासाहेब कहलाता है और पश्चिमी पाकिस्तान में पड़ गया है। इनका स्वर्गवास सं. 1595

अर्थात् 1538 ई. में हुआ था। ये परवर्ती मध्यकाल के अत्यन्त प्रभावशाली सिख सम्प्रदाय के मूलप्रवर्त्तक हैं। दो कारणों से यह सम्प्रदाय हिन्दी साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करता है। प्रथम तो यह कि सिख-परम्परा में नानकदेव के बाद नौ और गुरु हुए हैं। इन दसों गुरुओं ने न केवल स्वयं भक्तिभाव के भजन लिखे हैं, बल्कि सम्प्रदाय के अन्य भक्तों को भी इस प्रकार की साहित्यसेवा के लिए प्रोत्साहित किया है। इस प्रकार आत्मबल और चारित्र्य-शुद्धि की प्रेरणा देनेवाले साहित्य की सर्जना करके इन गुरुओं ने हिन्दी को अमूल्य निधि दी है। दूसरा कारण यह है कि जब दसवें गुरु गोविंदसिंह ने गुरु-परम्परा समाप्त की तो उन्होंने उसके स्थान पर 'गुरुग्रन्थसाहब' को प्रतिष्ठित किया। इस महान् ग्रन्थ का सम्पादन बड़े परिश्रम के साथ किया गया। इसमें दसों गुरुओं की वाणियाँ तो संगृहीत हैं ही, नानक के पूर्ववर्त्ती अन्य सन्तों की भी वाणियाँ परिश्रमपूर्वक संगृहीत हुई हैं। 'गुरुग्रन्थसाहब' में जो वाणियाँ संगृहीत हुई हैं उनको बड़े यत्न से सुरक्षित रखा गया है। उसके एक अक्षर या मात्रा का भी इधर-उधर नहीं हुआ है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय के गुरुओं ने प्राचीनतर सन्तों की वाणियाँ हमें दी हैं, तथा हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी आज निश्चिन्त होकर कह सकता है कि आज से चार सौ वर्ष पहले नानक-पूर्व सन्तों की वाणियाँ किस रूप में प्रचलित थीं। 'गुरुग्रन्थ-साहब' केवल धर्मसाधकों के लिए ही परमनिधि नहीं है, वह हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए भी अपूर्व रत्न-भण्डार है। इस ग्रन्थ में गुरु नानकदेव की वाणियाँ भी संगृहीत हैं।

आदिग्रन्थ के अन्तर्गत महला नामक प्रकरण में नानकदेव की वाणियाँ हैं और शब्द अर्थात् गेय पद, तथा सलोक (श्लोक) अर्थात् दोहाबद्ध साखियाँ मिलती हैं। इनके अतिरिक्त इसमें गुरु नानकदेव की अन्य रचनाओं—'जपुजी', 'आसादीवार', 'रहिरास' और 'सोहिला'—का भी संग्रह है।

इनकी विशेषता : गुरु नानकदेव के भजनों में निरीह भक्ति-निर्भर सन्त का जीवन प्रतिफलित हुआ है। विचारों में उनका मत कबीर आदि निर्गुणिया सन्तों के मत से मिलता-जुलता है, लेकिन न तो इन भजनों में कबीर का अक्खड़पन है और न खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति। नानक कबीर की भाँति समाज के निचले स्तर से नहीं आये थे, इसलिए उनकी उक्तियों में भुक्तभोगी की तीव्रता नहीं है। अत्यन्त सहज, उदार भाव ही उनकी उक्तियों का प्रधान आकर्षण है। जाति-पाँति, छुआछूत और बाह्याचारों के प्रति आक्रमण का भाव उनकी उक्तियों में भी है। किन्तु यह आक्रमण प्रधान रूप से बौद्धिक है, कबीर के समान अनुभूतिजन्य नहीं है, विनय और मृदुता में उनकी तुलना भक्तवर रैदास के साथ की जा सकती है। परन्तु यदि उनके भक्तों की त्याग-भावना, दुःख बर्दाश्त करने की शक्ति और अपार धैर्य को देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि जैसी अद्भुत प्रेरणादायिनी शक्ति इनकी वाणियों ने दी है, वैसी मध्ययुग के किसी अन्य सन्त की वाणियों ने नहीं दी है। इतिहास साक्षी है कि सिख भक्तों को दीवार में चुन दिया गया है, फाँसी पर

लटका दिया गया है और जितनी प्रकार की अमानुषिक पीड़ाएँ दी जा सकती हैं सब दी गयी है और फिर भी इन भक्तों ने निराशा या पराजय का भाव नहीं दिखाया। जिन वाणियों से मनुष्य के अन्दर इतना बड़ा अपराजेय आत्मबल और कभी समाप्त न होनेवाला साहस प्राप्त हो सकता है, उनकी महिमा निस्सन्देह अतुलनीय है। सच्चे हृदय से निकले हुए भक्त के अत्यन्त सीधे उद्गार और सत्य के प्रति दृढ़ रहने के उपदेश कितने शक्तिशाली हो सकते हैं, यह नानक की वाणियों ने स्पष्ट कर दिया है। इनकी भाषा में किसी प्रकार का घुमाव या जटिलता नहीं है। बहुत ही सीधी-सादी भाषा और बहुत ही निर्मल प्रतिपादन-शैली—यही नानक की रचनाओं की विशेषता है। उनकी निरीहता में कोई हीनता-ग्रन्थि नहीं है, विरुद्ध पड़नेवाले विचारों के प्रति कोई हिंसा का भाव नहीं है, और जो लोग सत्य मार्ग से विचलित है उनके लिए घृणा का भाव भी नहीं है। उनकी सभी वाणियों में एक बात प्रमुख रूप से आयी है—जो भी सुनना चाहे उसे वे सुना देना चाहते हैं कि ऐ मनुष्य, तुझे बड़े पुण्य से मनुष्य का शरीर प्राप्त हुआ है, उसे व्यर्थ के मिथ्याचारों में फँसकर यों ही न गँवा दे :

रैण गँवाई सोइ कै, दिवसु गवांइआ खाइ।
हीरे जैसा जनमु है, कउड़ी बदले जाइ।

जीवन की सार्थकता वे भगवान् के नामस्मरण और निरन्तर ध्यान में मानते थे। जिसे यह महान् तत्त्व प्राप्त हो गया है उसके लिए किसी भी अन्य तत्त्व की आवश्यकता नहीं है। और सारी बातें गौण हैं, मुख्य है भगवान् का भजन। इसी परम तत्त्व को पाने के कारण संसार की समस्त पीडाएँ और यातनाएँ विफल हो जाती हैं। नानक और उनके अनुयायियों ने इस परम सत्य को पा लिया था।

शेख फरीद : नानक के समकालीन और अनुवर्ती सन्तों में कुछ का नाम साहित्यिक इतिहास में भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इनमें शेख फरीद हैं जिनका दूसरा नाम शाह ब्रह्म या इब्राहीम शाह बताया जाता है। इनके 130 सलोक (दोहे) और चार पद सिखों के आदिग्रन्थ में संगृहीत है। 130 दोहों में से 18 तो विभिन्न गुरुओं के साथ फरीद के संवाद के रूप में हैं और बाकी 112 उनके रचित जान पड़ते हैं। इधर पंजाबी साहित्य के आलोचकों में यह विवाद छिड़ा हुआ है कि शेख फरीद कौन थे। कुछ लोग तो उन्हें बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के शेख फरीदुद्दीन (मसूद गंज-ए-शकर) मानते हैं और कुछ दूसरे लोग इन्हें शेख इब्राहीम से अभिन्न समझते हैं। शेख फरीद के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा सुरक्षित साहित्य में इन सलोकों को न देखकर पंजाबी साहित्य के आलोचकों ने इनकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह उपस्थित किया है, लेकिन संवादमूलक उक्ति-प्रत्युक्तियों के द्वारा स्पष्ट है कि 'गुरुग्रन्थसाहब' के सम्पादकों ने इनको गुरु नानक और परवर्ती गुरुओं का समकालीन ही समझा था। पंजाब के बाहर कभी इस प्रकार का वाद-विवाद नहीं सुना गया; क्योंकि हिन्दी साहित्य के आलोचक यह बराबर ही विश्वास करते रहे है कि 'गुरुग्रन्थसाहब' वाले शेख फरीद बाबा

फरीद से भिन्न थे। इस विश्वास का कारण मेकालिफ साहब का वह बयान है जिसमें उन्होंने 'खुलासातु तवारीख़' के आधार पर इनका मृत्युकाल 960 हिजरी अर्थात् 1548 ई. दिया है। ये बारहवीं-तेरहवीं शताब्दीवाले बाबा फरीद की परम्परा में पड़ते हैं, इसलिए फरीदसानी कहलाते थे। यही जब पाकपत्तन में रहते थे तो शेख इब्राहीम कहलाते थे। कहते हैं, दो बार गुरु नानक इनसे मिले थे। गुरु शेख के सलोकों और भजनों में शरीर की नश्वरता और भगवान् के भजन की उपादेयता के उपदेश हैं। कबीर आदि सन्तों में जो लौकिक शैली में पारलौकिक प्रेम को व्यक्त करने का प्रचलन है, वह फरीद के सलोकों में भी मिलता है। बड़ी आसानी से ऐसे सलोकों की तुलना 'ढोला-मारू' के दोहों में पाये जानेवाले शृंगारी दोहों से की जा सकती है। एक उदाहरण यह है :

काग़ा करंग ढढोलिया, सगला खाइया माँसु।
ए दुई नयना मति छुअहु, पिव देखनु की आसु॥

वस्तुतः उस काल के लौकिक प्रेम-काव्यों को इन सन्तों ने कौशलपूर्वक भगवद्-विषयक बना दिया है। कबीर के नाम पर मिलनेवाले अनेक दोहे 'ढोला मारू' में पाये जाते हैं। इनकी व्याख्या यही है कि इस प्रकार के लौकिक प्रेम के दोहे पश्चिमी भारत में उन दिनों प्रचलित थे, सन्तों ने इनकी लोकप्रियता देखकर उन्हें इस प्रकार मोड़ने का प्रयत्न किया कि वे भगवद्-विषयक बन गये।

गुरु अंगद : सिख गुरुओं में गुरु अंगद (जन्म 1504 ई.) अच्छे कवि हुए हैं। यह पहले शक्ति के उपासक थे, बाद में किसी से आसादीवार की कुछ सुन्दर पंक्तियाँ सुनकर गुरु नानक के प्रति अनुरक्त हो गये और उनके शिष्य हो गये। इन्होंने ही गुरु नानक की रचनाओं को एकत्र कराया, गुरुमुखी अक्षरों का संस्कार किया और लंगर द्वारा अतिथि-सत्कार की प्रथा चलायी। आदिग्रन्थ में इनके कुछ सलोक या दोहे संगृहीत हैं। इनकी रचनाओं मे सदाचार, भगवत्प्रेम और गुरुभक्ति का भाव है। इनकी मृत्यु सं. 1609 अर्थात् 1548 ई. में हुई।

गुरु अमरदास : तीसरे गुरु अमरदास (1479-1574 ई.) भी पहले वैष्णव थे और बाद में गुरु अंगद की कन्या से (जो उनके भतीजे से ब्याही हुई थी) गुरु नानक का एक पद सुनकर उनकी ओर आकृष्ट हुए और गुरु अंगद की सेवा मे उपस्थित हुए। गुरु अंगद के समान ही यह भी बड़े विनीत और मधुर स्वभाव के थे। इनकी रचनाएँ भी 'गुरुग्रन्थसाहब' में संगृहीत हैं जिनमें रामनाम की महिमा, गुरु का महत्त्व और अहंकार की अनर्थकारिता प्रकट हुई है।

गुरु रामदास : चौथे गुरु रामदास (1514-1581 ई.) की रचनाएँ भी आदिग्रन्थ के चौथे महला में संगृहीत हैं। इनकी रचनाओं की संख्या अधिक जान पड़ती है। इनकी रचनाओं में कान्ताभाव के भजन है जो कभी-कभी सूरदास आदि सगुण और मधुर भाव के उपासकों की रचनाओं के साथ तुलनीय हो सकते हैं। इनमें तन्मयता और आत्म-समर्पण के भाव भरे पड़े हैं; उदाहरणार्थ,

आनन्दघन : सत्रहवीं शताब्दी में आनन्दघन नाम के एक जैन सन्त कवि हो गये हैं जिनकी कई पुस्तकें (जैन धर्म-सम्बन्धी) प्राप्त हुई हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अन्तिम वयस में ये निर्गुण मार्ग की ओर प्रवृत्त हुए थे। 'आनन्दघन चौबीसी' और 'आनन्दघन बहोत्तरी' में इसी निर्गुण भाव के भजन हैं। परन्तु इन दोनों में ही और सन्तों की भी वाणियाँ मिल गयी हैं।

मलूकदास : मलूकदास नाम के एक सन्त (1574-1682 ई.) हुए हैं जिनकी गद्दियाँ कड़ा जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नेपाल और काबुल तक में स्थापित हुई थीं। इनकी दो पुस्तकें 'रत्नखान' और 'ग्यानबोध' पहले से प्राप्त हैं। प्रसिद्ध है कि इन्होंने नौ पुस्तकों की रचना की थी। लखनऊ विश्वविद्यालय के डा. त्रिलोकी नाथ दीक्षित ने इनकी कई अप्रकाशित रचनाओं का पता लगाया है। बेलवेडियर प्रेस ने इनकी फुटकल वाणियों का एक संग्रह भी प्रकाशित किया है। इनकी रचनाओं में प्रायः वही सब बातें हैं जो अन्य सन्त कवियों ने लिखी हैं, यद्यपि इनके सम्प्रदाय का तत्त्ववाद अन्य सम्प्रदायों के तत्त्ववाद से कुछ भिन्न है। भाषा में प्रवाह है और अन्य सन्तों की भाषा के समान सधुक्कड़ी वृत्ति का आधिक्य नहीं है।

अक्षर अनन्य : सत्रहवीं शताब्दी के मध्यभाग में अक्षर अनन्य नामक एक प्रतिभाशाली सन्त वर्त्तमान थे। ये पहले दतिया के राजा पृथ्वीचन्द के दीवान थे। इनका जन्म-स्थान दतिया राज्य के अन्तर्गत सेनुहरा गाँव बताया जाता है। विरक्त होकर ये साधु हो गये। योग और वेदान्त पर इनके कई ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। 'राजयोग', 'विज्ञानयोग', 'ध्यानयोग', 'सिद्धान्तबोध', 'विवेकदीपिका', 'अनन्यप्रकाश' आदि इनकी पुस्तकें हैं। इनमें वैराग्यमूलक धर्म का उपदेश है और संसारसागर से तरने के लिए योग और भजन का उपदेश है।

सन्त तुरसी : निरंजनी सम्प्रदाय के सन्त तुरसीदास (सत्रहवीं शताब्दी) की रचनाएँ राजपूताने में बहुत प्राप्त होती हैं। इनकी रचनाओं में निरंजनी सम्प्रदाय की बातें कही गयी हैं; गुरु, साधु और भगवान् की सेवा का उपदेश दिया गया है और मनुष्य जन्म को भजन के द्वारा चरितार्थ करने की सलाह दी गयी है।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में यारी साहब नामक मुस्लिम सन्त हुए, जिनकी 'रत्नावली' नामक रचना में अध्यात्म-योग और सन्त-साहित्य की अन्यान्य परिचित बातों का उपदेश है। उदाहरणार्थ,

बाजत अनहद बाँसुरी तिरवेनी के तीर।
राग छतीसो होइ रहे गरजत गगन गंभीर ॥

धरणीदास गुलाल साहब : इसी समय बिहार में बाबा धरणीदास नामक सन्त हुए जिनकी 'प्रेम प्रगास' और 'रत्नावली' नाम की पुस्तकें प्राप्त हुई हैं, फिर गाजीपुर जिले के बूला साहब हुए जिनकी कुछ फुटकल रचनाएँ और 'शब्दसागर' नामक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ [illegible] गुलेशाह हुए, जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि ये पहले बसन्त के बादशा[illegible] [illegible] मिर्या

मीर से मिलकर फकीर हुए। इनकी साधना-भूमि कसूर में थी। इनकी रचनाओं में सूफियाना भाव है और भाषा में फारसी का मिश्रण है। इसी समय गाजीपुर के वसहर तालुका के सन्त गुलाल साहब हुए और बाराबकी जिले के सरघा गाँव में चन्देल वंश में उत्पन्न जगजीवनदास हुए, जिन्होंने सतनामी सम्प्रदाय चलाया।

दूलनदास, गरीबदास : इनके शिष्यों में सबसे प्रसिद्ध दूलनदास है जिनकी थोड़ी-सी वाणियाँ प्राप्त हुई है। फिर गरीबदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्त गरीबदास और बिहारवाले दरियादास और मेवात के सन्त चरणदास हुए, जिनकी वाणियाँ सन्त-साहित्य के परिचित विषयों से ही भरी पड़ी है। इसी काल मे शिवनारायणी सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रसिद्ध सन्त शिवनारायण हुए।

चरणदास : चरणदास की शिष्या दयाबाई और सहजोबाई भी अपनी रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। ये दोनों ही अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वर्त्तमान थी। इन दोनों महिलाओं की रचनाओं में गुरुभक्ति और भगवत्प्रेम का वर्णन है।

सन्तमत में गतानुगतिकता : अठाहरवी शताब्दी के सन्त-कवियों में गतानुगतिकता की मात्रा बढ़ती गयी और सम्प्रदाय-स्थापना की स्पर्द्धा उत्तरोत्तर चढ़ाव पर ही रही। जो सन्त-काव्य जगत् के समस्त आडम्बरों को ध्वस्त करके सहज भगवत्प्रेम का पथ प्रशस्त करने का व्रत लेकर चला था, वह अन्त तक साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता, निरर्थक प्रहेलिका-क्रीड़ा और व्यर्थ के शब्दजाल का शिकार हो गया। अठारहवी शताब्दी के अन्त तक उसकी क्रान्तिकारी भावना समाप्त हो गयी और वह भी अन्य निहित स्वार्थवाले मठों के समान, अपने ही बनाये हुए बन्धनों में क्रमशः जकड़ता गया। जिन लोगो ने माया को ललकारने का साहस किया था, उनके अनुयायी माया के घरौंदों मे बन्द हो गये। आखिरी खेवे के सन्तों मे भक्ति-भावना और धर्मबुद्धि की मात्रा कितनी थी, यह बता सकना कठिन है। पर सहज मार्ग पर पड़ी रहनेवाली गन्दगी को दूर करके सहज सत्य तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करने के लिए जिस श्रेणी के साहसिक मनोभाव की आवश्यकता होती है, वह क्रमशः क्षीण होता गया और इसीलिए वे ऐसे साहित्य की सृष्टि न कर सके जो मनुष्य को नया आलोक देता है और कठिनाइयों और विपत्तियों से जूझने की प्रेरणा देता है। यह साहित्य केवल शाब्दिक मायाजाल प्रस्तुत करता है और मनुष्य की स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति को रुद्ध करता है। कम सन्तों की वाणियों मे बँधी-सधी बोलियों के बाहर की बात मिलेगी; सबमें एक ही वक्तव्य विषय, एक ही शब्दावली, एक ही शैली मे बार-बार दुहराया गया है। कबीर, दादू और नानक की रचनाओ में जो ताजगी है वह यहाँ आते-आते समाप्त हो जाती है और सामाजिक मंगलभावना की जो तड़पन आरम्भिक रचनाओं में मिलती है, वह एकाएक गायब हो जाती है। अठारहवी शताब्दी के अन्त तक आकर सन्तों का क्रान्तिकारी साहित्य केवल निरर्थक रूढ़ियों और भाराक्रान्त पदावलियों की भूल-भुलैया-भर रह जाता है।

ह्रास का कारण : क्यों ऐसा हुआ ? अत्यन्त शक्तिशाली महात्माओं के

उपदेश 'उत्साह के दबते ही' क्यों इस प्रकार निष्प्रभ हो गये ? यह प्रश्न केवल साहित्य के विद्यार्थी को ही विचलित नहीं करता, इस देश के समाजशास्त्र के विद्यार्थी को भी उलझन में डाल देता है। कबीरदास रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करने की अपार शक्ति लेकर पैदा हुए थे, पर उन्हीं के पन्थ के परवर्त्ती साहित्य का क्या हुआ ? जिस धर्मवीर ने पीर, पैगम्बर, औलिया आदि के भजन-पूजन का निषेध किया था, उसी की पूजा चल पड़ी; जिस महापुरुष ने संस्कृत को कूपजल कहकर भाषा के बहते नीर को बहुमान दिया था, उसी की स्तुति में आगे चलकर संस्कृत भाषा में अनेक स्तोत्र लिखे गये और जिसने बाह्याचारों के जंजाल को भस्म कर डालने के लिए अग्नि-तुल्य वाणियाँ कहीं, उसकी उन्हीं वाणियों से नाना बाह्याचारों की क्रियाएँ सम्पन्न की जाने लगीं। इससे बढ़कर आश्चर्य क्या हो सकता है ? कबीरोपासना-पद्धति में सोने का, उठने का, बैठने का, दिशा जाने का, तुम्बा धोने का, हाथ मटियाने का, धोने का, दातून करने का, जल में पैठने का, स्नान करने का, दर्पण करने का, चरणामृत देने और लेने का, जल पीने का, घर बुहारने का, चूल्हे में आग डालने का, परसने का, अँचाने का तथा अन्य अनेक छोटे-मोटे कर्मों का मन्त्र दिया गया है; टोपी लगाने का, दीपक बारने का, आसन लगाने का, कमर कसने का, रास्ता चलने का सुमिरन दिया हुआ है। ये मन्त्र 'बीजक' आदि ग्रन्थों की वाणियों से लिये गये हैं। आवश्यकतानुसार उनमें थोड़ा-बहुत घटा-बढ़ा लेने में विशेष संकोच नहीं अनुभव किया गया। नयी वाणियाँ भी जरूरत पड़ने पर बना ली गयी हैं। इस प्रकार दातून करने का मन्त्र यह है :

सत्त की दातौन संतोप की झारी।
सत्त नाम ले घसो विचारी।
किया दातौन भया परकास।
अजर नाम गहो विश्वास।
अमी नाम ले पहुँचे आय।
कहै कबीर सब लोक सिधाय।

चूल्हे में आग देने का मन्त्र इस प्रकार है :

चूल्हा हमारे चौहटे सब घर तपे रसोई।
सत्त-सुकृत भोजन करें हम को छूत न होई।

थारी परसने का मन्त्र :

चंदन चौका कंचन थारी। हीरालाल पदुम की झारी।
बहुत भाँति जेवनार बनाये। प्रेम प्रीति सों पारस कराये।
सत सुहेला भोजन पायो। सत्त सुकृति सत्त नाम गुसाईं।

वह कौन-सी वस्तु है जो अनुयायियों को अपने गुरु के उपदेशों के प्रतिकूल चलने को बाध्य करती है ? यह कहना अनुचित है कि अनुयायी जान-बूझकर अपने धर्मगुरु के वचनों की अवमानना करते हैं, वस्तुतः अनुयायी धर्मगुरु की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही बहुधा गलत मार्ग ग्रहण करते हैं। वे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए

ऐसे साधनों का उपयोग निस्संकोच करने लगते हैं, जो लक्ष्य के साथ मेल नहीं खाते और बहुधा उसके विरोधी होते है। हजरत ईसा मसीह अहिंसामार्ग के प्रवर्त्तक थे; परन्तु उनकी महिमा संसार मे प्रतिष्ठित करने के लिए सौ-सौ वर्षों तक रक्त की नदियाँ बहती रही है। हमें इतिहास को ठण्डे दिमाग से समझना चाहिए। सचाई का सामना ईमादारी के साथ करना चाहिए।

जब किसी महापुरुष के नाम पर कोई सम्प्रदाय चल पड़ता है तो आगे चलकर उसके सभी अनुयायी कम बुद्धिमान ही होते है, ऐसी बात नही है। कभी-कभी शिष्य-परम्परा में ऐसे भी शिष्य निकल आते है, जो मूल सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक से भी अधिक प्रतिभाशाली होते हैं। फिर भी सम्प्रदाय-स्थापना का अभिशाप यह है कि उसके भीतर रहनेवाले की स्वाधीन चिन्ता कम हो जाती है। सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा ही जब सबसे बड़ा लक्ष्य हो जाता है तो सत्य पर से दृष्टि हट जाती है, प्रत्येक बड़े 'यथार्थ' की सम्प्रदाय के अनुकूल संगति लगाने की चिन्ता ही बड़ी हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि साधन की शुद्धि की परवा नही की जाती। परन्तु यह भी ऊपरी बात है। साधन की शुद्धि की परवा न करना भी असली कारण नहीं है, वह भी कार्य है; क्योकि साधन की अशुचिता को सत्यभ्रष्ट होने का कारण मान लेने पर भी यह प्रश्न बना ही रह जाता है कि विद्वान् और प्रतिभाशाली व्यक्ति भी साधन की अशुचिता के शिकार क्यों बन जाते है?

घर जोड़ने की माया : स्पष्ट ही मालूम होता है कि घर जोड़ने की माया बड़ी प्रबल है और संसार का बिरला ही कोई इसका शिकार होने से बच सकता है। इतनी प्रबल शक्ति के *यथार्थ को उलटा नही जा सकता।* उसको मानकर ही उसके आकर्षण से बचने की बात सोची जा सकती है। स्वयं कबीरदास ने न जाने कितनी बार इस प्रबल माया की शक्ति के प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है :

ई माया रघुनाथ की बौरी खेलन चली अहेरा हो।
चतुर चिकनिया चुनि चुनि मारे काहु न राखे नेरा हो।
मौनी पीर दिगम्बर मारे ध्यान धरन्ते जोगी हो।
जगल में के जंगम मारे माया किहहु न भोगी हो।
वेद पढ़न्ते वेदुआ मारे पूजा करते स्वामी हो।
अरथ बिराचत पंडित मारे बांधे सकल लगामी हो।

इत्यादि।

कबीरपन्थी साहित्य के अध्ययन से यह बात अधिकाधिक स्पष्ट हो जाती है कि इर्द-गिर्द की सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव बड़ा जबर्दस्त साबित हुआ है। उसने सत्य, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य को बुरी तरह दबोच लिया है। केवल कबीरपन्थ मे ही ऐसा नहीं हुआ है। सब बड़े-बड़े मतों की यही अवस्था है। समाज मे मान-प्रतिष्ठा पाने का साधन पैसा है। जब चारों ओर पैसे का राज हो तब उसके आकर्षण को काट सकना कठिन है। पन्थ की प्रतिष्ठा के लिए भी पैसा चाहिए।

जो लोग इस आन्दोलन को नहीं समझ पाते वे सन्तों की निन्दा करते हैं, वे समस्या को बहुत ऊपर-ऊपर से देखते हैं।

अठारहवीं शताब्दी के बाद का सन्तों का अधिकांश साहित्य सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से लिखा गया है। उनमें अधिकतर वर्णनों की अलंकारिता करने की प्रवृत्ति है। जिस चीज को पुस्तक नहीं समझती है उसे अर्थ को सन्तों की वाणियों से निकालने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिए यह साहित्य निरन्तर क्षीण होती गयी है और अन्ततोगत्वा बहुत कुछ साम्प्रदायिक निर्जीव हो गया है। उसमें चुटकुले-जैसी वाणियों का प्रचार बढ़ता गया है।

[इस अध्याय के अध्ययन के लिए सहायक ग्रन्थ—मिश्रबन्धु : 'मिश्रबन्धु विनोद', रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'; प० परशुराम चतुर्वेदी : 'उत्तर भारत की सन्त-परम्परा', 'सन्त काव्य संग्रह'; हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'कबीर', रामकुमार वर्मा : 'सन्त कबीर'।]

कृष्णभक्ति का साहित्य

लीलागान की परम्परा : हमने पूर्व अध्याय में देखा है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के शुभागमन के बाद उत्तर भारत में कृष्णभक्ति के साहित्य को नया आदर्श और नयी प्रेरणा-शक्ति प्राप्त हुई। परन्तु श्रीकृष्णभक्ति की परम्परा सूरदास से पहले कुछ थी ही नहीं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। श्रीकृष्ण-कथा दीर्घकाल से उत्तर भारत में परिचित थी। वल्लभाचार्य के आगमन से उसमें नयी शक्ति आ गयी। साहित्य 'प्राकृत जन चरित' से हटकर भगवत्-लीला की ओर प्रवृत्त हो गया। महाप्रभु ने लीलागान पर बहुत अधिक बल दिया। 'भागवत महापुराण' ने ही इस मत का प्रचार किया था। सम्भवतः दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में भागवत-परम्परा से भिन्न भी कोई लीलागान की शास्त्रीय परम्परा थी। जयदेव का 'गीतगोविन्द' पूर्णरूप से भागवत-परम्परा का ग्रन्थ नहीं है। उसमें राधा प्रमुख गोपी हैं जो 'भागवत' में अपरिचित हैं। फिर 'गीतगोविन्द' का रास वसन्त-रास है जबकि 'भागवत' का शरद-रास।

जो हो, लीला के पद बहुत पहले से ही लिखे जाने लगे थे। कब से लिखे जाने लगे, यह कह सकना तो कठिन है किन्तु दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में मात्रिक छन्दों के गेय पदों में कृष्णलीलागान करने की प्रथा अवश्य चल पड़ी थी। बारहवीं शताब्दी में कवि जयदेव का 'गीतगोविन्द' इसी प्रकार के मात्रिक छन्दों के गेय

पदों में लिखा गया था। पण्डितों ने अनुमान किया है कि उन दिनों उड़ीसा में इसी प्रकार के गान लोकभाषा में प्रचलित रहे होंगे, उन्ही के अनुकरण पर जयदेव ने ये गान लिखे होंगे। बौद्ध सिद्धों के गेय पद इतना तो सूचित करते ही हैं कि पूर्वी भारत में गेय पदों का साहित्य बहुत पहले से रचित होने लगा था। जयदेव का जन्म बंगाल के वीरभूम नामक जिले के केन्दुलि (केन्द्रिविल्व) ग्राम मे हुआ था। इधर कुछ उड़िया विद्वानों ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि उनकी जन्मभूमि उड़ीसा में ही थी। उनकी जन्मभूमि चाहे जहाँ भी रही हो, इतना तो निश्चित ही है कि उनकी साधनाभूमि जगन्नाथपुरी ही थी। जयदेव के बाद लोकभाषा में गेय पदों का कृष्णलीला-परक साहित्य मिथिला के विद्यापति और बंगाल के चण्डीदास नामक दो कवियों ने लिखा। विद्यापति की पदावली का परिचय तो हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी को है ही। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि श्रीकृष्णलीला से सम्बद्ध गेय पद के साहित्य की उत्सभूमि पूर्वी भारत ही है और वहीं से चलकर यह प्रथा पश्चिमी भारत में आयी है। बौद्ध सिद्धों के गान, जयदेव का गीतगोविन्द, चण्डीदास और विद्यापति के पद—सभी इस प्रकार के विश्वास को बल देते हैं।

चण्डीदास और विद्यापति : चण्डीदास और विद्यापति के पदों ने आगे चलकर बंगाल के बहुत बड़े वैष्णव-भक्ति आन्दोलन को प्रेरणा दी है। चण्डीदास के पदो मे राधिका के अत्यन्त कोमल और सुकुमार हृदय का परिचय मिलता है, किन्तु विद्यापति के पदों मे राधिका अधिक विलासवती और विदग्धा हैं। विद्यापति शृंगाररस के सिद्धवाक् कवि थे। उनकी पदावली मे राधा और कृष्ण की जिस प्रेमलीला का चित्रण है, वह अपूर्व है। इस वर्णन में प्रेम के शरीर-पक्ष की प्रधानता अवश्य है पर इससे सहृदय के चित्त मे विकार नही उत्पन्न होता; बल्कि भावों की सान्द्रता और अभिव्यक्ति की प्रेषणीयगुणिता के कारण वह बहुत ही आकर्षक हो गया है। विद्यापति के इन पदों ने व्रजभाषा की कविता को कितना प्रभावित किया, यह कहना कठिन है। शायद बहुत कम। पश्चिमी भारत मे भी कृष्णलीला-परम्परा पहले से ही वर्त्तमान थी, इसका प्रमाण मिल जाता है।

क्षेमेन्द्र : क्षेमेन्द्र (ग्यारहवीं शताब्दी) के 'दशावतारचरितम्' में कवि ने एक जगह लिखा है कि जब गोविन्द यानी श्रीकृष्ण मथुरापुरी को चले गये तो वियोग-क्षिप्तहृदया गोपियाँ गोदावरी (?) के किनारे पर गोविन्द का गुणगान करने लगीं

गोविन्दस्य गतस्य गतस्य कंसनगरी
व्याप्ता वियोगाग्निना।
स्निग्धश्यामलकूललीनहरिणे
गोदावरीगह्वरे।
रोमन्थस्थितगोगणैः परिचयादु-
त्कर्णमाकर्णितम्।
गुप्तं गोकुलपल्लवे गुणगणं
गोप्यः सरागा जगुः। (8-173)

जो लोग इस आडम्बर को नहीं बल्कि गानेवालों की निन्दा करते हैं, वे समस्या को बहुत ऊपर-ऊपर से देखते हैं।

अठारहवीं शताब्दी के बाद का सन्तों का अधिकांश साहित्य सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से लिखा गया है। उसमें अलौकिक कहानियों की अवतारणा करने की प्रवृत्ति है। जिस चीज को दुनिया बड़ी समझती है उसी अर्थ को सन्तों की वाणियों से निकालने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिए वह शक्ति निरन्तर क्षीण होती गयी है और अपेक्षाकृत नवीन सन्त-साहित्य निर्जीव हो गया है। उसमें पुराणों-जैसी कहानियों का प्रचार बढ़ता गया है।

[इस शाखा के अध्ययन के लिए सहायक ग्रन्थ—मिश्रबन्धु : 'मिश्रबन्धु विनोद'; रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'; पं० परशुराम चतुर्वेदी : 'उत्तर भारत की सन्त-परम्परा', 'सन्त काव्य संग्रह'; हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'कबीर'; रामकुमार वर्मा : 'सन्त कबीर'।]

कृष्णभक्ति का साहित्य

लीलागान की परम्परा : हमने पूर्व अध्याय में देखा है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के शुभागमन के बाद उत्तर भारत में कृष्णभक्ति के साहित्य को नया आदर्श और नयी प्रेरणा-शक्ति प्राप्त हुई। परन्तु श्रीकृष्णभक्ति की परम्परा सूरदास से पहले कुछ थी ही नहीं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। श्रीकृष्ण-कथा दीर्घकाल से उत्तर भारत में परिचित थी। वल्लभाचार्य के आगमन से उसमें नयी शक्ति आ गयी। साहित्य 'प्राकृत जन चरित' से हटकर भगवत्-लीला की ओर प्रवृत्त हो गया। महाप्रभु ने लीलागान पर बहुत अधिक बल दिया। 'भागवत महापुराण' ने ही इस मत का प्रचार किया था। सम्भवतः दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में भागवत-परम्परा से भिन्न भी कोई लीलागान की शास्त्रीय परम्परा थी। जयदेव का 'गीतगोविन्द' पूर्णरूप से भागवत-परम्परा का ग्रन्थ नहीं है। उसमें राधा प्रमुख गोपी हैं जो 'भागवत' में अपरिचित हैं। फिर 'गीतगोविन्द' का रास बसन्त-रास है जबकि 'भागवत' का शरद-रास।

जो हो, लीला के पद बहुत पहले से ही लिखे जाने लगे थे। कब से लिखे जाने लगे, यह कह सकना तो कठिन है किन्तु दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में मात्रिक छन्दों के गेय पदों में कृष्णलीलागान करने की प्रथा अवश्य चल पड़ी थी। बारहवीं शताब्दी में कवि जयदेव का 'गीतगोविन्द' इसी प्रकार के मात्रिक छन्दों के गेय

पदों में लिखा गया था। पण्डितों ने अनुमान किया है कि उन दिनों उडीसा में इसी प्रकार के गान लोकभाषा में प्रचलित रहे होंगे, उन्ही के अनुकरण पर जयदेव ने ये गान लिखे होंगे। बौद्ध सिद्धों के गेय पद इतना तो सूचित करते ही हैं कि पूर्वी भारत में गेय पदों का साहित्य बहुत पहले से रचित होने लगा था। जयदेव का जन्म बंगाल के वीरभूम नामक जिले के केन्दुलि (केन्द्रिविल्व) ग्राम में हुआ था। इधर कुछ उड़िया विद्वानों ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि उनकी जन्मभूमि उड़ीसा में ही थी। उनकी जन्मभूमि चाहे जहाँ भी रही हो, इतना तो निश्चित ही है कि उनकी साधनाभूमि जगन्नाथपुरी ही थी। जयदेव के बाद लोकभाषा में गेय पदों का कृष्णलीला-परक साहित्य मिथिला के विद्यापति और बंगाल के चण्डीदास नामक दो कवियों ने लिखा। विद्यापति की पदावली का परिचय तो हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी को है ही। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि श्रीकृष्णलीला से सम्बद्ध गेय पद के साहित्य की उत्सभूमि पूर्वी भारत ही है और वहीं से चलकर यह प्रथा पश्चिमी भारत में आयी है। बौद्ध सिद्धों के गान, जयदेव का गीतगोविन्द, चण्डीदास और विद्यापति के पद—सभी इस प्रकार के विश्वास को बल देते हैं।

चण्डीदास और विद्यापति : चण्डीदास और विद्यापति के पदो ने आगे चलकर बंगाल के बहुत बड़े वैष्णव-भक्ति आन्दोलन को प्रेरणा दी है। चण्डीदास के पदों में राधिका के अत्यन्त कोमल और सुकुमार हृदय का परिचय मिलता है, किन्तु विद्यापति के पदों में राधिका अधिक विलासवती और विदग्धा हैं। विद्यापति शृंगाररस के सिद्धवाक् कवि थे। उनकी पदावली में राधा और कृष्ण की जिस प्रेमलीला का चित्रण है, वह अपूर्व है। इस वर्णन में प्रेम के शरीर-पक्ष की प्रधानता अवश्य है पर इससे सहृदय के चित्त में विकार नहीं उत्पन्न होता; बल्कि भावों की सान्द्रता और अभिव्यक्ति की प्रेषणीयगुणिता के कारण वह बहुत ही आकर्षक हो गया है। विद्यापति के इन पदों ने ब्रजभाषा की कविता को कितना प्रभावित किया, यह कहना कठिन है। शायद बहुत कम। पश्चिमी भारत में भी कृष्णलीला-परम्परा पहले से ही वर्त्तमान थी, इसका प्रमाण मिल जाता है।

क्षेमेन्द्र : क्षेमेन्द्र (ग्यारहवीं शताब्दी) के 'दशावतारचरितम्' में कवि ने एक जगह लिखा है कि जब गोविन्द यानी श्रीकृष्ण मथुरापुरी को चले गये तो वियोग-क्षिप्तहृदया गोपियाँ गोदावरी (?) के किनारे पर गोविन्द का गुणगान करने लगी

गोविन्दस्य गतस्य गतस्य कंसनगरी
व्याप्ता वियोगाग्निना।
स्निग्धश्यामलकूललीनहरिणे
गोदावरीगह्वरे।
रोमन्थस्थितगोगणैः परिचयादु-
त्कर्णमाकर्णितम्।
गुप्तं गोकुलपल्लवे गुणगणं
गोप्यः सरागा जगुः। (8-173)

श्री महाप्रभुजी ने पहले तो सूरदासजी को नाम सुनाया, पीछे समर्पण करवाया और फिर भागवत्-दशमस्कन्ध की अनुक्रमणिका कही, और तब "श्री सूरदासजी ने भगवत्लीला-वर्णन करी" । इस घटना से यह सूचित होता है कि वल्लभाचार्य से भेंट होने के पहले सूरदास जो भजन बनाया करते थे, उसमें लीला का कोई स्थान नहीं था । लीला का वर्णन सूरदास को वल्लभाचार्य से पायी हुई विशेष दृष्टि है।

क्या सूरदास जन्मान्ध थे ? : श्री गोकुलनाथजी की 'निजवार्ता' से यही मालूम होता है कि वल्लभाचार्य से ये केवल दस दिन छोटे थे । श्री हरिरायजी के 'भावप्रकाश' से पता चलता है कि सूरदास दिल्ली से चार कोस दूर सीही ग्राम के सारस्वत कुल में पैदा हुए थे । जन्म से ही अन्धे थे, परन्तु सगुण भाव के भजन बनाकर गाया करते थे और सेवकों को सुनाया करते थे। पहले तो अठारह वर्ष तक एक तालाब के ऊपर पीपलवृक्ष के नीचे भजन करते रहे, फिर गऊघाट आ गये। यहीं महाप्रभु वल्लभाचार्य से भेंट हुई और लीलागान करने की प्रेरणा मिली । महाप्रभु प्यार से इनको 'सूरसागर' कहा करते थे । 'सूरसागर' के भीतरी प्रयोगों को देखकर भी कुछ लोगों ने अनुमान किया है कि ये जन्म के अन्धे थे। श्री हरिराय के 'भावप्रकाश' तथा श्रीनाथ भट्ट की 'संस्कृतवार्ता मणिमाला' के अनुसार भी ये जन्मान्ध थे । परन्तु सूरदास के प्राकृतिक शोभा और रूप-वर्णन को देखकर अधिकांश विद्वान् यह नहीं मानना चाहते कि वे जन्मान्ध थे । 'सूरसागर' के कुछ पदों से यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि सूरदास अपने को जन्म का अन्धा और कर्म का अभागा कहते हैं, पर सब समय इसके अक्षरार्थ को ही प्रधान नहीं मानना चाहिए । यह मानसिक ग्लानि की अवस्था में कही हुई बात है, जिसमें अपनी हीनता को अतिरंजित करने की प्रवृत्ति काम करती रहती है ।

सूरदास ने अपने इर्दगिर्द जिस समाज को देखा था, उसका कोई ऊँचा आदर्श नहीं था; लोग खाते-पीते थे, रोगी या निरोग होते थे, और चार दिन हँसकर या रोकर चल पड़ते थे । युवावस्था को विलास-क्रीड़ा का काल माना जाता था। लोग 'यौवनमद, जनमद, धनमद और मादकमद' के शिकार हो रहे थे। क्या पुरुष क्या स्त्री, सबका लक्ष्य भोगलिप्सा ही था । जो लोग धार्मिक प्रकृति के होते थे वे पुराण सुन लेते थे, तुलसीदल का भोग लगा देते थे और शालिग्राम-शिला की पूजा भी कर लिया करते थे। जो लोग मंगलकामी थे, वे एकादशी-द्वादशी का संयम-नियम का व्रत पाल लेते थे और ग्रहों का शान्तिस्वस्त्ययन करके अमंगल का शमन कर लिया करते थे । सूरदासजी ने इसी प्रकार का समाज देखा था। लोगों में झूठी शान, थोथी मानप्रियता और उद्देश्यहीन धर्माचार का बोलबाला था । भावुक सूरदास इस अवस्था से विरक्ति अनुभव कर रहे थे और न जाने किस शुभ मुहूर्त में सबकुछ छोड़कर विरक्त हो गये। उस समय उनकी अवस्था तरुण रही होगी । यदि अनुश्रुतियों को प्रामाणिक माना जाय, तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उनके अंग-प्रत्यंग से लावण्य की छटा छिटकती रहती थी। विधाता ने सबकुछ दिया था, सिर्फ आँखें नहीं दी थीं । अनुश्रुतियों की वह कहानी भी बहुत

अधिक प्रसिद्ध है कि किस प्रकार किसी तरुणी के रूप से आकृष्ट होकर उन्होंने उसका अनुसरण किया और बाद में अपनी आँखें फोड़ या फुड़वा लीं। सूर होने के बाद वे दीर्घकाल तक भगवान् को कातर भाव से पुकारते रहे, उस समय के उनके भजनों में दैन्य का स्वर है और आत्मग्लानि की पीड़ा है। न जाने कितने दिनों तक उन्होंने अपने-आपको 'अगुनी अकृती अपराधी' समझा, 'सब पतितन को टीको' माना और 'जदुपति बिना बीते' दिनों के लिए पश्चात्ताप करते रहे। उस समय उनके चित्त में एक ही बात से शान्ति मिलती थी कि लोग उन्हें श्याम का गुलाम समझते थे : "सब कोउ कहत गुलाम श्याम के सुनत सिरात हियो।" ऐसी आत्म-ग्लानि की अवस्था में अपनी हीनता को अतिरंजित करने की प्रवृत्ति मनुष्य में आ जाती है। ऐसे ही अवसरों पर सूरदास अपने को जन्म का अन्धा और कर्म का अभागा कह देते थे। इसके अक्षरार्थ को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। परवर्ती पुस्तकों में केवल सुनी-सुनायी बातों का उल्लेख है। सूरदास का साहित्य कभी जन्मान्ध व्यक्ति का लिखा साहित्य नहीं हो सकता।

'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' से स्पष्ट है कि महाप्रभु के तिरोधान के बहुत बाद तक सूरदास जीवित रहे। अनुमान किया जाता है कि सन् 1523 ई. के आस-पास वे वल्लभाचार्यजी के सम्पर्क में आये होंगे। महाप्रभु ने इन्हें श्रीनाथजी के सामने कीर्त्तन करने का भार दिया था, परन्तु जब कृष्णदास मन्दिर के अधिकारी नियुक्त हुए तो सूरदास को वहाँ से हटकर पारसौली ग्राम में चला जाना पड़ा था और वहीं उनकी मृत्यु भी हुई। उनकी मृत्यु के समय वल्लभाचार्य के सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी उपस्थित थे। विट्ठलनाथजी की मृत्यु 1589 ई. में हुई थी, इसलिए सूरदासजी की मृत्यु उसके पहले ही हो गयी थी।

सूर की रचनाएँ : सूरदास की प्रसिद्ध रचना 'सूरसागर'[1] ही है। इसके निर्माण के बाद उन्होंने 67 वर्ष की अवस्था में 'सूरसागर सारावली' पुस्तक लिखी थी। उनकी लिखी समझी जानेवाली एक और पुस्तक 'साहित्यलहरी' मिली है जिसमें दृष्टकूट के पद संकलित हैं।[2]

साहित्यलहरी : इसी 'साहित्यलहरी' में 118 नम्बर का जो पद है, उसमें सूरदास की वंश-परम्परा दी हुई है जिसमें बताया है कि सूरदास चन्दबरदाई के वंशज थे और उनके पिता का नाम हरिचन्द था। हरिचन्द के सात पुत्रों में सबसे

1. 'सूरसागर' (1) नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, 1820; (2) कृष्णलाल, आगरा, 1822; (3) ईजादे किशन प्रेस, आगरा, 1881; (4) वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1897, (5) जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर सम्पा (कई भाग मात्र), बनारस, 1934; (6) नन्ददुलारे वाजपेयी, 1951।
2. (1) 'साहित्यलहरी', खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, 1892
(2) 'दृष्टकूट' (सरदार कवि की टीका) बनारस, 1869
(3) „ „ „ „ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, 1890

छोटे सूरजदास या सूरदास थे। मुसलमानों से लड़ते-लड़ते जब छः भाई मर गये तब अन्धे सूरदास इधर-उधर भटकते रहे और अन्त में एक कुएँ में जा गिरे, जहाँ से भगवान् ने उनका उद्धार किया। भगवान् ने उन्हें वर भी बताया कि "प्रबल दच्छिन विप्रकुल तें सत्रु ह्वै है नास" अर्थात् दक्षिण के ब्राह्मण कुल से शत्रु का नाश होगा। कुछ विद्वानों ने इस पद को प्रक्षिप्त माना है, क्योंकि इसमें "प्रबल दच्छिन विप्रकुल तें" शब्दों के द्वारा दक्षिण के पेशवाओं का बोध होता है। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि यह पूरी-की-पूरी 'साहित्यलहरी' अप्रामाणिक रचना है। एक तो 'सूरसागर' के विद्यार्थी को यही विश्वास करने में कठिनता मालूम होती है कि सूरदास-जैसा सहज भक्त अलंकार और नायिकाभेद के प्रपंच में कैसे उलझ पड़ा। दूसरे, 109वें पद में ग्रन्थ की तिथि और समाप्ति का निर्देश कर चुकने के बाद वह अपने जाति और वंश का उल्लेख क्यों करने लगेगा? ग्रन्थ की तिथि के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने लिखा है—"मुनि पुनि रसन के रस लेख, दसन गौरीनन्द को लिखि सुबल संबत् पेख।" इसका अर्थ 1627 सं. किया जाता है। इसमें 'रसन' शब्द से रस+न=शून्य और रसन=दो, इत्यादि खींचतान करके 1627 सं. बनाया गया है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने 'पुनि' को 'सुनि' बनाकर सुनि का अर्थ शून्य किया है और इस प्रकार सं. 1607 अर्थ किया है। परन्तु वस्तुतः इसका अर्थ 1607 होना चाहिए। 'मुनि' का अर्थ सात है, 'पुनि' का अर्थ है फिर से मुनि अर्थात् सात और 'रसन' का रस अर्थात् षड्रस (छः) है और 'गौरीनन्दन' का 'दसन' अर्थात् एक है। इस प्रकार ग्रन्थ का निर्माणकाल सं. 1677 अर्थात् 1620 ई. पड़ता है, जो सूरदास की मृत्यु के बहुत बाद का समय है।

इस प्रकार यह किसी अन्य सूरजदास नामक कवि की रचना है। इसमें सूरदास के भी कुछ पद आ गये हों तो कोई आश्चर्य नहीं और 118वाँ पद तो निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है। श्री ब्रजेश्वर वर्मा का अनुमान है कि यह किसी भाट का सूरदास को स्वजातीय बनाने का प्रयत्न है। इस पुस्तक को अधिक महत्त्व देना उचित नहीं।[1]

सूर का वैशिष्ट्य : वार्ता-साहित्य से पता चलता है कि सूरदास का यश सुनकर बादशाह अकबर भी उनसे मिले थे। अकबर-जैसे गुणग्राही सम्राट् के लिए यह बात असम्भव नहीं है। सूरदास के विषय में अधिक कुछ मालूम नहीं है, परन्तु

1. सूरदास के नाम पर कई पुस्तकें निकली हैं जिनमें कई तो 'सूरसागर' के पदों के संग्रह मात्र हैं, परन्तु कई ऐसी हैं जिनकी प्रामाणिकता के बारे में सन्देह है। कुछ पुस्तकों के नाम यहाँ दिये जा रहे हैं—(1) 'सूरसागर-रत्न', बनारस, 1867; (2) 'सूर-सरोज-सार', कलकत्ता, 1903; (3) 'सूरकृत विनय-पत्रिका', बम्बई, 1869; (4) 'सूरकृत विनय', बनारस, 1870; (5) 'सूरशतक', बनारस, 1869; (6) वही, पटना, 1869; (7) 'सूर रामायण', बनारस, 1869; (8) वही, मुरादाबाद, 1898; (9) 'विसातिन लीला', फतेहगढ़, 1876; (10) वही, वेंकटेश्वर प्रेस के एक संग्रह में; (11) 'भँवरगीत', लखनऊ, 1878; (12) 'मोरध्वज कथा', बम्बई, 1883, 1890; (13) 'बाललीला', बम्बई, 1883; (14) 'सूर-पंचरत्न', बनारस, 1924; (15) 'भ्रमरगीतसार', बनारस; इत्यादि।

'सूरसागर' के पढ़ने से उनका स्वभाव, रुचि, निष्ठा और व्यक्तित्व का बहुत स्पष्ट परिचय मिलता है। सूरदास के साहित्य को पढ़ते समय हमें इस बात को याद रखना चाहिए कि निखिलानन्द-सन्दोह भगवान् श्रीकृष्ण ही उसमें अभिव्यक्त प्रेम के आलम्बन हैं। आलम्बन दो प्रकार के होते हैं . विषयरूप आलम्बन और आश्रयरूप आलम्बन। दुष्यन्त को देखकर यदि शकुन्तला के हृदय में प्रेम-भाव उत्पन्न हुआ हो तो दुष्यन्त विषयरूप आलम्बन है और शकुन्तला आश्रयरूप आलम्बन। वैष्णव भक्त भगवान् को विषयरूप आलम्बन के रूप में ही देखते है। गोपियाँ, यशोदा, नन्द, गोप-बाल, उद्धव आदि सभी भक्त आश्रयरूप आलम्बन है। इन सबकी एकमात्र अभिलाषा यही होती है कि भगवान् हमसे प्रसन्न हों। अगर हम इस बात को ध्यान मे रखे बिना वैष्णव साहित्य को पढ़ेंगे तो घाटे में रहेंगे। यह भाव नानाभाव से भक्त कवि की कविता में आयेगा, इसे इसी रूप में न देखने का परिणाम यह हुआ कि सूरदास की वर्णन की हुई श्रीकृष्ण की बाललीला को बड़े-बड़े सहृदयों तक ने इस प्रकार समझा है मानो वे स्वभावोक्ति के उत्तम उदाहरण हैं। नहीं, वे स्वभावोक्ति के उदाहरण नहीं है, वे उससे बड़ी चीज है। संसार के साहित्य की बात कहना तो बहुत कठिन है, क्योंकि वह बहुत बड़ा है और उसका एक अंशमात्र हमारा जाना है। परन्तु हमारे जाने हुए साहित्य में इतनी तत्परता, मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुई बाललीला अलभ्य है। बालकृष्ण की एक-एक चेष्टाओं के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है। न उसे शब्दों की कमी होती है, न अलकार की, न भावों की, न भाषा की। क्यों ऐसा है? क्या कारण है कि शताधिक पदों में बार-बार दुहरायी हुई बात इतनी मनोरम हो गयी है? क्या कारण है कि उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं की जमात हाथ जोड़कर इस बार-बार दुहरायी हुई लीला के पीछे दौड़ पड़ी है? इसका कारण यशोदा का निखिलानन्द सन्दोह भगवान् बालकृष्ण के प्रति एकान्त आत्म-समर्पण है। अपने-आपको मिटाकर अपना सर्वस्व निछावर करके जो तन्मयता प्राप्त होती है, वही श्रीकृष्ण की इस बाललीला को संसार का अद्वितीय काव्य बनाये हुए है। यशोदा को उपलक्ष्य करके वस्तुतः सूरदास का भक्त चित्त ही शत-शत रसस्रोतो मे उद्वेल हो उठता है। वही चित्त गोपियों, गोपालो और सबसे बढ़कर राधिका के रूप मे ही अभिव्यक्त हुआ है। इसीलिए सूरदास की पुनरुक्तियाँ जरा भी नही खटकती और वाक्-चातुर्य इतना उत्तम कोटि का होकर भी व्यंग्यार्थ के सामने अत्यन्त तिरस्कृत हो गया है। वर्णन कौशल वहाँ प्रधान नहीं है, वह भक्त के महान् आत्मसमर्पण का अंग मात्र है, किन्तु साधक भक्त लोग लीला से विरह-रूप को जितनी आसानी से अनुभव कर सकते है, मिलन-रस को उतना नही। जिस दिन साधक सिद्ध हो जाता है और भक्ति अर्थात् चिन्मयरस के एकमात्र आकर निखिलानन्द सन्दोह भगवान् से मिलकर एकमेक हो जाता है, उस दिन कुछ कहने को बाकी नही रह जाता। यही कारण है कि भक्त की विरहकथा अधिक सरस, अधिक भावप्रवण

और अधिक द्रावक होती है। यशोदा द्वारा कथित निम्नांकित पदों में सूरदास का हृदय फूट पड़ा है :

मेरे कान्ह कमल दल लोचन,
अबकी बार बहुरि फिरि आवहु, कहा लगे जिय सोचन।
यह लालसा होत जिय मेरे, बैठी देखत रैहौं।
गाइ चरावन कान्ह कुँवर को कबहुँ जान न दैहौं।

और—

यद्यपि मन समुझावत लोग,
शूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुंह जोग।
प्रातकाल उठि माखन रोटी को बिनु माँगे दैहैं।
अब उहि मेरे कुँवर कान्ह को छिन छिन अंक में लैहैं।

यशोदा का यह रूप तभी समझा जा सकता है जब पूर्ववर्ती बाललीलाओं को इसी प्रेम का एक रूप माना जाय। स्वभावोक्ति का चमत्कार देखनेवाले इस और उस रूप में कोई एकरूपता नहीं खोज पायेंगे।

राधिका के रूप में भक्त-हृदय : राधिका के रूप में सूरदास ने भक्त-हृदय का जो चित्र खींचा है वह इसी अपूर्व तन्मय प्रेम का आश्रय-भेद से परिवर्तित रूपान्तर मात्र है। यह प्रेम अपना उपमान आप ही है। इसमे उस जाति के प्रेम की गन्ध भी नहीं है जो प्रिय की संयोगावस्था मे उसकी विरहाशंका से उत्कण्ठित और वियोगावस्था में मिलन-लालसा से व्याकुल हुआ रहता है। वह संयोग मे सोलह आना संयोगमय और वियोगावस्था मे सोलह आना वियोगमय है। राधा और कृष्ण के नाम पर प्रेम-काव्य अनेक लिखे गये हैं। रीतिकाल का तो प्रायः समूचा साहित्य ही इस प्रेमलीला का विस्तार है और उसमें वियोगी के सभी रूपों का—पूर्वराग, मान, प्रेम-वैचित्य और प्रवास का—बाह्य रूप जैसे-का-तैसा मिल जाता है। पर प्रेम का वह वास्तविक चित्रण, जिसमे बाह्य रूप (फार्म) गौण हो जाता है, जिसमे चतुरों के बताये भेद-उपभेद होकर भी धन्य होते हैं और न होकर भी धन्य होते है, दुर्लभ है। नाना भावों और विभावों के चित्रण-मात्र से और राधा-कृष्ण का नाम ले लेने मात्र से कविता उस श्रेणी की नहीं हो जाती, जहाँ भक्त राधा और अन्य गोपियो के बहाने अपने-आपको दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर सर्वात्मना भगवान् के चरणों में निछावर कर देता है। वहाँ भावों और हावों के सूक्ष्म भेद भूल जाते है। वैष्णव भक्त भगवान् से साक्षात् चिद्घन विग्रह रूप का, अर्थात् जिस रूप मे चैतन्य ही घनीभूत होकर प्रकट हुआ है, लीलागान करते हैं, और गोपियो के बहाने अपना प्रीति-निवेदन करते हैं।

चिन्मुख और जड़ोन्मुख प्रेम : यह ध्यान मे रखने की बात है कि लौकिक प्रीति होने पर प्रेम जड़ोन्मुख होता है और जब वह प्रेम 'चिद्घन विग्रह भगवान्' के प्रति होता है तब वह चिन्मुख होता है। लौकिक प्रेम से भिन्नता दिखाने के लिए भक्तों ने इसका नाम 'उज्ज्वल रस' दिया है। इस मार्ग को वही लोग अपनाते

हैं जिनमें आत्म-समर्पण की भावना तीव्र होती है। भगवान् के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। आत्म-समर्पण के द्वारा ही भक्त इस अनन्यगामी प्रेम को पाता है। यह आत्म-समर्पण दास-रूप में, सखा-रूप मे, पिता-माता-रूप में और कान्ता-रूप मे किया जा सकता है। सूरदास मे विभिन्न पात्रों के माध्यम से ये सभी भाव थोड़े-बहुत प्रकट हुए है, पर मन उनका वात्सल्य, सख्य और कान्ता भाव में ही रमता है।

वात्सल्य-भाव के काव्य के लिए सूरदास की बड़ी ख्याति है। कहते हैं, संसार के कम कवियों का नाम इस प्रसंग में उनके साथ लिया जा सकता है। परन्तु उनकी गोपियों में और श्रीकृष्ण में जिस भाव का प्रेम है, वह भी बहुत-कुछ बालकोचित ही है।

विरहिणी राधा : विशुद्ध काव्य की दृष्टि से देखें तो राधिका विशुद्ध गीतिकाव्यात्मक पात्र है। इस गीतिकाव्य का उत्तम विकास बंगाली कवि चण्डीदास के पद्यों मे हुआ है। चण्डीदास की राधिका परकीया नायिका हैं, और उनका मिलन क्षणिक और उत्कण्ठापूर्ण होता है। परन्तु सूरदास की राधिका न केवल स्वकीया हैं, बल्कि उनका प्रेम चिरसाहचर्यजन्य और उत्कण्ठाहीन है। शिल्प में गीतिकाव्यात्मक मनोरागों को आश्रय करके महाकाव्यात्मक शिल्प का निर्माण हुआ है। ताजमहल ऐसा ही महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग गीतिकाव्यात्मक या 'लिरिकल' है। 'सूरसागर' भी इसी प्रकार का महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग 'लिरिकल' या गीतिकाव्यात्मक है। हिन्दी में एक ऐसे समालोचकों का दल पैदा हुआ है, जो हर काव्य में महाकाव्य या प्रबन्धकाव्य का गुण खोजता है, और न पाने पर अफसोस प्रकट करता है। ऐसे समालोचकों की लपेट से सूरदास भी नहीं बचे है। ये लोग एकदम भूल जाते हैं कि काव्य के प्रतिपाद्य के भीतर ही गीतिकाव्यात्मकता हो सकती है, और उस प्रतिपाद्य को लेकर महाकाव्य की रचना उपहासास्पद प्रयत्न हो सकता है। सूरदास ने यदि राधिका के प्रेम को लेकर गीतिकाव्य की रचना न करके प्रबन्ध काव्य की रचना की होती, तो असफल हुए होते। गीतिकाव्यात्मक मनोरागो पर आधारित विशाल महाकाव्य ही 'सूरसागर' है। वर्णन-नैपुण्य और भाषागत माधुर्य के प्रवाह में पड़ा हुआ सहृदय यह भूल ही जाता है कि सूरदास ने राधिका और श्रीकृष्ण के प्रेम का एक ऐसा सम्पूर्ण चित्र खीचा है जो गीतिकाव्यों के भीतर से महाकाव्य के रूप में प्रकट हुआ है। 'सूर-साहित्य' में विस्तारपूर्वक मैंने इस विषय की चर्चा की है। अन्य भक्त कवियों की भाँति सूरदास ने राधिका और कृष्ण को एकाएक नहीं मिला दिया। यही कारण है कि पूर्व-राग की वह व्याकुल वेदना 'सूरसागर' मे नहीं मिलेगी, जो चण्डीदास या विद्यापति की पदावलियों में प्राप्य है। परन्तु इसमें एक विशेष प्रकार की वेदना है, जो सूरदास की अपनी विशेषता है। राधिका और श्रीकृष्ण एक ही साथ खेलते-खाते बड़े होते हैं, फिर भी पूर्व-राग की एक विचित्र वेदना दोनों ही अनुभव करते है। यह कुछ ऐसी चीज है जिसको आलंकारिक बता नहीं सकते।

प्रेम का मार्जित रूप : प्रेम के इस स्वच्छ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया। यह सूरदास की अपनी विशेषता है। वियोग के समय राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है, वह भी इस प्रेम के योग्य है। मिलन के समय की मुखरा, लीलावती, चचला और हँसोड़ राधिका वियोग के समय मौन, शान्त और गम्भीर हो जाती है। उद्धव के साथ अन्यान्य गोपियाँ काफी बक-झक करती हैं, पर राधिका वहाँ जाती भी नहीं। उद्धव ने श्रीकृष्ण से उनकी जिस मूर्त्ति का वर्णन किया है उससे पत्थर भी पिघल सकता है। उन्होंने राधिका की आँखों को निरन्तर बहते देखा था, कपोल-देश वारि-धारा से आर्द्र था, मुखमण्डल पीत हो गया था, आँखें धँस गयी थीं, शरीर केवल कंकाल-शेष रह गया था। वे दरवाजे से आगे न बढ़ सकी थीं। प्रिय के प्रिय वयस्क ने जब सन्देश माँगा तो वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। प्रेम का वही रूप जिसने संयोग में कभी विरहाशंका का अनुमान नहीं किया, वियोग में इस मूर्त्ति को धारण कर सकता है। वास्तव में सूरदास की राधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका है। उनके प्रेम में चण्डीदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में हास और हास में रुदन की चातुरी भी नहीं है। इस प्रेम में किसी प्रकार की जटिलता भी नहीं है। घर में, वन में, घाट पर, कदम्ब तले, हिंडोले पर—जहाँ कहीं भी इसका प्रकाश हुआ है, वहीं पर अपने आपमें ही पूर्ण है, मानो वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता और न कोई दूसरा ही उसकी खबर रखता है।

सूरदास का कवित्व : सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकारशास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है। वह अपने को भूल जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलनेवाले अलंकारों को देखकर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता, कि कवि जान-बूझकर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने-पर-पन्ने पढ़ते जाइए : केवल उपमाओं और रूपकों की घटा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षण और व्यंजना का चमत्कार—यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार-चार, दस-दस बार तक दुहरायी जा रही है, फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रवाह कहीं भी आहत नहीं हुआ। जिसने 'सूरसागर' नहीं पढ़ा उसे यह बात सुनकर कुछ अजीब-सी लगेगी, शायद वह विश्वास ही नहीं कर सके, पर बात सही है। काव्यगुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं, जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्व को याद दिलाया करता है; बल्कि उस अकृत्रिम वनभूमि की भाँति है, जिसका रचयिता रचना में ही घुल-मिल गया है।

अष्टछाप : महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र [illegible] थजी ने महाप्रभु के शिष्यों में से चार [illegible] शिष्यों में

अप्टछाप की स्थापना की थी। महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्यों में 1. सूरदास, 2. कृष्णदास, 3. परमानन्ददास, और 4. कुम्भनदास; तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्यों में 1. नन्ददास, 2. चतुर्भुजदास, 3. छीतस्वामी, और 4. गोविन्दस्वामी अप्टछाप की मर्यादा पा सके थे। इनमें सभी सुकवि थे, पर सूरदास और नन्ददास सबसे श्रेष्ठ थे।

वल्लभाचार्य के जिन चार शिष्यों को अप्टछाप मे गिने जाने की मर्यादा प्राप्त हुई थी उनके वृत्तान्त 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' मे और विट्ठलनाथ के शिष्यों के वृत्तान्त 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में सगृहीत है। इन पुस्तको से वल्लभाचार्य और उनके पुत्र के शिष्यों के व्यक्तित्व का पता चलता है, जो बहुत ही आकर्षक है।

कृष्णदास : कृष्णदास अधिकारी शूद्र थे, किन्तु अपनी योग्यता के बल पर श्रीनाथजी के मन्दिर के अधिकारी नियुक्त हुए थे। वार्त्ता में इनकी कूटबुद्धि और दुर्दम शासन-कौशल का बड़ा अच्छा परिचय मिलता है। श्रीनाथजी के पुजारी बंगाली थे, कृष्णदास उनको निकालना चाहते थे, अतः प्रचार कर दिया कि ये घुटिया में देवी की मूर्त्ति रखते हैं और श्रीनाथजी के भोग लगाने के पहले देवी को भोग लगा देते है। फिर एक दिन जब बंगाली लोग पूजा मे लगे हुए थे, तो उनकी झोपड़ियों में आग लगा दी। बेचारे पूजा छोड़कर जब घर की ओर दौड़े तो वहाँ कृष्णदास के आदमियों ने "ढूँ-ढूँ चार-चार लाठी बगालिन को दीनी"। बेचारे फर्याद करने आये तो कहा, "तुम पूजा छोड़कर भागे क्यों?" और निकाल दिया। रूप और सनातन गोस्वामी ने ज़रा सहारा देना चाहा तो धमका आये —"तुम शूद्र होकर ब्राह्मणो से पैर पुजवाते हो, हम तुम्हें देख लेंगे।" बेचारे डरकर चुप हो रहे। शासन का आतंक इतना कि गोस्वामी विट्ठलनाथ भी आतंकित रहते थे और सूरदास को पारसौली जाना पड़ा था। स्वयं श्रीनाथजी भी सशंक रहते थे। कृष्णदास की मनचाही नर्त्तकी की दृष्टि जब उनके भोग की ओर पड़ जाती थी तो भूखे ही सो जाते थे। कई दिन जब ऐसे ही बीते और पेट कुलबुला उठा तो मन्दिर के भितरिया को कसकर लात जमायी और बोले कि "मैं भूखा हूँ", तब जाके रहस्य खुला! नवीन कुएँ का निर्माण कराते समय कृष्णदास उसका निरीक्षण करने गये तो उसी में गिरकर मर गये। वार्त्ताकार ने उल्लसित होकर किसी के मुख से यह टिप्पणी करायी है—'अधोगच्छन्ति तामसाः'। और फिर भी कृष्णदास सम्प्रदाय में बड़े सम्मान के साथ स्मरण किये गये है। जितने ही प्रचण्ड उतने ही सरल। गुरु और सम्प्रदाय की मानरक्षा के लिए वे अच्छा-बुरा सब करने को प्रस्तुत थे। उनकी भक्ति का बाह्यरूप अनेक प्रकार के अवांछित और विसदृश रूपों में प्रकट हुआ है, किन्तु उसमें सच्चाई और निष्ठा है, इसमें सन्देह नहीं।

कुम्भनदास : कुम्भनदास-जैसे मस्तमौला फक्कड़ उस काल में कम हुए होंगे। ये भी शूद्र थे और आठ पुत्रों के पिता थे। थोड़ी-सी जमीन थी, जीविका-निर्वाह

बड़ा कठिन था, फिर भी किसी से दान नहीं लिया। महाराजा मानसिंह ने कुछ स्वीकार कर लेने का आग्रह किया, पर उन्होंने स्वीकार नहीं किया। जब बहुत हठ करने लगे तो यही माँगा कि तुम हमारे आगे से चले जाओ। इस प्रकार के निर्लोभी, निरीह और स्पष्टवादी भक्त विरले ही होते हैं। अकबर ने फतेहपुर सीकरी बुलवाया, पैदल ही गये और श्रीनाथजी का दर्शन न कर सकने के कारण व्याकुल होकर तुरन्त लौट आये। पछताके रह गये :

संतन को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पनहिया टूटी बिसरि गए हरिनाम।
जिनको मुख देखें दुख उपजत तिनको करन परी परनाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबे बेकाम।

परमानन्ददास : परमानन्ददास बहुत उच्चकोटि के कवि थे। एक बार इनकी एक रचना सुनकर महाप्रभु कई दिन तक बेसुध रहे। इनकी पुस्तक 'परमानन्दसागर'[1] प्रसिद्ध है। कहते हैं कि इसमें भी लक्षावधि पद थे परन्तु खोज से जो प्रति प्राप्त हुई है उसमें 835 ही पद है। इनके पदों में भाषा का लालित्य दर्शनीय है। इस प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्य के जिन शिष्यों को अष्टछाप की मर्यादा मिली थी, इनका उन सबमें विशिष्ट व्यक्तित्व दिखायी देता है।

नन्ददास : गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्यों में सबसे प्रमुख नन्ददास हैं। इनकी कई पुस्तकें प्राप्त हुई है, जिनमें 'रास पंचाध्यायी', 'सिद्धान्त पंचाध्यायी', 'अनेकार्थ मंजरी', 'मानमंजरी', 'रूपमंजरी', 'रसमंजरी', 'विरहमंजरी', 'भ्रमर-गीत', 'गोवर्द्धनलीला', 'श्यामसगाई', 'रुक्मिणीमंगल', 'सुदामाचरित', 'भाषा-दशमस्कन्ध' और 'पदावली' मुख्य है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में इनके सम्बन्ध में बताया गया है कि ये तुलसीदास के छोटे भाई थे। परन्तु इनका सबसे पुराना उल्लेख नाभादास के 'भक्तमाल' में है। उसमें इनके भाई का नाम चन्द्रहास दिया हुआ है। इधर जिन पुस्तकों के प्रचारित होने से सोरों को तुलसीदास की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त हो रहा है, उनके अनुसार ये तुलसीदास के चचेरे और चन्द्रहास के सगे भाई थे। वार्त्ता से जान पड़ता है कि ये भी युवावस्था में उसी प्रकार की निकृष्ट वासना के शिकार हो चुके थे, जिसकी चर्चा सूरदास और तुलसीदास आदि भक्तों के प्रसंग में की जाती है। किन्तु विट्ठलनाथजी के सम्पर्क में आने के बाद ये परम भगवदीय हो गये। अपनी कई पुस्तकों में इन्होंने लिखा है कि उन्होंने किसी परमरसिक मित्र की आज्ञा से उन ग्रन्थों की रचना की है। यह परमरसिक मित्र कौन थे, इसके विषय में विद्वानों की अनेक कल्पनाएँ हैं। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में लिखा है कि किसी एक हिन्दू राजा की पुत्री रूपमंजरी अकबर को ब्याही गयी थी, पर वह उसका स्पर्श नहीं करती थी। उसको

1. 'परमानन्दसागर', रामचन्द्र त्रिवेदी, जयपुर, 1914
'दयितोमा', हसनी प्रेस, दिल्ली, 1868

देखकर ही अकबर सन्तुष्ट रहा करता था। रूपमंजरी नित्य मुँह में गुट्टा रखकर नन्ददास के पास जाया करती थी। वह बहुत उच्चकोटि की भक्त थी। यहाँ तक बताया गया है कि गोवर्द्धननाथजी नित्य प्रत्यक्ष होकर रूपमंजरी के यहाँ स्वयं भोग लगाने जाया करते थे। कहते हैं, नन्ददास-कृत 'रूपमंजरी' नामक पुस्तक में रूपमंजरी नाम की नायिका यही भक्त महिला है। इस पुस्तक का दूसरा महत्त्वपूर्ण पात्र इन्दुमती, जो रूपमंजरी की प्रिय नर्म सखी है, स्वयं कृष्णदास है। इस प्रकार जिस परमरसिक मित्र के आग्रह पर उन्होंने 'रसमंजरी', 'रास पंचाध्यायी' आदि ग्रन्थ लिखे हैं, वह यही रूपमंजरी है। परन्तु यह अनुमान ही अनुमान है। इस बात को सिद्ध करने के लिए कोई बहुत प्रबल और पुष्ट प्रमाण हमारे पास नहीं है।

नन्ददास के काव्य : नन्ददास बहुत प्रतिभाशाली कवि थे। इनकी रचनाओं[1] में अनेक प्रकार के काव्यरूपों का परिचय मिलता है। 'रास पंचाध्यायी' और 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' तो मुख्य रूप से 'भागवत' के 'रास पंचाध्यायी' के सरस भाषान्तर हैं। 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में उन्होंने भक्ति-सिद्धान्त के कुछ नियमों का वर्णन किया है। इन दोनों की भाषा अत्यन्त प्रौढ़ और ललित है। 'अनेकार्थ ध्वनिमंजरी' और 'नाममाला' वस्तुतः कोश ग्रन्थ है। 'रूपमंजरी' भक्तिप्रधान प्रेम-कथानक है। 'रसमंजरी' नायिका-भेद का ग्रन्थ है। 'विरहमंजरी' गोपियों की विरह-लीला है और 'भ्रमरगीत' का भी विषय वही है। 'श्याम सगाई' बड़ी सरस रचना है। एक बार राधिकाजी श्रीकृष्णजी के घर खेलने आयी और वहीं दोनों की सगाई हुई। 'रुक्मिणी-मंगल' तुलसीदासजी के 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' की भाँति विवाह-काव्य है। कथा तो प्रसिद्ध ही है। 'सुदामा-चरित' की कहानी भी काफी प्रसिद्ध है। यह बहुत छोटी-सी रचना है। 'भाषा दशमस्कन्ध' का विषय नाम से ही स्पष्ट है। यह दोहा-चौपाइयों में लिखी रचना है। किन्तु कितनी चौपाइयों पर दोहा आयेगा, इसका कोई नियम नहीं है। कभी-कभी तो अस्सी-पचासी अर्द्धालियों के बाद एक दोहा आता है। वस्तुतः यह पुस्तक चौपाईबद्ध रचना है। दोहा तो क्वचित्-कदाचित् ही आते हैं। नन्ददास की प्रतिभा 'पदावली'

1. नन्ददास की प्रकाशित पुस्तकें—(1) 'बाँसुरीलीला', दिल्ली, 1871; (2) वही, ललितपुर, 1871; (3) 'श्यामसगाई', ब्रह्म प्रेस, दिल्ली, 1874; (4) वही, मुहम्मद अब्दुल रहमानखाँ, कानपुर, 1881; (5) वही (रुक्मिणीमंगल के साथ), अग्रवाल, कलकत्ता, 1934; (6) 'अर्थ-चन्द्रोदय', फतेहपुर सीकरी, 1917; (7) 'नाममाला' (मानमंजरी-सहित), अमृतसर, 1890; (8) 'मानसमंजरी', इलाहाबाद, 1907; (9) 'अनेकार्थ और नाममाला', बनारस, 1877; (10) वही, वेंकटेश्वर बम्बई, 1910; (11) वही, प्रयाग, 1940; (12) 'रास पंचाध्यायी', मुरादाबाद, 1896; (13) वही, बनारस, 1903; (14) 'भ्रमरगीत', बम्बई, 1890; (15) वही, मुरादाबाद, 1899; (16) वही, इलाहाबाद, 1929; (17) वही, बनारस, 1931; (18) वही, इलाहाबाद, 1938; (19) वही, (भ्रमरगीत के साथ), कलकत्ता, 1904; (20) वही, कलकत्ता, 1905; (21) 'नन्ददास ग्रन्थावली', प्रयाग, 1945; (22) वही, काशी।

के पदों में खूब विकसित हुई है। इस प्रकार नन्ददास ने अनेक प्रकार के काव्य-रूपों का व्यवहार किया है।

नन्ददास का कवित्व : निस्सन्देह नन्ददास बहुत उच्चकोटि के भावुक भक्त थे। परन्तु सूरदास की भाँति सहज कवित्व से ही सन्तुष्ट नहीं होते थे। उन्होंने भक्ति-सिद्धान्तों का अध्ययन और मनन किया था। उनकी रचनाओं में विद्याध्ययन-जन्य ग्रन्थिलता वर्तमान है। उनकी भाषा प्रौढ़ और मार्जित है, विचार-पद्धति शास्त्रीय और पुष्टिमार्गसम्मत है। सूरदास की गोपियों में जिस प्रकार का अशिक्षितपटुत्व और सारल्यगर्भ माधुर्य पाया जाता है, वैसा नन्ददास की गोपियों में नहीं पाया जाता। 'भ्रमरगीत' में उद्धव के तर्कों को सुनकर वे शिथिलवाक् होकर परास्त नहीं हो जाती, बल्कि आगे बढ़कर उत्तर देती हैं और तर्क को तर्क से काटने का प्रयत्न करती हैं। निर्गुणभाव का प्रत्याख्यान सूरदास ने भी कराया है और नन्ददास ने भी, पर सूरदास का एकमात्र अस्त्र प्रेमातिरेक है, जबकि नन्ददास का अस्त्र है युक्ति और तर्क; फिर भी नन्ददास की रचनाओं में अपना मोहक सौन्दर्य है। शब्दानुप्रासों के झकार से वे ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं कि पाठक अभिभूत हो जाता है। शब्दों की ध्वनि और अर्थ की गम्भीरता एक दूसरे से स्पर्धा करती हुई आगे बढ़ती है। अष्टछाप के किसी भी दूसरे कवि में शब्द-गठन की ओर ध्वनि-निर्माण की ऐसी क्षमता नहीं है।

चतुर्भुजदास : अष्टछाप के कवियों में गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य नन्ददास तो बहुत प्रसिद्ध ही है, उनकी चर्चा भी हमने विस्तारपूर्वक कर ली है, बाकी तीन कवियों की चर्चा कर लेना आवश्यक है। इनमें चतुर्भुजदास तो प्रसिद्ध फक्कड़ कुंभनदास के पुत्र थे। इनकी तीन पुस्तकें—'द्वादश यश', 'हितजू को मंगल' (?) और 'भक्तिप्रकाश'—तथा कुछ फुटकल पद भी प्राप्त हुए है। भाषा और कविता साधारण कोटि की है।

छीतस्वामी : छीतस्वामी मथुरा के सम्पन्न पण्डा थे। महाराज बीरबल इनके यजमान थे। शुरू में यथेष्ट अक्खड़ और उद्दण्ड थे, पर गोसाईंजी की सेवा में आने के बाद विनम्र और मृदुल स्वभाव के भक्त हो गये। इनकी कोई पुस्तक नहीं मिली है, फुटकल कुछ पद ही प्राप्त हुए हैं।

गोविन्दस्वामी—गोविन्दस्वामी भी गोस्वामी विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। इनका जन्म सनाढ्य ब्राह्मण वंश में हुआ था। विरक्त होकर वृन्दावन में रहने लगे थे। इनके मनोहर गान की ख्याति ऐसी थी कि स्वयं तानसेन इनके गाने सुनने उपस्थित हुए थे। गोस्वामी विट्ठलनाथजी के सम्पर्क में आने के बाद ये भगवान् की सगुण लीलाओं के पद रचने लगे। इनकी भी कोई बड़ी रचना प्राप्त नहीं हुई है, केवल फुटकल पद ही प्राप्त होते हैं।

अष्टछाप के कवियों की विशेषता : अष्टछाप के सभी कवियों में लीलागान और भगवान् का रूप-माधुर्य वर्णन करने की प्रवृत्ति है। प्रायः ही ये लोग इस संकीर्ण सीमा के बाहर नहीं गये, केवल नन्ददास ने कुछ अन्य विषयों को भी अपनी

कविता का विषय बनाया था। इनकी रचनाओं में जिस प्रकार की प्रौढ़ और परिमार्जित भाषा का व्यवहार है उसकी एक निश्चित परम्परा होनी चाहिए, वह एक दिन की गढ़ी हुई भाषा नहीं है। उसके पीछे निश्चित रूप से कुछ शताब्दियों का इतिहास होना चाहिए। निस्सन्देह यह तत्काल प्रचलित लौकिक रीति-परम्परा का ही रूपान्तर है। इन भक्तिभाव की रचनाओं के प्रचार के बाद लौकिक रस की परम्परा फीकी पड़कर निर्जीव हो गयी। इन कवियों ने उसमें नया प्राण संचारित किया और नया तेज भर दिया। परवर्त्ती काल की ब्रजभाषा को लीला-निकेत भगवान् श्रीकृष्ण के गुणगान के साथ एकान्त भाव से बाँध देने का श्रेय इन्हीं कवियों को प्राप्त है।

मीराबाई : हिन्दी की प्रसिद्ध भक्त कवि हैं। कर्नल टॉड के अनुसार ये महाराणा कुम्भा की स्त्री थीं, किन्तु मुंशी देवीप्रसाद और महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जैसे इतिहास-लेखकों को यह बात इतिहास-विरुद्ध जान पड़ी। परम्परा के अनुसार मीराबाई राव जोधाजी के वंश में उत्पन्न हुई थीं। इनके पदों में प्रायः ही उनके लिए मेड़ताणी शब्द का प्रयोग है, जिससे सूचित होता है कि वे मेड़ता की रहनेवाली थीं। मेड़ता को सन् 1461 ई. में राव दूदाजी ने बसाया था, इसलिए मेड़ताणी शब्द का प्रयोग इस काल के बाद ही हो सकता है। ऐसी हालत में मीराबाई का सम्बन्ध महाराणा कुम्भा से, जिनकी मृत्यु सन् 1468 ई. में हो चुकी थी, नहीं जोड़ा जा सकता। इसलिए इन इतिहास-लेखकों ने उदयपुर के किसी और राणा के साथ इनका सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है। नाभादासजी के 'भक्तमाल' और उस पर प्रियादास की टीका में इस बात का बहुत उल्लेख है कि किस प्रकार राणा ने मीराबाई को साधुसंग से विरत करना चाहा था और जहर देकर मार डालना चाहा था। सबसे पहले विलियम क्रुक ने संकेत किया था कि मीराबाई वस्तुत. राणा कुम्भा की स्त्री नहीं थी बल्कि राणा साँगा के पुत्र भोजराज को ब्याही गयी थी। परम्परा से यह प्रचलित है कि मीराबाई विधवा हो गयी थी और इनके देवर राणा ने अपनी कुल-मर्यादा की रक्षा के लिए नाना भाँति से इन्हें साधुसंग से विरत किया, परन्तु इधर पद्मावती देवी 'शबनम' ने मीरा के अनेक पदों[1] से यह सिद्ध किया है कि वे वस्तुतः सुहागिन थी और उनके ऊपर जो अत्याचार हो रहे थे वे सम्भवतः उनके पति की ओर से ही हो रहे थे। अपर्याप्त सामग्री के कारण मीराबाई के जन्म आदि के बारे में कुछ भी कहना कठिन है। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि मीराबाई सन् ईस्वी की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अवश्य ही जीवित थी। किंवदन्तियाँ उनका

1. मीराबाई की मुद्रित पुस्तकें—(1)—के भजन, सिद्धेश्वर प्रेस, बनारस 1905; (2)—के भजन, कानपुर; (3) 'शब्दावली', बेल. प्रेस, इलाहाबाद, 1910; (4) मीरामन्दाकिनी (नरोत्तमदास), आगरा, 1930; (5) 'पदावली' (परशुराम चतुर्वेदी), प्रयाग, 1942; (6) 'मीराबाई-बृहत्पदसंग्रह' (पद्मावतीदेवी), बनारस, 1952।

जीवगोस्वामी, रैदास, तुलसीदास और कृष्णदास अधिकारी आदि से साक्षात्कार या पत्रव्यवहार होने का समर्थन करती हैं। उनके पदों में रैदास को गुरु के रूप में स्मरण किया गया है। यह कहना बहुत कठिन है कि ये पद कहाँ तक प्रामाणिक हैं। उनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने जीवगोस्वामी से दीक्षा ली थी। इस प्रकार उनका सम्बन्ध एक तरफ तो सगुणमार्गी भक्तों से सिद्ध होता है और दूसरी तरफ निर्गुणमार्गी भक्तों से भी उनका सम्बन्ध जोड़ा जाता है। फिर उनके भजनों में किसी ऐसे गुरु की भी चर्चा आती है जो नाथपन्थी साधु जान पड़ते हैं। इन सब बातों का एक ही निष्कर्ष निकल सकता है कि मीराबाई अत्यन्त उदार मनोभावापन्न भक्त थीं। उन्हें किसी पन्थ-विशेष पर आग्रह नहीं था। जहाँ कहीं भी उन्हें भक्ति या चारित्र्य मिला है, वहीं उन्होंने उसे सिरमाथे चढ़ाया है। कहते हैं कि उन्होंने तुलसीदास को भी एक पत्र लिखा था, जिसमें उन्होंने हरिभक्तों की सत्संगति से वंचित रह जाने के क्लेश का ब्योरा दिया था और पूछा था कि ऐसी अवस्था में क्या कर्त्तव्य हो सकता है। तुलसीदास ने उत्तर में विनयपत्रिका का यह पद लिखकर भेजा था :

जाके प्रिय न राम बैदेही,
सो नर तजिय कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही। इत्यादि।

परन्तु ऐतिहासिक पण्डितों का अनुमान है कि मीराबाई की मृत्यु 1546 ई. में हो चुकी थी। इसलिए तुलसीदास को पत्र लिखने की बात किंवदन्ती मात्र है।

मीराबाई का कवित्व : मीराबाई के पदों में अपूर्व भाव-विह्वलता और आत्म-समर्पण का भाव है। इनके माधुर्य ने हिन्दी-भाषी क्षेत्र के बाहर के भी सहृदयों को आकृष्ट और प्रभावित किया है। माधुर्यभाव के अन्यान्य भक्त कवियों की भाँति मीरा का प्रेमनिवेदन और विरह-व्याकुलता अभिमानाश्रित और अध्यन्तरित नहीं है, बल्कि सहज और साक्षात् सम्बन्धित है। इसीलिए इन पदों में जिस श्रेणी की अनुभूति प्राप्त होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वह सहृदय को स्पन्दित और चालित करती है और अपने रंग में रँग डालती है।

उनके कुछ पदों में निर्गुणभाव की भक्ति भी मिलती है। परन्तु गिरिधर नागर को उद्देश्य करके लिखे गये भजनों में मीराबाई जिस प्रकार सहज और स्व-स्थित दीखती है, उस प्रकार इन भजनों में नहीं दीखती। वस्तुतः अध्यन्तरित, अनभिमानसिद्ध, सहज-आत्म-समर्पण का वेग जितना सगुणमार्ग के भजनों में है उतना निर्गुणमार्ग के भजनों में नहीं है। भगवद्विरह की पीडा को कम कवियों ने इतना मादक और प्रभावोत्पादक बनाकर प्रकट किया होगा।

गोस्वामी हितहरिवंश : राधावल्लभी सम्प्रदाय के आचार्य गोस्वामी हितहरिवंश का जन्म गौड़ ब्राह्मण वंश में हुआ था। इस सम्प्रदाय के भक्त प. गोपालप्रसाद शर्मा ने इनका जन्म सं. 1530 (1473 ई.) में माना है, परन्तु ओरछा-नरेश महाराज मधुकर शाह के राजगुरु श्री हरिरामजी व्यास ने सं. 1622 (अर्थात् 1565 ई.) के आस-पास इनसे दीक्षा ली थी। इस बात को ध्यान

में रखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जन्म उसके पश्चात् होना उचित समझा है। शुक्लजी के अनुसार यह समय सं. 1559 (1502 ई.) होना चाहिए। उन्होंने यह भी लिखा है कि "हितहरिवंशजी पहले माध्वानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे, पीछे राधिकाजी ने इन्हें स्वप्न में मन्त्र दिया और इन्होंने अपना एक अलग सम्प्रदाय चलाया अतएव हित सम्प्रदाय को माध्व सम्प्रदाय के भीतर मान सकते हैं।" ऐसा जान पड़ता है कि हितजी के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री के अभाव के कारण अनेक प्रकार की अनुमानाश्रित धारणाएँ प्रचलित हो गयी। मैंने स्वयं 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' मे लिखा था कि सनकादि सम्प्रदाय का "एक नाममात्र का शाखा-सम्प्रदाय राधावल्लभीय है, जिसे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हितहरिवंश ने प्रवर्त्तित किया था। इस सम्प्रदाय में राधा के मार्फत ही भक्त अपने को भगवान् के पास निवेदित करता है। एक उप-सम्प्रदाय सखीभाववालो का है जो इसी सम्प्रदाय का अंग समझा जाता है।" मेरा यह वक्तव्य हिन्दू सम्प्रदायों पर लिखी हुई एक अंग्रेजी पुस्तक पर आधारित था। मेरे इस वक्तव्य से उक्त सम्प्रदाय के भक्तों को कुछ क्लेश पहुँचा था और सम्प्रदाय के विद्वान् भक्त श्री किशोरीशरण अलिजी ने वृन्दावन से लिखे हुए 2 जून 1950, और 17 सितम्बर 1950 ई. के दो पत्रों में मेरा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया और कृपापूर्वक सम्प्रदाय के मान्य सिद्धान्तों के विषय मे विस्तृत और प्रामाणिक रूप से लिखा। पत्र में प्रधान रूप से 'राधा-सुधानिधि' को प्रमाण माना गया है। परन्तु मैंने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में ही लिखा था कि इस पुस्तक के सम्बन्ध मे वृन्दावन के राधावल्लभीय और गौड़ीय वैष्णवों मे मतभेद है। गौडीय वैष्णवों का विश्वास है कि यह पुस्तक उनके ही सम्प्रदाय के किसी भक्त की लिखी हुई है। परम्परा से यह हितजी की रचना मानी जाती रही है। जब तक बहुत पुष्ट प्रमाण न प्राप्त हो जायें तब तक परम्परा को यों ही अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए श्री किशोरीशरण अलिजी की बात में सन्देह करने का कोई कारण नहीं दीखता।

नाभादासजी ने इनके विषय मे लिखा है :

श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकल कोउ जानिहै।
श्री राधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दम्पति तहाँ की करत खवासी।
सरबस महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
विधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी।
श्री व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भलैं पहिचानिहै।

गो० हितहरिवंश का भक्तिमत : श्री नाभाजी के उक्त छप्पय से स्पष्ट है कि गोसाईं हितहरिवंश की उपासना-पद्धति अन्यान्य सम्प्रदायों की भक्ति-पद्धति से भिन्न थी। इसे कोई विरला ही जान सकता है। इस मत की प्रधान उल्लेख योग्य बातें ये हैं—1. श्री राधाचरण की प्रधानता, 2. कुंजकेलि दम्पति की खवासी अर्थात् किंकरी और सखी-भाव, 3. महाप्रसाद की निष्ठा, 4. विधि-निषेध

सर्वथा त्याग, 5. अनन्य दास-भाव।

गौड़ीय सम्प्रदाय के महात्मा श्री भागवत मुदितजी ने अपने 'रसिक अनन्य माल' नामक ग्रन्थ में बताया है :

जे आए हरिवंश पथ, सिद्ध भए जु अनन्य।
भगवत तिनको परिचयी बरणों होहिं सुधन्य।
और— श्री हरिवंश सुधर्म दृढ़ जगत क्रिया ते ऐण।
श्री राधावल्लभ इष्ट भजि, तोरी प्राकृत मैण।

इससे भी सिद्ध होता है कि श्री हितहरिवंश का सम्प्रदाय स्वतन्त्र है। उनके इष्ट राधावल्लभ हैं और वे प्राकृत विधि-निषेध की व्याख्या को नहीं मानते।

1. श्री किशोरीशरण अलिजी ने बताया है कि इस सम्प्रदाय में श्रीराधा ही परम इष्ट हैं और भगवान् श्रीकृष्ण स्नेष्ट सम्बन्धी (प्रियतम) होने के कारण ही प्रिय और सम्मान्य हैं। वे इष्ट नहीं हैं।

2. वे (कृष्णजी) श्रीराधाजी की किंकरियों से श्रीराधा-प्रसाद की प्राप्ति के लिए सदा चाटुकारिता करते रहते हैं और विनयावनत बने रहते हैं।

3. यह किंकरी और सखी स्वरूप ही इस सम्प्रदाय का अपना निज और नित्य रूप है (परकीया गोपी रूप नहीं, जिनका कि श्रीकृष्ण से स्वतन्त्र कान्त सम्बन्ध रहता है और श्रीराधाजी से सपत्नी भाव)। निगमागम से अगोचर सच्चिदानन्दघन विग्रह श्रीराधाकृष्ण नित्य किशोर युगल रूप से श्रीवृन्दावन में ऐसी प्रेमक्रीड़ा किया करते है जो स्वकीया और परकीया भाव से असम्प्रज्ञात है और यथासमय स्वेच्छा से ये युगल व्रजेन्द्रनन्दन और श्रीवृषभानुनन्दिनी नाम से व्रज में प्रकट होकर अपनी रसरहस्यलीला से निज रसिकजनों को आनन्दप्लावित किया करते हैं। तब श्रीकृष्ण विषय और श्रीराधिका-सह-समस्त गोपियाँ आश्रय होती है। इसी श्रुतिगोचर व्रजलीला की उपासना तथा गान अन्य समस्त रसिकों ने किया है।

रचनाएँ : श्री गोसाईं हितहरिवंशजी की संस्कृत रचना अत्यन्त सरस और प्रौढ़ है और उनकी व्रजभाषा की रचनाएँ भी उसी प्रकार की उच्चकोटि की हैं।[1] श्रीराधादेवी के सम्बन्ध में ऐसी मोहक और आकर्षक कविता वही लिख सकता है जिसने सर्वात्मना अपने को उनके प्रीतिप्रसाद के लिए ही समर्पित कर दिया हो। उनका 'हितचौरासी' नामक ग्रन्थ ही छपा है, परन्तु खोज-रिपोर्ट में उनकी कुछ और रचनाओं का भी पता चला है। अनन्य भक्ति और मधुर पद-बन्ध, दोनों ही दृष्टियों से हितहरिवंशजी व्रजभाषा के चोटी के दो-तीन कवियों में गिने जाने योग्य हैं।

1 मुद्रित पुस्तकें—(1) 'वृन्दावन शतक', लक्ष्मी वेंकटेश्वर, कल्याण, 1894; (2) 'हित-चौरासीजी' (गोस्वामी गोवर्धन लाल), वृन्दावन, 1906; (3) 'हितसुधासागर' (श्री नारायण) अलीगढ़, 1936।

इस काल के कुछ अन्य कवि : [illegible] कवियों का है। ऐसे अनेक कवि भी इस काल में हुए, जो भक्ति-रस की कविता के लिए प्रसिद्ध हैं। बहुतेरे ऐसे [illegible] कवियों में भी भक्ति की [illegible] के रूप में [illegible] हैं। ऐसे अनेक भक्त कवि इस काल में हुए, जिन्होंने [illegible] उल्लेख किया जा सकता है : (1) 'हरिचरित्र' और 'भागवत-दशमस्कन्ध भाषा' के लेखक लालचदास (1523 ई.), जिनकी भाषा अवधी है और दोहा-चौपाई में जो [illegible] लिखित ग्रन्थ है; (2) सूरदास मदनमोहन (अकबर के समकालीन), जिनकी बहुत-सी कविताएँ सूरदास की कविताओं में घुल गयी हैं और जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि वे अकबर के अधीन थे और उनके खजाने का तेरह लाख रुपया साधुओं के लिए बहुमति के व्यय कर दिया था; (3) 'सुदामा चरित्र' के लोकप्रिय लेखक नरोत्तमदास (1545 ई.); (4) चैतन्य महाप्रभु के [illegible] शिष्य और उन्हें भागवत की कथा सुनानेवाले दाक्षिणात्य ब्राह्मण गदाधर भट्ट, जो मधुर के [illegible] होकर भी ब्रजभाषा में बड़ी मधुर कविता किया करते थे और जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि उनका एक पद सुनकर जीवगोस्वामी ने एक श्लोक लिखा था[1] जिसमें बताया था कि राधाजी के चरणकमलों की सेवा किये बिना और वृन्दावन में वास किये बिना तथा उनके भाव के गम्भीर भक्तों का सत्संग किये बिना श्यामसमुद्र के रस का अवगाहन कैसे हो सकता है, और इसी श्लोक ([illegible]) को सुनकर महाप्रभु के शिष्य हुए थे; 5. [illegible] सम्प्रदाय के आचार्य संगीतकला विशारद स्वामी हरिदास (अकबर के समकालीन), जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि वेश बदलकर [illegible] अकबर और तानसेन उनके गान सुना करते थे और जिनकी कोई एक लिखित पुस्तक तो नहीं परन्तु 'हरिदासजी के ग्रन्थ', 'स्वामी हरिदासजी के पद', 'हरिदासजी की बानी' आदि संग्रह ग्रन्थ मिलते हैं और नाभाजी के अनुसार जिनके दरवाजे पर बड़े-बड़े राजा भी खड़े रहा करते थे; 6. 'युगलशतक' के उत्तम भक्त की कविता के लेखक श्रीभट्ट (सन् 1565 ई.), जिनको नाभाजी ने 'मधुर भाव सम्मिलित ललित लीला सुवलित छवि' का निरूपणकार बताया है; 7. बुन्देलखण्ड के लोकप्रिय कवि व्यासजी (सोलहवीं शताब्दी), जो वृन्दावन आकर राधावल्लभी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे और पहले ओरछा-नरेश मधुकरशाह के राजगुरु और वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित थे और बाद में हितहरिवंशजी के शिष्य हो गये थे, जो सदा शास्त्रार्थ के लिए पण्डितों से छेड़छाड़ करते थे, परन्तु हितजी ने एक पद

1. अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्म-
मनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम्।
असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचित्तान्
कुतः श्यामसिन्धोः रसस्यावगाहः ।

दोहों के भावों के अनुसार रहीम के जीवन की परिस्थितियों की कल्पना की गयी है और इस प्रकार साधारण जनता ने इस विश्वास पर मुहर लगा दी है कि ये दोहे जीवन से सीधे निकले हैं। यह कह सकना तो कठिन है कि इन गढ़ी हुई कहानियों में कितना तथ्य है, परन्तु ये जनचित्त की परिशंसा का संकेत अवश्य करती हैं।

रहीम का कवित्व : रहीम की रचनाएँ जीवनरस से परिपूर्ण हैं। मानसिक औदार्य, सांस्कृतिक विशालता और धार्मिक सहिष्णुता के विषय में रहीम की तुलना गिने-चुने लोगों में की जा सकती है। इतने विस्तृत सांस्कृतिक आधार-फलक पर जीवन को देखनेवाले कवि के 'खेटकौतुकम्' जैसे अरबी-फारसी-संस्कृत-हिन्दी के मिश्रण का कौतुक और 'मदनाष्टक' की मौज आश्चर्य और कुतूहल का विषय बन जाती है। निस्सन्देह इस कवि का हृदय मानवीय रस से परिपूर्ण और अनासक्त तथा अनाविल सौन्दर्य दृष्टि से समृद्ध था। जीवन के अनेक घात-प्रतिघात के भीतर से भी, राजकीय षड्यन्त्रों के चपेट में बार-बार आते रहने के बाद भी, और हर प्रकार के उतार-चढ़ाव में उठते-गिरते रहने के बाद भी, जिस कवि के हृदय का मानवीय रस निःशेष नहीं हुआ उसके हृदय की अद्भुत सरसता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। इनका 'बरवै नायिका-भेद' इतनी सरस रचना है कि, कहते हैं कि गोसाईं तुलसीदासजी उससे प्रभावित हुए थे और बरवै छन्द में रामायण की कथा लिखने को उत्साहित हुए थे। इन्होंने 'रास पंचाध्यायी' पर भी एक पुस्तक लिखी थी जो अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। इनके ग्रन्थों में 'रहीम दोहावली', 'बरवै नायिकाभेद', 'मदनाष्टक' और 'शृंगार सोरठा' तथा 'रासपंचाध्यायी' नाम की पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। गोस्वामीजी की मृत्यु के दो वर्ष बाद सन् 1625 ई. में इनकी मृत्यु बतायी जाती है।

गंग : अकबर के दरबार में एक और बड़े श्रेष्ठ कवि थे गंग (कविताकाल 1600 ई.), जिनकी कोई स्वतन्त्र रचना तो प्राप्त नहीं हुई है परन्तु फुटकल पद, कवित्त आदि अनेक प्राप्त हुए हैं। फिर महापात्र नरहरि बन्दीजन (1515-1610 ई.), जिनके 'रुक्मिणी-मंगल', 'छप्पयनीति' और 'कवित्तसंग्रह' प्राप्त हैं; महाराज बीरबल, जो सम्राट् अकबर के अत्यन्त अन्तरंग और सहृदय मित्र और मन्त्री बताये जाते हैं; महाराज टोडरमल, जो अकबर के भू-कर विभाग के मन्त्री थे; तथा अकबर के दरबारी कछवाहा सरदार मनोहर कवि आदि कई कवि अकबर के दरबार में हिन्दी कविता के उन्नायक थे। स्वयं सम्राट अकबर भी हिन्दी में कविता लिखा करते थे। एक मौजी कवि होलराय थे जो अपने आश्रयदाता श्रीहरिवंशराय का यशगान किया करते थे। ये अकबर के दरबार में प्रायः जाया करते थे। एक बार तुलसीदासजी के लोटे पर प्रसन्न होकर, कहते हैं, कह उठे थे : "लोटा तुलसीदास को लाख टका का मोल।" इस पर तुलसीदास ने प्रसन्न होकर कहा, "मोल तोल कछु है नहीं लेहु राय कवि होल !"

ऊपर प्रसंगवश जिन कवियों की चर्चा कर दी गयी है उनमें श्रीकृष्णभक्ति

का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य मिलता है। वस्तुतः श्रीकृष्णभक्ति इस काल का प्रमुख काव्य-विषय है। सत्रहवीं शताब्दी तक के साहित्य में इसकी प्रधानता बनी रही। यद्यपि कृष्णकाव्य आगे चलकर साहित्य की प्रमुख धारा नहीं रह गया, पर उसका प्रभाव बीसवीं शताब्दी तक के साहित्य पर भी रहा है।

श्रीकृष्णभक्ति-विषयक काव्य में एक ऐसा माधुर्य है जो धर्म और विश्वास के बन्धनों से बहुत ऊपर है। इस काल में मुगल सम्राटों का शासन था। कितने ही भक्तों के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्हें सम्राट अकबर ने बुलाकर सम्मानित किया। सूरदास, कुम्भनदास, स्वामी हरिदास आदि के मधुरभाव से भावित भजनों ने सम्राट का हृदय हरण किया था। बादशाह के अपने कर्मचारियों में सण्डीले के अमीन सूरदास मदनमोहन के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने सारा कोश साधुओं की खातिरदारी में खर्च कर दिया और फिर रातोंरात सण्डीला छोड़कर भाग गये। बादशाह ने जब सुना तो उसने उनका अपराध क्षमा कर दिया। यह सूरदास बहुत अच्छे भक्त कवि हुए हैं। इनके पदों में ऐसा सुन्दर माधुर्य भाव पाया जाता है कि भक्तवर नाभादास ने इन्हें 'गान काव्य गुनरासी सुहृद सहचरि अवतारी' और 'राधाकृष्ण उपासी, रहस सुख के अधिकारी' कहा है। जिन भजनों में मधुर भाव बोलता दिखता हो उनके लेखक को 'रहस सुख के अधिकारी' कहना ही उचित है। वृन्दावन उन दिनों ऐसी ही मधुर भक्ति का केन्द्र था। शायद ही संसार के किसी अन्य साहित्य में मनुष्य की भीतरी अनुराग-लालसा को इतनी महिमा से मण्डित करके प्रकट किया गया हो। वृन्दावन का भक्ति-साहित्य सब प्रकार से अपूर्व है।

रसखानि : जैसाकि ऊपर बताया गया है, श्रीकृष्णभक्ति के साहित्य में जिस मधुर भाव पर बहुत अधिक बल दिया गया है, उसमें विश्वजनीन तत्त्व है। धर्म-सम्प्रदाय और विश्वासों के बाहरी बन्धन उस विश्वजनीन माधुर्य तत्त्व के आकर्षण को रोक नहीं सके हैं। उन दिनों अनेक मुस्लिम सहृदय इस मधुर भाव की भक्ति-साधना से आकृष्ट हुए थे। इन सबमें प्रमुख हैं 'बादसा वंश की ठसक' छोड़नेवाले सुजान रसखानि। इस नाम के दो मुसलमान भक्त कवि बताये जाते हैं। एक तो सैयद इब्राहीम पिहानीवाले और दूसरे गोसाईं विट्ठलनाथजी के कृपापात्र शिष्य सुजान रसखान। दूसरे अधिक प्रसिद्ध हैं। सम्भवतः ये पठान थे, इसीलिए अपने को 'बादसा वंश का' लिखा है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में इनके आरम्भिक यौवन-काल की कुत्सित प्रेम-भावना का उल्लेख है। कहते हैं, चार महात्माओं के सत्संग से इनकी गलत ढंग की प्रेम-वासना भगवद्भक्ति में बदल गयी। इनकी दो रचनाएँ प्राप्त हैं—'सुजान रसखान' और 'प्रेमवाटिका'। 'सुजान रसखान' में 129 पद्य हैं, जिनमें अधिकांश सवैया और कवित्त हैं, कुछ थोड़े-से दोहे भी हैं। किन्तु 'प्रेमवाटिका' केवल दोहों में लिखी गयी है। दोहों की संख्या 52 है। सहज आत्म-समर्पण, अखण्ड विश्वास और अनन्य निष्ठा की दृष्टि से रसखानि की रचनाओं की तुलना बहुत थोड़े भक्त कवियों से की जा सकती है।

इन्होंने अपनी 'प्रेमवाटिका' 1614 ई. में लिखी थी। अनुमान किया गया है कि सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग में उनका जन्म हुआ होगा।[1]

ध्रुवदास : सत्रहवीं शताब्दी में भक्त कवियों की परम्परा बराबर चलती रही, परन्तु आरम्भिक भक्ति-आन्दोलन-काल में जैसे मनस्वी और शक्तिशाली साहित्यकार पैदा हुए, वैसे इस काल में नहीं हो सके। फिर भी व्रजभाषा को भक्त कवियों ने निरन्तर मधुर और सरस बनाया। भक्तिभाव इन दिनों में भी हिन्दी साहित्य की प्रधान चालक शक्ति बना रहा। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में ध्रुवदास का जन्म हुआ, जो गोस्वामी हितहरिवंश की परम्परा में पड़ते हैं। इनका काव्य-रचनाकाल सत्रहवीं शताब्दी ही है। इनकी लगभग 40 पुस्तकें प्राप्त हुई हैं[2], जिनमें कुछ के बारे में विद्वानों को सन्देह है कि ये ध्रुवदास की रचना है या नहीं। इनकी 'भक्त नामावली' नामक पुस्तक हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के बड़े काम की है। यह दो बार प्रकाशित भी हो चुकी है। एक बार काशी नागरी प्रचारिणी सभा से 1919 ई. में, फिर इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से 1929 ई. में। कई रचनाएँ दोहा-चौपाई में लिखी गयी हैं। 'नेहमंजरी, 'रहस्यमजरी', 'रतिमंजरी', 'प्रेम-लता' आदि पुस्तकें दोहा-चौपाईवाली शैली में लिखी गयी है। ऐसा जान पड़ता है कि नन्ददास की 'रूपमंजरी' इन कथाओं का आदर्श है। परन्तु प्रेम-कथानकों की भाँति इनकी कहानी में लौकिक कथा का आश्रय नहीं लिया गया। ये सभी शास्त्र-प्रसिद्ध राधा और कृष्ण की प्रेम-लीलाओं से बनी है।

आनन्दघन : इनके कुछ समय बाद प्रसिद्ध भक्त कवि आनन्दघन या घनआनन्द हुए, जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के

1. रसखानि के मुद्रित ग्रन्थ—(1) 'श्री रसखान शतक', खड्गविलास, बाँकीपुर, 1892; (2) 'सुजान रसखान', भारत जीवन, बनारस, 1892; (3) 'प्रेम वाटिका' (किशोरी-लाल गो), वृन्दावन, 1867; (4) 'पदावली', इलाहाबाद, 1930, (5) 'रसखानि और घनआनन्द', बनारस।

2. ध्रुवदास के प्रसिद्ध ग्रन्थ—(1) 'वृन्दावन सत', (2) 'सिंगार सत', (3) 'रसनावली', (4) 'नेहमंजरी', (5) 'रहस्यमजरी', (6) 'सुखमजरी', (7) 'रतिमंजरी', (8) 'वनविहार', (9) 'रगविहार', (10) 'रसविहार', (11) 'आनन्द दसा विनोद', (12) रंगविनोद', (13) 'नृत्यविलास', (14) 'रग हुलास', (15) 'मानरसलीला', (16) 'रहसि लता', (17) 'प्रेमलता', (18) 'प्रेमावली', (19) 'भजन कुण्डलियाँ', (20) 'भक्त नामावली', (21) 'मन सिंगार', (22) 'भजन सत', (23) 'मन शिक्षा', (24) 'प्रीति चोवनी', (25) 'रस मुक्तावली', (26) 'बावन वृहद् पुराण की भाषा', (27) 'सभा मण्डली', (28) 'रसानन्द लीला', (29) 'ख्याल हुलासलीला', (30) 'सिद्धान्त विचार', (31) 'रस हीरावली', (32) 'हित सिंगारलीला', (33) 'ब्रजलीला', (34) 'आनन्दलता', (35) 'अनुरागलता', (36) 'जीवदशा', (37) 'वैद्यलीला' (38) 'दानलीला', (39) 'ब्याहलो', (40) 'ख्यालिस बानी', । इनमें 'मन शिक्षा', 'ख्याल हुलास लीला' और 'ख्यालिस बानी' सन्देहास्पद हैं।

मीर मुंशी थे और सुजान नाम की किसी वेश्या पर आसक्त थे। कहते हैं कि एक बार बादशाह की आज्ञा पाकर भी इन्होंने गान नहीं किया, परन्तु सुजान के इशारे पर गाने लगे। इससे बादशाह बहुत असन्तुष्ट हुए। बाद में ये वृन्दावन में आकर रहने लगे, और भक्तिपरक रचनाएँ लिखने लगे। वृद्धावस्था में भी ये सुजान शब्द को नहीं भूले। अपनी कविताओं में सुजान शब्द का व्यवहार ये किसी-न-किसी बहाने अवश्य कर देते हैं। भक्तिपक्ष में 'सुजान' शब्द श्रीकृष्ण का वाचक है। इनकी कविता में बड़ी तन्मय भावना है।[1] इनकी मृत्यु नादिरशाह के सिपाहियों के हाथ सन् 1739 ई. में हुई। सिपाहियों ने इनके साथ बड़ा अत्याचार किया था। मृत्यु के समय इन्होंने जो कवित्त लिखा था, उसमें इनकी अनन्य भक्ति और एकान्त निष्ठा प्रकट हुई है। इस कवित्त में भी ये सुजान का नाम नहीं भूले, और यदि यही कविता इनकी अन्तिम कविता है, तो कहना पड़ेगा कि सुजान का नाम लेकर ही इन्होंने अपने भक्ति-काव्य को समाप्त किया :

बहुत दिनान की अवधि आस पास परे
खरे अरबरे हैं भरे हैं उठि जान कों।
कहि-कहि आवत छबीले मनभावन को
गहि-गहि राखति ही दै दै सनमान कों।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै
अब ना घिरत 'घन आनँद' निदान को।
अधर लगे हैं आनि करिकै पयान प्रान
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

इनके 'कृपाकाण्डनिबन्ध', 'रसकेलिवल्ली', 'सुजान-सागर' और 'बानी' नाम के ग्रन्थ प्राप्त हुए है। 'बानी' में राधाकृष्ण के विहार और अष्टयाम के पद हैं। शुद्ध ब्रजभाषा के पद लिखने में बहुत थोड़े कवियों के साथ इनकी तुलना की जा सकती है।

नागरीदास : कृष्णगढ़ के राजा यशवन्तसिंह 'नागरीदास' नाम से भक्ति-साहित्य में प्रख्यात है। ये वल्लभ-कुल के शिष्य थे। नागरीदास नाम के और भी कई महात्मा हो गये है। प्रथम नागरीदास की कथा 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' में आयी है। ये वल्लभाचार्य के शिष्य थे, और आगरे के निवासी थे। दूसरे नागरीदास श्री हरिदास की शिष्य-परम्परा में, तीसरे गोस्वामी हितहरिवंश के सम्प्रदाय में, और चौथे महाप्रभु चैतन्य के सम्प्रदाय में दीक्षित थे। यद्यपि बादशाह अहमदशाह ने इन्हें ही कृष्णगढ का राजा बनाया था, परन्तु इनके भाई बहादुरसिंह ने विद्रोह करके गद्दी पर अधिकार कर लिया था। बाद में मराठों

1. मुद्रित रचनाएँ—(1) 'सुजानसागर' (भाग-1), हरिप्रकाश प्रेस, बनारस, 1897; (2) 'विरहलीला', काशी नागरी प्र. सभा, 1907; (3) 'घनआनन्द और आनन्दघन', प्रसाद परिषद्, काशी।

की सहायता से इन्होंने गद्दी पर अधिकार किया। परन्तु गृह-कलह से बड़ा धक्का लगा। राजकाज से ऊबकर ये व्रज की ओर चले आये। सन् 1764 ई. में इनका स्वर्गवास हुआ। जीवन के अन्तिम चालीस वर्षों में इन्होंने निरन्तर साहित्य-सेवा की। इनके ग्रन्थों की संख्या 75 बतायी जाती है, इनमें से 73 पुस्तकों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। इन रचनाओं में वैराग्य, शृंगार और भक्ति के पद हैं। इनकी पत्नी बनीठनीजी भी 'रसिकविहारी' छाप देकर कविता लिखा करती थीं। इनकी एक रचना 'इश्कचमन' है, जिससे इनके फारसी साहित्य और परम्परा के ज्ञान का पता चलता है।

अलबेली अली : भक्तिकाव्य की परम्परा वृन्दावन में अद्यावधि चलती आयी है। अठारहवीं शती के आरम्भ में महात्मा वंशीअली के कृपापात्र शिष्य श्री अलबेली अलीजी नामक महात्मा हुए, जिनकी एक पुस्तक 'समय प्रबन्ध-पदावली' बाबू जगन्नाथदास द्वारा सम्पादित होकर 1901 ई. में प्रकाशित हुई। ये भाषा और संस्कृत के अच्छे कवि थे। इनकी रचनाओं में श्रीराधिका के प्रति भक्ति-भावना प्रदर्शित की गयी है। इनका विश्वास था कि,

विविध भाँति के और भजन जे लौन बिना ज्यों विंजन,
श्रीराधा-पद-कमल कृपा बिनु को पावै रस को कन ॥

अर्थात् श्रीराधाजी के चरण-कमलों की कृपा से मनुष्य सच्चे रस का अधिकारी हो सकता है।

चाचा वृन्दावनदास : राधावल्लभीय सम्प्रदाय में गोस्वामी हितरूपजी हुए, जिनके शिष्य चाचा वृन्दावनदास हुए, जो तत्कालीन गोसाईंजी के भ्राता होने के कारण चाचाजी कहलाने लगे। इनका कविता-काल 1738 ई. से आरम्भ होता है, और कहा जाता है कि इनके बनाये पदों की संख्या लक्षावधि थी। दुर्भाग्यवश इनकी सब रचनाएँ प्रकाशित नहीं हुई हैं, और सम्भवतः प्राप्य भी नहीं हैं। इनकी ग्यारह पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं।[1]

भागवत रसिक : अठारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में श्री हरिदासजी के 'टट्टी-संस्थान' में श्री भागवत रसिक नामक भक्त हुए, जो इस संस्थान के अन्तिम आचार्य ललितमोहिनीदासजी के शिष्य थे। यद्यपि इन्हें गद्दी का अधिकार प्राप्त हो रहा था, तथापि इन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। इनकी एक पुस्तक 'अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ' को लखनऊ के केदारनाथजी वैश्य ने छपवाया था। इनके लिखे कुण्डलिया छन्द भक्ति-निरूपण के सम्बन्ध में बेजोड़ हैं।

हठी : लगभग इसी समय श्री हितहरिवंशजी की परम्परा में हठी नाम के

1. इनकी रचनाएँ—(1) 'श्री व्रजप्रेमानन्द सागर', (2) 'हिण्डोरा', (3) 'छद्म लीला', (4) 'चौबीस लीला', (5) 'श्रीकृष्ण गिरिपूजन मंगल', (6) 'श्रीकृष्ण मंगल', (7) 'राग रस', (8) 'अष्टयाम', (9) 'समय प्रबन्ध', (10) 'भक्त प्रार्थनावली', (11) 'श्री हितरूप चरितावली'।

कवि हुए, जिन्होंने 'राधासुधाशतक' नाम का काव्य लिखा। राधिका के सम्बन्ध में इतने भक्ति-भरे कवित्त शायद ही किसी दूसरे कवि ने लिखे हों। राधिका के चरणों के प्रति इनकी भक्ति-भावना बड़ी ही मधुर है। इस काल के बहुत कम भक्त कवियों में इतनी काव्य-मर्मज्ञता रही होगी। खूब भक्ति-भाव के साथ काव्य-मर्मज्ञता के मणिकांचन योग के कारण इनकी कविता सहृदयों को आकृष्ट करती है। राधिका के चरणों के सम्बन्ध में ये कहते है :

नवनीत गुलाव तें कोमल हैं, हठी कंज की मंजुलता इनमें।
गुललाला गुलाल प्रवाल जपा छवि ऐसी न देखी ललाइन में।
मुनिमानस मंदिर मध्य बसैं बस होत हैं सूधे सुभाइन में।
रहु रे मन तू चित चाइन सों वृपभानु कुमारि के पाइन में।

यह महिमामयी राधिका जब श्रीकृष्ण का रूप धारण करती है तब तो शोभा के समुद्र में ज्वार आ जाता है :

मोर पखा गरे गुंज की माल किए नव वेप बड़ी छवि छाई।
पीत पटी दुपटी कटि मे लपटी लकुटी 'हठी' मो मन भाई।
छूटी लटैं डुलैं कुंडल कान बजैं मुरली धुनि मंद सुहाई।
कोटिन काम गुलाम भए जब कान्ह ह्वै भानुलली बनि आई।

सहचरिशरण : फिर टट्टी-संस्थान की परम्परा में ही सहचरिशरणजी नाम के भक्त कवि हुए, जो अठारहवी शताब्दी के अन्तिम भाग में वर्त्तमान थे। इनकी दो पुस्तकें प्राप्त हुई है : 1. 'ललित प्रकाश', 2. 'सरस मंजावली'। 'ललित प्रकाश' मे टट्टी-सस्थान के सिद्धान्तों की व्याख्या और आचार्यों के जीवन-वृत्त हैं, और 'सरस मंजावली' में मंजु छन्दों में भगवान् की और राधिका की रूप-माधुरी का वर्णन है।

अठारहवी शताब्दी के अन्त में कृष्ण-चैतन्य सम्प्रदाय के गुणमंजरीदास हुए। हिन्दी मे महाप्रभु चैतन्यदेव के सिद्धान्तों का प्रचार इन्होंने ही किया है। फिर इसी समय स्वामी नारायणदासजी हुए, जिनकी भक्ति-विपयक कविताएँ बहुत लोकप्रिय हुईं। अठारहवी शताब्दी के अन्त-भाग मे लखनऊ के अग्रवाल कुल के श्री ललित-किशोरीजी हुए, जिनके भक्ति-भरे पदों ने भारतेन्दु-जैसे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ का हृदय-हरण किया था।

प्रेमभक्ति का साहित्य : इस प्रकार पन्द्रहवी शताब्दी मे व्रजभूमि में जिस प्रेम-भक्ति का बीज-वपन हुआ, वह सैकड़ों वर्ष तक भक्तों को काव्य-रचना की प्रेरणा देता रहा और सहृदयों को मुग्ध बनाये रहा। सत्रहवीं शताब्दी के बाद के भक्ति-साहित्य में सखी-भाव की साधना का प्राधान्य हो गया। इस काल के तीन शक्तिशाली सम्प्रदायों ने इस भाव-धारा को प्रोत्साहित किया : 1. महाप्रभु चैतन्य के शिष्यों द्वारा प्रवर्तित 'गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय', 2. गोस्वामी हितहरिवंश द्वारा सस्थापित 'राधावल्लभीय सम्प्रदाय', और 3. गोस्वामी हरिदास द्वारा पोषित 'टट्टी-संस्थान'। इन सम्प्रदायों द्वारा प्रचारित भक्ति-सिद्धान्तों में आत्म-समर्पण

का वेग है, और यह आत्म-समर्पण स्त्री-रूप में सबसे अधिक अभिव्यक्त होता है। स्त्री आत्म-समर्पण का प्रत्यक्ष विग्रह है। आगे चलकर भक्तों ने इस भाव को बड़ी सरल और मधुर भाषा में व्यक्त किया है। इसका प्रभाव रामभक्ति-शाखा पर भी पड़ा है। वृन्दावन की भाँति अयोध्या भी सखी-सम्प्रदाय के भक्तों का केन्द्र बन गयी। अठारहवीं शताब्दी के साहित्य में सखी-भाव की साधना में आन्तरिक प्रेम-निवेदन की भावना के साथ-ही-साथ वाह्य उपकरणों में भी स्त्री-भाव का अनुकरण प्रवेश करने लगा; और भक्तों ने कई बार केवल स्त्री नाम ही नहीं ग्रहण किया, स्त्रियों की वेश-भूषा और हाव-भाव का अनुकरण भी आरम्भ किया। यह बात साधना-पक्ष के ह्रास की ओर इंगित करती है। इससे प्रकट होता है कि आन्तरिक प्रेम-प्रदर्शन की शक्ति क्षीण हो आयी है, और साधक अपनी यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए वाह्य उपकरणों का सहारा लेना चाहता है। यह आश्चर्य की बात है कि रामभक्ति-शाखा में यह बात अधिक स्पष्ट हुई है।

इस साहित्य के गुण-दोष : श्रीकृष्णभक्ति का साहित्य मनुष्य की सबसे प्रबल भूख का समाधान करता है। वह मनुष्य को वाह्य विषयों की आसक्ति से तो अलग कर देता है, लेकिन उसे शुष्क तत्त्ववादी और प्रेमहीन कथनी का उपासक नहीं बनाता। वह मनुष्य की सरसता को उद्‌बुद्ध करता है; उसकी अन्तर्निहित अनुराग-लालसा को ऊर्ध्वमुखी करता है, और उसे निरन्तर रससिक्त बनाता रहता है। यह प्रेम-साधना ऐकान्तिक है, वह अपने भक्त को जागतिक द्वन्द्व और कर्त्तव्यगत संघर्ष से हटाकर भगवान् के अनन्यगामी प्रेम की शरण में ले जाती है। यही उसका दोष है; क्योंकि जीवन केवल प्रेमनिष्ठा तक ही सीमित नहीं, यह केवल उसका एक पक्ष है। मनुष्य को पूर्ण रूप से सजग बनाने के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता होती है, जो उसको कर्त्तव्य-पथ पर चालित करे और जीवन के प्रत्येक संघर्ष में विजयी होने की उमंग सचारित करे। कृष्णभक्ति के साहित्य ने दूसरे पक्ष को क्रमशः गौण किया है और अन्त तक एकदम भुला दिया है। इसी का यह परिणाम हुआ है कि इतना मधुर और मोहक साहित्य उन्नीसवीं शताब्दी में एकदम क्षीणवल हो गया। वह साधारण गृहस्थों के काम की चीज नहीं रहा, उसमें जीवन-संघर्ष से ऊबे हुए ऐकान्तिक प्रेमनिष्ठा के भक्तों का ही प्राधान्य हो गया। उसकी मधुरता और मोहकता आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। आज भी उसमें मनुष्य की अतिरिक्त अनुराग लालसा को मण्डित करने की शक्ति है। परन्तु फिर भी वह जीवन का सम्बल नहीं बन सकती, क्योंकि वर्त्तमान काल के संघर्ष-संकुल जीवन में वह नयी प्रेरणा नहीं दे सकती।

पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति के साहित्य ने नवीन जीवन दृष्टिकोण और नवीन जीवनादर्श दिया था। चार सौ वर्षों तक उस आदर्श ने भक्ति की प्रेरणा दी, परन्तु अन्तिम दिनों में यह प्रेरणावेग क्रमशः एकांगी और क्षीणवल होता गया। भक्ति-साहित्य ने भाषा में उत्तरोत्तर माधुर्य भरा, किन्तु अन्त तक यह माधुर्य मात्रा को अतिक्रम कर गया।

[इस साहित्य के अध्ययन में सहायक ग्रन्थ—मिश्रबन्धु: 'मिश्रबन्धु-विनोद, रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'; दीनदयालु गुप्त : 'अष्टछाप के कवि'; रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'; ब्रजेश्वर वर्मा : 'सूरदास'; मुंशीराम शर्मा: 'सूरसौरभ', वियोगी हरि : 'ब्रजमाधुरीसार' ।]

सगुणमार्गी रामभक्ति का साहित्य

रामभक्ति की दो शाखाएँ : स्वामी रामानन्द द्वारा प्रचारित रामभक्ति ने दो मार्गों में अपने-आपको प्रकट किया। निर्गुणमार्ग के रूप में उसका विकास कबीर, दादू आदि निर्गुण-परम्परा के भक्तों में हुआ। परन्तु स्वयं स्वामी रामानन्द निर्गुणमार्ग के उपासक नहीं थे। उनकी लिखी समझी जानेवाली पुस्तकों से उनका सगुणोपासक होना ही सिद्ध होता है। 'गुरुग्रन्थसाहेब' में पाये जानेवाले भजन से उनकी उदार मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। वे साधना के क्षेत्र में निर्जीव आचारों को बहुत महत्त्व नहीं देते थे। उनका उपदेश शिष्यों के ही संस्कार और रुचि के अनुकूल विकसित हुआ। उनका उपदेश भगवान् की अनन्य भक्ति करना ही था। इसी को वे बड़ा समझते थे। यह ऐकान्तिक भक्ति ही उनका एक-मात्र उपदेश था। इसके साथ ही रामानन्द के शिष्यों ने एक और सर्व-सामान्य-तत्त्व उनसे ग्रहण किया—राम नाम। निर्गुण और सगुण दोनों ही मार्ग के अनुयायियों ने उनसे इस महामन्त्र को ग्रहण किया। रामनाम के बारे में दोनों मतों में कोई विरोध नहीं है। 'राम' के अर्थ के बारे में अवश्य दोनों मतों में मत-भेद है। कबीरदास इसका मर्म दूसरा ही बताते है और सगुणमार्गी भक्त कुछ और ही बताते है। कबीरदास ने कहा था कि "दसरथ सुत तिहूँ लोक बखाना। रामनाम को मरम है आना।" उधर भक्तप्रवर तुलसीदासजी ने मानो इसी उक्ति का उत्तर देते हुए कहा था :

जेहि इमि गावहि वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान् ॥

इसलिए दोनों प्रकार के भक्तों के मन में मतभेद 'राम' के अर्थ के सम्बन्ध में था। निर्गुणमार्गी अवतारों मे विश्वास नहीं करते थे, इसलिए उनके राम 'दसरथ-सुत' नहीं हो सकते थे; किन्तु सगुणमार्गी अवतारों मे पूर्ण आस्था रखते थे, इसलिए उनके 'राम' 'दसरथ अजिर बिहारी' नररूपधारी थे। यही दोनों के दृष्टिकोण में

अन्तर हो जाता है। लीला में सभी भक्तों का विश्वास था किन्तु निर्गुणमार्गी भक्त के लिए सम्पूर्ण दिग्देशकाल उस लीला की भूमि था, जबकि सगुणमार्गी भक्तों के लिए लीला का अर्थ था : नरवेश में अवतरित भगवान् की जीवनचर्या।

तुलसीदास का आविर्भाव : संयोग से निर्गुणमार्ग की रामभक्ति को आरम्भ में ही कबीर और नानक जैसे शक्तिशाली सन्त मिल गये। परन्तु सगुणमार्ग की रामभक्ति को कुछ विलम्ब से तुलसीदास-जैसा भक्त प्राप्त हुआ। वैसे तो सगुण-मार्गी राम भक्ति के क्षेत्र मे भी महान् साधको की कमी नही थी, परन्तु साहित्य के माध्यम से इस साधना के प्रकाश के विकीर्ण होने में कुछ समय लगा। सन् ईस्वी की सोलहवी शताब्दी के अन्त मे यह सुयोग प्राप्त हुआ। परन्तु जब वह प्राप्त हुआ तो उसे ऐसे शक्तिशाली महापुरुष का सहयोग मिला कि साधना के क्षेत्र के साथ ही साहित्य का क्षेत्र भी धन्य हो गया। विरले अवसरों पर ऐसा शुभ संयोग प्राप्त होता है जब मनुष्य के 'सर्वोत्तम' को, प्रकट होने के लिए, इस प्रकार भाव और भाषा का सहारा प्राप्त होता है। सोलहवी शताब्दी के मध्यभाग में किसी समय तुलसीदासजी का जन्म हुआ था। ठीक-ठीक तिथि मालूम नहीं, किंवदन्तियाँ जितना धुआँ उँड़ेलती है उतना प्रकाश नही। परन्तु इतना सत्य है कि उन्होने अपना 'रामचरितमानस' संवत् 1631 अर्थात् सन् 1575 ई. में आरम्भ किया था। इसके तीस-चालीस वर्ष पहले उनका जन्म हो गया होगा।

तुलसीदास का महत्त्व : तुलसीदास का महत्त्व बताने के लिए अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार की तुलनामूलक उक्तियों का सहारा लिया है। नाभादास ने इन्हे 'कलिकाल का वाल्मीकि' कहा था, स्मिथ ने इन्हे 'मुगलकाल का सबसे महान् व्यक्ति' माना था, ग्रियर्सन ने इन्हें 'बुद्धदेव के बाद सबसे बड़ा लोक-नायक' कहा था, और यह तो बहुत बार कहा है कि उनकी रामायण उत्तर-भारत का बाइबिल है। इन सारी उक्तियों का तात्पर्य यही है कि तुलसीदास असाधारण शक्तिशाली कवि, लोकनायक और महात्मा थे।

तुलसीदास-विषयक जानकारी : यह खेद की बात है कि इतने बड़े महा-पुरुष की जन्म-तिथि और जन्म-स्थान का कुछ निश्चित पता नही चलता। इधर इस प्रकार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी है कि तुलसीदास के साथ अपने गाँव या कुल या प्रदेश का कोई-न-कोई सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाय। इसका परिणाम यह हुआ, तुलसीदास के शिष्यो की 'डायरी' से लेकर उनके सगे-सम्बन्धियों के ग्रन्थ तक उपलब्ध होने लगे है। नये-नये दावे और नयी गढ़ी हुई अनुश्रुतियाँ इतिहास-लेखक के मार्ग को निरन्तर कण्टकाकीर्ण करती जा रही हैं। तुलसीदास के साहित्य के उन शक्तिशाली तत्त्वों की आलोचना गौण हो जाती है, जो इतने दिनों से लोक-चित्त को प्रभावित, उन्नीत और महिमान्वित करते रहे हैं, और केवल उनकी भौतिक काया के कपोल-कल्पित सम्बन्धों पर विचार ही मुख्य हो उठता है। झूठी पुस्तकों, अर्थहीन दावों और बेबुनियाद स्थापनाओं को महत्त्व देने का परिणाम यह हुआ कि नित्य नवीन दावों की बाढ़ आती जा रही है। इतिहास की पुस्तकों मे

ऐसी पुस्तकों की उपेक्षा ही वांछनीय है। अस्तु।

तुलसीदास का देखा हुआ समाज : तुलसीदास की जो पुस्तकें प्रामाणिक मानी जाती हैं, उनको देखने से स्पष्ट होता है कि जिस काल में उनका जन्म हुआ था, उस समय उन्होंने जिस समाज को देखा था, वह बहुत ऊँचे आदर्शों पर नहीं चल रहा था। उच्च स्तर के लोग विलासिता के पंक में डूबे हुए थे, और निचले स्तर के स्त्री-पुरुष दरिद्र, रोगी और अशिक्षित थे। वैरागी हो जाना मामूली बात थी। जिनके भी 'नारि मुई घर सम्पति नासी' वही मूँड़ मुड़ा के संन्यासी हो जाता था। वस्तुतः मुस्लिम-सम्पर्क के बाद हिन्दू-समाज में आत्म-रक्षा की जो भावना उत्पन्न हुई थी, उसने समाज में अनावश्यक सावधानी का भाव भर दिया था। जाति-पाँति की प्रथा और भी कठोर हो उठी थी। जन्म से ही नीच माने जाने-वाले लोगों में यदि कुछ भी स्वाधीन विचार उत्पन्न हुआ करता, तो वे इस कठोर बन्धन की विषम वेदना से विचलित हो जाते, और साधु बन जाते थे। इस बात को यदि सहानुभूति की दृष्टि से देखा जाय, तो यह आवश्यक सामाजिक रोग के रूप में दिखेगी। पर यदि समाज-स्थिति के ढाँचे को ज्यों-का-त्यों बचा रखने की दृष्टि से देखा जाय, तो समाज को बर्बाद कर देनेवाली कुप्रथा के रूप में ही दिखेगी। तुलसीदास ने अत्यन्त दुःख के साथ इस कुप्रथा का उल्लेख किया है। सारा देश सैकड़ों सम्प्रदायों और अखाड़ों में बँटे हुए इन साधुओं से भरा हुआ था। नाथ-मार्गी साधुओं का प्रभाव अब भी पूर्ण मात्रा में था; 'अलख' की आवाज गर्म तो थी, पर तुलसीदास ने अत्यन्त क्षोभ के साथ देखा था कि ये अलख जगानेवाले कुछ नहीं 'लख' पाते थे। भक्ति की जो नयी धारा आयी थी, वह इन अशिक्षित, नाथ-प्रभावित, शास्त्रज्ञान-विवर्जित और विवेकहीन साधुओं के हाथों कुछ-का-कुछ बनती जा रही थी। कलिकाल के ये 'अधम' भक्त साखी, सबदी, दोहरा, कहनी और उपखान (उपाख्यान) कह-कहकर भक्ति का निरूपण करते थे और वेद-पुराणों की निन्दा करते थे। जिन जातियों को परम्परा से नीच समझा जाता था, उनमें कुछ अत्यन्त धर्मात्मा और प्रभावशाली सन्त हो चुके थे, जिन्होंने सहज भक्तिमार्ग का उपदेश दिया था, और वेद-पुराण-प्रतिपादित मार्ग की निन्दा की थी, उनका प्रभाव तथाकथित नीच जातियों पर पड़ा था, और उनमें आत्म-विश्वास का सचार हो गया था। शिक्षा के अभाव में इस आत्म-विश्वास ने दुर्वह गर्व का रूप धारण किया था। ये लोग शास्त्राभ्यासी पण्डितों की 'बराबरी का दावा' करते थे, और कहते थे कि 'हम क्या तुमसे कुछ कम हैं ?' सामाजिक संगठन को ज्यों-का-त्यों रहने देकर उसके स्वर को उन्नत करने के प्रयत्नशील तुलसीदास को ये बातें चिन्ताजनक मालूम हुई थी। जो जातियाँ परम्परा से सुविधा भोगने की अभ्यस्त थी, उन्हें इस प्रकार की बातें चिढ़ानेवाली सिद्ध हुईं। यद्यपि तुलसीदास स्वय 'अगुन और सगुन' में कुछ विशेष भेद नहीं मानते थे, परन्तु उन 'अग्य अको-विद अघ अभागी' लोगों की निर्गुण उपासना और सगुण-प्रत्याख्यान शैली से बहुत भिन्न थे जिनके चित में विषय-विकार की काई लगी हुई थी, और जो 'पाखण्डी

हरि-पद विमुख' थे; और तुलसीदास का पक्का विश्वास था कि ये अभागे 'जानहिं झूठ न साँच'। उनका विश्वास था कि ये अगुण-सगुण विवेक से बिल्कुल अपरिचित थे, और मूढ़तावश अनेक पन्थों की जल्पना-कल्पना किया करते थे।

हिन्दू समाज में संकीर्णता का कसाव : इस प्रकार तुलसीदास के युग में हिन्दुओं के समाज का फौलादी ढाँचा जहाँ एक तरफ अतिरिक्त सावधानी के कारण अधिकाधिक कसा जा रहा था, वहाँ उसी कसाव के परिणामस्वरूप धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्र में यथास्थिति मर्यादा पर कसके चोटें भी की जा रही थी। अतिरिक्त सामाजिक सावधानी का शिकार स्वयं तुलसीदास को भी होना पड़ा था। जान पड़ता है कि काशी के पण्डित लोग उन्हें धूत, अवधूत और जुलाहा तक कहने लगे थे तथा उनको जाति-पाँति तक को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। समाज में धन की मर्यादा बढ़ी हुई थी। दरिद्रता हीनता का लक्षण मानी जाती थी। लोग पेट के लिए ऊँचे-नीचे सब कर्म करने को प्रस्तुत थे—बेटी-बेटा बेचने तक से नहीं हिचकते थे। उनके जीवन में कभी ऐसा अकाल पड़ा था कि न किसान के खेत में अन्न होता था, न कोई भीख ही देता था। भिक्षाजीवी ब्राह्मणों में भीरुता आ गयी थी। वे अपने आदर्श से च्युत हो गये थे। स्वय तुलसीदास दरिद्रता के भीतर से बड़े हुए थे। टुकडे माँगकर ही वे पेट पालते थे, चार चने ही मिल गये तो उन्हें चारों पदार्थ समझते थे। कथरी-करवा लिये द्वार-द्वार बिलबिलाते फिरते थे। दरिद्रता के कारण उन्हें निरादर भी भोगना पड़ा था। पण्डितों और ज्ञानियों की दुनिया अलग थी, साधारण जनता की अलग। समूचा समाज विशृंखल, अस्त-व्यस्त और जर्जर हो गया था। तुलसीदास की पुस्तकें उस काल की सामाजिक समस्याओं की उलझनों के समझने का बहुत ही उत्तम सकेत देती है।

उनका आत्म-परिचय : उन्होंने स्थान-स्थान पर अपने बारे में जो कुछ लिखा है, बहुत ही हृदय-द्रावक है। जन्म होते ही माता-पिता चल बसे, बडी कठिनता से भीख माँगकर उन्होने अपना पेट पाला, दाँत निकाल-निकालकर द्वार-द्वार उन्होंने अपनी दीनता प्रकट की थी, चौंची माँग-माँगकर वे जीवन-निर्वाह भर का अन्न-संग्रह कर पाते थे। बहुत जहर पीने के बाद उन्होंने अपनी कविता की अमृत-धारा दान दी थी। जन्म 'उनका अच्छे कुल में हुआ था, और गुरु उन्हे अच्छे मिल गये थे। सूकरखेत या सोरों में उन्होंने इन्हे बहुत प्रकार से तत्त्व-ज्ञान समझाने का प्रयत्न किया। उन दिनों तुलसीदास बालक थे, ठीक से समझ नहीं सके। परन्तु गुरु ने प्रयत्न नहीं छोड़ा, बार-बार समझाया और कोमल-मति बालक तुलसीदास ने अपनी बुद्धि के अनुसार उसे ग्रहण भी किया। रामायण में उन्होंने अपने गुरु को 'कृपा-सिन्धु नर-रूप हरि' कहा है। इस पद से अनुमान कर लिया गया है कि उनके गुरु का नाम 'नरहरि' रहा होगा।[1] युवावस्था में उनमें यौवनोचित चंचलता आयी थी।

1. अयोध्या के कुछ वैष्णव सम्प्रदायों की गुरु-परम्परा में तुलसीदास नरहरिदास के। बताये गये हैं। यही सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा में रामानन्दजी के गुरु राघवानन्दजी

'विनय-पत्रिका' में उन्होंने एक जगह ज़रा-सा आभास दिया है कि युवावस्था मे 'यौवन युर युवती कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरि मदन वाय।' अनुमान कर लिया जा सकता है कि इसमें उस किंवदन्ती की ओर इशारा है, जिसमें कहा गया है कि उनकी पत्नी जब पितृ-गृह चली गयी थी, तो वरसात की भरी गंगा को तैरकर उनके पास हाजिर हुए थे और उनकी फटकार सुनी थी। पत्नी ने कहा था कि, मेरे ऊपर जितना प्रेम है, उतना यदि राम पर होता, तो तुम्हारा कल्याण हो जाता।' उसी समय ये विरक्त हो गये। फिर नाना तीर्थों में भ्रमण करते हुए भगवान् का भजन करते रहे। चित्रकूट, अयोध्या और काशी इनके प्रिय स्थान थे। अयोध्या मे ही सं. 1631 (1575 ई.) में इन्होंने सुप्रसिद्ध 'रामचरितमानस' आरम्भ किया था। काशी मे इन्हें लोगो ने वहुत तंग किया था। एक वार इसी काशी में भयंकर महामारी का प्रकोप हुआ, लोग तड़प-तड़पकर मरने लगे। सम्भवतः यह प्लेग की वीमारी थी। तुलसीदास के वाहु-मूल में कभी भीषण पीड़ा हुई। अनुमान किया जा सकता है कि यह प्लेग की ही गिल्टी रही होगी। अम्लपित्त के वे शुरू से ही रोगी थे, शायद इसीलिए सर के सब वाल झड़ गये थे और पितरों को भेंट देने लायक एक वाल भी उनके सिर मे नहीं रह गया था। इस नयी बीमारी ने उन्हें वहुत विचलित किया। वाहु की पीड़ा से वे व्याकुल हो उठे। आगे चलकर 'पाँय पीर, पेट पीर, वाहु पीर, मुंह पीर, जर्जर, सकल सरीर पीरमई' हो गया। शायद उनका प्लेग सेप्टिक भी हो गया। उन दिनों इस महाव्याधि की कोई उचित चिकित्सा भी नहीं थी। उनके सारे शरीर मे छोटे-छोटे फोड़ों के रूप में 'घोर वरतोर' निकल आये। सम्भवतः इस रोग से वे सं. 1680 (1623 ई.) के श्रावण मास मे साकेत-वासी हो गये।

उनका व्यक्तित्व : तुलसीदास का व्यक्तित्व उनके ग्रन्थों में वहुत स्पष्ट होकर प्रकट हुआ है। अत्यन्त विनम्र भाव, सच्ची अनुभूति के साथ अपने आराध्य पर अटूट विश्वास उनके व्यक्तित्व के प्रधान तत्त्व हैं। उनके सम्पूर्ण साहित्य मे यह तथ्य भरा पड़ा है। आराध्य की ऐसी एकनिष्ठ भक्ति, ऐसा अनन्य विश्वास और इतनी अखण्ड आस्था संसार के इतिहास मे दुर्लभ है। निरन्तर विषपान करने से जो व्यक्ति नीलकण्ठ हो गया था, उसके मुंह से आशा और विश्वास की यह अद्भुत वाणी निकली है। कबीरदास की भाँति तुलसीदास गलदश्रु भावुकता के पक्षपाती न थे। केवल एक ही प्रसंग पर उनकी वाणी मे गद्गद भाव दिखायी पड़ता है—जब कभी श्रीरामचन्द्र के मनोहर रूप का वर्णन आ जाता है, तभी उनकी लेखनी में भाव-विह्वलता की भाषा उतर आती है। जनकपुर मे सीताजी की एक सखी ने कहा था कि ऐसा तनुधारी संसार में नही है, जो इस रूप को

→उनके बाद तुलसीदासजी तक का क्रम इस प्रकार है—राघवानन्द—रामानन्द—सुरसुरानन्द—माधवानन्द—गरीबानन्द—लक्ष्मीदास—गोपालदास—नरहरिदास। [श्री प्रेमपत्रावली का बृहद् जीवन-चरित्र']

देखकर मोहित न हो जाय। तुलसीदास ने सखी के इस वचन को आदि से अन्त तक याद रखा है। जब कभी देवता से लेकर राक्षस तक भगवान् की नील सरोरुह कान्ति को देखते हैं, तभी मोहित हो जाते है, और जब स्वय तुलसीदास के सामने इस मनोहर रूप की स्मृति आती है, तो वे भी गद्गद हो जाते है। अन्य स्थलो पर वे बराबर सावधान रहते है, इस प्रकार अपने अखण्ड विश्वास और गम्भीर अध्ययन के योग से वे एकदम नवीन जगत् का निर्माण कर सके हैं।

उनके परिचय के अन्य स्रोत तुलसीदास के ग्रन्थों की भीतरी गवाही के बल पर हमें अभी इतना ही मालूम होता है। किन्तु कुछ और भी पुरानी पुस्तकें प्राप्त होती हैं, जिनमे तुलसीदास के जीवन-चरित-विषयक कुछ सामग्री मिल जाती है। इनमें तीन स्रोत विश्वसनीय हैं: 1. नाभादास का भक्तमाल, 2. 'भक्तमाल' पर प्रियादास की टीका, और 3 गोसाईं गोकुलनाथ द्वारा लिखित कही जानेवाली 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता'। कई इतिहास-लेखक वेणीमाधवदास की लिखित कही जानेवाली एक छोटी पुस्तिका 'मूल गोसाईंचरित' का और किसी बाबा रघुवरदास की लिखी बतायी जानेवाली एक दूसरी अल्प-प्रकाशित रचना 'तुलसीचरित' का भी इस प्रसंग मे उल्लेख करते हैं। पर मेरे विचार से ये दोनों पुस्तकें अप्रामाणिक है। इनका इस प्रसग मे उल्लेख भी नही होना चाहिए। 'शिवसिंहसरोज' में वेणीमाधवदास की लिखी एक विस्तृत पुस्तक की चर्चा है। शिवसिंहजी ने इस पुस्तक को देखा था, और लिखा था कि "इस पुस्तक से गोसाईंजी महाराज के सब चरित्र प्रकट होते है, पर इस पुस्तक मे ('शिवसिंहसरोज' मे) इस विस्तृत कथा का कहाँ तक विस्तार करूँ।" इसी इशारे को पकड़कर इस पुस्तक को रचना हुई होगी। पर शिवसिंह ने जिस पुस्तक को देखा था, उसमें तुलसीदास के जन्म-सवत् का उल्लेख नहीं था। इसीलिए उन्होंने अनुमान के भरोसे लिखा था, कि "ये तुलसीदास प्रायः संवत् 1503 के करीब उत्पन्न हुए थे।" परन्तु इस छपे हुए 'मूल गोसाईंचरित' मे इनका जन्म-संवत् 1554 दिया हुआ है। स्पष्ट ही शिवसिंह की देखी पुस्तक इससे भिन्न थी। यह कहना ठीक नही कि शिवसिंह ने 'गोसाईंचरित' देखा ही नही था। उनका कथन बहुत ही स्पष्ट है। उससे यही सूचित होता है कि उन्होंने 'गोसाईंचरित' देखा अवश्य था। तिथियाँ तो इस पुस्तक में अशुद्ध है ही— जैसे हितहरिवंश का तिरोधान सवत् 1609 में हो गया था, पर इस पुस्तक के अनुसार वे सं. 1620 तक तो जीवित थे ही; इसके अनुसार सं. 1606 में सूरदास गोकुलनाथ गोसाईं का पत्र लेकर तुलसीदास से मिले थे जो सम्भव नही जान पड़ता, क्योंकि उस समय गोकुलनाथ की उम्र सिर्फ आठ साल की थी; इस पुस्तक के अनुसार 'रामचन्द्रिका' स. 1643 के आसपास लिखी गयी, जबकि केशवदास ने स्वयं कहा है कि यह पुस्तक सं. 1658 मे लिखी गयी; इत्यादि। 'सत्य शिव सुन्दरम्' जैसे आधुनिक प्रयोग इसमे हैं; फिर, यह डायरी की शैली पर लिखी गयी है जो बिल्कुल आधुनिक है। इसी प्रकार सं. 1969 की 'मर्यादा' मे श्री इन्द्रनारायण ने बाबा

की रचित कही जानेवाली एक पुस्तक 'तुलसीचरित' की सूचना दी थी। यह बहुत बडा ग्रन्थ था, इसमें 1,33,962 छन्द थे। दुर्भाग्यवश इसका बहुत थोड़ा अंश ही 'मर्यादा' में छपा, और पूरी पुस्तक कभी दुनिया के सामने आयी ही नहीं। इसका जितना अंश छपा है, उतना इसकी अप्रामाणिकता बताने के लिए पर्याप्त है। इधर कुछ और रचनाएँ मिली है, जो काफी प्रामाणिक हैं। उनसे इस पुस्तक का एकदम मेल नही है। आगे हम इन पुस्तकों की चर्चा करेंगे।

'भक्तमाल' आदि का परिचय : 'भक्तमाल' में गोसाईं तुलसीदास के सम्बन्ध मे सिर्फ एक छप्पय मिलता है। इससे कोई विशेष बात नही जानी जाती। सिर्फ इतना ही जान पड़ता है कि तुलसीदास बड़े अच्छे कवि और भक्त थे, और 'भक्तमाल' के लेखक नाभादास के समकालीन थे। नाभादास के शिष्य प्रियादास ने 'भक्तमाल' पर जो टीका लिखी थी, उसमे चमत्कारों का ही अधिक विस्तार है। जीवनी-लेखक के काम की कोई ठोस बात उसमें भी नही है। पर गोकुलनाथजी की लिखित कही जानेवाली 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' से कई बातों का पता चलता है। ये बातें सक्षेप में इस प्रकार हैं—तुलसीदास नन्ददास के छोटे भाई थे, वे काशी में रहते थे, और भाषा मे रामायण लिखी थी; वे कभी व्रज गये थे और नन्ददास से और गुसाईं विट्ठलनाथ से भी मिले थे और वे राम के अनन्य भक्त थे। इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूचना यह है कि तुलसीदास नन्ददास के भाई थे।

जन्म-स्थान : अब तक यह विश्वास किया जाता रहा है कि तुलसीदास राजापुर के रहनेवाले सरवरिया ब्राह्मण थे, पर इधर सोरों को तुलसीदास का जन्म-स्थान मानने के पक्ष में कुछ प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। पहले-पहल लाला सीताराम ने अपने सम्पादित राजापुरवाले 'अयोध्या काण्ड' के संस्करण में यह इशारा किया था कि सूकरखेत या सोरों तुलसीदास की जन्म-भूमि हो या नहीं, वहाँ वे रहे जरूर थे। मगर सूकरखेत सोरों है या गोंडा जिले में स्थित शूकर-क्षेत्र ? पं. रामचन्द्र शुक्ल गोंडेवाले को ही असली शूकर-क्षेत्र समझते हैं। उनका दावा है कि तुलसी की भाषा यहीं की भाषा है। इधर पं. रामनरेश त्रिपाठी ने अनेक खोजों के बाद यही निर्णय दिया है कि सोरों (सूकरखेत) ही तुलसीदास का जन्म-स्थान है। जब से यह बात कुछ बल पकड़ने लगी है, तब से कुछ ऐसी नयी सामग्रियों का पता लगा है, जो आश्चर्यजनक ढंग से संगति रखनेवाली और ऐतिहासिक तथ्यों को प्रकाश में ले आनेवाली सिद्ध हुई हैं ! तुलसीदास के पूर्व-पुरुष एटा जिले के रामपुर नामक ग्राम में, जिसे उनके चचेरे भाई नन्ददास ने नाम बदलकर श्यामपुर कर दिया था, रहते थे। यह स्थान सोरों से दो मील दूर है। विशेष परिस्थितियों के कारण तुलसीदास के पिता आत्माराम शुक्ल को सपरिवार सोरों में जाना पड़ा, पर उनके भाई (नन्ददास के पिता) उसी गाँव में रहे। तुलसीदास की 'दोहावली' के अनेक दोहों से इस तथ्य का समर्थन किया गया है कि उनका निवास-स्थान सोरों के इसी मुहल्ले में था। उनकी ससुराल बदरिया ग्राम में थी। इधर नन्ददास के एक पुत्र कृष्णदास का भी पता चला है। उनकी

लिखी दो पोथियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जिनमें एक का नाम 'सूकर-क्षेत्र माहात्म्य' है और दूसरी का 'वर्षफल'। दोनों में ही कृष्णदास ने सावधानी के साथ अपने पिता के नाम के साथ अपने बड़े चाचा का उल्लेख किया है और अपनी माता कमला और चाची रत्नावली के चरणों की वन्दना भी की है। सूकर-क्षेत्र का माहात्म्य सं. 1670 (1613 ई.) में लिखा गया, और वर्षफल स. 1657 (1600 ई.) मे। दोनों मे 'रत्नावली माता' का स्मरण किया गया है। इन कृष्णदास के लिए लिखी गयी एक रामायण की खण्डित प्रति भी मिली है, जो सं. 1643 (1586 ई.) की लिखी गयी है। इसमे भी लिपिकार लछमनदास यह लिखना नही भूले हैं कि "श्री तुलसीदास गुरु की आज्ञा सों उनके भ्राता-सुत कृष्णदास सोरों क्षेत्र निवासी हेत लिखित।" फिर 'नन्ददास' के पुत्र का नाम 'कृष्णदास' भी उचित ही जान पड़ता है। सब मिलाकर सोरों से प्राप्त होनेवाली सामग्री जितनी साफ-सुथरी और सुन्दर योजना-समन्वित है, उतनी अब तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में अन्यत्र नहीं देखी गयी। इस सामग्री मे ऐसी कोई बात आयी हो नही है जिसके विषय में आधुनिक पण्डितों में मतभेद हो सके। ये सिर्फ एक बात का पक्का समर्थन करती हैं कि तुलसीदास सोरों के निवासी थे। और तो और, स्वय माता रत्नावली के लिखे दोहे भी मिल गये हैं, और उसमें देवर नन्द की चर्चा छूटने नही पायी है। इस प्रकार के एक-मन, एक-चित्त, एक-प्राण लेखक साहित्य मे दुर्लभ ही हैं।

मुझे सोरों के प्रामाणिक या अप्रामाणिक होने के पक्ष मे कुछ भी नही कहना है। जहाँ तक पुस्तकों से पढ़कर समझने का प्रश्न है, मेरा विचार है कि सोरों के पक्ष में दिये जानेवाले प्रमाण बहुत महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी वजनदार है। उनको यों ही टाल नही दिया जा सकता। परन्तु यदि इस प्रकार सुचिन्तित योजना के साथ प्रमाणों की वृद्धि होती गयी तो निर्णय करना कठिन हो जायगा, कि सोरों की वास्तविक जनश्रुति और अनुश्रुति क्या हैं। फिर तो तुलसीदास और नन्ददास के जन्म-स्थान का प्रश्न हमेशा के लिए धूमिल हो जायगा।

तुलसीदास के रचित ग्रन्थ : तुलसीदास के नाम पर अब तक कोई तीन दर्जन से ऊपर पुस्तकें प्राप्त हो चुकी हैं।[1] परन्तु मिर्जापुर के प्रसिद्ध रामायणी

1. तुलसीदास के नाम पर मिले ग्रन्थ—(1) 'कड़खा रामायण', (2) 'कुण्डलिया रामायण', (3) 'छप्पय रामायण', (4) 'पदावली रामायण', (5) 'रामलला नहछू', (6) 'रामाज्ञा', (7) 'पार्वती-मंगल', (8) 'जानकी-मंगल', (9) 'वैराग्य सन्दीपिनी', (10) 'बरवै रामायण', (11) 'संकटमोचन', (12) 'छन्दावली रामायण', (13) 'रोला रामायण', (14) 'झूलना रामायण', (15) 'कवितावली', (16) 'गीतावली', (17) 'कृष्ण गीतावली', (18) 'हनुमान बाहुक', (19) 'हनुमान चालीसा', (20) 'रामशलाका', (21) 'रामसतसई', (22) 'विनय पत्रिका', (23) 'दोहा', (24) 'तुलसी सतसई', (25) 'कलि धर्माधर्म निरूपण'।

पं. रामगुलाम द्विवेदी केवल बारह ग्रन्थों को प्रामाणिक समझते हैं जिनमें छः छोटे हैं और छः बड़े। छन्नूलालजी के प्रमाण पर और उक्त द्विवेदीजी की स्थापना को मानकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने भी इन्हीं बारह ग्रन्थों को प्रामाणिक माना है। वे ये हैं—. 'रामचरित-मानस' (रचनाकाल सं. 1631); 2 'रामलला नहछू' (जो सम्भवतः जनेऊ के अवसर को मन में रखकर लिखा गया था); 3. 'वैराग्य सन्दीपनी' (सन्त-महिमा, सन्त-स्वभाव और शान्ति का वर्णन करनेवाली दोहा-चौपाइयों में लिखी छोटी-सी पुस्तिका); 4. 'बरवै रामायण', जिसमें केवल 69 बरवै छन्दों का संग्रह है (इसकी एक बड़ी प्रति मैंने देखी है, जिसमें रामकथा का क्रमबद्ध वर्णन है। इस बड़ी प्रति के केवल आठ-दस बरवै इसमें संगृहीत है।); 5. 'पार्वती-मंगल'—एक सौ चौंसठ छन्दों में शिव-पार्वती-विवाह (मिश्रबन्धु इसे प्रामाणिक नहीं मानते); 6. 'जानकी-मंगल' में 216 छन्दों में राम-जानकी विवाह का प्रसंग है; 7. 'रामाज्ञा प्रश्न', जिसमें सात-सात दोहे के सात सप्तकोंवाले सात सर्ग है, सगुन विचारने के उद्देश्य से लिखा गया है; 8. 'दोहावली'—भक्ति, नीति और वैराग्य विषयक 573 दोहों का संग्रह; 9. 'कवितावली'—कवित्त, सवैया, छप्पय आदि छन्दों का संग्रह, जिसमें छन्द रामायणी कथा के काण्डों के अनुसार संग्रह कर दिये गये हैं, पर कथा क्रम-बद्ध नहीं है; 10. 'गीतावली'—लीला विषयक गीतों का संग्रह, 11. 'श्रीकृष्ण गीतावली' के पद; 12. 'विनय-पत्रिका'—विनय सम्बन्धी गेय पदों का संग्रह। इनमें रामचरित-मानस तथा अन्तिम पाँच ग्रन्थ बड़े हैं, बाकी छोटे। कुछ लोग 'कलिकाल धर्म निरूपण' को भी प्रामाणिक मानते हैं।

सफलता के कारण : तुलसीदास को जो अभूतपूर्व सफलता मिली, उसका कारण यह था कि वे समन्वय की विशाल बुद्धि लेकर उत्पन्न हुए थे। भारतवर्ष का लोक-नायक वही हो सकता है, जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो। भारतीय समाज में नाना भाँति की परस्पर-विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार-विचार और पद्धतियाँ प्रचलित है। तुलसीदास स्वयं नाना प्रकार के सामाजिक स्तरों में रह चुके थे। ब्राह्मण-वंश में उनका जन्म हुआ था। दरिद्र होने के कारण उन्हें दर-दर भटकना पड़ा था। गृहस्थ जीवन की सबसे निकृष्ट आसक्तियों के वे शिकार हो चुके थे। अशिक्षित और संस्कृति-विहीन जनता में रहने का उन्हें अवसर मिल चुका था, और काशी के दिग्गज विद्वानों और तपोधन संन्यासियों के संसर्ग में भी उन्हें खूब आना पड़ चुका था। उन्होंने नाना पुराणों और निगमागम का अध्ययन किया था, और साथ ही लोकप्रिय साहित्य और साधना मार्ग की नाड़ी पहचानने का उन्हें अवसर मिला था। उस युग में प्रचलित सब प्रकार की काव्य-पद्धतियों को उन्होंने अपनी शक्तिशाली भाषा की सवारी पर चढ़ाया था। उनकी काव्य-पद्धति का अध्ययन करने से उनकी अद्भुत समन्वयात्मिका बुद्धि का परिचय मिलता है। शिक्षित जनता में जितने प्रकार की काव्य-पद्धतियों का प्रचलन था, उन सबको उन्होंने सफलतापूर्वक अपनाया था। चन्द के

छप्पय, कुण्डलिया, कबीर के दोहे और विनय के पद, सूरदास और विद्यापति की लीला-गान-विषयक भाव-प्रधान गीति-पद्धति; जायसी, ईश्वरदास आदि की दोहा-चौपाइयों की शैली; गंगा आदि भाट कवियों की सवैया, कवित्त की पद्धति; रहीम के बरवै—सबको उन्होंने अपनी अद्भुत ग्राहिका शक्ति के द्वारा आत्मसात् कर लिया था। उन दिनों पूर्व-भारत में अनेक प्रकार के मंगलकाव्य प्रचलित थे। बंगला में तो ये मंगल-काव्य मिलते हैं, पर हिन्दी में सिर्फ कबीरदास के नाम पर चलने-वाले और बाद के बने हुए 'आदि मंगल', 'अनादि मंगल', 'अगाध मंगल' आदि रचनाएँ मिलती हैं, जो सिर्फ इस बात के सबूत के रूप में बची रह गयी हैं कि किसी समय मंगल-काव्यों की बड़ी भारी परम्परा मध्यदेश में भी व्याप्त थी। मंगल-काव्य, विग्रह-काव्य और सृष्टि-प्रक्रिया व्यापक ग्रन्थ हैं। नन्ददास का एक 'रुक्मिणी-मंगल' मिलता है, और चन्दबरदाई के 'रासो' में संयोगिता को पतीधर्म की शिक्षा देने के लिए 'विनय-मंगल' नाम का एक अध्याय है, जो स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र ग्रन्थ है। तुलसीदास ने इस शैली को भी अपनाया। उन्होंने पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल नाम के दो काव्य लिखे थे। इसी प्रकार उन दिनों साधारण जनता में प्रचलित सोहर, नहछू गीत, चांचर, बेली, बसन्त आदि रागों में भी उन्होंने रामकाव्य लिखे। इस प्रकार साधारण जनता में प्रचलित गीत-पद्धति से लेकर शिक्षित जनता में प्रचलित काव्य-रूपों को उन्होंने अपनाया है।

समन्वय-बुद्धि : तुलसीदास के काव्य की सफलता का एक और रहस्य उनकी अपूर्व समन्वय-शक्ति में है। उन्हें लोक और शास्त्र दोनों का बहुत व्यापक ज्ञान प्राप्त था। उनके काव्य-ग्रन्थों में जहाँ लोक-विधियों के सूक्ष्म अध्ययन का प्रमाण मिलता है, वहीं शास्त्र के गम्भीर अध्ययन का भी परिचय मिलता है। लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी। उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिन्तन का, ब्राह्मण और चाण्डाल का, पण्डित और अपण्डित का समन्वय, 'रामचरितमानस' के आदि से अन्त दो छोरों पर जानेवाली परा-कोटियों को मिलाने का प्रयत्न है। इस महान् समन्वय का आधार उन्होंने रामचरित को चुना है। इससे अच्छा चुनाव हो भी नहीं सकता था। रामनाम उन दिनों बड़े जोरों पर था। निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्तों में भी यही नाम प्रिय था और लोक में भी इस शब्द की महिमा प्रचलित हो चुकी थी। अगुण और सगुण के समन्वय के लिए इससे बढ़कर दूसरा साधन हो नहीं सकता था। तुलसीदास ने ब्रह्म-राम से भी नाम को बड़ा कहकर सहज ही निर्गुण और सगुणमार्ग के भीतर की सारी खाई पाट दी है। तत्त्व-ज्ञान कुछ भी हो, नाम निस्सन्देह मनुष्य को भव-सागर पार करा देता है। उन दिनों और भी दो प्रकार के हरिभक्ति-पथ प्रचलित थे—एक सूरदास का मधुर और सख्य भाव से भजन का मार्ग था, दूसरा . . . र आदि का निर्गुणमार्ग। तुलसीदास दोनों में से किसी को अस्वीकार नहीं

थे। परन्तु फिर भी उन्होंने दास्य भाव की भक्ति को, जो सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से सबसे उत्तम विनीत मनोभाव उत्पन्न कर देती है, श्रेष्ठ बता देते हैं। प्रसग आते ही वे राम के सगुण रूप पर जोर देते हैं। कथा के प्रवाह में उत्तम कोटि के भक्त बराबर भगवान् से यही वर माँग लेते हैं कि भगवान् का सगुण रूप ही उनके मन मे बसे। यह भाव रामायण के समस्त उदात्त भावों का पोषण देता है। राम की नर-लीला में निश्चय ही बहुत सुन्दर मनोवैज्ञानिक और शील-संचारी तत्त्वों का परिपाक हुआ है, परन्तु वह समस्त नर-लीला पाठक को क्षणिक सन्तोष ही देती है, उसका वास्तविक मनोविराम भगवान् की इसी अनिर्वचनीय शोभा मे होता है। उनके चरित्रों का सहज विकास केवल काव्य के मनोरंजक गुण के रूप में नही आता, बल्कि निखिलानन्द सन्दोह भगवान् की केवल भक्तों पर अनुग्रह करने की इच्छा से किया हुआ लीला-विस्तार के रूप में गौण होकर ही आता है। मुख्य वस्तु है, भगवान् के परम प्रेममय, परम अनुग्रहपरक और परम शान्तिदायक रूप का विकास। तुलसीदास के काव्य का यह बड़ा भारी आकर्षण है। कथा का घुमाव सब जगह काव्य की अंगुलि के इशारे पर नही चलता, वह उन मार्गों से अग्रसर होता है, जिधर से भक्तिरस की प्राप्ति हो सकती है। इसीलिए 'रामचरितमानस' केवल विशुद्ध काव्यदृष्टि से लिखा हुआ कथा-ग्रन्थ नही है। उसमे भक्ति-रस की प्रधानता है। समन्वय के प्रयत्न में समझौते की जरूरत होती है। तुलसीदास को ऐसा करने को बाध्य होना पड़ा है। परन्तु जिस असामान्य दक्षता के साथ तुलसीदास ने इस बात को सँभाला है वह अद्भुत है। 'रामचरितमानस' के कथा-काव्य की दृष्टि से अनुपमेय होने पर भी उसके प्रवाह में बाधा पड़ी है। अगर वह विशुद्ध कविता की दृष्टि से लिखा गया होता, तो कुछ और ही हुआ होता। इसमे यहाँ दार्शनिक मत की विवेचना है, तो वहाँ भक्ति-तत्त्व की व्याख्या। फिर भी अपनी असामान्य दक्षता के कारण तुलसीदास ने इस काव्यगत अन्तराय को यथासम्भव कम किया है। अपने प्रयत्न में वे इतने सफल हुए है कि भक्तिविह्वल समालोचकों को इसमे कोई दोष ही नही दिखायी देता। कथा का झुकाव इतना बारीकी से पहचाना गया है कि यह बात प्रायः ही पाठक भूल जाता है कि 'रामचरितमानस' का लक्ष्य केवल कथा ही नही, और कुछ भी है। शुष्क तत्त्व-ज्ञान तुलसीदास को बहुत प्रिय नही रहा। जब कभी वे उसकी चर्चा करते है तो कवि की भाषा मे। उपमाओं और रूपकों के प्रयोग से उनका वक्तव्य साफ हो जाता है। और कविता करने के लिए जब तुलसीदास कवि की भाषा का प्रयोग करते है, तो वे अद्वितीय नजर आते हैं।

चरित्र-चित्रण : चरित्र-चित्रण में तुलसीदास की तुलना ससार के गिने-चुने कवियों के साथ ही की जा सकती है। उनके सभी पात्र उसी प्रकार हाड़-मांस के जीव हैं, जिस प्रकार काव्य का पाठक, परन्तु फिर भी उनमे अलौकिकता है। सबसे अद्भुत बात यह है कि इन चरित्रों की अलौकिकता समझ में आनेवाली चीज है। जीवन्त पात्र सिर्फ श्वास-प्रश्वास ही नही लेते, सिर्फ हमारी भांति नाना प्रकार की संवेदनाओं को ही नहीं अनुभव करते, बल्कि वे आगे बढ़ते है, पीछे हटते हैं, अपनी

उदात्त वाणी और स्फूर्तिप्रद क्रियाओ से हमारे अन्दर ऊपर उठने का उत्साह भरते हैं, हमें साथ ले लेते हैं, हम उनका सग पा जाने पर उल्लसित होते हैं, उमँगते हैं, और सन्मार्ग पर चलने मे जो विघ्न-बाधाएँ आती हैं उन्हे जीतने का प्रयास करते है। तुलसीदास के जीवन्त पात्र इसी श्रेणी के है। बहुतेरे सगुणमार्गी भक्तो द्वारा निबद्ध चरित्रों मे श्वास-प्रश्वास की क्रिया तो है, सवेदना की तरगें भी है, परन्तु आगे बढ़ने और बढाने की गति नही है। उनकी अलौकिकता पाठक के चित्त मे केवल आश्चर्यजन्य श्रद्धा और औत्सुक्यजन्य निष्ठा जाग्रत करके समाप्त हो जाती है। पाठक सोचता है कि ये लोग समर्थ है, और हम नगण्य जीव हैं। परन्तु तुलसीदास के पात्र ऐसे नही हैं। उनकी अलौकिकता हमारी नगण्यता को नही बल्कि हमारी ग्राहिका शक्ति को उत्तेजित करती है। हम उसी मार्ग पर चलने को आतुर हो जाते है। भरत, लक्ष्मण, हनुमान, अंगद, सीता, कौशल्या जैसे पात्र हमे प्रेरणा देते हैं। मानव-जीवन के किसी-न-किसी अग पर वे प्रकाश डालते है, या फिर उनसे किसी-न-किसी सामाजिक असगति की तीव्र आलोचना व्यजित होती है, या फिर वे मनुष्य और मनुष्य के बीच सद्भावना और पर-दु.ख-कातरता की सद्वृत्तियों को जगाते है। अन्य सगुणमार्गी भक्त लीला के लिए लीला-गान करते थे। तुलसीदास ने ऐसा कही नही किया। वे आदर्शवादी ही नही, आदर्श-स्रष्ट थे, और अपने काव्य से भावी समाज की नीव डाल रहे थे। वे उस देश मे पैदा हुए थे, जहाँ कल्पना की जा सकती है कि राम के जन्म होने के हजारो वर्ष पहले रामायण लिखी गयी थी, अर्थात् जहाँ कवि भविष्य का द्रष्टा और स्रष्टा समझा जाता है। तुलसीदास ऐसे ही भविष्यद्रष्टा थे। *आज तीन, साढे-तीन सौ वर्ष बाद इस विषय* में कोई सन्देह नही रह गया कि उन्होने सचमुच ही भावी समाज की सृष्टि की थी। आज का उत्तर भारत तुलसीदास के आदर्शों पर गठित हुआ है। वही उसके मेरुदण्ड है।

भाषा पर प्रभुत्व . भाषा की दृष्टि से भी तुलसीदास की तुलना हिन्दी के किसी अन्य कवि से नही की जा सकती। जैसा कि शुरू मे ही बतलाया गया है, उनकी भाषा में भी एक प्रकार के समन्वय की चेष्टा है। वह जितनी ही लौकिक है, उतनी ही शास्त्रीय। उसमें सस्कृत का मिश्रण बडी चतुरता से किया गया है। उसमे एक ऐसा लचीलापन है जो कम कवियों की भाषा में मिलता है। जहाँ जैसा अवसर आया है, वहाँ वह वैसी ही हो जाती है। जायसी आदि सफल लौकिक भाषा के लेखक-कवियों की भाषा से मिलान करने पर यह गुण प्रकट होता है। जायसी की भाषा मे एक ही प्रकार का सहज, सरल भाव है, चाहे वह राजा के मुँह से निकली हो या रानी के मुँह से। किन्तु तुलसीदास की भाषा विषयानुकूल तथा वक्ता और बोद्धा के अनुसार हो जाती है। परिचारिका की भाषा और रानी की भाषा मे अन्तर है, निषाद की भाषा जितनी ही सरल और अकृत्रिम है, वशिष्ठ की भाषा उतनी ही वैदग्ध्यमण्डित और परिष्कृत। तुलसीदास के पहले किसी हिन्दी-कवि ने इतनी मार्जित भाषा का प्रयोग नही किया था। काव्योपयोगी भाषा लिखने

समाज-सुधारक, लोक-नायक, कवि, पण्डित और भविष्यस्रष्टा भी थे। यह निर्णय करना कठिन है कि इनमें से उनका कौन-सा रूप अधिक आकर्षक था, और अधिक प्रभावशाली था। इन सब गुणों ने तुलसीदास में एक अपूर्व समता ला दी थी। इसी सन्तुलित प्रतिभा ने उत्तर-भारत को वह महान् साहित्य दिया जो दुनिया के इतिहास में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानता।

कृष्णदास पयहारी : तुलसीदास के अत्यन्त लोकप्रिय और प्रभावशाली साहित्य के आगे परवर्ती काल के सभी काव्य-प्रयत्न फीके पड़ गये। रामचरित को लेकर लिखे गये काव्य तो उस गौरव तक पहुँच ही नहीं सके। रामभक्ति के अन्यान्य कवि भावी साहित्य को किसी प्रकार से चालित या प्रभावित करने में समर्थ न हो सके। रामानन्द की शिष्य-मण्डली में अनन्तानन्द का नाम आता है। उनके शिष्य कृष्णदास पयहारी की चर्चा पहले ही आयी है। इन्होंने गलता के मठ को नाथपन्थियों के हाथ से ले लिया था। इस मठ की शिष्य-परम्परा को आगे चलकर रामानन्दी प्रभाव को स्वीकार करना पड़ा था, फिर भी उसमें नाथ-प्रभाव बहुत रह गया है। पयहारीजी के शिष्य स्वामी अग्रदास अच्छे कवि थे, ये भी गलता में ही रहते थे। इनका समय सन् 1577 ई. के आस-पास है। इनकी चार पुस्तकों का पता लगा है—'हितोपदेश उपखाण बावनी', 'ध्यानमजरी', 'राम ध्यान मजरी' और 'कुण्डलिया'। इनकी रचना बहुत ललित और मँजी हुई भाषा में है। श्रीराम की लीला का वर्णन करते समय इनकी दृष्टि शोभा और सुषमा की ओर अधिक रहती है, चरित्र-वर्णन की ओर कम।

नाभादास : कृष्णदास पयहारी के ही शिष्य नाभादास थे, जिनका 'भक्तमाल' अपने ढंग का अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें अनेक पुराने और नये भक्तों का चरित-वर्णन है। ये तुलसीदासजी के समकालीन थे, क्योंकि इन्होंने अपनी पुस्तक 'भक्तमाल' में तुलसीदास का उल्लेख वर्तमान काल की क्रिया में किया है। 316 छप्पयों में 200 भक्तों का चरित है। यह ऐसा अपूर्व ग्रन्थ है कि परवर्ती काल में इसकी एक अपनी परम्परा स्थापित हो गयी है। इस पुस्तक में ही भक्तों के नाम के साथ सिद्धियों और चमत्कारों का बीज-वपन हुआ है। सिद्धियों की कथा प्रत्येक नाथ-पन्थी सिद्ध के नाम से जुड़ी हुई थी। चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से इन सिद्धियों की कहानी का अम्बार-सा लग गया था। इब्नबतूता आदि विदेशी यात्रियों ने इन योगियों की सिद्धियों की कहानी सुनी थी। हमने पहले ही विचार किया है कि धार्मिक विश्वासों की दृष्टि से भक्तिकाल के पहले का काल 'सिद्धि-काल' कहा जा सकता है। नाभादास को ऐसी सैकड़ों सिद्धियों की कहानियाँ गलता में प्रचलित मिली होंगी। उनके दादा गुरु कृष्णदास पयहारी ने, जिन्हें गलती से अष्टछापवाले कृष्णदास अधिकारी के साथ गड्डमड्ड कर दिया जाता है, सिद्धि के प्रताप से ही गलता की गद्दी अधिकार की थी। उन्हें वैष्णव भक्तों की महिमा बताने के लिए सिद्धियों की कहानी आवश्यक लगी होंगी। 'भक्तमाल' ने इस उ... की पूर्ति की।

प्रियादास : नाभादासजी के शिष्य प्रियादासजी ने 'भक्तमाल' पर एक टीका कवित्त-सवैयों में लिखी, जिसमें जीवन-वृत्त की अपेक्षा चमत्कारों का ही विस्तार अधिक किया गया। एक विशेष बात इस नवीन विकास में लक्ष्य करने योग्य है। यह नाथ-सिद्धों और वैष्णव भक्तों की प्रवृत्तियों का अन्तर स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। नाथ-सिद्धों को अपने तपोबल और योगसाधना का गर्व था। उन्होंने दिखाना चाहा था कि वे हवा में उड़ सकते थे, पानी पर खड़ाऊँ पहनकर चल सकते थे, छाया पकड़कर स्थूल वस्तु की गति रोक सकते थे, शेर पर सवारी कर सकते थे, सर्पों के फण पर शयन कर सकते थे, और भी न जाने क्या-क्या कर सकते थे। सर्वत्र उन्हें अपने तप और योग का भरोसा था। वैष्णव भक्त ऋद्धि-सिद्धि सब भगवान् की सांवरी सूरत और मोहिनी मूरत पर निछावर कर चुके थे। इसीलिए स्वयं भगवान् को उनकी रक्षा का भार लेना पड़ा था। 'भक्तमाल' के वैष्णव भक्तों की मान-रक्षा का भार भगवान् पर आ गया है। भक्त अपना निरीह भाव छोड़ने को बाध्य नहीं, उस पर जो भी विपत्ति आती है, वह भगवान् की शरणागति से दूर हो जाती है। इस नयी प्रवृत्ति ने भक्तों को बहुत लोकप्रिय बनाया। 'सटीक भक्तमाल' का एक अनुवाद बँगला में श्री कृष्णदास या लालदास नामक भक्त ने किया। इसके अन्त में उन्होंने एक लम्बा परिशिष्ट जोड़ दिया, जिसमें गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का समावेश है। इस पुस्तक ने परवर्ती बँगला साहित्य को कुछ दूर तक प्रभावित किया है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सूरदास, तुलसीदास, सनातन, कबीर आदि भक्तों के चरित्रों को आश्रय करके जो सुन्दर कविताएँ लिखी, वे इसी ग्रन्थ से प्रभावित होकर। इसी प्रकार इसका एक मराठी अनुवाद भी हुआ था, और पता लगा है कि उड़िया में भी इस सटीक ग्रन्थ का अनुवाद हुआ था। अब अनेक सम्प्रदायों में भी इस ग्रन्थ के अनुकरण पर भक्तमाल-जातीय ग्रन्थ लिखे गये। दादूपन्थियों का भक्तमाल लिखा गया, शैव भक्तों की चरितावली बनायी गयी और सिख सम्प्रदाय में भी भक्तों के चरित-वाले ग्रन्थ रचित हुए। इस प्रकार नाभादास की पुस्तक ने साहित्य और साधना-पद्धति को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। इनकी दो 'अष्टयाम' नामक पुस्तकों का भी पता लगा है, जिनमें एक ब्रजभाषा गद्य में है और दूसरी दोहा-चौपाइयों की शैली में।

केशवदास : रामचरित सदा से भारतीय साहित्य का प्रिय विषय रहा है। इस काल में तो भक्ति की नयी भावधारा ने इसे और भी अधिक लोकप्रिय बना दिया था। केशवदास की प्रसिद्ध रामचन्द्रिका इसी चरित को आश्रय करके लिखी गयी है। इन दिनों उत्तर भारत में वाल्मीकि की रामायण के ही समान 'प्रसन्न-राघव' और 'हनुमन्नाटक' भी बहुत चाव से पढ़े जाते थे। केशव की रामचन्द्रिका इन सब ग्रन्थों से बहुत प्रभावित है। प्रसन्नराघव से तो ज्यों-का-त्यों संवाद कई स्थानों पर ले लिया गया है। केशवदास ने इस पुस्तक की रचना के सम्बन्ध में लिखा है कि वाल्मीकि मुनि ने स्वप्न में कहा, "तू भला-बुरा तो गुनता नहीं, बेकार

की बात लिखा करता है, कुछ राम का चरित्र गा, नहीं तो तुझे स्वर्ग नहीं मिलेगा।" फिर केशवदास ने इस पुस्तक की रचना की। इससे प्रकट होता है कि इससे पहले केशवदास ने बहुत-सी व्यर्थ की बातें लिख ली थीं। निस्सन्देह इनमें प्राकृत जनों के सम्बन्ध में लिखी रचनाएँ हैं। 'रतन बावनी' उनकी प्राकृत जनों को आश्रित करके लिखी हुई कविता है। इसका रचनाकाल उन्होंने नहीं बताया। इस पुस्तक की कुछ घटनाओं के साथ केशव की अन्य पुस्तकों में वर्णित घटनाओं का मेल न देखकर समझा जाता है कि इसका कुछ अंश अवश्य प्रक्षिप्त है। इसमें नाम को देखते हुए छन्दों की संख्या 52 होनी चाहिए, पर अभी जो पुस्तक प्राप्त होती है, उसमें यह संख्या 68 है। इस पर से भी अनुमान होता है कि कुछ अंश इसका प्रक्षिप्त है। यह केशवदास की आरम्भिक रचना है। इसके बाद उन्होंने निम्नांकित क्रम से पुस्तक रचना की थी—'रसिकप्रिया' (सं. 1648, 1591 ई.), 'कविप्रिया' (सं. 1658, 1601 ई.), 'रामचन्द्रिका' (सं. 1658, 1601 ई.), 'वीरसिंहदेवचरित' (सं. 1664, 1607 ई.), 'विज्ञानगीता' (सं. 1667, 1601 ई.), 'जहाँगीर जसचन्द्रिका' (सं. 1669, 1612 ई.)। इस 'कविप्रिया' की रचना राय प्रवीण को काव्य की शिक्षा देने के लिए हुई थी। 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' काव्य-शास्त्र की पुस्तकें हैं। जिन दिनों वे इन्हें लिख रहे थे, उन्हीं दिनों वाल्मीकि मुनि ने उन्हें स्वप्न में ऐसी बेकार बातों से विरत होने का आदेश दिया। पर विरत होते थोड़ी देर लगी। 'रामचन्द्रिका' के आरम्भ में उनका काव्य-शास्त्र-विषयक ज्ञान ही प्रधान हो उठा है, नहीं तो एक ग्रन्थ के छन्द में उदाहरण प्रस्तुत करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' कोई भक्ति-ग्रन्थ तो है नहीं।

खोज की रिपोर्टों में 'बाल-चरित्र' और 'हनुमान-जन्म-लीला' नाम की दो और पुस्तकें भी केशवदास लिखित पायी गयी हैं, पर इनकी रचना की शिथिलता के कारण मिश्रबन्धु ने इन्हें किसी और केशवदास की रचना बताया है।

प्रियादास : नाभादासजी के शिष्य प्रिया
कवित्त-सवैयों में लिखी, जिसमें जीवन-वृत्त
अधिक किया गया। एक विशेष बात इस
यह नाथ-सिद्धों और वैष्णव भक्तों की प्र
पर्याप्त है। नाथ-सिद्धों को अपने तपोब
दिखाना चाहा था कि वे हवा में उड़
सकते थे, छाया पकड़कर स्थूल वस्तु को
सकते थे, सर्पों के फण पर शयन कर सक
थे। सर्वत्र उन्हें अपने तप और योग क
सब भगवान् की साँवरी सूरत और म
इसीलिए स्वयं भगवान् को उनकी रक्षा
वैष्णव भक्तों की मान-रक्षा का भार भग
भाव छोड़ने को बाध्य नहीं, इस पर जो भ
गति से दूर हो जाती है। इस नयी प्रवृ
'सटीक भक्तमाल' का एक अनुवाद बँगल
भक्त ने किया। इसके अन्त में उन्होंने ए
गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का
साहित्य को कुछ दूर तक प्रभावित कि
सूरदास, तुलसीदास, सनातन, कबीर आ
सुन्दर कविताएँ लिखी, वे इसी ग्रन्थ से प्र
मराठी अनुवाद भी हुआ था, और पता ल
का अनुवाद हुआ था। अब अनेक सम्प्र
भक्तमाल-जातीय ग्रन्थ लिखे गये। दादूप
भक्तों की चरितावली बनायी गयी और
वाले ग्रन्थ रचित हुए। इस प्रकार नाभा
पद्धति को गम्भीर रूप से प्रभावित किया
का भी पता लगा है, जिनमें एक ब्रजभाषा
की शैली में।

केशवदास : रामचरित सदा से ...
इस काल में तो भक्ति की नयी भावधारा
दिया था। केशवदास की ... रामचरि
गयी है। इन दिनों उत्तर भारत में वाल्मी
राघव' और 'हनुमन्नाटक' भी बहुत चाव
इन सब ग्रन्थों से बहुत प्रभावित है। प्रस
स्थानों पर ले लिया गया है। केशवदास

है कि वे बड़े रसिक चित्त के व्यक्ति थे, और अपने केशो की धोखा देनेवाली शुक्लता से बहुत खिन्न हो गये थे, क्योकि शत्रु के समान आचरण करनेवाले शुक्ल केश मृगनयनियों के मुख से उन्हें 'बाबा' सम्बोधन निकलवा देते थे :

केसव केसन अस करी जस अरिहू न कराँहि।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाँहि॥

पता नही इस किंवदन्ती का मूल क्या है। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि साधारण जनता केशवदास की रचना मे बहुत छिछली और भोंडी रसिकता का ही सन्धान पाती है। यह दोहा यह भी सिद्ध करता है कि साधारण जनता समझती है कि किस कवि की रचना मे वास्तविक रस है, और किसमे छिछली रसिकता।

अन्य राम-काव्य : 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' वस्तुतः रीति-ग्रन्थ है, और इनकी चर्चा यथास्थान आगे की जायेगी। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, गोस्वामी तुलसीदास के लोक-व्यापी प्रभाव ने जहाँ रामचरित को अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया, वही रामचरित-सम्बन्धी अन्यान्य काव्यों को श्रीहीन और फीका बना दिया है, इसीलिए परवर्ती काल मे रामचरित-सम्बन्धी कोई काव्य बहुत लोकप्रिय न हो सका। उदयराम राम ने 1566 ई. मे 'हनुमन्नाटक' के आधार पर इसी नाम की एक पुस्तक लिखी, जो कवित्त और सवैया छन्द मे है। प्राणचन्द चौहान ने 1610 ई. में रामायण महा-नाटक की रचना की। लालदास ने सन् 1643 ई. मे सीता-राम की लीलाओं का ग्रन्थ 'अवध विलास' लिखा और 1693 ई. मे 'बाल भक्ति नेह प्रकाश' और 'दयालमजरी' नाम के ग्रन्थ लिखे, जिनमे प्रथम पुस्तक सीता-राम की कहानी है।

रामभक्ति-साहित्य की विशेषता : रामभक्ति का साहित्य सामाजिक मर्यादा के रक्षण का साहित्य है (वह वैधी भक्ति के आसपास सदा बना रहा है), जबकि कृष्णभक्ति का साहित्य प्रधान रूप से रागानुग भक्ति का साहित्य है। कर्त्तव्य-बुद्धि से जो नियम स्थिर किये जाते है उन्हे 'विधि' कहते है, और स्वाभाविक रुचि से जो बुद्धि उत्तेजित होती है उसे 'राग' कहते है। जहाँ तक जड़ जगत् का सम्बन्ध है वहाँ तक विधि और राग मे विरोध रहता है, परन्तु जहाँ तक भगवान् का सम्बन्ध है, विधि और राग में कोई अन्तर नही रहता; क्योकि दोनों ही स्थान मे इष्ट वस्तु एक ही होती है। वैध भक्त की तीन अवस्थाएँ होती है —1. श्रद्धावान्, 2. नैष्ठिक, और 3. रुचियुक्त। वैधी भक्ति का अनुयायी सामाजिक बन्धन और मर्यादाओं को नही भूलता, जबकि रागानुराग-मार्ग का अनुयायी इष्ट के प्रति एकान्तिक भाव से आकृष्ट होता है। अपने एकान्तिक प्रेम के मार्ग मे यदि वह सामाजिक विधि-निषेधो को बाधक पाता है, तो वह उनका उल्लंघन कर देता है। गोपियों का प्रेम एकान्तिक प्रेम है। इसीलिए रागानुग मार्ग के अनुयायी भक्त अपने मे गोपियो का अभिमान करके, अर्थात् अपने को किसी-न-किसी गोपी का रूप समझकर, भगवान् का भजन करते हैं। यही कारण है कि कृष्णभक्ति-साहित्य

था। इन दिनो अनेक पुराने जैन अपभ्रंश चरितकाव्यो का सन्धान मिला है। इन चरित-काव्यो मे छन्द बदलने की प्रवृत्ति पायी जाती है। 'पृथ्वीराजरासो' में भी बहुत अधिक छन्द बदला है, बल्कि यों कहना चाहिए कि 'पृथ्वीराजरासो' छन्द-परिवर्तन का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। कथानक की गति और प्रवाह मे वहाँ छन्द बाधक नही, साधक है। परन्तु 'रामचन्द्रिका' मे छन्दो का परिवर्तन किसी खास उद्देश्य से किया गया नही जान पडता। इससे कथा की गति या मोड़ में कोई सहायता नही पहुँचती, फिर कथा का प्रभाव भी टूटा-टूटा-सा है। केशवदास की विशेष रुचि सवादो मे है। सुमति और विमति, रावण और बाणासुर, राम और परशुराम, रावण और अगद इत्यादि के सवाद काफी मनोरंजक हुए हैं। ऊपर बताया गया है कि 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्नराघव' नाटकों का संवाद उन दिनो उत्तर भारत मे अधिक प्रचलित था और केशवदास के ऊपर भी इसका प्रभाव था। प्रभाव तो गोस्वामी तुलसीदास की रामायण मे भी है, परन्तु वहाँ अत्यन्त स्वाभाविक और स्वकीयता लिये हुए है। केशवदास के संवाद कथा मे जोड़े हुए-से लगते हैं। कवि को जिस प्रकार का सवेदनशील और प्रेषण-धर्मवाला हृदय मिलना चाहिए, वैसा केशवदास को नही मिला था। दूसरा कवि जिन स्थानो पर अधिक जमकर लिखता, उन स्थानो पर उनका मन जमा ही नहीं। राम को वनवास देने वाले दशरथ-कैकेयी-प्रसग को सात पक्तियो मे समाप्त कर दिया गया है, लेकिन स्वयवरसभा मे राजाओ के वर्णन में बहुत अधिक परिश्रम किया गया है। किसी प्रकार के रस या भाव को उद्रिक्त करने का अवसर जब मिल जाता है, तब भी वे अलकार-योजना और श्लेष-निर्वाह के चक्कर मे पड़ जाते हैं। छन्द और अलकार ही 'रामचन्द्रिका' मे प्रतिपाद्य विषय बन गये हैं। चरित्र को आश्रय करके पहले भी ऐसे काव्य लिखे गये है जिनका उद्देश्य व्याकरण और अलकार की शिक्षा देना है। प्रसिद्ध 'भट्टि-काव्य' इसी श्रेणी का काव्य है, और बाद का मंछ कवि द्वारा लिखित 'रघुनाथ रो रूपक' भी इसी जाति की रचना है। इस दृष्टि से 'रामचन्द्रिका' भी यदि छन्द और अलंकार सिखाने की पुस्तक होती, तो उसकी परम्परा मे इसे रख दिया जा सकता था। परन्तु यद्यपि हिन्दी में 'रामचन्द्रिका' के पढने-पढ़ाने की परम्परा रही है, तथापि ग्रन्थकार का मूल उद्देश्य कुछ ऐसा नही जान पड़ता। वह चरित-काव्य ही लिखना चाहता है। कथा-प्रवाह का शैथिल्य, छन्द-परिवर्तन का अनौचित्य और मार्मिक स्थलों मे भी उक्ति-चमत्कार का मोह इसे उत्तम चरित-काव्य नही होने देते। फिर भी स्थान-स्थान पर इसमे प्रकृति का बडा सुन्दर चित्रण हुआ है। कई संवादों में चरित्रगत वैशिष्ट्य तो नही, लेकिन परिस्थिति के अनुरूप प्रत्युत्पन्नमतित्व का अच्छा परिचय मिलता है, और सरस सूक्तियाँ भी पर्याप्त मात्रा मे पायी जाती हैं।

'जहाँगीर जसचन्द्रिका' और 'वीरसिंहदेव चरित' बहुत साधारण कोटि के ग्रन्थ हैं। केशवदास की वास्तविक प्रतिभा 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' मे ही प्रकट हुई है। वस्तुतः केशवदास रीति-काल के ही आचार्य हैं। परम्परा मे प्रसिद्ध

है कि वे बड़े रसिक चित्त के व्यक्ति थे, और अपने केशों की धोखा देनेवाली शुक्लता से बहुत खिन्न हो गये थे, क्योंकि शत्रु के समान आचरण करनेवाले शुक्ल केश मृगनयनियों के मुख से उन्हे 'बाबा' सम्बोधन निकलवा देते थे :

केसव केसन अस करी जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं॥

पता नही इस किंवदन्ती का मूल क्या है। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि साधारण जनता केशवदास की रचना मे बहुत छिछली और भोंडी रसिकता का ही सन्धान पाती है। यह दोहा यह भी सिद्ध करता है कि साधारण जनता समझती है कि किस कवि की रचना में वास्तविक रस है, और किसमे छिछली रसिकता।

अन्य राम-काव्य : 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' वस्तुत: रीति-ग्रन्थ है, और इनकी चर्चा यथास्थान आगे की जायेगी। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, गोस्वामी तुलसीदास के लोक-व्यापी प्रभाव ने जहां रामचरित को अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया, वहीं रामचरित-सम्बन्धी अन्यान्य काव्यों को श्रीहीन और फीका बना दिया है, इसीलिए परवर्ती काल में रामचरित-सम्बन्धी कोई काव्य बहुत लोकप्रिय न हो सका। उदयराम राम ने 1566 ई. में 'हनुमन्नाटक' के आधार पर इसी नाम की एक पुस्तक लिखी, जो कवित्त और सवैया छन्द मे है। प्राणचन्द चौहान ने 1610 ई. में रामायण महा-नाटक की रचना की। लालदास ने सन् 1643 ई. मे सीता-राम की लीलाओं का ग्रन्थ 'अवध विलास' लिखा और 1693 ई. मे 'बाल भक्ति नेह प्रकाश' और 'दयालमजरी' नाम के ग्रन्थ लिखे, जिनमें प्रथम पुस्तक सीता-राम की कहानी है।

रामभक्ति-साहित्य की विशेषता : रामभक्ति का साहित्य सामाजिक मर्यादा के रक्षण का साहित्य है (वह वैधी भक्ति के आसपास सदा बना रहा है), जबकि कृष्णभक्ति का साहित्य प्रधान रूप से रागानुग भक्ति का साहित्य है। कर्त्तव्य-बुद्धि से जो नियम स्थिर किये जाते है उन्हे 'विधि' कहते है, और स्वाभाविक रुचि से जो बुद्धि उत्तेजित होती है उसे 'राग' कहते है। जहां तक जड़ जगत् का सम्बन्ध है वहां तक विधि और राग मे विरोध रहता है, परन्तु जहां तक भगवान् का सम्बन्ध है, विधि और राग मे कोई अन्तर नही रहता; क्योंकि दोनों ही स्थान मे इष्ट वस्तु एक ही होती है। वैध भक्त की तीन अवस्थाएँ होती है —1. श्रद्धावान्, 2. नैष्ठिक, और 3. रुचियुक्त। वैधी भक्ति का अनुयायी सामाजिक बन्धन और मर्यादाओं को नही भूलता, जबकि रागानुराग-मार्ग का अनुयायी इष्ट के प्रति एकान्तिक भाव से आकृष्ट होता है। अपने एकान्तिक प्रेम के मार्ग में यदि वह सामाजिक विधि-निषेधो को बाधक पाता है, तो वह उनका उल्लघन कर देता है। गोपियों का प्रेम एकान्तिक प्रेम है। इसीलिए रागानुग मार्ग के अनुयायी भक्त अपने में गोपियों का अभिमान करके, अर्थात् अपने को किसी-न-किसी गोपी का रूप समझकर, भगवान् का भजन करते है। यही कारण है कि कृष्णभक्ति-साहित्य

मे सामाजिक विधि-निषेध की मर्यादा की ओर कम ध्यान दिया गया है, और एकान्तिक प्रेम की ओर अधिक। दूसरी ओर राम को आश्रय करके लिखे गये साहित्य मे सामाजिक विधि-निषेध की ओर काफी ध्यान दिया गया है। रामभक्ति के साहित्य मे मर्यादाओ का इतना अधिक ध्यान रखा गया है कि कम प्रतिभाशाली कवियो के हाथ पडकर वह ऊपरी सतह की नैतिकता के रूप मे प्रकट हुआ है। उसमे पद-पद पर यह चिन्ता है कि कही सामाजिक और पारिवारिक मर्यादा मे जो ऊपरी विधान है, उनका रचमात्र भी इतस्तत. न हो जाये।

कृष्णभक्ति का प्रभाव : कृष्णभक्ति की एकान्तिक प्रेम-साधना ने धीरे-धीरे रामभक्ति के साहित्य और साधना को भी प्रभावित किया है। अठारहवी शताब्दी के बाद अयोध्या के रामायत वैष्णवो मे इस प्रकार की मधुर-भाव की साधना का सूत्रपात हुआ है। मधुर-भाव की उपासना कुछ इतनी आकर्षक और मनोहर है, कि भक्त-हृदय उसकी ओर से आँख नही मूँद सकता। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास ने प्रधान रूप से दास्य-भाव का प्रचार किया है, पर 'गीतावली' के उत्तर-काण्ड मे कृष्णभक्त कवियो की भाँति माधुर्य की ओर आकृष्ट हुए दिखते हैं।[1] इसमें सखियो का रघुनाथ के सुन्दर रूप की ओर वैसा ही मधुर आकर्षण है जैसा गोपियों का श्रीकृष्ण की ओर, परन्तु फिर भी तुलसीदास मर्यादा-प्रेमी कवि हैं, और अपनी माधुर्य-भावना मे भी सावधान हैं। किन्तु अठारहवी शताब्दी के बाद अयोध्या मे माधुर्यभाव की उपासना का पूर्ण प्रवेश हुआ है। उन्नीसवी शताब्दी के 'रामचरित मानस' के टीकाकार श्री रामचरणदासजी ने माधुर्यभाव की उपासना चलायी। माधुर्यभाव के उपासक कृष्णभक्त सम्प्रदाय मे गौड़ीय वैष्णवों का सम्भवत. प्रधान स्थान है। महाप्रभु चैतन्यदेव राधाभाव से भगवान् का भजन करते थे, परन्तु उन लोगो ने भी इस साधना को आन्तरिक भावना पर ही आश्रित बनाये रखा। कभी किसी ने बाह्यरूप मे स्त्रीवेश धरके भगवान् के सामने हाव-भाव नही दिखाया। परन्तु अयोध्या के नवीन माधुर्योपासकों ने स्त्रीवेश धारण करके लाल साहब (श्रीरामचन्द्र) को नाना शृगारिक चेष्टाओ से प्रसन्न करने की साधना प्रवर्तित की है। इस सम्प्रदाय का नाम 'स्वसुखी सम्प्रदाय' या 'स्वसुखी शाखा' है। ये लोग सीताजी को सपत्नी के रूप मे देखते हैं। इस सम्प्रदाय के पास अपने पक्ष के समर्थन के लिए कई पुस्तकें हैं, जैसे 'लोमश सहिता', 'भुशुण्डि रामायण' और 'महारासोत्सव' तथा 'कोशल खण्ड' इत्यादि।

मधुरभाव का प्रवेश : इन पुस्तको मे रामचन्द्रजी की अनेक रासलीलाओ

1. मधुरभाव के उपासक वैष्णव लोग तुलसीदास को (और स्वामी रामानन्दजी को भी) इसी भाव का उपासक मानते हैं। स्वामी रामानन्द का स्थूल शरीर का नाम तो रामानन्द था, पर आत्मशरीर का नाम रामानन्ददायिनी था; तुलसीदासजी का नाम तुलसी सहचरीजी था और, और तो और, इस सम्प्रदाय के आदिप्रवर्त्तक श्री हनुमानजी का आत्मसम्बन्धी नाम श्री चारुशीलाजी था।

और विहारों का वर्णन है। रामावतार मे भगवान् ने 99 रास किये थे, केवल एक बाकी रह गया था जिसे उन्होंने कृष्णावतार मे किया। इस माधुर्यभाव में चिरान (छपरा) के श्री जीवारामजी ने कुछ परिवर्त्तन किया, और उन्होंने पति-पत्नी-भाव के स्थान पर सखीभाव को प्राधान्य दिया, और इसी कारण अपने सम्प्रदाय का नाम 'तत्सुखी शाखा' रखा। लक्ष्मण किला अयोध्या के युगलानन्यशरणजी ने सखी-भाव की उपासना का खूब प्रचार किया। रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह इनके भक्त थे, और इनकी प्रेरणा से चित्रकूट को वृन्दावन की भाँति क्रीडाकुंज का तीर्थ बनाने का प्रयत्न किया। इस शाखा के मूल प्रवर्त्तक कोई कृपानिवास नाम के एक आचार्य बताये जाते हैं, जिनकी 'कृपानिवास पदावली' नामक एक माधुर्यभावपरक पुस्तक भी छपी है।

इन माधुर्यभावोपासक भक्तो में भी रामोपासना का प्रधान गुण मर्यादा का पालन एकदम गायब नही हो गया है। ऊपरी सतह की सामाजिक और पारिवारिक मर्यादा का पालन दृढता के साथ किया गया है। जो साधु राम को अपना छोटा भाई समझकर उपासना करते है, उनके सामने आने पर सीता या उनकी सखियों का अभिमान करनेवाले भक्त तुरन्त घूँघट खीच लेते है। इसी प्रकार जनक का अभिमान करनेवाले भक्त उनके सामने सन्तान-वत्सल पिता की भाँति ही उपस्थित होते हैं; इस प्रकार अपनी ऐकान्तिक प्रेमनिष्ठा मे भी रामभक्तों ने मर्यादा की अवहेलना नही की है।

जनकपुर के भक्तों की विशेषता : जिस प्रकार अयोध्या के साधकों ने रामचन्द्रजी के चरित्र को प्रधानता दी है, उसी प्रकार जनकपुर के भक्तो ने जानकी के चरित्र को प्रधान बनाकर ही काव्य लिखा है। सन् 1703 ई. मे अयोध्या के महन्त श्री रामप्रियाशरणजी ने 'सीतायन' नाम का एक काव्य लिखा है। सन् 1734 मे प्रेमसखी नामक एक भक्त हुए हैं, जिन्होने 'जानकीराम का नखशिख', 'होरी छन्दादि प्रबन्ध' और 'कवित्तादि प्रबन्ध' नाम की पुस्तकें लिखी है। पहली मे श्रीराम-जानकी के नखशिख सौन्दर्य का वर्णन है, और दूसरी मे क्रीड़ा, प्रेम, फाग का सरस वर्णन है। अठारहवी शताब्दी के अयोध्या-निवासी जानकीरसिकशरणजी ने 'अवधी सागर' नामक एक ग्रन्थ की रचना की, जिसमे श्री रामचन्द्र और सीता की अष्टयाम-लीला, रास, नृत्य, विहार आदि का वर्णन है।

अठारहवी शताब्दी के अन्तिम भाग में रामायत सखी-सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक कृपानिवास हुए, जिनकी 'भावना पच्चीसी', 'समय प्रबन्ध (अष्टयाम लीला), 'माधुरी प्रकाश' (राम और सीता के अंग-प्रत्यंग की शोभा का वर्णन), 'जानकी सहस्र-नाम' नामक पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। इनकी लिखी 'पदावली' की चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

विश्वनाथसिंहजू : रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथसिंहजी बड़े भारी राम-भक्त थे। परम्परा से यह घराना कबीरदास का भक्त रहा है। महाराज विश्वनाथसिंहजी ने (जन्म 1735 ई.) 'बीजक' की पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी जिसमे

साकेतवासी श्रीरामचन्द्रजी की साकार उपासना का प्रतिपादन किया। इन्होंने श्रीरामचरित को आश्रय करके भी कई काव्य लिखे हैं, जिनमें 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें रामचन्द्रजी का नाम 'हितकारी' है, रावण का 'दिक्-शिरा' है, सुग्रीव का नाम 'सुगल' है, अंगद का 'भुजभूषण' है, और हनुमानजी का नाम 'त्रेतामल्ल' है। इस प्रकार महाराज विश्वनाथसिंहजी ने रामायण के पात्रों के नाम बदल दिये हैं, यद्यपि यह बदलना सार्थक है। इस नाटक में ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग किया गया है, किन्तु 'बीजक' की टीका में बघेलखण्डी भाषा का व्यवहार है। उनके लिखे अनेक अन्य ग्रन्थ हैं जिनकी चर्चा आगे रीतियुक्त भाव-धारा के प्रसंग में की जायेगी।

स्वसुखी सम्प्रदाय : अयोध्या के श्री रामचरणदासजी, जो सखी-सम्प्रदाय के 'स्वसुखी शाखा' के प्रवर्तक हैं, कई पुस्तकों के लेखक बताये जाते हैं। रामायण पर इनकी टीका तो प्रसिद्ध है ही। पाँच और पुस्तकें इनके नाम पर मिलती हैं, जिनके नाम हैं 'दृष्टान्त बोधिका', 'कवितावली रामायण', 'पदावली', 'रामचरित्र' और 'रसमालिका'। इनकी पुस्तकों में माधुर्यभाव के भजन हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के श्री जानकीचरण के भी दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, 'प्रेमप्रधान' और 'सियाराम-रसमंजरी'। अयोध्या के श्री बनादास उन्नीसवीं शताब्दी के श्रीरामभक्ति-साहित्य में बहुत प्रमुख स्थान के अधिकारी हैं। इनकी रचनाओं की संख्या काफी अधिक है, पर सभी प्रकाशित नहीं हैं। इनके ग्रन्थों में रामचरित के साथ अध्यात्म और सन्तमत का भी मिश्रण है।

तत्सुखी शाखा : सखी सम्प्रदाय की तत्सुखी शाखा के प्रवर्तक श्री जीवारामजी—जिनका भक्तनाम युगलप्रिया था—की भी दो रचनाएँ मिली हैं : 'पदावली' और 'अष्टयाम'। उन्नीसवीं शताब्दी में बालअलीजू नामक भक्त ने 'नेहप्रकाश' नाम की पुस्तक लिखी जिसकी टीका जनकलाड़िलीशरणजी ने लिखी। इसी समय श्री जनकराजकिशोरीशरणजी भी हुए, जिनका भक्तनाम रसिकअली है। इन्होंने भी 'अष्टयाम,' 'सीताराम-सिद्धान्त-मुक्तावली' और 'सीताराम-सिद्धान्त-अनन्य-तरंगिणी' नामक पुस्तकें लिखी हैं। इस काल में अयोध्या के राम-भक्ति-साहित्य में मधुरभाव की साधना का बहुत जोर रहा और राम-जानकी की अष्टयाम लीलाओं और गूढ़ प्रेम-रहस्य को व्यक्त करनेवाली पुस्तकों की बाढ़ आ गयी। बीसवीं शताब्दी में भी इस सम्प्रदाय में बहुत अच्छे भक्त हुए हैं। युगलानन्दशरणजी के शिष्य जानकीवरशरणजी हुए जिनका भक्तनाम प्रीतिलता था; इनके शिष्य श्री रामवल्लभाशरणजी हुए जिनका साधननाम युगलविहारिणीजी था। इनके शिष्य श्री सियालालशरणजी हुए जो प्रेमलता नाम से साधन-भजन और काव्य-रचना करते थे। प्रेमलताजी के लिखे तैंतीस ग्रन्थ हैं जो सब अप्रकाशित हैं। इनका साकेतवास 1941 ई. में हुआ है। इनकी रचनाओं में कुछ तो सिद्धान्त-व्यापक ग्रन्थ हैं (जैसे, 'नामतत्त्व-सिद्धान्त,' 'नामरहस्यत्रयी,' सीता-रामरहस्यदर्पण' इत्यादि); कुछ उपदेशपरक हैं (जैसे, 'वैराग्यप्रबोधक बहत्तरी,'

'हितोपदेश शतक,' 'उपदेश पेटिका' इत्यादि), और कुछ मे राम-जानकी के विहार और अष्टयाम-लीला के पद है। बीसवी शताब्दी मे इस शाखा मे ये बहुत प्रभावशाली सन्त रहे है। पर यह सारा-का-सारा साहित्य अप्रकाशित और अविवेचित पड़ा हुआ है। जिस समय इस श्रेणी का साहित्य बड़ी तेजी से लिखा जा रहा था, उस समय साहित्य की मूलधारा दूसरे रास्ते निकल गयी। भगवद्भक्ति की अपेक्षा देशभक्ति और नवीन राष्ट्रचेतना ने उसको अधिक प्रेरणा दी, और यह साहित्य उपेक्षित रह गया।

[इस साहित्य के सहायक ग्रन्थ—रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'; रामकुमार वर्मा : 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'; माताप्रसाद गुप्त : 'तुलसीदास', रामदास गौड़ : 'रामचरित-मानस की भूमिका', 'तुलसी ग्रन्थावली' (तीसरा भाग); कामिल बुल्के : 'रामकथा', बलदेवप्रसाद मिश्र . 'तुलसीदर्शन', राजपति दीक्षित : 'तुलसीदास']

प्रेम-कथानकों का साहित्य

प्रेम-कथानकों की परम्परा : गोस्वामी तुलसीदासजी के पहले लोकभाषा मे प्रेम-कथानको का ऐसा साहित्य काफी अधिक सख्या मे लिखा गया था जिसके कथा-अश का आधार लोक-प्रचलित कथानक थे। कभी-कभी ये काव्य किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम के साथ जुड़े होते थे और कभी इनमे के चरित-नायक बिल्कुल कल्पित व्यक्ति हुआ करते थे। जब तुलसीदास ने कहा था, 'कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछताना' तो उनके मन मे दोनो प्रकार की रचनाएँ थी। उन दिनो 'मधुमालती,' 'मृगावती,' 'हीर और रांझा,' 'ढोला और मारू,' 'सारंगा और सदावृक्ष' आदि निजन्धरी नायक-नायिकाओं की प्रेम-कहानियाँ आजकल के सस्ते ढग के उपन्यासों का काम करती थी। इस प्रेम-सम्बन्धी कहानियों को लोग बड़े चाव से पढते थे। सत्रहवी शताब्दी के जैन कवि बनारसीदास ने अपने आत्म-चरित 'अर्द्ध कथानक' मे लिखा है कि 'मधुमालती' और 'मृगावती' नामक पुस्तकों के पढ़ने का उन्हे ऐसा चस्का लगा था कि दूकान का सब काम-काज छोडकर घर में ही बैठे रहते थे :

अब घर में बैठे रहे नाहिन हाट बजार।
मधुमालती मृगावती पोथी दोइ उचार॥

साधारणतः प्रेम-काव्यों का नाम उनकी नायिकाओं के नाम पर रखने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी। 'रत्नावली,' 'पद्मावती,' 'वासवदत्ता,' 'कुवलयमाला' आदि नायिकाओ के नाम पर गद्य-काव्य, नाटक, पद्यबद्ध काव्य और चम्पू जाति की ऐसी रचनाएँ प्राप्त होती है जिन्हे एक शब्द मे 'रोमांस' कहा जा सकता है। कवियो ने लोक मे प्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर ये कथाएँ लिखी होंगी। ऐसी लोक-कथाओ का सबसे बड़ा संग्रह पैशाची मे लिखी गयी गुणाढ्य कवि की 'वृहत् कथा' थी जो मूल रूप में अब प्राप्त नही है, पर क्षेमेन्द्र और सोमदेव आदि कवियो द्वारा संस्कृत मे रूपान्तरित होकर बची हुई है। इस ग्रन्थ की कहानियाँ नरवाहन दत्त, उदयन आदि ऐतिहासिक राजाओं के नाम से सम्बद्ध है, पर अधिकाश मे नाम के अतिरिक्त बाकी सारी बातें कल्पित ही हैं। उदयन की कथाएँ प्राचीन भारत के गाँव-गाँव मे प्रचलित थीं। कालिदास के 'मेघदूत' मे गाँव के बडे-बूढो को 'उदयन-कथा-कोविद' अर्थात् उदयन की कहानी कहने मे पटु बताया गया है। नरवाहन दत्त भी किसी ऐतिहासिक राजा का नाम होगा। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि यह प्रसिद्ध शक नरपति 'नहपान' का ही संस्कृत बनाया हुआ रूप है। जो हो, इन कहानियो मे ऐतिहासिक राजाओ के नाम अवश्य जुडे रहते थे, पर उनके विषय मे जो प्रेम की कथाएँ दी जाती थी उनका सब समय ऐतिहासिक होना जरूरी नही था। इसी प्रकार के प्रसिद्ध राजाओं मे शूद्रक, हाल, सातवाहन, विक्रमादित्य आदि भी थे जिनके नाम पर दर्जनों कहानियाँ प्रचलित थी। प्राकृत और अपभ्रंश मे भी प्रेम-कथाओ की यह परम्परा चलती रही। नवी शताब्दी के कौतूहल नामक प्राकृत भाषा के कवि ने 'लीलावती' नामक प्रेम-कथानक लिखा था। दसवी शताब्दी के मयूर कवि ने भी 'पद्मावती-कथा' नाम का एक काव्य लिखा था। ऐसा जान पडता है कि आगे चलकर 'वती' प्रत्यययुक्त नाम लोक-कथानको मे बहुत जनप्रिय हो गया। 'लीलावती,' 'पद्मावती' आदि नाम पुराने साहित्य मे मिलते हैं। परवर्ती साहित्य में इन शब्दों की तौल पर गढ़े हुए 'कनकावती,' 'मुग्धावती,' 'मृगावती,' 'सपनावती,' आदि नाम प्रचलित हो गये थे। फिर भी 'मधुमालती,' 'कामकन्दला,' 'रूपमंजरी,' 'विद्युद्लेखा' जैसे काव्यात्मक नाम एकदम भुला नही दिये गये। 'पद्मावत' में ऐसी प्रेम-कहानियों की एक लम्बी सूची दी गयी है जिससे पता चलता है कि उन दिनों 'सपनावती,' 'मुगधावती,' 'मिरगावती,' 'मधुमालती,' 'प्रेमावती,' 'धँड़रावती' आदि नायिकाओं को केन्द्र करके लिखी हुई या कही जानेवाली प्रेम-कहानियाँ काफी प्रचलित थीं। 'पृथ्वीराजरासो' मे पृथ्वीराज की पद्मावती, हंसावती, इन्द्रावती आदि रानियो के विवाह की कथाएँ हैं। मूलतः ये सभी प्रेम-कथानक हैं। इनमें प्रेम-कथानकों की सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। अन्तर इतना ही है कि यहाँ नायक के युद्ध-घटना और शौर्य-प्रदर्शन मुख्य हो गया है और प्रेम-व्यापार गौण। इस गौणता के कारण ही आगे आलोचित होनेवाले प्रेम-कथानकों के प्रसंग मे हमने इनकी गणना नही की है किन्तु इसमें कोई सन्देह नही कि 'पद्मावती' की यही लोकप्रचलित

कथा रासो में भी ग्रहण की गयी है जो जायसी के काव्य का आधार है। पृथ्वीराज की अन्य रानियों के साथ विवाह की कथाएँ भी लोक-प्रचलित कथानकों को ही आश्रय करके लिखी गयी हैं। उनमें ऐतिहासिकता एकदम नहीं है।

प्रेम-कथानकों की आधारभूत कहानियाँ . ऐतिहासिक नरेशों के साथ कल्पित या अर्द्ध-कल्पित प्रेम की कहानियों पर आधारित प्रेम-काव्य इस देश में हमेशा ही लिखे गये हैं। यह कह सकना कठिन है कि इनमें किन-किन कहानियों को आश्रय करके प्रेम-काव्य लिखे गये। बनारसीदास के उल्लेख से यह तो स्पष्ट है कि 'मधुमालती' और 'मृगावती' नाम की पुस्तकें लिखी गयी थीं। इस नाम की दो पुस्तकें प्राप्त भी हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन कहानियों को आश्रय करके एकाधिक कवियों ने काव्य लिखे होंगे। उदाहरणार्थ मंझन ने 'मधुमालती' की कथा का आश्रय लेकर अपना काव्य लिखा था और दक्षिण के उर्दू कवि नसरती ने 'गुलशने इश्क' नाम से यही कहानी लिखी थी। इसी प्रकार अठारहवीं शताब्दी के निगम कायस्थ ने 'मधुमालती' की प्रसिद्ध लोक-कथा को आश्रय करके 796 दोहे-चौपाइयों में एक काव्य लिखा था जिसका कथानक और स्वर दोनों ही मंझन से भिन्न हैं। कुतबन ने अपनी मृगावती में लिखा है कि "यह कथा पहले से ही चली आ रही थी। इसमें योग, शृंगार और विरहरस वर्त्तमान था। मैंने दुबारा फिर उसी कथा को लिपिबद्ध किया है।" कुतबन का यह दावा अवश्य है कि पहले से ही प्रचलित कथा के अर्थ को उन्होंने नये सिरे से स्पष्ट किया है—"पुनि हम खोलि अरथ सब कहा।" सूफी कवियों का यही विशेष दृष्टिकोण है। वे लोक-प्रचलित कथा में नये अर्थ को भरते हैं।

दिल्ली के बादशाह सिकन्दरशाह (1479-1517 ई.) के समकालीन कवि ईश्वरदास ने भी दोहे-चौपाइयों में 'सत्यवतीकथा' नाम की पुस्तक लिखी थी। इसमें व्यास-जनमेजय के संवाद-रूप से कथा शुरू होती है। पाँच-पाँच अर्द्धालियों के बाद दोहे का धत्ता है। इसकी भाषा ठेठ अवधी है। पूर्वी प्रदेशों में कथानक लिखने के लिए जिस काव्य-शैली का व्यवहार होता था, उसका उत्तम नमूना इस पुस्तक में है। इसमें भी एक प्रेम-कहानी है; यद्यपि सूफ़ी कवियों का जिस प्रकार का परोक्षसत्ता-परक प्रेम है और अर्थ खोलने के उद्देश्य से जैसा सांकेतिक प्रयोग है, वह इसमें नहीं है। सती की महिमा और पातिव्रत-धर्म के माहात्म्य को बताने के उद्देश्य से ही यह पुस्तक लिखी गयी थी। गोस्वामी तुलसीदासजी की रामायण में एक ओर जहाँ काव्यगुण अत्यधिक मात्रा में प्राप्त था, वहीं दूसरी ओर उसमें धर्म-भावना का योग भी था। इसीलिए इस महाग्रन्थ ने 'प्राकृत जन गुन गान मूलक' सभी प्राकृत कथाओं को प्रायः समाप्त कर दिया। रामायण का प्रवेश मुस्लिम घरों में बहुत कम हो सका, इसीलिए वहाँ कुछ पुरानी प्रेम-कहानियाँ बच गयीं।

सूफ़ी कवियों द्वारा निबद्ध प्रेम-कथानक : भारतवर्ष के सूफ़ी कवियों ने अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए इन कहानियों का उपयोग किया। यह कोई नयी बात नहीं है। प्राचीन काल में भी लोक-प्रचलित कहानियों का

धार्मिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्य से प्रयोग किया गया है। महाभारत और पुराणों मे, जातक कथाओ में तथा बौद्धों के अवदान-साहित्य में, जैन कवियो द्वारा लिखित चरित-काव्यों में इस पद्धति का पूरा उपयोग किया गया है। यदि सूफ़ी कवियों ने भी इस पद्धति को अपनाया तो यह कोई नयी बात नहीं थी।

प्रेम-कथानको पर आश्रित काव्य तीन श्रेणियों के प्राप्त हुए हैं :

1. आध्यात्मिक सिद्धान्तो के प्रचार के लिए लिखे गये काव्य।
2. विशुद्ध लौकिक प्रेम-काव्य।
3. अर्द्ध-ऐतिहासिक प्रेम गाथाएँ।

प्रथम श्रेणी मे मुख्य रूप से सूफी कवियों की लिखी गयी प्रेम-कहानियाँ आती है, किन्तु सूफ़ियो के अतिरिक्त अन्य भक्त कवियों ने भी इस शैली को थोड़ा-बहुत अपनाया है। इसलिए इन काव्यो को दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं—(1) सूफ़ी कवियो के लिखे हुए प्रेम-काव्य, और (2) अन्य भक्त कवियों द्वारा लिखे गये प्रेम-काव्य। हिन्दी साहित्य में प्रमुख और विशिष्ट होने के कारण पहले सूफ़ी कवियों की चर्चा की जा रही है।

सूफ़ी मत का भारतवर्ष में प्रवेश : सूफ़ी-सम्प्रदाय का प्रवेश इस देश में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (बारहवी शताब्दी) के समय से माना जाता है। सूफ़ियों के चार सम्प्रदाय—चिश्ती (बारहवी शताब्दी), सोहरावर्दी (बारहवीं शताब्दी), क़ादरी (पन्द्रहवी शताब्दी) और नक्सबन्दी (पन्द्रहवी शताब्दी)—इस देश मे आये हैं। इनका सादा जीवन, उच्च विचार और प्रेम का तत्त्ववाद भारत के धर्म-जिज्ञासुओ को धीरे-धीरे आकृष्ट करने लगा। भारतीय सूफी सन्तो ने इसकी प्रचलित लोक-कथाओं का आश्रय करके अपने आध्यात्मिक विचार का प्रचार आरम्भ किया। इस श्रेणी का सबसे प्रथम काव्य अलाउद्दीन खिलजी के राज्य-काल के मुल्ला दाऊद नामक किसी सूफ़ी सन्त का 'चन्द्रावत' या 'चन्द्रावती' नामक काव्य बताया जाता है। इधर सुना गया है कि इसकी एक प्रति उपलब्ध हुई है, पर अभी तक यह प्रकाशित नही है इसलिए इस काव्य के विषय मे कुछ कहना सम्भव नही है।

कुतबन : दूसरे सूफी कवि कुतबन हैं (पन्द्रहवी शताब्दी का अन्त्य भाग और सोलहवी शताब्दी का प्रथम भाग) जिन्होंने सन् 909 हिजरी अर्थात् 1501 ईस्वी मे 'मृगावती' नामक प्रेम-काव्य लिखा। इसकी एक खण्डित प्रति प्राप्त हुई है। इस पुस्तक से कुतबन के सम्बन्ध मे मात्र इतना ज्ञात होता है, कि वे शेख बुड्ढन के शिष्य थे। इनके जीवनकाल में हुसेनशाह राज्य कर रहे थे। ये हुसेनशाह जौनपुर के शासक थे। शेरशाह इन्ही के पुत्र थे। 'मृगावती' हिजरी सन् 909 (1501 ई.) मे पहले से चली आती हुई कथा को आश्रय करके लिखी गयी थी। 'मृगावती' में कुछ ऐसी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया गया है जो भारतीय साहित्य में नवीन जान पड़ती हैं। चन्द्रगिरि के राजा गणपति देव का पुत्र कंचनगिरि के राजा रूपमुरारी की पुत्री पर मुग्ध हुआ। अनेक कष्ट सहने के बाद यह अपनी प्रेमिका को पाने में समर्थ हुआ, पर राजकुमारी उड़ने की विद्या जानती थी और राजकुमार

को धोखा देकर उड़ गयी। भारतीय कथाओं में प्रेमिका का धोखा देना अपरिचित तथ्य नहीं है, पर उड़कर अन्यत्र जाना नयी रूढ़ि है। फिर राजकुमार योगी होकर मृगावती की खोज में निकल पड़ता है, रास्ते में किसी राक्षस के हाथ से रुक्मिणी नाम की किसी अन्य सुन्दरी का उद्धार करता है और उससे विवाह-सूत्र में बँधता है। इसके बाद वह फिर उस नगर में पहुँचता है जहाँ मृगावती अपने पिता की मृत्यु के बाद सिंहासनासीन हो राज्य कर रही थी। बारह वर्ष बाद राजकुमार के पिता को पुत्र का समाचार मिलता है और उसे बुला भेजता है। राजकुमार अपनी दोनों पत्नियों के साथ घर लौटता है। अन्त में एक शिकार में मृत्यु हो जाने के बाद दोनों स्त्रियाँ सती हो जाती हैं।

दो बातें इस कहानी में विशेष ध्यान देने की हैं। एक तो पुरुष का ऐकान्तिक प्रेम और प्रिया को प्राप्त करने के लिए कठिन साधना; दूसरा, प्रिया का धोखा देकर उड़ जाना और दूसरे देश में जाकर राज्य-शासन करना। इस प्रकार की कथानक-रूढ़ियाँ इस देश में नयी ही हैं। प्रेमपात्र में ऐश्वर्य-बुद्धि और कठिन साधना के द्वारा ही उसकी प्राप्ति तथा माधुर्यभाव के द्वारा ऐश्वर्य भाव का पराभव, ये सूफ़ियों के आध्यात्मिक आदर्श हैं। यहाँ प्रिय भगवान् का प्रतीक है और धोखा देकर उड़ जाना उसके प्रेम की सचाई की परीक्षा है। सूफ़ी कवियों ने सदा प्रेमी को अनेक विघ्नों में से निकालकर नायिका तक पहुँचाया है। लौकिक पक्ष में यह प्रेम की ऐकान्तिकता का सूचक है और पारलौकिक पक्ष में साधना की गहनता का।

सूफ़ी कवियों द्वारा व्यवहृत काव्यरूप : प्रायः सभी सूफ़ी कवियों ने एक ही प्रकार के काव्यरूपों का उपयोग किया है। इनकी भाषा अवधी होती है, छन्द चौपाई और दोहा। चौपाई और दोहा में काव्य लिखने की प्रथा पूर्वी प्रदेशों में ही पायी जाती है। पश्चिमी प्रदेशों की काव्य-पद्धति पद्धड़िया बन्ध (देखिए 'प्रस्तावना) प्रथा थी। कभी-कभी दूसरे छन्द भी व्यवहृत होते थे, परन्तु साधारण प्रथा धत्ता ही की थी। इस प्रकार आठ पद्धडिया या अलिल्लह छन्द के बाद जो धत्ता दिया जाता था उसे अपभ्रंश में 'कडवक' कहते थे। चौपाई और दोहे का सबसे पुराना प्रयोग सरहपाद की रचनाओं में मिलता है, फिर कबीरदास की रचनाओं में यह प्रयोग पाया जाता है। शुरू-शुरू में पायी जानेवाली सूफ़ी कहानियों में पाँच-पाँच अर्द्धालियों के बाद दोहा देने का नियम था, पर मलिक मुहम्मद जायसी ने आठ-आठ अर्द्धालियों पर दिया है। आगे चलकर यह प्रथा रूढ़ हो गयी। किसी-किसी सूफ़ी कवि ने दोहे का धत्ता न देकर अन्य छन्दों का भी धत्ता दिया है। कितने अर्द्धालियों के बाद धत्ता दिया जायेगा, इसका कोई नियम नहीं है। किसी ने पाँच, किसी ने छः, किसी ने सात अर्द्धालियों पर दोहा लिखा है। कभी-कभी नौ अर्द्धालियों पर भी दोहे का धत्ता मिलता है।

प्रायः सभी सूफ़ी कवि आरम्भ में मुहम्मद और परमात्मा की स्तुति करते हैं, अपने गुरु या पीर का नाम बताते हैं, और ग्रन्थ का रचनाकाल भी बता देते हैं। शाहेवक्त अर्थात् समकालीन बादशाह का उल्लेख नियमित रूप से सूफ़ी कवियों की

रचनाओं में प्राप्त होता है। यह सूफ़ी कवियों की विशेषता बतायी जाती है। नवीं-दसवीं शताब्दी से कई भारतीय कवियों में भी समकालीन राजा का उल्लेख मिलता है। 'तिलकमंजरी' में धनपाल ने अपने समय के धार के परमार राजाओं की स्तुति की है। परन्तु सभी भारतीय कवियों ने इस नियम का दृढ़तापूर्वक पालन नहीं किया।

कथानक को गति देने के लिए सूफ़ी कवियों ने प्रायः उन सभी कथानकरूढ़ियों का व्यवहार किया है जो परम्परा से भारतीय कथाओं में व्यवहृत होती रही हैं; जैसे—चित्रदर्शन, स्वप्न द्वारा अथवा शुक-सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु-पक्षियों की बातचीत से भावी घटना का संकेत पाना, मन्दिर या चित्रशाला में प्रिययुगल का मिलन होना, इत्यादि। कुछ नयी कथानक-रूढ़ियाँ ईरानी साहित्य से आ गयी हैं; जैसे—प्रेम-व्यापार में परियों और देवों का सहयोग, उड़नेवाली राजकुमारियाँ, राजकुमारी का प्रेमी को गिरफ़्तार करा लेना, इत्यादि। परन्तु इन नयी कथानक-शैलियों को भी कवियों ने पूर्ण रूप से भारतीय वातावरण के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। अधिकांश सूफ़ी कवियों के काव्यों का मूल आधार भारतीय लोक-कथाएँ हैं। परन्तु अठारहवीं शताब्दी और उसके बाद के कवियों में यूसुफ़-जुलेखा, उर्सेद-नूरजहाँ आदि ईरानी कहानियों का भी आश्रय लिया गया है। यद्यपि ये काव्य अवधी भाषा में लिखे गये हैं, फिर भी इनकी लिपि फ़ारसी हुआ करती थी। बहुत-सी काव्य-पुस्तकें उर्दू अक्षरों में छपी हैं। कुछ की प्राचीन प्रतियाँ कैथी लिपि में भी मिलती हैं। अधिकांश सूफ़ी कवि उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों के रहनेवाले हैं। इनकी रचनाओं से स्पष्ट होता है कि परवर्तीकाल में ये क्रमशः हिन्दी कविता की साधारण धारा से विच्छिन्न होते गये हैं। यद्यपि इनकी परम्परा बीसवीं शताब्दी तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही है, तथापि अन्तिम दिनों में न तो इस धारा ने हिन्दी काव्य-धारा को प्रभावित किया है और न स्वयं ही उसके द्वारा प्रभावित हुई है। फिर भी यह साहित्य हिन्दी का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें मनुष्य के वास्तविक हृदय की ऐसी तड़पन व्यक्त हुई है जो जाति, देश, सम्प्रदाय से परे है।

मंझन : मंझन कवि के 'मधुमालती' नामक काव्य की एक खण्डित प्रति प्राप्त हुई है। इसमें कहानी यद्यपि सम्पूर्ण रूप से भारतीय वातावरण लेकर ही आती है, तथापि कुछ ऐसी काव्य-रूढ़ियों का प्रयोग है जो भारतीय कथानक साहित्य में अल्प परिचित हैं। इसमें अप्सराएँ राजकुमार को उड़ाकर मधुमालती की चित्र-सारी में ले आती हैं और वहीं से दोनों के प्रेम का आरम्भ होता है। भारतीय साहित्य में उषा और अनिरुद्ध की कहानी में नायक को नायिकाओं के घर पहुँचाये जाने की कथा-शैली पायी जाती है। परन्तु यह भी बाणासुर नामक असुरराज की राजकुमारी की कथा है और विद्वानों का विचार है कि इस कथा की कथानक-शैली को भारतीय की अपेक्षा असीरियन कहना अधिक उचित है। यह कहने की शायद आवश्यकता नहीं है कि सभी असीरियन काव्य-शैलियाँ और काव्य-रूढ़ियाँ ईरानी

साहित्य में गृहीत हो गयी थी और फ़ारसी कवियों के माध्यम से भारतवर्ष मे भी मध्ययुग में आने लगी थीं। 'मृगावती' के समान ही इस 'मधुमालती' में भी उड़नेवाली स्त्रियोंवाली कथानक-रूढ़ि का व्यवहार हुआ है। मझन ने इस काव्य की रचना 1545 ई. में की थी।

इस काव्य में भी समासोक्ति पद्धति में भगवान् की ओर सकेत है। इसमे मधुमालती के रूप के बहाने समस्त प्रकृति में व्याप्त व्यापक रूप की ओर सकेत किया गया है। मलिक मुहम्मद जायसी ने जिस पारसरूप की कल्पना की है, उसका परिचय मंझन के इस काव्य से भी मिलता है :

यहै रूप बुत यहै छिपाना। यहै रूप सब सृष्टि समाना॥
यहै रूप सकति अरु सिवौ। यहै रूप त्रिभुवन कर जीवौ॥
यहै रूप निरखव बहु भेषा। यहै रूप जग रक नरेसा॥
यहै रूप त्रिभुवन जग परसै यहि पाताल अकास।
सोई रूप प्रगट मैं देखो कहा हवास॥

आगे चलकर यह संकेत किया गया है कि जो अपने को सम्पूर्ण रूप से खो देता है, वही उसे कुछ-कुछ देख पाता है।

यहै रूप जलधर औ, तेहि भाव अनेक देखाव।
आप गँवाए जो रे कोई देखैं, सो कुछ देखै पाव॥

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने मंझन को जायसी का पूर्ववर्ती कवि माना है, लेकिन मंझन कवि ने शाहेवक्त के वर्णन के प्रसंग में जिस सलेमशाह का वर्णन किया है वह यदि शेरशाह का पुत्र हो तो यह रचना 'पद्मावती' के बाद की होगी; क्योंकि शेरशाह 1545 ई. में मरा और उसके बाद ही वह गद्दी पर बैठा होगा। फिर कवि ने स्वयं ही लिखा है :

सन् नवसै बावन जब भये, सवै बरप कुल परिहर गये।
तब हम जी उपजी अभिलापा, कथा एक बांधी बस भाषा।

इस पद से यह स्पष्ट लगता है कि कवि ने सन् 942 हिजरी मे अर्थात् 1545 ई. में लिखा था। उधर मलिक मुहम्मद जायसी ने सन् 927 हिजरी मे अपना काव्य लिखा था। कुछ लोग 927 को 947 पढ़ते हैं, परन्तु जो भी पाठ स्वीकार किया जाये, 'मधुमालती' 'पद्मावती' के बाद की ही रचना सिद्ध होती है। पण्डित परशुराम चतुर्वेदी ने मंझन को जायसी का परवर्त्ती माना है, पर पं. रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हे जायसी का पूर्ववर्त्ती कवि कहा है।

मलिक मुहम्मद जायसी : सूफी कवियों में सर्वश्रेष्ठ मलिक मुहम्मद जायसी थे, जो कही बाहर से जायस मे आये थे और इसी धर्म-स्थान को अपना निवास-स्थान बना लिया था। इनकी प्रसिद्ध रचना 'पद्मावत' है; 'अखरावट' और 'आख़िरी कलाम' नामक दो और रचनाएँ भी प्राप्त हुई है। भगवान् ने इन्हें रूप देने मे बड़ी कंजूसी की थी किन्तु शुद्ध, निर्मल और प्रेमपरायण हृदय देने मे बड़ी उदारता से काम लिया था। इनके जन्म-समय के सम्बन्ध मे कुछ निश्चित रूप से

कहना कठिन है। 'आख़िरी कलाम' में इन्होंने अपना जन्म हिजरी सन् की नवीं शताब्दी मे हुआ बताया है। इनके जन्म के दिन बड़े जोर का भूकम्प हुआ था। इनकी मृत्यु सन् 1542 ई. मे बतायी जाती है। 'पद्मावत' का रचना काल इन्होंने 927 अर्थात् 1521 ई. लिखा है और यह भी बताया है कि उस समय दिल्ली का सुल्तान शेरशाह था। यह दोनों बातें परस्पर-विरोधी हैं, क्योंकि शेरशाह 1540-45 ई. तक दिल्ली के सिंहासन पर था। इसलिए कुछ लोगों ने 927 को 947 पढ़ लिया है और यह कहना चाहा है कि 'पद्मावत' वस्तुत 1540-41 ई. मे शुरू किया गया। बंगाल के कवि अलावल ने 'पद्मावत' का जो अनुवाद बँगला मे किया था, उसमे उसका रचनाकाल 927 हिजरी ही बताया गया है। जान पड़ता है कि कवि ने 'पद्मावत' का आरम्भ तो 927 हिजरी अर्थात् 1521 ई. मे ही किया था, पर जब कथा समाप्ति पर आयी उस समय शेरशाह दिल्ली के तख्त पर विराजमान हो चुके थे। मलिक मुहम्मद ने अपने दो गुरुओं का उल्लेख किया है—एक तो सैयद असरफ़ जो शायद जायस के ही निवासी थे, दूसरे शेख मुहीउद्दीन जो निजामुद्दीन औलिया के वंशज थे।

पद्मावती की कथा . 'पद्मावत' की कहानी परिचित है। इसमें सिंहल देश की राजकुमारी पद्मावती और चित्तौड़ के राजा रतनसेन का प्रेम वर्णित है। पद्मावती के शुक के मुख से उसके रूप की प्रशंसा सुनकर राजा रतनसेन उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है। इस कहानी के अन्त में अलाउद्दीन के चित्तौड़ आक्रमण की कहानी आयी। इस आक्रमण का कारण पद्मावती का रूप ही है। कहानी के अन्त मे गोरा-बादल की लड़ाई है जो आगे चलकर बहुत रोचक काव्य-विषय बन गयी थी। अलाउद्दीन इसमें अत्यन्त धोखेबाज राजा के रूप मे चित्रित हुआ है और चित्तौड़ के राजपूत भी उसे उत्तर देने में इसी कला का आश्रय लेते है। इस कथानक के दो भाग है। प्रथम में राजा रतनसेन के ऐकान्तिक प्रेम का बड़ा जीवन्त चित्रण है और इसकी पहली रानी नागमती के वियोग का बहुत हृदय-विदारक वर्णन दिया हुआ है। दूसरे भाग की कथा मे कुछ ऐतिहासिकता का मिश्रण हो गया है।

पद्मावती नाम भारतीय साहित्य में बहुत परिचित है। संस्कृत के कई काव्यों की नायिका का नाम पद्मावती है। हिन्दी मे इस नाम के साथ मलिक मुहम्मद जायसी के प्रसिद्ध काव्य का योग है। गुजराती साहित्य में भी यह नाम और यह कथा परिचित है। इस बात के विश्वास करने का कारण है कि कहानी का मूल रूप काफी पुराना रहा होगा। जायसी ने 'गजपति', 'नरपति' और 'अश्वपति' राजाओं का उल्लेख किया है। बारहवीं शताब्दी तक के शिलालेखों में इन शब्दों का पता चलता है। बाद मे ये शब्द भुला दिये गये हैं। जायसी की कहानी में इन शब्दों के आने का अर्थ यह है कि यह कहानी कम-से-कम बारहवीं शताब्दी में अवश्य प्रचलित थी। परन्तु कहानी का उत्तरार्द्ध परवर्ती है।

पद्मावती के कथानक और गोरा-बादल की कहानियों को आश्रय करके

लिगे हुए अनेक कवियों के काव्य प्राप्त हुए हैं जिनमें हेमरतन (1588 ई.), जट-मल (1613 ई.), लब्धोदय (1650 ई.), गग्राम सूरि (1703 ई.), गिरधारी-लाल (1775 ई.) विशेष रूप से उल्लेख योग्य है। संयोगवश ये सभी कवि जायसी के परवर्ती हैं और इसीलिए इनसे यह पता नहीं चलता कि जायसी की कहानी कितनी पुरानी है। इतना निश्चित है कि यह आख्यान बहुत लोकप्रिय था। इसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता के विषय में सन्देह प्रकट किया गया है, पर इसकी लोक-मनोहारिता को स्वीकार करना ही पड़ता है। जान पड़ता है, जायसी ने ही प्रथम बार पुराने पद्मावती-आख्यान के साथ किसी नये कथानक को जोड़ा है जिसके मुख्य पात्र गोरा-बादल थे। परन्तु यह अनुमान ही अनुमान है।

जायसी का रहस्यवाद : जायसी को रहस्यवादी कवि कहा जाता है। सूफियों का रहस्यवाद अद्वैत-भावना पर आश्रित है। रहस्यवादी भक्त परमात्मा को अपने प्रिय के रूप में देखता है और उससे मिलन के लिए व्याकुल रहता है। जिस प्रकार मेघ और समुद्र के पानी में कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं, उसी प्रकार भक्त और भगवान् में कोई भेद नहीं है। फिर भी मेघ का पानी नदी का रूप धारण करके समुद्र के पानी में मिल जाने को आतुर रहता है। उसी श्रेणी की आतुरता भक्त में भी होती है। सूफी कवियों ने अपने प्रेम-कथानकों की प्रेमिका को भगवान् का प्रतीक माना है। जायसी भी सूफियों की इस भक्ति-भावना के अनुसार अपने काव्य में परमात्मा को प्रिया के रूप में देखते हैं और जगत् के समस्त रूपों को उसकी छाया से उद्भासित बताते हैं। उनके काव्य में प्रकृति उसी परम-प्रिय के समागम के लिए उत्कण्ठित और व्याकुल पायी जाती है।

पद्मावती का रूप : दो स्थान पर कवि ने पद्मावती के रूप का वर्णन किया है—हीरामन सुआ द्वारा चित्तौड़ के राजा रतनसेन से, और राघव चेतन द्वारा दिल्ली में बादशाह अलाउद्दीन से। दोनों जगहों पर वर्णन नखशिख की प्रणाली पर है। अंग-प्रत्यंग के वर्णन के लिए सादृश्यमूलक अलंकारों का विधान किया गया है। ये उपमान साधारणतः परम्परा-प्रचलित हैं और उनके जिन गुणों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है वे दीर्घकाल से इस देश के आलंकारिकों में प्रसिद्ध हैं। कुछ थोड़े-से नये भी हैं, जैसे कटि की क्षीणता की उपमा भिड़ से दी गयी है।

इस रूप-वर्णन की विशेषता यह है : (1) रूप-सौन्दर्य के सृष्टिव्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना की गयी है अर्थात् केशों की दीर्घता, सघनता और श्यामता के वर्णन के लिए परम्परा से प्रचलित पद्धति के अनुसार केवल सादृश्य पर जोर न देकर कवि ने उसके लोकव्यापी प्रभाव की ओर संकेत किया है; जैसे—'बेनी छोरि झार जो बारा, सरग पताल होय उजियारा' अर्थात् जब पद्मावती अपनी बेनी खोलकर केश झाड़ने लगती थी तो स्वर्ग और पाताल उद्भासित हो उठते थे; और 'उनई घटा परी जग छांहा' में केशों को घटा कहना तो केवल सादृश्य का संकेत करता है, किन्तु सारे संसार में उससे छाँह पड़ जाना इस बात की ओर इंगित करता है कि यह रूप सारे संसार को छाँह और शीतलता देता है।

इसी प्रकार प्रत्येक अंग के उपमान केवल सादृश्यगत साधारण धर्म को ही बताकर विरत नहीं हो जाते, बल्कि उसके लोकव्यापक प्रभाव को भी बता देते हैं। (2) जायसी ने इस रूप को पारसरूप कहा है। पारस रूप अर्थात् जिसके स्पर्श से इस जगत् के रूप में अद्भुत माधुर्य आ जाता है। अलाउद्दीन ने भी पद्मावती के उस पारसरूप की एक झलक दर्पण में प्राप्त की थी, परन्तु उतने से ही उसे जान पड़ा कि पृथ्वी और आकाश सभी सोना हो गये हैं—'होतहि दरस परस भई लोना, धरती सरग भएउ सब सोना।' (3) रूप-वर्णन के प्रसंग में जायसी अत्युक्तियों पर उतर आते हैं। परन्तु अधिकांश स्थलों में उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्तियों के द्वारा वस्तु की व्यंजना न होकर संवेदना या अनुभूति की व्यंजना होती है। इसीलिए सहृदय का चित्त वस्तु की ओर जाने ही नहीं पाता। फिर कवि बराबर परोक्ष सत्ता की ओर इशारा करता है और इस प्रकार सहृदय का मन प्रस्तुत विषय से हटकर अप्रस्तुत परोक्ष सत्ता की ओर जाता रहता है। इसका फल यह होता है कि अन्यान्य कवियों की इस श्रेणी की अत्युक्तियों में वस्तु पर दृष्टि निबद्ध होने के कारण जिस प्रकार का हास्यास्पद भाव पाया जाता है, वैसा जायसी में नहीं पाया जाता। इस प्रकार जायसी के सादृश्यमूलक अलंकार सौन्दर्य के सृष्टिव्यापी प्रभाव को और हार्दिक संवेदना को प्रकट करने में समर्थ हुए हैं।

समासोक्ति-पद्धति. वस्तु-वर्णन के प्रसंग में कवि ने प्रायः इस प्रकार के विशेषणों का प्रयोग किया है, जिससे प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत परोक्ष सत्ता का अर्थ भी पाठक के चित्त में अनायास उद्भासित हो सके; जैसे—सिंहलगढ़ के वर्णन के प्रसंग में नौ पौरी और उनके बाद दसवें दरवाजेवाले नगर का संकेत पाठक को अपनी नौ छिद्रों और दसवें ब्रह्मरन्ध्रवाले शरीर का संकेत उपस्थित करते हैं। इसी को समासोक्ति-पद्धति कहा जाने लगा है। समासोक्ति एक अलंकार है जिसकी सुन्दरता विशेषणों के प्रयोग पर निर्भर करती है। इसीलिए इसे शास्त्र में 'विशेषण-विच्छित्तिमूलक', अर्थात् विशेषण की सजावट पर निर्भर रहनेवाला अलंकार कहा जाता है। यह श्लेष से भिन्न है, क्योंकि श्लेष की सुन्दरता विशेषण और विशेष्य दोनों की सजावट पर निर्भर है। इसीलिए उसे विशेषण-विशेष्य-विच्छित्तिमूलक अलंकार कहते हैं। श्लेष में कवि दो अर्थ बताने के लिए वचनबद्ध होता है, किन्तु समासोक्ति में वह कौशल के साथ ऐसे विशेषणों का प्रयोग करता है जो सहृदय के चित्त में केवल अप्रस्तुत अर्थ का संकेत-भर कर देते हैं। इसमें कवि आदि से अन्त तक दो अर्थों के निर्वाह के लिए प्रतिज्ञाबद्ध नहीं होता। जहाँ और जब उसे मौका मिल जाता है तहाँ और तब वह कुछ विशेषणों का ऐसा प्रयोग करता है जिससे पाठक के हृदय में उसका अभिप्रेत अप्रस्तुत अर्थ भी आ उपस्थित होता है। जायसी ने अपने प्रबन्ध-काव्य में इसी समासोक्ति-पद्धति का प्रयोग किया है। काव्य के अन्त में 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' जो संकेत है, वह मूल ग्रन्थ का नहीं है। 'पद्मावत' की प्राचीन प्रतियों से यह बात सिद्ध हो चुकी है। इसलिए जो लोग पद-पद पर 'पद्मावत' में रूपक-निर्वाह की बात सोचते हैं वे गलती

करते हैं। 'पद्मावत' का कवि रूपक-निर्वाह के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध नहीं है। कई बार प्रसंग आने पर उसने जब लौकिक रूप के माध्यम से अलौकिक सौन्दर्य की ओर इशारा किया है तो ऐसे स्थलों में अप्रस्तुत इशारा ही प्रधान हो जाता है और प्रस्तुत प्रसंग गौण हो जाता है। यह काव्यगत दोष है। सिंहलगढ़ के वर्णन-प्रसंग में जहाँ तक नौ पौरियों, दस दरवाजों और राजपरिवार के वर्णन का प्रसंग है वहाँ तक तो समासोक्ति का बहुत सुन्दर निर्वाह हुआ है, पर जहाँ कवि 'का निचित माटी के भाँड़े' कहकर चेतावनी देने लगता है वहाँ उसका कवि-रूप गौण हो जाता है और सन्त-रूप प्रधान हो जाता है। यहाँ समासोक्ति-पद्धति का निर्वाह ठीक नहीं हो पाया।

परोक्ष-संकेत के उत्साह का अतिरेक : परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करने का उत्साह जायसी में इतना अधिक है कि वे ऐसे प्रसंगों को मानो खोजते फिरते हैं जिनसे परोक्ष सत्ता की ओर इशारा करने का मौका मिल सके। ऐसा मौका बाह्य चित्रण में अधिक मिलता है; जैसे—सिंहलगढ़, उसके बगीचे, मानसरोवर, पद्मावती का बाह्य रूप आदि। किन्तु इससे पात्रों की स्वभावगत विशेषताओं का चित्रण नहीं हो पाता। मनोभावों का चित्रण तो वे बड़ी निपुणता से कर लेते हैं, किन्तु विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न पात्रों की व्यक्तिगत विशिष्टता और विलक्षणता प्रकट करने में वे सफल नहीं हो सके हैं। उनका आदर्श-चित्रण एक-देशीय है। रतनसेन प्रेमी का आदर्श है और नागमती पतिव्रता का। किन्तु जीवन की बहुमुखी परिस्थितियों में पड़ने पर इनका कौन-सा रूप निखरेगा यह स्पष्ट नहीं हो सका, सर्वत्र एक सामान्यीकरण का प्रयास है।

उसमान : अन्य सूफी कवियों में 'चित्रावली' के लेखक उसमान प्रसिद्ध हैं। ये गाजीपुर के रहनेवाले और जहाँगीर के समकालीन थे। 'चित्रावली' की रचना 1613 ई. के आसपास हुई थी। इस काव्य में नेपाल के राजा धरणीधर के पुत्र सुजानकुमार और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली के प्रेम की कथा वर्णित है। राजकुमार को एक देव रूपनगर का एक उत्सव दिखाने को ले गया था और राजकुमारी की चित्रशाला में रख दिया था। चित्र देखकर राजकुमार मोहित हुआ और उसने भी अपना चित्र राजकुमारी के बगल में बना दिया, जिसे देख राजकुमारी भी प्रेमासक्त हुई। इसमें चित्र-दर्शन द्वारा प्रेम की पुरानी भारतीय कथानक-रूढ़ि का ही प्रयोग है। श्रीहर्षदेव की 'रत्नावली' में प्रेमिका का चित्र देखकर नायक के चित्त में प्रेम अंकुरित हुआ था। काव्य में नायक के प्रयत्न और अन्य नायिका से विवाह आदि बातें सूफियों के प्रेम-कथानकों की शैली पर ही चली हैं।

जान कवि : सत्रहवीं शताब्दी के जान कवि हाँसीवाले शेख मुहम्मद चिश्ती के शिष्य थे और बहुत प्रतिभाशाली कवि थे। इनकी 70 रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें 21 प्रेमगाथा सम्बन्धी हैं। इनकी मुख्य रचनाएँ पाँच हैं : 'कनकावती', 'कामलता', 'मधुकर-मालति', 'रत्नवति' और 'छीता'।

कासिमशाह : कासिमशाह की पुस्तक 'हंस जवाहर' भी एक प्रेम-कहानी

है। यह दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह (1721-48 ई.) के समकालीन हैं। नूर मुहम्मद की दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं : 'इन्द्रावति' और 'अनुराग बाँसुरी'। कवि के अपने ही वक्तव्य से पता चलता है कि 'इन्द्रावति' 1744 ई. और 'अनुराग बाँसुरी' 1764 ई. में लिखी गयी थी। ये फ़ारसी के कवि थे और 'कामयाब' नाम से शायरी करते थे।

अन्य सूफी कवि : इसी तरह आलमशाह के समकालीन कवि शेख़ निसार हुए हैं जिनका असली नाम गुलाम अशरफ था। इनका 'यूसुफ-जुलेखा' नाम का प्रेम-काव्य उपलब्ध हुआ है। फिर बहुत हाल के कवि बाबूगंज (प्रतापगढ़) निवासी ख्वाजा अहमद हैं, जिनके 'नूरजहाँ' नामक काव्य में ईरान के सुल्तान मलिकशाह के पुत्र खुरशेदशाह और यूनान नगर की राजकुमारी नूरजहाँ का प्रेम-प्रसंग वर्णित है। यह कहानी 1905 ई. में लिखी गयी और हाल में शेख रहीम का 'भाषा प्रेमरस' और कवि नसीर का 'प्रेमदर्पण' (1917 ई.) लिखा गया है। इस प्रकार सूफ़ियों की कविता चौदहवीं शताब्दी से लेकर आधुनिक काल तक अव्यवहित रूप से चलती आयी है।

अन्य सन्तों के प्रेम-कथानक : आध्यात्मिक और धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के हेतु कुछ अन्य सन्तों ने भी प्रेम-कथानकों का उपयोग किया है। इस प्रकार की रचनाओं में सोलहवीं शताब्दी के सन्त कवि बाबा धरणीदास का 'प्रेम प्रगास' और सत्रहवीं शताब्दी के सन्त दुखहरन की 'पुहपावती' प्रेम-कहानियों पर आश्रित काव्य हैं। अष्टछाप के कवि नन्ददास ने 'रूपमंजरी' नाम देकर एक कल्पित प्रेम-कथानक काव्य लिखा था। इस काव्य का उद्देश्य भी हरिभक्ति का प्रचार रहा। अन्य वैष्णव कवियों ने जिन प्रेम-कथाओं को आश्रय करके कथाएँ लिखी हैं, वे साधारणतः पौराणिक हैं। अधिक प्रचलित कहानियाँ नल-दमयन्ती, कृष्ण-रुक्मिणी, उषा-अनिरुद्ध आदि की प्रेम-कथाएँ हैं जो प्राचीन काल से ही पुराणों में प्रसिद्ध हैं, इसलिए कल्पित प्रेम-कथानकों के सम्बन्ध में इनकी चर्चा न करना ही अच्छा है।

लौकिक प्रेम-कथानक : तीसरी श्रेणी में विशुद्ध लौकिक प्रेम-कथाएँ आती हैं। इसमें कुछ के साथ ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम जुड़े होते हैं, पर मुख्य रूप से इन्हें लौकिक प्रेम-कथा ही कह सकते हैं। राजस्थान और गुजरात में ढोला मारू की कहानी का आश्रय करके एक काव्य लिखा गया था जो क्रमशः प्रक्षेप होते रहने के कारण बढ़ता गया है। विश्वास किया जाता है कि यह ढोला कछवा वंश के राजा नल का पुत्र था जो दसवीं शताब्दी में किसी समय राज्य करता था और मारवणी या मारू राजा पिंगल की कन्या थी। इस प्रकार यह कहानी कुछ ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। 'ढोला मारू' के जो दोहे इस समय मिलते हैं उनकी भाषा बहुत पुरानी नहीं है और दोहों में यद्यपि क्रमबद्ध कहानी का आभास मिलता है परन्तु विशेषतः वह मुक्तक के रूप में मिलते हैं।

कहानी में निम्नांकित क्रम है :

1. मारवणी के प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था—स्वप्न में पति-दर्शन, विरह-वर्णन, तथा सारस-चातक और क्रौंच-सम्बन्धी उक्तियाँ।
2. ढोला के प्रति मारवणी का सन्देश।
3. मारवणी का सन्देश सुनकर ढोला की प्रेमजन्य व्याकुलता।
4. प्रस्थानोद्यत ढोला को रोकने के लिए मारवणी का प्रयत्न और दम्पति का प्रेमपूर्ण संवाद।
5. मारवणी का विरह।
6. ढोला और मारवणी का मिलन।
7. मारवणी और ढोला का संवाद।

दोहों में कथासूत्र टूटा हुआ है, इस बात का अनुमान पुराने जमाने में ही लोगों को हो रहा था। जैसलमेर के रावल ने अपने समय में प्राप्त दोहों को एकत्र कराकर अपने आश्रित जैन कवि कुशललाभ को कथासूत्र को मिलाने की आज्ञा दी। कुशललाभ ने बीच-बीच में चौपाइयाँ जोड़कर यह काम पूरा किया। यह 'ढोला मारू चौपाई' नाम से प्रसिद्ध हुआ और जैन लोगों में खूब प्रचारित हुआ।

किसी-किसी ने इन दोहों के बीच गद्य-वार्त्ता जोडकर कथानक को पूरा किया है। इस प्रकार इस समय 'ढोला मारू' के चार रूपान्तर मिलते हैं :

1. केवल दोहोंवाला।
2. कुशललाभ के चौपाइयों से युक्त दोहे।
3. गद्य-वार्ता से युक्त दोहे।
4. कुशललाभ की चौपाई और गद्य-वार्त्ता का मिश्रित रूप।

प्रथम रूप काफी पुराना है, किन्तु कितना पुराना है यह कहना सम्भव नहीं। दूसरा रूप सोलहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ है। इस काव्य से दोहाबद्ध प्रेम-कथानकों की एक प्रेम-परम्परा की सूचना मिलती है। बाद में भी अनेक दोहाबद्ध लौकिक प्रेम-काव्य लिखे जाते रहे। उदाहरणार्थ, सत्रहवीं शताब्दी के अन्त्य भाग में 'सारंगा-सदैव्रछ रा दूहा' (सारंगा-सदावृक्ष) की प्रेम-कथा किसी अज्ञात कवि द्वारा लिखी गयी थी जिसके आरम्भ में वार्त्ता है और बाद में 31 दोहे हैं। इसमें राजा शालिवाहन के पुत्र सदैव्रछ और उनके मन्त्री की पुत्री सावलिंगा (सारंगा) की प्रेम-कथा है। यह प्रेम-कथा राजपूताने में काफी लोकप्रिय रही, क्योंकि इसको आश्रय करके लिखे गये कई छोटे-छोटे काव्यों की प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। बाद में उत्तर भारत के अन्य स्थानों में भी यह कहानी गयी और अब भी सड़कों पर बिकनेवाले साहित्य में इस कहानी का स्थान बना हुआ है। इसी प्रकार सत्रहवीं शताब्दी के अन्त्य भाग में बीजो नामक नायक और सोरठ नामक नायिका के प्रेम को आधार बनाकर लिखा गया 131 दोहों का छोटा-सा काव्य 'सोरठ रा दूहा' प्राप्त हुआ है। फिर मदनकुमार और चम्पकमाला के प्रेम को आधार करके दास कवि की लिखी हुई 113 दोहों की पुस्तक (जिसमें बीच-बीच में वार्त्ता भी है) 'मदन सतक' नाम से प्राप्त हुई है। फिर छीहल कवि की 'पंच सहेली' नाम की

रचना है जिसमें पांच सखियों के विरह का दोहों मे वर्णन है।

दोहा और चौपाइयों में काव्य लिखने की प्रथा तो बहुत लोकप्रिय हुई थी। सुमति हंस का 'विनोद रस' (सत्रहवी शताब्दी), सूरदास का 'नल दमन' (सत्रहवी शती), निगम कायस्थ की 'मधुमालती' (अठारहवी शताब्दी), मुरली का 'मियां विनोद' (अठारहवी शती), हरसेवक मिश्र की 'कामरूप कथा' (अठारहवी शती) आदि रचनाएँ दोहा-चौपाई छन्दो मे निवद्ध प्रेम-कथानक ही हैं। फिर सत्रहवी शताब्दी के भद्रसेन नामक राजस्थानी कवि द्वारा लिखित 202 दोहों में निवद्ध 'चन्दन मलयागिरि री वात' नामक प्रेम-कथा प्राप्त हुई है, और प्रताप कुंवर लिखित 'चन्द कुवर की वात' भी ऐसी ही रचना है।

कुशललाभ की लिखी हुई एक और प्रेम-कथा 'माधवानल-कामकन्दला चरित्र' है जिसमे दोहा, चौपाई और गाहा छन्द का प्रयोग है। इन्होने सं. 1616 मे कुमार हरिराज के मनोरंजनार्थ 553 पद्यों में इस पुस्तक की रचना की थी। माधवानल और कामकन्दला की प्रेम-कथा को आश्रय करके और भी कई कवियों ने काव्य लिखे हैं, जिनमें आलम (1547 ई.) का दोहा-चौपाई छन्दों मे लिखा हुआ 'माधवानल भाषा वन्ध' और नरसा के पुत्र गणपति (1527 ई.) का लिखा हुआ 'माधवानल प्रवन्ध दोहा वन्ध' प्रसिद्ध है।

फिर किसी अज्ञात कवि का लिखा हुआ 'कुतुब सतक' नाम का एक प्रेम-कथानक-काव्य मिला है जिसमें दिल्ली के सुलतान फिरोजशाह के शाहजादे कुतुबुद्दीन और साहिबा का प्रेम-वृत्तान्त वर्णित है। यह कथा तुकान्त गद्य मे है, और बीच-बीच मे दोहे है। स. 1643 की लिखी इसकी एक प्रति उपलब्ध हुई है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि पुस्तक सोलहवी शताब्दी मे लिखी गयी होगी। कभी-कभी शृंगार-प्रधान रचनाओ का प्रधान उद्देश्य सदाचार और नैतिक जीवन की महिमा वताना भी रहा है, पर वस्तुत शृंगार का स्वर ही प्रधान हो जाता रहा है, नैतिकता गौण। काशीराम का 'कनक-मंजरी' नामक छोटा-सा काव्य एक ऐसी पतिव्रता स्त्री के चरित्र को केन्द्र करके रचित है, जिसे राज-पुत्र का प्रलोभन मार्ग-भ्रष्ट नहीं कर सका। यह सत्रहवी शताब्दी के अन्त्य भाग और अठारहवी के आरम्भ का कवि है। इसी समय के एक अज्ञात कवि की 'मैनासत' नाम की रचना प्राप्त हुई है, जिसमें किसी मालिन ने मैना के सतीत्व की परीक्षा ली है। सत्रहवी शताब्दी में राजपूताने मे अनेक 'वात' नामधारी प्रेम-कथाएँ लिखी गयी, पर वे राजपूताने के वाहर तो कुछ प्रभाव ही नही डाल सकीं, स्वयं राजपूताने में भी वहुत सीमित क्षेत्रों मे उनका प्रचार रहा। इनकी सूची इस प्रकार है—'अमादम भटियाणी री वात' (उन्नीसवी) 'पेढरे नायक दे री वात' (अठारहवीं), 'पन्नावीरम दे री वात' (उन्नीसवी), 'गमे घोरांधार री वात' (अठारहवीं), 'सोमल री वात' (अठारहवी), 'मलयागिरि री वात' (अठारहवीं), 'रायल लपणसेण री वात' (अठारहवी), 'राणे सेनों री वात' (अठारहवीं), 'भाषा दे री वात' (अठारहवीं), 'वीमरे अहीर री वात' (अठारहवी), 'सोहणी री वात' (अठारहवीं),

'वात संग्रह' (अठारहवी शती)।

[सहायक पुस्तकें—रामचन्द्र शुक्ल : 'जायसी ग्रन्थावली', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'; रामकुमार वर्मा : 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'; परशुराम चतुर्वेदी : 'सूफी काव्यधारा', पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ : 'मलिक मुहम्मद जायसी', 'ढोला मारू रा दोहा'; 'राजस्थान भारती' और 'शोध-पत्रिका'।]

रीतिकाव्य

1. रीतिग्रन्थों का सामान्य विवेचन

भक्ति-काव्य के व्यापक प्रभाव का काल : भक्ति-काल के प्रथम उन्मेष के समय हिन्दी मे अत्यधिक शक्तिशाली और व्यापक प्रभाववाले कवि उत्पन्न हुए। साहित्य-जगत् की पूरी शक्ति खिंचकर इन महान् कवियों के निकट पहुँच गयी। नये आदर्श और नये जीवन-दर्शन से प्रभावित होकर हिन्दी कविता तेजी से नवीन मार्ग की ओर बढ़ी। यह रास्ता भी नया था। उन दिनो जितने भी प्रकार के काव्य-रूप प्रचलित थे, और लोक-साहित्य से भी जितने प्रकार के काव्य-रूपो के साहित्य मे गृहीत हो जाने की सम्भावना थी, उन सबका उपयोग शक्ति के नये आदर्श और नये जीवन-दर्शन के प्रचार में किया गया। लौकिक-रस की गीति-परम्परा को सूरदास, नन्ददास, हितहरिवंश और तुलसीदास आदि भक्तो ने अपूर्व आत्म-समर्पणमूलक और अनन्यगामिनी भक्ति के पदो मे बदल दिया; चर्चरी, फाग, हिंडोल, वसन्त आदि लोक-प्रचलित गानों पर कबीर, तुलसी, दादू आदि भक्तों ने ऐसा भक्ति-रंग चढाया कि शताब्दियों बाद भी वह रंच-मात्र भी फीका या भद्दा नही हुआ है। प्रेम-कथानकों की लौकिक शैली को सूफी कवियों ने आध्यात्मिक रसानुभूति के स्तर पर उठाया, नन्ददास आदि कवियों ने भक्ति की भावना से भावित किया, और सन्त कवियों ने उसे अपने ढग की भक्ति के रस से रससिक्त किया। अपभ्रंश से चले आते हुए नीति और शृंगार-सम्बन्धी दोहों को भी राम और कृष्ण के रंग मे रँग डाला गया, और ब्याह, जनेऊ, जन्म और गृहस्थी के अन्य उत्सवों के लिए जो लौकिक रस के पद प्रचलित थे, उन्हें भी भगवान् के नाम से सम्बद्ध कर दिया गया। इस प्रकार भक्ति-काल के प्रथम उन्मेष के समय अध्यात्म-भाव और भक्ति-रस की ऐसी बाढ आयी, कि कुछ सौ वर्षों के लिए लोकभाषा के

साहित्य में और कुछ उल्लेख योग्य बाकी ही नहीं रह गया। पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक का साहित्य भक्ति का उमड़ता हुआ पारावार है। पूर्ववर्ती काल के साधुओं की सिद्धियों के नाम पर भरमानेवाली प्रवृत्ति इस काल में सम्पूर्ण रूप से उच्छिन्न हो गयी। मध्यदेश में इस समय मुस्लिम शासन प्रतिष्ठित हो चुका था, और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों को प्रश्रय देनेवाले राजवंश समाप्त हो चुके थे। इसी प्रकार चारण कवियों की कल्पित प्रशंसावाली काव्य-वृत्ति भी शिथिल हो गयी थी। परन्तु फिर भी यह सब प्रवृत्तियाँ सम्पूर्ण रूप से निःशेष नहीं हुईं। कुछ-न-कुछ और कहीं-न-कहीं थोड़ी-बहुत मात्रा में ये जीवित अवश्य रहीं। सबसे अधिक प्रश्रय उन्हें राजपूताने में मिला। इस प्रदेश में छोटे-मोटे हिन्दू रजवाड़े बचे हुए थे, उनके आश्रय में वहाँ राजस्तुतिपरक चारण कविताएँ और युद्धोल्लास-संचारणी वीर-कविताएँ भी उसी प्रकार बची थीं, जिस प्रकार नाथों, निरंजनियों और अन्य सम्प्रदायों के अनेक मठ और साधन-पद्धति। इस प्रकार राजपूताने का साहित्य पन्द्रहवीं शताब्दी की प्रधान काव्य-धारा से कम प्रभावित हुआ। लगभग सौ वर्ष बाद भक्ति की मूलधारा राजपूताने के सम्पूर्ण साहित्य और लोक-चित्त को अभिभूत करने में समर्थ हुई। थोड़े परवर्ती समय की राजपूत कलम ने राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का जैसा मनोहर चित्रण किया, वह संसार-भर के कला-मर्मज्ञों की प्रशंसा प्राप्त कर चुका है। लगभग उसी के आस-पास मशहूर काँगड़ा कलम का भी जन्म हुआ, जिसने भारतीय चित्र-शिल्प को अद्भुत समृद्धि प्रदान की।

लेकिन मूल मध्यदेश में भी चारणशैली की कविताओं का एकदम लोप नहीं हुआ। उसका भग्नावशेष गंग आदि भाटों की रचनाओं में तथा केशवदास के विरुद-ख्यापक काव्य में मिलता है। आगे चलकर भाटों की कविता का प्रधान लक्षण दाता की अतिरंजित प्रशंसा और सूम की हास्योद्रेचक निन्दा तक ही रह गयी। लेकिन मध्यदेश में यह धारा, अति क्षीण रूप में ही सही, जीवित अवश्य रही।

पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शती तक के साहित्य में भक्ति-भावना की प्रबलता ने सभी प्रकार की लौकिक रचनाओं को प्रभावित किया। यहाँ तक कि उसने राजस्तुतिमूलक और घोर श्रृंगारपरक काव्यों को भी अपने रंग में रँग दिया। वस्तुतः पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के भक्त-कवियों ने ऐहिकतापरक रचनाओं की कमर तोड़ दी। वे यदि जीवित बची भी तो चलने और आगे बढ़ने की शक्ति से वंचित रहकर ही।

भक्ति और श्रृंगार-भावना : किन्तु श्रृंगाररस मनुष्य की सबसे प्रिय वस्तु है। संसार के साहित्य में इसी रस का बोलबाला है, वीररस और धर्म सम्बन्धी रचनाओं में भी सर्वत्र ही इस रस ने अपना प्रभाव विस्तार किया है। सगुण भाव के भक्तों ने तो श्रृंगाररस को सम्पूर्ण भाव में अपना लिया, केवल उसका मुँह जड़ जगत् की ओर से फिराकर चिदानन्द-घन भगवान् की ओर कर दिया। सूफी कवियों की तो आधारभूमि ही लौकिक प्रेम पर आधारित थी, अन्य सन्तों ने भी

भगवत्-प्रीति के प्रसंग में इस रस की उपयोगिता को स्वीकार किया है। कबीर ने तो 'राम भरतार' के लिए कितने ही मंगलचार के भजन गाये, विरह का दुखड़ा रोया और मिलनोत्कण्ठा के आवेग और औत्सुक्य का वर्णन किया। दादूदयाल ने घोषणा की कि,

पुरिष हमारा एक है, हम नारी बहु अंग।
जे जे जैसी ताहि सौं, खेलैं तिस ही रंग।।

और अत्यन्त निरीह भक्त नानक ने भी कुछ इसी लहजे में कहा है :

भनति नानकु सभन का पिवु एको सोई।
जिसनो आदरि करे सो सोहागण होई।।

इन सभी सन्त कवियों ने विरह और मिलन के गान गाये हैं। बारहमासा और षड्ऋतु-वर्णन के बहाने अपने हृदय की समस्त वेदना उँड़ेलकर रख दी है, और इस प्रकार भगवान् के साथ मानव-जीवन के सबसे सुकुमार रस का सम्बन्ध जोड़ लिया है।

कृष्ण-भक्त कवियों ने तो भगवान् की प्रेमलीला को ही अपने काव्य का प्रधान विषय बनाया है। यद्यपि सिद्धान्त-रूप में इन लोगों ने स्वीकार किया है, कि भगवान् परम-प्रेम, परम ज्ञान और परम ऐश्वर्य के आश्रय हैं, तथापि उनकी प्रेम-मयी लीलाओं को ही उन्होंने प्राधान्य दिया है। इस प्रेमलीला को प्राधान्य देने का परिणाम यह हुआ है कि उन्होंने भगवान् की प्रेयसियों के रूप, गुण, शील, वय, प्रकृति और अवस्थाभेद से अनेक श्रेणियों की कल्पना की है। उनके वस्त्र, भूषण और सौभाग्य-चिह्नों के अनेकानेक भेद कल्पित किये हैं, और उन्हें रिझाने के लिए भगवान् के भी बिसातिन-मनिहारिन, जोगिन, तमोलिन, ओझा, ज्योतिषी, केवट, दान-संग्राहक आदि अनेक रूपों के धारण करने की कल्पना की है।

उज्ज्वल-नीलमणि : सबसे पहले रूपगोस्वामिपाद ने भगवान् की प्रेयसियों और उनकी सखियों, भगवान् के मित्रों तथा अन्य सम्बन्धियों के अनेकानेक भेदों की कल्पना करके 'उज्ज्वल-नीलमणि' नामक ग्रन्थ संस्कृत में लिखा। इस ग्रन्थ ने मधुरभाव की विविध उपासना-पद्धतियों को तो खूब प्रभावित किया, किन्तु हिन्दी कविता की मूल धारा को इसने प्रत्यक्ष रूप से नहीं प्रभावित किया। इस ग्रन्थ का दृष्टिकोण यद्यपि भिन्न है, तथापि इसकी रचना में संस्कृत के नायिका-भेद वाले ग्रन्थों की पूरी सहायता ली गयी है।

रीति-काव्य : भक्त कवियों की गोपी-गोपाल-लीला ने क्षीण रूप में जीवित रहनेवाली लौकिक रस की काव्यधारा को थोड़ा सहारा दिया, और इस ज़रा-से सहारे को पा करके लौकिक रस की कविताएँ सिर उठाने लगीं। शुरू-शुरू में इनकी धारा बहुत क्षीण थी; किन्तु जैसे-जैसे भक्तिकाल के आरम्भिक उन्मेष का उत्साह शिथिल पड़ता गया, और भक्तों में भी गतानुगतिकता की मात्रा बढ़ती गयी, वैसे-वैसे लौकिक रस की कविता भी तेजी से सिर उठाती गयी। सत्रहवीं शताब्दी के बाद लगभग प्रत्येक कवि की कविता में श्रीकृष्ण और गोपियों का नाम तो

अवश्य आ जाता है, पर प्रधानता ऐहिकता-परक श्रृंगाररस की ही रह जाती है। वहाँ से भक्तों की संख्या तो नही घटती, और भक्ति का उत्साह सम्पूर्ण रूप से वर्तमान भी रहता है, किन्तु भक्ति-साहित्य की मूलप्रेरक शक्ति नही रह जाती। यहाँ आकर कविता को प्रेरणा देनेवाली शक्ति अलंकार, रस और नायिका-भेद हो जाते है। यहाँ साहित्य को गति देने में अलंकारशास्त्र का ही जोर है, जिसे उस काल में 'रीति,' 'कवित्त रीति' या 'सुकवि रीति' कहने लगे थे, सम्भवत. इन्ही शब्दों से प्रेरणा पाकर शुक्लजी ने इस श्रेणी की रचनाओं को 'रीति-काव्य' कहा। उन्होंने विक्रम-सवत् 1700 से 1900 (1643 ई.-1843 ई.) तक के काल को रीतिकाल माना है।

नायिका-भेद के भक्त कवि : हिन्दी में भक्त कवियों में नन्ददास प्रथम कवि हैं जिन्होंने स्पष्ट रूप से नायिका-भेद पर पुस्तक लिखी। इस पुस्तक का नाम है 'रसमंजरी'। इसमे आरम्भ में, 'रसमय रसकारन रसिक'—'आनन्द-घन सुन्दर नन्दकुमार' की स्तुति है। फिर बताया है कि संसार में जो कुछ रस है, उसके एकमात्र आधार श्रीकृष्ण ही हैं। जिस प्रकार छोटी-बड़ी सभी नदियों का पानी समुद्र मे ही गिरता है, उसी प्रकार सभी खण्ड-विच्छिन्न रस अन्त में भगवान् मे ही मिल जाते है। संसार में जितने भी कवि हैं और वे जो कुछ भी यश-वर्णन करते है सब भगवान् के ही हो जाते है। रूप और प्रेम का जो कुछ भी रस है, वह सब भगवान् से ही आता है, भगवान् में ही विलीन हो जाता है। फिर नन्ददास ने बताया है, कि उनके एक मित्र ने उनसे कहा कि मुझे नायक-नायिका-भेद का ज्ञान नही है, हाव-भाव, हेला-रति आदि का विवेक नही है, सो इन्हें ठीक से समझा दीजिए, क्योंकि जब तक इनका ज्ञान नही होता, तब तक प्रेम-तत्त्व को पहचाना नही जा सकता। उसी मित्र के अनुरोध से नन्ददास ने पहले नायिकाओं का लक्षण लिखा, फिर नायकों का संक्षिप्त परिचय दिया। शुरू मे एक बार भूमिका-रूप मे नन्ददास ने कह दिया है कि सब रूपों और प्रेमों के आश्रय 'सुन्दर नन्दकुमार' हैं। इसके बाद वे सच्चे रूपोपासक कृष्णभक्त कवि की भाँति किसी तत्त्ववाद की व्याख्या के फेर में नही पड़े। सहज भाव से नायिकाओं के लक्षण दे दिये है, और उस लक्षण का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है कि उसे उदाहरण तो ठीक नही कहा जा सकता, पर उदाहरण का काम उससे चल जाता है। साधारणतः नायिकाओं के स्वभाव-भेद से जो उत्तमा, मध्यमा, अधमा भेद किये जाते हैं, उसे नन्ददासजी ने कही लिखा ही नही है। कारण, उनके ग्रन्थ के एकमात्र आश्रय श्रीकृष्णजी हैं, और प्रेमिकाएँ गोपियाँ हैं; (स्पष्ट रूप से उन्होंने यह बात कही नही कही, केवल भूमिका मे इशारा-भर कर दिया है।) उनमें मध्यमा, अधमा हो ही नही सकती। परन्तु धर्म-भेद, व्यापार-भेद और वय-क्रम-भेद के अनुसार होनेवाले भेदों का उन्होंने विस्तार किया है। रीति-काल के परवर्ती कवि घूम-फिरकर राधा-कृष्ण या गोपियों का नाम ले लेते हैं, नन्ददास को इसकी आवश्यकता नही मालूम हुई। कारण स्पष्ट है, उनके मन में कहीं कोई विचिकित्सा नहीं

थी। वे पूर्ण रूप से आश्वस्त थे, कि वह भगवान् की ही लीला गा रहे हैं। उन्होंने कहीं किसी गोपी का नाम नहीं लिया, 'कुंज-सदन', 'कालिन्दीतीर', 'मनमोहन पिया' आदि शब्दों का इस चतुरता से प्रयोग किया है, कि कवि का भक्ति-परक अभिप्राय एकदम स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए परकीया वाग्विदग्धा का उल्लेख इस प्रकार है :

अहो पथिक अति बरसत घामा। रचक कहूँ करो बिसरामा ॥
इहँ ते निकट कलिंदी तीर। सीतल मंद सुगंध समीर ॥
गहवर तरु तमाल हैं तहाँ। प्रफुलित बलि मल्लिका जहाँ ॥
छिनक छाँह लीजै रस पीजै। बहुरो उठि मारग मन दीजै ॥
पिहि सुनाय पथिक सों कहैं। बाक् विदग्धा परतिय सु है ॥

स्पष्ट ही यहाँ श्रीकृष्ण का संकेत व्यंग्य होता है। नन्ददास ने इस पुस्तक में बड़े कौशल से लौकिक-सी दिखनेवाली बात में अलौकिक तत्त्व का संकेत भरा है।

यह ध्यान देने की बात है, कि नन्ददास ने प्रधान रूप से भानुदत्त की 'रस-मंजरी' के लक्षणों और उदाहरणों का ही अनुवाद किया है। 'रसमंजरी' में भी निकुंज आदि की बात है, पर वहाँ उस प्रकार की श्रीकृष्ण-लीला की व्यंजना नहीं होती। ऊपर जो उदाहरण दिया गया है, वह हू-ब-हू 'रसमंजरी' के इस श्लोक का अनुवाद है :

निविडतमतमालमल्लिवल्ली
विचकिलराजिविराजितोपकण्ठे।
पथिक समुचितस्तवाद्य तीव्रे
सवितरि तत्र सरित्तटे निवस्त:॥

नन्ददास ने 'सरित्तटे' को कालिन्दीतीर बनाकर श्रीकृष्ण-लीला की अभिव्यंजना की है। परन्तु यह भी उन्होंने सर्वत्र नहीं किया है। कहीं-कहीं केवल संकेत-भर कर दिया है। अधिकांश स्थलों पर 'रसमंजरी' के श्लोकों का उल्थाभर कर दिया है।

नन्ददास ने जिस मित्र के अनुरोध पर 'रसमंजरी' लिखी थी, उसने कहा था कि उसने नायिका-भेद सुना नहीं है। इस कथन से कुछ विद्वानों ने अनुमान लगाया है, कि इसके पूर्व नायिका-भेद पर कोई भाषा-ग्रन्थ था ही नहीं। नन्ददास ने स्पष्ट रूप से कहा है कि वे 'रसमंजरी' के अनुसार अपना ग्रन्थ लिख रहे हैं। यह 'रस-मंजरी' भानुदत्त नामक मैथिल कवि की संस्कृत रचना है। परवर्ती हिन्दी कविता को इस पुस्तक ने बहुत प्रभावित किया है। 'रसमंजरी' के लेखक भानुदत्त चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए होंगे, क्योंकि इस पुस्तक की एक टीका 'रसमंजरी प्रकाश' सन् 1428 ई. में लिखी गयी बतायी जाती है। यह टीका दो बार मद्रास से (1872 ई., 1881 ई.) प्रकाशित हो चुकी है। 'रसमंजरी' के एक उदाहरण में 'निजाम' नृप का उल्लेख देखकर कुछ लोगों ने भानुदत्त को और भी परवर्ती ग्रन्थकार माना है। पर यह 'निजाम' देवगिरि के मुस्लिम शासक थे, आधुनिक

निमाज नहीं। इसलिए 'रसमंजरी' चौदहवीं शताब्दी में लिखी गयी थी, इसमें सन्देह करने की आवश्यकता नहीं। केवल हिन्दी की कविता को ही इस पुस्तक ने प्रभावित नहीं किया है, दक्षिण के काव्य-शास्त्र को भी इसने प्रभावित किया है।

कृपाराम की हित-तरंगिणी : परन्तु यह अनुमान ठीक नहीं, कि नन्ददास के पहले नायिका-भेद की पुस्तकें भाषा में थी ही नहीं। अब तक के ज्ञात साहित्य में कृपाराम की 'हित-तरंगिणी' नायिका-भेद की सबसे पुरानी पुस्तक बतायी जाती है। इस पुस्तक की ओर सबसे पहले रत्नाकरजी ने साहित्यिकों का ध्यान आकृष्ट किया था। भारत जीवन प्रेस से सं. 1952 (1895 ई.) में यह प्रथम बार छपी थी। इस प्रकाशित पुस्तक के अनुसार इस पुस्तक की रचना सं. 1598 अर्थात् 1541 ई. में हुई थी (सिधि-निधि-शिवमुखचन्द्र लखि माघ सुद्ध तृतियासु। हित तरंगिणी हौं रची कवि हित परम प्रकासु।), परन्तु इसकी भाषागत प्रौढ़ता तथा बिहारी के दोहों में से किसी-किसी दोहे का भाव-साम्य, और बिहारी के किसी-किसी संग्रह में इसके एकाध दोहों का अन्तर्भाव देखकर विद्वानों ने इसके इतने पुराने होने में सन्देह किया है। श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने 'शिव-मुख' के स्थान पर 'सब सुख' पाठ कल्पना करके इसका काल सं. 1798 करने का सुझाव रक्खा है। 'सब सुख' सात के अर्थ में प्रचलित नहीं है। पर मेरा भी विश्वास है कि यह पुस्तक उतनी पुरानी है नहीं, जितनी पुरानी अब तक समझी जाती रही है। काल-सूचक यह दोहा कुछ अशुद्ध है, इसमें सदेह नहीं। 'लखि' का कुछ अर्थ होना चाहिए, और 'माघ सुद्ध' से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उस वर्ष माघ अधिक-मास रहा होगा, जो सम्भव नहीं, पर पक्ष का पता नहीं चलता। यह गड़बड़ी देखकर किसी-किसी ने 'शुद्ध' को 'सुद्दि' बना दिया है। परन्तु जब तक किसी हस्तलिखित प्रति से किसी अन्य पाठ का समर्थन नहीं होता, तब तक इससे अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि 'हित-तरंगिणी' के कालसूचक दोहे में कुछ गड़बड़ी है।

केशवदास के रीति-ग्रन्थ : अलंकार और रस के वास्तविक विवेचक केशवदास ही हैं। इनके पहले के एक और लेखक करनेस वन्दीजन की तीन पुस्तकों की चर्चा इस सिलसिले में की जाती है—'[illegible] और 'भूपभूषण'। परन्तु इन पुस्तकों के बारे में कुछ पता न[illegible] ने दो अत्यन्त

आते है। वस्तुतः अपनी काव्य-शास्त्रीय रचनाओं में भी वे शिक्षक के रूप मे ही प्रधान रूप में आते है। उनका उद्देश्य अल्पमति के विद्यार्थी को काव्याभ्यास का ज्ञान करा देना ही है। 'रसिकप्रिया' मे वे भगवद्-भक्ति को प्रधानता देते दिखायी देते है। इस प्रकार प्रथम-प्रथम जिन कवियो ने नायिका-भेद पर ग्रन्थ लिखे हैं, उन्होंने कुछ-न-कुछ भगवद्भक्ति का पुट दिया अवश्य है।

रुग्ण मनोभाव का काल : सत्रहवी शताब्दी मे मुगलो का विशाल साम्राज्य ह्रासोन्मुख हो चला था, उस समय दिल्ली के सिंहासन पर सम्राट् शाहजहाँ आसीन था। शाहजहाँ का शासनकाल मुगल साम्राज्य का मध्याह्नकाल था। उसके जीवनकाल मे ही गृह में कलह आरम्भ हो गया, और उदार तथा लोकप्रिय दारा-शिकोह को दवाकर औरंगजेब सम्राट् बन बैठा। इस काल मे पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण मे सर्वत्र विद्रोह की आँधी आयी, और धीरे-धीरे मुगल शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती गयी। केन्द्रीय शासन निर्बल पड गया, छोटे-छोटे रजवाड़े और नवाब स्वतन्त्र हो गये। समूचे देश का क्या राजनीति, क्या धर्म, क्या काव्य क्षेत्र —कही भी कोई प्रथम श्रेणी का नेता उत्पन्न नही हुआ। मुगल शासन के अन्तिम दिनों में जिस उत्तरदायित्व-हीन विलासिता का वातावरण उत्पन्न हुआ था, वह नाना टुकड़ो में विभक्त होकर छोटे-छोटे आकारो मे सारे देश मे फैल गया। लेकिन उसकी प्रकृति में कोई विशेष परिवर्त्तन नही हुआ। विलासिता जब चित्तगत संकीर्णता के साथ प्रकट होती है, तो केवल विनाश की ओर ही ले जाती है। मुगल दरबार के आदर्श पर प्रतिष्ठित शतधा-विकीर्ण विलासिता छोटे-छोटे सरदारों के दरबारों में इसी चित्तगत संकीर्णता के साथ सम्बद्ध हो गयी। इसी-लिए इस काल की शृंगार-भावना मे एक प्रकार का रुग्ण मनोभाव है।

जाति-पाँति व्यवस्था का नया रूप : सन् ईस्वी की सत्रहवी शताब्दी तक आते-आते हिन्दुओ की जाति-पाँति की व्यवस्था और भी कसी जाकर सिमट गयी थी। अब वह पुरानी वर्ण-व्यवस्था के आदर्श पर न चलकर पेशेवर जातियो के रूप में ढलने लगी थी। पेशे वशानुक्रम से चलने लगे। प्रत्येक पेशे के लोग अलग-अलग जातियो के रूप मे संगठित होते गये। इस समय आर्थिक दृष्टि से समाज मे स्पष्ट रूप से दो श्रेणियां हो गयी—एक तो उत्पादक वर्ग, जिसमे प्रधान रूप से किसान और किसानी से सम्बन्ध रखनेवाली जातियां बढ़ई, लोहार, कहार, जुलाहा इत्यादि थी, और दूसरा दल भोक्ता (राजा, रईस, नवाब आदि) या भोक्तृत्व का मददगार था। मुगल शासन के अन्तिम दिनों मे भारतीय समाज के ये ही दो आर्थिक वर्ग थे—राजा, सामन्त, मनसबदार आदि भोक्ता वर्ग; और कृषकों और श्रमिकों का उत्पादक वर्ग। दोनो का परस्पर का सम्बन्ध क्रमशः क्षीण होता गया, और मुगल काल के अन्तिम दिनों मे इन दोनों की दुनिया लगभग अलग हो गयी। यह व्यवधान कोई नया नही था। मौर्य और गुप्त राजाओं के काल मे ही इसका आरम्भ हो गया था। सन् ईस्वी की पहली-दूसरी शताब्दी मे नागर और जानपद जनों का अन्तर बहुत स्पष्ट हो गया था। एक के लिए कामशास्त्र, अलंकृत काव्य और नाटक

लिखे जाने लगे थे, और दूसरे के लिए व्रत, संयम बतानेवाले स्मृति-पुराण। ज्यों-ज्यों साम्राज्य-व्यवस्था संगठित होती गयी, और राजनीतिक सत्ता केन्द्र मे सिमटती गयी, त्यों-त्यों व्यवधान भी बढ़ता गया। मुगल काल में यह व्यवधान अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया, और उसके अन्तिम दिनों में जब वह व्यवस्था निष्प्राण हो गयी, तो उस व्यवधान को जिला रखने के लिए एक बड़ा-सा ढांचा ही खड़ा रह गया। रीतिकाल इसी बाहरी ढाँचे का प्रकाश है। इसका पोषण सामन्ती व्यवस्था से हो रहा था। परन्तु इस व्यवस्था की रीढ भुकुड़ चुकी थी, और उससे जीवन का रस बहुत थोड़ा खिर पाता था।

कवियों के प्रेरणा-स्रोत : इन दो वर्गों के मध्य में कवियों, चित्रकारो, संगीतज्ञों आदि कलावन्तो का वर्ग था जो प्रायः उत्पादक वर्ग से उत्पन्न होता था, किन्तु भोक्ता वर्ग की स्तुति और मनोविनोदन करके जीविका-निर्वाह करता था। जिस प्रकार के मालिकों का मनोरजन इन कवियों और कलावन्तों को करना पड़ता था, उस वर्ग को सन्तुष्ट करने के लिए जिस प्रकार के जीवन से परिचित होना आवश्यक है, वह इन कवियों को प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात नही था। उसके लिए उन्हे पुस्तकी विद्या की आवश्यकता थी। दो मूलों से यह ज्ञान प्राप्त हो सकता था 'रति-रहस्य' आदि कामशास्त्रीय ग्रन्थों से और 'दशरूपक,' 'रसमंजरी' आदि नायिका-भेद के वर्णन करनेवाले ग्रन्थों से। फिर उक्तिवैचित्र्य के लिए अलंकारशास्त्र के अन्य अंगो की भी उन्हे आवश्यकता थी। इस प्रकार इन कवियों ने अत्यन्त पुराने जमाने से प्रचलित तीन श्रेणी के ग्रन्थों का सहारा लिया :

1. नाना प्रकार की प्रेम-क्रीड़ाओं को बतलानेवाले कामशास्त्र का।
2. उक्ति-वैचित्र्य का विवेचन करनेवाले अलंकारशास्त्र का।
3. नायक-नायिकाओं के विभिन्न भेदों और स्वभावो का विवेचन करनेवाले रस-शास्त्र का।

साहित्य के क्षेत्र मे इन्ही तीन प्रकार के ग्रन्थो का प्रभाव इस काल में मिलता है। उधर मधुर-भाव की कृष्णभक्ति ने भी अपने ढग से नायिका-भेद के साहित्य को प्रभावित किया था। यद्यपि उसका प्रत्यक्ष प्रभाव इस काल के साहित्य पर नही पड़ा; परन्तु परोक्ष रूप से उसने इसे प्रभावित अवश्य किया। यही कारण है कि इस सम्पूर्ण शृंगारी साहित्य के भीतर गोपी और गोपाल का नाम अवश्य आ जाता है। रीतिकाल के शृंगारी साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें शृंगार के आश्रय भी उस युग के धर्म और अध्यात्म के आश्रय की भाँति श्रीकृष्ण ही हैं।

मूल स्वर मस्ती नहीं : इस प्रकार की ऐहिकता-आमुष्मिकता को एक साथ जोड़ देने की प्रवृत्ति इस साहित्य में पायी जाती है। परन्तु इस युग की रसिकता का मेरुदण्ड औदार्य और मस्ती उतना नहीं था, जितना एक प्रकार की मानसिक थकान से पिण्ड छुड़ाने का बहाना। यहाँ नारी कोई व्यक्ति या समाज के संघटन की इकाई नही है, बल्कि सब प्रकार की विशेषताओं के बन्धन से यथा-सम्भव मुक्त विलास का एक उपकरण मात्र है। देव ने कहा है :

कौन गनै पुर बन नगर कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक कों चित्त हरै करि प्रीति॥

नारी का चित्रण : इनसे इतना स्पष्ट है कि नारी की विशेषता इनकी दृष्टि में कुछ नहीं है, वह केवल पुरुष के आकर्षण का एक केन्द्र-भर है। उनका सामाजिक अस्तित्व मानो कुछ है ही नहीं। इतना होते हुए भी रीतिकाल के कवि ऐकान्तिक शृंगारी नहीं हैं। उनकी रचना में गृहस्थी का भरपूर रस है। परन्तु गृहस्थी में भी नारी केवल एक टाइप है, व्यक्ति नहीं। भारतीय साहित्य में टाइप की प्रधानता शुरू से ही रही है, पर रीतिकाल में वह चरम-सीमा पर पहुँच गयी है।

अलंकारशास्त्र का हिन्दी में प्रवेश : हिन्दी में काव्य-रचना होने के पूर्व ही संस्कृत के अलंकारशास्त्री लड़-झगडकर कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर पहुँच चुके थे। मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' ने रस-ध्वनि-सम्प्रदाय को इस प्रकार से समन्वय के रूप में उपस्थित किया कि अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि के पुराने सम्प्रदाय समाप्त हो गये। इसके बाद के प्रसिद्ध आचार्य विश्वनाथ और जगन्नाथ हुए। उन्होंने इस समन्वयवादी स्थापना को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया। उन्होंने मतभेद बहुत थोड़े स्थलों में दिखाया। मम्मट के बाद संस्कृत साहित्य में भी विवेचन-विश्लेषण के प्रयास उतने नहीं हुए जितने शिक्षण और प्रचार के। संस्कृत के परवर्ती अलंकार-ग्रन्थ में भी विवेचन कम है, पूर्वाचार्यों के निर्णीत सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण तथा शिक्षण और प्रचारण ही अधिक है। इन्हीं ग्रन्थों का हिन्दी के रीतिकालीन कवि अनुकरण कर रहे थे। पहले ही बतलाया गया है कि इनमें सबसे अधिक अनुकृत ग्रन्थ भानुदत्त की 'रसमंजरी' और जयदेव का 'चन्द्रालोक' है। रीति-काव्य जो सुविवेचित रीति-शास्त्र नहीं बन सका, इसका एक मुख्य कारण आदर्श माने जानेवाले इन ग्रन्थों की यही विवेचनहीन प्रवृत्ति है। दूसरे कारण भी थे। इस साहित्य के लक्ष्यीभूत श्रोता साहित्य के विवेचक विद्वान् नहीं थे, बल्कि ऐसे रसिक रईस थे जिनमें सूक्ष्म तर्क की कर्कश मीमांसा सुनने की न तो रुचि थी, और न धैर्य ही था। फिर परिमार्जित तर्कभार सह सकने में असमर्थ गद्य का अभाव तो था ही। ये कवि निर्भ्रान्त लक्षणग्रन्थ लिखने के उद्देश्य से पुस्तक नहीं लिखते थे, बल्कि सरस मनोविनोद योग्य काव्य-रचना से ही सन्तुष्ट रहते थे। उस युग की माँग भी बहुत गम्भीर नहीं थी। आश्रयदाता रईस लोग जिस श्रेणी की रचना से सन्तुष्ट होते थे, उस श्रेणी की रचना में जितनी गहराई आ सकती थी, उतनी इस साहित्य में आयी। इससे अधिक की न तो कभी किसी ने माँग की, न उसका प्रयत्न ही हुआ। अपने सीमित क्षेत्र में यह कविता बहुत ही प्रभावशालिनी है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर क्षेत्रों के बाहर जाने का न तो उसमें संकल्प है, न प्रयत्न।

रीतिकवि की मनोवृत्ति : रीतिकाल का काव्य यद्यपि शृंगारप्रधान है, इस शृंगाररस की साधना में जीवन की सन्तुलित दृष्टि का अभाव है; ... ओर से चोट खाकर, किसी ओर रास्ता न पाकर, बुद्धि घर के ... [illegible]

वाले ग्रन्थ, जो काव्य के लक्षण, शब्द और अर्थ की शक्तियों, काव्य के गुण-दोषों, रस, भाव आदि सभी अंगों का विवेचन करते थे। भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय' ऐसा ही ग्रन्थ है। इन पुस्तकों का आधार मम्मट का 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' जैसे ग्रन्थ होते थे। 2. रसों का विवेचन करनेवाले ग्रन्थ, जिनमें प्रधान रूप से शृंगाररस की चर्चा रहती है, परन्तु अन्य रसों की भी थोड़ी-बहुत चर्चा आ जाती है। रसों का आलम्बन, उद्दीपन, विभाव, स्थायी भाव, संचारी भाव आदि के लक्षण और उदाहरण इन ग्रन्थों का प्रतिपाद्य होता है। केशवदास की 'रसिकप्रिया' (1591 ई.), तोष का 'सुधानिधि' (1634 ई.), कुलपति का 'रस रहस्य' (1670 ई.), सुखदेव मिश्र का 'रसार्णव' (1673 ई.) आदि ग्रन्थ रस की विवेचना करते हैं। प्रायः ही भानुदत्त की 'रस-तरंगिणी' से इस प्रकार की पुस्तकों का मसाला जुटाया गया है। इनमें प्रधानता तो शृंगार की ही बनी रहती थी, पर अन्य रसों की भी चर्चा कर दी जाती थी। कभी-कभी कवियों ने अन्य रसों को छोड़ भी दिया है। यह उचित ही है, क्योंकि जब उस रस के सम्बन्ध में ही मन में आकर्षण हो तो केवल प्रथापालन के लिए अन्य रसों का नाम ले लेना विशेष लाभप्रद नहीं होता। 3. नायक-नायिका-भेद के ग्रन्थ, जिनमें शृंगाररस के आलम्बनों का सूक्ष्म भेदोपभेद देकर उदाहरण लिखे जाते थे। यह विषय बहुत ही लोकप्रिय था। चिन्तामणि(सत्रहवीं शती) की 'शृंगारमंजरी', देव का 'सुखसागर तरंग' और 'जातिविलास' (अठारहवीं शती), भिखारीदास का 'शृंगार निर्णय' (1750 ई.) इसी श्रेणी के ग्रन्थ हैं। भानुदत्त की 'रसमंजरी' इस श्रेणी के ग्रन्थों को बराबर प्रेरणा देती रही है। 4. चौथी श्रेणी में अलंकारग्रन्थ आते हैं। जयदेव के 'चन्द्रालोक' और अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' इस विषय के प्रिय ग्रन्थ रहे हैं। कभी-कभी इनसे भिन्न अन्य संस्कृत-ग्रन्थों का सहारा भी लिया गया है। करनेस का 'कर्णाभरण' और 'श्रुतिभूषण' (सोलहवीं शताब्दी का अन्त्य भाग), जसवन्तसिंह का 'भाषाभूषण'(सत्रहवीं शती), मतिराम का 'ललित ललाम' आदि ग्रन्थ इसी श्रेणी के हैं।

मौलिकता का अभाव : शुरू-शुरू में हिन्दी-समालोचकों का विश्वास था कि रीतिकाल के कुछ कवियों में मौलिक उद्भावनाएँ हैं, किन्तु रीतिशास्त्र के नये पण्डितों ने बताया है—1. केशव की तथाकथित मौलिक उद्भावनाएँ वस्तुतः दण्डी के 'काव्यादर्श' से ली गयी हैं, और कवि-समय की बातें केशव मिश्र के 'अलंकार शेखर' और जैन आचार्य अमरसिंह की 'काव्य कल्पलता वृत्ति' में ली गयी हैं। 2. भूषण ने भाविक छवि नामक एक नये से लगनेवाले अलंकार की चर्चा अवश्य की है, पर वह भाविक का ही प्रवर्धित रूप है। 3. इसी प्रकार देव के काव्य-विवेचन में जिस स्वतन्त्र चिन्तन और मौलिक उद्भावना की कल्पना की गयी थी, वह सब निराधार सिद्ध हुई है। वे भानुदत्त की 'रसमंजरी' के ऋणी हैं। कहीं पारिभाषिक शब्दों को थोड़ा बदल अवश्य दिया है, परन्तु इसे मौलिक उद्भावना नहीं कहा जा सकता। उन्होंने संचारियों में 'छल' को भी गिना है,

हो, जैसे जीवन के व्यापक क्षेत्रों में मनोनिवेश का अवसर न मिलने के कारण मनोरंजन का एकमात्र साधन नारी देह की शोभाओं और चेष्टाओं के अवलोकन-कीर्तन तक ही सीमाबद्ध हो गया हो। इस श्रृंगार में न तो प्रिया का व्यक्तित्व उभर पाया है—उसका साधारण नारीत्व ही आकर्षण का एकमात्र हेतु है—न प्रिया की प्रीति जीतने के लिए रुमानी ढंग के किसी असीम साहसिक कार्य की योजना ही बन पायी है। केवल 'लला' का रूप ही (चाहे वह चित्र-दर्शन से प्राप्त हो, स्वप्न में दर्शन से लब्ध हो, सखिमुख से सुनकर प्राप्त हुआ हो, प्रत्यक्ष देखकर दृग्गोचर हुआ हो, या विवाह की भाँवरी के समय झलक गया हो) इसी प्रीति को जीतने के लिए पर्याप्त है—प्रिया के रूप में सूफी कवियों की भाँति किसी अपूर्व पारस-रूप का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। यह प्रेम शुरू से अन्त तक महत्त्वाकांक्षा से शून्य, सामाजिक मंगल के मनोभाव से प्रायः अस्पृष्ट, पिण्ड-नारी के आकर्षण से हततेज और स्थूल प्रेमव्यंजना से परिलक्षित है। फिर भी वह मोहन है, क्योंकि उसमें चित्त को विश्राम देने का महान् गुण है। वस्तुतः यह मोहनता उसे पूर्ववर्ती श्रृंगारी कविताओं से भिन्न और विशिष्ट बना देती है। यह सब ओर से रुद्ध-गति हो गये हुए मानस-व्यापारों की विश्राम-भूमि है, कर्मठ और बहुधा-विभक्त चित्त की गतिशील प्रक्रिया का सामयिक विराम-स्थल नहीं। इसीलिए यह ठीक-ठीक भौतिकवादी भी नहीं। यह वास्तविक जीवन की कठोरताओं पर आधारित नहीं। इसका आधार-फलक (कैनवास) सीमित, संकुचित और सँकरा है। जीवन के मूल प्रश्नों से उसका सम्बन्ध बहुत थोड़ा है। जीवन की वास्तविक जटिलताओं के साथ सामना करने के लिए जिस प्रकार का वैयक्तिक साहस और सामाजिक मंगल का मनोभाव आवश्यक है, वह इसमें नहीं है, और न श्रृंगार-भावना को जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य घोषित करने का साहस ही है। सब ओर से सिमटी मनोवृत्ति का यह विराम-स्थान मात्र है। यद्यपि प्रायः सभी कवियों ने श्रृंगार की रसराजता की घोषणा की थी, तथापि इसको तर्कसंगत परिणति तक घसीट ले जाने का साहस कम कवियों में रहा। इस श्रृंगार-भावना को उन्होंने भक्ति का आवरण दिया। राधारानी और गोपाललाल घूम-फिरकर सभी प्रकार की श्रृंगार-चेष्टाओं के विषय बन जाते हैं। यह भक्ति-भावना इन कवियों के लिए सामाजिक कवच का काम करती है, साथ ही यह उनके मन को प्रबोध भी देती है :

> आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई—
> न तो राधिका गोविन्द सुमिरन को बहानो है।

संस्कृत के अलंकारशास्त्र का प्रभाव. संस्कृत साहित्य में अलंकारशास्त्र की मार्मिक विवेचना करनेवाले अनेक कवि हुए हैं, परन्तु बारहवीं शताब्दी के बाद क्रमशः विवेचनावाले अंश कम होते गये, और स्थिर सिद्धान्तों का प्रचार करनेवाले अधिक। इन ग्रन्थों में भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' ने तथा जयदेव के 'चन्द्रालोक' ने रीतिग्रन्थकारों को खूब प्रभावित किया था। इस काल में चार प्रकार के रीतिग्रन्थ लिखे गये—1. सम्पूर्ण काव्यांगों के विवेचन करने-

वाले ग्रन्थ, जो काव्य के लक्षण, शब्द और अर्थ की शक्तियों, काव्य के गुण-दोषों, रस, भाव आदि सभी अंगों का विवेचन करते थे। भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय' ऐसा ही ग्रन्थ है। इन पुस्तकों का आधार मम्मट का 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' जैसे ग्रन्थ होते थे। 2. रसों का विवेचन करनेवाले ग्रन्थ, जिनमें प्रधान रूप से शृंगाररस की चर्चा रहती है, परन्तु अन्य रसो की भी थोड़ी-बहुत चर्चा आ जाती है। रसों का आलम्बन, उद्दीपन, विभाव, स्थायी भाव, सचारी भाव आदि के लक्षण और उदाहरण इन ग्रन्थो का प्रतिपाद्य होता है। केशवदास की 'रसिकप्रिया' (1591 ई.), तोप का 'सुधानिधि' (1634 ई.), कुलपति का 'रस रहस्य' (1670 ई.), सुखदेव मिश्र का 'रसार्णव' (1673 ई) आदि ग्रन्थ रस की विवेचना करते हैं। प्रायः ही भानुदत्त की 'रस-तरंगिणी' से इस प्रकार की पुस्तकों का मसाला जुटाया गया है। इनमें प्रधानता तो शृंगार की ही बनी रहती थी, पर अन्य रसों की भी चर्चा कर दी जाती थी। कभी-कभी कवियों ने अन्य रसों को छोड़ भी दिया है। यह उचित ही है, क्योकि जब उस रस के सम्बन्ध मे ही मन मे आकर्षण हो तो केवल प्रथापालन के लिए अन्य रसो का नाम ले लेना विशेष लाभप्रद नही होता। 3. नायक-नायिका-भेद के ग्रन्थ, जिनमे शृगाररस के आलम्बनों का सूक्ष्म भेदोपभेद देकर उदाहरण लिखे जाते थे। यह विषय बहुत ही लोकप्रिय था। चिन्तामणि(सत्रहवी शती) की 'शृंगारमजरी', देव का 'सुखसागर तरंग' और 'जातिविलास' (अठारहवीं शती), भिखारीदास का 'शृगार निर्णय' (1750 ई) इमी श्रेणी के ग्रन्थ है। भानुदत्त की 'रसमजरी' इस श्रेणी के ग्रन्थों को बराबर प्रेरणा देती रही है। 4. चौथी श्रेणी मे अलकारग्रन्थ आते है। जयदेव के 'चन्द्रलोक' और अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' इस विषय के प्रिय ग्रन्थ रहे हैं। कभी-कभी इनसे भिन्न अन्य सस्कृत-ग्रन्थो का सहारा भी लिया गया है। करनेस का 'कर्णाभरण' और 'श्रुतिभूषण' (सोलहवी शताब्दी का अन्त्य भाग), जसवन्तसिह का 'भाषाभूषण'(सत्रहवी शती), मतिराम का 'ललित ललाम' आदि ग्रन्थ इसी श्रेणी के है।

मौलिकता का अभाव : शुरू-शुरू मे हिन्दी-समालोचकों का विश्वास था कि रीतिकाल के कुछ कवियों मे मौलिक उद्भावनाएँ है, किन्तु रीतिशास्त्र के नये पण्डितों ने बताया है —1. केशव की तथाकथित मौलिक उद्भावनाएँ वस्तुतः दण्डी के 'काव्यादर्श' से ली गयी हैं, और कवि-समय की बातें केशव मिश्र के 'अलकार शेखर' और जैन आचार्य अमरसिंह की 'काव्य कल्पलता वृत्ति' से ली गयी है। 2. भूषण ने भाविक छवि नामक एक नये से लगनेवाले अलंकार की चर्चा अवश्य की है, पर वह भाविक का ही प्रवर्द्धित रूप है। 3. इसी प्रकार देव के काव्य-विवेचन में जिस स्वतन्त्र चिन्तन और मौलिक उद्भावना की कल्पना की गयी थी, वह सब निराधार सिद्ध हुई है। वे भानुदत्त की 'रसमजरी' के ऋणी हैं। कहीं पारिभाषिक शब्दों को थोड़ा बदल अवश्य दिया है, परन्तु इसे मौलिक उद्भावना नहीं कहा जा सकता। उन्होंने संचारियों में 'छल' को भी गिना है,

जिसे कुछ लोग नयी बात मानते हैं, पर यह भी 'रसमंजरी' से ही लिया गया है। 4. इसी प्रकार भिखारीदास के काव्य-विवेचन में भी जिन बातों को उनकी मौलिक देन बताया गया था, वह 'काव्य-प्रकाश' और साहित्यदर्पण' से ग्रहण किये गये हैं। इसी प्रकार और भी बहुत-सी बातें, जो किसी समय नयी उद्भावना कहकर विज्ञापित की गयी थीं, अब नयी नहीं मानी जातीं।

कभी-कभी रीति-ग्रन्थकारों ने स्वयं अपने ग्रन्थ के मूल उपजीव्य का नाम बताया है। इस प्रकार मुरलीधर मिश्र का 'सारसंग्रह' 'रसमंजरी' के आधार पर, सेवक कवि का 'वाग्विलास' 'काव्यप्रभाकर' के आधार पर, प्रतापसाहि की 'व्यंगार्थ कौमुदी' मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के आधार पर, चन्द्रशेखर वाजपेयी भरत के 'नाट्य शास्त्र' पर, पजनेस का 'स्वेच्छार्थ' मम्मट के और कुलपति मिश्र के ग्रन्थों के आधार पर लिखे गये थे। परन्तु ये ठीक अनुवाद नहीं हैं। कभी-कभी शृंगारी प्रसगों में इन कवियों ने अधिक ब्यौरेवार प्रसंगों का उत्थापन किया है। वस्तुतः इन ग्रन्थकारों के ग्रन्थ न तो पूर्णरूप से अनुवादित हैं और न मौलिक। किसी ग्रन्थ को वे प्रधान प्रेरणा के रूप में स्वीकार कर लेते थे, फिर पुराने कवियों की रस-रीति मन में रखकर यथाप्रसंग कुछ नया कहने में संकोच नहीं करते थे।

शुरू-शुरू में हिन्दी के आलोचकों को केशव की इस मान्यता से आश्चर्य हुआ था, कि सभी रस शृंगार में ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। किन्तु बाद में इस आश्चर्य की मात्रा में शैथिल्य आया। 'अग्निपुराण', 'शृंगार-प्रकाश' आदि ग्रन्थों में बड़ी गम्भीरता के साथ दिखाया गया है कि किस प्रकार मानसिक वेदनाओं की अप्रतिकूलता के कारण जो रति, हास इत्यादि अनुभूतियाँ होती हैं, और प्रतिकूलता के कारण जो विषाद, क्रोध आदि भाव उठते हैं, वे सभी वस्तुतः हमारे अहकार के ही रूपान्तर हैं। उसी के रमने को रति कहते हैं। इसलिए जहाँ कहीं भी यह अहकार अनुकूल या प्रतिकूल रूप में रत होता है, वही शृंगाररस है। परन्तु केशवदास की विवेचना में कोई गम्भीरता नहीं है। केवल स्थिर सिद्धान्तों को अत्यन्त स्थूल रूप में किसी प्रकार ठेल-ठालकर सभी रसों को शृंगार में अन्तर्भुक्त कर दिया गया है। यह भी बताया गया था कि शृंगार के दो भेद, प्रच्छन्न और प्रकाश, केशव की मौलिक उद्भावना है। परन्तु यह बात भी अब निराधार सिद्ध हुई है। श्री चन्द्रबली पाण्डेयजी ने दिखाया है कि केशवदास के पूर्ववर्ती पद्मसुन्दर ने 'अवर साहि शृंगारदर्पण' नामक पुस्तक में प्रच्छन्न और प्रकाश नाम के शृंगार के दो भेद किये हैं, और भोजराज ने 'शृंगारप्रकाश' में स्पष्ट रूप से बताया है कि प्रकाश शृंगार की अपेक्षा प्रच्छन्न शृंगार बलीयान होता है। इस प्रकार यह भी केशव की कोई नयी सूझ नहीं है। इसी प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने देव की नयी उद्भावना समझी जानेवाली बातों को 'रसतरंगिणी' पर आधारित सिद्ध किया है। कहने का मतलब यह है कि काव्य-शास्त्र [illegible] विवेचन करनेवाले इन कवियों ने कोई नयी बात नहीं कही। [illegible] में इनका काव्य-विवेचन शिथिल और अ[illegible]। कुल[illegible] आदि

कवियों ने गद्य का प्रयोग किया अवश्य है, परन्तु यह गद्य तर्कभार सहने योग्य नहीं है, और इसीलिए उसमें शास्त्रीय विवेचना की गरिमा नहीं आ सकी।

अलंकार-ग्रन्थों की संकुचित वृत्ति : इन ग्रन्थों में शास्त्रीय विवेचना की प्रौढ़ता भी नहीं रह गयी है। इनमें भी शास्त्रीय विवेचना-योग्य गद्य का अभाव और लक्षणों के भेदोपभेद करनेवाले भेद-बीजों की विवेचना नहीं हो पायी है। ये भी सब ओर से बाधा पाकर सिमटे हुए चित्त को भुलाने का प्रयास मात्र हैं जिनमें उक्ति-चमत्कार के साथ बहुत न्याय नहीं किया गया है। इन ग्रन्थों के पाठक के चित्त में न तो मनुष्य-जीवन के किसी बड़े लक्ष्य को प्राप्त करने की स्फूर्ति संचारित होती है, और न काव्य के ही किसी व्यापक स्वरूप का परिचय मिलता है। यहाँ सबकुछ उक्ति-चमत्कार में ही सीमाबद्ध हो गया है। यहाँ प्रत्येक वक्तव्य किसी विशिष्ट वचन-भंगिमा का आश्रय लेकर काव्य बन सका है। इन ग्रन्थों से काव्य के जिस स्वरूप का आभास मिलता है, वह मानवीय आदर्शों से वंचित और अस्पृष्ट है। इसमें कहीं-कहीं सरस कवित्त मिलते अवश्य हैं, परन्तु लक्ष्य बराबर उक्ति-चमत्कार का स्पष्टीकरण होता है, और गद्य की तर्कपूर्ण और व्यवस्थित शैली के अभाव में यह स्पष्टीकरण भी धुंधला हो गया है।

यशवन्तसिंह का 'भाषा-भूषण' इन ग्रन्थों में सर्वाधिक मान्य और प्रभावशाली ग्रन्थ रहा है। इसके तीन तिलक (टीका) उपलब्ध हैं : 1. दलपतिराय और वंशीधर का 'अलंकार रत्नाकर', 2. प्रतापसाहि की, और 3. गुलाब की 'भूषण चन्द्रिका'। इनमें दलपतिराय और वंशीधर की टीका ही श्रेष्ठ और गम्भीर है। टीकाकारों ने अन्य कवियों की रचनाओं को भी उदाहरणरूप में उद्धृत किया है। बाकी दो टीकाएँ न तो प्रचलित ही हुई हैं, और न उतनी अच्छी ही हैं।

एक चौथी श्रेणी के कवि और भी हैं, जिन्होंने चित्रकूट, दृष्टकूट और चित्र-काव्यों की रचना की है। वैसे तो केशवदास और दास आदि कवियों ने भी अपने विवेचनापरक ग्रन्थों में चित्र, प्रहेलिका आदि की रचनाएँ की हैं, किन्तु रहमान के 'यमक शतक' में केवल यमक का ही चमत्कार दिखाया गया है, और जगतसिंह की 'चित्र-मीमांसा' और काशीराज की 'चित्र-चन्द्रिका' में चित्र-काव्यों का सौन्दर्य दिखाया गया है। संस्कृत कवियों में भी चित्र-काव्य के विनोद का अच्छा परिचय मिलता है, और सूरदास के नाम पर चलनेवाली 'साहित्यलहरी' में भी दृष्टकूटों की अच्छी योजना है। परन्तु रीतिकाल के साहित्य में रस-सिद्ध कवियों की रचना का ही प्राधान्य रहा है, और रस-विवेचना के सामने चित्र और प्रहेलिका की विवेचना दब गयी है। बहुत थोड़े कवियों ने ही स्वतन्त्र रूप से इस विषय को अपनाया और उसका सम्मान भी बहुत थोड़ा ही हुआ, प्रधानता रसवादी कवियों की ही बनी रही।

वास्तव में रीति-काव्य जितना तत्कालीन समाज के क्लान्त चित्त के विश्राम और विनोदन की व्यवस्था करता है, उतना परिष्कारण और नियोजन की नहीं। भाषा के भी विश्रामदायक और विनोदन गुणों का इस काल में खूब मार्जन हुआ,

परन्तु इसे इस योग्य बनाने का प्रयत्न किसी ने नहीं किया कि यह गम्भीर विचार-प्रणाली का उपयुक्त वाहन बन सके।

अन्य आकर्षक विषय : नायक-नायिका-भेद के बाद रीति-काल के शृंगारी कवियों के सबसे आकर्षक विषय रहे हैं : नख-शिख, षड्ऋतु-वर्णन और अष्टयाम। नख-शिख-वर्णन की प्रथा इस देश में नयी नहीं है। कालिदास के 'कुमारसम्भव' में पार्वती के नख-शिख सौन्दर्य का मनोरम वर्णन है। सभी काव्यों में नायिका और नायक के अंग-अंग की शोभा का वर्णन है, किन्तु इसी को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की प्रथा बहुत परवर्ती है। संस्कृत में भी एक-एक अंग का इस प्रकार का वर्णन परवर्ती कवियों में ही मिलता है। रीति-कवियों ने नायिका के अंग की शोभा और कान्ति का बड़ा ही हृदयहारी और कभी-कभी फड़का देने-वाला वर्णन किया है। पजनेस, ग्वाल, चन्द्रशेखर वाजपेयी जैसे कवियों ने 'प्यारी के मुख के तिल और मस्से' को भी वर्णन करने से नहीं छोड़ा है; और तो और, चेचक के दाग का भी रस लेके वर्णन किया है। षड्ऋतु-वर्णन भी पुराने जमाने से होता आ रहा है। कवियों में प्रायः शृंगार के उद्दीपन के रूप में ही इसकी चर्चा होती रही। रीति कवियों ने भी षड्ऋतु का वर्णन इसी उद्देश्य से किया है। अतिरंजना, समत्व का अभाव और मात्रा का वैषम्य प्रायः मिल जाता है। 'अष्टयाम' राधा और कृष्ण के आठ पहर की लीलाओं का वर्णन है। यद्यपि राधा और कृष्ण का प्रेम भी मानवीय प्रेम के रूप में ही चित्रित है, तथापि इन कवियों की भक्ति इन पदों में सदा प्रच्छन्न भाव से वर्तमान रहती है। अत्यन्त शृंगारी रचनाओं के बन्ध भी राधा-कृष्ण की लीला के प्रति श्रद्धा और भक्तिभाव का ध्यान अवश्य रखते हैं।

2. प्रमुख रीति-ग्रन्थकार

भक्ति-प्रेरणा का शैथिल्य : इस अध्याय के पूर्ववर्ती विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा कि हिन्दी में रीतिग्रन्थों का निर्माण पन्द्रहवीं शताब्दी से होने लगा था। केशवदास, रहीम, नन्ददास और कृपाराम की रचनाएँ बताती हैं कि रीतिग्रन्थों का प्रणयन बहुत पुराने काल से ही होने लगा था, परन्तु 'रीति'-साहित्य उन दिनों के साहित्य की प्रेरक-शक्ति नहीं था। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य को मूल प्रेरणा देनेवाली शक्ति भक्ति थी। सत्रहवीं शताब्दी में भक्ति का आन्दोलन समाप्त तो नहीं हो गया, पर साहित्यनिर्माण में वह प्रथम और प्रधान प्रेरणादायक शक्ति नहीं रह गया। इस समय हिन्दी साहित्यकार प्रधान रूप से रीतिबद्ध साहित्य की ओर आकृष्ट हुए।

चिन्तामणि : इतिहास में कानपुर जिले के तिकवाँ गाँव के निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के समान भाग्यशाली पिता बहुत कम होते होंगे। इनके चार पुत्र थे, चारों कवि। सबसे बड़े चिन्तामणि थे, जिनका जन्म सन् ईस्वी की सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही (1609 ई.) हुआ था। इनका 'का[illegible] कल्पतरु' नाना दृष्टियों से

बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यद्यपि 'शिवसिंह सरोज' में इनकी कई और रचनाओं ('छन्दविचार', 'काव्यविवेक', 'काव्यप्रकाश', 'रामायण') की चर्चा है और नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट में 'रसमंजरी' नामक एक अन्य रचना भी इनकी लिखी बतायी गयी है (जो वस्तुतः 'शृंगारमंजरी' है और भानुदत्त की 'रसमंजरी' पर आधारित है), परन्तु इनके यश का मुख्य हेतु तो 'कविकुल कल्पतरु' ही है। यह पुस्तक 'काव्यप्रकाश' के आदर्श पर लिखी गयी है। विचार काफी सुलझे हुए हैं। उदाहरणों से इनके अच्छे कवि होने का सबूत मिलता है। बाबू रुद्रशाह सोलंकी, शाहजहाँ बादशाह और जैनन्दी अहमद के यहाँ इन्हें बहुत सम्मान मिला था। इनके छोटे भाई भूषण, मतिराम और जटाशंकर भी कवि थे। इनमें भूषण और मतिराम तो बहुत उच्चकोटि के कवि गिने गये हैं और दोनों ही साहित्य-रसिकों में लोकप्रिय भी हुए हैं।

चिन्तामणि के उदाहरणों में सच्चे कवि-हृदय की झलक है। कभी-कभी तो वे सरसता में अपने छोटे भाई मतिराम से होड़ करते हैं। कई रचनाओं में भाषा का अकृत्रिम प्रवाह और भावों का सामंजस्य-विन्यास देखने योग्य होता है :

कोकिल कूक सुनै उमगै मन,
और सुभाउ भयो अबही को।
फूली लता द्रुम कुंज सुहात,
लगे अलि गुंजन भावत जी को।
कारन कौन भयो सजनी,
यह खेल लगै गुड़ियान को फीको।
काहे ते साँवरो अंग छबीलो,
लगै दिन द्वैक तें नैननि नीको।

परन्तु मतिराम की भाँति वे सर्वत्र इस सहज प्रभावमयी भाषा का निर्वाह नहीं कर पाये। वे अपनी काव्य-विवेचना के कारण ही साहित्य-मर्मज्ञों में समादृत हुए हैं।

भूषण : चिन्तामणि को सबसे अधिक आश्रय और सम्मान देनेवाले मुसलमान बादशाह और सरदार ही बताये गये हैं। परन्तु उनके छोटे भाई भूषण (जन्म 1613 ई.) शिवाजी के आश्रित थे और अपनी वीरदर्पभरी उक्तियों से मुगल साम्राज्य की जड़ हिलाने में सहायक हुए। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें 'कविभूषण' की उपाधि दी थी, तबसे इनका नाम भूषण पड़ गया। मूल नाम का पता नहीं चलता। वैसे तो ये आश्रय की तलाश में काफी दिन भटकते रहे, पर मनमाफिक आश्रयदाता इन्हें शिवाजी ही मिले। महाराज छत्रसाल भी इनके प्रशंसकों में से थे और भूषण भी दोनों की वीरता पर मुग्ध थे। शृंगार के व्यापक प्रभाव को अतिक्रम करके ये अपनी कविता को वीररस की गंगा में स्नान करा सके। यद्यपि उस वीर-काव्य में परम्परागत रूढ़ियों का और चारण कवियों की उस प्रथा का प्रभावपूर्ण रूप से पालन किया गया है जिसमें ध्वनि की अर्थ से अधिक

महत्त्व दिया जाता है और उनकी प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करने के लिए शब्दों को यथेच्छ तोड़ा-मरोड़ा जाता है, फिर भी भूषण की कविता में प्राण है। वह सोये हुए समाज को उद्बुद्ध करने की शक्ति रखती है। उनका 'शिवराज भूषण' अलंकार-ग्रन्थ है और 'शिवावावनी' वीररस की राजस्तुति-जातीय पुस्तक है, किन्तु और कवियों की राजस्तुति से भूषण की राजस्तुति में अन्तर है। और कवियों के काव्य-नायक सचमुच ही उस गौरव के अधिकारी नहीं होते जिसके अधिकारी शिवाजी-जैसे सच्चे शूर थे। इसलिए भूषण की कविता में सचाई और ईमानदारी की सुगन्धि आ गयी है।

मतिराम : मतिराम सम्भवतः भूषण से उमर में बड़े थे। दोनों भाइयों की भाषा, भाव, प्रकृति सबमें अद्भुत अन्तर है। मतिराम भाषा की नाड़ी पहचानते हैं। इनके 'रसराज' और 'ललितललाम' ग्रन्थ तो रीति-काव्य हैं, किन्तु 'सतसई' बिहारी-सतसई के समान सरस मुक्तकों का संग्रह है। भाषा के सहज प्रवाह और भावों के अनाडम्बर प्रकाशन में मतिराम के साथ भाषा के बहुत थोड़े कवियों की तुलना की जा सकती है। यद्यपि 'रसराज' और 'ललितललाम' में लक्षण और उदाहरण के बहाने ही कविता लिखी गयी है, पर भावों का ऐसा सरस चित्रण दुर्लभ है। एकाध उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी :

मो जुग नैन चकोरन को यह
रावरो रूप सुधा ही को नैबो।
कीजै कहा कुलकानि ते आनि
परो अब आपुनो प्रेम छिपैबो।
कुंजन में मतिराम कहूँ निसि
द्यौसहु घात परे मिलि जैबो।
लाल सयानी अलीन के बीच
निवारिये ह्यां की गलीन को ऐबो॥१॥
आपने हाथ सों देत महावर
आप ही बार सिंगारत नीके।
आपन ही पहिरावत आनि कै
हार सँवारि कै मौलसिरी के।
हौं सखि लाजन जाति मरी
मतिराम सुभाउ कहा कहौ पी के।
लोग मिले घर घैरु करैं
अब ही तें ये चेरे भये दुलही के॥ २॥
कुंदन को रँगु फीको लगै
झलकै अति अंगन चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में
मंजु विलासन की सरसाई।

कवीन्द्र उदयनाथ (जन्म 1680 ई. के आसपास), कालपी के श्रीपति कवि (जन्म 1700 ई.) आदि कवियों ने इस काल के रीति-ग्रन्थों का प्रणयन किया; परन्तु मतिराम और जसवन्तसिंह के बाद यदि कोई सचमुच ही शक्तिशाली कवि और आलंकारिक हुआ तो वह देव कवि ही थे।

देव कवि : देव (जन्म 1673 ई.) बहुत प्रभावशाली कवि थे। ये इटावे के रहनेवाले थे। कुछ लोगों ने इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहा है, कुछ ने सनाढ्य। दूसरा मत अधिक मान्य जान पड़ता है। इनके लिखे ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। इतिहास-लेखकों ने कभी 72 और कभी 80 ग्रन्थ इनके लिखे गिनाये हैं, पर सब मिलते नहीं। कई आश्रयदाताओं के दरबार में इन्हें भटकना पड़ा था। सबको खुश करने के लिए कई ग्रन्थों की रचना करनी पड़ी थी। कभी-कभी नया नाम देकर पुराना मसाला डाल देने का कौशल भी अंगीकार करना पड़ा। इसलिए कितनी ही पुस्तकों में नाममात्र का अन्तर है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी 25 पुस्तकें बतायी हैं—1. भाव विलास, 2. अष्टयाम, 3. भवानी विलास, 4. सुजान विनोद, 5. प्रेम तरंग, 6. राग रत्नाकर, 7. कुशल विलास, 8. देव चरित्र, 9. प्रेम चन्द्रिका, 10 जाति विलास, 11. रस विलास, 12. काव्य रसायन या शब्द रसायन, 13 सुख सागर तरंग, 14. वृक्ष विलास, 15. पावस विलास, 16. ब्रह्म दर्शन पचीसी, 17. तत्त्व दर्शन पचीसी, 18. आत्म-दर्शन पचीसी, 19 जगदर्शन पचीसी, 20. रसानन्द लहरी, 21. प्रेम दीपिका, 22. सुमिल विनोद, 23. राधिका विलास, 24. नीति शतक, और 25. नखशिख प्रेम दर्शन।

इनमें 'रस विलास' (1726 ई.) भोगीलाल नामक किसी 'लाखन खरचि रचि आखर खरीदनें' वाले उदार आश्रयदाता के मनोविनोद के लिए लिखा हुआ नायिका-भेद का ग्रन्थ है; 'भवानी विलास' किसी भवानीदत्त नामक आश्रयदाता के नाम पर लिखा हुआ रस-ग्रन्थ है, जिसमें देव ने भोजराज की भाँति स्पष्ट रूप में कहा है कि 'भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल शृंगार' (!); 'भाव विलास' औरंगजेब के पुत्र सरसहृदय आजमशाह के मनोविनोद के लिए लिखा हुआ नायिका-भेद का ग्रन्थ है, जिसे कवि ने जवानी के नवीन उन्मेष के समय—'चढ़त सोरही वर्ष'—लिखा; और 'काव्य रसायन' बहुत महत्त्वपूर्ण सांगोपांग अलंकार ग्रन्थ है। यद्यपि लक्षण-लक्ष्य के रूप में देव ने ये ही रीति-ग्रन्थ लिखे हैं, पर उनके अन्य ग्रन्थों में भी रीतिकाव्य के सभी गुण प्राप्त होते हैं। 'प्रेमचन्द्रिका', 'रस-विलास', 'प्रेमपचीसी' आदि पुस्तकों में देव बहुत उत्तम कवि के रूप में विराजमान हैं। यद्यपि मतिराम की भाँति भाषा का सहज प्रवाह और भावों की समंजस-योजना देव की कविता में नहीं है तथापि अर्थ-गाम्भीर्य और सरस वाग्विन्यास में वे बहुत ही ऊँचे कवि हैं। जब कभी वे सहज और अनाडम्बर भाषा का प्रयोग करते हैं तभी उनकी रचना अत्यन्त उत्कृष्ट होकर प्रकट होती है, पर जब वे सूक्ति-योजना और वाग्वैदग्ध्य के आयोजन में जुट जाते हैं तब उसमें

ऐनक लगाए मरु मरु कै निहारे जात
अनु परमानु की समानता लगतु है।
वेनी कवि कहै हाल कहां लौं बखान करौ
मेरी जान ब्रह्म को विचारिबो सुगतु है।
ऐसे आम दीन्हे दयाराम दया करि मोहि
जाके आगे सरसों सुमेरु सो लगतु है।

इसी प्रकार वेनी प्रवीन (लखनऊवाले) ने यद्यपि 'नवरस तरंग' (1817 ई.), 'शृंगार भूषण' और 'नानारावप्रकाश' जैसे रीतिग्रन्थ लिखे थे, पर उनकी प्रसिद्धि का कारण उनकी अत्यन्त सरस और सुगठित भाव-योजनाएँ हैं। उनकी अत्यन्त मार्मिक रचनाएँ—'सबसों बदली-बदली कहै माला' और 'एते बड़े ब्रजमंडल मे न मिली कहूँ रंचक मांगेहु रोरी' इस काल के सहृदयो को मुग्ध करती रहीं। इन उक्तियों मे अद्भुत मिठास है। यद्यपि इनकी उत्तम रचनाएँ थोड़ी ही हैं, पर सरसता में ये कभी-कभी मतिराम की रचनाओ तक पहुँच जाती हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

कालिह ही गूँथी बबा की सौं मैं
गज मोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ तें यहाँ पुखराज की,
संग एई जमुना तट बाला।
न्हात उतारी हौं वेनी प्रवीन,
हँसै सुनि नैनन नैन रसाला।
जानति ना अंग की बदली,
सब सों बदली बदली कहै माला।

पद्माकर : किन्तु इस काल के श्रेष्ठ कवि पद्माकर ही है। (1753 ई.-1833 ई.)। ये सुपण्डित तो थे ही, विस्तृत लोकज्ञान के धनी भी थे। अन्तिम वयस में इन्होने भक्ति-सम्बन्धी पद लिखे है जो बहुत ही मार्मिक है। इनका जन्म बाँदे में हुआ था। इनका कुल पण्डितो का कुल था। ये स्वयं भी 'गुरु'-रूप मे सम्मान प्राप्त कर चुके थे। कई दरबारों मे इनका सम्मान हुआ था। इनके लिखे कई ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—'हिम्मतबहादुर विरुदावली', 'जगद्विनोद', 'पद्माभरण', 'प्रबोध पचासा' और 'राम-रसायन' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनका 'जगद्विनोद' उन्नीसवी शताब्दी के काव्यरसिकों को बहुत प्रिय रहा है। भाषा पर तो इनका बहुत ही व्यापक अधिकार है। यद्यपि कभी-कभी अपने समय की प्रवृत्ति के शिकार होकर ये अर्थ-गाम्भीर्यहीन रचनाओं के लिखने मे प्रवृत्त हो जाते है, पर बहुत थोड़े अवसरों पर ऐसा होता है। इनकी रचना मे अनाडम्बर भाव-योजना और सहज भाषाप्रवाह के गुण मतिराम के समान प्राप्त होते हैं। यह तो नही कहा जा सकता कि सूक्ति-योजना में ये विहारी के समकक्ष है, पर शृंगाररस के प्रसंग मे इनके अनुभावों, हावो और अन्य अंगज अलंकारों की योजना निस्सन्देह बहुत उत्तम कोटि

ऐनक लगाए मरु मरु कै निहारे जात
अनु परमानु की समानता लगतु है।
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौ बखान करौं
मेरी जान ब्रह्म को विचारिबो सुगतु है।
ऐसे आम दीन्हे दयाराम दया करि मोहिं
जाके आगे सरसों सुमेरु सो लगतु है।

इसी प्रकार बेनी प्रवीन (लखनऊवाले) ने यद्यपि 'नवरस तरंग' (1817 ई.), 'शृंगार भूषण' और 'नानारावप्रकाश' जैसे रीतिग्रन्थ लिखे थे, पर उनकी प्रसिद्धि का कारण उनकी अत्यन्त सरस और सुगठित भाव-योजनाएँ हैं। उनकी अत्यन्त मार्मिक रचनाएँ—'सबसों बदली-बदली कहै माला' और 'एते बड़े ब्रजमंडल में न मिली कहूँ रंचक माँगेहु रोरी' इस काल के सहृदयों को मुग्ध करती रहीं। इन उक्तियों में अद्भुत मिठास है। यद्यपि इनकी उत्तम रचनाएँ थोड़ी ही हैं, पर सरसता में ये कभी-कभी मतिराम की रचनाओं तक पहुँच जाती हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

कालिह ही गूँथी बबा की सौ मैं
गज मोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ तें यहाँ पुखराज की,
संग एई जमुना तट बाला।
न्हात उतारी हौं बेनी प्रवीन,
हँसै सुनि नैनन नैन रसाला।
जानति ना अंग की बदली,
सब सों बदली बदली कहै माला।

पद्माकर : किन्तु इस काल के श्रेष्ठ कवि पद्माकर ही हैं। (1753 ई.-1833 ई.)। ये सुपण्डित तो थे ही, विस्तृत लोकज्ञान के धनी भी थे। अन्तिम वयस में इन्होंने भक्ति-सम्बन्धी पद लिखे हैं जो बहुत ही मार्मिक हैं। इनका जन्म बाँदे में हुआ था। इनका कुल पण्डितों का कुल था। ये स्वयं भी 'गुरु'-रूप में सम्मान प्राप्त कर चुके थे। कई दरबारों में इनका सम्मान हुआ था। इनके लिखे कई ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—'हिम्मतबहादुर विरुदावली', 'जगद्विनोद', 'पद्माभरण', 'प्रबोध पचासा' और 'राम-रसायन' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनका 'जगद्विनोद' उन्नीसवीं शताब्दी के काव्यरसिकों को बहुत प्रिय रहा है। भाषा पर तो इनका बहुत ही व्यापक अधिकार है। यद्यपि कभी-कभी अपने समय की प्रवृत्ति के शिकार होकर ये अर्थ-गाम्भीर्यहीन रचनाओं के लिखने में प्रवृत्त हो जाते हैं, पर बहुत थोड़े अवसरों पर ऐसा होता है। इनकी रचना में अनाडम्बर भाव-योजना और सहज भाषाप्रवाह के गुण मतिराम के समान प्राप्त होते हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि सूक्ति-योजना में ये बिहारी के समकक्ष हैं, पर शृंगाररस के प्रसंग में इनके अनुभावों, हावों और अन्य अंगज अलंकारों की योजना निस्सन्देह बहुत उत्तम कोटि

ऐनक लगाए मरु मरु कै निहारे जात
अनु परमानु की समानता लगतु है।
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौ बखान करौ
मेरी जान ब्रह्म को विचारिबो सुगतु है।
ऐसे आम दीन्हे दयाराम दया करि मोहि
जाके आगे सरसों सुमेरु सो लगतु है।

इसी प्रकार बेनी प्रवीन (लखनऊवाले) ने यद्यपि 'नवरस तरंग' (1817 ई.), 'शृंगार भूषण' और 'नानारावप्रकाश' जैसे रीतिग्रन्थ लिखे थे, पर उनकी प्रसिद्धि का कारण उनकी अत्यन्त सरस और सुगठित भाव-योजनाएँ हैं। उनकी अत्यन्त मार्मिक रचनाएँ—'सबसो बदली-बदलो कहै माला' और 'एते बड़े ब्रजमंडल में न मिली कहूँ रंचक माँगेहु रोरी' इस काल के सहृदयों को मुग्ध करती रहीं। इन उक्तियों में अद्भुत मिठास है। यद्यपि इनकी उत्तम रचनाएँ थोड़ी ही हैं, पर सरसता में ये कभी-कभी मतिराम की रचनाओं तक पहुँच जाती है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

कान्हि हो गूँथी बबा की सौं मैं
गज मोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ तें यहाँ पुखराज की,
संग एई जमुना तट बाला।
न्हात उतारी हौं बेनी प्रबीन,
हँसैं सुनि नैनन नैन रसाला।
जानति ना अंग की बदली,
सब सों बदली बदली कहै माला।

पद्माकर : किन्तु इस काल के श्रेष्ठ कवि पद्माकर ही है। (1753 ई.-1833 ई.)। ये सुपण्डित तो थे ही, विस्तृत लोकज्ञान के धनी भी थे। अन्तिम वयस में इन्होंने भक्ति-सम्बन्धी पद लिखे है जो बहुत ही मार्मिक है। इनका जन्म बाँदे में हुआ था। इनका कुल पण्डितों का कुल था। ये स्वयं भी 'गुरु'-रूप में सम्मान प्राप्त कर चुके थे। कई दरबारों मे इनका सम्मान हुआ था। इनके लिखे कई ग्रन्थ उपलब्ध हुए है—'हिम्मतबहादुर विरुदावली', 'जगद्विनोद', 'पद्माभरण', 'प्रबोध पचासा' और 'राम-रसायन' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनका 'जगद्विनोद' उन्नीसवीं शताब्दी के काव्यरसिकों को बहुत प्रिय रहा है। भाषा पर तो इनका बहुत ही व्यापक अधिकार है। यद्यपि कभी-कभी अपने समय की प्रवृत्ति के शिकार होकर ये अर्थ-गाम्भीर्यहीन रचनाओं के लिखने में प्रवृत्त हो जाते है, पर बहुत थोड़े अवसरों पर ऐसा होता है। इनकी रचना में अनाडम्बर भाव-योजना और सहज भाषाप्रवाह के गुण मतिराम के समान प्राप्त होते है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि सूक्ति-योजना में ये बिहारी के समकक्ष हैं, पर शृंगाररस के प्रसंग में इनके अनुभावों, हावों और अन्य अंगज अलंकारों की योजना निस्सन्देह बहुत उत्तम कोटि

ऐनक लगाए मरु मरु कै निहारे जात
अनु परमानु की समानता लगतु है।
वेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं वखान करौं
मेरी जान ब्रह्म को विचारिबो सुगतु है।
ऐसे आम दीन्हे दयाराम दया करि मोहिं
जाके आगे सरसौं सुमेरु सो लगतु है।

इसी प्रकार वेनी प्रवीन (लखनऊवाले) ने यद्यपि 'नवरस तरंग' (1817 ई.), 'श्रृंगार भूषण' और 'नानारावप्रकाश' जैसे रीतिग्रन्थ लिखे थे, पर उनकी प्रसिद्धि का कारण उनकी अत्यन्त सरस और सुगठित भाव-योजनाएँ हैं। उनकी अत्यन्त मार्मिक रचनाएँ—'सबसो बदली-बदली कहै माला' और 'एते बड़े ब्रजमंडल मे न मिली कहूँ रंचक माँगेहु रोरी' इस काल के सहृदयों को मुग्ध करती रही। इन उक्तियों में अद्भुत मिठास है। यद्यपि इनकी उत्तम रचनाएँ थोड़ी ही हैं, पर सरसता मे ये कभी-कभी मतिराम की रचनाओ तक पहुँच जाती हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

कालिह ही गूँथी बबा की सौं मैं
गज मोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ तें यहाँ पुखराज की,
संग एई जमुना तट बाला।
न्हात उतारी हौं वेनी प्रबीन,
हँसै सुनि नैनन नैन रसाला।
जानति ना अग की बदली,
सब सों बदली बदली कहै माला।

पद्माकर : किन्तु इस काल के श्रेष्ठ कवि पद्माकर ही हैं। (1753 ई.-1833 ई.)। ये सुपण्डित तो थे ही, विस्तृत लोकज्ञान के धनी भी थे। अन्तिम वयस में इन्होने भक्ति-सम्बन्धी पद लिखे हैं जो बहुत ही मार्मिक हैं। इनका जन्म बाँदे में हुआ था। इनका कुल पण्डितों का कुल था। ये स्वय भी 'गुरु'-रूप मे सम्मान प्राप्त कर चुके थे। कई दरबारों मे इनका सम्मान हुआ था। इनके लिखे कई ग्रन्थ उपलब्ध हुए है—'हिम्मतबहादुर विरुदावली', 'जगद्विनोद', 'पद्माभरण', 'प्रबोध पचासा' और 'राम-रसायन' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनका 'जगद्विनोद' उन्नीसवी शताब्दी के काव्यरसिकों को बहुत प्रिय रहा है। भाषा पर तो इनका बहुत ही व्यापक अधिकार है। यद्यपि कभी-कभी अपने समय की प्रवृत्ति के शिकार होकर ये अर्थ-गाम्भीर्यहीन रचनाओं के लिखने मे प्रवृत्त हो जाते है, पर बहुत थोड़े अवसरों पर ऐसा होता है। इनकी रचना मे अनाडम्बर भाव-योजना और सहज भाषाप्रवाह के गुण मतिराम के समान प्राप्त होते हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि सूक्ति-योजना में ये विहारी के समकक्ष हैं, पर श्रृंगाररस के प्रसग में इनके अनुभावों, हावों और अन्य अंगज अलंकारों की योजना निस्सन्देह बहुत उत्तम कोटि

के साहित्यिक आलोचकों के चित्त में हलचल पैदा कर दी थी। साधारणतः विश्वास किया जाता है कि इस कवि ने अपनी 'सतसई' की रचना रीति-काव्य की दृष्टि से ही की थी, क्योंकि उनके दोहों को देखकर यही अनुमान होता है कि किसी-न-किसी नायिका का लक्षण उनके मन में अवश्य उपस्थित था। पुराने सहृदयों को भी यह बात लगी थी (क्योंकि कभी-कभी इन दोहों को नायिका-भेद के अनुक्रम से सजाया गया है) और नये सहृदयों को भी अनुभूत हुई है। परन्तु इस बात से केवल यही सिद्ध होता है कि बिहारी के प्रशंसक रीति-मनोवृत्ति के सहृदय थे। स्वयं बिहारी भी रीतिग्रन्थों के अच्छे जानकार रहे होंगे, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उनके प्रत्येक दोहे में किसी-न-किसी नायिका को खोज लेना यह नहीं सिद्ध करता कि वे रीतिग्रन्थ लिख रहे थे। 'अमरुकशतक' के श्लोक नायिका-भेद की चर्चा करनेवालों के बहुत प्रिय रहे हैं, परन्तु इसीलिए यह नहीं कहा जाता कि वह नायिका-भेद का ग्रन्थ है। हाल की प्राकृत भाषा में लिखी हुई 'गाथा सप्तशती' और गोवर्धन की संस्कृत भाषा में लिखी हुई 'आर्यासप्तशती' के प्रत्येक पद्य में किसी-न-किसी नायक या नायिका का उदाहरण खोजा जा सकता है, और खोजा गया है, परन्तु इन पुस्तकों को कोई रीतिग्रन्थ नहीं कहता। वस्तुतः सात सौ या तीन सौ, या सौ फुटकर पद्यों के संग्रह के रूप में काव्य-रचना की प्रथा इस देश में बहुत पुराने काल से चली आ रही है। गीता में सात सौ श्लोक हैं, जोड़-बटोरकर चण्डीपाठ के श्लोकों की संख्या को भी सात सौ बनाने की कोशिश की गयी है। तुलसीदास और रहीम के नाम के साथ भी सतसई का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। प्राचीन भारत में कवि लोग प्रायः ही अपनी फुटकल पद्यों की रचनाओं को संख्यापरक नाम दे दिया करते थे। सौ पद्यों के संग्रह को शतक कहते थे। अमरुक का शतक तो प्रसिद्ध ही है, भर्तृहरि के भी तीन शतक प्रसिद्ध हैं, मयूर कवि का सूर्यस्तुतिपरक 'सूर्यशतक' और बाण का चण्डी की स्तुति करने-वाला 'चण्डीशतक' पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके हैं। हिन्दी रीतिकाल के आरम्भ होने के पहले भी और बाद में भी संस्कृत में शृंगारी शतकों की परम्परा चलती रही है। चौदहवीं शताब्दी से पहले तो उत्प्रेक्षावल्लभ ने 'सुन्दरीशतक' लिखा था और अठारहवीं शताब्दी में अल्मोड़े के विश्वेश्वर कवि ने 'रोमावलीशतक' लिखा था। मुबारक आदि कवियों के 'अलकशतक' और 'तिलकशतक' इसी परम्परा में पड़ते हैं। बारहवीं शताब्दी में बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के सभाकवि गोवर्धन पण्डित ने अपनी प्रसिद्ध 'आर्यासप्तशती' लिखी थी, जिसका बढ़ाव अठारहवीं शताब्दी के कवि विश्वेश्वर की 'आर्यासप्तशती' तक चलता रहा। संख्यापरक नाम देकर संस्कृत में दर्जनों काव्य लिखे गये हैं। बिल्हण या चौर कवि की 'चौर पचाशिका'

→ का 'बिहारी-बिहार', (2) पं. पद्मसिंह शर्मा का 'संजीवन भाष्य' (अपूर्ण), (3) लाला भगवानदीन की 'बिहारी बोधिनी', (4) श्री रामवृक्ष शर्मा 'बेनीपुरी' की टीका और (5) रत्नाकरजी का 'बिहारी रत्नाकर'।

पचास पद्यों का धारावाहिक संग्रह है। परन्तु साधारणतः ये संख्यापरक नामवाली पुस्तकें धारावाहिक संग्रह नही होती थीं। इनमें परस्पर-निरपेक्ष और अपने-आपमें परिपूर्ण पद्यों का ही संग्रह होता था। हाल की 'गाथा सप्तशती' ऐसी रचनाओं का प्रथम संग्रह है और विहारीलाल की 'सतसई' इसी परम्परा में पड़ती है। इसके वाद भी सतसइयों की रचना होती अवश्य रही, पर कीर्ति में कोई इसके निकट नही पहुँच सकी। सरसता मे इसके समक्ष पहुँच सकनेवाली एकमात्र रचना मतिराम की 'सतसई' है, पर वह पुस्तक कभी भी बहुत लोकप्रिय नही हुई। प्राकृत और संस्कृत के समान ही अपभ्रंश में भी सतसई और शतकों की परम्परा बनी रही, पर दुर्भाग्यवश अब वह साहित्य उपलब्ध नहीं है। हेमचन्द्र के व्याकरण में आये हुए दोहों को देखकर अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि उस समय वह परम्परा जीती अवश्य होगी। इस प्रकार विहारी की सतसई किसी रीति-मनोवृत्ति की उपज नही है। यह एक विशाल परम्परा के लगभग अन्तिम छोर पर पड़ती है और अपनी परम्परा को सम्भवतः अन्तिम विन्दु तक ले जाती है।

'गाथा सप्तशती' और 'विहारी सतसई' में अन्तर : परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि 'गाथा सप्तशती' और 'विहारी सतसई' मे कोई अन्तर ही नही है। 'विहारी सतसई' में निश्चित रूप से वह ताजगी और दीप्ति नही है जो 'गाथा सप्तशती' मे है। तीन ग्रन्थ विहारी के बहुत प्रिय जान पड़ते हैं—हाल की 'गाथा सप्तशती', अमरुक का 'शतक' और गोवर्धन की 'आर्यासप्तशती'। सिर्फ विहारी ही नहीं, उनके बाद के सस्कृत पढ़े-लिखे हिन्दी शृंगारी कवियों ने भी इन तीन ग्रन्थों से वहुत प्रेरणा प्राप्त की है। कई कवियों ने इन ग्रन्थों के श्लोकों का अक्षरश अनुवाद कर दिया है और कई दूसरे लेखकों ने स्थान-स्थान पर इनके भावों का छायानुवाद किया है। साहित्य के मर्मज्ञ आलोचकों ने बताया है कि गोवर्धन की 'आर्या-सप्तशती' मे भी हाल की भाँति सरसता, उल्लास और ताजगी नहीं है। विहारी इस विषय में शायद गोवर्धन से अधिक सौभाग्यशाली हैं। प्रधान कारण यह है कि विहारी को लोकभाषा मे लिखना था जो हार्दिक उल्लास और सरस वाग्वैदग्ध्य का स्वाभाविक और उपयुक्त वाहन हो सकती है। परन्तु विहारी को गोवर्धन की अपेक्षा कहीं अधिक परम्परा का बोझा ढोना पड़ा है। इस परम्परा के भार ने उनकी भाषा को उनके द्वारा कल्पित उस नायिका की भाँति ही 'सूधो पाँय' धर सकने के अयोग्य बना दिया है जो अपनी शोभा के भार से ही लड़खड़ा उठी थी।

परम्परा की विरासत : जिस कवि को परम्परा की इतनी बड़ी विरासत मिली हो, उसमें यदि पूर्ववर्त्ती साहित्य के सभी चिह्न मिल जाते हों तो कुछ आश्चर्य की बात नही है। संस्कृत और प्राकृत के पुराने शृंगारी कवि किसी भी स्वभाव और शीलवाली स्त्री की शारीरिक चेष्टाओं और कर्म-व्याप्तियों को सुन्दर रूप में उपस्थित करने में रस ले सकते हैं। केवल एक ही बात वे लगाना चाहते हैं। उद्दिष्ट नारी सुन्दरी हो, युवती हो, अनुरागवती हो। फिर वे और कुछ नहीं सोचते। वे प्रेम के सहज रूप को कम और उसके मनोहर रूप को अधिक पसन्द

हैं। वे उसके कल्पना-कोमल रूप को उभारने का अधिक प्रयत्न करते हैं और उसकी अनायास मोहन-शोभा को कम; वे चित्र को कलापूर्ण बनाने में अधिक श्रम करते हैं, वैयक्तिक सम्बन्धों की अनुभूतियों से रँगने में कम। उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में ही नायिकाओं के सूक्ष्म वर्गीकरण के आधार पर श्रृंगार चेष्टाओं को अभिव्यक्ति करने की प्रवृत्ति प्रकट होने लगी थी और काव्य में स्त्री-सौन्दर्य को परिमार्जित किन्तु कृत्रिम रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न होने लगा था। बिहारी तथा अन्य रीतिकालीन कवियों को यह मनोवृत्ति विरासत में मिली थी।

बिहारी के साथ अन्य कवियों की तुलना का साहित्य : आधुनिक हिन्दी के आरम्भिक आलोचकों में बिहारी की श्रेष्ठता को लेकर एक मनोरंजक विवाद उठ खड़ा हुआ था। बिहारी की प्रतिद्वन्द्विता में देव को रखा गया था। बिहारी को श्रेष्ठ समझनेवाले आलोचकों के अगुआ पण्डित पद्मसिंह शर्मा थे और देव को बिहारी से ऊँचा स्थान देनेवालों के अग्रणी मिश्रबन्धु थे। कई सहृदयों ने इस मनोरंजक वाद में योग दिया। इस वाद का एक परिणाम तो हिन्दी के आलोचकों में बहुत दिनों तक जमी रहनेवाली दाद देनेवाली पद्धति हुई जो आलोचना-क्षेत्र में वास्तविक विचार-स्पष्टता की बाधक बनी रही, क्योंकि किसी कवि को सब प्रकार से न देखकर केवल उक्ति-चमत्कार की दृष्टि से देखना आंशिक रूप से देखना है। पं. पद्मसिंह शर्मा ने इस सिलसिले में बड़े महत्त्व का काम किया था। उन्होंने 'गाथा सप्तशती,' 'आर्यासप्तशती,' 'अमरुकशतक' आदि के पद्यों से तुलना करके यह बताने का प्रयत्न किया था कि किस प्रकार बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के 'मजमून' छीन लिये हैं। उन्होंने इस मुहावरे का इतना अधिक प्रयोग किया कि कुछ दिनों तक 'मजमून का छीन लेना' ही कवियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण माना जाता रहा। अपनी-अपनी रुचि के कवियों में यह गुण ढूँढ़ने का पूरा प्रयत्न किया जाता रहा। यह बात जहाँ उस काल के समालोचकों के मानसिक झुकाव का पता देती है, वहीं बिहारी के एक अत्यन्त उज्ज्वल गुण की ओर ध्यान आकर्षित करती है। बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती सभी बड़े कवियों की रचनाओं का निपुण अध्ययन किया था और इस बात का पूरा प्रयत्न किया था कि उनके दोहे अधिक व्यंजक, अधिक मर्मस्पर्शी, अधिक भाववाहक और अधिक सुथरे हों। उन्होंने पुराने कवियों के भाव को ग्रहण किया था, उसे सँवारा था, उसे निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया था और उसे 'अपना' बना दिया था। इतनी दीर्घपरम्परा के अनुयायी कवि में पुरानापन रह ही जाता है। फिर बिहारी सूक्ति-संग्राहक कवि थे। उन्होंने पुरानी बातों को पालिश करके, खरादके, सँवारके, सजाके नया रूप दिया है। इसी कला का चलता नाम 'मजमून छीन लेना' है।

बिहारी सजग कलाकार थे : बिहारी उन कवियों में से थे, जिन्हें आजकल 'सजग कलाकार' या 'कन्शस आर्टिस्ट' कहते हैं। एक प्रकार के कवि होते हैं जो भावानुभूति के बाद आविष्ट की-सी अवस्था में काव्य लिख जाते हैं। ऐसे कवि का चेतन मन उस समय निष्क्रिय बना रहता है, किन्तु उसके अवचेतन

चित्त में जो संस्कार जमे होते हैं, जो अनुभूतियाँ संचित रहती हैं वे बाँध तोड़कर निकल पड़ती हैं। अनुभूत भाव का वेग इन विविध अनुभूतियों में एकसूत्रता स्थापित करता है। ऐसे कवि सचेत कलाकार नहीं होते। वे अपने अवचेतन चित्त से चालित होते हैं। बाह्य वस्तु उनके चित्त में केवल ऐसे आवेगों की सृष्टि करती है जो अनुभूतियों में शृंखला स्थापित करते हैं। किन्तु एक दूसरे प्रकार के कवि होते हैं जिनका चेतन चित्त आविष्ट नहीं होता। वे शब्दों और उनके अर्थों पर विचार करते रहते हैं; उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द बाह्य जगत् में जिस रूप को अभिव्यक्त करते हैं उसको वे मन-ही-मन समझते रहते हैं और तौलते रहते हैं। शृंगाररस की अभिव्यंजना के समय ऐसे कवि रसोद्दीपन-परक चेष्टाओं की पूरी मूर्त्ति को ध्यान में रखते हैं। वे प्रिया की शोभा, दीप्ति, कान्ति के साथ-साथ माधुर्य, औदार्य आदि मानस गुणों को भी जब व्यक्त करना चाहते हैं तो उन आंगिक और वाचिक चेष्टाओं का चित्र खींचते हैं, जो तत्तद्गुणों की मानसिक अवस्था की व्यंजना करते हैं। अनेक प्रकार के हावों, हेलाओं, कुट्टमित-मोट्टायितों और अनुभावों की योजना में उनकी काव्य-लक्ष्मी प्रकट होती है। बिहारी इस कला में बड़े पटु हैं।

शब्दालंकारों की योजना : अलंकारों का प्रयोग हमेशा ही इस देश में सम्मानित रहा है। काव्य के आलोचक ध्वनि, रस, औचित्य, रीति आदि को प्रधानता देकर शब्द-चित्रों, अर्थ-चित्रों के प्रति अपनी अनास्था बराबर प्रकट करते रहे हैं, परन्तु शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के प्रयोग को व्यावहारिक जगत् से कम नहीं कर सके हैं। वस्तुतः शब्दालंकार और अर्थालंकार, दोनों ही रस के उपयुक्त साधक भी बन सकते हैं और बाधक भी हो सकते हैं। परन्तु जिस काव्य में केवल शब्दालंकार ही झंकार उत्पन्न करता है, अर्थ का भार कम होता है, वह एक प्रकार की असान्द्र-अनुभूतिजनक आवेग का कम्पन उत्पन्न करता है। न तो वह संगीत की अबाध गति उत्पन्न कर पाता है, न अर्थ-जगत् से सम्पूर्ण रूप में विच्छेद ही कर पाता है। उसके शब्द बराबर बाह्य सत्ता से श्रोता का सम्बन्ध स्थापित करते रहते हैं और स्वर के स्वच्छन्द प्रवाह में बाधा उत्पन्न करते रहते हैं। अर्थ-भारहीन शब्दालंकार न तो काव्य की गाढ़ अनुभूति ही पैदा करते हैं और न संगीत का प्रवाह ही। वे दोनों के केवल घटिया प्रभाव ही उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु जहाँ शब्दालंकार में अर्थ-भार बना रहता है, वहाँ वे काव्यगत प्रभाव को संगीत की सहज गति देकर बहुत अधिक बढ़ा देते हैं। ऐसे स्थलों पर शब्दालंकार काव्य-प्रभाव की सहायता करते हैं ... काल के कवियों में शब्दालंकार के प्रयोग बहुत हैं, पर अधिकतर ... प्रभाव को उत्पन्न

अर्थालंकारों की योजना : परन्तु अर्थालंकारों की कहानी दूसरी है। वे यदि ठीक से प्रयुक्त हुए तो शब्द के प्राणप्रद और विशेषाधानहेतुक, दोनों ही धर्मों में गाढ़ अनुभूति का रस ले आ देते हैं। अर्थात् हम उनकी सहायता से वक्तव्य वस्तु के व्यक्तित्व को, गुणों को और क्रियाओं को गाढ़ भाव से अनुभव करते हैं। पदार्थ के विशेषाधानहेतुक धर्म—चाहे वे सिद्ध हों या साध्य—सादृश्यमूलक अलंकारों से इस प्रकार सम्मूर्तित होते हैं कि पाठक के चित्त में उनकी अनुभूति सहज हो जाती है। वस्तुतः अर्थालंकार जब आवेगसहचर होकर आते हैं, तो काव्य में अधिक ऊर्जस्वल तेज भर देते हैं; पर जब वे आवेग से विच्युत होकर उपस्थित होते हैं, तो चमत्कारी उक्ति-भर रह जाते हैं। वे उस अवस्था में बिजली की कौंध के समान एक क्षणिक ज्योति विकीर्ण करके समाप्त हो जाते हैं। यह क्षणिक ज्योति हमारे किसी काम की नहीं होती, केवल अन्तर की चेतना पर एक हल्की-सी हलचल पैदा करके विरत हो जाती है। बिहारी की अज्ञातयौवना नायिका ने अपनी दासी को जब ईख की दतुअन ले आने के अपराध पर झिड़का था,[1] तो उसकी सरलता (जो वास्तव में कवि-कल्पित और कृत्रिम सरलता है) ने एक ऐसी ही क्षणिक ज्योति उत्पन्न की थी। अधर के माधुर्य से बाह्य जगत् में कहीं भी और कभी भी नीम की दतुअन ईख की-सी मीठी नहीं लगने लगती। इस कविता का सम्पूर्ण सौन्दर्य 'माधुर्य' शब्द के प्रयोग में है जो मूलतः मिठास के अर्थ में संकेतित है और बाद में अच्छी-भली लगनेवाली बातों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा है। अधर की मिठास यदि बाह्य जगत् में सचमुच ही चीनी के समकक्ष होती तो यह दोहा स्थायी आवेग-कम्पन उत्पन्न करने में असमर्थ होता, क्योंकि उस अवस्था में वह पाठक को चौंका नहीं सकता। बाह्य सत्ता से असम्पृक्त होने के कारण इस कम्पन में स्थायिता नहीं आ पायी है और न किसी अनुभूति की सान्द्रता ही इससे उत्पन्न हुई है। बिहारी इस प्रकार अर्थ की बाह्य सत्ता से असम्पृक्त क्षणिक आलोक विकीर्ण करनेवाली उक्तियों के चक्कर में पड़ते हैं। विरह की उक्तियों में भी जब वे ऐसा प्रयत्न करने लगते हैं, तो उक्ति हास्यास्पदता की सीमा तक पहुँच जाती है। असल में बिहारी की प्रतिभा प्रेम के उसी पहलू को अधिक अनुभूतिगम्य बना सकी है, जो अनेक प्रकार की कृत्रिम (यत्नज) और सहज अंगचेष्टाओं से अभिव्यक्त होती है। ऐसे स्थलों पर बिहारी बड़ा ही सजीव चित्र खींचते हैं।

बिहारी की असफलता कहाँ है ? : जब भी बिहारी बाह्य-सत्ता से असम्पृक्त अर्थ की चातुरी प्रकट करते हैं तभी असफल हो जाते हैं, पर जहाँ इस प्रकार की कृत्रिम चेष्टा नहीं होती वहाँ बहुत सफल होते हैं। एक नायिका के अधर पर नाक के बेसर के मोती की छाया पड़ी है, उसे चूना समझकर वह पोंछ रही है। उसकी सखी उपहास करती हुई वास्तविकता को समझा देती है :

1. अधर परसि मीठी भई दई हाथ सों डारि। लावति दतुअनि ऊख की नोखी खिजमत गारि॥
यह कुछ असन्तोष की बात है कि बिहारी के कई संस्करणों में यह दोहा नहीं पाया जाता।

जायेगी :

केलि कै राति अघाने नहीं
दिन ही मैं लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोउ पानी दै जाइयों,
भीतर बैठि के बात सुनाई।
जेठी पठाई गई दुलही हँसि
हेरि हरे मतिराम बुलाई।
कान्ह के बोल में कान न दीनो सो,
गेह की देहरी पै धरि आई।

इसमें न कहीं भी कोई ठूँस-ठाँस है, न दूर की कौड़ी लाने का कोई प्रयास है। सहज-प्रसन्न भाषा में मध्यकाल की नव-वधू की अत्यन्त सच्ची और मार्मिक मूर्ति उभर आयी है।

मतिराम का आधारफलक (कैनवास) बहुत बड़ा नहीं है, पर अपने सीमित क्षेत्र में उन्होंने कमाल की चित्रण-पटुता दिखायी है। इन चित्रों में रंगों की चकाचौंध नहीं है, निपुण कलाकार द्वारा आयोजित कौशलों के आधार पर भिन्न-भिन्न अवयवों के उभार दिखाने का प्रयास भी नहीं है; बल्कि चित्र के उस वास्तविक प्राणवायु को जीवन्त रूप में प्रकट कर देने का सहज गुण प्राप्त है, जिसके चित्रित हो जाने पर बाकी सबकुछ स्वयं सुधर जाते हैं। उनके भाई भूषण भी हिन्दी के बहुत ख्यात कवि हैं। परन्तु न तो भूषण को मतिराम की भाँति सहज-प्रसन्न भाषा का वरदान प्राप्त था, न प्राणवस्तु को जीवन्त रूप देने की क्षमता। 'ऐल-फैल खैल-भैल' जैसे गढ़े शब्दों में चित्र को प्राणवन्त बनाने की क्षमता ही नहीं है। भूषण की प्रसिद्धि का मुख्य कारण उनके रस का चुनाव है। प्रेम और विलासिता के साहित्य का ही उन दिनों प्राधान्य था। उसमें उन्होंने वीररस की रचना की। यही उनकी विशेषता है। मतिराम की चित्रणक्षमता और भाषाप्रवाह के साथ उनकी रचनाओं की कोई तुलना नहीं हो सकती।

बिहारी और देव : देव का आधारफलक (कैनवास) अवश्य ही बहुत विस्तृत है। रीतिकाल के कम कवियों में इतना वैविध्य होगा। उनके चित्र भी सब प्रकार से परिपूर्ण हैं। परन्तु मजमून सँभालने में देव प्रायः चूक जाते हैं। निस्सन्देह रेखाओं के सन्निवेश और रंगों की योजना की दृष्टि से देव की तुलना बहुत कम कवियों से की जा सकती है। उनके सादृश्य-विधान में भी सरसता और ताजगी रहती है, परन्तु भाषा के सहज प्रवाह और भावों के अनाविल उपस्थापन में देव भी मतिराम से तुलनीय नहीं हो सकते। देव का विस्तृत ज्ञान, मौजी स्वभाव और अनासक्त शृंगार-चित्रण सहृदय को आकृष्ट करते हैं। बिहारी की भाँति वे भी उक्ति-वैचित्र्य का मोह नहीं छोड़ पाते और अर्थभारहीन शब्दालंकारों के फेर में पड़ जाते हैं, परम्परा से प्राप्त काव्यानुभूति (जो वास्तविक अनुभूति का कभी-कभी अन्तराय बन जाती है) की माया उन्हें भरमा देती है, परन्तु जब वे इन

बेसरि मोती दुति झलक परी अधर पर आय।
चूनो होय न चतुर तिय क्यों पट पोंछो जाय॥

यहाँ बेसर की छाया का चूना समझा जाना असंगत नहीं है। इसमें नायिका की सरलता सचमुच स्पष्ट हुई है और सखी का उपहास अच्छा मालूम हो रहा है, क्योंकि इसमें अर्थ बाह्य सत्ता से एकदम असम्पृक्त नहीं है। ऐसी उक्तियों में बिहारी बहुत असफल नहीं हैं। यद्यपि ऐसे स्थलों पर वे समर्थ हुए हैं, किन्तु उसके अन्त:स्थिर प्रेम-मूर्ति का दर्शन नहीं करा सके हैं।

बिहारी के अनुकर्त्ता : बिहारी के परवर्त्ती कवियों ने जमकर उनका अनुकरण किया है। कभी-कभी अनुकरण करनेवालों ने निश्चित रूप से मजमून को बिगाड़ दिया है और कभी-कभी वे 'मजमून छीन लेने में' सफल भी हुए हैं। जहाँ कहीं भी परवर्त्ती कवि सफल हुआ है, वहाँ विषय का उसकी प्रकृति के अनुकूल होना ही वास्तविक कारण है। बिहारी के ईषत् परवर्त्ती कवि मतिराम ने भी उपर्युक्त दोहे के भाव से मिलते-जुलते भाव का एक दोहा अपनी सतसई में लिखा है :

प्रभा तर्योना लाल की परी कपोलनि आनि।
कहा छपावति चतुर तिय कंत दंत छत जानि॥

स्पष्ट मालूम होता है कि यह दोहा बिहारी के दोहे को देखकर और उससे प्रेरणा पाकर ही लिखा गया है। यह भी सम्भव है कि किसी मिलते-जुलते भाव के पुराने पद्य को देखकर दोनों कवियों ने अलग-अलग प्रेरणा ग्रहण की हो, परन्तु मतिराम के दोहे में इतनी विशेषता अवश्य आ गयी है कि यह अधिक स्वाभाविक और अधिक मर्मस्पर्शी हो गया है। यह चतुर तिय के छिपाने का कारण बहुत स्पष्ट है और नायिका के अनुराग की व्यंजना करता है। एक ही विषय को व्यक्त करते समय यह जरा-सा का अन्तर कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

बिहारी और मतिराम : वस्तुत: मतिराम बिहारी के समान उक्ति-वैचित्र्य के उतने अच्छे कवि नहीं हैं, परन्तु जहाँ तक सरल और सहजभाव से हृदयानुराग को व्यक्त करने में नायिका के हृदय तक किसी प्रकार पाठक को पहुँचा देने का प्रश्न है, मतिराम बहुत ही मर्मस्पर्शी कवि हैं। इनकी उक्तियों में परम्परा का वैसा बोझ नहीं है और इसीलिए उनमें 'शोभा के भार से' 'सूधो पाँय' धर न सकने की आशंका बहुत अधिक नहीं है। रीतिकाल के बहुत थोड़े-से कवियों के साथ इस विषय में मतिराम का नाम लिया जा सकता है। भाषा का ऐसा सहज-प्रसन्न प्रवाह दुर्लभ है। प्रथा के अनुसार मतिराम ने विभिन्न श्रेणी की नायिकाओं का लेखा प्रस्तुत किया अवश्य है, पर मूलत: वे गृहस्थी के कवि हैं। मध्यकाल की अनुरागवती गृह-वधू का जैसा मार्मिक और वास्तविक चित्रण मतिराम ने किया है, वैसा अन्य कवियों ने नहीं किया। वे हेलाबिब्बोक के मादक चित्रों को प्रस्तुत करने में उतने नहीं उलझे जितना स्निग्ध प्रीति की जीवित मूर्त्तियों के निर्माण में। भाषा की सहज-प्रसन्न और बिना तोड़-मरोड़ के अर्थ स्पष्ट करनेवाली धारा में वे सहृदय के चित्त को बहा ले जाते हैं। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो

जायेगी :

केलि कै राति अघाने नहीं
दिन हीं मैं लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोउ पानी दै जाइयौ,
भीतर बैठि कै बात सुनाई।
जेठी पठाई गई दुलही हँसि
हेरि हरे मतिराम बुलाई।
कान्ह के बोल मे कान न दीनो सो,
गेह की देहरी पै धरि आई।

इसमें न कहीं भी कोई ठूँस-ठाँस है, न दूर की कौड़ी लाने का कोई प्रयास है। सहज-प्रसन्न भाषा में मध्यकाल की नव-वधू की अत्यन्त सच्ची और मार्मिक मूर्ति उभर आयी है।

मतिराम का आधारफलक (कैनवास) बहुत बड़ा नहीं है, पर अपने सीमित क्षेत्र में उन्होंने कमाल की चित्रण-पटुता दिखायी है। इन चित्रों मे रंगों की चकाचौंध नहीं है, निपुण कलाकार द्वारा आयोजित कौशलों के आधार पर भिन्न-भिन्न अवयवों के उभार दिखाने का प्रयास भी नहीं है, बल्कि चित्र के उस वास्तविक प्राणवायु को जीवन्त रूप में प्रकट कर देने का सहज गुण प्राप्त है, जिसके चित्रित हो जाने पर बाकी सबकुछ स्वयं सुधर जाते हैं। उनके भाई भूषण भी हिन्दी के बहुत ख्यात कवि हैं। परन्तु न तो भूषण को मतिराम की भाँति सहज-प्रसन्न भाषा का वरदान प्राप्त था, न प्राणवस्तु को जीवन्त रूप देने की क्षमता। 'ऐल-फैल खैल-भैल' जैसे गढ़े शब्दों में चित्र को प्राणवन्त बनाने की क्षमता ही नहीं है। भूषण की प्रसिद्धि का मुख्य कारण उनके रस का चुनाव है। प्रेम और विलासिता के साहित्य का ही उन दिनों प्राधान्य था। उसमें उन्होंने वीररस की रचना की। यही उनकी विशेषता है। मतिराम की चित्रणक्षमता और भाषाप्रवाह के साथ उनकी रचनाओं की कोई तुलना नहीं हो सकती।

बिहारी और देव : देव का आधारफलक (कैनवास) अवश्य ही बहुत विस्तृत है। रीतिकाल के कम कवियों में इतना वैविध्य होगा। उनके चित्र भी सब प्रकार से परिपूर्ण है। परन्तु मजमून सँभालने मे देव प्रायः चूक जाते हैं। निस्सन्देह रेखाओं के सन्निवेश और रंगों की योजना की दृष्टि से देव की तुलना बहुत कम कवियों से की जा सकती है। उनके सादृश्य-विधान में भी सरसता और ताजगी रहती है, परन्तु भाषा के सहज प्रवाह और भावों के अनाविल उपस्थापन में देव भी मतिराम से तुलनीय नहीं हो सकते। देव का विस्तृत ज्ञान, मौजी स्वभाव और अनासक्त शृंगार-चित्रण सहृदय को आकृष्ट करते है। बिहारी की भाँति वे भी उक्ति-वैचित्र्य का मोह नहीं छोड़ पाते और अर्थभारहीन शब्दालंकारों के फेर में पड़ जाते है, परम्परा से प्राप्त काव्यानुभूति (जो वास्तविक अनुभूति का कभी-कभी अन्तराय बन जाती है) की माया उन्हें भरमा देती है, परन्तु जब वे इन

चक्करों से मुक्ति पा जाते हैं तो उनकी भाषा में गति आ जाती है और उनका विस्तृत ज्ञान वक्तव्य को अत्यन्त आकर्षक बना देता है। वे बिहारी की भाँति केवल अयत्नज अलंकारों और अनुभाव-योजनाओं के ही सफल कवि नहीं हैं, गार्हस्थ्य प्रेम के अत्यन्त मर्मस्पर्शी और मादक चित्रों के चित्रण में भी वे उस्ताद हैं। जब देव अपने प्रिय और मनोवांछित विषय की व्यंजना का संकल्प करते हैं तो वे बिहारी और मतिराम दोनों के गुणों का सुन्दर परिचय देते हैं। वे यत्नज अलंकारों, प्रेमाभिव्यंजक शरीर-चेष्टाओं और तिरछी-टेढ़ी वचनवक्रिमा से उत्तेजित होनेवाले मादक चित्रों की वैसी ही सुन्दर व्यंजना करते हैं जैसी अयत्नज अलंकारों, अनुरागजन्य मनोविकारों और परिस्थितिजन्य उक्ति-वैदग्ध्य की। इन स्थानों पर देव की सबसे बड़ी कमजोरी बड़े-बड़े छन्दों में साधारण और सहज अनुराग-चित्रों के फैलाने की चेष्टा में व्यक्त होती है। छन्दों के चुनाव में बिहारी और मतिराम देव से अधिक चतुर हैं।

बिहारी और पद्माकर : मतिराम के प्रवाह और सजीवता की परम्परा को ठीक-ठीक निबाहनेवाले कवि पद्माकर हैं। यद्यपि छन्दों के चुनाव में ये भी कभी-कभी देव की भाँति गलती कर गये हैं, पर सब मिलाकर भाषा की ऐसी बहार और भावों का ऐसा अकृत्रिम उपस्थापन अन्य कवियों में नहीं मिल सकता। पद्माकर में देव की भाँति मौजीपन, मतिराम की भाँति सहृदयता और बिहारी की भाँति वाग्वैदग्ध्य पाया जाता है।

स्वच्छन्द प्रेमधारा : उन्नीसवीं शताब्दी में रीति कविता में एक प्रकार की स्वच्छन्द प्रेमधारा का विकास हुआ था। घनआनन्द, दीनो ठाकुर, बोधा, द्विजदेव और पद्माकर की कविता में इस सहजप्रवाहमय प्रेमधारा का निखरा हुआ रूप मिलता है। घनआनन्द के सम्बन्ध में उनके समकालीन एक मौजी कवि के कुछ भँडौवे प्राप्त हुए हैं। इनमें एक मजेदार सूचना यह दी हुई है कि घनआनन्द फारसी के कवियों से उक्ति चुराया करते थे। यह बात बहुत हल्के ढंग से कही गयी है, परन्तु इससे इतना अनुमान तो किया ही जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी कविता पर फारसी के ऐकान्तिक प्रेमवादी कवियों की रचनाओं का असर पड़ने लगा था। फारसी कविता में जिस एकतरफा प्रेम या अनुभय-निष्ठा रति को बड़े मोहक रूप में वर्णन किया गया है, उसका थोड़ा-सा आभास ठाकुर और घनआनन्द-जैसे स्वच्छन्द प्रेमवादी कवियों की रचनाओं में मिल जाता है। पर यह परम्परागत रीतिकाव्य के बाहर की बात है।

रीतिकाव्य मादक कविता का साहित्य है : यद्यपि रीतिकाल के शृंगारी कवि का प्रधान आकर्षण नारी का मादक रूप ही है, तथापि इस साहित्य में चित्रित नारी अपनी महिमा से महीयसी नहीं बन पायी है। वस्तुतः उसके चित्त में रईसी की धाक है। नायिकाओं के चित्र को मादक बनाने के लिए उसने आडम्बरपूर्ण वातावरण और महार्घ वेशभूषा का सहारा लिया है। उनकी नायिकाएँ विशाल प्रासादों में रहती हैं, उनके सेज की चादरें चाँदनी और दूध की उज्ज्वलता

को सज्जित करती है, उनके पायदान में बहुमूल्य मखमल का उपयोग होता है, उनकी सेवा में नियुक्त दासियाँ जिन पायदानों, इत्रदानों और फूलदानों का व्यवहार करती है उनमें सोने-चाँदी की बहार रहती है। नायिकाओं के परिधान में कीमखाब, साटन, मलमल और अतलस के वस्त्र प्रयुक्त होते है। उनकी साड़ियों की किनारी सुवर्णखचित होती है और चारु चूनरी चटकीले रंगों से लहरदार बनी होती है। पुरुषों के वस्त्रों का उतना उल्लेख नही है। कभी भी भूले-भटके पाग और पटुका, चादर और अम्बर, जामा और पाजामे की चर्चा आ जाती है, पर स्त्रियों के वस्त्राभूषण की घटा के सामने इनका कोई मूल्य नही है। रीतिकाल की रचनाएँ अलंकारों के अध्ययन का उत्तम साधन है। अनेक प्रकार के अंगराग, उबटन, पान, मिस्सी, मेंहदी, अंजन, काजल, सिन्दूर, रोरी, कुंकुम, जावक (महावर) के साथ-ही-साथ सीसफूल, कर्णफूल, तरौना, झुमका, वेसर, नथ, कई-कई लरों के हार, हँसली, कठुला, हमेल, दर्पन, बाजूबन्द, कगन, पहुँची, चूड़ी, अँगूठी, मुँदरी, आरसी, करधनी, पायल और बिछुआ नायिका की शोभा को सौगुनी बनाते रहते हैं। गुलाब और बेला के गजरे, जूही और चमेली की भीनी-भीनी महक, चम्पा और मौलसिरी के कोमल और लुभावने हार, कस्तूरी और केसर के अंगराग और गेंदा, गुलदाऊदी, गुलाब, गुलबास, गुलशब्बो, गुललायची, गुलाला की गमक से यह शोभा सदा मूर्तिमान 'मद' बनकर प्रकट होती है। रीतिकाल का कवि अपनी नायिकाओं को गरीबी के वातावरण में नही देख सकता। बिहारी से लेकर ग्वाल और पजनेस तक सभी कवियों के चित्त में नायिका की ऐसी ही ऐश्वर्यदीप्त शोभा का भान था जिनमें कटाक्ष-विक्षेप की क्षमता न हो, ऐसी गोबर पाथती हुई, खेत निराती हुई, गृहकर्म में उलझी हुई स्त्रियाँ उनके काव्य का विषय नहीं हो सकती थीं; क्योंकि उनमें वक्तव्य को मादक बनाने की क्षमता नही थी। रीतिकाल का कवि सौन्दर्य को तब तक बहुत कीमती वस्तु नही समझता जब तक वह मादक बनकर न प्रकट हुआ हो—सहज वस्तु को मादक बनाकर उपभोग्य समझना रीतिकालीन मनोवृत्ति की सबसे बड़ी विशेषता है।

4. रीतिमुक्त काव्यधारा

रीतिमुक्त साहित्य : यद्यपि सत्रहवीं शताब्दी के बाद के साहित्य में रीतिबद्ध काव्य लिखने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी तथापि यह नही समझना चाहिए कि इस काल में रीतिमुक्त काव्य लिखे ही नही गये। रीतिमुक्त साहित्य की भी कई धाराएँ हैं। कुछ तो रीतिमुक्त शृंगारी कविताएँ है, कुछ पौराणिक और लौकिक प्रबन्ध-काव्य हैं, कुछ नीति और उपदेश-विषयक कविताएँ हैं और कुछ भक्ति और ज्ञान-विषयक उपदेश के काव्य है। इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी के बाद के साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग रीतिमुक्त साहित्य का है। प्रेम-कथानकों, सन्त और भक्त कवियों की रचनाओं और अन्य प्रसंगों में हमने इस काल के कुछ रीतिमुक्त साहित्य का परिचय पाया है।

रीतिमुक्त शृंगारी कवि : शृंगारी कवियों की प्रधानता इस काल में बराबर बनी रही। सत्रहवीं शताब्दी से ही ऐसे कवियों का पता लगने लगता है जो ठीक रीति-काव्य के लेखक नही कहे जा सकते। मुक्त भावधारा के प्रेमी कवियों मे से कुछ ने तो अन्तिम वयस मे भक्तिमार्ग का अवलम्बन किया। उनके हृदय का लौकिक प्रेम अन्त तक उदात्त भाव में परिणत होकर भगवद्-भक्ति के रूप में प्रकट हुआ। मध्यकाल के सभी बड़े भक्त कवियों के नाम के साथ इस प्रकार की कहानियाँ जुडी हुई हैं जो बताती है कि आरम्भ मे ये भक्तगण लौकिक प्रेमासक्ति के अत्यन्त निकृष्ट आवेग के शिकार थे। परन्तु कुछ थोड़े-से कवि ऐसे भी हैं जिनके सम्बन्ध मे ऐसी कोई कहानी नही है। वे स्वच्छन्द प्रेम के मार्ग में विचरण करनेवाले कवि रहे और अन्त तक वैसे ही बने रहे। रीतिकालीन काव्य पर श्रीकृष्ण-लीला का प्रभाव बराबर बना रहा। स्वच्छन्द प्रेमी कवियों मे भी गोपी और गुपाल के नाम आ ही जाते हैं। कभी-कभी यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इस कवि को शृंगारी कवि कहा जाय या भक्त कवि। साधारणतः जो कवि अन्तिम वयस मे विरक्त हो गये है, या जिनके भजनों को भक्त सम्प्रदायों ने प्रेरणा का स्रोत समझा है उनकी गणना हमने भक्त कवियों में की है। रसखान और घनआनन्द प्रथम श्रेणी में पड़ते हैं, विद्यापति दूसरी श्रेणी मे। बाकी कवियो को शृंगारी ही मानना उचित है।

बेनी : असनीवाले वन्दीजन बेनी की कविताएँ ऐसी है जिन्हे देखकर विद्वानों ने अनुमान किया है कि इन्होंने कोई रीतिग्रन्थ जरूर लिखा होगा। इनका जन्म गोसाईंजी की मृत्यु के कुछ उपरान्त हुआ होगा, अर्थात् सत्रहवी शती के अन्त्य भाग मे इनका कविता-काल रहा होगा। अभी तक इनका लिखा कोई रीतिग्रन्थ मिला नहीं है। जब तक कोई पुष्ट प्रमाण ऐसा न मिल जाय कि इनके नाम पर चलनेवाले पद्य किसी नायिकाभेद ग्रन्थ के ही है तब तक मानना चाहिए कि इन्होंने रीतिबद्ध कविता नही लिखी। इनकी कविताओं में घनआनन्द और बोधा के समान स्वच्छन्द प्रेमधारा का आभास मिलता है :

कवि बेनी नई उनई है घटा
मोरवा वन बोलत कूकन री।
छहरै बिजुली छितिमंडल छ्वै
लहरै मन मैन भभूकन री।
पहिरी चुनरी चुनि कै दुलही
सग लाल के झूलिए झूकन री।
रितु पावस यो ही वितावती हौ
मरिहौ फिरि बावरी हूकन री।

फारसी साहित्य के परिचय का फल : फिर भी बेनी कवि में वही स्वच्छन्दता नही है जो अठारहवी शताब्दी के प्रेमी कवियो में पायी जाती है। इनके काव्य में भारतीय परम्परा की झलक स्पष्ट ही झलकती है। अठारहवी

शताब्दी के कवियों में कुछ ऐसे हैं जिन्हें फारसी साहित्य के अध्ययन करने का अवसर मिला था। उनकी रचनाओं में फारसी साहित्य के ऐकान्तिक और कभी-कभी, अनुभयनिष्ठा प्रीति के और भावावेगजन्य वैयक्तिक उल्लास के भाव मिलते हैं। कुछ कवि, जो जन्मत. मुसलमान थे, इस प्रकार के प्रेम का साहित्य आरम्भ से ही पढते रहे और संस्कार से ही ऐसे प्रेमोल्लास के कवि थे, और कुछ दूसरे ऐसे कवि थे जिन्होंने फारसी साहित्य के अध्ययन से अपने संस्कारों का मार्जन किया था।

सेनापति, बनवारी : प्रथम श्रेणी के कवियों की परम्परा बहुत पुरानी है। ऐसे अनेक कवि हुए है जिनकी रचनाओ को देखकर अनुमान होता है कि उन्होंने किसी प्रकार का नायिकाभेद या नख-शिख या ऋतुवर्णन-सम्बन्धी ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा, पर ऐसा कोई ग्रन्थ प्राप्त नही होता। ये कवि विशुद्ध भारतीय परम्परा के कवि है। सत्रहवी शताब्दी के आरम्भ मे ही ऐसे कवियो का परिचय मिलने लगता है। अनूपशहर के प्रसिद्ध कवि सेनापति की रचनाएँ सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ की ही है। इनकी कविताएँ 'कवित्त रत्नाकर' मे संगृहीत है। ऐसा जान पड़ता है कि कोई ऋतुवर्णन-सम्बन्धी काव्य इन्होने लिखा था। इनकी भाषा बहुत ही परिमार्जित और प्रौढ है। सेनापति हिन्दी के चोटी के कवियों मे गिने जाते हैं। फिर बनवारी (1633 ई. ?) की नीति और शृंगारी-सम्बन्धी कविताएँ प्राप्त हुई हैं। मिर्जापुर के कृष्णदास (1800 ई. ?) ने 'माधुर्य लहरी' नामक एक पुस्तक लिखी थी, जिसे भक्ति-काव्य भी कह सकते हैं।

द्विजदेव. इस श्रेणी के सबसे अन्तिम और प्रसिद्ध कवि द्विजदेव (1823-72 ई.) हैं। ये अयोध्या के राजा थे। इनका वास्तविक नाम मानसिंह था। इनकी दो पुस्तके प्राप्त हुई है—'शृंगार बत्तीसी' और 'शृंगार लतिका'। इनकी रचनाएँ बहुत लोकप्रिय हुई। भाषा का सहज प्रवाह और भावो का आकर्षक विन्यास इनकी कविता के प्रधान गुण है। इनकी रचनाओं मे मतिराम के समान सहज भाषा और पद्माकर के समान परिचित वातावरण का सन्निवेश है। इनके ऋतुवर्णन में इस काल के कवियो के समान उद्दीपन-सामग्री की सूची कम प्रस्तुत की गयी है और उद्दीप्त भाव की व्यजना अधिक। उत्तरकालीन ब्रजभाषा कविता मे किसी प्रकार रूपक बांधकर ऋतु-विशेष को अप्रस्तुत वस्तु के प्रतिरूप बनाकर दिखाने की जो भद्दी प्रथा चल पड़ी थी, उसका कोई आभास इनकी रचना में नहीं मिलता। जहाँ सामग्रियों की सूची है, वहाँ भी भावोद्दीपन की ओर लक्ष्य है :

चहकि चकोर उठे सोर करि मोर उठे
बोलि ठौर ठौर उठे कोकिल सुहावने।
खिलि उठी एकै बार कलिका अपार हिलि-
हिलि उठै मारुत सुगंध सरसावने।

पलक न लागी अनुरागी इन नैननि पैं,
लपटि गए धौ कवँ तरु मन भावने।
उमगि अनंद अँसुवान लौ चहूँधा लागे
फूलि फूलि सुमन मरंद बरसावने ॥

और जहाँ सहज-स्वच्छ भाषा में ऋतु-सौन्दर्य की उद्दीपना का प्रसंग है, वहाँ तो उद्दीप्त भाव ही पाठक को आकृष्ट करते हैं :

न भयो कछु रोग को जोग दिखात
न भूत लगो न बलाय लगी।
न कहूँ कोऊ टोनो डिठौनो कियो
नहिं काहू की कीनी उपाय लगी।
द्विजदेव जू नाहक ही सबके
हिये औषधि मूल की चाय लगी।
सखि बीस बिसे निसि याही कहूँ
बन बौरे वसंत की वाय लगी।

फारसी प्रभावापन्न कवि—मुबारक : दूसरी श्रेणी के कवियों की परम्परा भी बहुत पुरानी है। सैयद मुबारिक अली बिलग्रामी 'मुबारक' (जन्म 1583 ई.) फारसी और संस्कृत के बहुत अच्छे जानकार थे। इनकी रचनाएँ सत्रहवी शताब्दी के आरम्भ की है। इनकी 'अलकशतक' और 'तिलशतक' नाम की दो रचनाएँ हैं, जिनमे सुन्दरी स्त्री के अलक और तिल का वर्णन मिलता है। इनकी कई रचनाएँ स्वच्छन्द प्रेमधारा की ओर इंगित करती हैं। यद्यपि ये रचनाएं संस्कृत के 'अलकशतक', 'रोमावली-शतक' आदि की भाँति हैं और हमने अन्यत्र इनकी गणना इसी श्रेणी में की, परन्तु इनकी फुटकल कविताओं में ऐसे भाव हैं जो थोड़े नवीन-से लगते है। उदाहरणार्थ,

हमको तुम एक अनेक तुम्हें उनही के विवेक बनाए वहो।
इत आस तिहारी बिहारी उतै सरसाय कै नेह सदा निवहो।
करनी है 'मुबारक' सोई करो अनुराग लता जिन बोए दहो।
घनस्याम सुखी रहो आनंद सों तुम नीके रहो उनही के रहो।

आलम : इसी प्रकार शेख आलम की कविता में स्वच्छन्द प्रेमधारा के भाव प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। आलम नाम के दो कवि हुए है। एक तो सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में उत्पन्न हुए थे और 'माधवानन्द कामकन्दला' नामक पुस्तक लिखी थी और दूसरे औरंगजेब के दूसरे पुत्र मुअज्जम शाह के आश्रित थे। अतएव अठारहवी शताब्दी के अन्त मे वर्त्तमान थे। यहाँ दूसरे आलम की चर्चा की जा रही है। इनके बारे में प्रसिद्ध है कि ये जाति के ब्राह्मण थे और किसा शेख नामक रँगरेजिन के प्रेम में पडकर मुसलमान हो गये। प्रेम की कहानी भी विचित्र है। आलम ने अपनी पगडी रँगने को दी थी जिसमे दोहे की एक पंक्ति कागज पर लिखी बँधी रह गयी थी—'कनक छरी-सी कामनी काहे को कटि

छीन'। रँगरेजिन शेख ने कागज खोलकर पढ़ा और दूसरी पंक्ति लिख दी—'कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य भरि दीन'। यह पंक्ति ही प्रेम का और अन्त में धर्मान्तर-ग्रहण का कारण बनी। कहा जाता है कि जौनपुर जिले में आलम का जो पुराना गाँव है, उसमें अब भी वह ब्राह्मण-कुल और वह मुसलमान-कुल वर्त्तमान है। दोनों को अपने पूर्वपुरुष पर गर्व है। पता नहीं यह किंवदन्ती कहाँ तक सच है। कहा जाता है कि 'शेख' भणिति के साथ जो कविताएँ मिलती हैं वे पत्नी की हैं और 'आलम' नाम से जो कविताएँ मिलती हैं वे पति की। जितनी भी पुरानी पुस्तकें मिलती हैं उनमें 'शेखआलम के कवित्त' लिखा मिलता है। इसलिए कुछ विद्वान् शेख और आलम दो व्यक्तियों के नाम नहीं मानते और पूरी कहानी को किंवदन्ती और कल्पित मानते हैं। उनके मत से शेख विशेषण है, आलम विशेष्य। यह एक ही मुसलमान कवि का नाम है जो कभी शेख नाम से कविता लिखते थे और कभी आलम से। यद्यपि ये फारसी के ज्ञाता थे, तथापि इनकी रचनाएँ रीतिकालीन कवियों की परम्परा में पड़ती हैं। फिर भी इनमें प्रेमोल्लास का कुछ नवीन स्वर मिलता है। किन्तु आलम की रचनाओं में भारतीय परम्परा का अच्छा पालन देखकर दूसरे विद्वान् कहानी की सचाई को विश्वसनीय समझते हैं। प्रेमोल्लास की व्यंजना इसमें निस्सन्देह बहुत उच्चकोटि की है।

रसनिधि : दतिया के राजा पृथ्वीसिंह (मृत्यु 1660 ई.) 'रसनिधि' नाम से कविता लिखा करते थे। ये फारसी के अच्छे जानकार थे। इनकी रचनाओं में फारसी प्रेम-व्यंजना का परिचय मिलता है। इनका 'रतन हजारा' नामक दोहा-ग्रन्थ 'बिहारी सतसई' के अनुकरण पर बना है। बिहारी के भावों को तो कहीं-कहीं ज्यों-का-त्यों उठा लिया गया है; जैसे,

कुहू निसा तिथिपत्र में बाचन को रहि जाय।
तुव मुख ससि की चाँदनी उदय करत है आइ।

यह बिहारी के इस दोहे की विशुद्ध छाया है :

पत्रा ही तिथि पाइयत, वा घर के चहुँ पास।
निसि दिन पूनो ही रहत, आनन ओप उजास।

बोधा : इसी प्रकार पन्ना दरबार के कवि बोधा (बुद्धसेन) भी (जो तुलसीदासजी के स्थान राजापुर के निवासी बताये जाते हैं) फारसी के बहुत अच्छे जानकार थे। घनआनन्द की भाँति इनके सम्बन्ध में भी कहानी है कि ये दरबार की किसी वेश्या 'सुभान' पर आसक्त थे। किसी समय राजा के सामने ही अभिनय-पूर्ण आचरण दिखाने के अपराध में इन्हें छ महीने के देशनिकाले की सजा भुगतनी पड़ी। उसी समय इन्होंने 'विरहवारीश' लिखा और छ. महीने बाद लौटकर आये और कविता सुनाकर महाराज को प्रसन्न किया तो महाराज ने पूछा कि 'क्या माँगते हो'। उत्तर मिला, 'सुभान अल्लाह'। प्रसन्न होकर राजा ने सुभान को दे दिया। इनकी एक और रचना 'इश्कनामा' है। इनकी रचनाओं में रीति-कवियों से भिन्न एक प्रकार के स्वच्छन्द प्रेमभाव का उल्लास

मिलता है :

कहिवे को विथा सुनिवे को हँसी,
को दया सुनि कै उर आनतु है।
अरु पीर घटै तजि धीर सखी,
दुख को नहिं का पै बखानतु है।
कवि बोधा कहे मे सवाद कहा,
को हमारी कही पुनि मानतु है।
हमें पूरी लगी कै अधूरी लगी,
यह जीव हमारोइ जानतु है।

इनकी राधिकाजी के चरणों की प्रीति भी देखिए :

अनतै नित काहू के होन न पाव
समान के लोग अजोगिया रे।
दुख तेरो कहा सुनिहैं दुखिया
ह्वै रहे सब आप ही सोगिया रे।
करो बारनैं तो पैं बुधा बरही
पुरहूत के पूरन भोगिया रे।
बसु रे बसु राधे के पांयन मे
मन जोगिया प्रेम वियोगिया रे।

ठाकुर : ओरछा (बुन्देलखण्ड) के ठाकुर कवि (जन्म 1766 ई.) स्वच्छन्द प्रेम-भावना के श्रेष्ठ कवि थे। जोधपुर और बिजावर के राज्यों मे इनका बड़ा मान था। पद्माकर के आश्रयदाता गोसाईं हिम्मतबहादुर के यहाँ भी इनका बडा मान था। किंवदन्तियो मे 'पद्मावत' के साथ इनके वाग्वैदग्ध्य की कहानियाँ प्रचलित है। इनकी रचनाओं का संग्रह लाला भगवानदीन ने 'ठाकुर ठसक' नाम से प्रकाशित कराया था। इन रचनाओं मे ऐकान्तिक प्रेम का प्रवाह है। भाषा की स्वच्छता और भावों का अनोखापन इनकी रचना के मुख्य आकर्षक गुण हैं। फारसी काव्य-धारा से परिचय होने के कारण इनकी रचना में कभी-कभी अनुभयनिष्ठ ऐकान्तिक प्रेम की व्यंजना भी मिलती है :

वा निरमोहिनी रूप की रासि
जऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।
बारहि बार विलोकि घरी घरी
सूरति तो पहिचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन को परतीति है
जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत है नित मेरे लिये
इतनो तो विसेपि कै जानति ह्वै है।

इनकी रचना मे भाषा का स्वच्छ-सहज प्रभाव देखते ही बनता है। ऐसा जान_

पड़ता है कि यहाँ आकर व्रजभाषा अपने पूरे चढ़ाव पर आ गयी है। पद्माकर तो कभी-कभी ताल-तुक के टोटके के चक्कर में पड़ जाते हैं, पर ठाकुर ने जो मजमून शुरू किया तो बस अन्त तक स्वच्छ-सहज प्रवाह की प्रसन्न धारा वह जाती है :

अब का समुझावती को समुझै
बदनामी को बीज तो बो चुकी री।
तब तो इतनो न विचार कर्यो
यहि जाल परे कहो को चुकी री।
कवि ठाकुर जो रस रीति रँगी
सब भाँति पतिव्रत खो चुकी री।
अरी नेकी बदी जो लिखी हुती भाल में
होनी हुती सो तो हो चुकी री।

× × ×

बरुनीन में नैन झकें उझकें मनों
खंजन मीन के जाले परे।
दिन औधि के कैसे गनो सजनी
अँगुरीन के पोरन छाले परे।
कवि ठाकुर काहू सों का कहिये
निज प्रीति किये के कसाले परे।
जिन लालन चाह करी इतनी
तिन्है देखिबे के अब लाले परे।

× ×

अपने अपने सुठि गेहन में
चढ़ दोऊ सनेह की नाव पै री।
अँगनान में भींजत प्रेम भरे
समयौ लखि मैं बलि जांव पै, री।
कहै ठाकुर दोउन की रुचि सों
रँग ह्वै उमडे दोउ ठांव पै री।
सखी कारी घटा बरसै बरसाने पै
गोरी घटा नदगांव पै री।

इस प्रकार भाषा की निर्बाध धारा बहती रहती है। परन्तु ठाकुर नाम के दो और कवि हो गये हैं। दोनों असनी के ब्रह्मभट्ट बताये जाते हैं। संयोग से इन दोनों की कविता की भाषा में भी बड़ा सहज और सुन्दर प्रवाह है। तीनों की रचनाएँ एक-दूसरे से ऐसी मिली है कि यह कह सकना कठिन ही है कि कौन-सी रचना किस कवि की है। 'ठाकुर ठसक' नामक संग्रह में भी यह मिश्रण हुआ है, ऐसा माना जा सकता है। परन्तु प्रसिद्धि बुन्देलखण्डी ठाकुर की ही अधिक है

इस प्रकार शृंगारी कवियों में रीतिमुक्त भावधारा के अनेक कवि हुए।

संग्रहों में और भी अनेक सुकवियों की रचनाएँ प्राप्त होती हैं। अठारहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा की शृंगारी रचनाएँ अपने चरमबिन्दु पर आ गयी। आगे चलकर यह सरसता ह्रास की ओर जाने लगी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में साहित्य की मूल प्रेरक शक्ति ही बदल गयी। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी तक काव्य में इस भाषा का ही एकच्छत्र राज्य था, पर उस समय उसकी शक्ति क्रमशः क्षीण ही होती गयी।

नीतिकाव्य : शृंगारी रचनाओं के समान ही इस काल में नीति-विषयक रचनाओं की अधिकता है। नीति-सम्बन्धी रचनाओं की परम्परा भी काफी पुरानी है। भर्तृहरि ने एक ही साथ शृंगार, नीति और वैराग्य के तीन शतक लिखे थे। संस्कृत के सुभाषितों में अन्योक्तिच्छल से बहुत अधिक नीति-साहित्य का पता चलता है। नीति भारतीय कवियों का बहुत ही प्रिय विषय रही है। हिन्दी में भी आरम्भ से ही नीति-सम्बन्धी कविताएँ प्राप्त होती हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण में संगृहीत अपभ्रंश के दोहों में से कितने ही नीति-विषयक हैं। तुलसीदास और रहीम के नीति-विषयक दोहों का परिचय हमें मिल चुका है। अकबरदरबार के राजा बीरबल और नरहरि महापात्र के नीति-विषयक पद प्रसिद्ध हो हैं। इस प्रकार नीति का साहित्य हिन्दी में कभी अपरिचित नहीं रहा। सोलहवीं शताब्दी के अन्त्य भाग में जमाल नाम के एक मुसलमान कवि हुए हैं जिनके नीति-विषयक दोहे राजपूताने में बहुत लोकप्रिय है। इनकी भाषा में भी राजस्थानी का प्रभाव है। इनकी रचनाओं में नैतिक और व्यावहारिक उपदेश के साथ शृंगार की रसमय सूक्तियाँ भी मिल जाती हैं।

वृन्द और बैताल : अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में सुप्रसिद्ध नीतिकार कवि वृन्द हुए जो कृष्णगढ़ के महाराज राजसिंह के गुरु थे। इनकी 'वृन्द सतसई' के दोहे उत्तर-मध्यकाल में बहुत सम्मान के साथ पढ़े-पढ़ाये जाते रहे हैं। 'वृन्द सतसई' सम्भवतः 1704 ई. में लिखी गयी थी। खोज में इनकी दो और पुस्तकों का पता चला है—'शृंगार-शिक्षा' और 'भाव-पंचाशिका'। किन्तु इनकी प्रसिद्धि इनकी नीति-विषयक पुस्तक से ही है। इनके सम-सामयिक एक और नीति-कवि का उत्तर-मध्यकालीन में बड़ा सम्मान रहा है। यह 'बैताल' है। बैताल की रचनाओं में विक्रम को सम्बोधन किया गया है। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह सम्बोधन पुराने विक्रमादित्य नामक राजा और उस बैताल की निजन्धरी कथा को मन में रखकर किसी कवि ने लिखा है। बैताल उसका सचमुच का नाम नहीं था। दूसरे लोगों का कहना है कि ये बैताल नामक कवि ही हैं जो चरखारी के प्रसिद्ध रसिक विक्रमसाहि के दरबार में थे। जो हो, 'बैताल कहै विक्रम सुनो' वाली नीति-विषयक कविताएँ मध्ययुग में बहुत लोकप्रिय रही हैं, यह सत्य है।

गिरिधर कविराय : वृन्द और बैताल से भी अधिक लोकप्रिय नीतिकार गिरिधर कविराय हैं, जिनकी कुण्डलियाँ, छन्द में लिखी कविता बहुत लोकप्रिय रही हैं। कुछ कुण्डलियें 'साँई' शब्द से आरम्भ होते हैं। कहते हैं

ये गिरिधर कविराय की पत्नी के लिखे हैं। जो हो, गिरिधर कविराय उत्तर मध्यकाल के सद्‌गृहस्थों के सलाहकार रहे हैं और आज भी जनता उसी चाव से उनके उपदेशों को मानती है, जैसा अठारहवीं शताब्दी में मानती रही। वस्तुतः साधारण हिन्दीभाषी जनता के सलाहकार प्रधानतः तीन ही रहे है—तुलसीदास, गिरिधर कविराय और घाघ—तुलसीदास धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में, गिरिधर कविराय व्यवहार के और नीति के क्षेत्र मे, घाघ खेतीबारी के मामले में। दुर्भाग्य-वश घाघ के बारे मे कुछ भी ज्ञात नही है। गिरिधर कविराय के बारे मे भी नाम-मात्र की ही जानकारी है। साधारणतः अनुमान किया जाता है कि गिरिधर कविराय भी अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ के ही कवि रहे होंगे।

नीति-विषयक साहित्य हिन्दी मे प्रचुर लिखा गया है। सबके रचयिताओं का ठीक-ठीक पता नही चलता। यह परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी तक निर्बाध चलती रही है। उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ के ही सम्मन, दीनदयाल गिरि आदि नीति-कवि प्रसिद्ध हैं। दीनदयाल गिरि तो बहुत मेधावी कवि थे। उनकी प्रसिद्धि 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' के कारण है, लेकिन उनकी अन्य रचनाएँ भी कम नही है। 'अनुरागबाग', 'वैराग्यदिनेश', 'विश्वनाथनवरत्न', और 'दृष्टान्त तरंगिणी, उनकी पुस्तकों के नाम है।

प्रबन्ध : काव्य पुहकर : प्रबन्ध-काव्यों की परम्परा भी इस काल में यथापूर्व चलती रही। पौराणिक कथाएँ तो बराबर ही लिखी जाती रहीं, कल्पित प्रेम-कथानको का सिलसिला भी जारी रहा। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही परतापपुर (मैनपुरी) के पुहकर कवि ने 'रसरतन' (1616 ई.) नामक प्रेम-कथा-नक काव्य लिखा था, जिसमें रम्भावती और सूरसेन की प्रेमकथा दी हुई है। फिर मेवाड़ के लालचन्द या लक्षोदय नामक कवि ने 'पद्मिनीचरित्र' लिखा था। यह हम पहले ही लक्ष्य कर चुके हैं कि काशीराम की 'कनकमंजरी' भी इसी काल की प्रेमकथा है। इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी में प्रेम-कथानकों की परम्परा चलती रही। बाद में भी प्रबन्ध-काव्य की धारा जारी रही।

लाल कवि : समसामयिक राजा की कीर्तिकथा को आश्रय करके लिखे जाने-वाले काव्यों में लाल कवि (गोरेलाल) के नाम का 'छत्र प्रकाश' विशेष रूप से उल्लेख योग्य है। पुराने ऐतिहासिक काव्यों की भाँति यह तथ्य और कल्पना का बेमेल गड्डमड्ड नही है। लाल कवि ने महाराज छत्रसाल का पूरा जीवन दिया है। इसमें ऐतिहासिक घटनाओं का ब्यौरा ठीक है और प्रबन्ध-काव्य के सुकुमार स्थलों को पहचानने की क्षमता भी है। इनका एक और ग्रन्थ 'विष्णुविलास' बताया जाता है जो बरवै छन्द में नायिकाभेद पर है।

जोधराज . इसी प्रकार अलवर के नीबगढ़ के जोधराज ने भी महाराणा हम्मीर के चरित को आश्रय करके एक वीर-काव्य लिखा था। इसका रचनाकाल 1818 ई. है। इस काव्य में भी ऐतिहासिकता का निर्वाह किया गया है। चारणों की वीररस की शैली को है, जिसमे प्राचीनता ले आने का बराबर

किया जाता है।

सूदन : मथुरा के माथुर चौबे सूदन कवि ने भी भरतपुर के प्रसिद्ध वीर सुजानसिंह (सूरजमल) के चरित को आश्रय करके 'सुजानचरित' नामक काव्य लिखा। सुजानसिंह सचमुच ही वीर थे और उनके चरित को आश्रय करके काव्य लिखनेवाले सूदन में भी वीरचरित का सम्मान करने की शक्ति थी। अनुमानतः इनका कविता-काल अठारहवीं शताब्दी का अन्त्य भाग है। चन्द के 'पृथ्वीराजरासो' में जिस प्रकार घोड़ों और अस्त्रों आदि की उवा देनेवाली सूची मिलती है, उसी प्रकार सूदन के 'सुजानचरित' में भी है। काव्य-रूढ़ियों का इसमें जमके सहारा लिया गया है, यद्यपि कथानक-रूढ़ियों की वैसी भरमार नहीं है जैसी रासो में है। शब्दों को तोड़-मरोड़कर युद्ध के अनुकूल ध्वनिप्रसू वातावरण उत्पन्न करने में सूदन बहुत दक्ष है, पर उससे भाषा के प्रति न्याय नहीं हो सका है।

गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव : अठारहवीं शताब्दी के अन्त्य भाग में काशी के महाराजा उदितनारायणसिंह की आज्ञा से तीन कवियों (गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव) ने समग्र महाभारत (हरिवंश-सहित) का भाषान्तर बड़ी ललित भाषा में किया। ग्रन्थ की समाप्ति में प्रायः पचास वर्ष लग गये। यह काव्य साहित्य-दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके पूर्व ही सबलसिंह चौहान (1740 ई. ?) ने एक महाभारत-कथा लिखी थी जो लोकप्रिय रचना हुई, परन्तु उसमें न तो महाभारत की कथा का पूरा आकलन है, न वह क्रमबद्ध ही है, और साहित्यिकता तो उसमें नाममात्र को ही है। भाषा की सरलता और उपस्थापन की सहज भंगिमा के कारण वह पुस्तक अधिक लोकप्रिय बन गयी, पर काशी के तीन कवियों का महाभारत लोकप्रिय न होने पर भी उत्तम रचना है।

महाराज विश्वनाथसिंह : इस काल में कई प्रतिभासम्पन्न कवियों ने साहित्य के विभिन्न अंगों पर ग्रन्थ लिखे। रीवां के महाराज विश्वनाथसिंहजू (राज्यकाल 1813-54 ई.) की चर्चा कबीरपन्थी साहित्य के प्रसंग में हो चुकी है। परन्तु यद्यपि 'बीजक की टीका' में इनके प्रगाढ़ पाण्डित्य और विद्याव्यसन का बड़ा उत्तम परिचय मिलता है तथापि वह ग्रन्थ इनकी प्रतिभा के केवल एक ही अंश का परिचायक है। इनकी लिखी पुस्तकें अनेक हैं। कुछ के नाम इस प्रकार हैं – 'अष्टयाम आह्निक', 'आनन्द रघुनन्दन', (नाटक), 'उत्तम काव्य प्रकाश', 'गीता रघुनन्दन शतिका', 'बीजक की टीका', 'विनयपत्रिका की टीका', 'वेदान्त पचक शतिका', 'उत्तम नीति चन्द्रिका', 'परमतत्त्व', 'संगीत रघुनन्दन', 'भजन शान्तिशतक' आदि। ये सगुण राम के उपासक थे, परन्तु कुल-परम्परा से कबीर के शिष्य धर्मदास की गद्दी का भी सम्मान करते थे। 'बीजक की टीका' में इन्होंने सिद्ध किया है कि कबीरदास के प्रतिपाद्य राम वस्तुतः साकेतवासी द्विभुज राम हैं जो निर्गुण-सगुण से अतीत हैं। कबीरपन्थी लोग इस टीका को कबीर-सम्मत नहीं मानते, परन्तु इसमें इनका पाण्डित्य तो प्रकट हुआ ही है। इनका 'आनन्द रघुनन्दन' बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसे हिन्दी का प्रथम नाटक माना है।

इनके पुत्र रघुराजसिंह भी बहुत उच्चकोटि के कवि और साहित्यप्रेमी थे। इन दोनों पिता-पुत्र ने अनेक कवियों को आश्रय और मान दिया था।

अन्य कवि . भक्तवर नागरीदास की चर्चा हम अन्यत्र कर चुके है। ये बड़े ही विद्याव्यसनी राजा थे। एक और गुणग्राही रईस असोथर (फतहपुर) के राजा भगवन्तराय खीची (अठारहवीं शती का मध्यभाग) थे जो स्वय कवि तो थे ही, अनेक कवियों के आश्रयदाता भी थे। इनकी एक पुस्तक 'हनुमत पचीसी' प्राप्त हुई है।

चरखारी के राजा विक्रमसाहि भी अच्छे विद्यानुरागी और आश्रयदाता थे। बैताल के आश्रयदाता यही बताये जाते हैं। इनके यहाँ मान कवि नामक वन्दीजन थे जो बहुत अच्छे कवि थे। इनकी लिखी कई पुस्तकें प्राप्त हुई हैं जिनमें कोश नीति, ज्योतिष आदि अनेक विषयों की रचनाएँ है। मान कवि की लिखी पुस्तकों के नाम हैं अमरप्रकाश', 'अष्टयाम', 'लक्ष्मणशतक', 'हनुमान नखशिख', 'हनुमान पचक', 'हनुमान अष्टक', 'हनुमान पचीसी', 'नीति विधान', 'समरसार', 'नृसिंह पचीसी।'

झांसी के नवलसिंह भी अच्छे कवि थे। ये उन्नीसवी शताब्दी के मध्यभाग में वर्तमान थे, समथर के राजा हिन्दूपति के आश्रित थे। खोज मे इनकी छोटी-मोटी अनेक रचनाएँ प्राप्त हुई हैं।

क्षीयमाण दीप्ति की कविता : खोज में अठारहवीं-उन्नीसवी शताब्दी के अनेक कवियों की कविता-पुस्तकें उपलब्ध हुई है। सबका उल्लेख आवश्यक नही है। इस काल तक आते-आते हिन्दी कविता का वह तेज क्षीण हो आया था, जो पन्द्रहवी शताब्दी के भक्त कवियो में दिखायी पड़ा था। जीवन के सामने कोई और नया आदर्श नही रह गया था। कविता प्राय. पिटे-पिटाये रास्ते से चल रही थी। सब ओर से अपने को समेटकर बँधे मार्ग पर चलते रहने की प्रवृत्ति ने ब्रज-भाषा कविता को माधुर्य और सौकुमार्य तो दिया, परन्तु तेज और तारुण्यदीप्ति उसमें नहीं रह गयी। अठारहवी शताब्दी के बाद की कविता मे माधुर्य और सौकुमार्य भी क्रमशः क्षीण होने लगा।

[इस काल के अध्ययन मे सहायक पुस्तकें—(1) प. रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'; (2) मिश्रबन्धु : 'हिन्दी नवरत्न', 'मिश्रबन्धु विनोद'; (3) डॉ. भागीरथ मिश्र : 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास'; (4) डॉ. नगेन्द्र : 'रीतिकालीन हिन्दी साहित्य और देव'; (5) पं. पद्मसिह शर्मा : 'बिहारी सतसई का सजीवन भाष्य'; (6) पं. रामनरेश त्रिपाठी : 'कविता कौमुदी' (प्रथम भाग); 'बिहारी सतसई', 'मतिराम ग्रन्थावली', 'काव्य रसायन' आदि की प्रस्तावनाएँ।]

आधुनिक काल

1. गद्य-युग का आरम्भ

आधुनिकता का आरम्भ : हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल सन् ईसवी की उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से माना जाता है। साहित्य में आधुनिकता की आरम्भिक सीमा का निश्चय करना कठिन होता है। विचारों के क्षेत्र में बहुत-सी बातें पहले से ही सूचित होती रहती हैं और उनका साहित्य-रूप में प्रकाशन देर से होता है। भारतवर्ष में अंग्रेजों के साथ सम्पर्क तो बहुत पहले से स्थापित हो चुका था, किन्तु साहित्य पर इस सम्पर्क का प्रभाव बहुत बाद में पड़ा। वस्तुतः साहित्य में आधुनिकता का वाहन प्रेस है और उसके प्रचार के सहायक हैं : यातायात के समुन्नत साधन। पुराने साहित्य से नये साहित्य का प्रधान अन्तर यह है कि पुराने साहित्यकार की पुस्तकें प्रचारित होने का अवसर कम पाती थीं। राजाओं की कृपा, विद्वानों की गुणग्राहिता, विद्यार्थियों के अध्ययन में उपयोगिता, इत्यादि अनेक बातें उनके प्रचार की सफलता का निर्धारण करती थीं। प्रेस हो जाने के बाद पुस्तकों के प्रचारित होने का कार्य सहज हो गया, और फिर प्रेस के पहले गद्य की बहुत उपयोगिता नहीं थी। प्रेस हो जाने के बाद उसकी उपयोगिता बढ़ गयी और विविध विषयों की जानकारी देनेवाली पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। वस्तुतः प्रेस ने साहित्य को प्रजातान्त्रिक रूप दिया। समाचारपत्र, उपन्यास, आधुनिक ढंग के निबन्ध और कहानियाँ, सब प्रेस का प्रचार होने के बाद ही लिखी जाने लगीं। अब साहित्य के केन्द्र में कोई राजा या रईस नहीं रहा, बल्कि अपने घरों में बैठी हुई असंख्य अज्ञात जनता आ गयी। इस प्रकार प्रेस ने साहित्य के प्रचार में, उसकी अभिवृद्धि में, और उसकी नयी-नयी शाखाओं के उत्पन्न करने में ही सहायता नहीं दी, बल्कि उसकी दृष्टि से समूल परिवर्तन में भी योग दिया।

ऐतिहासिक स्थिति : किन्तु साहित्य में आधुनिकता के प्रवेश के लिए केवल प्रेस ही एकमात्र साधन नहीं है, यातायात के साधन तथा शान्तिपूर्ण व्यवस्था की भी आवश्यकता होती है। सन् 1757 ई. का प्लासी की लड़ाई के बाद अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ता ही गया। मुगल साम्राज्य क्रमशः क्षीण होता गया और विभिन्न प्रान्तों के शासक स्वतन्त्र होते गये। बाद के कुछ वर्षों में मराठों की शक्ति भी क्षीण होती गयी और अन्तिम तौर पर 1764 ई. की बक्सर की लड़ाई में मुगलों का अन्तिम बादशाह शाहआलम अंग्रेजों के हाथ पराजित हुआ। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हिन्दी प्रदेशों का पूर्वी द्वार अंग्रेजों के लिए खुल गया। इसके पूर्व के पचास वर्ष मराठों, जाटों और सिखों के संघर्ष और पतन का काल है। यह काल अशान्ति और उलझन का काल है और इसी अशान्ति और उलझन के बीच भावी अंग्रेजी साम्राज्य की नींव पड़ी। वस्तुतः 1764 ई. की बक्सर की लड़ाई के बाद लगभग समूचा हिन्दीभाषी प्रदेश अंग्रेजों के प्रभाव में आ गया।

1826 ई. में भरतपुर भी अंग्रेजों के अधीन हो गया। सन् 1849 ई. में द्वितीय सिख-युद्ध हुआ और फिर अंग्रेजों के हाथ में समूचे भारतवर्ष के आने में कोई बाधा नहीं रह गयी। 1856 ई. में अवध भी अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। 1857 ई. में प्रसिद्ध भारतीय विद्रोह हुआ जिसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भाग्य का निपटारा कर दिया और लगभग समूचा भारतवर्ष अंग्रेजी साम्राज्य की छत्रछाया में आ गया। सन् 1860 के बाद देश में पूर्ण रूप से शान्ति और व्यवस्था कायम हो गयी। यातायात के साधन सुलभ हो गये और क्रमशः उनमें सुधार होता गया। यहीं से वास्तविक आधुनिक साहित्य का आरम्भ होता है, लेकिन जिन हिस्सों में पहले ही से अंग्रेजी शासन सुदृढ़ हो गया था वहाँ प्रेस का आगमन बहुत पहले ही हो चुका था और थोड़ा-बहुत आधुनिक साहित्य का प्रकाशन भी होने लगा था।

अंग्रेजों की अप्रत्यक्ष सहायता : इस समय तक देश में साहित्य को राजा और रईसों की पृष्ठपोषकता प्राप्त हो रही थी। रीति-काल में हिन्दू और मुसलमान राजे और रईस बराबर कवियों को आश्रय, सम्मान और प्रोत्साहन देते रहे। परन्तु अंग्रेज इस देश में सम्पूर्ण रूप से नये और अपरिचित थे। इस देश की अधिकांश जनता हिन्दू थी, जो उन दिनों छुआछूत के [illegible] धर्म को मान रही थी। यह धार्मिक मनोभाव अंग्रेजों-जैसी छूत न माननेवाली जाति के साथ सम्पर्क-स्थापन में सहायक नहीं था। वस्तुतः हिन्दुओं के साथ अंग्रेजों का सम्बन्ध कभी भी बहुत घनिष्ठ नहीं हो सका। अंग्रेजों ने तत्कालीन साहित्य को कोई प्रोत्साहन भी नहीं दिया। जिस प्रकार उन दिनों के हिन्दू और मुसलमान रईस, नवाब, राजे और बादशाह हिन्दू कवियों को प्रोत्साहन दे रहे थे, उस प्रकार किसी बड़े अंग्रेज पदाधिकारी ने नहीं दिया। सन् 1835 में कवि पारसीराम ने बड़े दुःख के साथ कहा था "छाँड़ कै फिरंगन को राज, [illegible] काज, [illegible] चलो वही देस को।" परन्तु कम्पनी सरकार की शासन-व्यवस्था ने इस ओर से तो नहीं, किन्तु दूसरी ओर से हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के उद्धार और उन्नयन का कार्य बड़ी ईमानदारी और मुस्तैदी के साथ किया। इतिहास और पुरातत्त्व के शोध में, प्राचीन भारतीय साहित्य और धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन में, और नयी-पुरानी भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक विवेचन में यूरोपियन पण्डितों ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस उद्धार और शोध-कार्य की कहानी अद्भुत है। इसने आगे चलकर प्रत्यक्ष रूप से हिन्दी साहित्य का उपकार किया। इन शोध-कार्यों के ही परिणामस्वरूप बाद में [illegible] गौरवगान मूलक, प्रभाव और [illegible] का प्रेरणादायक साहित्य निर्मित हुआ।

हिन्दी गद्य : गोरखपन्थी ग्रन्थ : हिन्दी पुस्तकों की खोज में चौदहवीं शताब्दी का कहा जानेवाला एक गोरखपन्थी गद्यग्रन्थ मिला है, जिसे विद्वानों ने चौदहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा गद्य का नमूना माना है। परन्तु उसकी भाषा को देखकर इधर सन्देह प्रकट किया जाने लगा है कि यह सचमुच ही इतना पुराना है या नहीं। अधिक सम्भव यही जान पड़ता है कि वह बहुत बाद का लिखा हुआ है। इस पुस्तक की भाषा में 'पूछिबा', 'कहिबा' जैसे प्रयोगों को देखकर स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल ने अनुमान किया था, कि इसका लेखक राजस्थान का निवासी रहा होगा, और इन्हीं प्रयोगों को देखकर कुछ बंगाली विद्वानों ने अनुमान किया है कि इसकी भाषा पर पूर्वी बंगाल की भाषा का प्रभाव पड़ा है। यह अद्भुत विरोध है। परन्तु इस बात में सन्देह करने की गुंजायश नहीं कि नाथपन्थी साधकों की भाषा में अनेक स्थानों की भाषा के चिह्न हैं।

वैष्णव गद्य साहित्य : महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ की ब्रजभाषा की एक पुस्तक प्राप्त हुई है जिसका नाम है 'शृंगार-रस-मण्डन'। इसकी भाषा बहुत व्यवस्थित नहीं कही जा सकती। फिर इसी सम्प्रदाय के भक्तों ने कई वार्ताएँ ब्रजभाषा गद्य में लिखी हैं, जो ब्रजभाषा गद्य के बहुत उत्तम नमूने हैं। इनमें 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' हैं। दोनों के ही लेखक गोकुलदास बताये जाते हैं। परन्तु यह बात सन्देहास्पद लगती है; क्योंकि 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में गोकुलदास का नाम आदर और भक्ति के साथ लिया गया है। जो हो, इन पुस्तकों की भाषा काफी व्यवस्थित है, और यद्यपि इनमें लम्बे और जटिल वाक्य-गठन का प्रयत्न नहीं है, तथापि इनसे प्रतिपाद्य विषय का अच्छा स्पष्टीकरण हुआ है। छोटे-छोटे वाक्यों से चरित-नायकों का चरित्र ऐसी स्पष्टता से चित्रित हुआ है मानो किसी निपुण कलाकार ने हल्की तूलिका से और बहुत मामूली रंगों के सहारे चित्रों को सजीव बना दिया हो।

परवर्ती काल के ब्रजभाषा-गद्य के रूप : टीकाएँ : परवर्ती काल में ब्रजभाषा के गद्य में साधारणतः दो प्रकार की पुस्तकें लिखी गयीं—कुछ साहित्यिक ग्रन्थ की टीकाएँ और कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ। टीकाओं में हरिचरनदास की लिखी हुई 'बिहारी सतसई की टीका' (1777 ई.) तथा 'कविप्रिया की टीका' (1778 ई.); डाकोर के प्रियादास की लिखी हुई 'गोस्वामी हितहरिवंश के चौरासी पदों पर स्फुट-पद टीका' (अठारहवीं शती का अन्त); रामसनेही पन्थ के संस्थापक स्वामी रामचरण के शिष्य रामजन की लिखी हुई 'दृष्टान्त-सागर की टीका' और 'टीका-सयुगतिवचनिका' (1782 ई.); अयोध्या के महन्त बाबा रामचरन की 'रामचरितमानस की टीका' (1784-87 ई.); रतनदास की नागरीदास के अष्टक पर लिखी हुई 'अष्टक की टीका'; असनी के दूसरे ठाकुर की लिखी हुई बिहारी-सतसई की 'देवकीनन्दन' नाम की टीका (1804 ई.); जानकीप्रसाद की 'रामचन्द्रिका की टीका' (1815 ई.); लछिमन राव की लिखी हुई केशवदास की कविप्रिया पर 'लछमन चन्द्रिका' नामक टीका (1816 ई.); लल्लूलाल की बिहारी-सतसई पर लिखी 'लाल चन्द्रिका'

नामक टीका (1818 ई.); देवातिरय या काष्ठजिह्वा स्वामी की 'मानस-परिचय' नाम की टीका (1838 ई.); काशी-नरेश ईश्वरी नारायणसिंह की 'मानस-परिचय-परिशिष्ट' (1855 ई.); प्रतापसाहि की मतिराम के रसराज की टीका (1839 ई.); तथा विहारी-सतसई की 'रत्न-चन्द्रिका' टीका (1839 ई.); और बलभद्र के नखशिख पर लिखी हुई टीका; सरदार कवि की 'रसिकप्रिया की टीका' (1846 ई.), सूरदास के 'दृष्टकूट की टीका' (1847 ई.) इत्यादि प्रमुख है।

स्वतन्त्र गद्य-ग्रन्थ : स्वतन्त्र ग्रन्थों में डाकोर के प्रियादास की 'सेवक-चन्द्रिका' (1779 ई.), हितरूप किशोरीलाल के एक शिष्य की लिखी हुई 'श्री नवनीतजी की सेवा-विधि' (1795 ई.), हीरालाल की लिखी 'आईने अकबरी की भाषा वचनिका' (1795 ई.) लल्लूलालजी की 'राजनीति' अथवा हितोपदेश का अनुवाद (1809 ई.) और मण्डलावाले मणिलाल ओझा की 'सोम-वंश की वंशावली' (1828 ई.) इत्यादि है। रीवाँ के महाराज श्री विश्वनाथसिंहजू की कबीर पर लिखी हुई टीका ब्रजभाषा की अपेक्षा बघेलखण्डी गद्य का नमूना कही जा सकती है। पहले ही बताया गया है कि प्रतापसाहि, रसिक गोविन्द आदि रीति-ग्रन्थकारों ने कभी-कभी रस और अलकार आदि के स्पष्टीकरण के लिए ब्रजभाषा-गद्य का प्रयोग किया है तथापि सब मिलाकर ब्रजभाषा-गद्य पद्य का अनुवर्त्ती ही बना रहा, और सस्कृत के उस खण्डान्वय प्रणाली पर ही चलता रहा, जिसका आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल ने 'कथंभूती टीका' कहकर उपहास किया है। उन्नीसवी शताब्दी में यद्यपि खड़ी बोली के गद्य का सूत्रपात हो चुका था, तथापि उस शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों में ब्रजभाषा-गद्य ने साहित्य में अपना अधिकार बनाये रखा।

राजस्थानी गद्य साहित्य : ब्रजभाषा की भाँति ही राजस्थानी में ख्यात, बात और वार्त्ताओं का थोड़ा-बहुत साहित्य बनता रहा। मुगल दरबार में किस्सा-गोई नाम की एक विशेष प्रकार की कला का जन्म हो चुका था। मुगल काल के अन्तिम दिनों में तो किस्सा-गोई या दास्तान-गोई एक पेशे का रूप धारण कर चुकी थी। किस्सा-गो लोग अवकाश के क्षणों मे बादशाहों, नवाबों और अन्य रईसों का मनोरंजन किया करते थे। इन कहानियों का प्रधान विषय प्रेम हुआ करता था, और अतिरंजित एवं आकस्मिक घटनाओं से वर्ण्य-विषय को आकर्षक बनाने की चेष्टा भी होती थी। राजपूत दरबारों मे भी इनका थोड़ा-बहुत अनुकरण होने लगा, इसी कारण राजस्थानी भाषा में भी किस्सा-गोई का साहित्य बनता रहा। परन्तु जिस प्रकार राजपूत-कला मुगल-कला से प्रभावित होकर भी भीतर से सम्पूर्ण रूप से भारतीय बनी रही, उसी प्रकार यह आख्यान-साहित्य भी सम्पूर्ण रूप से भारतीय ही बना रहा।

मैथिली भाषा के गद्य-ग्रन्थ : इसके अतिरिक्त सयोगवश कुछ सनदें और कुछ पत्र आदि मिल गये है जो गद्य के नमूने प्रस्तुत करते हैं। चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में ज्योतिरीश्वर नामक मैथिली कवि ने 'वर्ण रत्नाकर' नामक एक कवि-शिक्षा-विषयक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें मैथिली गद्य का कुछ नमूना मिल

जाता है। विद्यापति की 'कीर्त्तिलता' की चर्चा पहले की जा चुकी है। यह एक चम्पू-कथा श्रेणी का काव्य है, जिसके बीच-बीच में मैथिली भाषा के गद्य का प्रयोग है। इस गद्य की एक विशेषता यह है कि इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का बहुत अधिक प्रयोग है और जिस प्रकार फारसी में वाक्यान्त में तुक मिलाने की प्रथा है, उस प्रकार का प्रयत्न इसमें भी मिलता है। रासो में भी बीच-बीच में वचनिका के रूप में नाममात्र के गद्य मिलते हैं।

खड़ी बोली : आधुनिक काल में गद्य का प्रचार बहुत तेजी से हुआ है, किन्तु इसके पहले के गद्य साहित्य की यही कहानी है। आजकल हम लोग जिस भाषा में लिखा और बोला करते हैं, उसे खड़ी बोली कहते हैं। कुछ विदेशी विद्वानों का ऐसा विश्वास था कि अंग्रेजों के आने के बाद उन्हीं की प्रेरणा से हिन्दुओं ने इस भाषा में साहित्य लिखना शुरू किया, पर यह बात गलत है। अपभ्रंश के ग्रन्थों में, उत्तर-मध्यकाल के सन्तों की बानियों में और विनोदपूर्ण ढंग से लिखी गयी संस्कृत कविताओं में इस भाषा के नमूने मिल जाया करते हैं। मुगल दरबार की प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ दिल्ली के आसपास की भाषा शिष्ट-भाषा हो गयी। अकबर के समकालीन गंग कवि का लिखा बताया जानेवाला 'चन्द-छन्द-बरनन की महिमा' नाम की एक रचना प्राप्त हुई है। इसकी भाषा आधुनिक खड़ी बोली के आसपास है, इसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में है। शुरू-शुरू में मुसलमान औलियाओं ने इस भाषा में गद्य लिखे थे, ये लोग इसे 'हिन्दवी' भाषा कहते थे। शाह मीरानजी बीजापुरी (मृत्यु 1243 ई.); शाह बुरहान खान (मृत्यु 1382 ई.) और सैयद मुहम्मद गैसूदराज (1398 ई.) के लिखे पुराने गद्य भी प्राप्त हुए हैं।

खड़ी बोली का प्रचार : मुगल दरबार की समृद्धि जब ह्रास होने लगी, और लखनऊ, पटना तथा मुर्शिदाबाद आदि में नयी नवाबी राजधानियाँ श्रीसम्पन्न होने लगीं, तो दिल्ली के गुणियों और व्यवसायियों ने पूरब की ओर मुँह किया। उनके साथ की दिल्ली की शिष्ट भाषा सर्वत्र फैलने लगी। अठारहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से दिल्ली की शिष्ट भाषा चारों ओर फैल चुकी थी। कथा और धार्मिक प्रवचनों के लिए इस नयी शिष्ट भाषा का ही सर्वत्र व्यवहार किया जाने लगा था। कहा जाता है कि 1741 ई. में पटियाला दरबार के कथावाचक श्री रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योग वाशिष्ठ' नामक ग्रन्थ बहुत ही सुन्दर और परिमार्जित भाषा में लिखा था, और उसके कुछ ही दिन बाद 1761 ई. में मध्यप्रदेश के निवासी पण्डित दौलतराम ने रविषेणाचार्य के 'जैन पद्मपुराण' का हिन्दी में अनुवाद किया था। इनकी भाषा रामप्रसाद निरंजनी की लिखी बतायी जानेवाली भाषा के समान व्यवस्थित और परिमार्जित नहीं है। वह ब्रजभाषा-गद्य से एकदम मुक्त नहीं हो पायी है, परन्तु उससे इतना तो निश्चित हो जाता है कि उन दिनों खड़ी बोली में हिन्दी के बहुत सुन्दर गद्य-ग्रन्थ लिखे जाते थे।

हिन्दी गद्य का सूत्रपात : उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में वास्तविक रूप में हिन्दी गद्य का सूत्रपात हुआ। इस समय तक साहित्य में ब्रजभाषा का ही

ः धान्य था और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक, और कुछ और बाद तक भी, कई पुस्तकों की टीकाएँ ब्रजभाषा के गद्य में लिखी गयीं। परन्तु खड़ी बोली में लिखा जानेवाला गद्य ही अन्त तक साहित्य का महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली वाहन बना। इन्हीं दिनों अंग्रेजों के प्रयत्न से कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई और अंग्रेज अफसरों ने गम्भीरतापूर्वक इस देश की भाषाओं के अध्ययन का प्रयत्न किया। इस कालेज के हिन्दी-उर्दू अध्यापक सर जान गिलक्राइस्ट ने हिन्दी और उर्दू में पुस्तकें लिखाने का प्रयत्न किया। इन्होंने कई मुंशियों की नियुक्ति की। सर जान गिलक्राइस्ट प्रधान रूप से हिन्दुस्तानी या उर्दू के पक्षपाती थे, परन्तु वे जानते थे कि उस भाषा की आधारभूत भाषा हिन्दवी या हिन्दुई[1] थी। इसी 'आधारभूत भाषा'

1. सर जान गिलक्राइस्ट के मत से हिन्दी और हिन्दवी में भेद था। उनकी दृष्टि में हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू एक ही अर्थ के द्योतक शब्द हैं। ब्रजभाषा या हिन्दवी हिन्दुओं की भाषा है। हिन्दुस्तानी का निर्माण हिन्दवी या हिन्दुओं की बोली के आधार पर ही हुआ था। उसमें फारसी-अरबी के शब्द जोड़ दिये गये थे। गिलक्राइस्ट हिन्दुओं में प्रचलित इस 'हिन्दवी' को 'गँवारू' भाषा कहते थे। उन्हें अरबी-फारसी के शब्दों से भरी भाषा को हिन्दी कहने में आपत्ति नहीं थी, पर उन्हें डर था कि कहीं लोग हिन्दी और हिन्दवी या हिन्दुई को एक ही भाषा न समझ लें, इसलिए उन्होंने यथासम्भव 'हिन्दुस्तानी' शब्द का ही प्रयोग किया। इस भाषा के लेखकों में उन्होंने मीर, दर्द, सौदा आदि के नाम गिनाये थे। यद्यपि वे मानते थे कि हिन्दुस्तानी भाषा के पुराने कवियों और लेखकों ने फारसी लिपि का प्रयोग किया है, अतएव फारसी लिपि ही हिन्दुस्तानी की वास्तविक लिपि है; तथापि उन्होंने 'हिन्दुस्तानी एनेकडोट्स एण्ड टेल्स', 'दि आर्टिकल्स ऑफ वार', 'दि ओरिएण्टल लिंग्विस्ट' (1798 ई.) आदि पुस्तकें रोमन लिपि में ही प्रकाशित करायीं। सन् 1802 में रोमन लिपि में प्रकाशित 'ओरिएण्टल लिंग्विस्ट' की भाषा इस प्रकार की थी :

> "बाद अजान काजी मुफ्ती से पूछा, कहो अब इसकी क्या सजा है। उन्होंने अर्ज की कि अगर हजरत के वास्ते ऐसा मख्श क़त्ल किया जावे तो दुरुस्त है। तब उसे क़त्ल किया और उसकी जगह उसके बेटे को सर्फ़राज़ फरमाया।" इत्यादि।

विलियम बटरवर्थ बेली जो दो-तीन महीने के लिए 1828 ई. में स्थानापन्न गवर्नर के पद पर थे, सर जान गिलक्राइस्ट के विद्यार्थी थे। फोर्ट विलियम कालेज के विद्यार्थियों के लिखे निबन्ध-संग्रह ('एसेज एण्ड थीसिस कम्पोज्ड', 1804 ई.) में उनका एक थीसिस है। उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

> "ओ यिह बात साहिब फ़िक्र पर गया है कि किसी मुल्कि बसी में अगर्चे बहुत देसी भाखा बल्कि बाज़ी ज़बाने मुखालफ़ भी बोलने में आती हैं तो भी दरबारी और दारुस्सलतनत की ज़बान लाक़लाम फाइदे में औरों पर तरजीह रखती है…।" इत्यादि।

स्पष्ट है कि फोर्ट विलियम कालेज के भाषा विषयक सलाहकार और विशेषज्ञ सर जान गिलक्राइस्ट नागरी लिपि और शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती नहीं थे। फिर भी उन्होंने भाषा-मुंशियों की नियुक्ति की जो यह सिद्ध करता है कि देश में शुद्ध हिन्दी का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में था और गिलक्राइस्ट के लिए उसकी उपेक्षा सम्भव नहीं थी।

की जानकारी के लिए उन्होंने कुछ 'भाषा-मुंशियों' की सहायता प्राप्त की। कुछ हिन्दी इतिहासकार विद्वानों का विश्वास है कि सर जान गिलक्राइस्ट हिन्दी को उर्दू से भिन्न स्वतन्त्र और शिष्ट भाषा मानते थे। परन्तु यह भ्रम ही है। ये उर्दू को ही शिष्ट भाषा समझते थे। हिन्दुई या हिन्दवी को इस शिष्ट भाषा की आधारभूत भाषा मानने के कारण ही वे इस 'गँवारू' भाषा की पढ़ाई की व्यवस्था के लिए चिन्तित हुए थे, इसे शिष्ट भाषा समझकर नहीं। 'भाषा-मुंशियों' में श्री लल्लूलालजी और सदल मिश्र नामक दो पण्डितों ने हिन्दी गद्य में पुस्तकें लिखीं। एक और भाषा-मुंशी थी गंगाप्रसाद शुक्ल थे, जिनकी किसी रचना का पता नहीं चलता। कालेज की कार्यवाहियों में इनकी सहायता से बने एक कोश 'हिन्दी-इंगलिश डिक्शनरी' का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार लल्लूलालजी और सदल मिश्र ने हिन्दी गद्य में पुस्तकें लिखीं। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि फोर्ट विलियम कालेज में ही हिन्दी गद्य का सूत्रपात हुआ। हमने ऊपर देखा है कि इस कालेज की स्थापना के बहुत पूर्व सुन्दर और व्यवस्थित गद्य लिखा जाने लगा था।

फोर्ट विलियम कालेज का हाथ कितना था: जिन दिनों सर जान गिलक्राइस्ट लल्लूलालजी और सदल मिश्र से पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था कर रहे थे, उसके थोड़ा पूर्व दिल्लीनिवासी मुंशी सदासुखलालजी ने बहुत ही सुन्दर भाषा में भागवत की कथा का 'सुखसागर' नाम से भाषान्तर किया और लखनऊ के मुंशी इंशाअल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' नाम से एक ऐसी कथा लिखी थी, जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों को हटाकर शुद्ध हिन्दी लिखने का प्रयास था। कालेज जिन दिनों नये साहित्य के निर्माण की ओर दत्तचित्त था, उन दिनों निश्चित रूप से खड़ी बोली शिष्टजन के व्यवहार की भाषा हो चली थी। सुप्रसिद्ध राजा राममोहन राय के लिखे एक पैम्फलेट से पता चलता है कि यह भाषा उन दिनों शास्त्रार्थ-विचार के लिए भी व्यवहृत होने लगी थी। यह पैम्फलेट 1816 ई. में छपकर प्रकाशित हुआ था। इसलिए यह समझना ठीक नहीं है कि फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों की प्रेरणा से ही आधुनिक हिन्दी गद्य का निर्माण हुआ। डॉ. लक्ष्मीसागरजी वार्ष्णेय फोर्ट विलियम कालेज की कार्यवाहियों के विवरण के अध्ययन से इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि कालेज की नीति हिन्दी के बहुत अनुकूल नहीं थी। सर गिलक्राइस्ट के बाद इस विभाग में प्राइस की नियुक्ति हुई थी। वे हिन्दी के अधिक अनुकूल थे; पर उनके कार्यकाल में भी हिन्दी गद्य के निर्माण में विशेष उन्नति नहीं हुई। वस्तुतः हिन्दी गद्य उन दिनों अपनी भीतरी प्राणशक्ति के बल पर ही आगे बढ़ा।

मुंशी सदासुखलाल: मुंशी सदासुखलालजी नियाज (1746-1824 ई.) दिल्ली-निवासी थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अधीनता में चुनार में एक अच्छे पद पर काम करते थे। ये उर्दू और फारसी के अच्छे लेखक और सुकवि थे। पैंसठ वर्ष की अवस्था में 1811 ई. में नौकरी छोड़कर प्रयाग चले आये, और भगवान् का भजन करने लगे। सन् 1824 ई. में इनका स्वर्गवास हुआ। इनकी भाषा कुछ

निखरी हुई और सुव्यवस्थित है। तत्काल प्रचलित पण्डिताऊ प्रयोग इनमे मिल जाते हैं। परन्तु यह संस्कृत-मिश्रित भाषा ही उन दिनों हिन्दुओं की शिष्ट-जन-व्यवहृत भाषा थी, इसमें सन्देह नही। 'सुखसागर' के अतिरिक्त एक और भी पुस्तक मुंशीजी ने लिखी थी, परन्तु उसका अधूरा रूप ही उपलब्ध है। सदासुखलालजी की भाषा में सहज प्रवाह है, वह किसी के निर्देश पर और किसी खास प्रकार की भाषा के निर्माण के उद्देश्य से नहीं लिखी गयी है, इसीलिए उसमे स्वाभाविकता और स्पष्टता है।[1]

मुंशी इंशाअल्ला खाँ : परन्तु मुशी इंशाअल्ला खाँ (मृत्यु 1818 ई) की लिखी पुस्तक 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' मे यह सहज भाव नही है। मुंशी इशाअल्ला खाँ का उद्देश्य ऐसी भाषा लिखने का था, जिसमें 'हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट' न हो। वे 'भाखापन' अर्थात् संस्कृत-मिश्रित हिन्दी से भी बचना चाहते थे। फिर भी उनकी इच्छा थी कि "जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते-चालते है, ज्यों-का-त्यों उसी का डौल रहे, और छांव किसी की न हो।" इस प्रकार उनके प्रयत्न मे एक आयास था, उन्होंने भरसक सस्कृत से और अरबी-फारसी के शब्दों से भी बचने का प्रयत्न किया है। उनकी वाक्य-रचना-शैली मे उर्दू-फारसी शैली का प्रभाव है। एक प्रकार का यत्न-साधित प्रभाव सर्वत्र है, जिसके कारण भाषा में सहज प्रवाह नही आ पाया है। आगे चलकर यह भाषागत आदर्श मान्य नही हुआ। इस प्रकार फोर्ट विलियम कालेज की सीमा के बाहर दो सुलेखकों ने स्वेच्छा से जिन गद्य-शैलियों की नीव डाली, उनमें मुंशी सदासुखलालजी की शैली भविष्य मे अधिक ग्रहण योग्य सिद्ध हुई।

लल्लूलालजी : फोर्ट विलियम कालेज से सम्बद्ध लल्लूलालजी ने भागवत की कथा के आधार पर लिखे गये एक ब्रजभाषा काव्य के आधार पर 'प्रेमसागर' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसकी भाषा में ब्रजभाषा का प्रभाव है। विदेशी भाषा के शब्द इसमें आ गये है, पर प्रयत्न उनसे बचने का ही है। इस ब्रजरंजित खड़ी बोली में भी वह सहज प्रवाह नही है, जो सदासुखलाल की भाषा में है। एक अंग्रेज अफसर ने, जिसे 'प्रेमसागर' पढ़कर हिन्दी पढ़ने का अवसर मिला था, इस पुस्तक के बारे में लिखा था कि ऐसी 'थका देनेवाली भाषा' उसने कही नही देखी।

पं. सदल मिश्र : परन्तु पं. सदल मिश्र की भाषा अधिक व्यावहारिक और सुथरी है। पण्डितजी आरा (बिहार) के निवासी थे, इसलिए स्वभावतः उनकी भाषा मे पूरबी प्रयोग मिलते है। फिर भी उनकी भाषा मे अधिक प्रवाह है;

1. मुंशीजी की भाषा का नमूना—"विद्या इस हेतु पढते हैं कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप मे लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगो को बहकाइए फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए।"

और वह परवर्ती साहित्य-भाषा का अच्छा मार्गदर्शक कही जा सकती है। कालेज की कार्यवाहियों से पता लगता है कि सदल मिश्र ने एक और संस्कृत ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया था, पर उस पुस्तक का कहीं पता नहीं चलता।

यद्यपि प. सदल मिश्र की भाषा अधिक व्यवस्थित, अधिक साफ और अधिक चुस्त है, तथापि फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों को वह बहुत पसन्द नही थी। उनकी लिखी भाषा का कालेज में विशेष सम्मान नही हुआ। आगे चलकर लल्लूलालजी के 'प्रेमसागर' को जितना गौरव दिया गया, उतना सदल मिश्र की किसी रचना को नही दिया गया। परन्तु सदल मिश्र की भाषा मे भावी खड़ी हिन्दी का मार्जित रूप स्पष्ट हुआ है। आगे चलकर साहित्य में जो भाषा गृहीत हुई उसका गठन बहुत-कुछ सदल मिश्र की भाषा के आदर्श पर हुआ। धीरे-धीरे हिन्दी गद्य ने ब्रजरंजित प्रयोगों को छोड़ दिया और लल्लूलालजी की शैली साहित्य मे गृहीत नहीं हो सकी। मुंशी सदासुखलाल की भाषा मे भी ब्रजरजित प्रयोग हैं, परन्तु उसमें भी यथासम्भव व्रजभाषा के प्रयोगों से बचने का ही प्रयत्न है। मुंशीजी और सदल मिश्रजी की भाषा का रूप ही कट-छँटकर और साफ-सुथरा होकर हिन्दी साहित्य का वाहन बना।

2. परिमार्जित भाषा और साहित्य का आरम्भ

परिमार्जित भाषा का सूत्रपात : सन् 1815 ई. में एन. बी. एडमास्टन ने तथा कुछ उच्च पदस्थ अन्य अंग्रेज कर्मचारियों ने फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों का ध्यान भाषा-सम्बन्धी गड़बड़ी की ओर आकृष्ट किया था। इन सबके परिणामस्वरूप 1824 ई. में कालेज के पाठ्यक्रम मे हिन्दी को विशेष स्थान दिया गया, और तुलसी-रामायण पाठ्य-पुस्तकों में शामिल कर ली गयी। परन्तु फिर भी कालेज की ओर से हिन्दी को विशेष प्रोत्साहन नही मिला। सन् 1854 ई. में तो कालेज ही तोड़ दिया गया। सन् 1823 ई. में आगरा कालेज की स्थापना हुई और उसमें हिन्दी-शिक्षा की व्यवस्था की गयी। इससे पूर्व 1817 ई. मे 'कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी' की स्थापना हो चुकी थी और 1833 ई. में 'आगरा बुक स्कूल सोसायटी' की स्थापना हुई। इन संस्थाओं ने अच्छे-अच्छे पाठ्य-ग्रन्थ प्रस्तुत कराये। इन पाठ्य-ग्रन्थों में भाषा अधिक परिमार्जित और व्यवस्थित हुई, और उसमे अनेक नये विषयों के अभिव्यक्त करने की क्षमता आयी। 'ग्रह-मण्डल का संक्षेप-वर्णन', 'पदार्थ-विद्यासागर', 'रेखागणित' आदि पाठ्य-पुस्तकें विषय और भाषा दोनों ही दृष्टि से नवीन थीं। यद्यपि इन पुस्तकों में जो भाषा प्रयुक्त हुई थी, वह परवर्ती काल में प्रयोग होनेवाली भाषा की अपेक्षा शिथिल थी, तथापि वह भाव-प्रकाशन के उपयुक्त थी।

ईसाई मिशनरियों की सहायता : हिन्दी भाषा को आधुनिक रूप देने मे ईसाई मिशनरियों का महत्त्वपूर्ण हाथ है। सन् 1799 ई. में कलकत्ते के निकटस्थ श्रीरामपुर में विलियम केरे, मार्शमैन और वार्ड ने डेनिश मिशन की स्थापना

की थी, और उसी समय से ईसाई धर्म-पुस्तकों का अनुवाद भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में होने लगा। बाइबिल का प्रथम अनुवाद केरे का किया ही कहा जाता है। वार्ड तीक्ष्ण दृष्टिसम्पन्न विद्वान् थे। उन्होंने समूचे भारतवर्ष को घूम-घूमकर देखा था, और तत्कालीन हिन्दू समाज को अच्छी तरह समझने का प्रयत्न किया था। उनकी 'हिन्दूज' नाम की पुस्तक उन दिनों के हिन्दू समाज के सभी पहलुओं पर बहुत अच्छा प्रकाश डालती है। मार्शमैन भी अत्यन्त सुयोग विद्वान् थे। उन्होंने केवल ईसाई मत के धर्मग्रन्थों का ही हिन्दी रूपान्तर नहीं प्रकाशित कराया, बल्कि वे ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाओं पर भी पुस्तक लिखते-लिखाते रहे। पं. रतनलाल नामक एक लेखक ने उनकी इतिहास की एक पुस्तक का 'कथासार' नाम से अनुवाद किया था। इन ईसाई मिशनरियों का प्रधान उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना था। यह कार्य उन्होंने बड़ी लगन, तत्परता और सूझ-बूझ के साथ किया। उन्होंने सबसे पहले देश की जनता को समझने का प्रयत्न किया। उनके कई प्रचारक सचमुच ही महाप्राण व्यक्ति थे। उन्होंने देश की विभिन्न भाषाओं का अध्ययन किया, उनकी लिपियों के लिए टाइप ढलवाये, देश के विभिन्न भागों में स्कूल, कालेज, चिकित्सालय आदि लोकोपकारी संस्थाओं की स्थापना की, और इस प्रकार देश की जनता को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। किन्तु फिर भी साधारण जनता उन्हें शंका की दृष्टि से देखती रही। इसका कारण था, कि वे विदेशी शासक की जाति के थे, और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय समाज-व्यवस्था के विरोधी रूप में जनता के सामने उपस्थित हुए। दूसरे, इस देश की जनता में धार्मिक स्वाभिमान की मात्रा बहुत अधिक थी, और ईसाई मिशनरियों की चेष्टाएँ साधारण जनता की दृष्टि में भारतीय संस्कृति की विरोधी ही सिद्ध हुई, इसीलिए ईसाई पादरियों ने जो कुछ किया वह शंका की दृष्टि से देखा गया।

नवीन सम्पर्क का परिणाम : परन्तु देश में नवीन युग का आरम्भ हो गया था, यह यूरोपियन सम्पर्क का फल था। इंग्लैण्ड और यूरोप के अन्यान्य देशों में एक नवीन वैज्ञानिक युग का आरम्भ हो गया था, और वहाँ की जनता के विचारों में जबरदस्त परिवर्तन होने लगे थे। जो अंग्रेज इस देश में शासन करने के उद्देश्य से आये थे, उनमें कई बहुत बड़े मनस्वी और उदात्त विचारों के मनुष्य थे। उन्होंने इस देश में भी सामाजिक सुधार का कार्य करना चाहा, लेकिन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नीतिनिर्धारक लोग बहुत फूँक-फूँककर कदम रखना चाहते थे; वे ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहते थे, जिससे देश की जनता बिगड़ उठे। उन्होंने अपने कर्मचारियों को ऐसे सब मतों से अलग रखने की नीति स्वीकार की थी, जिनमें देश की जनता में किसी प्रकार के सन्देह का भाव उत्पन्न हो। वे ईसाई धर्म के प्रचार के विरुद्ध थे। बहुत दबाव में पड़कर ही उन्हें ईसाई धर्म-प्रचारकों को स्वाधीनता-पूर्वक कार्य करने की आज्ञा देनी पड़ी। सन् 1813 ई. में विल्बरफोर्स एक्ट पास हुआ और फलस्वरूप ईसाई मिशनरियों ने अधिक उत्साह के साथ कार्य करना

आरम्भ किया। सन् 1832 ई. तक श्रीरामपुर की मिशनरियों ने इस देश की चालीस भाषाओं में अपने धर्म-ग्रन्थ प्रकाशित किये। इन भाषाओं मे बघेली, छत्तीसगढ़ी, कनौजी, भोजपुरी जैसी-उपभाषाएँ भी थी।

हिन्दी पत्रकारिता का जन्म : 16 फरवरी सन् 1826 ई. को पण्डित युगलकिशोर शुक्ल ने 'उदन्त-मार्तण्ड' नामक पत्र निकालने की अनुमति के लिए प्रार्थना की, और 30 मई 1826 ई. को 'उदन्त-मार्तण्ड' की पहली संख्या कलकत्ते से प्रकाशित हुई। इसी को हिन्दी का पहला पत्र माना जाता है। यह पत्र साप्ताहिक था। 'उदन्त-मार्तण्ड' नवयुग के आगमन की सूचना लेकर आया। उस समय हिन्दी पाठकों की संख्या बहुत कम थी। लगभग डेढ़ वर्ष निकलकर 4 दिसम्बर, 1827 ई. को यह पत्र बन्द हो गया। हिन्दी का दूसरा पत्र 'बंग-दूत' माना जाता है, जो 9 मई 1829 ई. को कलकत्ते से ही निकला। यह चार भाषाओं मे निकला था—अंग्रेजी, बँगला, हिन्दी और फारसी। इनके स्वत्वाधिकारियों में राजा राममोहन राय, प्रिंस द्वारिकानाथ ठाकुर और प्रसन्नकुमार ठाकुर इत्यादि थे। इसके बाद कलकत्ते से सन् 1834 ई. मे सम्भवतः एक तीसरा हिन्दी पत्र भी निकला, जिसका नाम 'प्रजा-मित्र' था। ये सभी हिन्दी पत्र कलकत्ते से ही निकलते थे, जो हिन्दी-भाषी मूलक्षेत्र से बाहर था। हिन्दी-भाषी प्रदेश में सबसे पहले 1844 ई. में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का 'बनारस' पत्र निकला, जिसके सम्पादक तारामोहन मित्र नाम के बंगाली विद्वान् थे। इसके बाद 1846 ई. मे मौलवी नासिरुद्दीन के सम्पादकत्व में 'मार्तण्ड' नामक एक और पत्र प्रकाशित हुआ। इसमे भी हिन्दी, उर्दू, बँगला, अंग्रेजी और फारसी, इन पांच भाषाओं का प्रयोग होता था। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे हिन्दी पत्रकार-कला का जन्म हुआ, और यद्यपि वह विशेष बल प्राप्त नही कर सकी, तथापि उसमे नवीन युग के विचारों की शक्ति आ गयी थी।

नयी शिक्षा का सूत्रपात : यद्यपि शुरू-शुरू में कम्पनी सरकार की इच्छा अंग्रेजी भाषा के प्रचार की नही थी, तथापि आगे चलकर उसे इसी भाषा का प्रचार करना पड़ा। सन् 1813 ई. मे एक एक्ट मंजूर किया गया था, जिसके अनुसार फारसी और संस्कृत शिक्षा-प्रणाली को प्रोत्साहन दिया गया था। राजा राममोहन राय इस एक्ट के विरुद्ध थे, वे देश मे नये ढग की शिक्षा-प्रणाली प्रचलित करना चाहते थे। उनका विश्वास था कि पुराने ढर्रे की पढ़ाई यदि जारी रही तो देश में किसी प्रकार का सामाजिक सुधार नही हो सकेगा। नये ढग की शिक्षा के प्रवर्तन के उद्देश्य से डेविड हेयर नामक प्रसिद्ध शिक्षा-विशारद के सहयोग से राजा राममोहन राय ने एक स्कूल की स्थापना की थी, और सन् 1830 ई. मे अलेक्जेण्डर डफ ने उच्च शिक्षा देने के अभिप्राय से एक अंग्रेजी कालेज की स्थापना की। उस समय तक कम्पनी सरकार इस नवीन शिक्षा-प्रणाली के पक्ष में नहीं थी। सन् 1813 ई. में इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट ने ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के लिए प्रथम बार एक लाख रुपये की मजूरी दी थी। यह रुपया संस्कृत और फारसी की पढ़ाई

पर ही खर्च किया गया। भारत सरकार के कानून-सदस्य लार्ड मेकाले से 1834 ई. में इन रुपयों के बारे में राय माँगी गयी थी। लार्ड मेकाले ने पार्लियामेण्ट को लिखा कि जो रुपया ज्ञान-विज्ञान के लिए दिया गया था, वह संस्कृत और फारसी की पिछड़ी हुई शिक्षा-प्रणाली पर व्यय करके नष्ट कर दिया गया। उनके इस पत्र का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा, और तत्कालीन भारत सरकार की शिक्षा-विषयक नीति में आमूल परिवर्तन हो गया। इस परिवर्तन के मूल में मेकाले की यह इच्छा थी कि भारतीय शिक्षित समाज भी अंग्रेजों की भाँति ही सोचने-समझने लगे। उनकी इच्छा फलवती हुई। आज तक भारतवर्ष का शिक्षित समाज उनकी [illegible] इच्छा का शिकार बना हुआ है। भारतवर्ष के पिछले सौ-[illegible] वर्षों का साहित्य इस नवीन परिवर्तित नीति से प्रभावित रहा है। सन् 1835 ई. में सरकार ने अंग्रेजी भाषा के माध्यम से नये ढंग की शिक्षा देने का [illegible] किया, और 1844 ई. में लार्ड हार्डिंग की वह महत्वपूर्ण घोषणा प्रकाशित हुई, जिसके अनुसार सरकारी नौकरियों के योग्य वही समझे जाने लगे जिन्हें अंग्रेजी शिक्षा मिली हो।

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में नवीन शिक्षा-प्रणाली का प्रसार हुआ, और उसकी जड़ें मजबूत हुईं। यहीं से अंग्रेजी [illegible] ने इस देश की अपनी भाषाओं का स्थान दखल किया, और धीरे-धीरे शिक्षित समाज के दिमाग में इस प्रकार जड़ जमाकर बैठी कि उसमें आज तक [illegible] नहीं छूट सका है। सन् 1853 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने [illegible] किया, और नयी शिक्षा-पद्धति के गुण-दोषों को परखने का [illegible] किया। सन् 1854 ई. में सर चार्ल्स वुड ने शिक्षा-प्रसार की एक नयी [illegible], जिसके अनुसार हर जिले में कम-से-कम एक हाई स्कूल और [illegible] की नीति अपनायी गयी थी। सर चार्ल्स वुड देशी [illegible] के [illegible] नहीं थे। वे देशी भाषाओं को प्रोत्साहन देने के पक्ष में थे, [illegible] नहीं, और 1857 ई. में सारी भारतीय जनता [illegible] विद्रोह कर बैठी।

नवीन शिक्षा का प्रसार और [illegible]: उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ईसाई प्रचारकों ने बड़े [illegible] प्रचार शुरू किया था। [illegible] शिक्षाप्राप्त युवक धीरे-धीरे [illegible] आकृष्ट होने लगे। [illegible] इसकी बड़ी जबरदस्त प्रतिक्रिया हुई और 1828 ई. में [illegible] फलस्वरूप कलकत्ते में [illegible] की स्थापना हुई। [illegible]

उनके चित्त में सन्देह उत्पन्न कर दिया। इसका विस्फोट सन् 1857 ई. के विद्रोह के रूप में हुआ था। इस विद्रोह की प्रेरणा किसी बड़े लक्ष्य से नहीं प्राप्त हुई थी, इसीलिए इसका परिणाम भी किसी बड़े फल के रूप में नहीं प्रकट हुआ। वह केवल भारतीय जनता के विक्षोभ को प्रकट करके समाप्त हो गया।

नवीन युग का जन्मकाल : यह केवल राजनीतिक संघर्ष का काल नहीं था, केवल सामाजिक शक्तियों के एक-दूसरे से टकराने का भी समय नहीं था, बल्कि एक नवीन युग के जन्म लेने का समय था। यहाँ से हमारा देश नयी मोड़ पर आकर खड़ा हो गया, और उसके साथ-ही-साथ देश की साहित्यिक चेतना भी नवीन दिशा की ओर मुड़ी। प्राचीन भारतीय संस्कार तब भी प्रबल रूप से वर्तमान थे, परन्तु वे भी बिल्कुल नयी दिशा में मुँह करके खड़े हो गये। यहाँ से शिक्षित समुदाय में एक नये दृष्टिकोण की सम्भावना उत्पन्न हुई। मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों और अन्तरवैयक्तिक सम्बन्धों के मान में परिवर्तन होने लगा, और क्रमशः पुराने संस्कारों से मुक्त नवीन दृष्टि उत्पन्न हुई जिसने राजनीतिक; साहित्यिक, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में नयी हलचल पैदा कर दी। वैज्ञानिक मनोभाव इंगलैण्ड में जड़ जमाता जा रहा था, और उसकी लहरें भारतवर्ष के वायुमण्डल को भी तरंगित कर रही थीं। सन् 1896 ई. में स्वेज नहर के खुल जाने से इंगलैण्ड और भारत की भौगोलिक दूरी कम हो गयी। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से दोनों देशों की मानसिक दूरी भी कम होने लगी। कम्पनी की सरकार ने 1844 ई. से 1856 ई. तक देश के दूर-दूर भाग रेल और तार से सम्बद्ध कर दिये। रेल तो सन् सत्तावन के विद्रोह का प्रमुख कारण थी और तार उस विद्रोह के दबाने का सफल अस्त्र साबित हुआ। अंग्रेज-जैसी जीवित जाति के सम्पर्क में आने से जनता के चित्त में आलोड़न शुरू हुआ, और जब विद्रोह के बाद शासन का भार ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से निकलकर इंगलैण्ड की रानी के हाथ में आ गया, तो देश के शान्त वातावरण में विचारशील लोगों को अंग्रेज जाति के गुण समझने का अवसर मिला। प्रधान रूप से इसी समय उनका अपनी सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक कुसंगतियों और साहित्यिक त्रुटियों की ओर ध्यान गया। ईसाई धर्म के प्रचारक हिन्दू धर्म की तीव्र और कटु आलोचना कर रहे थे। इससे जहाँ एक ओर लोगों के चित्त में क्षोभ हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर अपनी कमजोरियों का ज्ञान भी हो रहा था। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने सती-दाह, कन्या-वध आदि अनेक कुप्रथाओं का विरोध किया, और कानून बनाकर उनका उच्छेद करा दिया था। इस तरह वे हिन्दू समाज का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से हित कर रहे थे। उनके खण्डनों और कटाक्षों से शिक्षित हिन्दू अपने समाज और धर्म के विषय में सोचने को बाध्य हुए।

हिन्दी की उपेक्षा और उसकी भीतरी शक्ति : सन् 1836 ई. तक सरकारी दफ्तरों की भाषा फारसी थी, 1837 ई. से वह फारसी-बहुल उर्दू हो गयी। धीरे-धीरे अदालतों से नागरी अक्षरों का बहिष्कार हो गया। हिन्दुओं के लिए भी जीवकोपार्जन की दृष्टि से उर्दू लिपि का ज्ञान आवश्यक हो गया। हिन्दी

के लिए और नागरी अक्षरों के लिए यह बड़े संकट का काल था। यह केवल हिन्दी-प्रचार का बाधक ही नहीं हुआ, बल्कि हिन्दी लिखने और बोलनेवालों के मन में हीनता ग्रन्थि पैदा करने का कारण भी हुआ। सरकारी अफ़सर उत्तरोत्तर हिन्दी से अनभिज्ञ और उर्दू से परिचित होते गये। केवल हिन्दी जाननेवालों की दशा शोचनीय होती गयी। परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर जब कभी हिन्दी की पढ़ाई की बात उठी, तब उसको अविकसित भाषा कहकर उसकी उपेक्षा की गयी। शिक्षित हिन्दुओं तक ने उसका विरोध किया। देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा को कहीं से कोई उल्लेख योग्य प्रोत्साहन नहीं मिला। परन्तु समस्त विरोधों और उपेक्षाओं को पददलित करके केवल अपनी भीतरी प्राण-शक्ति के बल पर यह भाषा दिनों-दिन बढ़ती गयी।

ऊपर के संक्षिप्त इतिहास से स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आधुनिक हिन्दी गद्य का जन्म हुआ और जन्म के साथ-ही-साथ सरकार की ओर से उसकी उपेक्षा शुरू हुई। सरकारी उपेक्षा ने बीच-बीच में विरोध का भी रूप ग्रहण किया। किन्तु हिन्दी जनता की भाषा थी, उसके बिना सरकार का काम नहीं चल सकता था। उसे बराबर जनता का सहारा मिलता रहा। हिन्दी में समाचारपत्र जनता के प्रतिनिधियों ने निकाले। पाठ्य-पुस्तकें भी सरकार की ओर से प्रकाशित नहीं हुईं। अदालतों में हिन्दी को स्थान नहीं मिला। शिक्षा का माध्यम भी हिन्दी नहीं बनी। सरकार की ओर से कभी-कभी यह अनुभव तो अवश्य किया गया कि हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को उचित स्थान मिलना चाहिए,[1] परन्तु साहस और सौमनस्य के साथ वह कभी हिन्दी के उचित दावे को मानने को प्रस्तुत नहीं हुई। हिन्दी का विकास उसकी अपनी भीतरी शक्ति के बल पर ही हुआ है।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द : यद्यपि सरकार की नीति हिन्दी के अनुकूल नहीं थी, तथापि वह उसकी एकदम उपेक्षा भी नहीं कर सकती थी। उसे स्कूल के पाठ्यक्रम में हिन्दी को स्थान देना पड़ा। परन्तु उसे न तो अदालतों में स्थान प्राप्त हुआ, न शासन के अन्यान्य क्षेत्रों में। 'रामायण', 'प्रेमसागर' आदि कुछ पुस्तकें पाठ्यक्रम में रख अवश्य दी गयी, परन्तु इस बात का कोई प्रयत्न नहीं किया गया, कि इस विषय में ज्ञान-विज्ञान की अनेक पुस्तकें छापी जायें। ऐसे ही समय में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द (1823-95 ई.) शिक्षा विभाग में आये। वे देवनागरी

1. सन् 1850 ई. में प्रकाशित एक इश्तिहार की भाषा से इसका सबूत मिल जाता है—"यह इश्तिहार सब लोग को प्रसिद्ध हूजियो। नकशे जिन्हों के जिनके नाम किनारे पर लिखे जाते हैं सितम्बर महीने में नागरी और फारसी अक्षरों में कागज श्रीरामपुर में छपकर हरेक जिले में मदरसे के जिले वजीटर के पास छपने को भेजे जायँगे। ये नकशे रंगीन होंगे और इनमें शहर और कसबे और गाँव की आबादी, राहें, नदियाँ, थाने, चौकियाँ सब लिखी जायँगी। अभी कुछ मोल निश्चय नहीं हुआ···।" इत्यादि।

लिपि के पक्षपाती थे, परन्तु खुलकर फारसी लिपि का विरोध नहीं कर सकते थे। सरकारी नौकरी होने के कारण वे सरकार की भाषा-विषयक नीति का खुल्लम-खुल्ला विरोध भी नहीं कर सकते थे। वे शुद्ध संस्कृत-मिश्रित हिन्दी लिख सकते थे। उनकी कई पुस्तकें 'मानव धर्म सार', 'योगवाशिष्ठ के चुने हुए श्लोक', 'उपनिषद् सार', 'भूगोल हस्तामलक', 'वामा मन रंजन', 'आलसियों का कोड़ा', 'विद्यांकुर', 'राजा भोज का सपना' और 'वर्णमाला' आदि बहुत शुद्ध और संस्कृत-मिश्रित हिन्दी में लिखी गयी हैं। वे लल्लूलालजी की भाषा को पिछड़ी भाषा मानते थे, परन्तु उनकी शुरू-शुरू की लिखी हुई भाषा में 'सेवते', 'आवते', 'बिताय' जैसे प्रयोग मिल जाते है। किन्तु फिर भी उनकी भाषा अधिक साफ और सुलझी हुई है। वे क्रमशः अरबी-फारसी से मिश्रित उर्दू भाषा की ओर झुकते गये, और उनकी कई पुस्तकों की भाषा विशुद्ध उर्दू हो गयी। उर्दू को वे 'हमारे मुल्क की मुख्य भाषा' मानते थे, और उसका महत्त्व उनकी दृष्टि से इसलिए बढ गया था, कि "कचहरियों के सारे कागज पत्र इसी के दरम्यान लिखे जाते हैं।" सन् 1864 ई. मे उन्होंने 'इतिहास तिमिरनाशक' नामक इतिहास-ग्रन्थ लिखा था। इसका नाम तो विशुद्ध संस्कृत का है, परन्तु भाषा अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू है। स्थान-स्थान पर उसमें संस्कृत के शब्द भी आये है, लेकिन फिर भी वह भाषा प्रधान रूप से अरबी-फारसी-बहुल उर्दू भाषा के पास ही पहुँचती है। 'इतिहास तिमिरनाशक' की भाषा में हिन्दी और उर्दू को निकट लाने का प्रयत्न भी है; कभी-कभी उसकी भाषा विशुद्ध हिन्दी के निकट पहुँच जाती है। एक जगह लिखते हैं : "बहुतेरे गोबर गणेश समझते हैं, कि जिस तरह हिन्दू और मुसलमान चढकर गिरे, उसी तरह किसी दिन अंग्रेज भी गिर जायेंगे। पर यह उनकी बड़ी भूल है। अंग्रेज तभी गिर सकते है, उनमें फूट पैदा हो। सो यह उनकी विद्या और उनके मत दोनों के विरुद्ध है। फूट और वैर इसी देश की मेवा है। ईसाइयों के ठंडे मुल्क मे इसका अंकुर नहीं जमता।" इस प्रकार की भाषा में जो स्पष्टता और प्रवाह है, वह 'इतिहास तिमिर-नाशक' में सर्वत्र नहीं मिलता। अधिकांश स्थलों पर भाषा मे अरबी-फारसी शब्द जबरदस्ती ठूँसे गये हैं; जैसे, "तुगलक का भाई मशकूर खाँ निहायत हसीन था, बगावत का शुबहा हुआ पूछने पर कि उकूबत और सियासत के डर से झूठा इकरार कर दिया। बहुतेरे उकूबत और सियासत से मौत को बेहतर समझते हैं।" बाद मे राजा साहब की भाषा क्रमशः ठेठ उर्दू बनती गयी। केवल अरबी-फारसी शब्दों की भरमार ही उसमें नहीं थी, फारसी के ढंग का वाक्य-विन्यास भी उसमें आ गया था। यह भाषा इस प्रकार की थी : "नीचे लिखी शर्तें अहदनामे की जिनका कायम रहना दोनों तरफ वारिश और जानशीनों पर फर्ज होगा, दर्मियान राजा रनजीत सिंह और चार्ल्स थियाफिलस मेटकाफ साहिब की मार्फत सरकार अंग्रेजी के अमल में आई।"

इस प्रकार राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द क्रमशः उर्दू की ओर झुकते गये, और अन्त तक उनकी भाषा देवनागरी लिपि में लिखी हुई उर्दू बन गयी। शिक्षा-विभाग

के कर्मचारी होने के कारण वे अपने अफसरों के विरुद्ध नहीं जा सकते थे। उनकी क्रमपरिणति सरकारी नीति की क्रमपरिणति की ही कहानी है। राजा साहब जो हिन्दी का 'गँवारपन' निकालकर उसे 'फैशनेबुल' बनाना चाहते थे, वह वस्तुतः उस सरकारी नीति की ही प्रतिध्वनि थी, जो हिन्दी को गँवारू भाषा और उर्दू को शिष्ट-जन-भाषा समझती थी। हेनरी पिनकाट ने 1 जनवरी 1884 ई. को एक पत्र मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को लिखा था, "कि बीस वर्ष हुए उसने (राजा शिवप्रसाद ने) सोचा कि अंग्रेजी साहबों को कैसी-कैसी बातें अच्छी लगती हैं। उन बातो का प्रचलित करना परम चतुर लोगो का धर्म है। इसलिए बड़े चाव से उसने अपनी हिन्दी भाषा को भी बिना लाज छोड़कर उर्दू को प्रचलित करने मे बहुत उद्योग किया।" यह पत्र राजा शिवप्रसाद के चरित्र की अपेक्षा सरकारी नीति को अधिक स्पष्ट करता है। इसमे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है, कि राजा शिवप्रसाद जिस सरकारी नीति को अपने प्रयत्नों के द्वारा सफल बना रहे थे, वह क्या थी।

'बनारस', 'सुधाकर' और 'बुद्धि-प्रकाश' : पहले ही बताया गया है, कि राजा शिवप्रसाद के उद्योग से काशी से 'बनारस' नाम का एक अखबार निकाला। राजा साहब इसमे जो भाषा लिखा करते थे, वह 'इतिहास तिमिरनाशक' की भाषा के समान ही उर्दू से मिलती-जुलती भाषा थी। हिन्दी के विद्वानो में इसकी प्रतिक्रिया भी हुई, और फलस्वरूप 1850 ई. मे 'सुधाकर' नाम का एक दूसरा पत्र काशी से प्रकाशित हुआ, जिसकी भाषा अधिक सुलझी हुई, और शुद्ध होती थी। इस पत्र के प्रधान उद्योक्ता बाबू तारामोहन मित्र थे। इसके दो वर्ष बाद आगरे से 'बुद्धि-प्रकाश' नामक दूसरा पत्र निकला, जिसके सम्पादक कोई मुंशी सदासुखलाल थे। इस पत्र की भाषा बहुत ही सुलझी हुई और साफ होती थी। उस युग को देखते हुए 'बुद्धि-प्रकाश' को सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशील पत्र कहा जा सकता है।

भाषा के सम्बन्ध में प्रतिक्रिया : राजा लक्ष्मणसिंह : राजा शिवप्रसाद की भाषा की प्रतिक्रिया यही तक समाप्त नही हुई। सुप्रसिद्ध राजा लक्ष्मणसिंह (1826-96 ई.) ने स्पष्ट शब्दो मे बताया, कि उनके मत मे "हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी है"। उन्होने यह भी कहा, "कुछ अवश्य नही है कि अरबी फारसी के शब्दों बिना हिन्दी न बोली जाय; और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते है, जिसमें अरबी फारसी के शब्द भरे है।" राजा साहब की भाषा मे तद्भव शब्दों की मात्रा कम नही है। यद्यपि वह आरम्भिक हिन्दी गद्य का ही नमूना है, तथापि उसमें वक्ता और श्रोता के अनुकूल होने की क्षमता है, और हमारी विशाल साहित्यिक परम्परा के अनुकूल है। भाषा मे अरबी-फारसी शब्द नही के बराबर हैं, परन्तु वह काव्य की ब्रजभाषा के प्रभाव से एकदम मुक्त नही है। राजा साहब ने कालिदास के कई ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया है, जिनमें 'मेघदूत' और 'शकुन्तला' के अनुवाद बहुत लोकप्रिय हुए। सन् 1878 ई. मे उन्होंने 'रघुवंश' का अनुवाद भी प्रकाशित कराया था। स्वभावतः राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा काव्य की भाषा है, इस । राजनीति, तर्कशास्त्र और विज्ञान आदि विषय कठिनाई से आ

प्राप्त हुआ है और इस बात की सूचना भी प्राप्त होती है, कि एक साल पहले 1815 ई. मे उन्होंने वेदान्तसूत्र का हिन्दी अनुवाद किया था। कलकत्ते से निकलनेवाले हिन्दी के समाचार-पत्रों के आद्य उद्योक्ताओं मे राजा राममोहन राय भी थे। परवर्ती काल के ब्राह्म-नेता इस बात को नही समझ सके। परन्तु बाबू नवीनचन्द्र राय इस बात को समझ गये थे। सन् 1867 ई. के मार्च के महीने मे उन्होने बँगला की प्रसिद्ध 'तत्त्व बोधिनी' के आदर्श पर 'ज्ञान प्रदायिनी' पत्रिका निकाली। इस पत्रिका में धार्मिक और सुधार-सम्बन्धी लेखो के अतिरिक्त शिक्षा-विषयक और वैज्ञानिक लेख भी हुआ करते थे। उनका विश्वास था कि "उर्दू के प्रचलित होने से देशवासियों को कोई लाभ नही होगा," और "उर्दू मे आशिकी कविता के अतिरिक्त और किसी गम्भीर विषय को व्यक्त करने की क्षमता नही।" उर्दू के पक्षपातियो से वे बराबर लोहा लेते रहे।

श्रद्धाराम फुलौरी : जिन दिनो बाबू नवीनचन्द्र पंजाब मे इस प्रकार हिन्दी का प्रचार कर रहे थे, उन्ही दिनो पं. श्रद्धाराम फुलौरी अपने व्याख्यानों और कथाओ से हिन्दू संस्कृति में नव-जीवन का संचार कर रहे थे। आर्य-समाज के आविर्भाव के पूर्व ही उन्होने पंजाब मे धार्मिक उत्साह और नवीन सामाजिक चेतना का संचार किया था। इन दिनों पढ़े-लिखे लोग ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट हो रहे थे। प. श्रद्धाराम ने बहुतो को पथ-भ्रष्ट होने से बचाया। प्रसिद्ध है कि कपूरथला के महाराज रणजीतसिंह सन् 1863 ई. में जब ईसाई होने जा रहे थे, तब पं. श्रद्धाराम ने ही उनके सब संशय दूर करके उन्हे हिन्दू धर्म मे प्रतिष्ठित किया। उन्होने 'सत्यामृत-प्रवाह' नाम का एक सिद्धान्त-ग्रन्थ लिखा था, जिसकी भाषा बहुत साफ और प्रौढ़ है। वे उर्दू मे भी लिखते थे, परन्तु हिन्दी भाषा और हिन्दू संस्कृति के पूर्ण पक्षपाती थे। उन्होने 'आत्म चिकित्सा', 'तत्त्वदीपक', 'धर्म-रक्षा', 'उपदेश-सग्रह' आदि पुस्तकें लिखी थीं; और 'भाग्यवती' नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी प्रकाशित कराया था। यह उपन्यास 1873 ई. मे प्रकाशित हुआ था। उन दिनों यह उपन्यास पढ़ी-लिखी जनता को बहुत प्रिय हुआ। कहते हैं उन्होने चौदह सौ पृष्ठो का अपना जीवन-चरित भी लिखा था, पर वह प्राप्त नही होता। पं. श्रद्धाराम का गद्य सुलझा हुआ और प्रौढ़ तो है ही, उसमें कठिन आध्यात्मिक तथ्यो को सरल भाषा मे प्रकट कर देने की पूर्ण क्षमता भी है।

वे पद्य भी लिखते थे, और 'सत्योपदेश' नाम से उनका एक दोहा-सग्रह भी छपा था। परन्तु पद्य मे उन्हे विशेष सफलता नही मिली। वे अपने युग के शक्तिशाली गद्य-लेखक थे। इस प्रकार इन लोगों के प्रयत्न से पंजाब मे नवीन युगचेतना के स्वागत करने योग्य भूमि तैयार हो चुकी थी। आर्य-समाज के पुरस्कर्त्ताओ को यह बनी-बनायी भूमि प्राप्त हुई।

आर्य-समाज की प्रतिक्रिया : उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में आर्य-समाज नवीन सामाजिक चेतना का सबसे बड़ा पुरस्कर्त्ता था। उसने देश की

प्रसुप्त शक्ति को धक्का मारके जगा दिया। आर्य-समाज के प्रचार का ढंग उग्र और चिढ़ानेवाला था। उसके प्रत्युत्तर में अनेक पुराने सम्प्रदाय के पण्डितों ने पुस्तकें लिखीं; और हिन्दी का गद्य इस प्रकार बहुमुखी उन्नति करता गया। परन्तु इसी समय नवीन राष्ट्रीयता का भी जन्म हो चुका था। सन् 1885 ई. में 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना हुई जिसने आगे चलकर भारतीय चिन्ता-धारा को बहुत अधिक प्रभावित किया, और जो क्रमशः सामाजिक सुधार और धार्मिक प्रचार के उत्साह को राजनीतिक आन्दोलन के रूप में बदल देने में समर्थ हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भारतवर्ष की साहित्यिक चेतना प्रधान रूप से राष्ट्रीय चेतना के रूप में प्रकट हुई।

3. भारतेन्दु का उदय और प्रभाव

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : सन् 1850 ई. में भारतेन्दु का जन्म हुआ। ये केवल चौंतीस वर्ष और चार महीने जीवित रहे, और माघकृष्ण 6 सं. 1941 अर्थात् 1885 ई. में इनकी मृत्यु हुई। इतने अल्प-काल में शायद ही किसी अन्य व्यक्ति ने इतना बड़ा साहित्यिक कार्य किया हो। इनकी अपूर्व प्रतिभा ने भाषा और साहित्य दोनों पर प्रभाव डाला। सिर्फ पन्द्रह वर्ष की अवस्था में अपने परिवार के साथ ये जगन्नाथधाम गये। इस यात्रा में इनका परिचय बंगाल के उगते हुए साहित्य से हुआ। उस समय बंगाल नये जीवन-दर्शन से उद्बुद्ध हो चुका था। उसके सामाजिक जीवन में नये ढंग की हलचल दिखायी देने लगी थी, और साहित्य के विविध अंगों का सर्जन भी होने लगा था। इस नयी जागृति को देखकर भारतेन्दु बहुत प्रभावित हुए; और हिन्दी में नवयुग का आरम्भ नहीं हुआ है, ऐसा अनुभव करने लगे। घर लौटकर केवल सत्रह वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'कवि-वचन-सुधा' नाम की एक पत्रिका निकाली। पहले तो इसमें केवल प्राचीन कवियों की कविताएँ छपा करती थीं, किन्तु बाद में गद्य-लेख भी रहने लगे। सन् 1873 ई. में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' नाम की दूसरी पत्रिका निकाली। आठ संख्याओं के बाद पत्रिका का नाम बदलकर 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' कर दिया गया। इस चन्द्रिका में हरिश्चन्द्र की परिमार्जित हिन्दी का प्रथम दर्शन हुआ। वे स्वयं मानते थे कि सन् 1873 ई. से हिन्दी नये चाल में ढली।

नवीन भाषा-शैली का वैशिष्ट्य : नयी चाल से उनका तात्पर्य यह था कि इस समय उन्होंने जिस भाषा की नींव डाली, उसमें किसी प्रकार का बन्धन नहीं था, और न किसी प्रकार से कृत्रिम रूप से वह गढ़ी हुई थी। वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने और उनके सहयोगियों ने जिस प्रकार की भाषा में अपने लेख और ग्रन्थ लिखे, वह बहुत स्वाभाविक और भाव-प्रकाशन में समर्थ भाषा थी। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में कई ऐसे लेख प्रकाशित हुए, जिनका मान दीर्घकाल तक होता रहा। मुंशी ज्वालाप्रसाद का 'कविराज की सभा', तोताराम का 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न', बाबू काशीप्रसाद का 'रेल का विकट खेल' आदि लेख बहुत

लोकप्रिय हुए। स्वयं भारतेन्दु का लिखा 'पांचवां पैगम्बर' भी वहुत लोकप्रिय हुआ।

भारतेन्दु ने कई नाटकों की रचना की और वस्तुतः इसी क्षेत्र में इनकी प्रतिभा का सर्वोत्तम उपयोग हुआ। नाटकों के माध्यम से ही उन्होंने देशभक्ति और भगवद्भक्ति का सन्देश घर-घर पहुँचाया।

नवीन ढंग की 'राष्ट्रीयता' का जन्म : उन्नीसवीं शताब्दी संसार के इतिहास को नयी दिशा में मोड़नेवाली शताब्दी है। नाना प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कारों ने इस शताब्दी में यूरोप को जड़-विज्ञान का प्रेमी बनाया। बड़े-बड़े कारखाने खुले, वाष्पचालित जलयानों की सहायता से दूर-दूर के देशों से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ा और पूंजी क्रमशः सिमटती हुई व्यापारी वर्ग के घर में पुंजीभूत हो उठी। यह व्यापारी वर्ग अतुलित धनशाली होने पर भी राजकार्य में हस्तक्षेप नहीं कर पाता था। राजकार्य प्रधान रूप से राजकीय घरानों, जमींदारों और बड़े तालुकेदारों के नियन्त्रण में था। धीरे-धीरे व्यावसायिक वर्ग ने यह अनुभव किया कि राज-सत्ता पर अधिकार जमाये बिना व्यापार सुविधा से नहीं चल सकता और यूरोप में सर्वत्र राजतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह हुआ। धीरे-धीरे प्रजातन्त्र का रोब बढ़ता गया और सर्वत्र राजतन्त्र शिथिल होता गया। इसी परिस्थिति में उस नवीन विचारधारा का जन्म हुआ जिसे 'राष्ट्रीयता' कहते हैं। यूरोप में जन्मी हुई विचारधारा ने धीरे-धीरे भारत के विचारशील लोगों को भी प्रभावित करना शुरू किया। राष्ट्रीयता भारतवर्ष के लिए नवीन विश्वास थी। इसके पहले इस देश में यह बात अपरिचित थी। राष्ट्रीयता का अर्थ यह कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अंश है और इस राष्ट्र की सेवा के लिए, इसको धन-धान्य से समृद्ध बनाने के लिए, इसके प्रत्येक नागरिक को सुखी और सम्पन्न बनाने के लिए, प्रत्येक व्यक्ति को सब प्रकार के त्याग और कष्ट स्वीकार करने चाहिए। यह राष्ट्रीयता एक सीमा तक मनुष्य के उच्चतर उद्देश्यों के अनुकूल थी, लेकिन सीमा-व्यतिक्रम करने के बाद इसका एक अत्यन्त कुत्सित रूप सामने आता है। वह यह कि अपने देश को धन-धान्य से समृद्ध बनाने के लिए दूसरे देशों का शोषण किया जा सकता है, अपने देश के प्रासाद सँवारने के लिए दूसरे देश की झोपड़ियाँ जलायी जा सकती हैं।

भारतवर्ष में 'राष्ट्रीयता' का प्रवेश : राष्ट्रीयता ने उन्नीसवीं शताब्दी में यही विकृत रूप धारण कर लिया था। शुरू-शुरू में भारतवासियों को प्रजातन्त्रवाद के साथ जुड़े हुए राष्ट्रवाद का यह रूप स्पष्ट नहीं हुआ, क्योंकि वे इससे एकदम अपरिचित थे। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पढ़े-लिखे भारतीय इस बात को समझने लगे। धीरे-धीरे काव्यों में, नाटकों में, उपन्यासों में, और अन्यान्य रचनाओं में भारतवर्ष की पराधीनता और उसका शोषण इस प्रकार प्रकट होने लगा कि जिससे लेखकों के हृदय की व्यथा बड़ी व्याकुलता के साथ प्रकट हुई। भारतवासियों में भी अपने देश के प्रति प्रेम का भाव जाग्रत हुआ और

स्वाभिमान की गाथा बढ़ती गयी। देशभक्ति, परोपकारभावना, मातृभाषा के प्रति प्रेम, समाज-सुधार और पराधीनता के बन्धन से मुक्ति उन दिनों की प्रगतिशील मनोवृत्ति के चिह्न हैं। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में वह आर्य-समाज के रूप में प्रकट हो चुका था। काव्य और साहित्य के क्षेत्र में उसे भारतेन्दु-ऐसा सुयोग्य नेता मिला। भारतेन्दु के पहले ही कविता में इसके बीज दिखायी देने लगे थे। भारतेन्दु के आने के बाद से तो इस दिशा में बहुत तेजी से प्रगति हुई। इस प्रगति का कारण भारतेन्दु का अद्भुत व्यक्तित्व था। उनमें कुछ अनन्य साधारण गुण थे। अकृत्रिम सहृदयता, निरन्तर जागरूक दानशीलता और निश्छल सहज भाव ने इन्हें अपने युग का श्रेष्ठ साहित्यिक नेता बना दिया। उन दिनों के प्रायः सभी श्रेष्ठ साहित्यकार भारतेन्दु को केन्द्र बनाकर क्रिया-शील हुए।

भारतेन्दु-साहित्य की विशेषता : भारतेन्दु का पूर्ववर्ती काव्य-साहित्य सन्तों की कुटिया से निकलकर राजाओं और रईसों के दरबार में पहुँच गया था, उसमें मनुष्य को प्रत्याहिक सुख-सुविधाओं के जंजाल से मुक्त करके शाश्वत देवत्व के पवित्र लोक में ले जाने की महत्त्वाकांक्षा लुप्त हो चुकी थी। वह मनुष्य को देवता बनाने के पवित्र आसन से च्युत होकर मनोविनोद का साधन हो गया था। ऐसा होना वांछनीय नहीं था। जिन सन्तों और महात्माओं ने काव्य में मनुष्य को देवता बनाने की शक्ति संचारित की थी, उनके चेलों ने उनके नाम पर सम्प्रदाय स्थापित किये, काव्य को देवता बनाने की शक्ति लुप्त हो गयी, उसकी साम्प्रदायिक अद्भुत व्याख्याएँ शुरू हो गयीं। और दूसरी ओर कवियों की दुनिया राजदरबारों की ओर खिंच गयी। भारतेन्दु ने कविता को इन दोनों ही प्रकार की अधोगतियों के पन्थ से उबारा। उन्होंने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मन्दा-किनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ उसे दरबारीपन से निकालकर लोक-जीवन के आमने-सामने खड़ा कर दिया। नाटकों में तो उन्होंने युगान्तर उपस्थित कर दिया। भारतेन्दु के प्रसिद्ध नाटक यद्यपि अधिकतर संस्कृत या अन्य भाषान्तर मात्र हैं, फिर भी वे एक बड़े भारी परिवर्त्तन का संकेत करते हैं। रीति-काल में नाटक का लिखा जाना एकदम बन्द हो गया था। जीवन में नाटकोचित गति ही लोप हो गयी थी। सबकुछ बँधे-बँधाये मार्ग में चल रहा था। चलना-फिरना, हिलना-डुलना, रोना-हँसना, सबको नक्की सड़क तैयार थी। कहीं नवीनता आ जाये, तो अपराध माना जाता था। भारतेन्दु ने इस बात को बड़ी सावधानी से तोड़ा। उन्होंने क्रान्तिकारी हथौड़े से काम नहीं लिया, उन्होंने मृदु संशोधक निपुण वैद्य की भाँति रोगी की नाजुक स्थिति की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त कर उसकी रुचि के अनुसार उचित पथ्य की व्यवस्था की। यह भारतेन्दु की अपनी विशेषता थी। उनका समूचा काव्य मूर्त्तिमान प्राणधारा का उच्छल वेग है। इस जीवन-धारा ने ही उनकी समस्त रचनाओं को उपादेय और नवयुग का मार्ग खोलनेवाला बना दिया है। वे केवल बँधी रूढ़ियों के कायल नहीं थे। अपनी कविता की प्रेरणा

उन्होंने नाना मूलों से प्राप्त की। उन्होंने संस्कृत-जैसी पूर्ववर्त्ती भाषाओं के रस से रस खींचने में आनाकानी नहीं की और न बँगला, मराठी आदि पार्श्ववर्त्तिनी भाषाओं ही से प्रेरणा लेने में हिचक का अनुभव किया। जीवन्त प्राणी सभी वस्तुओं से अपने जीवन का उपादान संग्रह कर लेता है। जो मृत होता है, जिसमें प्राणधारा का उज्ज्वल वेग नहीं होता, वह कहीं से भी रस नहीं खींच पाता। भारतेन्दु जीवन-प्राणधारा के मूर्त्त विग्रह थे।

भारतेन्दु की सफलता का रहस्य : भारतेन्दु की सफलता का प्रधान रहस्य यह जीवन-प्राणधारा ही है। उनकी सफलता का दूसरा रहस्य है, उनकी अपूर्व दानशीलता। दानशीलता से मेरा मतलब रुपया-पैसा लुटाने से नहीं है। भारतेन्दु ने रुपया-पैसा काफी लुटाया भी था। लेकिन मैं दूसरी बात कह रहा था। लुटाने से अभिप्राय है, अपना सर्वोत्तम लुटाना। दाता का प्रधान लक्षण है कि उसके इर्द-गिर्द ग्रहीता स्वयं जुटते हैं और विशेषता यह है कि स्वयं आकृष्ट ग्रहीता आगे चलकर महादानी बन जाते हैं। दातृत्वशक्ति शायद सक्रामक रोग है। जो व्यक्ति अपने सम्पूर्ण रस को निःशेष भाव से देता है, उसके इर्द-गिर्द ऐसे लोग आकृष्ट होते हैं, जो अपनी सम्पूर्ण सत्ता को हँसते-हँसते लुटा देने में आनन्द पाते हैं। भारतेन्दु की अपूर्व दातृत्वशक्ति ने उनके इर्द-गिर्द महान् साहित्यकारों को खींच लिया था। इस महान् सूर्य को घेरकर अनेक दीप्यमान ग्रहमण्डली स्वयं उपस्थित हो गयी थी। इन कवियों और साहित्यकारों ने हमारी भाषा को अपने हृदय का 'सम्पूर्ण रस' उँडेलकर दे दिया। भाषा बद्ध अवस्था से मुक्त हो गयी। जीवन के प्रभाव की अवरोधक शक्ति का हट जाना ही पर्याप्त है, जीवन आगे का रास्ता स्वयं बना लेता है। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने अपने-आपको देकर उस बाधा को दूर कर दिया। काव्य, नाटक, उपन्यास और निबन्ध अपनी प्राणशक्ति

1 काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित भारतेन्दु ग्रन्थावली के प्रथम भाग में सत्रह नाटक प्रकाशित हुए हैं—(1) 'विद्यासुन्दर' (द्वितीय सं., 1882 ई.), (2) 'रत्नावली' (अपूर्ण, 1868 ई.), (3) 'पाखण्ड विडम्बन' (1873 ई.), (4) 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (1873 ई.), (5) 'धनंजय-विजय' (1873 ई.), (6) 'मुद्राराक्षस' (1875-77 ई.), (7) 'सत्य हरिश्चन्द्र' (1875 ई.), (8) 'प्रेम जोगिनी' (काशी के छायाचित्र या दो भले-बुरे फोटोग्राफ' नाम से, 1874 ई.), (9) 'विषस्य विषमौषधम्' (1876 ई.), (10) 'कर्पूर-मंजरी' (1876 ई.), (11) 'चन्द्रावली' (1876 ई.), (12) 'भारत दुर्दशा' (1876 ई.), (13) 'भारत जननी' (1877 ई.), (14) 'नीलदेवी' (1880 ई.), (15) 'दुर्लभ बन्धु' (1880 ई.), (16) 'अन्धेर नगरी' (1881 ई.), और (17) 'सती प्रताप' (1884 ई.)। इनमें विद्यासुन्दर बँगला के भारतचन्द्र-लिखित उपाख्यान पर आधारित श्री यतीन्द्रमोहन ठाकुर के किसी नाटक का छायानुवाद है। नं. 2, 5, 6 और 7 संस्कृत से; नं. 10 प्राकृत से; और नं. 15 अंग्रेजी से अनुवादित है। बाकी मौलिक हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' को किसी बँगला नाटक का रूपान्तर बताया जाता है, पर अभी तक इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिला। वह 'चण्डकौशिक' पर निर्भर जान पड़ता है।

से ही आगे बढ़ने लगे। शुरू-शुरू में यह गति कुछ शिथिल और मन्द रही, बाद में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से इसकी गति में बड़ी तीव्रता आ गयी। इसी समय एक और शक्तिशाली महापुरुष का आविर्भाव हुआ, जिसने भाषा में नयी शक्ति अनिवार्य कर दी। यह हैं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी। महावीरप्रसाद द्विवेदी भी बड़े योग्य और कर्मठ व्यक्ति थे। उन्होंने भाषा को समृद्ध और गतिशील बनाने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। उनकी यह अद्भुत दानशीलता ही उनकी शक्ति का वास्तविक स्रोत है।

भारतेन्दु की सफलता का एक तीसरा रहस्य भी है, जिस पर कम लोग ध्यान देते हैं। जो व्यक्ति सहज होता है, वही महान् होता है। क्रूरता और वक्रता मनुष्य को सामयिक सफलता देती है, परन्तु उनसे स्थायी लाभ नहीं होता। मनुष्य का सहज औदार्य, उसका सहज आनन्दन रूप और उसका सहज सारस्य उसकी बहुत बड़ी सम्पत्ति है। यह उसे महान् तो बनाती ही है, उसके सम्पर्क में आनेवालों को भी महान् बनाती है।

इन तीन महागुणों ने भारतेन्दु को अपने युग का महानेता बना दिया। उन दिनों भारतवर्ष विदेशी शासन के चंगुल में फँसा था। यह सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत नीचे उतर आया था, राजनैतिक प्रभुता तो नाम को भी नहीं बची थी। आर्थिक स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक थी।

महानेता भारतेन्दु : भारतवर्ष के अधिकांश नागरिक उन दिनों अपने देश की अधोगति का मूल कारण भी नहीं समझ पा रहे थे। इस देश में राष्ट्रीयता नामक वस्तु अज्ञात थी। किसी एक राजा या बादशाह के राज्य से तो यह देश परिचित था, पर यह कोई नहीं जानता था कि देश का देश कैसे दूसरे देश का राज्य हो सकता है। अंग्रेजों का समूचा देश इस देश के कोटि-कोटि अधिवासियों का राज्य था। यह विषम अवस्था थी। जिन थोड़े लोगों ने इस परिस्थिति को समझा था, उसमें भारतेन्दु का स्थान प्रमुख है। उनमें एक विचित्र प्रकार की अन्तर्दृष्टि और सहजबोध था। इसीलिए वे समस्या को अनायास समझ जाते थे।

उनके प्रेरणादायक व्यक्तित्व ने हिन्दी में सर्वतोमुखी उन्नति का सूत्रपात किया। उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते हिन्दी साहित्य में शक्तिशाली भाषा के लक्षण प्रकट हो गये। इस समय तक कई अच्छी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं।[1] विविध विषयों पर पुस्तकें भी बहुत लिखी गयीं। भाषा के प्रश्न को उन्होंने आज से पचास वर्ष पूर्व बारीकी से समझ लिया था, अनेक बड़े-बड़े विचारक इस सहज-सी बात को उनके बाद भी सहज ढंग से नहीं सोच सके। भाषा

1. कुछ प्रसिद्ध पत्रिकाओं के नाम इस प्रकार हैं—'कवि-वचन-सुधा' (1868 ई.), 'हिन्दी प्रदीप' (1877 ई.), 'ब्राह्मण' (1883 ई.), 'हिन्दुस्थान' (1883 ई.), 'मित्रविलास' (1877 ई.), 'आर्य दर्पण' (1877 ई.), 'धर्म दिवाकर' (1883 ई.), 'अग्रवालोपकारक' (1889 ई.), 'क्षत्रिय-पत्रिका' (1881 ई.), 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (1896 ई.), 'भारतोदय दैनिक' (1885 ई.), 'उपन्यास' (1898 ई.) इत्यादि।

के प्रश्न को अनावश्यक रूप से अन्यान्य समस्याओं की छलनी से छाना जाने लगा। भाषा हमारी संस्कृति का प्रतीक है। उसको मूल समस्या मानना चाहिए। भारतेन्दु ने सहजभाव से इस प्रश्न को समझा था

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटै न हिय को शूल ॥

उन्होंने 'निज भाषा' शब्द का व्यवहार किया है, 'मिली-जुली', 'आमफहम', 'राष्ट्रभाषा' आदि शब्दों का नहीं। प्रत्येक जाति की अपनी भाषा है और वह निज भाषा की उन्नति के साथ उन्नत होती है। मैं यह तो नहीं कह सकता कि भाषा की समस्या ही सब समस्याओं के मूल में है, पर यह सही बात है कि वह कई मूल और आरम्भिक समस्याओं में एक है। यह किसी राजनीतिक या साम्प्रदायिक समस्याओं का अनुचर नहीं है, वरन् प्रमुख और मूल है।

हिन्दी का जन-आन्दोलन : भारतेन्दु का प्रभाव भाषा के प्रचार-क्षेत्र में बहुत व्यापक रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में भाषा के सम्बन्ध में लोकमत को सचेत करने के लिए जिस प्रकार के उद्योग हुए वे हिन्दी भाषा के इतिहास में एकदम नये हैं। गौरीदत्त और अयोध्यासिंह खत्री जैसे परवर्ती काल के उत्साही प्रचारकों को भी भारतेन्दु के 'निज भाषा उन्नति' का मन्त्र ही प्रधान रूप से प्रेरणा दे रहा था। भाषा के प्रति इस प्रकार की जागरूकता के मुख्य और क्रियात्मक रूप का कारण तो राष्ट्रीय भावना थी, किन्तु प्रतिक्रियात्मक रूप का हेतु था हिन्दी की भयंकर उपेक्षा। भारतेन्दु की प्रेरणा ने हिन्दी भाषा के आन्दोलन को वास्तविक जन-आन्दोलन का रूप दे दिया। इसी जन-आन्दोलन ने हिन्दी को जन-भाषा बनने की ओर बराबर उन्मुख बनाये रखा। यह जन-सश्रय का ही परिणाम है कि निरन्तर उपेक्षित और अनमानित होते रहने पर भी हिन्दी आज सर्वोच्च गौरव की अधिकारिणी बनी है। हिन्दी की शक्ति जनता की शक्ति है। वह इतनी बड़ी ताकत है कि उसके सामने बड़े-से-बड़े शक्तिशाली मनुष्य की तनी भृकुटि निःशक्त हो जाने को बाध्य है। भारतेन्दु की प्रेरणा से ही हिन्दी जनभाषा बनी।

भारतेन्दु-मण्डल : भारतेन्दु को केन्द्र करके उस काल के अनेक कृती साहित्यकारों का एक उज्ज्वल मण्डल ही प्रस्तुत हो गया। सहज-चटुल शैली के पुरस्कर्त्ता पं. प्रतापनारायण मिश्र (1856-94 ई.); तीखी और झनझना देनेवाली भाषा में खरीखरी सुना देनेवाले प. बालकृष्ण भट्ट (1844-1914 ई.); अनुप्रासयुक्त शैली की कविजनोचित भाषा लिखनेवाले ठाकुर जगमोहनसिंह (1857-99 ई.) और बद्रीनारायण चौधरी (1855-1922 ई.); नाटकों और उपन्यासों के क्षेत्र में नये मार्ग का प्रदर्शन करनेवाले लाला श्रीनिवासदास (1851-87 ई.); शास्त्रीय विचार-परम्परा के धनी संस्कृत के उत्कृष्ट विद्वान् और लेखक पण्डित अम्बिकादत्त व्यास (1858-1900 ई.); अपने अगाध पाण्डित्य की छाया में सहज ठेठ शैली के पुरस्कर्त्ता महामहोपाध्याय प. सुधाकर द्विवेदी (1850-1911 ई.); संस्कृत के विद्वान् और भक्त साहित्यिक पं. राधाचरण गोस्वामी (1808-1925 ई.) तथा

सुप्रसिद्ध नाटककार और प्राचीन साहित्योद्धारक बाबू राधाकृष्णदास (1865-1907 ई.) आदि अनेक सुलेखक उनसे प्रेरणा ग्रहण करके हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि करने लगे। ये लोग तथा इन्हीं के समान विद्याप्रेमी अन्य सज्जन—जिनमें बाबू तोताराम, पं. मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या, प. भीमसेन शर्मा आदि प्रमुख हैं—इस काल में बहुत ही शक्तिशाली भाषा की नींव डालने में समर्थ हुए। भारतेन्दु-काल के इन लेखकों की विशेषता बताते हुए स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल ने बताया है कि "हरिश्चन्द्रकाल के सब लेखकों में अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। वे संस्कृत के ऐसे शब्दों और रूपों का व्यवहार करते थे जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित चले आते हैं। जिन शब्दों या उनके जिन रूपों से केवल संस्कृताभ्यासी परिचित होते हैं और जो भाषा के प्रवाह के साथ ठीक चलते नहीं उनका प्रयोग वे औघट मे पड़कर ही करते थे।" इन कवियों और साहित्यकारों ने हमारी भाषा को अपने हृदय का सम्पूर्ण रस निःशेष भाव से उँड़ेलकर दे दिया है। इनके अपूर्व आत्मदान का ही परिणाम है कि भाषा वृद्धावस्था से एकदम मुक्त हो गयी। जीवन के प्रभाव की अवरोधक शक्ति का हटाना ही सबसे महत्त्व की बात है, उसके आगे तो जीवन बहुत-कुछ अपना रास्ता स्वयं ही तै कर लेता है। भारतेन्दु और उनके सहकर्मियों ने जीवन को साहित्य में निर्बाध विकसित होने का मार्ग दिखा दिया। इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी के बाद साहित्य की धारा उन्मुक्त गति से आगे बढ़ी। इस शताब्दी के अन्तिम चरण में हिन्दी साहित्य ने निश्चित रूप से शक्तिशाली कदम उठाया।

विभिन्न दृष्टिकोणों का विकास : भारतेन्दु के नाटकों की कई श्रेणियाँ हैं—उनमें कुछ यथार्थवादी है, कुछ स्वच्छन्दतावादी हैं, कुछ आदर्शवादी हैं, कुछ राष्ट्र-वाद के प्रचारक हैं और कुछ समाज-सुधारक प्रहसन के रूप मे है। आगे चलकर भारतेन्दु के समसामयिक और परवर्ती लेखकों ने इन सभी धाराओं को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। आदर्शवादी नाटकों की दो धाराएँ थीं—पौराणिक और ऐतिहासिक। शुरू-शुरू में पौराणिक धारा प्रबल रही, किन्तु आगे चलकर ऐतिहासिक धारा ने अधिक प्रबल रूप धारण किया, पौराणिक धारा उसके सामने दब गयी। आदर्शवादी पौराणिक नाटकों में चन्द्रशरण का 'उपाहरण' (1887 ई.), लाला श्रीनिवासदास का 'प्रह्लाद चरित्र' (1888 ई.), विन्ध्येश्वरप्रसाद त्रिपाठी का 'मिथिलेश कुमारी' (1889 ई.), शालिग्राम वैश्य का 'मोरध्वज' (1890 ई.), कार्तिकप्रसाद वर्मा का 'उपाहरण' (1891 ई), अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रद्युम्न-विजय' (1893 ई.), बालकृष्ण भट्ट का 'दमयन्ती स्वयंवर' (1895 ई.), शालिग्राम वैश्य का 'अभिमन्यु' (1896 ई.), जगन्नाथशरण का 'प्रह्लाद-चरितामृत' (1900 ई.), देवराज का 'सावित्री' (1900 ई.), अनूप कवि का 'लंका विजय' (1900 ई.) और रामनाथ का 'सावित्री-सत्यवान' (1900 ई), प्रमुख रचनाएँ हैं। ऐतिहासिक रचनाओं में श्रीनिवासदास का 'संयोगिता-स्वयंवर' (1886 ई.), राधाचरण गोस्वामी का 'अमरसिंह राठौर' (1895 ई.) आदि

मुख्य हैं।

प्रहसन : किन्तु उन्नीसवी शताब्दी के नाटकों की प्रधान विशेषता प्रहसन है। भारतेन्दु का 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (1873 ई.), 'विषस्य-विषमौषधम्' (1875 ई.) और 'अन्धेर नगरी' (1881 ई.) बहुत लोकप्रिय रहे। प्रहसनो का लक्ष्य अधिकाश मे समाज-सुधार था। उन्नीसवी शताब्दी के हिन्दी लेखकों मे एक विचित्र प्रकार की जिन्दादिली थी। इसी जिन्दादिली ने उनके साहित्यिक प्रयत्नो को अत्यन्त सजीव बना दिया है। प्रहसनों मे यह सजीवता अपने पूरे वेग पर मिलती है। यही कारण है कि उन्नीसवी शताब्दी के प्रहसन बहुत सजीव और सफल रहे। सच पूछा जाये तो नाटकों के क्षेत्र मे इस काल के लेखकों को प्रहसनों में ही सफलता प्राप्त हुई। देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'जय नरसिंह की' (1876 ई.) और 'कलियुगी जनेऊ' (1886 ई.) तथा 'कलियुगी विवाह' (1898 ई.); प्रताप-नारायण मिश्र का 'कलि-कौतुक' (1876 ई.), राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुंह मुंहासे' (1888 ई.) आदि प्रहसन बहुत सफल रहे।

स्वच्छन्दतावादी धारा : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटको मे स्वच्छन्दतावादी या रोमैंटिक प्रेम की धारा स्पष्ट नही हो सकी। 'चन्द्रावली नाटिका' मे कुछ लोग इस श्रेणी के प्रेम का सन्धान पाते है, परन्तु चन्द्रावली नाटिका' स्वच्छन्द प्रेम का नही, भक्ति का काव्य है। केशवराम भट्ट का 'सजाद-सुम्बुल' (1877 ई.) शायद पहला नाटक है, जिसमे यथार्थवादी और स्वच्छन्दतावादी, दोनो ही धाराएँ घुली-मिली हैं। फिर भी वह प्रधान रूप से यथार्थवादी नाटक ही है। राधाकृष्णदास की 'दुखिनी बाला' (1880 ई.), लाला श्रीनिवासदास की 'रणधीर प्रेममोहिनी' (1880 ई.) और 'तप्ता संवरण' (1883 ई.), अम्बिकादत्त व्यास की 'ललिता' (1884 ई.), अमनसिंह गोतिया की 'मदन मजरी' (1884 ई.), बिशेसरनाथ पाठक की 'लवंगलता' (1885 ई.), कृष्णदेवसिंह की 'माधुरी' (1888 ई.), दामोदरसिंह की 'मदन-लेखा' (1890 ई.), किशोरीलाल गोस्वामी की मयक-मजरी' (1891 ई.), शालिग्राम वैश्य का 'लावण्यवती-सुदर्शन' (1892 ई.), रामानन्दसिंह का 'कुवलय-माला' (?), और ब्रजप्रसाद का 'मालती-वसन्त' (1889 ई.) इसी श्रेणी की रचनाएँ है। रामनरेश शर्मा का 'सिहल-विजय' (1896 ई.) और राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रतापसिंह' (1898 ई.) प्रमुख है। इनमे राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रतापसिंह' अधिक प्रसिद्ध हुआ। बहुत दिनो तक वह रंगमंच पर सफलतापूर्वक खेला जाता रहा, और अब भी उसकी लोकप्रियता कुछ-न-कुछ बनी हुई है।

राष्ट्रीय भावना के नाटक : भारतेन्दु ने राष्ट्रीय भावना के प्रचार के लिए 'प्रेम योगिनी', 'भारत दुर्दशा' आदि नाटक लिखे थे। इनकी परम्परा खूब चली। अम्बिकाप्रसाद व्यास के 'गो संकट' और 'भारत सौभाग्य' (1887 ई.), खड्ग-बहादुर मल्ल का 'भारत-ललना' (1888 ई.), जगतनारायण शर्मा का 'भारत दुर्दिन' (1889 ई.), बद्रीनारायण चौधरी का 'भारत सौभाग्य' (1889 ई.),

दुर्गादत्त का 'वर्तमान दशा' (1890 ई.), गोपालदास गहमरी का 'देशदशा' (1892 ई.) आदि नाटक सामाजिक समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिए लिखे गये थे। इन सबमें राष्ट्रीय भावना और आत्मगौरव-बोध की उपादेयता दिखायी गयी थी, वास्तव में ये नाटक राष्ट्रीय चेतना के प्रचारक थे। सामाजिक समस्याएँ केवल साधनमात्र थीं, और नाटक के कथानक तो बहुत-कुछ बहाने मात्र थे। इनका उद्देश्य बहुत स्पष्ट और पुष्ट था, बाकी बातें उसके सामने दब गयी थीं। दुर्भाग्यवश हिन्दी का कोई अपना रंगमंच नहीं था और ये नाटक बहुत-कुछ पाठ्य होकर ही रह गये।

हिन्दी प्रचार का आन्दोलन : उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दीप्रचार का आन्दोलन अधिक संगठित और निखरे रूप में प्रकट हुआ। 1893 ई. में बाबू श्यामसुन्दरदास, प. रामनारायण मिश्र और बाबू ठाकुर शिवकुमारसिंह ने नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की, जो आगे चलकर महत्त्वपूर्ण साहित्यिक संस्था बनी। मूलतः इस सभा का उद्देश्य हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का प्रचार करना ही है। सभा ने संयुक्त प्रान्त के लेफ्टिनेंट गवर्नर के पास अपना डेपुटेशन भेजा और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में (1900 ई. में) कचहरियों में हिन्दी को स्थान मिल गया। उन दिनों यह हिन्दी की बहुत बड़ी विजय मानी गयी। हिन्दी-प्रचारकों का उत्साह इससे और भी अधिक बढ़ा। सर्वत्र 'निज भाषा' की उन्नति के लिए प्रयत्न होने लगे। इस प्रयत्न का अच्छा और बुरा, दोनों ही प्रकार के परिणाम हुए। अच्छे परिणाम की चर्चा आगे की जायेगी; बुरा परिणाम यह हुआ कि नाना क्षेत्रों में काम करनेवाले नाना रुचि और संस्कार के लोगों ने हिन्दी लिखना और बोलना तो शुरू कर दिया और मातृ-भाषा की सेवा करने का सबका अधिकार भी स्वीकार कर लिया गया, किन्तु इसके लिए किसी प्रकार की शिक्षा और साधना की आवश्यकता नहीं समझी गयी। जिन्होंने उर्दू का अभ्यास किया था, वे उर्दू मुहाविरों से हिन्दी को भरने लगे, जिन्होंने संस्कृत का अभ्यास किया था, उन्होंने प्रयत्नपूर्वक भाषा पर संस्कृत पदावली लादने का प्रयास किया; जिन्होंने बँगला का नैकट्य प्राप्त किया था, उन्होंने 'प्राण-पण से' भाषा को कोमल-कान्त पदावली से भरना आरम्भ किया! और जिन्होंने अंग्रेजी का अभ्यास किया था, उन्होंने अंग्रेजी शब्दावली के अनुवादित या परिवर्त्तित शब्दों को अपनी भाषा में ठूँसना शुरू किया। इस प्रकार भाषा में अव्यवस्था आ गयी। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जहाँ एक ओर हिन्दी का नया साहित्य नवीन प्राण-शक्ति से उद्वेल हो रहा था—जहाँ से भी उत्तम वस्तु मिले, उसको ग्रहण करने के लिए व्याकुल हो उठा था—वहाँ भाषा में अव्यवस्था और शैथिल्य का जोर बढ़ गया।

उर्दू के साथ संघर्ष : हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन का प्रधान लक्ष्य नागरी लिपि का प्रचार और भाव और भाषा को भारतीय रूप देना था। स्वभावतः ही उर्दू के साथ उसका संघर्ष हो गया। अदालतों में उर्दू लिपि के प्रचार के कारण पढ़े-लिखे लोग उर्दू पढ़ने को बाध्य थे। पंजाब और पश्चिमी युक्तप्रान्त में तो हिन्दुओं के

धर्म-ग्रन्थ उर्दू लिपि में ही प्रकाशित होते थे। आर्य-समाज के आन्दोलन ने हिन्दी को बहुत बल दिया, क्योंकि आर्यसमाज भी भारतीयकरण का पक्षपाती था, इसीलिए उसको सबसे अधिक लोहा उर्दू भाषा से लेना पड़ा। संयोगवश उर्दू लिपि का वैज्ञानिक मूल्य कुछ भी नहीं था, नागरी लिपि की तुलना में संसार की कम लिपियाँ खड़ी की जा सकती हैं। फारसी लिपि तो किसी भी प्रकार उसकी प्रतिद्वन्द्विनी नहीं बन सकती। इस लिपि के जीने का सबसे प्रबल कारण मुसलिम भावनाएँ थीं। मुसलमान लोग उसे धर्म-लिपि मानते हैं, और आग्रहपूर्वक उसे उत्तम स्थान देना पसन्द करते हैं। भारतवर्ष के विदेशी शासकों ने मुसलमानों की मनोवृत्ति को सहलावा दिया, और इस बात की बिल्कुल परवा नहीं की कि शुद्ध उच्चारण और सुपाठ्य लेखन की दृष्टि से नागरी लिपि उर्दू से कहीं अधिक श्रेष्ठ थी। आरम्भ में उन्होंने नागरी लिपि को एकदम बहिष्कृत कर दिया था। विचारशील हिन्दुओं के मन में इस बात से बहुत क्षोभ हुआ था, और उसी क्षोभ ने शक्तिशाली आन्दोलन का रूप धारण किया था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में वह आन्दोलन सफल हुआ। इसको सफल बनाने में अनेक शक्तियों ने कार्य किया, परन्तु व्यक्तिरूप में पं. मदनमोहन मालवीय और समाजरूप में नागरी प्रचारिणी सभा को इसका प्रधान श्रेय प्राप्त है।

भूले हुए इतिहास का उद्धार : उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय गौरव के पुनरुद्धार का समय है। इस काल में अनेक देशी-विदेशी विद्वानों के परिश्रम से भारतवर्ष के भूले हुए इतिहास का ढाँचा प्रस्तुत किया जा सका। ब्राह्मी, खरोष्ठी जैसी भूली हुई लिपियों का उद्धार हुआ। अनेक शिलालेखों, ताम्र-शासनों और राजकीय मुद्राओं के आविष्कार से इतिहास की टूटी कड़ियाँ जोड़ी गयीं। सिंहल, बर्मा और स्याम में प्रचलित भारतवर्ष का प्राचीन पाली भाषा का ग्रन्थभण्डार प्राप्त किया गया। तिब्बत, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा और बाली द्वीपों में भारतीय ज्ञान-भण्डार और संस्कृति के अवशेष चिह्न प्राप्त हुए। वैदिक और लौकिक संस्कृत शास्त्रों का अनुसन्धान, संकलन और सम्पादन किया गया। मौर्यों, शुंगों, गुप्तों और राजपूत नरेशों के वीरत्वपूर्ण कथानकों का संकलन किया गया, और इन सबके परिणामस्वरूप सोचने-समझनेवाले भारतवासी के चित्त में नवीन आत्म-गौरव का संचार हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनरुद्धार का महत्त्व बहुत अधिक है। इसका सबसे प्रत्यक्ष प्रभाव साहित्य पर पड़ा। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही काव्यों, नाटकों और उपन्यास-कहानियों का विषय पुराना भारतीय गौरव होने लगा। इसका सूत्रपात हरिश्चन्द्र-काल में ही हो गया था, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में इन विषयों का [illegible] होता रहा। इनका पूर्ण परिपाक बीसवीं शताब्दी में ही हुआ।

भाषा के स्वरूप पर मतभेद : बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अनेक प्रकार

[illegible] भाषा के क्षेत्र में अव्यवस्था [illegible]

[illegible] हो गया न हो, इस विषय [illegible]

लेकर तीन प्रकार के मत उन दिनों प्रचलित हो गये। कुछ लोग अरबी-फारसी शब्दों के एकदम विरुद्ध थे। लाला हरदयाल ने अरबी-फारसी के शब्दों को 'प्राचीन दासता के अवशेषचिह्न' माना था। मथुराप्रसाद दीक्षित भी उर्दू के कठोर विरोधियों में से थे। साधारण बोलचाल की भाषा में आये हुए शब्दों को तो ले लेने में वे कोई दोष नहीं मानते थे, किन्तु प्रधान रूप से संस्कृत शब्दों के पक्षपाती थे। इसी समय इसकी प्रतिक्रिया भी हुई थी। महामहोपाध्याय पं. सुधाकर द्विवेदी जैसे विद्वान् हिन्दी में संस्कृत की ठूँस-ठाँस पसन्द नहीं करते थे। वह भाषा को संस्कृत पदावली से लादने को 'कलम पकड़ने का नशा' समझते थे। मन्नन द्विवेदी ने भी इस प्रवृत्ति का उपहास किया था। यह वर्ग हिन्दी में सीधे-सादे तद्भव शब्दों की बहुलता को स्वागत योग्य मानता है, और कठिन संस्कृत-पदावली को अच्छी रुचि का परिचायक नहीं समझता। एक तीसरे प्रकार के लोग थे, जो उर्दू और हिन्दी दोनों को मिलाना चाहते थे, वे जरूरत पड़ने पर और कभी बिना जरूरत भी उर्दू और हिन्दी का मिश्रण करते थे।

यह तो हुई शब्द-भण्डार की बात। वाक्य-रचना में भी कई प्रकार की शैलियाँ व्यवहृत होने लगी थीं। कुछ लोग अंग्रेजी गद्य-शैली की भाँति सरल व्यंजनामयी और भावों को स्पष्ट करनेवाली भाषा लिखते थे। कुछ दूसरे लोग संस्कृत की उस शैली को अपना रहे थे, जिसमें अक्षराडम्बर और अलंकरण की प्रधानता होती थी, और कुछ ऐसे भी लोग थे जो बँगला की सरस पदावली पर मुग्ध होकर उसी ढंग की भाषा लिखने लगे थे। इस प्रकार एक ओर शब्दभण्डार के विषय में मतभेद था, तो दूसरी ओर अनेक प्रकार की अपरीक्षित शैलियों का प्रयोग भी चल रहा था। इस द्विविध अस्थिरता के भीतर साहित्य के नवीन रूप का जन्म हो रहा था। ऐसे समय में पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी का साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण हुआ। उन्होंने कठोरता के साथ माँज-घिसकर भाषा को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने पौरुष-व्यक्तित्व और आत्मविश्वासपूर्ण शैली के सहारे भाषा को माँजने का व्रत लिया। उनसे कम कठोर और अधिक भावुक व्यक्ति से वह कार्य नहीं हो सकता था। परन्तु इस मँजाई-घिसाई का कुछ दुष्परिणाम भी हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भाषा के स्वच्छन्द प्रयोग से शैली-वैचित्र्य का स्वाभाविक विकास हो रहा था। द्विवेदीजी की मँजाई-घिसाई से उसके स्वाभाविक और सहज विकास को थोड़ा धक्का भी लगा। परन्तु सब मिलाकर उनके उद्योग से भाषा में स्वच्छता और भाव-प्रकाशन की क्षमता भी आयी।

4. साहित्य की बहुमुखी उन्नति का काल (1900-52 ई.)

बहुमुखी साहित्य : बीसवीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य की बहुमुखी उन्नति हुई। इस शताब्दी के आरम्भ में ही काशी नागरी प्रचारिणी सभा के उद्योग से प्रयाग के इण्डियन प्रेस से 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ। सन् 1903 ई. में इस पत्रिका के सम्पादन का भार आचार्य पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी

(1861-1938 ई.) ने ग्रहण किया। इस पत्रिका के द्वारा द्विवेदीजी ने हिन्दी गद्य को व्यवस्थित बनाने का बहुत अच्छा प्रयत्न किया। उन्होंने नये ढंग के लेख लिखने के लिए लेखकों को उद्बुद्ध किया। ये स्वयं भी कविता और निबन्ध लिखा करते थे। कविता मे इनकी प्रतिभा की कोई अच्छी अभिव्यक्ति नही हुई, किन्तु निबन्धों और समालोचनाओं द्वारा ये साहित्यिकों को निरन्तर प्रेरणा देते रहे। द्विवेदीजी की समालोचनाओं ने एक ओर तरुण साहित्यकारो को रूढ़िमुक्त होकर लिखने की प्रेरणा दी, दूसरी ओर कई कृती साहित्यकारों को वाद-विवाद के क्षेत्र मे उतरने और विचारोत्तेजक लेख लिखने का प्रोत्साहन दिया। माधवप्रसाद मिश्र, वालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा आदि इसी प्रकार साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में आये। कहानी, जीवन-चरित, निबन्ध, सूचनापरक साहित्य, वैज्ञानिक विवेचन-सम्बन्धी और पुरातत्त्वात्मक लेख, नाटक, गीतिनाट्य, व्यग्य आदि विविध साहित्यागों की पूर्त्ति मे भी इस पत्रिका ने बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया। द्विवेदीजी ने पद्य और गद्य की भाषा को एक करने का सफल प्रयत्न किया। इसके पहले पद्य की भाषा व्रजभाषा थी। बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे अनेक साहित्यिक महानुभाव विश्वास ही नहीं कर सकते थे कि खड़ी वोली में भी कविता लिखी जा सकती है। बहुत दिनों तक यह विवाद चलता रहा कि खड़ी वोली मे कविता लिखी जा सकती है या नही। द्विवेदीजी ने दृढ़ता के साथ खड़ी वोली के पक्ष का समर्थन किया। उनकी प्रेरणा बहुत बलवती सिद्ध हुई। मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय, सत्यशरण रतूडी, रामचरित उपाध्याय आदि कवियो ने खड़ी बोली में केवल रचना ही नही की, यह भी अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि खड़ी वोली कविता का वाहन हो सकती है।

उपन्यास और कहानियाँ : यद्यपि अब तक के हिन्दी साहित्य की मुख्य प्रतिभा कविता के माध्यम से ही प्रकाशित हुई, परन्तु बीसवी शताब्दी के हिन्दी साहित्य का सबसे नया और शक्तिशाली रूप उपन्यासों और कहानियों के माध्यम से ही प्रकट हुआ। उपन्यास और कहानियाँ इस काल के बहुत ही महत्त्वपूर्ण साहित्याग है। अनेक शक्तिशाली लेखकों ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यहाँ सक्षेप मे हिन्दी के इस नवीन साहित्यांग पर विचार कर लेना उचित है।

प्राचीन भारत में कथा-साहित्य : प्राचीन भारतीय साहित्य में कथा-साहित्य का अभाव नही है। 'जातक' और 'पंचतन्त्र' की कहानियो ने तो समूचे सभ्य जगत् को प्रभावित किया है। गुणाढ्य की पैशाची प्राकृत मे लिखी हुई सुप्रसिद्ध 'बृहत् कथा' अपने ढंग का अनोखा साहित्य है। जिस प्रकार 'रामायण' और 'महाभारत' ने भारतवर्ष के काव्य और नाटकों को प्रभावित किया है, उसी प्रकार 'बृहत् कथा' ने भी इस देश के कवियों को लौकिक रस के कथानक दिये हैं। परवर्ती काल में केवल पद्य मे ही नही, गद्य मे भी संस्कृत का कथा-साहित्य बहुत समृद्ध रहा। कथा, आख्यायिका, चम्पू इत्यादि काव्यरूपों से भारतीय साहित्य भरा पड़ा है। मध्यकाल मे भी पौराणिक और लौकिक कथाओं के आधार पर मनोरंजक काव्य

लिखे गये हैं। इस प्रकार आधुनिक युग के आरम्भ होने के पहले तक हमारे देश में नाना श्रेणी के उपन्यास-जातीय कथा-काव्य वर्त्तमान थे। उनमें पौराणिक आख्यान भी है, नैतिकता और लोकचातुरी सिखानेवाली कहानियां भी हैं और धर्म और भक्ति-तत्त्व को स्पष्ट करनेवाली कथाएँ भी लिखी गयी हैं। फिर भी उन्हें 'उपन्यास' नही कहा जा सकता।

उपन्यास का स्वरूप : उपन्यास आधुनिक युग की देन है। नये गद्य के प्रचार के साथ-साथ उपन्यास का प्रचार हुआ है। आधुनिक उपन्यास केवल कथा-मात्र नही है, और पुरानी कथाओं और आख्यायिकाओं की भांति कथा-सूत्र का बहाना लेकर उपमाओं, रूपकों, दीपकों और श्लेषों की छटा और सरस पदों में गुम्फित पदावली की घटा दिखाने का कौशल भी नहीं है। यह आधुनिक वैयक्तिकतावादी दृष्टिकोण का परिणाम है। इसमें लेखक अपना एक निश्चित मत प्रकट करता है, और कथानक को इस प्रकार से सजाता है कि पाठक अनायास ही उसके उद्देश्य को ग्रहण कर सके, और उससे प्रभावित हो सके। लेखकों का इस प्रकार का वैयक्तिक दृष्टिकोण ही नये उपन्यासों की आत्मा है। कथानक को मनोरंजक और निर्दोष बनाकर और पात्रों के सजीव चरित्र-निर्माण तथा भाषा की अनाडम्बर सहज प्रवाह की योजना के द्वारा उपन्यासकार अपने वैयक्तिक मत को ही सहज स्वीकार्य बनाता है। जिस उपन्यासकार के पास आधुनिक युग की जटिल समस्याओं के समाधान के योग्य अपना प्रबल वैयक्तिक मत नही है, वह आधुनिक पाठकों को आकृष्ट नही कर सकता।

आधुनिक गद्य का कथा-साहित्य : आधुनिक गद्य के प्रचार के साथ गद्य में कथा-साहित्य की पुस्तकें भी प्रकाशित होने लगी। इंशाअल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी', लल्लूलाल की 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'माधवानन्द कामकन्दला', 'शकुन्तला' और 'प्रेमसागर'; सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' आदि पुस्तकें प्राचीनकाल से चली आती हुई कहानियों को आश्रय करके लिखी गयी हैं। ये सब उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में लिखी जा चुकी थीं। इनमें से कई पुस्तकें उर्दू में अनूदित होकर प्रकाशित हुईं। वस्तुतः फोर्ट विलियम कालेज की प्रवृत्ति उर्दू को अधिक आश्रय देने की ओर थी। उस कालेज से हिन्दी, फ़ारसी, संस्कृत की कथाओं के अनुवाद के रूप में बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनमें 'सिंहासन बत्तीसी' (1801 ई.), 'प्रेमसागर' (1801 ई.), 'राजनीति' (1801 ई.), 'शकुन्तला नाटक' (1803 ई.), 'बैताल पच्चीसी' (1805 ई.), 'माधवानन्द कामकन्दला' (1805 ई.) जैसी पुस्तकें हिन्दी पाठकों के निकट भी अच्छी तरह से परिचित हैं। 'बागे उर्दू' (1799 ई.), 'गुलबकावली' (1801 ई.), 'तोता कहानी' (1828 ई.) आदि पुस्तकें भी इसी समय प्रकाशित हुईं, जो आगे चलकर हिन्दी अक्षरों में भी प्रकाशित हुईं और बहुत दिनों तक साधारण हिन्दी पाठकों का मनोरंजन करती रहीं। उर्दू में इन कहानियों की परम्परा बड़ी तेजी से आगे बढ़ी, और फ़ारसी की पुरानी कहानियों के अनुवादरूप में ही प्रकाशित हुईं। कुछ पुस्तकों में

तो कथा का विस्तार इतना अधिक था, कि उन्हें पढ़ने के लिए महीनों का समय चाहिए। 'तिलस्मे होशरुबा' लगभग हजार पृष्ठों के चालीस जिल्दों में छपा था। इन कहानियों में अय्यारी और तिलस्म की भरमार थी और प्राकृत घटनाओं की तथा हल्के ढंग के प्रेम की योजना हुआ करती थी। प्रेम के लिए सब प्रकार के छल-प्रपंच उचित समझे गये थे, और घटनाओं की योजना इस प्रकार की जाती थी कि पाठक की विचार-बुद्धि कुण्ठित होकर उसमें उलझ जाय। इन कहानियों ने हिन्दी के कहानी-साहित्य को भी प्रभावित किया, और तिलस्मी उपन्यासों का एक मनोरंजक साहित्य बन गया।

किन्तु ये सब कहानियाँ उपन्यास नहीं हैं, क्योंकि इनमें लेखकों का अपना कोई वैयक्तिक दृष्टिकोण नहीं है, और उनकी घटनाओं की योजना में किसी प्रबल वैयक्तिक मत के समर्थन का लक्ष्य नहीं है।

आधुनिक ढंग के उपन्यास : हिन्दी में आधुनिक ढंग के उपन्यास का लिखना भारतेन्दु-युग से ही आरम्भ हो गया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' नाम का सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास लिखा था। इसमें पूर्णप्रकाश नायक है और चन्द्रप्रभा नायिका। चन्द्रप्रभा का विवाह ढुण्ढिराज नामक एक वृद्ध से हुआ था। वृद्ध-विवाह के दोष और कन्याओं की शिक्षा का समर्थन इस उपन्यास का प्रधान उद्देश्य है। लेखक ने व्यंग्यों और कटाक्षों का भी आश्रय लिया है। इस उपन्यास में भारतेन्दु ने नारीजाति के नवीन अभ्युदय का सन्देश दिया, और दीर्घ-काल से चली आती हुई सड़ी-गली रूढ़ियों का विरोध किया। इस काल में लाला श्रीनिवासदास का उपन्यास 'परीक्षागुरु' प्रकाशित हुआ, जिसे पं. रामचन्द्र शुक्ल ने अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास कहा है। इसका प्रथम संस्करण कब प्रकाशित हुआ था यह तो नहीं ज्ञात हो सका, परन्तु इसका दूसरा संस्करण सन् 1886 ई. में हुआ था। बाबू राधाकृष्णदास का 'निःसहाय हिन्दू' (1886 ई.), पं. बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' (1886 ई.) और 'सौ अजान और एक सुजान' (1892 ई.), रतनचन्द्र प्लीडर का 'नूतन चरित', मेहता लज्जाराम शर्मा का 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' (1899 ई.) और 'धूर्त रसिकलाल' (1899 ई.), गोपालराम गहमरी का 'बड़ा भाई' और 'सास पतोहू' (1898 ई.) तथा किशोरीलाल गोस्वामी के 'त्रिवेणी' (1889 ई.), 'हृदयहारिणी' (1890 ई.), 'लवंग-लता' (1890 ई.) 'सुख शर्वरी' (1891 ई.), आदि उपन्यास इसी समय लिखे गये, जिनमें थोड़ा-बहुत रोमांस, और थोड़ा-बहुत नैतिक शिक्षा का दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है। इसी काल में राधाचरण गोस्वामी की 'विधवा विपत्ति' (1888 ई.), हनुमन्तसिंह की 'चन्द्रकला' (1893 ई.), गोकुलनाथ शर्मा की 'पुष्पावती' आदि पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इस काल के उपन्यास-लेखकों पर बंगला और संस्कृत साहित्य का प्रभाव था। कभी-कभी संस्कृत के 'कादम्बरी' [illegible] शैली पर सुन्दर गद्य-काव्य लिखने का प्रयत्न किया जाता था। पं. [illegible] मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, गदाधरसिंह, राधाकृष्णदास, [illegible]

रामकृष्ण वर्मा आदि ने बँगला के अनेक उपन्यासों के अनुवाद किये। यह परम्परा बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक अबाध रूप से चलती रही। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी गद्य की सर्वतोमुखी उन्नति हो चुकी थी। आधुनिक ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था, नये ढंग के निबन्ध लिखे जा रहे थे, वैयक्तिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, और देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं से प्रेरणा लेकर नये-नये साहित्यांगों की सृष्टि का बीज बोया जा चुका था।

तिलस्मी उपन्यास . उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी में सबसे अधिक प्रभावशाली कथा-साहित्य ऐय्यारी और तिलस्मी उपन्यासों का था। देवकीनन्दन खत्री के दो उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' उन दिनों बहुत लोकप्रिय थे। इन पुस्तकों के अनुकरण पर और भी कई उपन्यास लिखे गये थे। हिन्दी को लोकप्रिय भाषा बनाने मे इन उपन्यासों का बहुत बड़ा हाथ है। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिस प्रकार के घटना-वैचित्र्य-बहुल तिलस्माती उपन्यास लिखे जा रहे थे, उन्हीं से प्रेरणा लेकर इन उपन्यासो की कथावस्तु तैयार की गयी थी। इनमें अद्भुत और असाधारण घटनाओ की ऐसी रेल-पेल है कि पाठक का चित्त धक्का खा-खाकर आगे बढ़ता जाता है, उसे कथानक के गठन और चरित्र के विकास की बात याद ही नही रहती। अतिप्राकृत, अद्भुत और असाधारण घटनाओ से आश्चर्यजनक परिस्थितियों का निर्माण तिलस्माती कथानकों का प्रधान आकर्षण था। इन कथानकों मे 'लकलका' नामक एक प्रकार की मादक वस्तु के प्रयोग का प्रसंग प्रायः ही आता रहता है, जिसके सूँघने से मनुष्य बेहोश हो जाता है। तिलस्माती उपन्यासों का वातावरण भी साहित्यिक 'लकलका' है। वह पाठक को बेहोश और अभिभूत कर देता है; वह कथानक के उद्देश्य, गठन और पात्रों के साथ उनके सम्बन्ध की, और पात्रो के मनोवैज्ञानिक विकास की बात सोच ही नही सकता। इन उपन्यासों ने हिन्दी जनता के चित्त को ऐसे ही मादक वातावरण मे डाल रखा था। उपन्यास के वास्तविक रूप से तो इन्होंने इस जनता को परिचित नही कराया, परन्तु आधुनिक उपन्यासो की जो सबसे बड़ी विशेषता—मनोरंजन—है, उसे प्राप्त करने की दुर्दम लालसा इन्होंने अवश्य उत्पन्न कर दी।

बँगला उपन्यास . बगाल मे अंग्रेजी शिक्षा से सम्पर्क बहुत पहले से हो चुका था, और उन्नीसवीं शताब्दी मे उसमें नये ढंग के उपन्यासों की रचना बड़े वेग से होने लगी थी। बगाल के उन दिनों के सबसे श्रेष्ठ उपन्यास-लेखक बंकिम बाबू थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त्य भाग मे बगाल के उपन्यास-लेखकों का हिन्दी पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। बंकिम बाबू ने एक दर्जन से अधिक उपन्यास लिखे हैं, ये उपन्यास पुरानी भारतीय कथा-शैली मे नहीं किन्तु आधुनिक अंग्रेजी उपन्यासों के ढंग पर लिखे गये हैं। उनके उपन्यास अधिकतर ऐतिहासिक हैं या ऐतिहासिक घटनाओ से सम्बद्ध हैं, परन्तु वे ठीक अर्थों मे ऐतिहासिक नहीं कहे जा सकते,

बल्कि स्वरूप से वे अंग्रेजी के रोमांसों के अनुरूप है। रोमांस में कल्पना की उडान होती है, और प्रेम और साहसिकता की प्रधानता होती है। उनके कई उपन्यासों में सामाजिक और धार्मिक समस्याओं को सामने रखा गया है। कहा जाता है कि वकिम बाबू वाल्टर स्काट से प्रभावित थे, परन्तु सही बात यह है कि उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी उपन्यासों का अच्छा मन्थन किया था और जेन आस्टिन, थैकरे, विक्टर ह्यूगो और डिकेन्स आदि औपन्यासिकों की विशेषताओं को निपुण भाव से देखा था। अपने उपन्यासों में उन्होंने उस काल की सभी प्रवृत्तियों को अपने ढंग से व्यक्त किया है। परन्तु कहीं भी वे किसी बड़े उपन्यासकार की नकल नहीं करते। अंग्रेजी उपन्यासों की उत्तम परम्परा को उन्होंने भारतीय रूप में सजाया है। वकिम बाबू का प्रभाव हिन्दी पर ही नहीं, तत्कालीन अन्य भारतीय भाषाओं पर भी पड़ा। हिन्दी में तो अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव शुरू-शुरू में सीधे न आकर बंगाली लेखकों के माध्यम से ही आया। अंग्रेजी की रोमांस-धारा को विशुद्ध भारतीय वेश में सुसज्जित करने का श्रेय वकिम बाबू को है। कल्पना की उड़ान, चरित्रों का मानसिक विकास, कथानक की रोचकता, कथावस्तु का औत्सुक्य-प्रधान होना, चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विकास और उद्देश्य की एकातानता, उन्नीसवी शताब्दी के यूरोपियन उपन्यास-साहित्य की प्रधान विशेषता थी। वकिम बाबू अपने काल के अत्यन्त प्रतिभाशाली लेखक थे। इस अद्भुत रोमांस-धारा को भारतीय वेश में सजाकर और उसे भारतीय पाठक की मनोवृत्ति के अनुकूल बनाकर वकिम बाबू ने भारतीय साहित्य में अद्भुत क्रान्ति उपस्थित की। उसका प्रभाव बहुत सुदूरव्यापी हुआ। हिन्दी में पण्डित प्रतापनारायण मिश्र और पण्डित राधाचरण गोस्वामी ने बंगाली उपन्यासों का अनुवाद आरम्भ किया। बाद में बाबू गदाधरसिंह ने 'बंगविजेता' और 'दुर्गेश-नन्दिनी' का अनुवाद किया। इसके बाद बंगाली उपन्यासों के अनुवाद का तांता बँध गया। बाबू राधाकृष्णदास, बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री, बाबू रामकृष्ण वर्मा आदि प्रतिष्ठित लेखक इस अनुवाद-परम्परा के आदि-प्रवर्तक कहे जायेंगे। बंगाली उपन्यास-लेखकों की लचीली भावुकता के साथ पश्चिम से आयी हुई रोमांस-परम्परा का ऐसा सुन्दर योग हुआ कि उस काल का समूचा भारतवर्ष उसके सर्वग्रासी प्रभाव की लपेट में आ गया। पड़ोसी भाषा होने के कारण हिन्दी पर उसका सर्वाधिक प्रभाव पड़ा।

बँगला उपन्यासों की देन : बँगला उपन्यासों के अनुवाद को हिन्दी जनता ने बड़े चाव से पढ़ा। इस नये ढंग के साहित्य ने तिलस्माती उपन्यासों का रंग फीका कर दिया। उस काल की भाषा पर बँगला के शब्दों, मुहावरों और वाक्य-गठन तक का प्रभाव पड़ा। शेष करना (समाप्त करना), जिज्ञासा करना (पूछना), 'सर्वनाश', 'किंकर्तव्यविमूढ़' आदि प्रयोग सीधे बँगला उपन्यासों की शब्दावली से आ गये। बहुत दिनों तक इन प्रयोगों से भाषा का पीछा नहीं छूट पाया। सन् 1920 के बाद जब नया उत्थान हुआ और प्रेमचन्द, कौशिक, सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार आदि शक्तिशाली कथाकारों का प्रभाव व्यापक हो उठा, तब

भाषा इन प्रयोगों से बच पायी।

बँगला उपन्यासों ने हिन्दी को एक ओर तो अतिप्राकृत, अतिरंजित, घटना-बहुल ऐय्यारी उपन्यासों के मोहजाल से मुक्त किया और दूसरी ओर शुद्ध भारतीय संस्कृति की ओर उन्मुख किया। उनके अनुवादों ने भाषा को संस्कृत पदावली की मधुरता और गम्भीरता की ओर प्रवृत्त किया और कोमल भावनाओं और सुकुमार कल्पनाओं की रुचि उत्पन्न की। यद्यपि कुछ दिनों तक उसका अभिभूतकारी प्रभाव हिन्दी पर छाया रहा, पर सब मिलाकर उसने हिन्दी कविता और गद्य भाषा को समृद्ध ही किया। उर्दू के अतिरंजित कथानकों और किस्सागोई-परक साहित्य से कुछ देर तक के लिए छुटकारा मिलना हिन्दी के विकास के लिए आवश्यक था। उर्दू मुहावरों की भाषा बन गयी थी, उस समय उससे बँधे रहने पर हिन्दी में उन्मुक्त कल्पना का अवकाश न मिलता, हमारा कथा-साहित्य मुहावरे-बाजी और लतीफेबाजी में देर तक अटका रहता।

छोटी कहानियाँ : जो बात उपन्यास के क्षेत्र में सत्य है, करीब-करीब वही बात कहानियों के बारे में भी ठीक है। कहानी कहने की प्रथा कोई नयी चीज नहीं है, पर 'कहानी' नामक नया साहित्यांग आधुनिक युग की देन है। यह भी प्रेस और यातायात के नवीन साधनों की सहायता से विकसित हुआ है और लोकप्रिय बना है। शुरू-शुरू में पश्चिमी देशों में भी उपन्यास और कहानी में कोई भेद नहीं किया जाता था। परन्तु जैसे-जैसे सभ्यता की भीड़भम्भड़ बढ़ती गयी, वैसे-वैसे अल्प समय साध्य छोटे-छोटे साहित्यांगों का विकास भी होता गया। यह साहित्य का सभ्यता के साथ ताल मिलाकर चलने का प्रयास है। काव्य के क्षेत्र में लिरिक या गीतिकाव्य, नाटक के क्षेत्र में एकांकी तथा उपन्यास और कथा के क्षेत्र में 'कहानी' इसी प्रयास के फल हैं।

आधुनिक कहानियों के पहले की अवस्था : प्रेस और यातायात के नवीन साधनों के प्रचार के पूर्व भारतीय साहित्य अपने प्राचीन कहानी-कला के परिचित मार्ग से थोड़ा हट चुका था। फारसी कहानियों के सम्पर्क से 'लैला-मजनूँ', 'शीरीं-फरहाद', 'किस्सए-गुलेबकावली' आदि के ढंग की कहानियाँ प्रचलित हो गयी थीं, जिनमें मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों को सहलाना ही प्रधान लक्ष्य हो गया था। *फ़ारसी साहित्य के आदर्श और ऐकान्तिक ढंग के प्रेम-कथानक भी इसी हल्की* मनोवृत्ति के शिकार हो गये थे। आदिम शक्तियों को उत्तेजित करने के लिए जिन कौशलों का सहारा लिया जाता था, वे एकदम अस्वाभाविक और रुचि-बहिर्भूत थे। अतिप्राकृत प्रसंगों की योजना, उड़नेवाली परियों का बराबर आ उपस्थित होना, इशारों और संकेतात्मक प्रतीकों की ठेलमठेल के कारण इनमें कहानी का सहज कहानीपन गायब हो जाता है। हिन्दुस्तानी कथानक-रूढ़ियों और फ़ारसी कहानीगत अभिप्रायों के सबसे निम्न स्तर के अवयवों के सम्मिश्रण से जो साहित्य बन रहा था, वह न बहुत उच्चकोटि का ही बन सका और न कभी अभिजात साहित्य के महल की देहली ही लाँघ सका। परन्तु नये युग के आने के

बाद तक उसका खरेरा सूखा नहीं था। 'क़िस्सा तोता मैना', 'छबीली भटियारिन', 'क़िस्सा साढ़े तीन यार', 'एक रात मे चालीस खून' कहानियो मे यही विकृत रुचि सुरक्षित रह गयी है। इस मनोवृत्ति का ही ईषत् संस्कृत रूप तिलस्मी और ऐय्यारी कहानियों में आया, पर सही बात यह है कि साहित्य के मन्दिर मे प्रवेश पाने की योग्यता इनमे नही थी।

भारतेन्दु काल तक कहानी-कला अविकसित रही : मुशी इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' को कई आलोचको ने हिन्दी की प्रथम कहानी माना है। परन्तु वह नयी परम्परा की आरम्भिक कहानी नही है, बल्कि मुस्लिम प्रभावापन्न परम्परा की अन्तिम कहानी है (जो साहित्य के मन्दिर में प्रवेश पाने का गौरव पा सकी है)। यह भी अस्वाभाविक और अतिमानुषिक प्रसगो से भरी है और यद्यपि इसमें रुचि-विगर्हित तत्त्व कम है, तथापि उनका एकदम अभाव भी नही है। भाषा मे हल्का-फुल्का भाव है। इसकी भाषा और शैली मे आधुनिक कहानी कला का थोड़ा आभास मिल जाता है, पर यह बात उर्दू और फ़ारसी के समूचे कथा-साहित्य की ही विशेषता है। मुंशीजी के समकालीन लेखको मे से प्रायः सबने कोई-न-कोई कहानी तो लिखी है, पर इन धार्मिक और पौराणिक कहानियों से भी आधुनिक कहानी-कला का दूर का ही सम्बन्ध है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की लिखी बतायी जानेवाली कहानी 'राजा भोज का सपना' और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखित समझी जानेवाली कहानी 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' कथंचित आधुनिकता के लक्षणों से सम्पन्न मानी जा सकती है। इनमे भी परवर्ती कहानी की शैली में अधिक आधुनिकता है, परन्तु आधुनिक कहानी मे लेखक का जो एक वैयक्तिक मत और अन्तर्निहित उद्देश्य आवश्यक होता है, वह इनमें बहुत अस्पष्ट है। सही बात यही है कि भारतेन्दु-युग मे यद्यपि हमारे साहित्य मे आधुनिकता का सस्पर्श हो आया था पर वह पूर्ण रूप से आधुनिक नही हो पाया था। एक ओर तो उसमें प्राचीनता का मोह बना हुआ था, दूसरी ओर नवीनता को ग्रहण करने का औत्सुक्य आ चुका था। उसमे कहानी का आधुनिक रूप विकसित नही हो पाया। यथासम्भव कम पात्रो और कम शब्दो का प्रयोग करके उन्ही के सहारे कथानक, पात्र, वातावरण और प्रभाव आदि की सृष्टि करने का कोई प्रयास इस काल मे नही हुआ।

वास्तविक कहानी का आरम्भ : वस्तुतः बीसवी शताब्दी मे जब 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ, तभी वास्तविक अर्थों में कहानी लिखना शुरू हुआ। प्रथम-प्रथम तो शेक्सपियर के कुछ नाटको को कहानी के रूप मे लिखने का प्रयत्न हुआ, फिर संस्कृत की 'रत्नावली', 'मालविकाग्निमित्र' जैसे नाटको और 'कादम्बरी' जैसी कथाओ को कहानी रूप मे कहने का प्रयत्न किया गया। स्पष्ट ही लेखकों की रुचि रोमास की ओर अधिक थी। इन कहानियों को न तो मौलिक कहानी ही कहा जा सकता है और न अनुवाद ही, परन्तु इनमे कहानी के माध्यम से साहित्यिक रुचि जाग्रत करने का प्रयास अवश्य था। इनका चुनाव सूचित करता है

कि लेखकगण पिछले लेवे के अतिमानुषिक प्रसंगों और रुचिवहिर्गत वातावरण की योजना को सम्पूर्ण रूप से छोड़ चुके थे और इस समय कथानकों को नये ढंग से उपस्थित करने का प्रयास करने लगे थे। सन् 1900 ई. में पं. किशोरीलाल गोस्वामी ने 'टेम्पेस्ट' की छाया लेकर एक कहानी लिखी, जिसमें वातावरण तो भारतीय था, पर मूल कथानक को ही उसमें गूंथने का प्रयास था। इसे ही हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी कहा जाता है। निसन्देह इसमें अच्छी कहानी के कई गुण थे, पर यह वस्तुत अंग्रेजी नाटकों की छाया पर आधारित अर्द्ध-अनुवादित कहानियों से सिर्फ इस बात में भिन्न थी कि लेखक ने यह प्रयत्न किया था कि कहानी मौलिक जान पड़े। श्री किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी के बाद मार्मिक भावप्रधान कहानी पं. रामचन्द्र शुक्ल ने लिखी। यह कहानी ('ग्यारह वर्ष का समय') आधुनिकता के लक्षण से युक्त अवश्य थी और किशोरीलालजी की पूर्व-प्रकाशित दोनों कहानियों से श्रेष्ठ थी, फिर भी 'दुलाईवाली' में जैसा निखार है वैसा इसमें नहीं है। सन् 1900 ई. से 1910 ई. तक का काल हिन्दी कहानियों का प्रयोगकाल कहा जा सकता है।

किशोरीलालजी की इस कहानी के पश्चात् कुछ उपदेश-मूलक कहानियाँ प्रकाशित हुई। विद्यानाथ शर्मा की 'विद्या बहार' और मैथिलीशरण गुप्त की 'निन्यानवे का फेर' ऐसी ही कहानियाँ थी। इनमें कहानी की नयी कारीगरी का थोड़ा आश्रय अवश्य लिया गया था, पर आधुनिकता निखर नहीं पायी थी। 'सुदर्शन' नामक मासिक-पत्र में श्री माधवप्रसाद मिश्र की कहानियाँ निकल रही थी, जिनमें प्राचीन आख्यायिकाओं की शैली थी। 1907 ई. में श्री बंग महिला की 'दुलाईवाली' नाम की कहानी प्रकाशित हुई, जिसमें एक छोटी-सी घटना को लेकर सामान्य मनुष्यता को प्रभावित करने योग्य यथार्थवादी चित्रण था। बहुतों ने इसे ही हिन्दी की प्रथम कहानी माना है। इन दिनों स्वामी सत्यदेव, विश्वम्भरनाथ जिज्जा, गिरजाकुमार घोष की कहानियाँ भी प्रकाशित हुई। वृन्दावनलाल वर्मा की पहली कहानी 'राखीबन्दभाई' 1907 ई. में छपी और मैथिलीशरण गुप्त की कहानी 'नकली किला' भी इसी समय प्रकाशित हुई।

प्रसाद और गुलेरी की कहानियाँ : सन् 1911 ई. में 'इन्दु' का प्रकाशन हुआ। इसमें जयशंकर प्रसादजी की सम्भवतः प्रथम कहानी 'ग्राम' (1911 ई.) प्रकाशित हुई। श्री गंगाप्रसाद श्रीवास्तव की प्रथम हास्यरस की कहानी 'पिकनिक' भी इसी साल प्रकाशित हुई और इन्हीं दिनों 'भारत मित्र' में पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रथम कहानी 'सुखमय जीवन' भी छपी। ये तीनों लेखक आगे चलकर हिन्दी साहित्य में प्रख्यात हुए। चन्द्रधर शर्मा की कहानियों की संख्या तो बहुत थोड़ी है, पर इन स्वल्प रचनाओं के बल पर ही वे साहित्य में अपूर्व गौरव के अधिकारी हुए हैं। सन् 1912 ई. में [illegible] दूसरी कहानी 'रसिया बालम' प्रकाशित हुई। प्रथम [illegible] का [illegible] चित्रण-कला का इसी में प्रस्फुटन हुआ।

'तस्कर', और विश्वम्भरनाथ 'कौशिक' की प्रथम कहानी 'रक्षाबन्धन' (1913 ई.) प्रकाशित हुई। सन् 1915 ई. को 'सरस्वती' में चन्द्रधर शर्मा गुलेरीजी की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहानी 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई।

सन् 1916 ई. में प्रेमचन्द की प्रथम कहानी 'पंच परमेश्वर' प्रकाशित हुई। इस कहानी में यथार्थोन्मुख आदर्श का ऐसा सुन्दर चित्रण था कि इसने उस समय लिखी जानेवाली सभी कहानियों का रंग फीका कर दिया। महिमा में इस कहानी की प्रतिद्वन्द्विता पहले की लिखी हुई सिर्फ एक कहानी—'उसने कहा था'—कर सकती है। इन दोनों कहानियों का महत्त्व केवल सामयिक नहीं था। ये सार्वदेशिक और सार्वकालिक सत्य का सन्देशा लेकर आयी थीं।

प्रेमचन्द का आगमन (1880-1936) : प्रेमचन्द की कहानियों का प्रकाशन हिन्दी के कथा-साहित्य की बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है। 'पंच परमेश्वर' नामक कहानी ने प्रथम बार आधुनिक पाठक के सामने देश में फैली हुई असंख्य जनता के भीतर निवास करनेवाली परमशक्तिशालिनी दैवी शक्ति का उद्घाटन किया। यह कहानी मनुष्य-जीवन की यथार्थ जटिलताओं के भीतर से निकलकर उसकी यथार्थ समस्याओं को स्पर्श करती है और सत्य को स्वीकार करने की उस महिमाशालिनी क्षमता का परिचय देती है जो अनेक व्यवधानों के कारण सहज ही नहीं दिखायी देती। थोड़े समय बाद प्रेमचन्द की दूसरी हिन्दी कहानी—'आत्माराम' प्रकाशित हुई। इसमें भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और यथार्थता के भीतर से मनुष्य-हृदय की विशालता उद्घाटित हुई। प्रभावोत्पादकता और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ये कहानियाँ उन दिनों भी बेजोड़ थीं और आज भी वैसी ही बनी हुई हैं।

सुदर्शन : इसी समय सुदर्शनजी की 'कमला की बेटी' नामक कहानी प्रकाशित हुई। इसमें भी नयी कहानी-कला निखरकर प्रकट हुई थी। इस प्रकार इस काल में सच्ची आधुनिक कहानियों का जन्म हुआ। कथानक-रूप और शैली की दृष्टि से इन कहानियों ने पुराने ढर्रे की कहानियों में बहुत बड़ा परिवर्तन ला दिया और जीवन के विशाल क्षेत्रों को उद्घाटित किया। फिर तो नये ढंग की कहानियाँ तेजी से लिखी जाने लगीं। इस काल में चतुरसेन शास्त्री, राजा राधिकारमण, शिवपूजन सहाय, हृदयेश, गोविन्दवल्लभ पन्त, ज्वालादत्त शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, गोपालराम गहमरी, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, वृन्दावनलाल वर्मा, रायकृष्णदास आदि कहानीकारों की रचनाएँ प्रकाशित हुई और हिन्दी का कहानी-साहित्य बहुत तेजी से आगे बढ़ा।

यथार्थवादी चित्रण आवश्यक : उपन्यास और कहानी के लिए यथार्थवादी चित्रण की थोड़ी-बहुत आवश्यकता रहती ही है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों और कहानियों को मानव-जीवन का यथार्थ चित्रण ही कहा है। कभी-कभी यथार्थवादी कहानीकार मर्यादा की सीमा अतिक्रम कर जाते हैं, इसलिए 'यथार्थवाद' शब्द बहुत गलतफहमी का शिकार बन गया है। प्रसंग आ गया है, इसलिए उसके सम्बन्ध

में विचार कर लिया जाय।

यथार्थवाद का अर्थ : साहित्य में यथार्थवाद शब्द का प्रयोग नये सिरे से होने लगा है, यह अंग्रेजी साहित्य के 'रियलिज्म' शब्द के तौल पर गढ़ लिया गया है। यथार्थवाद का मूल सिद्धान्त है, वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना। न तो उसे कल्पना के द्वारा चित्रित रंगों से अनुरंजित करना, और न किसी धार्मिक या नैतिक आदर्श के लिए उसे काट-छांटकर उपस्थित करना। यूरोपियन साहित्य में 'रियलिज्म' का व्यवहार 'रोमेण्टिसिज्म' (स्वच्छन्दतावाद) और 'आइडियलिज्म' (आदर्शवाद) के विरुद्ध अर्थ में हुआ। यथार्थवाद के विरोधी लेखकों ने इस दृष्टि से लिखे हुए उपन्यासों और काव्यों को 'फोटोग्रैफिक' चित्रण कहा है। अर्थात् जिस प्रकार कैमरा वस्तु के प्रत्येक अवयव और वातावरण को ज्यों-का-त्यों उपस्थित कर देता है, न घटाता है, न बढ़ाता है, उसी प्रकार लेखक वक्तव्य-वस्तु को ज्यों-का-त्यों उपस्थित करता है। अपने राग-विराग से उसे कुछ-का-कुछ बनाकर नहीं उपस्थित करता। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए यथार्थवादी लेखक कुछ कौशलों का आश्रय लेता है। वह (1) वक्तव्य-वस्तु के इर्द-गिर्द की प्रत्येक बात का ब्यौरेवार विवरण उपस्थित करता है, और गन्दी और घिनौनी समझी जानेवाली चीजों का विशेष रूप से उल्लेख करता है; (2) समसामयिक घटनाओं और रीति-रस्मों का विस्तारपूर्वक उल्लेख करता है; (3) वक्तव्य-वस्तु के साथ अत्यन्त क्षीण सूत्र से सम्बद्ध नगण्य व्यक्तियों की भी चर्चा करता है; (4) भिन्न-भिन्न पात्रों की बोलियों का हू-ब-हू लेखन करता है, और उनमें यदि जुगुप्सित अश्लील गालियाँ भी हों, तो उन्हें ज्यों-का-त्यों रख देने में नहीं हिचकता; (5) विभिन्न व्यवसाय और पेशे के लोगों की पारिभाषिक शब्दावली को चुन-चुनकर संग्रह और व्यवहार करता है; (6) घटना की सचाई का वातावरण उपस्थित करने के लिए चिट्ठियों, सनदों और अन्य प्रामाणिक समझी जाने योग्य बातों को उपस्थित करता है।

रोमांस, प्रकृतिवाद और यथार्थवाद : रोमांस के पक्षपातियों ने यथार्थवादी चित्रण पर बड़ा कठोर आघात किया है, कभी-कभी इसे प्रकृतिवाद (नेचुरलिज्म) के साथ घुला दिया गया है। प्रकृतिवाद भी उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के साहित्य में बहुत प्रसिद्ध मतवाद था। इसके अनुसार मनुष्य प्रकृति का उसी प्रकार से क्रमशः विकसित जन्तु है, जिस प्रकार संसार के अन्य प्राणी। उसमें पशु-सुलभ सभी आकर्षण-विकर्षण ज्यों-के-त्यों वर्तमान हैं [illegible] लेखक मनुष्य को काम-क्रोध आदि मनोरागों [illegible] मात्र समझ [illegible] अर्थहीन

वादी लेखक मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से ऊपर का प्राणी मानता है। वह त्याग और तप को मनुष्य का वास्तविक धर्म मानता है। वह विश्वास करता है कि यद्यपि मनुष्य में बहुत पशु-सुलभ वृत्तियां रह गयी है, तथापि वह पशु नहीं है। वर्षों की साधना से उसने अपने भीतर त्याग, तप, सौन्दर्य-प्रेम और पर-दुःख-कातरता जैसे गुणों का विकास किया है। ये गुण ही मनुष्य की मनुष्यता की निशानी हैं। इस प्रकार मानवतावादी लेखक प्रकृतिवादी लेखक के ठीक उल्टे रास्ते पर चलता है। यथार्थवाद सब समय मानवतावाद का विरोधी नहीं; परन्तु ऐसे अवसर आते हैं, जब यथार्थवादी लेखक मानवतावाद के विरुद्ध चला जाता है।

हिन्दी के उपन्यासों और कहानियों में क्रमशः इस यथार्थवादी दृष्टि की प्रतिष्ठा बढ़ती गयी, परन्तु वे न तो पूर्णतः यथार्थवादी हुए, न पूर्णतः रोमांसवादी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में ही यथार्थवादी दृष्टि का प्रमाण मिल जाता है। प्रेमचन्द, कौशिक और सुदर्शन की आरम्भिक कहानियों में भी घटनाओं को वास्तविकता के निकट रखने का पूरा प्रयत्न है। वस्तुत पुरानी कहानियों से इन कहानियों में मुख्य अन्तर यही है कि नयी कहानियां पाठक के चित्त में वास्तविक जीवन का भान उत्पन्न करती हैं। इसका कारण लेखकों का यथार्थ चित्रण ही है। परन्तु यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि ये लेखक मूलतः यथार्थवादी नहीं थे। इनकी रचनाओं का प्रधान स्वर मानवतावादी था।

मानवतावादी दृष्टि : उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में प्रबल ज्ञान-पिपासा जाग्रत हुई थी। उन दिनों वहां के मनीषियों में दो बातों के बारे में विशेष मतभेद नहीं था : (1) प्रथम तो यह कि इस संसार में सब कुछ क्रमशः विकसित होता आ रहा है, जो कुछ भी जैसा है वैसा ही बन के नहीं आया था। मनुष्य का मन, बुद्धि, संस्कार, धर्म, मत, सबकुछ क्रमश विकसित हुए हैं। उसके धार्मिक विश्वास का भी विकास क्रमशः ही हुआ है। सृष्टि-परम्परा में मनुष्य का भी विकास अद्भुत बात है। वह इस सृष्टि-प्रक्रिया की सबसे उत्तम, सबसे सुकुमार अतएव सबसे अधिक आदरास्पद और महत्त्वपूर्ण वस्तु है। इसी विचार-पद्धति को किसी-किसी ने ऐतिहासिक दृष्टि नाम दिया है। आज के सभी शास्त्रों के विचारक उसकी विकास-परम्परा को इसी क्रमशः विकसित होनेवाली सृष्टि-प्रक्रिया का फल मानते हैं। यह ऐतिहासिक दृष्टि आज के शिक्षित व्यक्ति की निजी दृष्टि हो गयी है। (2) दूसरा प्रधान विश्वास यह था कि मनुष्य को सुखी बनाना, उसे सब प्रकार की आर्थिक और राजनीतिक गुलामी से मुक्त करना और उसे रोग-शोक के चंगुल से छुड़ाना ही सब प्रकार के शास्त्रों और विद्याओं का प्रधान लक्ष्य है। मनुष्य को किसी परलोक में अनन्त सुखों का अधिकारी बनाना दूसरी बात है और उसे इसी नश्वर जगत् में इसी मर्त्यकाया में सुखी बनाना बिल्कुल दूसरी बात। इस मनुष्य को इसी मर्त्यकाया में इसी दुनिया में सुखी बनाने का लक्ष्य क्या है? उत्तर यह है कि मनुष्य अद्भुत शक्तियों का भण्डार है। उसने अनेक त्याग और आत्मदमन के बाद अपने भीतर अनेक सद्गुणों का विकास किया है; वह पशु-

सामान्य धरातल से जो ऊपर उठ सका है, इसका कारण यह है कि उसने अपने भीतर त्याग की, तपस्या की और आत्मसंयम की बुद्धि विकसित की है। उसके भीतर सम्भावनाएँ अनेक हैं। इसी मर्त्यलोक को अद्भुत अपूर्व शान्तिस्थल बनाने की क्षमता इस मनुष्य में है। इसी दृष्टि को उन दिनों मानवतावादी कहा गया था। यह सिद्धान्त केवल लोकप्रिय ही नहीं हुआ, वह आधुनिक संस्कृति का मेरुदण्ड सिद्ध हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के मानवतावादी विचारक बहुत आशावादी थे। उस समय जो शिक्षा-पद्धति सोची गयी उसके केन्द्र में यह मानवतावादी विचारधारा थी। उस काल की सभी व्यवस्थाओं के केन्द्र में मानवतावादी दृष्टि का हाथ था। भारतवर्ष में भी वही शिक्षा-पद्धति आयी। इस शिक्षा-पद्धति में जो लोग शिक्षित हुए, वे मनुष्य की महिमा में अपार विश्वास लेकर विद्यालयों से निकले। प्राचीन धर्मभावना में मनुष्य को परलोक में सुखी बनाने का संकल्प था, नयी मानवता पर आधारित धर्मभावना में मनुष्य को इसी मर्त्यकाया में सुखी बनाने का सकल्प था। स्पष्ट रूप से पुरानी धर्मभावना का विरुद्धगामी दृष्टिकोण विकसित हुआ। फलस्वरूप आचारों, विश्वासों और क्रियाओं के मूल्यों में बड़ा अन्तर आ गया। ईश्वर और मोक्ष को मानना, न मानना, गौण बात हो गयी; मनुष्य को इसी लोक में सुखी बनाना मुख्य। प्रेमचन्द ने अपने एक मौजी पात्र से कहलवाया है, "जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इस पर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है, और जीवन को सुखी बनाना ही मोक्ष और उपासना है। ज्ञानी कहता है होठों पर मुस्कुराहट न आवे, आँखों में आँसू न आवे। मैं कहता हूँ, अगर तुम हँस नहीं सकते, रो नहीं सकते, तो तुम मनुष्य नहीं पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं कोल्हू है।" इस उद्धरण में आधुनिक मानवतावादी दृष्टि बहुत स्पष्ट हुई है। बीसवीं शताब्दी के सभी हिन्दी-लेखक इस मानवतावादी दृष्टि से प्रभावित थे, पर सबके विचारों में फिर भी ऐक्य नहीं था; क्योंकि मानवतावाद भी विभिन्न लेखकों की रुचि और संस्कारों से प्रभावित होकर कुछ भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुआ।

मानवतावाद और राष्ट्रीयतावाद : यूरोप में भी मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाने की दृष्टि ने स्वदेशी राष्ट्रीयतावाद के आन्दोलन को बल दिया। व्यवहार में उसे अपने देश के मनुष्यों तक ही सकुचित बनना पड़ा और मशीनों के नवीन साधनों से सम्पन्न व्यवसायियों के लिए अपनी सम्पत्ति बढ़ाने और दूसरे देशों का शोषण करने का अस्त्र सिद्ध हुआ। इस देश में समस्या दूसरी थी। यहाँ राष्ट्रीयता का विकास हो रहा था, परन्तु वह शोषण से मुक्ति पाने का प्रयासी था। इसलिए शुरू-शुरू में मानवतावादी दृष्टि के साथ राष्ट्रीयतावादी दृष्टि का कोई सघर्ष नहीं हुआ। उस काल के सभी लेखकों और कवियों में दोनों ही दृष्टि-याँ प्राप्त होते हैं। परन्तु साहित्य-क्षेत्र में मूल चालक मनोवृत्ति मानवतावाद ही

थी। इस मानवतावादी दृष्टि के पेट से ही काव्य में छायावाद का जन्म हुआ और उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शोषण से विद्रोह करनेवाली स्वच्छन्दतावादी प्रेमधारा का भी जन्म हुआ। बीसवी शताब्दी के उपन्यासो, कहानियों और काव्यों का प्रधान स्वर शोषित के प्रति सहानुभूति का है। इस साहित्य में शोषित के प्रति केवल सहानुभूति ही नही मिलती वल्कि यह विश्वास भी काम करता है कि जो शोषित है वह यदि शोषण से मुक्त हो जाय तो उसमें सब प्रकार के सद्गुणों का विकास हो जाता है। प्रेमचन्द, सुदर्शन और कौशिक, इन सबकी कहानियों में यही स्वर मिलता है। सब मनुष्य को सद्गुणों का आश्रय मानते है। सबका विश्वास है कि झटका लगते ही मनुष्य अपने उस सहज स्वभाव मे प्रतिष्ठित हो जाता है, जो मानवीय गुणों का मूर्त्तरूप है। इन लेखकों में सबसे शक्तिशाली और प्रमुख प्रेमचन्द थे। पहले वे उर्दू मे लिखते थे, बाद में हिन्दी में भी लिखने लगे। पहले तो उनकी कहानियाँ प्रकाशित हुई, बाद में उनके उपन्यास भी हिन्दी में प्रकाशित होने लगे। नवीन शिक्षा से शिक्षित मनुष्य जो खोज रहे थे वह उन्हें प्रेमचन्द मे प्राप्त हुआ। देखते-देखते प्रेमचन्द हिन्दी मे अत्यन्त लोकप्रिय लेखक बन गये। उनका प्रभाव इसका सबूत है कि वे वर्त्तमान काल के शिक्षित चित्त के अनुकूल सोच रहे थे। यद्यपि उनकी श्रेष्ठ रचनाएँ 1920 ई. के बाद लिखी गयी, फिर भी इसी स्थान पर प्रेमचन्द के महत्व की चर्चा कर लेना अप्रासंगिक नही होगा।

प्रेमचन्द : प्रेमचन्द का जन्म बनारस के पास ही एक गाँव (लमही) में एक निर्धन परिवार मे हुआ था। उन्होने आधुनिक शिक्षा पायी नही थी, बटोरकर संग्रह की थी। मैट्रिक पास करते-करते उनकी आर्थिक स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि अपना निर्वाह वे पुरानी पुस्तकें बेचकर भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने स्कूल में मास्टरी कर ली थी और स्कूलो के डिप्टी इंस्पेक्टर होने तक की अवस्था तक पहुँच चुके थे। महात्मा गांधी की पुकार पर उन्होने सरकारी नौकरी छोड़ दी और जीवन की अन्तिम घड़ियों तक कशमकश और संघर्ष का जीवन बिताया। वे दरिद्रता मे जनमे, दरिद्रता मे पले और दरिद्रता से ही जूझते-जूझते समाप्त हो गये। फिर भी वे अपने जीवनकाल मे समस्त उत्तरी भारत के सर्वश्रेष्ठ कथाकार बन गये थे।

उन्होंने अपने को सदा मजदूर समझा। बीमारी की हालत मे भी, मृत्यु के कुछ दिन पहले तक भी वे अपने कमजोर शरीर को लिखने के लिए मजबूर करते रहे। मना करने पर कहते, "मैं मजदूर हूँ, मजदूरी किये बिना मुझे भोजन करने का अधिकार नही।" उनके इस वाक्य में अभिमान का भाव भी था और अपने नाकद्रदान समाज के प्रति एक व्यंग्य भी। लेकिन असल में वे इसलिए नही लिखते थे कि उन्हें मजदूरी करना लाजिमी था, बल्कि इसलिए कि उनके दिमाग मे कहने लायक इतनी बातें आपस में धक्का-मुक्की करके निकलना चाहती थी कि वे उन्हें प्रकट किये बिना रह नही सकते थे। उनके हृदय में इतनी वेदनाएँ, इतने

विद्रोहभाव और इतनी चिनगारियाँ भरी थी कि वे उन्हें सम्हाल नही सकते थे। उनका हृदय अगर इन्हें प्रकट न कर देता तो वे शायद पहले ही बन्धन तोड़ देते। विनय की वे साक्षात् मूर्त्ति थे, परन्तु यह विनय उनके आत्माभिमान का कवच था। वे बड़े ही सरल थे, परन्तु दुनिया की धूर्त्तता और मक्कारी से अनभिज्ञ नहीं थे। उनके ग्रन्थ इस बात के प्रमाण है। ऊपर-ऊपर से देखने पर अर्थात् राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों के साथ तुलना करने पर, वे बहुत निर्धन थे, लोग उनकी इस निर्धनता पर तरस खाते थे, परन्तु वे स्वयं नीचे की ओर देखनेवाले थे। लाखों और करोड़ों की तादाद में फैले हुए भुक्खड़ों, दाने-दाने को और चिथड़े-चिथड़े को मुहताज लोगों की वे जबान थे। उन्हे भी देखते थे, इसलिए अपने को निर्धन समझकर हाय-हाय नही करते थे। इसको वे वरदान समझते थे। दुनिया की सारी जटिलताओं को समझ सकने के कारण ही वे निरीह थे, सरल थे। धार्मिक ढकोसलों को वे ढोंग समझते थे, पर मनुष्यता को वे सबसे बड़ी वस्तु मानते थे।

प्रेमचन्द का महत्त्व : प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित, अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज थे; पर्दे मे कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी-जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे; गरीबों और बेकसों के महत्त्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख, और सूझ-बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोंपड़ियों से लेकर महलों तक; खोमचेवालों से लेकर बैंकों तक, गाँव से लेकर धारासभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचन्द का हाथ पकड़कर मेड़ों पर गाते हुए किसान को, अन्तःपुर में मान किये बैठी प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वारवनिता को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगों को, कूट परामर्श में लीन गोयेन्दों को, ईर्ष्या-परायण प्रोफ़ेसरों को, दुर्बलहृदय बैंकरों को, साहसपरायण चमारिन को, ढोंगी पण्डितों को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं और निश्चिन्त होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो-कुछ आपने देखा वह गलत नही है। उससे अधिक सचाई से दिखा सकनेवाले परिदर्शक को अभी हिन्दी-उर्दू की दुनिया नही जानती। परन्तु सर्वत्र ही आप एक बात लक्ष्य करेंगे। जो संस्कृतियों और सम्पदाओं से लद नहीं गये हैं, जो अशिक्षित और निर्धन हैं, जो गँवार और जाहिल हैं, वे उन लोगों की अपेक्षा अधिक आत्मबल रखते हैं और अ[illegible] न्याय के प्रति सम्मान दिखाते हैं, जो शिक्षित हैं, जो सुसंस्कृत हैं, जो [illegible] चतुर हैं, जो दुनियादार हैं, [illegible]

कर सकें कि संसार की कोई भी शक्ति उनको नही दवा सकती तो वे निश्चय ही अजेय हो जायेंगे। बाहरी बन्धन उन्हें दो प्रकार के दिखायी दिये : भूतकाल की संचित स्मृतियों का जाल और भविष्य की चिन्ता से बचने के लिए संगृहीत धन-राशि। एक का नाम है संस्कृति और दूसरे का सम्पत्ति। एक का रथ-वाहक है धर्म और दूसरे का राजनीति। प्रेमचन्द इन दोनों को मनुष्यता का बाधक मानते हैं। एक जगह अपने मौजी पात्र (मेहता) से कहलाते है, "मैं भूत की चिन्ता नही करता, भविष्य की परवाह नही करता। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है। भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हममें जीवनी शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह क्षीण हो जाती है। हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर रूढ़ियों और विश्वासो तथा इतिहासों के मलबे के नीचे दबे पड़े हैं। उठने का नाम नहीं लेते। वह सामर्थ्य ही नही रही। जो शक्ति, जो स्फूर्ति, मानवधर्म को पूरा करने मे लगानी चाहिए थी, सहयोग मे, भाईचारे में, वह पुरानी अदावतों का बदला लेने और बाप-दादों का ऋण चुकाने में भेंट हो जाती है।"

प्रेम का स्वरूप : प्रेमचन्द के मत से प्रेम एक पावन वस्तु है। वह मानसिक गन्दगी को दूर करता है, मिथ्याचार को हटा देता है और नयी ज्योति से तामसिकता का ध्वंस करता है। यह बात उनकी किसी भी कहानी और किसी भी उपन्यास में देखी जा सकती है। यह प्रेम ही मनुष्य को सेवा और त्याग की ओर अग्रसर करता है। जहाँ सेवा और त्याग नही, वहाँ प्रेम भी नही, वहाँ वासना का प्राबल्य है। सच्चा प्रेम सेवा और त्याग मे ही अभिव्यक्ति पाता है। प्रेमचन्द का पात्र जब प्रेम करने लगता है तो सेवा की ओर अग्रसर होता है और अपना सर्वस्व परित्याग कर देता है।

इस काल के कहानी लिखनेवाले लेखकों में से कई लेखक बीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण में अत्यन्त लोकप्रिय और शक्तिशाली लेखकों के रूप में प्रकट हुए। इनमें प्रमुख हैं जयशंकर प्रसाद (जो संक्षेप मे 'प्रसाद' नाम से ही परिचित है) और वृन्दावनलाल वर्मा। प्रसादजी का यश विशेप रूप से काव्य और नाटक के क्षेत्र में फैला, किन्तु उन्होने कहानियाँ भी लिखी है और उपन्यास भी लिखे हैं। वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में यशस्वी हुए। भाषा का अनगढ़ सहज रूप, पात्रों के स्वय विकसित होने के वातावरण का सर्जन और अस्वाभाविक संवेदना को जाग्रत किये बिना ही मार्मिक रोमांस की योजना ने उनके उपन्यासों को बहुत लोकप्रिय बनाया। कुछ दूसरे कहानी-लेखक भी आगे चलकर अन्यान्य क्षेत्रों में यशस्वी हुए। पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी बहुत अच्छे निबन्धकार और भाषा-मर्मज्ञ के रूप में, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल प्रौढ़ निबन्धकार और समालोचक के रूप मे और बाबू मैथिलीशरण गुप्त सफल कवि के रूप में प्रसिद्ध हुए।

'प्रसाद' के नाटक : नाटकों का क्षेत्र इस काल में सूना ही रहा। पारसी

थिएट्रिकल कम्पनियों के भोंड़े और रस-विगर्हित नाटक उन दिनों जनता में बहुत अधिक प्रचलित थे। साहित्यिक रंगमंच के अभाव में साहित्यिक नाटकों का विशेष अभ्युदय नहीं हो सका। फिर भी इस काल में प्रसादजी की प्रतिभा का अंकुर उद्गत हो चुका था। आगे चलकर प्रसादजी चोटी के साहित्यकारों में गिने गये। उनका अध्ययन विशाल था। संस्कृत के शास्त्रों को पढ़ने का भी उन्हें अवसर मिला था और अंग्रेजी और बँगला के माध्यम से नवीन चेतना को समझने का भी सुयोग उन्हें प्राप्त हुआ था। प्रसादजी के पूर्व कम लोगों का ध्यान भारतवर्ष के मुस्लिमपूर्व इतिहास की ओर गया था। प्रसादजी ने परिश्रमपूर्वक अपने प्राचीन इतिहास का मन्थन किया। उनके नाटकों और काव्यों में इस गम्भीर अध्ययन का परिचय मिलता है। उन दिनों आर्य-समाज के आन्दोलन के प्रभावस्वरूप यह विश्वास जनता में व्याप्त था कि जो कुछ अच्छा है, या हो सकता है, वह सब प्राचीन भारत में था। कितने की प्राचीन गाथा गानेवाले लेखक इस विश्वास से चालित होकर साहित्य लिखने लगे थे। परन्तु प्रसादजी के नाटकों में यह विश्वास थोड़ी मात्रा में ही मिलता है। वे प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यावली का सहारा लेते अवश्य थे, पर उनकी विनियोजना इस प्रकार करते थे कि उससे वर्तमान काल की समस्याओं का कुछ हल सूझ जाय और भावी मानवीय संस्कृति का भी कुछ प्रकाश मिल जाय। उनके ऐतिहासिक नाटक पीछे लौटने की सलाह लेकर नहीं आये, आगे बढ़ने की प्रेरणा लेकर आये थे। यद्यपि प्राचीनता का वातावरण उत्पन्न करने के लिए वे केवल अभिप्रायों का उपयोग न करके कुछ आगे बढ़कर संस्कृत-बहुला अपरिचित-सी लगनेवाली भाषा का उपयोग करते थे और कभी-कभी अपने तत्त्ववाद के स्पष्टीकरण के फेर में पड़कर नाटक की अभिनेयता की बात एकदम भूल जाते थे, तथापि उनके नाटक महत्त्वपूर्ण हैं; क्योंकि भावी संस्कृति के निर्माण में उनका बहुत महत्त्वपूर्ण हाथ है। कविता का वातावरण, मानवता के प्रति अटूट विश्वास, गीतिकाव्यात्मक पात्रों की योजना और उदात्त भावनाओं के आवरण में मोहक रोमांस की प्रस्तावना उनके नाटकों के आकर्षक तत्त्व हैं।

निबन्ध और समालोचना : निबन्ध और समालोचना के क्षेत्र में भी इस काल में कुछ ऐसे कृती लेखकों का आविर्भाव हुआ जो आगे चलकर बहुत शक्तिशाली सिद्ध हुए। पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी के स्पष्टवादिता से भरे हुए और नयी प्रेरणा देनेवाले निबन्ध यद्यपि बहुत गम्भीर नहीं कहे जा सकते, परन्तु उन्होंने गम्भीर साहित्य के निर्माण में बहुत सहायता पहुँचायी। इसी प्रकार मिश्रबन्धुओं की समालोचना-पद्धति यद्यपि बहुत निर्दोष नहीं थी, परन्तु साहित्य के इतिहास-निर्माण में उनके परिश्रम से बहुत सहायता मिली। आगे चलकर जो कुछ भी इस दिशा में कार्य हुआ उसके प्रथम मार्गदर्शक और पुरस्कर्ता मिश्रबन्धु ही थे। पण्डित पद्मसिंह शर्मा की चटुल-चपल शैली में लिखी हुई बिहारी को श्रेष्ठ कवि सिद्ध करनेवाली समालोचना ने साहित्य को एक बार झकझोर दिया। दीर्घकाल तक

उनकी अननुकरणीय शैली का गलत अनुकरण किया जाता रहा। इसी काल मे पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की प्रतिभा का अंकुर दिखाई दिया, जो आगे चलकर गम्भीर विचारक और मनीषी समालोचक के रूप में प्रख्यात हुए। शुक्लजी के गम्भीर चिन्तन-प्रधान निबन्धों ने साहित्य को बहुमूल्य निधि दी। स्वच्छ और सरस शैली के विनोदी लेखक बालमुकुन्द गुप्त, स्फूर्तिदायक गम्भीर विवेचन के लेखों से पाठक को प्रेरणा देनेवाले पूर्णसिंह और सरस भाषा में ज्ञान की अनुसन्धित्सा जगा देनेवाले चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इसी काल में दिखाई दिये थे। बाबू श्यामसुन्दरदास ने भी आगे चलकर अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखकर हिन्दी को प्रौढ़ साहित्य की भाषा बनाया। इस प्रकार इस काल में ऐसे अनेक कृती साहित्यकारों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने भाषा को समर्थ और साहित्य को समृद्ध बनाया।

नवीन युग ले आनेवाला काल : सन् 1900 ई. से 1920 ई. तक का काल हिन्दी कविता में नवीन युग ले आनेवाला काल है। इस समय काव्य की भाषा ब्रजभाषा से बदलकर खड़ी बोली हो गयी। यद्यपि इस काल मे भी कुछ शक्ति-सम्पन्न कवि ब्रजभाषा को अपनाये रहे, परन्तु धीरे-धीरे ब्रजभाषा पीछे पड़ गयी और खड़ी बोली आगे निकल गयी। कवियों ने ब्रजभाषा में कविता लिखना शुरू किया था, बाद में समय का रंग देखकर उसे छोड़ दिया। उनमें से कई आगे चलकर खड़ी बोली के शक्ति-शाली कवि सिद्ध हुए। श्रीधर पाठक पहले ब्रजभाषा मे कविता लिखते थे, बाद मे खड़ी बोली में लिखने लगे। अयोध्यासिंह उपाध्याय और प्रसाद भी पहले ब्रजभाषा में रचना करते थे। परन्तु इन दोनो कवियों को यश खडी बोली की कविता से मिला। नाथूराम शर्मा खडी बोली मे भी ब्रजभाषा का छन्दःप्रवाह सुरक्षित रख सके हैं। पं. रामचन्द्र शुक्ल को भी रास्ता बदलना पड़ा। उनका 'बुद्ध चरित' ब्रजभाषा में लिखा काव्य है। बाद मे उन्होंने खडी बोली मे भी कविताएँ लिखीं, पर उनसे उन्हें यश कम ही मिल सका। परन्तु कई कवि ब्रजभाषा से हटे नही। सत्यनारायण, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आदि कवियों ने ब्रजभाषा की भक्ति नही छोडी और अन्त तक इस भाषा को अपनाये रहे। इनमे सत्यनारायण की कविता में एक सरल और अस्पष्ट स्वच्छन्दतावादी भावधारा का आभास मिलता है, किन्तु रत्नाकरजी की रचनाओं में ब्रजभाषा के सजग कवियों की भाँति भाषा का अलंकरण और भावों का समजस-विधान पाया जाता है। यद्यपि ये दोनों कवि भाषा में कोई परिवर्तन न कर सके, पर भावों मे आधुनिकता की छाप उन पर पड़ी अवश्य।

'हरिऔध' : खड़ी बोली के जिन कवियों ने आधुनिक सहृदयों को इस काल में मुग्ध किया, उनमें सबसे अधिक उल्लेख योग्य हैं अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (1865-1941) और मैथिलीशरण गुप्त (1886-1964)। प्रसादजी ने कुछ और आगे चलकर यश प्राप्त किया, इसीलिए यहाँ उनकी चर्चा नही की जा रही है। इनमें हरिऔधजी का 'प्रिय-प्रवास' खड़ी बोली में और संस्कृत वृत्तों में संस्कृत महाकाव्यों की शैली पर लिखा हुआ महाकाव्य है। यद्यपि इसका बाह्य

आवरण संस्कृत के पुराने महाकाव्यों के ढंग का है, पर इसका आन्तरिक वक्तव्य-वस्तु काफी नवीन है। अत्यन्त परिचित विषय को कवि ने आधुनिक रूप दिया है। राधा यहाँ अत्यन्त सेवापरायणा महिला के रूप में चित्रित हुई है। प्रच्छन्न रूप से कवि के अन्तस्तल में मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाने का आदर्श कार्य कर रहा है। इसके चरित्रों में स्वाभाविक रूप से विकसित होने की क्षमता है और सुकुमार स्थलों को निपुणता के साथ सम्हालने में कवि के अपूर्व कौशल का परिचय मिलता है। यद्यपि हरिऔधजी ने आगे चलकर मुहावरों का प्रयोग दिखाने के उद्देश्य से चौपदे भी लिखे, परन्तु उनका यश प्रधान रूप से 'प्रिय-प्रवास' के कारण ही है। भाषा पर उनका बहुत अच्छा अधिकार था। खड़ी बोली को जिन लोगों ने काव्य-भाषा बनने की शक्ति दी है, उनमें हरिऔधजी विशेष सम्मान और गौरव के पात्र हैं। 'प्रिय-प्रवास' में सहज संगीत, उदार सेवावृत्ति और सामंजस्य-भावयोजना का बड़ा सुन्दर समावेश है। खड़ी बोली का यह एक प्रकार से प्रथम महाकाव्य था।

मैथिलीशरण गुप्त : किन्तु इस काल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि मैथिलीशरण गुप्त थे। इन्होंने काव्य में खड़ी बोली का बड़ा सफल प्रयोग किया। खड़ी बोली की प्रकृति को वे शुरू में ही पहचान गये थे। कुछ-न-कुछ संस्कृत के वर्णवृत्तों में भी वे कविता अवश्य लिखते रहते थे, परन्तु उनके सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य 'भारत-भारती' और 'जयद्रथवध' हरिगीतिका छन्दों में लिखे गये थे। इस छन्द पर उन्होंने अपनी छाप लगा दी। 'भारत-भारती' में प्राचीन भारतीय गौरव के प्रति कवि की आस्था व्यक्त हुई है। उसमें आर्य-समाज के तत्कालीन आन्दोलन का प्रभाव है। फिर भी कवि ने भविष्य के लिए आशा का सन्देश दिया है। 'भारत-भारती' ने तत्कालीन शिक्षित जन-चित्त की आशा-आकांक्षा को बुभुक्षित रहने से बचाया। इसने किसी बड़े आदर्श को प्रतिष्ठित तो नहीं किया, लेकिन जन-चित्त को उसके प्राचीन गौरव की कहानी सुनाकर सजग और साकांक्ष बनाया। 'भारत-भारती' ने उन दिनों विदेशी शासन से मुक्ति पाने की अपूर्व प्रेरणा दी। समूचे हिन्दी-भाषी प्रदेश को उद्बुद्ध और प्रेरित करने में इस पुस्तक ने प्रशंसनीय शक्ति का परिचय दिया। तब से गुप्तजी को लोक-चित्त में राष्ट्र-प्रीति की भावना जगानेवाले सबसे शक्तिशाली कवि के रूप में हिन्दी-जगत् देखता आया है। वे सच्चे अर्थों में राष्ट्र-कवि हैं। 'भारत-भारती' सही अर्थों में 'भारत-भारती' हो सकी है। परन्तु गुप्तजी का कवित्व 'जयद्रथवध', 'पंचवटी' आदि काव्यों में अधिक व्यक्त हुआ। बाद में उनका यश उन के 'साकेत' नामक महाकाव्य और 'यशोधरा' और 'द्वापर' नामक गीतिकाव्यात्मक प्रबन्ध-काव्यों में अधिक निखरा। इन सब ग्रन्थों में गुप्तजी मर्यादाप्रेमी भारतीय कवि के रूप में ही आये हैं। उनके ग्रन्थों के सुपात्र पारिवारिक व्यक्ति हैं। भारतवर्ष के सभी मर्यादा-प्रेमी कवि परिवार के कवि रहे हैं। गुप्तजी में वह परम्परा पूरी मात्रा में उतरी है। उनके चित्त में परिवार-विच्छिन्न प्रेम की ऐकान्तिक संवेदना जाग्रत करनेवाले भावावेग का बहुत अधिक मूल्य नहीं है। इसीलिए वे आधुनिक काल के अत्यधिक लोकप्रिय गीतिकाव्यों की

शैली को प्रयत्न करके भी नहीं अपना सके। मानवतावादी दृष्टि उनमें भी है। यही कारण है कि वे तुलसीदास की जाति के होकर भी उसी श्रेणी का भक्ति-काव्य नहीं लिख सके। उनकी दृष्टि परलोक में नहीं, इस लोक में निबद्ध है। फिर स्वभाव से ही उनको साधकावस्था के चित्रण में रस मिलता है। उनके सभी श्रेष्ठ पात्र—उर्मिला, यशोधरा, राधिका, लक्ष्मण—साधक हैं। तुलसीदासजी सिद्धावस्था के प्रेमी थे। सब मिलाकर मैथिलीशरण गुप्त ने सम्पूर्ण भारतीय पारिवारिक वातावरण में उदात्त चरित्रों का निर्माण किया है। उनके काव्य शुरू से अन्त तक प्रेरणा देनेवाले काव्य हैं। उनमें 'व्यक्तित्व का स्वत: समुच्छित उच्छ्वास' नहीं है, पारिवारिक व्यक्तित्व का और संयत जीवन का विलास है। मैथिलीशरण गुप्त ने लगभग आधी शताब्दी तक हिन्दी-भाषी जनता को निरन्तर प्रेरणा दी। महाभारत की कथा पर आधारित उनका अन्तिम काव्य भी शक्ति और स्फूर्ति देनेवाला काव्य है। गुप्तजी ने एक विशाल साहित्य का निर्माण किया और लगभग आधी शताब्दी तक हिन्दी पाठक के चित्त को रससिक्त बनाकर प्रेरणा दी।

अन्य कवि : सन् 1900 ई. से 1920 ई. तक के काल में कई अन्य कवियों ने प्रकृति-प्रेम, स्वच्छन्द प्रेमधारा और वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के वातावरण तैयार करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। श्रीधर पाठक (1859-1928 ई.) के काव्यों ने प्रकृति-प्रेम और स्वच्छन्द प्रेमधारा को पोषण दिया और रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन', 'पथिक' आदि काव्यों में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का अस्फुट विकास हुआ। श्री सियारामशरण गुप्त की चिन्तनशील कविताओं में वैयक्तिकतावादी दृष्टिकोण के स्पष्ट आकार धारण करने की कहानी है और मुकुटधर पाण्डेय तथा गोपालशरणसिंह की रचनाओं में वैयक्तिक दृष्टिकोण के प्रेममधुर रूप का विकास हुआ। कविवर माखनलाल चतुर्वेदी की नवीन राष्ट्रीय भावना को महनीय गौरव और पूजा की महिमा देनेवाली कविताओं से भी भाव वैयक्तिकतावादी कवियों का मार्ग प्रशस्त हुआ। आजकल लोग इन कविताओं का महत्त्व भूल गये हैं। इन्हें इतिवृत्तात्मक कहकर छोड़ दिया जाता है, परन्तु सत्य यह है कि इन्हीं और इन्हीं जैसे और अनेक कवियों ने उस महान् वैयक्तिकता-प्रधान काव्य की भूमि तैयार की जिसे छायावाद कहा जाता है और जो आज हिन्दी कविता का गौरव स्वीकार किया जाने लगा है।

यह सही है कि इन कवियों में वह विषयि-प्रधान दृष्टि स्पष्ट नहीं हो पायी जो परवर्ती काल की 'छायावादी' कही जानेवाली कविताओं की प्राणशक्ति है। परन्तु यह भी सही है कि इसी काल के कवियों ने आधुनिक साहित्य का मन्थन शुरू किया, भाषा को बँधी-सधी बोलियों की लीक से हटाया, उसमें नवीन भावों के प्रकाशन की क्षमता दी और नवीन भावों का अस्पष्ट, किन्तु निश्चित रूप पाठक के सामने प्रस्तुत किया। वे कवि प्राचीन परम्परा के जानकार थे। कभी-कभी अनजान में वे रूढ़ियों का पालन करते थे और कभी संस्कार उन्हें रूढ़िमुक्त होने में

आवरण संस्कृत के पुराने महाकाव्यों के ढंग का है, पर इसका आन्तरिक वक्तव्य-वस्तु काफी नवीन है। अत्यन्त परिचित विषय को कवि ने आधुनिक रूप दिया है। राधा यहाँ अत्यन्त सेवापरायणा महिला के रूप में चित्रित हुई हैं। प्रच्छन्न रूप से कवि के अन्तस्तल में मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाने का आदर्श कार्य कर रहा है। इसके चरित्रों में स्वाभाविक रूप से विकसित होने की क्षमता है और सुकुमार स्थलों को निपुणता के साथ सम्हालने में कवि के अपूर्व कौशल का परिचय मिलता है। यद्यपि हरिऔधजी ने आगे चलकर मुहावरों का प्रयोग दिखाने के उद्देश्य से चौपदे भी लिखे, परन्तु उनका यश प्रधान रूप से 'प्रिय-प्रवास' के कारण ही है। भाषा पर उनका बहुत अच्छा अधिकार था। खड़ी बोली को जिन लोगों ने काव्य-भाषा बनने की शक्ति दी है, उनमें हरिऔधजी विशेष सम्मान और गौरव के पात्र हैं। 'प्रिय-प्रवास' में सहज संगीत, उदार सेवावृत्ति और समंजस-भावयोजना का बड़ा सुन्दर समावेश है। खड़ी बोली का यह एक प्रकार से प्रथम महाकाव्य था।

मैथिलीशरण गुप्त : किन्तु इस काल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि मैथिलीशरण गुप्त थे। इन्होंने काव्य में खड़ी बोली का बड़ा सफल प्रयोग किया। खड़ी बोली की प्रकृति को वे शुरू में ही पहचान गये थे। कुछ-न-कुछ संस्कृत के वर्णवृत्तों में भी वे कविता अवश्य लिखते रहते थे, परन्तु उनके सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य 'भारत-भारती' और 'जयद्रथवध' हरिगीतिका छन्दों में लिखे गये थे। इस छन्द पर उन्होंने अपनी छाप लगा दी। 'भारत-भारती' में प्राचीन भारतीय गौरव के प्रति कवि की आस्था व्यक्त हुई है। उसमें आर्य-समाज के तत्कालीन आन्दोलन का प्रभाव है। फिर भी कवि ने भविष्य के लिए आशा का सन्देश दिया है। 'भारत-भारती' ने तत्कालीन शिक्षित जन-चित्त की आशा-आकांक्षा को बुभुक्षित रहने से बचाया। इसने किसी बड़े आदर्श को प्रतिष्ठित तो नहीं किया, लेकिन जन-चित्त को उसके प्राचीन गौरव की कहानी सुनाकर सजग और साकांक्ष बनाया। 'भारत-भारती' ने उन दिनों विदेशी शासन से मुक्ति पाने की अपूर्व प्रेरणा दी। समूचे हिन्दी-भाषी प्रदेश को उद्बुद्ध और प्रेरित करने में इस पुस्तक ने प्रशंसनीय शक्ति का परिचय दिया। तब से गुप्तजी को लोक-चित्त में राष्ट्र-प्रीति की भावना जगानेवाले सबसे शक्तिशाली कवि के रूप में हिन्दी-जगत् देखता आया है। वे सच्चे अर्थों में राष्ट्र-कवि हैं। 'भारत-भारती' सही अर्थों में 'भारत-भारती' हो सकी है। परन्तु गुप्तजी का कवित्व 'जयद्रथवध', 'पंचवटी' आदि काव्यों में अधिक व्यक्त हुआ। बाद में उनका यश उन के 'साकेत' नामक महाकाव्य और 'यशोधरा' और 'द्वापर' नामक गीतिकाव्यात्मक प्रबन्ध-काव्यों में अधिक निखरा। इन सब ग्रन्थों में गुप्तजी मर्यादाप्रेमी भारतीय कवि के रूप में ही आये हैं। उनके ग्रन्थों के सुपात्र पारिवारिक व्यक्ति हैं। भारतवर्ष के सभी मर्यादा-प्रेमी कवि परिवार के कवि रहे हैं। गुप्तजी में वह परम्परा पूरी मात्रा में उतरी है। उनके चित्त में परिवार-विच्छिन्न प्रेम की ऐकान्तिक संवेदना जाग्रत करनेवाले भावावेग का बहुत अधिक मूल्य नहीं है। इसीलिए वे आधुनिक काल के अत्यधिक लोकप्रिय गीतिकाव्यों की

शैली को प्रयत्न करके भी नहीं अपना सके। मानवतावादी दृष्टि उनमें भी है। यही कारण है कि वे तुलसीदास की जाति के होकर भी उसी श्रेणी का भक्ति-काव्य नहीं लिख सके। उनकी दृष्टि परलोक में नहीं, इस लोक में निबद्ध है। फिर स्वभाव से ही उनको साधकावस्था के चित्रण में रस मिलता है। उनके सभी श्रेष्ठ पात्र—उर्मिला, यशोधरा, राधिका, लक्ष्मण—साधक हैं। तुलसीदासजी सिद्धावस्था के प्रेमी थे। सब मिलाकर मैथिलीशरण गुप्त ने सम्पूर्ण भारतीय पारिवारिक वातावरण में उदात्त चरित्रों का निर्माण किया है। उनके काव्य शुरू से अन्त तक प्रेरणा देनेवाले काव्य हैं। उनमें 'व्यक्तित्व का स्वतः समुच्छित उच्छवास' नहीं है, पारिवारिक व्यक्तित्व का और संयत जीवन का विलास है। मैथिलीशरण गुप्त ने लगभग आधी शताब्दी तक हिन्दी-भाषी जनता को निरन्तर प्रेरणा दी। महाभारत की कथा पर आधारित उनका अन्तिम काव्य भी शक्ति और स्फूर्ति देनेवाला काव्य है। गुप्तजी ने एक विशाल साहित्य का निर्माण किया और लगभग आधी शताब्दी तक हिन्दी पाठक के चित्त को रससिक्त बनाकर प्रेरणा दी।

अन्य कवि : सन् 1900 ई. से 1920 ई. तक के काल में कई अन्य कवियों ने प्रकृति-प्रेम, स्वच्छन्द प्रेमधारा और वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के वातावरण तैयार करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। श्रीधर पाठक (1859-1928 ई.) के काव्यों ने प्रकृति-प्रेम और स्वच्छन्द प्रेमधारा को पोषण दिया और रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन', 'पथिक' आदि काव्यों में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का अस्फुट विकास हुआ। श्री सियारामशरण गुप्त की चिन्तनशील कविताओं में वैयक्तिकतावादी दृष्टिकोण के स्पष्ट आकार धारण करने की कहानी है और मुकुटधर पाण्डेय तथा गोपालशरणसिंह की रचनाओं में वैयक्तिक दृष्टिकोण के प्रेममधुर रूप का विकास हुआ। कविवर माखनलाल चतुर्वेदी की नवीन राष्ट्रीय भावना को महनीय गौरव और पूजा की महिमा देनेवाली कविताओं से भी भाव वैयक्तिकतावादी कवियों का मार्ग प्रशस्त हुआ। आजकल लोग इन कविताओं का महत्त्व भूल गये हैं। इन्हें इतिवृत्तात्मक कहकर छोड़ दिया जाता है, परन्तु सत्य यह है कि इन्हीं और इन्हीं जैसे और अनेक कवियों ने उस महान् वैयक्तिकता-प्रधान काव्य की भूमि तैयार की जिसे छायावाद कहा जाता है और जो आज हिन्दी कविता का गौरव स्वीकार किया जाने लगा है।

यह सही है कि इन कवियों में वह विषयि-प्रधान दृष्टि स्पष्ट नहीं हो पायी जो परवर्त्ती काल की 'छायावादी' कही जानेवाली कविताओं की प्राणशक्ति है। परन्तु यह भी सही है कि इसी काल के कवियों ने आधुनिक साहित्य का मन्थन शुरू किया, भाषा को बँधी-सधी बोलियों की लीक से हटाया, उसमें नवीन भावों के प्रकाशन की क्षमता दी और नवीन भावों का अस्पष्ट, किन्तु निश्चित रूप पाठक के सामने प्रस्तुत किया। वे कवि प्राचीन परम्परा के जानकार थे। कभी-कभी अनजान में वे रूढ़ियों का पालन करते थे और कभी संस्कार उन्हें रूढ़िमुक्त होने में

आवरण संस्कृत के पुराने महाकाव्यों के ढग का है, पर इसका आन्तरिक वक्तव्य-वस्तु काफी नवीन है। अत्यन्त परिचित विषय को कवि ने आधुनिक रूप दिया है। राधा यहां अत्यन्त सेवापरायणा महिला के रूप में चित्रित हुई हैं। प्रच्छन्न रूप से कवि के अन्तस्तल मे मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाने का आदर्श कार्य कर रहा है। इसके चरित्रों में स्वाभाविक रूप से विकसित होने की क्षमता है और सुकुमार स्थलों को निपुणता के साथ सम्हालने में कवि के अपूर्व कौशल का परिचय मिलता है। यद्यपि हरिऔधजी ने आगे चलकर मुहावरों का प्रयोग दिखाने के उद्देश्य से चौपदे भी लिखे, परन्तु उनका यश प्रधान रूप से 'प्रिय-प्रवास' के कारण ही है। भाषा पर उनका बहुत अच्छा अधिकार था। खड़ी बोली को जिन लोगों ने काव्य-भाषा बनने की शक्ति दी है, उनमे हरिऔधजी विशेष सम्मान और गौरव के पात्र है। 'प्रिय-प्रवास' मे सहज संगीत, उदार सेवावृत्ति और समंजस-भावयोजना का बड़ा सुन्दर समावेश है। खड़ी बोली का यह एक प्रकार से प्रथम महाकाव्य था।

मैथिलीशरण गुप्त : किन्तु इस काल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि मैथिलीशरण गुप्त थे। इन्होंने काव्य मे खड़ी बोली का बड़ा सफल प्रयोग किया। खड़ी बोली की प्रकृति को वे शुरू में ही पहचान गये थे। कुछ-न-कुछ संस्कृत के वर्णवृत्तों में भी वे कविता अवश्य लिखते रहते थे, परन्तु उनके सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य 'भारत-भारती' और 'जयद्रथवध' हरिगीतिका छन्दो में लिखे गये थे। इस छन्द पर उन्होंने अपनी छाप लगा दी। 'भारत-भारती' मे प्राचीन भारतीय गौरव के प्रति कवि की आस्था व्यक्त हुई है। उसमें आर्य-समाज के तत्कालीन आन्दोलन का प्रभाव है। फिर भी कवि ने भविष्य के लिए आशा का सन्देश दिया है। 'भारत-भारती' ने तत्कालीन शिक्षित जन-चित्त की आशा-आकाक्षा को बुभुक्षित रहने से बचाया। इसने किसी बडे आदर्श को प्रतिष्ठित तो नही किया, लेकिन जन-चित्त को उसके प्राचीन गौरव की कहानी सुनाकर सजग और साकांक्ष बनाया। 'भारत-भारती' ने उन दिनों विदेशी शासन से मुक्ति पाने की अपूर्व प्रेरणा दी। समूचे हिन्दी-भाषी प्रदेश को उद्‌बुद्ध और प्रेरित करने मे इस पुस्तक ने प्रशंसनीय शक्ति का परिचय दिया। तब से गुप्तजी को लोक-चित्त मे राष्ट्र-प्रीति की भावना जगानेवाले सबसे शक्तिशाली कवि के रूप मे हिन्दी-जगत् देखता आया है। वे सच्चे अर्थों मे राष्ट्र-कवि हैं। 'भारत-भारती' सही अर्थों में 'भारत-भारती' हो सकी है। परन्तु गुप्तजी का कवित्व 'जयद्रथवध', 'पचवटी' आदि काव्यों मे अधिक व्यक्त हुआ। बाद में उनका यश उन के 'साकेत' नामक महाकाव्य और 'यशोधरा' और 'द्वापर' नामक गीतिकाव्यात्मक प्रबन्ध-काव्यों मे अधिक निखरा। इन सब ग्रन्थों में गुप्तजी मर्यादाप्रेमी भारतीय कवि के रूप मे ही आये हैं। उनके ग्रन्थों के सुपात्र पारिवारिक व्यक्ति हैं। भारतवर्ष के सभी मर्यादा-प्रेमी कवि परिवार के कवि रहे हैं। गुप्तजी मे वह परम्परा पूरी मात्रा मे उतरी है। उनके चित्त में परिवार-विच्छिन्न प्रेम की ऐकान्तिक सवेदना जाग्रत करनेवाले भावावेग का बहुत अधिक ... नहीं है। इसीलिए वे आधुनिक काल के अत्यधिक लोकप्रिय गीतिकाव्यों की

शैली को प्रयत्न करके भी नहीं अपना सके। मानवतावादी दृष्टि उनमें भी है। यही कारण है कि वे तुलसीदास की जाति के होकर भी उसी श्रेणी का भक्ति-काव्य नहीं लिख सके। उनकी दृष्टि परलोक में नहीं, इस लोक में निबद्ध है। फिर स्वभाव से ही उनको साधकावस्था के चित्रण में रस मिलता है। उनके सभी श्रेष्ठ पात्र—उर्मिला, यशोधरा, राधिका, लक्ष्मण—साधक हैं। तुलसीदासजी सिद्धावस्था के प्रेमी थे। सब मिलाकर मैथिलीशरण गुप्त ने सम्पूर्ण भारतीय पारिवारिक वातावरण में उदात्त चरित्रों का निर्माण किया है। उनके काव्य शुरू से अन्त तक प्रेरणा देनेवाले काव्य हैं। उनमें 'व्यक्तित्व का स्वत समुच्छित उच्छवास' नहीं है, पारिवारिक व्यक्तित्व का और संयत जीवन का विलास है। मैथिलीशरण गुप्त ने लगभग आधी शताब्दी तक हिन्दी-भाषी जनता को निरन्तर प्रेरणा दी। महाभारत की कथा पर आधारित उनका अन्तिम काव्य भी शक्ति और स्फूर्ति देनेवाला काव्य है। गुप्तजी ने एक विशाल साहित्य का निर्माण किया और लगभग आधी शताब्दी तक हिन्दी पाठक के चित्त को रससिक्त बनाकर प्रेरणा दी।

अन्य कवि : सन् 1900 ई. से 1920 ई. तक के काल में कई अन्य कवियों ने प्रकृति-प्रेम, स्वच्छन्द प्रेमधारा और वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के वातावरण तैयार करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। श्रीधर पाठक (1859-1928 ई.) के काव्यों ने प्रकृति-प्रेम और स्वच्छन्द प्रेमधारा को पोषण दिया और रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन', 'पथिक' आदि काव्यों में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का अस्फुट विकास हुआ। श्री सियारामशरण गुप्त की चिन्तनशील कविताओं में वैयक्तिकतावादी दृष्टिकोण के स्पष्ट आकार धारण करने की कहानी है और मुकुटधर पाण्डेय तथा गोपालशरणसिंह की रचनाओं में वैयक्तिक दृष्टिकोण के प्रेममधुर रूप का विकास हुआ। कविवर माखनलाल चतुर्वेदी की नवीन राष्ट्रीय भावना को महनीय गौरव और पूजा की महिमा देनेवाली कविताओं से भी भाव वैयक्तिकतावादी कवियों का मार्ग प्रशस्त हुआ। आजकल लोग इन कविताओं का महत्त्व भूल गये हैं। इन्हें इतिवृत्तात्मक कहकर छोड़ दिया जाता है, परन्तु सत्य यह है कि इन्हीं और इन्हीं जैसे और अनेक कवियों ने उस महान् वैयक्तिकता-प्रधान काव्य की भूमि तैयार की जिसे छायावाद कहा जाता है और जो आज हिन्दी कविता का गौरव स्वीकार किया जाने लगा है।

यह सही है कि इन कवियों में वह विषयि-प्रधान दृष्टि स्पष्ट नहीं हो पायी जो परवर्ती काल की 'छायावादी' कही जानेवाली कविताओं की प्राणशक्ति है। परन्तु यह भी सही है कि इसी काल के कवियों ने आधुनिक साहित्य का मन्थन शुरू किया, भाषा को बँधी-सधी बोलियों की लीक से हटाया, उसमें नवीन भावों के प्रकाशन की क्षमता दी और नवीन भावों का अस्पष्ट, किन्तु निश्चित रूप पाठक के सामने प्रस्तुत किया। वे कवि प्राचीन परम्परा के जानकार थे। कभी-कभी अनजान में वे रूढ़ियों का पालन करते थे और कभी संस्कार उन्हें रूढ़िमुक्त होने में

बाधा पहुँचाते थे। परवर्ती काल के छायावादी कवियों में रूढ़ि के प्रति विद्रोह केवल चित्तगत वैपुल्य के कारण ही नहीं आया, अज्ञान और उपेक्षा के कारण भी आया। वे सही अर्थों में स्वच्छन्दतावादी कवि नहीं बन सके, क्योंकि विषय के प्रति मोह उनमें बना हुआ था।

इस काल के कतिपय प्रमुख लेखकों और कवियों की मुख्य कृतियों के नाम इस प्रकार हैं :

महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' (1907), 'कविता-कलाप' (1907), 'नाट्यशास्त्र' (1902), 'कालिदास की निरंकुशता' (1912), 'वेणीसंहार का भावार्थ' (1913), 'शिक्षा' (1916), 'प्राचीन पण्डित और कवि' (1918), 'कविता-विलास' (1919), 'रसज्ञ रंजन' (1920), 'औद्योगिकी' (1922), 'कालिदास और उनकी कविता' (1923), 'सुमन' (1923), 'अतीत स्मृति' (1924), 'सुकवि संकीर्तन' (1924), 'आख्यायिका सप्तक' (1927), 'अद्भुत आलाप' (1924), 'साहित्य सन्दर्भ' (1928), 'लेखांजलि' (1928), 'दृश्य दर्शन' (1936), 'कोविद कीर्तन' (1928), 'आध्यात्मिकी' (1928), 'समालोचना समुच्चय' (1930), 'पुरातत्त्व प्रसंग' (1930), 'चरितचर्या' (1930), 'साहित्य सीकर' (1930), 'विचार-विमर्श' (1931), 'आलोचनाञ्जलि' (1932), 'पुरावृत्त' (1933), इत्यादि।

मिश्रबन्धु : 'लवकुश चरित्र', 'रूस का इतिहास' (1907), 'हिन्दी नवरत्न' (1911), 'मिश्रबन्धु विनोद' (1914), उसी का चौथा भाग (1935), 'नेत्रोन्मीलन' (1915), 'पुष्पांजलि' (1916), 'भारत विनय' (1916), 'पूर्व भारत' (1916), 'वीरमणि' (उप., 1917), 'आत्म-शिक्षण' (1917), 'भारतवर्ष का इतिहास' (1919), 'सुमनांजलि पुष्पांजलि, (1927), 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' (1938), 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (1939), इत्यादि।

श्यामसुन्दरदास : 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' (1-3 भाग, 1909-14), 'साहित्यालोचन' (1923), 'हिन्दी भाषा का विकास' (1924), 'भाषा विज्ञान' (1924), 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (1930), 'गोस्वामी तुलसीदास' (बड़थ्वाल के सहयोग से लिखित, 1918), 'भाषा रहस्य' (पद्मनारायण आचार्य के सहयोग से लिखित), 'हिन्दी के निर्माता' (1941), 'तुलसीदास' (1941), 'मेरी आत्म-कथा' (1942), इत्यादि।

रामचन्द्र शुक्ल : 'राधाकृष्णदास का जीवन चरित' (1913), 'आदर्श-जीवन' (1914), 'बुद्ध चरित, (1922), 'काव्य में रहस्यवाद' (1929), 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (1930), 'विचार वीथी' (1930), 'गोस्वामी तुलसीदास' (1933), 'त्रिवेणी' (1936), 'चिन्तामणि' (1935), 'रस मीमांसा', इत्यादि।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' : 'गल्प-मन्दिर' (क., 1919), 'चित्रशाला' (क., 1924), 'मणिमाला' (क., 1929), 'माँ' (उप., 1929), 'भिखारिणी' (क., 1929), 'कल्लोल' (उप., 1929), 'पेरिस की नर्तकी' (क., 1942),

'आद्रा' (का., 1928), 'विषाद' (का., 1929), 'दूर्वादल' (का., 1929), 'गोद' (उप., 1933), 'आत्मोत्सर्ग' (का., 1933), 'मानुषी' (का., 1933), 'पुण्य पर्व' (ना., 1933), 'पाथेय' (का., 1934), 'अन्तिम आकांक्षा' (उप., 1934), 'मृण्मयी' (का., 1936), 'बापू' (का., 2938), 'नारी' (उप., 1938), 'झूठ सच' (नि., 1939), 'उन्मुक्त' (का., 1941), 'निष्क्रय प्रतिरोध', 'कृष्णा कुमारी', इत्यादि।

माखनलाल चतुर्वेदी : कृष्णार्जुन युद्ध' (ना., 1918), 'हिम किरीटिनी' (का., 1941), 'शिशुपाल वध' (का., 1941-42), 'साहित्य देवता' (ग. का.)।

प्रेमचन्द : 'बड़े घर की बेटी,' 'लाल फीता', 'नमक का दरोगा'(क., 1921), 'प्रेमाश्रम' (उप. 1922), 'सग्राम' (ना, 1923), 'प्रेम पचीसी' (क., 1923), 'प्रेम प्रसून' (क.), 'बैंक का दिवाला' (क, 1924), 'करबला' (ना., 1924), 'रंगभूमि' (उप., 1924), 'प्रेम प्रमोद' (क., 1926), 'प्रेम प्रतिमा' (क.,1926), 'प्रेम द्वादशी' (क., 1926), 'कायाकल्प' (उप., 1926), 'शान्ति' (क., 1927), 'निर्मला' (उप., 1928), 'प्रेम तीर्थ' (क., 1929), 'प्रेम चतुर्थी' (क., 1929), 'अग्नि समाधि' (क., 1929), 'प्रेम प्रतिज्ञा' (उप., 1929), 'पाँच फूल' (क., 1929), 'सप्त सुमन' (क., 1930), 'समर-यात्रा' (क. 1930), 'प्रेम पंचमी' (क., 1930), 'गवन' (उप., 1931), 'प्रेम प्रतिमा' (क., 1931), 'प्रेरणा' (क., 1932), 'कर्मभूमि' (उप., 1932), 'समर-यात्रा तथा अन्य कहानियाँ' (क., 1932), 'प्रेम की वेदी' (ना. 1933), 'सेवा सदन' (उप., 1934), 'पंच प्रसून' (क, 1934), 'नवजीवन' (क., 1935), 'गोदान' (उप., 1936), 'मान सरोवर' (क., 1936), 'कुत्ते की कहानी' (क., 1928), 'कफन और शेष रचनाएँ' (क., 1937), 'नारी जीवन की कहानियाँ' (क., 1938), 'दुर्गादास' (उप., 1938), 'कुछ विचार' नि., 1939), 'प्रेम-पीयूष' (क., 1941)।

सुदर्शन : 'दयानन्द' (ना., 1917), 'पुष्पलता' (क., 1919), 'सुप्रभात' (क., 1923), 'अजता' (ना., 1923), 'परिवर्तन' (क., 1926), 'सुदर्शन सुधा' (क., 1926), 'तीर्थ यात्रा' (क., 1927), 'फूलवती' (क., 1927), 'सुहराव रुस्तम' (क., 1929), 'ऑनरेरी मजिस्ट्रेट' (ना., 1939), 'सात कहानियाँ' (क., 1933), 'चार कहानियाँ' (क., 1938), 'पनघट' (क., 1939), 'राजकुँवर सागर' (उप., 1939), 'अंगूठी का मुकद्दमा' (ना. 1940) 'झंकार' (का. 1939), 'सिकन्दर' (ना., 1947), 'सुदर्शन', 'सुमन', 'गल्प मंजरी', 'भाग्यचक्र' इत्यादि।

वृंदावनलाल वर्मा : 'सेनापति ऊदल' (ना., 1904), 'लगन' (उप., 1928), 'गढ़ कुण्डार'(उप., 1930), 'कोतवाल की करामात' (उप., 1931) 'प्रेम की भेंट' (उप०, 1931), 'कुण्डली चक्र' (उप०, 1932), विराट की पद्मिनी' (उप., 1939), 'संगम' (उप., 1939), 'प्रत्यागत', उप., 1939), धीरे-धीरे' ना., 1939), 'रानी लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी,' 'मुसाहिबजू', 'हंस मयूर', 'पूर्व की

कटिबद्ध हो गया। असहयोग-आन्दोलन इसी प्रयत्न का राजनीतिक मूर्त्त रूप था। इसे सिर्फ राजनीतिक तक ही सीमित न समझना चाहिए। यह सम्पूर्ण देश का, आत्मस्वरूप समझने का प्रयत्न था और अपनी गलतियों को सुधारकर संसार की समृद्ध जातियों की प्रतिद्वन्द्विता में अग्रसर होने का सकल्प था। संक्षेप में यह एक महान् सांस्कृतिक आन्दोलन था। उस समय देश की स्वाधीनता को केवल देश को महान् बनाने का साधन-भर समझा गया था। आधुनिक काल में आत्मविश्वास की ऐसी प्रचण्ड लहर इसके पूर्व कभी देश मे नही दिखायी पड़ी थी। जनता का जो भाग पिछड़ा हुआ था, जो पर्दे में कैद था, जो अपमानित और उपेक्षित था, उसके प्रति सामूहिक रूप से सहानुभूति का भाव उत्पन्न हुआ। सौभाग्य से इस महान् आन्दोलन का नेता महात्मा गाधी-जैसा सत्यनिष्ठ महापुरुष था। संसार ने पहली बार शत्रु के विरुद्ध निःशस्त्र सैनिक-युद्ध—जिसका प्रधान अस्त्र मैत्री और प्रेम था—देखा। यह पूरा-का-पूरा आन्दोलन मानवीय प्रयत्नो की सात्त्विक अभिव्यक्ति के रूप मे प्रकट हुआ था, इसलिए इसका बाह्य और आन्तर रूप सांस्कृतिक था। भारतवर्ष मे सब प्रकार से नवीन जागरण का सूत्रपात हुआ। इस महान् आन्दोलन ने भारतीय जनता के चित्त को बन्धनमुक्त किया। यही बन्धनमुक्त चित्त काव्यों, नाटकों और उपन्यासों में नाना भाव से प्रकट हुआ। परन्तु काव्य मे वह जिस रूप में व्यक्त हुआ वह कुछ काल तक अपरिचित-जैसा लगा।

नवीन शिक्षा-पद्धति का परिणाम: देश में जिस नवीन शिक्षा-पद्धति का प्रवर्तन हुआ था, वह एक ओर जहाँ पुराने संस्कारों से विद्यार्थी का सम्पर्क ही बहुत कम होने देती थी, वहाँ दूसरी ओर जड़-विज्ञान और मानवतावादी तत्त्ववाद पर आधारित काव्य-दर्शन और नीति-विज्ञान की पढ़ाई के द्वारा विद्यार्थी को एकदम नये मूल्यों (वैल्यूज) की दुनिया मे उठा ले जाती थी। इस प्रकार हिन्दी-भाषा प्रदेशों मे वह शिक्षित समाज तैयार होने लगा था, जिसके चित्त पर प्राचीनता का कोई संस्कार नही था और नवीन मान्यताओं और मूल्यो का बहुत मान था। इस शिक्षा-पद्धति से शिक्षित नवयुवक अपने देश में ही अजनबी-सा था। उसके चित्त में रोमाण्टिक अंग्रेजी साहित्य के व्यक्तिवाद की छाप थी, परन्तु बाह्य जगत् में उसका कोई सामंजस्य नहीं था। वह नवीन मूल्यों को अपनी भाषा में व्यक्त भी नहीं कर पाता था। संवेदनशील युवक के मन में यह बड़े ही अन्तर्द्वन्द्व का काल था। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का हिन्दी कविता मे बीजवपन तो हो चुका था, पर सही बात यह थी कि नवीन मानवतावादी स्वच्छन्दतावादी वैयक्तिक दृष्टिभंगी को व्यक्त करने योग्य भाषा उपलब्ध नही थी। बंगाल के कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी इस कठिनता का अनुभव करना पड़ा था। अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल पर उन्होंने अपने वक्तव्य के अनुकूल भाषा बना ली थी। नवीन हिन्दी कवियों के सामने रवीन्द्रनाथ की वह बँगला भाषा भी थी। कई कवियों ने उस भाषा का अनुकरण किया, किन्तु सब मिलाकर वह भाषा भी

हिन्दी प्रदेशों के लिए अपरिचित ही थी। बहुत दिनों तक छायावादी कवियों की यह भाषा व्यंग्य और उपहास का विषय बनी रही।

नवीन कवियों की शक्ति : नवीन युग की चेतना की अभिव्यक्ति कथा साहित्य मे खुलकर हुई। काव्य मे यह चेतना अधिक सूक्ष्म और अधिक गम्भीर रूप में प्रकट होनी चाहिए थी किन्तु द्विवेदी-युग तक का काव्य अधिक इतिवृत्तात्मक और स्थूल अभिव्यक्ति का माध्यम रहा। वह परम्पराप्रथित मान्यताओं से घिरा हुआ था। नवीन चेतना को व्यक्त करने योग्य भाषा अब भी नही बन पायी थी। फिर भी नये कवियों ने हार नही मानी। माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा-जैसे सुकवियों ने भाषा को अपने भावों के अनुकूल बनाया। शुरू-शुरू मे वह कुछ विचित्र-सी सुनायी पडी। अनुभवहीनता के कारण शुरू-शुरू की भाषा सचमुच ही उखड़ी-उखड़ी-सी लगती थी। फिर नवीन वक्तव्य भी नवीन भाषा के समान साधारण पाठक को अपरिचित ही लगता था। चारों ओर के वातावरण की विरुद्धता ने कई कवियो मे कुछ झेंप और सकोच का भाव भी ला दिया था। इसलिए शुरू-शुरू के प्रयोगो मे अस्पष्टता, झिझक और संकोच का भाव रह गया था। परन्तु इन कवियों ने भाषा को अपने अनुकूल बना लिया, यही इस बात का सबूत है कि इनके पास कहने लायक बहुत-सी बातें अवश्य थी। जिसके पास कहने को कुछ होता है वह उसके लिए भाषा बना लेता है। भाषा मे दुर्बोधता तब आती है जब कहनेवाले के पास कहने की कोई बात नही होती। शुरू-शुरू में इस प्रकार की कविता के उपासक ऐसे कवि अवश्य थे, जो मोर का पख खोसकर मोर बने हुए थे। उनमें न तो वास्तविक कवित्व-शक्ति थी, न उनके पास कहने योग्य कोई बात ही थी। ऐसे कवियों ने उस श्रेणी की कविता के यश को म्लान किया, जिसे आगे चलकर छायावादी कविता कहा जाने लगा। चित्तगत उन्मुक्तता इस कविता का प्रधान उद्गम थी और बदलते हुए मानों के प्रति दृढ़ आस्था इसका प्रधान सम्बल। इस श्रेणी के कवि ग्राहिकाशक्ति से बहुत अधिक सम्पन्न थे और सामाजिक विषमता और असामंजस्यों के प्रति अत्यधिक सजग थे। शैली की दृष्टि से भी ये पहले के कवियों से एकदम भिन्न थे। इनकी रचना प्रधानत. विषयि-प्रधान (Subjective) थी। हम आगे विषयि-प्रधान कविता के मुख्य लक्षणों की विवेचना करेंगे, यहाँ संक्षेप मे समझ लिया जाय कि नयी मान्यता और नये मूल्यों से हमारा क्या तात्पर्य है।

साहित्य की नयी मान्यताएँ : साहित्य की मान्यताएँ जीवन की मान्यताओं से विच्छिन्न नही होती। नयी परिस्थितियों में जब मनुष्य नये अनुभव प्राप्त करता है तो जागतिक व्यापारों और मानवीय आचारों तथा विश्वासों के मूल्य उसके मन में घट या बढ़ जाते हैं। सभी मानों के मूल मे कुछ पुराने संस्कार और नये अनुभव होते हैं। यह समझना गलत है कि किसी देश के मनुष्य सदा-सर्वदा किसी व्यापार या आचार को एक ही समान मूल्य देते आये है। पिछली शताब्दी मे हमारे देशवासियों ने अपने अनेक पुराने संस्कारों को भुला दिया है और नये

संस्कारों के साथ नये अनुभवों को मिलाकर नवीन मूल्यों की कल्पना की है। वैज्ञानिक तथ्यों के परिचय से, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के दबाव और आधुनिक शिक्षा की मानवतावादी दृष्टि के बहुल प्रचार से, हमारी पुरानी मान्यताओं में बहुत अन्तर आ गया है। आज से दो सौ वर्ष पहले कोई सहृदय जिन बातों को बहुत आवश्यक मानता था, उनमें से कई अब उपेक्षणीय हो गयी हैं। और जिन बातों को त्याज्य समझता था, उनमें से कई अब उतनी अस्पृश्य नहीं मानी जातीं। आज से दो सौ वर्ष पहले के सहृदय को उस प्रकार दु:खान्त नाटकों की रचना अनुचित जान पड़ती, जिनके कारण यवन (ग्रीक) साहित्य इतना महिमामण्डित समझा जाता है और जिन्हें लिखकर शेक्सपियर संसार के अप्रतिम नाटककार बन गये हैं। उन दिनों कर्मफल-प्राप्ति की अवश्यम्भाविता और पुनर्जन्म में विश्वास इतने दृढ़ भाव से बद्धमूल था कि संसार की समंजस व्यवस्था में किसी असामंजस्य की बात सोचना एकदम अनुचित जान पड़ता था। परन्तु अब यह विश्वास शिथिल होता गया है और मनुष्य के इसी जीवन को सुखी और सफल बनाने की अभिलाषा प्रबल होती गयी है। समाज के निचले स्तर में जन्म होना अब किसी पुराने पाप का फल (अतएव घृणास्पद) नहीं माना जाता, बल्कि मनुष्य की विकृत समाज-व्यवस्था का परिणाम (अतएव सहानुभूतियोग्य) माना जाने लगा है। इस प्रकार के परिवर्तन एक-दो नहीं, अनेक हुए हैं और इन सबके परिणामस्वरूप सिर्फ साहित्य की प्रकाशन-भंगिमा में ही अन्तर नहीं आया है, उसके आस्वादन के तौर-तरीकों में भी फर्क पड़ गया है। साहित्य के जिज्ञासु को इन परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी नहीं हो, तो वह बहुत-सी बातों के समझने में गलती कर सकता है। फिर परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करके ही हम यह सोच सकते हैं कि परिस्थितियों के दबाव से जो परिवर्तन हुए हैं उनमें कितना अपरिहार्य है, कितना अवांछनीय है और कितना ऐसा है जिसे प्रयत्न करके वांछनीय बनाया जा सकता है। साहित्य का जिज्ञासु यदि मूल्यों के परिवर्तन का ठीक-ठीक ध्यान न रखे तो वह साहित्य के नवीन प्रयोगों को एकदम नहीं समझ सकेगा। रीतिकालीन मूल्यों को स्वीकार करनेवाला सहृदय नवीन उत्थान की हिन्दी कविता को नहीं समझ सकेगा। सन् 1929 ई. के बाद के हिन्दी साहित्य को समझने के लिए नवीन परिवर्तित मान्यताओं की जानकारी आवश्यक है।

विषयि-प्रधान कविता : जब कवि की दृष्टि वक्तव्य-वस्तु पर निबद्ध होती है तो कविता विषय-प्रधान हो जाती है। उसमें कवि के राग-विरागों का यथासम्भव कम योग रहता है। वह विषय को जैसा-है-वैसा, या जैसा-होना-चाहिए-वैसा (यथार्थ या आदर्श रूप में) दिखाकर चित्रित करता है। इस श्रेणी की कविता के लिए मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा था कि उत्तम काव्य लिखना चाहते हो तो उत्तम विषय चुनो। सन् 1900-20 ई. की खड़ी बोली की कविता में विषय-वस्तु की

उसके पैर इस दुनिया पर ही जमे रहते है, वह इसे छोड़ नही सकता।

इन तीन श्रेणी के विचारो के प्रस्तार-विस्तार (permutation and combination) से आधुनिक काल की विषयि-प्रधान कविता अनेक रूपा दिखती है। इन कविताओं में उसकी मुख्य विशेषता इनकी वैयक्तिकता-प्रधान दृष्टि ही है।

नवीन प्रगीत मुक्तक : काव्य में कवि की व्यक्तिगत अनुभूति के प्रधान होने से उन गीतात्मक मुक्तकों का प्रचलन बढ़ गया, जो व्यक्तिगत भावोच्छ्वास को आश्रय के लिखे जाते हैं। इंग्लैण्ड में जब व्यावसायिक क्रान्ति हुई तो वहाँ के सांस्कृतिक जीवन मे बड़ा परिवर्त्तन हुआ था। उस परिवर्त्तन के समय कवियों मे और विचारकों में सामाजिक रूढ़ियों के प्रति अनास्था का भाव बढ़ा था और व्यक्तिगत स्वच्छन्दतावाद(रोमाण्टिसिज्म) का जोर रहा। अंग्रेजी अमलदारी के साथ-ही-साथ इस देश मे अग्रेजी साहित्य पढाया जाने लगा। उसी के फलस्वरूप इस देश के कवियो में भी *वैयक्तिकता स्वाधीनता (इण्डिविजुअल लिबर्टी)* का जोर बढ़ता गया। इंग्लैण्ड और इस देश की परिस्थिति एक-जैसी नहीं थी। इंग्लैण्ड में यह हवा वहाँ के भीतरी जीवन का परिणाम थी, जबकि इस देश में वह विदेशी संसर्ग और अन्य कारणों का फल थी। इसीलिए शुरू-शुरू में यह अस्वाभाविक-सी लगी, परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यो-त्यों कविगण अपने देश की वास्तविक परिस्थिति के साथ अपनी साहित्यिक परम्परा का सामजस्य खोजते गये। सामंजस्य खोजनेवालों में, प्रमुख कवि है—प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा। इन कवियों ने भाव मे, भाषा मे, छन्द में और मण्डन-शिल्प (डेकोरेशन) में नवीन विचारों के साथ सामजस्य किया। इस व्यक्तिगत स्वच्छन्दतावाद के साथ-ही-साथ नाना भाव के प्रगीत-मुक्तक इस देश मे लिखे जाने लगे।

जैसा कि पहले ही दिखाया गया है, इनमें कुछ कल्पनामूलक हैं, कुछ चिन्तनमूलक और कुछ अनुभूतिमूलक। मुक्तक इस देश मे नयी चीज नही है। हाल की 'प्राकृत सतसई' और अमरुक का सस्कृत 'अमरुक शतक' और बिहारी की 'सतसई' *मुक्तक काव्य ही हैं।* "*मुक्तक मे प्रबन्ध के समान वह रस की धारा नही रहती,* जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी भाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छीटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्धकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संगठित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नही होता, बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड-दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मन्त्र-मुग्ध-सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा सा स्तबक कल्पित करके इन्हें अत्यन्त सक्षिप्त और सशक्त भाषा मे व्यक्त करना पड़ता है।" (रामचन्द्र शुक्ल)। *पुराने मुक्तकों के अध्ययन से स्पष्ट है कि उन प्राचीन मुक्तकों में* कवि की कल्पना कुछ ऐसे शास्त्ररूढ़ व्यापारों की योजना करती थी, जिनसे

किसी रस या भाव की व्यंजना सुकर हो। आधुनिक प्रगीत-मुक्तक कवि के भावावेग के क्षणों की रचना होते हैं, उनमें गीत की सहज और हल्की गति होती है। इनकी गुलदस्तों के साथ तुलना नहीं की जा सकती। ये विच्छिन्न जीवन-चित्र होने पर भी प्रवाहशील होते है और इनमें शास्त्र-प्रसिद्ध व्यापार-योजना की आवश्यकता नही होती। पुराने रूपकों में कवि-कल्पना की समाहार शक्ति प्रधान हिस्सा लेती थी, पर आधुनिक मुक्तकों में कवि का भावावेग ही प्रधान होता है।

प्रगीत-मुक्तक क्यों प्रभावित करते हैं : परन्तु इतना स्मरण रखना उचित है कि आजकल के प्रगीत-मुक्तकों में यद्यपि व्यक्तिगत अनुभूतियों का प्राधान्य है तो भी वे इसलिए हमारे चित्त में आनन्द का सचार नही करते कि वे कवि की व्यक्तिगत अनुभूति हैं, बल्कि इसलिए कि वे हमारी अपनी अनुभूतियों को जाग्रत करते है। जो बात हमारे मन को आनन्द से तरंगित कर देती है वही हमारी 'अपनी' होती है। इसलिए यद्यपि आज के अच्छे मुक्तक-लेखक कवि की विषयग्राहिता परम्परा-समर्थित न होकर आत्मानुभूतिमूलक है, तथापि वह पाठक के भीतर पहले से ही वासना-रूप में स्थित भावों को उद्‌बुद्ध करके ही रस-सचार करती है।

इस बात को किसी आधुनिक समालोचक ने इस प्रकार कहा है कि आधुनिक प्रगीत-मुक्तकों मे कवि अपनी अनुभूति के बल पर सहृदय पाठक के हृदय में प्रवेश करता है और उसके हृदय में स्थित उसी भाव के अनुभव करनेवाले कवि के साथ एकात्मता का सम्बन्ध स्थापित करता है। इस बात को इस प्रकार भी कहा गया है कि यद्यपि आज का प्रगीत-मुक्तक व्यक्तिगत-विषयग्राहिता का परिणाम है, परन्तु वह उतना ही सामाजिक है जितना रीतिकालीन रूढ़ियों की योजना के भीतर गृहीत मुक्तक होता था। इस प्रकार दोनो मे समानता की मात्रा कम नही है। व्यक्तिगत होने के कारण इन अनुभूतियों का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है।

पुराने और नये मुक्तको में अन्तर : पुराने मुक्तक मे जिन विभावो की योजना केवल उद्दीपन के रूप में होती थी और जिन अनुभवों का वर्णन केवल मानवीय मनोरागों की अपेक्षा मे ही होता था, वे विभाव अब आलम्बन के रूप में योजित होने लगे हैं और वे अनुभाव अब मनुष्य के बाहर के जगत् के कल्पित मनोरागो के सम्बन्ध में प्रयुक्त किये जाने लगे हैं। ऐसा करने के कारण भाषा मे अधिकाधिक लाक्षणिकता आने लगी है, क्योंकि जड़ प्रकृति को यदि आलम्बन बनाकर उसमे अनुभावों और हावों की योजना की जायेगी तो लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना ही पड़ेगा। हिन्दी के कुछ वृद्ध आचार्यों को इस प्रकार की योजना पसन्द नहीं आयी थी।

छायावाद : इसी नवीन प्रकार की कविता को किसी ने 'छायावाद' नाम दे दिया है। यह शब्द बिल्कुल नया है। यह भ्रम ही है कि इस प्रकार के काव्यों को बँगला में छायावाद कहा जाता था और वही से यह शब्द हिन्दी मे 'छायावाद' शब्द केवल चल पड़ने के जोर से ही स्वीकारणीय हो गया है, इस श्रेणी की कविता की प्रकृति को प्रकट करने मे यह शब्द एकदम

बहुत दिनों तक इस काव्य का उपहास किया गया है और बाद में भी इसे या तो चित्रभाषा-शैली या प्रतीक-पद्धति के रूप में माना गया, या फिर रहस्यवाद के अर्थ में। उपहास और व्यंग्यों का काफी विस्तृत साहित्य सूचित करता है कि औसत श्रेणी के सहृदय को इस कविता की महत्ता स्वीकार करने में समय लगा है, वह पहले इसे एकदम नवीन और अवांछनीय वस्तु समझता रहा। शैलीरूप में इसे स्वीकार करनेवालों के मन में भी इस श्रेणी की कविता के विषय में विशेष गौरव का भाव नहीं है।

ऊपर के विचारों का निष्कर्ष : ऊपर जो बातें कही गयी हैं, उनको संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—1. छायावाद नाम उन आधुनिक कविताओं के लिए बिना विचारे ही दे दिया गया था, (क) जिनमें मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता थी, (ख) जो वक्तव्य-विषय को कवि की चिन्तना और अनुभूति के रंग में रँगकर अभिव्यक्त करती थी, (ग) जिनमें मानवीय आचारों, क्रियाओं, चेष्टाओं और विश्वासों के बदले हुए और बदलते हुए मूल्यों को अंगीकार करने की प्रवृत्ति थी, (घ) जिनमें छन्द, अलंकार, रस, ताल, तुक आदि सभी विषयों में गतानुगतिकता से बचने का प्रयत्न था, और (ङ) जिनमें शास्त्रीय रूढ़ियों के प्रति कोई आस्था नहीं दिखायी गयी थी; 2. छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था, यद्यपि उसमें नवीन शिक्षा के परिणाम होने के चिह्न स्पष्ट है तथापि वह केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं था, कवियों की भीतरी व्याकुलता ने ही नवीन भाषा-शैली में अपने को अभिव्यक्त किया; और 3. सभी उल्लेख-योग्य कवियों में थोड़ी-बहुत आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की व्याकुलता भी थी। जिन कवियों ने शास्त्रीय और सामाजिक रूढियों के प्रति विद्रोह का भाव दिखाया, उनके उस भाव का कारण तीव्र सांस्कृतिक चेतना ही थी।

छायावादी कविता का प्राणतत्त्व : मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनानेवाले कवि के चित्त में उन काव्यरूढ़ियों का प्रभाव नहीं रह जाता, जो दीर्घकालीन परम्परा और रीतिबद्ध चिन्तन-पद्धति के मार्ग से सरकती हुई सहृदय के चित्त पर आ गिरी होती हैं और कल्पना के अविरल प्रवाह में तथा आवेगों की निर्बाध अभिव्यक्ति में अन्तराय उपस्थित करती हैं। इस दृष्टिकोण को अपनाने से सौन्दर्य की नयी दृष्टि मिलती है, क्योंकि मानवीय आचारों और क्रियाओं के मूल्य में अन्तर आ जाता है। इस अवस्था में सौन्दर्य केवल बाह्यरूप में नहीं रहता, बल्कि आन्तरिक औदार्य और मानस-संगठन में भी व्यक्त होता है। सौन्दर्य के बँधे-सँधे आयोजनों—घिसे-घिसाये उपमानों और पिटी-पिटायी उत्प्रेक्षाओं पर आधारित चिन्तन-शून्य काव्यरूढ़ियों—से मुक्ति पाया हुआ चित्त मानवता के मापदण्ड से सब-कुछ को देखता है और फिर कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-संश्लिष्ट आवेगों की वह उर्वरभूमि प्रस्तुत होती है, जो रोमाण्टिक या स्वच्छन्दतावादी साहित्य के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है। मानवीय दृष्टि के कवि की कल्पना, अनुभूति और चिन्तन के भीतर से निकली हुई, वैयक्तिक अनुभूतियों के आवेग की

स्वतःसमुच्छित अभिव्यक्ति—बिना किसी आयास के और बिना किसी प्रयत्न के, स्वयं निकल पड़ा हुआ भावस्रोत—ही छायावादी कविता का प्राण है। सन् 1920 ई. में जो देशव्यापी चेतना की लहर देश के इस किनारे से उस किनारे तक फैल गयी थी, उसने कवि और सहृदय दोनों को अधिक आत्मविश्वासी और अधिक भावग्राही बनाया। संयोग से इसी काल मे अनेक प्राणवन्त कवियों का आविर्भाव हुआ जिनमें चार आगे चलकर बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुए—1. जयशंकरप्रसाद, 2. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', 3, सुमित्रानन्दन पंत, 4. महादेवी वर्मा। इन चारों मे वैयक्तिक आवेगों की आयासहीन अभिव्यक्ति है। चारों की कविताओ मे कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-सश्लिष्ट आवेगों की उमड़ती हुई भावधारा का प्राबल्य है। चारो ही मूलत. छायावादी है। फिर भी चारों की प्रकृति में भेद है। प्रसाद यद्यपि इनमें सबसे पुराने है, तथापि समझने की सुविधा के लिए हम क्रम बदल रहे है। पहले सुमित्रानन्दन पंत की कविता पर विचार किया जाय।

सुमित्रानन्दन पंत[1] (जन्म 1900 ई.) की आरम्भिक कविताएँ सच्चे अर्थों में छायावादी है। इनका प्रथम काव्य-संग्रह 'पल्लव' बिल्कुल नये काव्य-गुणो को लेकर हिन्दी साहित्य-जगत् में आया। इस पुस्तक मे प्रकृति और मानव के सौन्दर्य के प्रति आदिम मनोभाव के-से औत्सुक्य, आश्चर्य और कुतूहल के भाव है। सौन्दर्य के प्रति अत्यन्त कोमल मनोभाव ने कवि को कही भी बहकने नही दिया है। 'पल्लव' की कविताओं की अपेक्षा उसकी भूमिका का महत्त्व कम नही है। इस भूमिका ने न केवल पंत की कविताओं का और उनकी विवेचन-शक्ति का महत्त्व स्पष्ट किया था बल्कि समूची छायावादी कविता के लिए क्षेत्र प्रस्तुत किया था। इस भूमिका से पंत की उस महत्त्वपूर्ण बौद्धिक प्रक्रिया का पता लगता है जिसके द्वारा उन्होंने शब्दों की प्रकृति, उनकी अर्थबोधन-क्षमता, उनके अर्थों के भेदक पहलुओं की विशिष्टता, छन्दों की प्रकृति, तुक और ताल का महत्त्व आदि को समझा था और समझने के बाद काव्य मे प्रयोग किया था। शब्दों और अर्थों की इस विवेचना ने नवशिक्षित सहृदय के चित्त में इस नयी कविता के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न किया और युवकों को नये सिरे से सोचने की शक्ति दी। इस भूमिका ने संस्कृत के वर्णवृत्तों को हिन्दी से हटा दिया, छन्दों की गति के सम्बन्ध मे नयी दृष्टि दी और छन्द-परिवर्तन के प्रति नया मनोभाव पैदा किया। पंत मे कल्पना शब्दो के चुनाव से ही शुरू होती है। छन्दो के निर्वाचन और परिवर्तन मे

1. सुमित्रानन्दन पंत की मुख्य रचनाएँ—'उच्छ्वास' (का., 1922), 'पल्लव' (का., 1927)' 'वीणा' (का., 1927), 'ग्रंथि' (का., 1930), 'गुंजन' (का., 1932), 'ज्योत्स्ना' (ना. 1934), 'पाँच कहानियाँ' (कहानी, 1936), 'युगान्त' (का., 1937), 'युगवाणी' (का., 1929), 'ग्राम्या' (का., 1940), 'पल्लविनी' (का., 1940), 'स्वर्णधूलि', 'स्वर्णकिरण' (का., 1950), 'मधुज्वाल', इत्यादि।

भी वह व्यक्त होती है। उसका प्रवाह अत्यन्त शक्तिशाली है। इसके साथ जब प्रकृति और मानव-सौन्दर्य के प्रति कवि के बालकोचित औत्सुक्य और कुतूहल के भावों का सम्मिलन होता है तो ऐसे सौन्दर्य की सृष्टि होती है जो पुराने काव्य के रसिकों के निकट परिचित नहीं होता। कम संवेदनशील पुराने सहृदय इस नयी कविता से विदक उठे थे और अधिक संवेदनशील सहृदय प्रसन्न हुए थे। 'पल्लव' के भावों की अभिव्यक्ति में अद्भुत सरलता और ईमानदारी थी। कवि बँधी रूढ़ियों के प्रति कठोर नहीं है, उसने उनके प्रति व्यंग्य और उपहास का प्रहार नहीं किया, बल्कि वह उनकी बाहरी बातों की उपेक्षा करके अन्तराल-स्थित सहज सौन्दर्य की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। मनुष्य के कोमल स्वभाव, बालिका के अकृत्रिम प्रीतिस्निग्ध हृदय और प्रकृति के विराट् और विपुल रूपों में अन्तर्निहित शोभा का ऐसा हृदयहारी चित्रण उन दिनों अन्यत्र नहीं देखा गया।

सुमित्रानन्दन पंत का सम्पूर्ण व्यक्तित्व गीतिमय है। वे मूलतः गीतिकाव्य के कवि हैं। उनके 'ज्योत्स्ना' आदि नाटकों के सभी पात्र वस्तुतः गीतिकाव्यात्मक (लिरिकल) हैं। उन्होंने कभी कथाकाव्य लिखने का प्रयत्न नहीं किया। शुरू में 'ग्रंथि' में जो प्रयत्न है वह मूलतः गीतिकाव्यात्मक और रोमाण्टिक है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनके व्यक्तित्व में गतिशीलता नहीं है। वे बराबर सांस्कृतिक सामूहिक उत्थान की ओर अग्रसर रहे हैं। उनके विकास के तीन उत्थान हैं। प्रथम में वे छायावादी कवि हैं, दूसरे में वे समाजवादी आदर्शों से चालित हैं, और तीसरे में आध्यात्मिक। दूसरे उत्थान की कविताओं में वे समाजवादी सिद्धान्तों से चालित हुए थे। 'ग्राम्या' में उन्हीं आदर्शों द्वारा चालित किन्तु बौद्धिक चिन्तन से आयत्तीकृत भावों का सन्निवेश है। समाजवाद पंत की दृष्टि में कोई राजनीतिक मत नहीं था, वह सांस्कृतिक अभ्युत्थान का साधनामात्र था। उन्होंने कहा है :

"राजनीतिक का प्रश्न नहीं रे आज जगत् के सम्मुख —
एक वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित।"

समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार कविता सोद्देश्य होनी चाहिए, अर्थात् वह केवल बिना आयास के सिद्ध भावों का स्वतःसमुच्छिन्न अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, बल्कि संसार की जटिल समस्याओं को सुचिन्तित विवेचना द्वारा समझकर उसके अभ्युत्थान के लिए रचित सोद्देश्य कलाकृति है। इस दूसरे उत्थान में भी पंत में कोमल भावों और मोहन चारुताओं के प्रति मोह है। तीसरे उत्थान में उनकी कविता गैरिकधारिणी सन्यासिनी के समान शान्त और उदात्त विचारों की गम्भीरता और पवित्रता से मण्डित है। उनमें कल्पना की रंगीनी भी नहीं है, आवेगों की चंचलता भी नहीं है, कुतूहल और औत्सुक्य-भरी जिज्ञासा भी नहीं है, किन्तु उसमें सांस्कृतिक उत्थान का आशा-भरा सन्देश है। कवि आगे चलकर अरविन्द के आध्यात्मिक तत्त्वदर्शन से प्रभावित हुए और उन्हें उसमें सांस्कृतिक अभ्युत्थान का स्वर्ण प्रभात दिखायी दिया। पंत की कविता की अन्तिम परिणति इसी

आध्यात्मिक उल्लास मे हुई है।

तीनो ही अवस्था मे पतजी वैयक्तिकतावादी हैं। जिन दिनों समाजवादी सिद्धान्तों से वे आकृष्ट हुए थे, उन दिनों भी वे अपने व्यक्तित्व को स्पष्ट रूप से सबसे अलग समझते थे। उनकी उन कविताओं मे बराबर 'रे' का प्रयोग है जो कवि और उसकी कविता के श्रोतृवर्ग के बीच बहुत बड़े व्यवधान का सूचक है। परन्तु उनमे अपने भावों के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति नहीं है, जबकि साधारणतः ऐसे कवि आसक्तियुक्त हुआ करते है। पंत सौन्दर्य की महिमा का अनासक्त साक्षी कवि हैं। छायावाद का महान् आन्दोलन पत के समान नेता पाने के कारण ही तेजी से लोकप्रिय हो गया।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'[1] का जन्म (1896 ई.) बंगाल में हुआ था। उनकी शिक्षा भी बँगला से ही आरम्भ हुई थी। उन्होंने तत्कालीन बँगला साहित्य की स्वच्छन्दतावादी और रहस्यवादी कविताओं का अच्छा अध्ययन किया था। वे आरम्भ से ही विद्रोही कवि के रूप मे हिन्दी मे दिखायी पड़े। गतानुगतिकता के प्रति तीव्र विद्रोह उनकी कविताओं में आदि से अन्त तक बना रहा। व्यक्तित्व की जैसी निर्बाध अभिव्यक्ति उनकी रचना में हुई है वैसी अन्य छायावादी कवियों मे नही हुई। न तो उन्होंने भावो को कोमल करने का प्रयत्न किया है, न उनकी समजस-योजना के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति दिखायी है। सर्वत्र व्यक्तित्व की अत्यन्त पुरुष-अभिव्यक्ति ही निराला की कविताओं का प्रधान आकर्षण है। फिर भी विरोधाभास यह है कि निराला मे अपने व्यक्तित्व को सबसे अलग करके अभिव्यक्त करने की चेतना सबसे कम है। निराला की प्रतिभा बहुमुखी है। उन्होंने कविताएँ तो लिखी ही है, निबन्ध आलोचना, उपन्यास आदि भी लिखे है। व्यंग्य और कटाक्ष को वे प्रायः नही भूलते। लेकिन कथाकाव्य के प्रति उनका झुकाव पत से अधिक है। उनकी अधिकाश सर्वोत्तम कविताओं में किसी-न-किसी प्रकार की कथा का आश्रय लिया गया है। कथानक की घटनाओ की पूर्वापरता उनके उमड़ते हुए आवेगों पर अंकुश का काम करती है। अनुभूति की तीव्रता के कारण ये आवेग बहुत वेगवान् होकर प्रकट हुए है, पर कोमलीकरण, समजस-योजना या छन्दोबन्ध की चेतना के अभाव मे उनमे कोई अकुश नही है। यही

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की मुख्य रचनाएं—'अनामिका' (का., 1923), 'परिमल' (का., 1930) 'अप्सरा' (उप., 1931), 'अलका' (उप., 1933), 'लिली' (कहा. 1933), 'प्रबन्धपद्म' (नि., 1934), 'प्रभावती, (कहा., 1936), 'गीतिका' (का., 1936), 'निरुपमा' (उप., 1936), 'तुलसीदास' (का., 1939), 'कुल्लीभाट' (जी. च., 1939), 'प्रबन्ध प्रतिमा' (नि., 1940), 'सुकुल की बीवी' (कहा., 1941), 'बिल्लेसुर बकरिहा' (उप., 1941), 'अपरा' (का., 1948), 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'बेला', 'नये पत्ते', 'चोटी की पकड़' (उप.), 'काले कारनामे' (उप.), 'चतुरी चमार' (कहा.), 'सखी' (कहा.), 'चाबुक' (नि.), रवीन्द्रनाथ कविताकानन' (अनु.), समाज (नाटक), 'शकुन्तला', इत्यादि।

कारण है कि विशुद्ध गीति-काव्यात्मक रचनाओं में निराला के बहक जाने की आशका बराबर बनी रहती है। यह ध्यान देने की बात है कि निरालाजी के आरम्भिक प्रयोग छन्द के बन्धन से मुक्ति पाने का प्रयास है। छन्द के बन्धनों के प्रति विद्रोह करके उन्होंने उस मध्ययुगीन मनोवृत्ति पर ही पहला आघात किया था, जो छन्द और कविता को प्राय समानार्थक समझने लगी थी। कविता भाव-प्रधान होती है, छन्द उसके इस रूप में सहायता करता है। छन्द के बन्धन को अस्वीकार करनेवाला कवि कविता के उन समस्त प्रसाधनों के प्रति अनास्था प्रकट करता है, जो काव्य मे संगीत के गुण भरा करते हैं और इस प्रकार काव्य को अलौकिक बनाया करते है। परन्तु निरालाजी ने जब छन्दों के प्रति विद्रोह किया तो उनका उद्देश्य छन्द की अनुपयोगिता बताना नही था। वे केवल कविता में भावों को—व्यक्तिगगत अनुभूति के भावों को—स्वच्छन्द अभिव्यक्ति को महत्व देना चाहते थे। जिसे वे मुक्त-छन्द कहते थे, उसमें भी एक प्रकार का झंकार और एक प्रकार का ताल विद्यमान है।

उनकी आरम्भिक कविताओ मे ही उनकी स्वच्छन्दतावादी प्रकृति पूरे वेग पर मिलती है। पंचवटी-प्रसंग मे गतानुगतिक ढंग से राम-कथा को नही चित्रित किया है। शूर्पणखा वहाँ—शायद एकदम नये ढंग से—नारी के रूप में उपस्थित की गयी है, किसी वीभत्स राक्षसी के रूप में नही। सच पूछा जाय तो निराला से बढ़कर स्वच्छन्दतावादी कवि हिन्दी में कोई नहीं है। 'परिमल' की जिन रचनाओ में वस्तुव्यंजना की ओर कवि का ध्यान है, उनमें उनका व्यक्तित्व स्पष्ट नही हुआ, किन्तु 'तुम और मैं', 'जूही की कली' जैसी कविताओं में उनकी कल्पना उनके आवेगो के साथ होड़ करती है। यही कारण है कि वे कविताएँ बहुत लोकप्रिय हुई हैं। बड़े कथात्मक प्रयोगो मे निरालाजी को अधिक सफलता मिली है। वे पत की तरह अत्यधिक वैयक्तिकतावादी कवि नहीं हैं। बड़े आख्यानों-जैसे काव्य-विषय में उन्हें वस्तुव्यजना का भी अवसर मिलता है और कल्पना के पंख पसारने का भी मौका मिल जाता है। इसीलिए उनमें निराला अधिक सफल हुए हैं। 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा' और 'सरोजस्मृति' जैसी कविताएँ उनकी सर्वोत्तम कृतियाँ है। इनमे भाषा का अद्भुत प्रवाह पाठक को निरन्तर व्यस्त बनाये रहता है। कल्पना यहाँ आवेगो के सामने फीकी लगती है। किन्तु स्फुट गीतों में निराला को ऐसा अवकाश नही मिलता। गीतिका के गीत ठूठ हो गये हैं और दुर्बोध तो हैं ही।

निराला की रचनाएँ साधारण पाठकों को दुर्बोध मालूम ही होती हैं, उनके प्रशंसकों को भी कभी-कभी दुरूह लगती हैं। इसका कारण यह है कि कवि अपने आवेगों को संयत रखकर नही लिख सकता। एक बात कहते-कहते उसे उसी से सम्बन्धित (और कभी-कभी उल्टी पड़नेवाली) दूसरी बात याद आ जाती है। कवि अपने आवेगो पर अंकुश नही रख सकता। अकुश वह रख सकता है, जो भावों को सजाने और सुघड़ बनाने का प्रयास करता है। निराला यह नहीं करते,

इसलिए उनके भावों की अविरल धारा में ऐसे प्रसंग प्रायः छूट जाते है जो साधारण पाठक के लिए प्रासंगिक होते है और ऐसे प्रसंग प्रायः आ जाते है जो साधारण पाठक की दृष्टि में बहुत प्रासगिक नही जँचते। इसलिए उनकी कविताएँ दुर्बोध हो जाती हैं। बड़े कथा-प्रसगो में पाठक कुछ अनुमान द्वारा छूटे हुए स्थानो को भर लेता है, पर छोटे प्रगीतो मे वह कुछ भी समझ नही पाता। निराला की कविता के इस पक्ष ने उसे अधिक लोकप्रिय नही होने दिया।

जयशंकर 'प्रसाद'[1] (1889-1937 ई.) इन कवियों मे बहुत पहले से साहित्य-क्षेत्र मे परिचित थे। उनकी आरम्भिक रचनाओं में अतीत के प्रति एक प्रकार की मोहकता और मादकता से भरी हुई आसक्ति मिलती है। उनके कई परवर्ती नाटको में यह भाव स्पष्ट हुआ है। 'चित्राधार', 'कानन कुसुम' आदि रचनाओ को पढ़ने से लगता है जैसे कवि कुछ कहना चाहता है, पर कह नही पाता। प्रसाद अन्य छायावादी कवियों से इस बात मे शुरू से ही अलग है। अन्य कवियों ने अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को स्वच्छन्दता के साथ प्रकट किया, जबकि प्रसाद ने उन पर अंकुश रखा। एक प्रकार की झिझक और सकोच का भाव उनकी 'आँसू' तक की सभी कविताओं मे मिलता है। ऐसा लगता है कि कवि को भय है कि उसके मन में जो भाव उमड़ रहे है, जो वेदना संचित है वह यदि एकाएक अपने अनावृत रूप मे प्रकट हो जायेगी तो पाठक उसकी कद्र नही कर सकेंगे। कवि की धारणा है कि उसका पाठक अभी इस परिस्थिति मे नही है कि उसके भावो को ठीक-ठीक समझ सके और सहानुभूति के साथ उन्हे देख सके। उनकी कविताओं के सम्बन्ध में जो आलोचनाएँ निकल रही थीं, उनका भी उन्होने यही निष्कर्ष निकाला होगा। 'झरना' की रचनाएँ कुछ अधिक स्पष्ट है, परन्तु उनमे भी 'छेड़ो मत यह सुख का कण है' जैसी पंक्तियो में कवि की झिझक व्यक्त हुई है। 'आँसू' की रचनाओं मे कवि ने अपने विचारो को कुछ दार्शनिकता का आवरण पहनाया है। आगे चलकर उनकी यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी है। 'कामायनी' उनके गहन चिन्तन, मनन और अनुभूति का फल है। उसमे विचारों की स्पष्टता और भावो का सज्जन प्रकाशन बिना किसी संकोच के हुआ है। 'कामायनी' मे कवि अपने

1. जयशंकर 'प्रसाद' की मुख्य रचनाएँ—'उर्वशी' (चम्पू, 1902), 'प्रेमराज्य' (का, 1910), 'करुणालय' (ना., 1912), 'छाया' (कहा.), 'काननकुसुम' (का, 1912), 'प्रेमपथिक' (का., 1913), 'महाराणा का महत्त्व' (का., 1914), 'प्रायश्चित्त' (ना., 1914), 'राज्यश्री' (ना., 1915), 'चित्राधार' (का., 1918), 'विशाख' (ना., 1921), 'अजातशत्रु' (ना, 1922), 'प्रतिध्वनि' (कहा, 1922), 'आँसू' (का., 1926), 'जनमेजय का नागयज्ञ' (ना, 1926), 'कामना' (ना, 1927), 'झरना' (का. 1927), 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' (ना, 1927), 'आकाशदीप' (कहा., 1929), 'कंकाल' (उप., 1929), 'एक घूंट' (ना, 1929), चन्द्रगुप्त मौर्य' (ना, 1931), 'आँधी' (कहा., 1931), 'ध्रुवस्वामिनी' (ना, 1934), 'तितली' (उप., 1934), 'लहर' (का., 1935), 'इन्द्रजाल' (कहा., 1936), 'कामायनी' (का, 1937), 'काव्य और कला' (नि, 1939)।

भावावेगों पर कम-से-कम पर्दा डालता है।

आरम्भ से ही भावों की सलज्ज, सलज्ज स्थापना में प्रसाद का सयत व्यक्तित्व स्पष्ट हुआ है। इसमें धकियाकर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति नहीं है वल्कि चुपचाप सबके बाद धीरे-से—अज्ञात रहकर—आगे बढ़ जाने का भाव है। 'झरना' तक की रचनाओं में यही सलज्ज भाव रहता है। 'आँसू' में कवि अपने भावों को अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त करने लगता है, पर अवगुण्ठन यहाँ भी है। 'प्रसाद' प्रकृति के और मनुष्य के सौन्दर्य को पूर्ण रूप से उपभोग्य बनानेवाले कवि हैं। शुरू-शुरू में जब वह बौद्धदर्शन के दुःखवाद से प्रभावित जान पड़ते हैं, तब भी संसार की रूप-माधुरी का छककर पान करने के सम्बन्ध में उनके मन में कोई दुविधा का भाव नहीं है। वे इस बात को स्पष्ट और दो-टूक भाषा में नहीं कह पाते, क्योंकि तब तक उन्हें वह तत्त्ववाद नहीं मिल सका था जो वैराग्य और कृच्छाचार में नहीं, वल्कि सब प्रकार के सामरस्य में ही मनुष्य की परम शान्ति में विश्वास करता है।

रहस्यवाद : क्या कारण है कि कवि के अन्तर की व्याकुलता प्रकट नहीं हो पाती और प्रकट भी होती है तो सलज्ज अवगुण्ठन के भीतर बनी रहती है? इसका एक कारण तो सामाजिक है। कवि जिस रूप में जगत् के सौन्दर्य को देख रहा है, वह परिपाटी-विहित रसज्ञता के अनुकूल नहीं है। कवि का चेतन मन इस बात को अनुभव करता है। छायावाद के प्रथम उन्मेष के अनेक कवियों ने अपनी बात को आध्यात्मिक रूप देना चाहा। जो बात परिपाटी-विहित रसज्ञता के प्रेमियों को लौकिक दृष्टि से खटकनेवाली लग सकती है, वही बात आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर अच्छी लग सकती है। इसीलिए शुरू-शुरू के छायावादियों ने अपनी रचनाओं को आध्यात्मिक रूप देना चाहा। निरालाजी की रचनाओं में भी आध्यात्मिकता का आरोप करके उन्हें महिमा-मण्डित करने का प्रयत्न किया गया था। इसीलिए सभी कवि छायावादी कहे जाने लगे। परन्तु मेरे विचार से दोनों में अन्तर है। सभी छायावादी कवि रहस्यवादी नहीं हैं। रहस्यवादी के चित्त में किसी-न-किसी रूप में परम प्रेममय, परम आनन्दमय, लीला-निकेत, चिरन्तन-प्रिय का विश्वास अवश्य होना चाहिए। यह विश्वास दो प्रकार से आ सकता है—1. चिन्तन-मनन से और 2. भीतर की पीड़ा और व्याकुलता की अनुभूति के द्वारा। प्रथम श्रेणी के रहस्यवादी प्रसाद जी हैं, दूसरी श्रेणी में महादेवीजी प्रमुख हैं। बाकी कवियों में आध्यात्मिक अनुभूति थी भी, तो इतनी प्रधान नहीं हो गयी थी कि उससे किसी चिरन्तन प्रिय के साथ निरन्तर चलनेवाली लीला की भावना पुष्ट हो। यहाँ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि हमारे कहने का मतलब यह नहीं है कि किसी दूसरे कवि में आध्यात्मिक भाव थे ही नहीं; हमारे कथन का तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि जिस आध्यात्मिक अनुभूति में कवि किसी ऐसे प्रियतम की सत्ता में विश्वास करता है जिसके साथ प्रकृति और मानवात्मा की लीला निरन्तर चलती रहती है, वही रहस्यवादी कहा जा सकता है और इस दृष्टि से प्रसाद और

महादेवी की कविताओं में रहस्यवाद की पूरी अभिव्यक्ति है। अन्य कवियों के वह या तो थी ही नही; या थी भी तो अस्पष्ट।

प्रसाद का रहस्यवाद : शुरू-शुरू मे, जैसा कि ऊपर बताया गया है, प्रसादजी की कविताओ में एक सलज्ज (किन्तु ससज्ज) और झिझक-भरी आत्मा भिव्यक्ति का भाव है। वे इस बात से स्वयं कभी-कभी खिन्न जान पड़ते है। क्यो नही वे खुलकर अपने भाव प्रकट करते ? क्यों यह एक आवरण उनकी रचनाओं को आच्छन्न करता रहता है ? आवरण का स्वरूप क्या है ? छायावादी कवियो ने जब अपने भावों को प्रकट करने मे संकोच किया है, तो भावों को इस प्रकार से रूप दिया है कि मनोवृत्तियो की क्रिया के रूप में प्रकट हों। 'भाव' होते है, किये जाते है, वे स्वयं कर्त्ता नही है। परन्तु कवि उनको इस रूप में रखेगा मानो वे किसी विशेष मनोवृत्ति के मूर्त मानवीय रूप की क्रिया हो। प्रेमी किसी के सुन्दर रूप को छककर देखना चाहता है। देखना सम्भव नही होता। जिसके पास सौन्दर्य है वह झेंप रहा है। प्रेमी दर्शक के मन मे अतृप्तिजन्य व्याकुलता है। सीधे कहना होता तो वह अपनी व्याकुलता को कह देता। ठाकुर ने और बोधा ने सीधे-सीधे कह भी दिया है। पर झिझक और संकोच से भरा छायावादी कवि कहेगा कि मेरी अधजगी भावनाओ को सौन्दर्य के लजीले पद-संचार ने कुचल दिया ! प्रसादजी की कविता में और महादेवीजी की आरम्भिक रचनाओ मे यह भाव है। इसीलिए कुछ लोगों ने भावनाओं को मूर्त बनाकर उनकी क्रिया के रूप मे भावों के चित्रण को ही रहस्यवाद कह दिया। यह धारणा गलत है। रहस्यवाद यह शैली नही है। यह केवल कवि के रहस्यवादी होने की सम्भावना का सकेत करता है। जिस कवि की रचना में इस प्रकार का सलज्ज अवगुण्ठन हो, भविष्य मे उसके रहस्यवादी हो जाने की सम्भावना रहती है, क्योंकि वह अनन्तकाल तक अवगुण्ठन की इस व्याकुलता को सहन नही कर सकता।

प्रसंग प्रसादजी का चल रहा था। प्रसादजी के सोचने का मार्ग उनकी रचनाओं से बहुत स्पष्ट हो जाता है। सौन्दर्य—पार्थिव सौन्दर्य—के प्रति *प्रसाद का आकर्षण बहुत अधिक है, परन्तु शुरू-शुरू मे वे उसे व्यक्त नही कर* पाते थे। उनके मन में इस बात से कुछ चिन्ता भी हुई। परन्तु फिर वे इस प्रकार सोचते जान पड़ते हैं कि आवरण और अवगुण्ठन बुरा क्या है ! विधाता ने ही तो सारे संसार मे अवगुण्ठन का जाल बिछा रखा है। नग्न और अनावृत सत्य उन्हें तो इष्ट नही है। यह आलोक और अन्धकार की आँख-मिचौनी तो उन्होंने चला रखी है। इसी रास्ते सोचता हुआ कवि अन्त मे अवगुण्ठन के तत्त्ववाद तक पहुँचता है। अब उसे समझ मे आता है कि आरम्भ मे ही जो विधाता ने उसके हृदय में झिझक और संकोच दिया था, वह भी उनकी कृपा ही थी, वह भी उनकी एक लीला ही थी। प्रसादजी के काव्यों में और उनके नाटको मे भी यही [illegible] प्रणाली स्पष्ट हुई है। आगे चलकर उन्हें अपने इस विशिष्ट स्वभाव का [illegible] और प्रौढ़ समर्थन प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में मिलता है। 'कामायनी' में आरम्भ

दबा हुआ सलज्ज भाव विभिन्न सर्गों में स्पष्ट और प्रौढ़ अभिव्यक्ति पाता है। यह क्रम सिद्ध करता है कि वे गम्भीर अध्ययन, चिन्तन और मनन के माध्यम से अपने भीतर के सौन्दर्यप्रेमी मनोभाव को रहस्यवादी कविता के आवरण में प्रकट कर सके हैं। 'प्रसाद' के समान सौन्दर्य के प्रेमी कवि बहुत ही विरल हैं और पार्थिवसौन्दर्य को स्वर्गीय महिमा से मण्डित करके प्रकट करने का सामर्थ्य तो इतना और किसी में है ही नहीं।

महादेवी वर्मा - महादेवी वर्मा[1] (जन्म 1907 ई.) की कविताओं में प्रसाद की भाँति ही एक प्रकार का संकोच है। ये भी प्रतीकों के माध्यम से और सतर्क लाक्षणिकता के सहारे अपने भावावेगों को दबाती हैं। लाक्षणिक वक्रता और मनोवृत्तियों की मूर्त योजना में ये प्रसाद के समान ही हैं फिर भी प्रसाद की वक्रता में जितनी स्पष्टता है उतनी भी इनकी आरम्भिक रचनाओं में नहीं है। दोनों के मानसिक गठन और वक्तव्य के प्रति पहुँच में भेद है। प्रसादजी आरम्भ से ही कुछ बुद्धि-वृत्तिक हैं, वे रूपक को दूर तक घसीट और सम्हालकर ले जाने की क्षमता रखते हैं। महादेवी शुरू से ही अत्यधिक संवेदनशील हैं, उनमें अनुभूति की तीव्रता 'प्रसाद' से अधिक है। इसीलिए वे 'प्रसाद' के समान लम्बे रूपकों का निर्वाह नहीं कर पाती। वे पूर्ण रूप से गीतिकाव्यात्मक प्रकृति की हैं। बहुत जल्दी उन्होंने अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लिया। 'नीहार' के बाद की रचनाओं में उनका वास्तविक रहस्यवादी रूप प्रकट हुआ। यह समूचा बाह्य जगत् किसी चिरन्तन' प्रिय की लीला-भूमि है। प्रसादजी की लीला-कल्पना में सदा विराट् की अनुभूति—असीम का स्पन्दन प्रकट होता रहता है, महादेवीजी की कविताओं में 'चिरन्तन' और 'असीम' प्रिय अत्यन्त कोमल, मोहन और उत्सुक प्रणयी के रूप में चित्रित हुआ है, यहाँ की सारी प्रकृति प्रतीक्षा में सजग और उत्सुक दिखायी पड़ती है। महादेवी की यह रहस्यवादी भावना सम्पूर्ण रूप से वैयक्तिक है। यह फिर स्पष्ट कर देना उचित है कि काव्य में, वैयक्तिक' से तात्पर्य यह नहीं है कि कवि के व्यक्तिगत दुख-सुख का समाचार हमें मिलता है, बल्कि वैयक्तिकता का तात्पर्य यह है कि कवि ने जिन भावों को सर्वसाधारण भाव बना दिया है, वे शुरू-शुरू में उसके अपने राग-विरागों और मनननिदिध्यासन द्वारा अनुरंजित चित्त में उत्थित हुए थे। काव्य में प्रकट होने के बाद वे कवि के नहीं, सहृदय-मात्र के अपने भाव बन जाते हैं। व्यक्तिगत अनुभूतियों की तीव्रता और मर्मस्पर्शिता में महादेवी की रचनाएँ अपूर्व हैं। वे पाठक के चित्त में वेदना की अनुभूति भरती हैं और खोयी हुई वस्तु के मिल जाने की आशा से उत्पन्न होनेवाले उल्लास का वातावरण उत्पन्न करती हैं।

1. महादेवी वर्मा की मुख्य रचनाएँ—'नीहार' (का., 1930), 'नीरजा' (का., 1935), 'सान्ध्य-गीत' (का., 1936), 'यामा' (का., 1936), 'अतीत के चलचित्र' (1941), 'दीपशिखा' (का., 1942), 'शृंखला की कड़ियाँ' (नि., 1948) इत्यादि।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : छायावाद की मूल भावधारा से पृथक् किन्तु विश्वासों में सम्पूर्ण स्वच्छन्दतावादी फक्कड़ कवि बालकृष्ण शर्मा की उद्दाम आवेगोंवाली कविताएँ इसी काल मे लिखी गयी। नवीनजी राजनीतिक कार्य-कर्त्ता रहे। उनका जीवन राजनीति के कशमकश में बीता। उन्हें छायावाद की साहित्यिक कचकचाहट में पडने की फुरसत नही थी। राजनीतिक संघर्ष से फुरसत पाने पर वे कविता लिखते थे। उन कविताओं में सच्चे रोमाण्टिक कवि की भाँति वे कल्पना के पंख फैलाकर भाव के आकाश मे उड़ान लेते है। सबकुछ को छोड़कर आगे बढ़ जाने की घरफूँक मस्ती से उनकी रचनाएँ आकण्ठ भरी हुई है।

सियारामशरण गुप्त : छायावादकाल में जो कवि अपने ढंग से आगे बढ रहे थे, उनमें सबसे श्रेष्ठ सियारामशरण गुप्त (जन्म 1896 ई) है। इनमे भी व्यक्तिगत चिन्तन और अनुभूति है और एक प्रकार से छायावादी कविता के बाह्य वृत्त से इनकी कविता सटी हुई कही जा सकती है। परन्तु सियारामशरणजी की रचनाओं में एक प्रकार की सावधानी और सतर्कता है, जो छायावादी कविता मे नही पायी जाती। कल्पना के साथ भावावेगों का घनिष्ठ योग भी इनकी रचना का प्रधान गुण नहीं है। ये चिन्तनशील कवि हैं। ये उन कवियो मे है जिन्हे मनुष्य के विकास ने प्रभावित किया है और जो मनुष्य के प्रति विसदृश और अमानवीय व्यवहारों से अत्यधिक विचलित हो जाते है। सहानुभूति से भरा हुआ हृदय, मान-वीय सद्‌गुणों की विजय में विश्वास के कारण दृढ़ आस्थासम्पन्न मन, और ससार के प्रति अनासक्त जिज्ञासा द्वारा शोधित वुद्धि उनके काव्यो के मूल मे है। गांधीजी के विचारों का प्रभाव उन पर बहुत अधिक पडा है। मनुष्य के लिए वे साधन और साध्य दोनों की पवित्रता के सिद्धान्त से बहुत अधिक प्रभावित है उनकी अनेक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है जिनमें कविता, निबन्ध और उपन्यास भी है। श्री सियारामजी सच्चे अर्थों में मानवीय संस्कृति के कवि है। उनकी साहित्य-साधना उनके जीवन के अनुभूत तथ्यों पर आधारित है।

गुरुभक्त सिंह 'भक्त' : इस काल में एक और कवि ने सहृदयों के हृदय में घर किया था। ये है 'नूरजहाँ' तथा अन्य कई काव्यों के प्रसिद्ध कवि गुरुभक्त सिंह 'भक्त'। इनकी रचनाओं मे प्रकृति का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। उस काल मे किसी कवि ने प्रकृति को इतनी बारीकी से नही देखा। प्राकृतिक दृश्यों मे ब्यौरे-वार वर्णनो के द्वारा ये यथार्थवादी वातावरण प्रस्तुत करते है। 'नूरजहाँ' मे जहाँ प्रकृति का चित्रण हुआ है, वहाँ इसी श्रेणी का वातावरण मिलता है। वैसे 'नूरजहाँ' में उन्नीसवी शताब्दी के रोमाण्टिक उपन्यासों की शैली का प्रयोग है और वह पद्य-बद्ध उपन्यास के समान ही है। काव्य के रोमाण्टिक वातावरण के साथ प्रकृति के ब्यौरेवार वर्णनो से एक ऐसा वातावरण प्रस्तुत होता है जो हिन्दी पाठक के लिए बहुत परिचित नहीं है। इसीलिए इस काव्य मे एक प्रकार के अपरिचित दर्शन का औत्सुक्य और उल्लास प्राप्त होता है। 'भक्त' की रचनाएँ भी अनेक हैं। उनका काव्य 'विक्रमादित्य' भी प्रकाशित है।

सरस गीतों का बाहुल्य : छायावादी कवियों ने भाषा को अनुभूति-वहन की क्षमता दी। जिस खड़ी बोली को संगीत के गुणों से एकदम वंचित समझा जाता था, वह गीतों की भाषा बन गयी। देखते-देखते हिन्दी कविता में गीतों का प्रचार बढ़ गया। अनेक कवियों ने गीतों की भाषा को सँवारा; उसमें करुणा, कोमल या परुष भावों को प्रकट किया। सब जी नहीं सके, पर सबने इस दिशा में कुछ-न-कुछ योग अवश्य दिया। आधुनिक-काल की खड़ी बोली में सरस गीतों की संख्या काफी अधिक है। *छायावादी रचनाओं ने 1930 ई. तक काफी प्रौढ़ता पा ली।* इसी समय तीन और शक्तिशाली कवियों का प्रवेश हुआ। ये हैं—भगवतीचरण वर्मा, 'बच्चन, और 'दिनकर'।

भगवतीचरण वर्मा : भगवतीचरण वर्मा (जन्म 1903 ई) में मस्ती है, उल्लास है और अपने-आपके प्रति दृढ़ विश्वास है। शुरू-शुरू में छायावादी कवियों में जो झिझक और संकोच का भाव दिखायी दिया था, उसका कोई आभास उनकी कविताओं में नहीं है। वे प्रेम और यौवन के उल्लास के गान गाते समय किसी प्रकार के तत्त्ववादी आवरण चढ़ाने में विश्वास नहीं करते। वे अनासक्त भोक्ता की भाषा में सुन्दर के सौन्दर्य की महिमा और अपनी मस्ती के गान गाते हैं। *उनकी इस असंकुचित और आत्मकेन्द्री मस्ती ने सहृदयों को आकृष्ट किया* था। बाद में चलकर उनकी प्रतिभा उपन्यासों में व्यक्त हुई। वहाँ भी उनकी मूल प्रवृत्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही।

'बच्चन' : मस्ती और मौज के दूसरे कवि हरिवंशराय 'बच्चन' (जन्म 1907 ई०) है। जीवन की क्षणिक सत्ता को किसी झिझक और संकोच में ही काट देना ठीक नहीं, इसको परिपूर्ण करने के लिए सौन्दर्य का मादक आसव आवश्यक है। 'बच्चन' ने उमर खय्याम की भाँति इस मिट्टी के तन और मिट्टी के मन को सौन्दर्य और प्रेम की मदिरा से सार्थक बनाने के गान गाये। इनकी कविता में जो मादकता थी, उसने सहृदयों को आकृष्ट किया। छायावादी कवियों ने लाक्षणिक वक्रता से *भाषा को दुरूह बना दिया था, 'बच्चन' ने उसे इस वक्रभंगिमा से बचाया।* सहज सीधी भाषा में, सहज सीधी शैली में, अपनी बात कहने के कारण 'बच्चन बहुत ही लोकप्रिय हुए। 'निशानिमन्त्रण' में उनकी अनुभूतियों की तीव्रता और भावों की सान्द्रता ने उन्हें सहृदयों का प्रशंसाभाजन बनाया। 'बच्चन' की कविता में जिस क्षणिक उल्लास की मस्ती का प्रचार किया गया था, उससे कुछ लोग अप्रसन्न भी थे। शायद उपहास के लिए ही शुरू-शुरू में इसे 'हालावाद' नाम दे दिया गया था। वस्तुतः यह 'हाला' एक प्रतीक मात्र है जो तत्कालीन प्रचलित झूठी आध्यात्मिकता के प्रतिवाद का एक प्रतीक मात्र था। मूलतः 'बच्चन' की कविता मस्ती, उमंग और उल्लास की कविता है। अनुभूतियों की तीव्रता भी उसका एक विशिष्ट गुण है। जब से वह उल्लास और उमंग का वातावरण क्षीण हो गया, तब से 'बच्चन की कविता की लोकप्रियता भी घट गयी।

'दिनकर' : मस्ती के तीसरे कवि रामधारीसिंह 'दिनकर' (जन्म 1908

ई.) है। कल्पना की ऊँची उड़ान, विसदृश परिस्थितियों को अनुकूल वनाने की उमंग और सामाजिक चेतना की तीव्रता के कारण 'दिनकर' प्रथम दो कवियों से एकदम भिन्न श्रेणी के कवि हैं। छायावादी कवियों में सामाजिक चेतना बहुत छिपी हुई अस्पष्ट और अवगुण्ठित थी। भगवतीचरण वर्मा और 'बच्चन' में वह उतनी अवगुण्ठित तो नही है, पर दोनों में ही वैयक्तिक चेतना का प्राधान्य है। 'दिनकर' की उमग और मस्ती मे सामाजिक मगलाकाक्षा का प्राधान्य है। 'हुकार' मे कवि सामाजिक विषमताओ से बुरी तरह आहत है। वह अपनी कल्पना को वार-वार पुकारकर कहता है कि यह दुनिया रहने लायक नही है, किसी और मोहक लोक में ले चलो, पर उसकी कल्पना चील की तरह मँडराकर बारम्बार इस विसदृशता-व्याकुल जगत् की ओर ही झपट्टा मारती है। 'रसवन्ती' मे कवि इस विषय मे कुछ कम मुखर है, वह सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है, परन्तु उसके चित्त में शान्ति नही है। उसका मन व्यक्त रूप मे मस्ती और मौज का उपासक है, शहर की चिन्ता में दुबले होनेवालों से अलग रहना पसन्द करता है। किन्तु उसके भीतर अव्यक्त और अलक्षित रूप से सामाजिक चेतना का वेग है। वह समाज की चिन्ता छोड नही पाता। इन द्विविध वृत्तियों के सघर्ष से 'दिनकर' के काव्य मे वह प्रवाह उत्पन्न हुआ है जो अन्य कवियों मे नही मिलता। 'दिनकर' व्यक्तिवादी दृष्टि का प्रत्याख्यान लेकर साहित्य-मच पर आये। वे छायावादियो और प्रगतिवादियो के बीच की कड़ी हैं—कम छायावादी, अधिक प्रगतिवादी। 'कुरुक्षेत्र' मे उनकी सामाजिक चेतना की बहुमुखी अभिव्यक्ति हुई है। 'दिनकर' अपने ढग के अकेले हिन्दी कवि हैं। यौवन और जीवन उन्हें आकृष्ट करते हैं, सौन्दर्य के मोहन सगीत उसे मुग्ध करते है, पर वे इनसे अभिभूत नही होते। उल्लास और उमग सच्चे अर्थों मे मानवता की मुक्ति से ही सम्भव है। जब छायावाद के प्रथम उन्मेष के कवियो के वाद दूसरे उन्मेष के कवि आये, तो उनके सामने मानवतावाद का आदर्श अस्पष्ट रह गया था। 'दिनकर' में वह आदर्श पूरे जोर पर है। इसीलिए उनके काव्य का आकर्षण शिथिल नही। आरम्भ से लेकर अन्त तक उनका विकास एकरस और गति-शील है।

छायावादी भाषा की प्रतिक्रिया का आरम्भ : ऊपर जिन तीन कवियों की चर्चा की गयी है, उनकी भाषा मे छायावादी कवियों की लाक्षणिकता-प्रधान वक्रभगिमा वाली भाषा और नूतन प्रतीकों की नूतन रूढि प्रवर्तित करनेवाली शैली का प्रत्याख्यान हुआ है। बहुत थोड़ी दूर तक यह प्रतिक्रिया जान-बूझकर और सावधानी के साथ हुई, अधिकांश मे यह अनजाने ही हुई। इसका परिणाम भी अच्छा ही हुआ। कई कवियों ने स्वतन्त्र शैली में कविता लिखी। रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण 'प्रेमी', सोहनलाल द्विवेदी, मोहनलाल महतो 'वियोगी', 'अज्ञेय', श्यामनारायण पाण्डेय, उदयशकर भट्ट, जानकीवल्लभ शास्त्री, 'आरसी', 'नेपाली', 'अचल' आदि कवियों ने भाषा में नवीन व्यंजना-शक्ति और भावग्राहिता की क्षमता दी। हिन्दी कविता तेज गति से अग्रसर हुई। छायावाद के प्रथम उन्मेष में जो सास्कृतिक चेतना

कर रही थी, वह कुछ दिनों के लिए म्लान हो गयी, इसलिए नये खेवे के इन कवियों ने कोई बहुत बड़ा काव्य नहीं दिया, परन्तु भविष्य में जो महान् कवि उत्पन्न होगा वह नि:सन्देह इन्हीं कवियों के द्वारा सँवारी और माँजी हुई भाषा पाकर ही महान् बनेगा।

घोर मन्थन और उथल-पुथल का काल : सन् 1920 ई. से 1926 ई. तक का काल भारतीय इतिहास के घोर मन्थन और उथल-पुथल का काल है। इस काल में भारतवर्ष ने पूरी ताकत लगाकर अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया। यह प्रयत्न दस-ग्यारह वर्ष बाद सफल हुआ। परन्तु इस समय तक विदेशी प्रभाव की जड़ें हिल गयी। देश के युवकों में कभी भी आत्मविश्वास की मात्रा उतनी अधिक नहीं थी, जितनी इस काल में रही। धीरे-धीरे व्यक्तिमानव के स्थान पर समाज-मानव का महत्त्व प्रतिष्ठित होता गया। यह काल एक ओर सामूहिक आन्दोलन में विश्वास करता है और दूसरी ओर सामाजिक अभ्युत्थान के प्रति आकृष्ट होने का भी समय है। भारत वर्ष का शिक्षित चित्त अब अनुभव करने लगा था कि कल्याण का मार्ग व्यक्ति की सुख-सुविधा की साधना के भीतर से नहीं गया है, वह सामाजिक सुख-सुविधा के प्रयत्नों के भीतर से निकला है। ऐतिहासिक घटनाएँ बड़ी तेजी से सोचने-समझने की योग्यता रखनेवाले मनुष्य के दिमाग पर आघात करती गयी और क्रमशः वह व्यक्ति-संस्कार की कमजोरियों को समझता गया और सामाजिक मंगल की साधना की ओर अग्रसर होता गया।

उपन्यास और कहानी : जिन कृती उपन्यासकारों और कहानी-लेखकों की चर्चा पिछले प्रकरण में की गयी है, उनमें से अधिकांश इस काल में जीवित थे। सुविधा और संक्षेप के लिए पहले प्रकरण में उनकी सफलताओं की चर्चा कर दी गयी है। यहाँ स्मरण रखने के उद्देश्य से यह कह रखना आवश्यक है कि प्रेमचन्द, सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', 'प्रसाद' आदि कहानी और उपन्यासों के कृती लेखकों की मुख्य और महत्त्वपूर्ण रचनाएँ इसी काल में लिखी गयी। प्रसिद्ध कथाकार जैनेन्द्र कुमार का आविर्भाव इसी काल में हुआ। उनकी रचनाओं में नवीन कारीगरी और नवीन उपस्थापन-कौशल को देखकर सहृदयों को आशा हुई थी कि ये आगे चलकर बड़े साहित्यकार होंगे। यह आशा सत्य सिद्ध हुई। उनके 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र' आदि उपन्यासों और दर्जनों कहानियों में मनुष्य-जीवन के अनेक नवीन पहलुओं का उद्घाटन हुआ। गांधीजी के जीवन-दर्शनों से ये भी प्रभावित थे, परन्तु कहीं भी उन्होंने ऐसा कुछ न लिखा जो उनका स्वयं चिन्तित न हो। जैनेन्द्र के नारी-पात्रों में अद्भुत महिमा है। जैनेन्द्र के प्रायः साथ ही दो और प्रतिभाशाली कहानीकार साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। एक हैं चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और दूसरे सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'। चन्द्रगुप्तजी की कहानियों में सहज स्वाभाविक जीवन के भीतर अनायास आयोजित मर्मस्पर्शी घटनाओं का विन्यास था। कम लेखकों में इतनी सहज भंगिमा से इतनी मर्मस्पर्शी घटनाओं की योजना के गुण पाये जाते हैं। आगे चलकर चन्द्रगुप्तजी के नाटक भी

प्रकाशित हुए, आलोचनाएँ भी निकली और पत्रकारिता मे भी यश मिला।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' (जन्म 1911) उस काल के एक ऐसे राजनीतिक आन्दोलन के भीतर विकसित हुए थे, जिसकी तत्कालीन गांधीवादी राजनीति से कोई समानता नहीं थी। गांधीवादी राजनीतिक धारा के साथ ही देश मे सशस्त्र क्रान्ति के भी प्रयत्न हो रहे थे। उन दिनो कितने ही क्रान्तिकारी दल ऐसे थे जिनका विश्वास अहिंसा में नही था। वे विदेशी शासन को जिस किसी तरीके से भी उखाड़ देने के पक्ष मे थे। स्पष्ट ही दोनो प्रकार के आन्दोलनो के मूल तत्त्ववादों में बड़ा अन्तर था। ऐसे ही एक क्रान्तिकारी दल के सदस्य वात्स्यायनजी थे। वाइसराय की गाड़ी उड़ा देने के षड्यन्त्र के अभियोग मे इन पर मुकद्मा चला था। गुप्तवास मे नाना प्रकार की कष्टसाध्य जीवनचर्या और बहु-विचित्र जीवन-लीला से परिचित हो चुके थे। ये स्वय विज्ञान के विद्यार्थी थे, परन्तु अंग्रेजी साहित्य का जैसा गम्भीर अध्ययन इन्होने किया था, वैसा कम हिन्दी लेखकों ने किया होगा। इन्होने हिन्दी मे 'अज्ञेय' नाम से कहानियाँ और कविताएँ लिखना शुरू की। अंग्रेजी मे भी इन्होने कविताएँ लिखी है और जानकार लोगो का कहना है कि उन कविताओं की भाषा बहुत ही परिमार्जित और शुद्ध है। नाना प्रकार की सुकुमार कलाओं की जानकारी भी जैसी इनको है, वैसी कम लेखकों को होगी। इस प्रकार 'अज्ञेय' अद्भुत प्रतिभाशाली लेखक है। इनकी कहानियो में जीवन की सचाई, व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक और विचारों की ताजगी थी। आगे चलकर इनका समालोचक रूप में भी बड़ा सुन्दर विकास हुआ। इनका 'त्रिशकु' नामक निबन्ध-संग्रह साहित्य की वास्तविक स्थिति का बडा ही विचारपूर्ण विश्लेषण है और 'शेखर: एक जीवनी' नामक उपन्यास हिन्दी के उपन्यास-जगत् मे एक बिल्कुल नये अध्याय का श्रीगणेश करता है। उनकी हाल की कहानियों में फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रतीकों का बहुत सफलतापूर्वक प्रयोग है। अज्ञेयजी फ्रायड के मनोविश्लेषणशास्त्र के बहुत मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उनके द्वारा सम्पादित 'प्रतीक' साहित्य-रूपो के नये प्रयोगों के पुरस्कर्ता पत्र के रूप में प्रसिद्ध हो चुका है।

'अज्ञेय' की भाँति ही एक और प्रतिभाशाली लेखक, यशपाल, हिन्दी कहानी और उपन्यासो के क्षेत्र मे आये। ये भी एक क्रान्तिकारी राजनीतिक दल के भूतपूर्व सक्रिय सदस्य थे। इनकी कहानियाँ आगे चलकर उस श्रेणी के साहित्य को समृद्ध करने लगीं, जिसे प्रगतिवादी साहित्य कहते है। हम आगे उसकी सक्षिप्त विवेचना करने जा रहे हैं।

इस काल मे कई अन्य प्रभावशाली कहानी-लेखक और उपन्यास-लेखक भी हुए जिनमें चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', भगवतीचरण वर्मा, मोहनसिंह सेंगर, राधाकृष्ण प्रसाद उल्लेख-योग्य है। राजा राधिकारमणसिंह के उपन्यास विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं, क्योंकि इनमें मुहावरेदार भाषा और चटकीले चित्रों की योजना हिन्दी मे अपने ढग की अकेली ही है।

महिला लेखिकाएँ : कहानियों के क्षेत्र में कई प्रतिभाशाली महिला लेखिकाओं ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सुभद्राकुमारी चौहान, शिवरानी देवी, कमला देवी चौधरी और होमवती देवी ऐसी महिलाएँ हैं। इनकी कहानियों में भारतीय परिवार की समस्याएँ सामने आयी हैं। यथार्थ घरेलू चित्र प्रस्तुत करने में महिलाएँ पुरुष लेखकों से अधिक सफल सिद्ध हुई हैं।

निबन्ध और समालोचना के क्षेत्र में इस काल में बड़ी उन्नति हुई। पं. रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रौढ़ समालोचक इसी काल में अपनी कृतियों से हिन्दी साहित्य को समृद्ध कर रहे थे। पद्मसिंह शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और श्यामबिहारी मिश्र, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल और नन्ददुलारे वाजपेयी, सत्येन्द्र, नगेन्द्र आदि समालोचक इसी काल में अपनी रचनाओं के साथ साहित्य-क्षेत्र में आये। पत्रकारिता के क्षेत्र में बाबूराव विष्णु पराडकर, अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मी नारायण गर्दे, गणेशशंकर विद्यार्थी, बनारसीदास चतुर्वेदी, माखनलाल चतुर्वेदी जैसे कृती पत्रकारों ने इस काव्य में हिन्दी पत्रकारिता को बहुत समृद्ध बनाया।

नाटक . नाटकों के क्षेत्र में उतनी समृद्धि नहीं हुई, जितनी कविता और निबंध के क्षेत्र में। हिन्दी में रंगमंच कभी संगठित नहीं हुआ। फिर इस काल में सवाक् चित्रपटों का प्रचार बढ़ गया। फलस्वरूप रंगमंच पर अभिनीत होनेवाले नाटकों को धक्का लगा। फिर भी चित्रपट के आ जाने से नाटकीय कला में नवीन कारीगरी का सूत्रपात हुआ। अच्छे-अच्छे उपन्यासों का वाक्पटीय रूप (सिनेरिया) प्रकाशित होने लगा। इसी समय रेडियो का भी प्रचार बढ़ा। रेडियो पर खेले जानेवाले नाटकों को केवल कान के सहारे दूर-दूर के श्रोता सुनते हैं। इसीलिए रेडियो-नाटक की कारीगरी भी अन्य नाटकों से भिन्न श्रेणी की हुई। फिर भीड़-भाड़ की दुनियाँ में बड़े नाटकों का प्रचार कम हुआ और एकाकी और स्वोक्तिपरक (मोनोलॉग) नाटकों का चलन बढ़ा। इस प्रकार कारीगरी की दृष्टि से इस काल में नाटकों के चार और नये भेद दिखायी पड़े—वाक्पटीय नाटक (सिनेरियो), रेडियो-नाटक, स्वोक्तिपरक नाटक और एकांकी। पहले से चले आनेवाले बड़े नाटक, प्रहसन और गीतिनाट्य तो थे ही।

विषय-वस्तु की दृष्टि से यह काल ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक और रूपक नाटकों में विभाजित किया जा सकता है। प्रसादजी के ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों में से अधिकांश इसी काल में लिखे गये। प्रसादजी के प्रारम्भिक नाटकों में वस्तु-विन्यास शिथिल है और कथोपकथन रंगमंच के अनुपयुक्त। परन्तु धीरे-धीरे उनकी कला निखरती गयी है। फिर भी वस्तु-विन्यास की ओर उनका ध्यान कम था, कवित्वपूर्ण वातावरण, उदात्त प्रभावोत्पादन और आकर्षक चरित्र-चित्रण की ओर अधिक। 'प्रसाद' के पात्रों की अनेक श्रेणियाँ हैं। उनके स्त्री-पात्रों के भी कई टाइप हैं। अपने सांस्कृतिक महत्त्व के कारण ही ये नाटक अधिक ख्यात हुए। हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने भी कई अच्छे ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। वस्तु-विन्यास और प्रसंगानुकूल भाषा-योजना में वे बहुत सफल हुए हैं, पर 'प्रसाद' के समान मोहक

कवित्व और उदात्त गुणोंवाले चरित्रों का उतना अच्छा प्रयोग नहीं कर सके। परन्तु फिर भी 'प्रेमी' जी के नाटकों में नाटकीय तत्त्व प्रचुर मात्रा में है। पं. बदरीनाथ भट्ट के नाटक भाषा की सफाई और विषय-वस्तु के सुगठित विन्यास के कारण बहुत अच्छे बने हैं। 'दुर्गावती' आदि ऐतिहासिक नाटकों में उनकी कला बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हुई है। सेठ गोविन्ददास ने भी कई ऐतिहासिक तथा अन्य श्रेणी के नाटक लिखे हैं। सेठजी बहुत अध्ययनशील ग्रन्थकार हैं। वे नाटक सम्बन्धी नयी कारीगरियों का अध्ययन और प्रयोग बराबर करते रहे। श्री उदयशंकर भट्ट के ऐतिहासिक और पौराणिक गीतिनाट्यों में सुन्दर कवित्व और आकर्षक चरित्र-चित्रण है। उनका प्रभाव भी बहुत स्फूर्तिदायक होता है। डॉ. दशरथ ओझा ने कई सुन्दर ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। ओझाजी की भाषा सहज और चुस्त होती है और चरित्रों का विकास उनके भीतरी गुणों के कारण सहज ही होता है। ऐतिहासिक नाटक और भी कई लेखकों ने लिखे हैं। जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' की 'प्रताप प्रतिज्ञा' अच्छा अभिनेय नाटक है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र और रामवृक्ष शर्मा 'बेनीपुरी' ने भी इस ओर प्रयत्न किया है। बेनीपुरीजी की 'आम्रपाली' काफी ख्याति पा चुकी है। इस नाटक में बेनीपुरीजी के गतिशील स्वभाव का परिचय मिल जाता है। गोविन्दवल्लभ पंत के नाटक बहुत लोकप्रिय हुए हैं। उनकी 'वरमाला' नाटकीय गुणों से समृद्ध है। उनके अन्य नाटकों में नाटकीय गुण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की ख्याति उनके समस्या-नाटकों के कारण है। पश्चिमी देशों में सामाजिक समस्याओं ने विकट रूप धारण किया है। मानवता के प्रति दृष्टि निबद्ध होने के कारण समाज में गृहीत और स्वीकृत अनेक विश्वासों के सम्बन्ध में नये सिरे से प्रश्न उठे हैं कि ये सचमुच ही स्वीकार योग्य है या नहीं, और नहीं तो उनके स्थान पर कौन-से दूसरे आचरण संगत हो सकते हैं। पश्चिम के नाटककारों और उपन्यासकारों ने इन समस्याओं की ओर सहृदयों को आकृष्ट करना चाहा है। आधुनिक सभ्यता और चिरन्तन मान्यताओं के द्वन्द्व से ही ये नाटक आकर्षक बनते हैं। मिश्रजी ने भी उसी प्रकार के नाटक लिखे हैं। इनमें भावुकता का प्रवेश कम है। 'प्रसाद' के नाटकों में नारी-पात्रों में जो गीति-काव्यात्मक लोच है, वह इन नाटकों में नहीं है। प्रयत्न यथार्थ चित्रण का है। यथार्थ चित्रण के माध्यम से पाप-पुण्य के सम्बन्ध में निरावृत सचाई उपस्थित करना ही लेखक का लक्ष्य है। कई नाटकों में सफलता भी मिली है। पर ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय पाठक इस वस्तु को पसन्द नहीं कर रहा है। चन्द्रगुप्तजी के नाटकों की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। इस काल में चतुरसेन शास्त्री के भी कई नाटक प्रकाशित हुए हैं। शास्त्रीजी की भाषा में प्रवाह रहता है और घटना-विन्यास में अच्छे कौशल का प्रयोग किया गया होता है।

सिनेमा के लिए लिखे जानेवाले नाटक साहित्य में कम प्रयुक्त होते हैं। पर इस काल में कई बड़े-बड़े लेखक इस ओर आकृष्ट हुए हैं। सुदर्शन और

चरण वर्मा इस क्षेत्र मे जा चुके है और एक वार स्वयं प्रेमचन्द भी उधर चले गये थे। रेडियो नाटक का भी प्रचार बढ़ रहा है। कुछ लेखकों ने इस ओर ध्यान दिया है। कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने भी इस उद्देश्य से कुछ नाट्य-रूपकों की रचना की है।

स्वोक्तिपरक (मोनोलॉग) भी कई प्रकाशित हुए है। सबसे आकर्षक है वेनीपुरीजी का 'सीता की माता'। अभी बहुत थोड़े लेखकों ने इस ओर ध्यान दिया है।

रूपक-नाट्यो की परम्परा भी चलती रही, यद्यपि हिन्दी में यह शैली बहुत लोकप्रिय नही बन पायी। प्रसादजी की 'कामना', सुमित्रानन्दन पंत की 'ज्योत्स्ना' काफी कवित्वपूर्ण है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी और उदयशंकर भट्ट ने भी इस श्रेणी की रचनाएँ लिखी है। प्रहसनों का जोर इस काल में नही रहा। भारतेन्दुकाल के प्रहसनो की सजीवता वाद में एकदम लुप्त हो गयी। जी. पी. श्रीवास्तव के प्रहसन बहुत उच्च साहित्यिक मर्यादा नही पा सके। उपेन्द्रनाथ अश्क के कई एकांकियो में इस जाति का साहित्य रचित अवश्य हुआ है, पर शक्तिशाली व्यंग्य और परिहास का लेखक अभी हिन्दी मे नही पैदा हुआ।

एकांकी नाटक : परन्तु इस काल में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना हुई एकांकियों के अभ्युदय और प्रचार की। जिस प्रकार महाकाव्यो के स्थान पर प्रगीतमुक्तकों का प्रचलन बढ़ा, उपन्यासों के स्थान पर छोटी कहानियों का प्रचार हुआ, उसी प्रकार बड़े नाटकों के स्थान पर एकांकी नाटकों का प्रचार बढ़ा। रामकुमार वर्मा और उदयशंकर भट्ट के एकांकी बहुत पसन्द किये गये। इस प्रकार इस काल में एक नये साहित्यांग का प्रचार हुआ। वाद मे चलकर उपेन्द्रनाथ अश्क ने इस क्षेत्र मे बहुत अच्छा कार्य किया। उनके एकांकी नाटकों में यथार्थ का चित्रण हुआ। हिन्दी का एकांकी नाटकों का साहित्य खूब समृद्धि पर है।

भावात्मक गद्य : इस काल मे भावात्मक गद्य-निवन्धों का भी अच्छा प्रचार हुआ। रवीन्द्रनाथ की 'गीताजलि' का अंग्रेजी गद्य इसी श्रेणी का है। इस प्रकार के गद्य में भावावेग के कारण एक प्रकार का लययुक्त झंकार होता है, जो सहृदय पाठक के चित्त को भावग्रहण के अनुकूल बनाता है। रायकृष्णदासजी की तीन पुस्तकें—'साधना', 'प्रवाल' और 'छायापथ'—इस श्रेणी की हैं। इनमें जो गद्य प्रयुक्त हुआ है वह विषय के अनुकूल झंकार उत्पन्न करता है। वियोगी हरि के 'अन्तर्नाद' और 'भावना' भी ऐसे ही निवन्ध हैं। रायकृष्णदास और वियोगी हरि के गद्यो में आध्यात्मिक आत्मसमर्पण-मूलक रहस्यवादी भाव हैं। डॉ. रघुवीर सिंह की 'शेप स्मृतियाँ' मे पुराने ऐतिहासिक तथ्यों पर अत्यन्त मार्मिक ढंग की आवेग-प्रधान भाषा है। भवँरमल सिंघी की 'वेदना' में गीतिकाव्य का-सा प्रभाव है। दिनेशनन्दिनी चोरड़िया के गद्यों में भावोच्छ्वास की मात्रा बहुत अधिक है। इनमें आत्मनिवेदन का स्वर बहुत द्रावक रूप मे अभिव्यक्त हुआ है। इस काल मे कई अन्य लेखकों ने भी भावात्मक गद्य लिखे पर अधिकांश स्थलों में जितना फेन दिखायी पड़ता है, उतना रस नहीं। आलोच्य काल के अन्त तक इस प्रकार

के भावावेग भरे गद्य-गीतों का प्रचलन कम हो गया।

गद्य के विविध रूप : गद्य के अनेक रूपों का उद्‌भव इस काल में विशेष रूप से लक्ष्य करने योग्य है। प. बनारसीदास चतुर्वेदी के संस्मरण बड़े ही जीवन्त और सरस होते हैं। उनकी शैली अनुकरणीय है। बिना किसी आडम्बर के वे पाठक को चरितनायक के अन्तस्तल तक ले जाते हैं। उनके संस्मरणों का पाठक अनुभव करता है कि जो लोग समाज में ऊँची मर्यादा पा सके हैं, वे भी वैसे ही मनुष्य हैं जैसे वे हैं। उनकी भी व्यक्तिगत और पारिवारिक समस्याएँ है, वे भी दुख-सुख के झोंकों से उठते-गिरते रहे है। चतुर्वेदीजी की सहानुभूति उन लेखकों से है जो सफल नहीं हो सके, परन्तु जिनके आत्मदान से साहित्य उर्वर हुआ है। चतुर्वेदीजी के सस्मरण बहुत ही सात्विक और प्रेरणादायक साहित्य हैं। पं. श्रीराम शर्मा की जीवन्त, और चित्र खींच देनेवाली रचनाओं का भी अनुकरण नहीं हो सकता। उनके शिकार-सम्बन्धी लेखों में हिन्दी के नवीन ढंग का सजीव साहित्य मूर्तिमान् हुआ है। बाबू गुलाबराय की हास्यविनोदपूर्ण और गम्भीर आलोचना-वाली शैलियो मे हिन्दी गद्य श्रीसम्पन्न हुआ है। प. हरिशंकर शर्मा की हास्य-विनोदपूर्ण शैली बहुत ही मार्मिक है। उनका 'चिड़ियाघर' व्यंग्य-परिहास की अच्छी पुस्तक है। प्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा के रेखाचित्र भी बहुत ही जीवन्त चित्रण हैं। इन चित्रों मे महादेवीजी की प्रतिभा का एक नया द्वार उद्‌घाटित हुआ है। एक तरफ सताये हुए और अपमानितो के प्रति उनका कोमल हृदय सहानुभूतियों की बहुमुखी धारा के रूप मे फूट पडा है, और दूसरी ओर जो इस प्रकार के निर्यातन के सहायक हैं उनके प्रति उनके हृदय का रोष सहस्र-धार होकर बरस पडा है। वे जिस व्यक्ति को चित्रित करती है, वह अपनी समस्त विशेषताओं के साथ जीवन्त हो उठता है। डॉ. भगवतीशरण उपाध्याय के तिल-मिला देनेवाली शैली के व्यंग्यगर्भ और स्फूर्ति-दायक निबन्ध, प्रभाकर माचवे की व्यंग्यात्मक कहानियाँ, गोपालप्रसाद व्यास के परिहासात्मक निबन्ध और कविताएँ और राय सोमनारायण के व्यंग्य-रेखांकन सुन्दर हुए हैं।

इस काल का गद्य जीवनी के रूप में, आत्मकथा के रूप में, संस्मरणों के रूप मे, व्यंग्य-कटाक्षों के रूप मे, भावात्मक गद्य-गीतों के रूप में, पुरुष वाक्-प्रहार के रूप में और संयत वाद के रूप में बहुमुखी समृद्धि के साथ प्रकट हुआ है। इन सभी रूपों मे शक्तिशाली लेखक प्राप्त नहीं हुए हैं, पर सबका श्रीगणेश हो गया है। पत्र-पत्रिकाओं मे गद्य के विविध रूपों के प्रयोग देखने को मिलते हैं। सब समय उनमें गहराई नहीं होती, पर जीवन का स्पर्श उनमें अवश्य होता है। यह बहुत बडी बात है। जीवन के स्पर्श से ही साहित्य में प्राण आता है। जो साहित्य जीवन से विच्छिन्न हो जाता है, वह केवल वाग्विलास मात्र रहकर समाप्त हो जाता है; पर जो जीवन के स्पर्श से प्राणवन्त बन जाता है, उसमें विकसित होने और बल्कि होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं।

इस प्रकार यह काल साहित्य की बहुमुखी उन्नति का काल है।

उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि सभी क्षेत्रों में इस समय खूब समृद्धि आयी है। इस काल में विश्वविद्यालयों में हिन्दी के गृहीत हो जाने से गम्भीर आलोचनात्मक निबन्धों की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। बाबू श्यामसुन्दरदास और उनके सहकर्मियों ने भाषा-विज्ञान, समालोचना, साहित्य का इतिहास आदि विषयों पर गम्भीर पुस्तकें लिखीं और इस प्रकार हिन्दी के पठन-पाठन के स्तर को उन्नत बनाया। सैकड़ों अख्यात-अज्ञात लेखकों ने स्वल्प काल में ही भाषा को वह शक्ति दी, जो वर्षों की साधना और संघर्ष से ही प्राप्त हुआ करती है। इन थोड़े-से वर्षों में हिन्दी में जो अपूर्व ग्राहिका शक्ति, प्रकाशन-क्षमता और गम्भीर चिन्तनमूलक प्रतिभा का विकास हुआ, उसके मूल में ऐसे हजारों लेखकों का आत्मदान है जिनके नाम कभी भी किसी इतिहास में नहीं लिखे जायेंगे। उपेक्षित, अपमानित, बुभुक्षित रहकर भी न जाने कितने अज्ञातनामा महाप्राण लेखकों ने भाषा को यह शक्ति दी है। इतिहास-लेखक उनके नाम नहीं गिना सकता, पर उनको मूक और प्रेरणा-दायिनी सेवाओं के प्रति अवश्य सचेत रहता है। उनको अपनी मौन प्रणति निवेदन किये बिना वह नहीं रह सकता। विराट् प्रासाद के ऊपरी सतह पर जो नहीं दिखायी देते उन कणों का महत्त्व कम नहीं है। इतिहास-लेखक केवल श्रद्धा और आश्चर्य के साथ उन महासाधकों को स्मरण कर सकता है जिनके आत्मदान से ही साहित्य-प्रासाद के ऊँचे कँगूरों का ऊँचा होना सम्भव हुआ है।

6. प्रगतिवाद (1936-52 ई.)

मानवतावाद का विकृत रूप : आरम्भ में मानवतावाद मानवता को शोषण और बन्धन से मुक्त करने के बड़े महान् और उदार आदर्शों से चालित हुआ था। तत्त्वचिन्तकों और साहित्यमनीषियों के मन में इस आदर्श का रूप बहुत ही उदार था, पर व्यवहार में मनुष्य की उदारता केवल एक ही राष्ट्र के मनुष्यों की मुक्ति तक ही सीमित होकर रह गयी। धीरे-धीरे राष्ट्रीयता नामक नवीन देवी का जन्म हुआ। यह एक हद तक प्रगतिशील विचारों की ही उपज थी। हमारे देश में भी नये जीवन-साहित्य के स्पर्श से नवीन जीवन-आदर्श जाग पड़े। मानवतावाद भी आया; दलितों, अधःपतितों और उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति का भाव भी आया; और साथ-ही-साथ राष्ट्रीयता भी आयी। पश्चिमी देशों में राष्ट्रीय भावना के बहुल प्रचार ने एक राष्ट्र के भीतर सुविधाभोगी और सुविधा के जुटानेवाले दो वर्गों के व्यवधान को बढ़ाने में सहायता पहुँचायी। जिन लोगों के पास सम्पत्ति है और जिनके पास सम्पत्ति नहीं है, उनका अन्तर भयंकर होता गया। एक तरफ तो विषमता बढ़ती गयी और दूसरी तरफ राष्ट्रीयता की देवी युवावस्था की देहली पर पहुँचकर ऐसी ईर्ष्यालु रमणी साबित हुई, जो सारे परिवार को ही ले डूबती है। संसार में एक ओर राष्ट्रीयता ने सिर उठाया, दूसरी ओर मानवतावाद के विकृत चिन्तन ने उस विकृत मतवाद को जन्म दिया जिसके अनुसार मनुष्यों में भी दो श्रेणी के मनुष्य हैं—एक उत्तम, दूसरे निकृष्ट ; एक में देवत्व की सम्भाव-

नाएँ हैं और दूसरे में पशुता से कोई विशेष अन्तर नहीं है। इन विकृत विचारों ने ठाँय-ठाँय दो महायुद्धों को भूपृष्ठ पर उतार दिया। इस प्रकार मनुष्यता की महिमा भी विकृत रूप मे भयकर हो उठी।

आज ससार का सवेदनशील चित्त इस भयंकर दुष्परिणाम से व्याकुल हो गया है। सारे संसार के साहित्य के निष्ठावान् मनीषियों के मन मे आज एक ही प्रश्न है—यही क्या वास्तविक मानवतावाद है जो मनुष्य को अकारण विनाश के गर्त में ढकेल रहा है? उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी-स्वप्नदर्शियों ने और इस देश के पिछले सेवे के महान् साहित्यकारों ने क्या मानवता की इसी महिमा का प्रचार किया है? आज नाना स्वरों में वैचित्र्य-संवलित आकार धारणा करके एक ही उत्तर मानव-चित्त की गभीरतम भूमिका से निकल रहा है—मानवतावाद ठीक है, पर मुक्ति किसको? क्या व्यक्ति-मानव को? नही। सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को—व्यक्ति-मनुष्य को नही, बल्कि समष्टि-मनुष्य को—आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा।

प्रगतिशील और प्रगतिवादी साहित्य : यह गलत बात है कि मनुष्य कभी पीछे लौटकर ठीक हू-ब-हू उन्ही विचारों को अपनायेगा जो पहले थे। जो लोग मध्ययुग की भाँति सोचने की आदत को इस भयंकर वात्याचक्र की उलझन से बच निकलने का साधन समझते है, वे गलती करते है। इतिहास चाहे और किसी क्षेत्र मे अपने को दुहरा लेता हो, विचारों के क्षेत्र मे वह जो गया सो गया। उसके लिए अफसोस करना बेकार है। पर इतिहास हमारी मदद अवश्य करता है। रह-रह-कर प्राचीन काल के मानवीय अनुभव हमारे साहित्यकारो के चित्त को चचल और वाणी को मुखर बनाते अवश्य हैं, पर वे व्यक्ति-साहित्यकार की विशेषता के रूप में ही जी सकते हैं। हमारे साहित्यकार ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है—सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का। अगली मानवीय सस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। इतिहास के अनुभव इसी की सिद्धि से साधन बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद हो सकते है। इस प्रकार हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश और बैठ रहा है—व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव का प्राधान्य। परन्तु साथ ही उसने मनुष्य को अधिक व्यापक आदर्श और अधिक प्रभा-वोत्पादक उत्साह दिया है। जब-जब ऐसे बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है, तब-तब साहित्य नये काव्यरूपों की उद्भावना करता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ है। इसी नवीन आदर्श से चालित साहित्य का नाम 'प्रगतिशील' साहित्य है। इसी की एक निश्चित तत्त्ववाद पर आश्रित शाखा 'प्रगतिवादी' साहित्य है। 'प्रगतिशील' व्यापक शब्द है, किन्तु 'प्रगतिवाद' एक निश्चित तत्त्ववाद को सूचित करता है।

ऊपर बताया गया है कि महात्मा गाधी के नेतृत्व में विदेशी बन्धन से मुक्ति पाने का जो आन्दोलन देश में चल रहा था, वह एक महान् सांस्कृतिक आन्दोलन

और अज्ञेय नही समझता तथा किसी अज्ञेय-अलक्ष्य चिरन्तन प्रियतम की लीला को साहित्य का लक्ष्य नही मानता। वह समाज बदल देने मे विश्वास करता है। उसका विश्वास है कि मनुष्य प्रयत्न करके इस समाज को ऐसा बना सकता है, जिसमे शोषकों और शोषितों के वर्ग न हों और मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन बीता सके। इसीलिए उनके अनुसार साहित्य वर्गहीन समाज की स्थापना का एक साधन है। साहित्यकार को इसकी साधना इसी महान् उद्देश्य के लिए करनी चाहिए।

वर्तमान अवस्था : आज के समाज का अगर विश्लेपण किया जाय तो स्पष्ट होगा कि इसमे एक समूह उन लोगों का है, जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध है। उत्पादन के समस्त साधन उन्हीं लोगों के हाथो में हैं। इन साधनों पर अधिकार होने के कारण उनके हाथ मे धन पुंजित होता जा रहा है। पुंजित धनराशि को सुरक्षित रखने के लिए उनकी ओर से धर्म और साहित्य की उन मान्यताओं की सृष्टि हुई है, जो इस धनराशि पर हाथ लगाने को पाप और अनैतिक कार्य घोषित करती हैं। इसीलिए पूंजीवाद इस वर्तमान सामाजिक अवस्था मे नेगेटिव या प्रतिगामी शक्ति है। यह असंख्य जनता के शोषण पर आधारित है और इस व्यवस्था को चालू रखने के लिए हर प्रकार का काम करना चाहता है। इन लोगों के मत से समाजवाद प्रगतिशील विचारधारा है, क्योंकि वह वर्तमान समाज को वर्गहीन समाज मे बदलने को कृत-सकल्प है।

नये साहित्यकार : इस नये तत्त्वदर्शन से प्रभावित होकर अनेक लेखकों और कवियों ने लेखनी सम्हाली है। इनमे दो श्रेणी के लेखक है। एक तो वे जो कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्धित हैं और पार्टी की *निर्धारित नीति और अगुलिनिर्देश* पर साहित्य लिखते है। दूसरे वे जो पार्टी से सम्बन्धित नही है, पर इन विचारों को मानते और तदनुसार यत्न करते है। बहुत थोड़े समय मे प्रगतिवादी विचारधारा ने राहुल सांकृत्यायन जैसे प्रौढ विद्वान्, प्रकाशचन्द गुप्त, शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा, और भगवतशरण उपाध्याय जैसे चिन्तनशील आलोचक; यशपाल और रांगेय राघव जैसे उपन्यासकार, अमृतराय जैसे कहानी-लेखक और समालोचक तथा शिवमगलसिंह 'सुमन' और नागार्जुन जैसे कवियों को आकृष्ट और प्रेरित किया है। किसी समय सुमित्रानन्दन पंत भी इस विचारधारा से प्रभावित हुए थे। इनमें कई लेखकों की योग्यता परीक्षित हो चुकी है और कई में अच्छी सम्भावनाएँ है। कम्युनिस्ट पार्टी से जिन साहित्यकारों का सम्बन्ध है उनको पार्टी के निर्देश पर चलना पड़ता है। पार्टी का इस प्रकार स्वतन्त्र चिन्तन के मार्ग मे आना हितकर नही हो सकता। कई प्रगतिवादी लेखक पार्टी के अकुश को बर्दाश्त न कर सकने के कारण उससे अलग हो गये हैं। भविष्य में या तो पार्टी को अपना अंकुश उठा लेना पड़ेगा या प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों से वंचित रहना पड़ेगा। अनेक चिन्तनशील कवि और आलोचक प्रगतिशील कहे जा सकते हैं, यद्यपि उन्होने मार्क्स द्वारा प्रवर्तित जीवन-दर्शन को पूर्ण रूप से नही अपनाया,

या अपनाया भी तो कुछ स्वाधीनता के साथ। कई नये लेखकों में शक्ति का सन्धान पाया गया है। रघुवंश, धर्मवीर भारती, शम्भुनाथसिंह, ठाकुरप्रसादसिंह और नामवरसिंह जैसे लेखक नयी सम्भावनाओं को लेकर आ रहे हैं।

प्रगतिवाद के विरोधी साहित्यकार कौन हैं ? : प्रगतिवादी साहित्यकार उन लेखकों को प्रतिगामी या पीछे की ओर घसीटनेवाला समझता है (1) जो पुनरुत्थानवादी हैं, अर्थात् जो अतीतकाल के मोहक गान गाकर जनता में इस बुद्धि का प्रचार करते है कि वर्तमान की तुलना मे अतीत अधिक महिमामण्डित काल था और इसीलिए उन सभी बातों को अपनाना चाहिए जिन्हें अतीत के कृती पुरुषों ने किया था ; (2) जो रहस्यवादी हैं और निस्सीम चिरन्तन प्रियतम की बात कह-कहकर ससार को वर्तमान संघर्ष से हटाकर काल्पनिक लीला-निकेत में ले जाकर भुलावा देते हैं, क्योंकि वे लोग संघर्ष से भागने की प्रेरणा देते हैं; (3) जो काम और यौन-तत्त्वों को जीवन के अन्य सैकड़ों पक्षों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते है और समाज की रीढ़ ही कमजोर कर डालते हैं; (4) जो जीवन के सघर्षों और उनसे निकलकर आगे बढ़ने की बात न कहकर केवल इस या उस मनोवैज्ञानिक पण्डित की बतायी हुई बातों को घोख लेते हैं और मनोविश्लेषण का बहाना लेकर उसकी आड़ मे पलायनवादी मनोवृत्ति को प्रश्रय देते हैं। ये चारों प्रकार के साहित्यिक प्रगतिवादियों की दृष्टि में समाज को आगे बढ़ाने की बजाय पीछे धकेलते है और उस व्यवस्था को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे जीवित रखने मे सहायक होते है, जो समाज के पिछड़े और उपेक्षित अंगों के शोषण पर ही आधारित है। ज्यों-ज्यों प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति साम्प्रदायिक रूप धारण करती जा रही है, त्यों-त्यों ये सूत्र फारमूला को भाँति प्रयुक्त होने लगे हैं और किसी भी लेखक पर प्रयोग कर दिये जाते हैं। परन्तु जो लोग साम्प्रदायिकता के ऊपर उठ सकते हैं, वे इन सूत्रों का उपयोग नही करते बल्कि लेखक के उद्देश्य और प्रभाव की निपुण विवेचना करने के बाद ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। फारमूला का प्रयोग किया जाय तो प्रसादजी प्रतिगामी होंगे, महादेवी अप्रगतिशील बन जायेंगी और राहुल सांकृत्यायन को भी जाति-बहिष्कृत करना पड़ेगा। परन्तु सभी प्रगतिवादी अभी तक साम्प्रदायिक नही हुए हैं और वे विवेच्य का उचित विश्लेषण करके ही अपना मत देते है।

प्रगतिशील आन्दोलन की सम्भावनाएँ : प्रगतिवादी आन्दोलन बहुत महान् उद्देश्य से चालित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी सम्भावनाएँ अत्यधिक है। भक्ति के महान् आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श-निष्ठा दिखायी पड़ी थी, जो समाज को नये जीवन-दर्शन से चालित करने का सकल्पवहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप मे प्रकट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है। भक्ति का महान् आन्दोलन साम्प्रदायिकता की चट्टान से टकराकर चूर्ण-विचूर्ण हो गया। इस आन्दोलन में भी एक प्रकार की साम्प्रदायिकता के उगने के चिन्ह दीखने लगे हैं। आशा करनी

चाहिए कि वह बढ़ नहीं पायेगा और मनुष्य को सब प्रकार के शोषणों और बन्धनों से मुक्त करने की महिमामयी साधना सफल होगी।

[इस काल की सहायक पुस्तकें—रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा : 'हिन्दी गद्य-शैली का विकास,' डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : *'आधुनिक हिन्दी साहित्य;'* डॉ. श्रीकृष्णलाल : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (1900-25 ई.) ; पं. नन्ददुलारे वाजपेयी : 'आधुनिक साहित्य;' सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन : 'आधुनिक साहित्य;' पं. कृष्णशंकर शुक्ल : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास']

उपसंहार

सन् 1947 ई. में भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया। स्वतन्त्रता के साथ-ही-साथ मनुष्य की उन्नति के अनेक द्वार खुल गये। हिन्दी अनेक रगड़े-झगड़े के बाद केन्द्रीय सरकार की राजभाषा के रूप में स्वीकार कर ली गयी और अब वह समूचे संसार की समृद्ध भाषाओं की खुली प्रतिद्वन्द्विता में आ गयी है। नवीन अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति ने जहाँ हमें मानवतावादी दृष्टि दी है, वहीं उसके दीर्घकालीन सम्पर्क ने हमारे देश के शिक्षित लोगों के चित्त में अपनी भाषा के प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव भी ला दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि यद्यपि देश की सामान्य भाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार कर लिया गया है, तथापि अभी उस प्रकार की मानसिक जागरूकता नहीं आयी है जो साहित्य को सम्पन्न और व्यापक बनाती है। अब भी अंग्रेजी भाषा का स्थान यथापूर्व बना हुआ है और कभी-कभी तो उसके चले जाने की सम्भावना-मात्र से आशंका अनुभव की जा रही है। देशवासियों को अपनी देश-भाषा की योग्यता के बारे में सन्देह है। यह एक प्रकार की आत्मवंचना ही है। पुराने जमाने में अंग्रेज कहा करते थे कि भारतवासियों में शासनभार सम्हालने की योग्यता नहीं है, जिस दिन वह योग्यता आ जायेगी, उस दिन हम उन्हें राज्यभार सौंपकर हट जायेंगे। इतिहास साक्षी है कि अंग्रेजों का यह कथन झूठ था। उनकी नीति ही ऐसी थी कि भारतवासी कभी राज्य चलाने योग्य होने ही न पाते। अनेकानेक संघर्षों के फलस्वरूप अंग्रेज इस देश को छोड़ने को बाध्य हुए। अब अंग्रेजी पढ़े लोग कहने लगे हैं कि हिन्दी में राजकाज चलाने की योग्यता नहीं है। इतिहास बतायेगा कि यह भी असत्य है। अभी तक हिन्दी का जो इतिहास है, वह इस भाषा की अपूर्व प्राणिका शक्ति और भण्डार के

अनुकूल बनने की क्षमता का साक्षी है। पिछले सौ वर्षों में इस भाषा ने अद्भुत शक्ति का परिचय दिया है। घर-बाहर सर्वत्र इसकी अपेक्षा थी। अदालतों में इसे स्थान नहीं मिला, उच्चतर शिक्षा का माध्यम इसे नहीं होने दिया गया और राजनीतिक नेताओं ने भी इसे कोई विशेष करावलम्ब नहीं दिया। इस प्रकार सब ओर से उपेक्षित और अवहेलित होते हुए भी सिर्फ अपनी भीतरी प्राणशक्ति के बल पर यह भाषा आज देश की राष्ट्रभाषा हो सकी है। संसार के इतिहास में ऐसी दूसरी भाषा शायद नहीं है, जो सब ओर से उपेक्षित रहते हुए भी इतनी शक्ति अर्जन कर सकी हो।

आधुनिक हिन्दी भाषा का साहित्य प्रतिकूल और विसदृश परिस्थितियों के बीच रचा गया है। एक ओर साहित्यकारों को उपेक्षा का शिकार होना पड़ा है, दूसरी ओर अवज्ञा की चोट सहनी पड़ी है। दुहरी मार के कारण साहित्यकार की अधिकांश शक्ति परिस्थितियों से जूझने में खर्च करनी पड़ी है। राज्य की ओर से कोई सम्मान नहीं मिला, विश्वविद्यालयों की ओर से कोई स्वागत नहीं हुआ और न्याय के ऊँचे आसनों से भी कोई न्यायपूर्ण व्यवहार नहीं हुआ, लेकिन हिन्दी के महाप्राण साहित्यकार विचलित नहीं हुए। यह कहानी जितनी ही खेदजनक है, उतनी ही स्फूर्तिदायक। हिन्दी के आधुनिक काल के साहित्यकारों की सब कहानियाँ प्रकाशित नहीं हुईं। जितनी प्रकाशित हुई है उतनी रोमांचक है। कितने ही साहित्यिक बीमारी की अवस्था में दवा न पाकर चल बसे, कितने ही दरिद्रता की मार से जीवनभर तड़पते रहे, परन्तु उन्होंने कभी शिकायत नहीं की, दूसरों के सामने दया की भीख नहीं माँगी। परिस्थितियों ने कितनों ही को मानसिक हीनता ग्रन्थि का शिकार बना दिया, कितनों ही में निराशा और अवसाद के भाव ला दिये, परन्तु फिर भी इस युग के सत्य को यथाशक्ति लोकभाषा में लिखकर देश की जनता को उद्बुद्ध करते रहे। यह कहानी और भी प्रादेशिक भाषाओं के क्षेत्र में दुहरायी गयी है। आज जो देश को गुलामी की जंजीर तोड़ने की शक्ति प्राप्त हुई, उसके मूल में देशी भाषाओं के सहस्रों अख्यात और अज्ञात लेखक हैं। उन्होंने अपने-आपका बलिदान करके देशवासियों के चित्त में आत्मसम्मान की भावना जगायी है। हिन्दी के साहित्यकार इस विषय में कभी पीछे नहीं रहे।

जिस भाषा को इतने संघर्षों के भीतर से अपना रास्ता निकालना पड़ा है, उसकी शक्ति निस्सन्देह अद्भुत है। बाधा मुक्त होने पर वह और भी आश्चर्यजनक ग्राहिका शक्ति का परिचय देगी।

पिछले अध्यायों में हमने देखा है कि आधुनिक मानवीय दृष्टिकोण को अपनाने में हमारे साहित्यकारों को प्रयास अवश्य करना पड़ा है, पर वह केवल इस बात की निशानी है कि उन्होंने अन्धाधुन्ध अनुकरण नहीं किया है; स्वयं परीक्षा की है, प्रयोग किये हैं, और अन्त तक सुपरीक्षित सत्य को स्वीकार किया है। युगचेतना को स्वीकार करनेवाले और उसे लोकचित्त में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करनेवाले साहित्यिक ही अन्त तक जिये हैं। जो लोग प्रतिक्रियाशील थे, जिन्होंने व्यंग्यों

और कटाक्षों द्वारा आगे बढ़ते हुए साहित्य का रास्ता रोकने का प्रयत्न किया था, वे भुला दिये गये। इसका अर्थ यह है कि हिन्दी के सहृदय पाठक युगसत्य को पहचानते है।

हमारे साहित्य की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसमे उन नवीन ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं पर पर्याप्त पुस्तकें नही है जिनके अध्ययन-मनन के बाद ही आधुनिक सांस्कृतिक दृष्टि उत्पन्न होती है। हमारे कवियों और औसत पाठकों के बीच बराबर व्यवधान बना रहा है और आज भी है। साहित्य को ऊँचाई के लिए जिस विशाल चौकी की आवश्यकता होती है, वह हमारे पास नही है। प्रतिकूल परिस्थितियाँ ही इसका कारण रही है। विश्वविद्यालयों की उच्चतर शिक्षा का माध्यम न होने के कारण और देश के शिक्षित लोगों के अपनी भाषा के भण्डार भरने के अनावश्यक प्रयत्न समझने की खेदजनक मानसिक अवस्था के कारण हिन्दी मे ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओ का निर्माण नही हुआ है। अंग्रेजी मे नाना विषयों की पुस्तकें पढ़कर हिन्दी के रचनात्मक साहित्य मे उन विचारो के निष्कर्षों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु साधारण औसत पाठक को इन निष्कर्षों का महत्त्व समझने की दृष्टि नही मिली। साधारणतः लम्बी भूमिकाओं में और बेडौल समालोचनाओं मे इस व्यवधान के पाटने का प्रयत्न दिखायी देता है। परन्तु यह प्रयत्न तभी सफल होगा जब नये ज्ञान-विज्ञान के विषय में समझ में आने योग्य सहजभाषा मे पुस्तकें लिखी जायें। यह हर्ष का विषय है कि इस प्रकार का प्रयत्न शुरू हो गया है, पर उसमे अपेक्षित तेजी और सतर्कता नही आ सकी है।

इस बात के लक्षण दिखायी देने लगे है कि शीघ्र ही इस देश के अनेक विश्वविद्यालयों मे पढाई और परीक्षा का माध्यम हिन्दी हो जायेगी। ऐसा होने से अनेक विषयों पर पुस्तकें लिखी जायेंगी, सन्देह नही। अभी भी यह प्रयत्न बाल-अवस्था में दृष्टिगोचर हो रहा है। इस ओर से भाषा के समृद्ध होने की बहुत अधिक सम्भावना है। फिर अनेक राज्यो की सरकारो ने हिन्दी को राजभाषा घोषित किया है। इन घोषणाओं मे भी अनेक सम्भावनाएँ बीज-रूप मे वर्तमान है। यद्यपि अभी तक देश की केन्द्रीय धारासभाओं और उच्च न्यायालयों मे अंग्रेजी का प्राधान्य बना हुआ है, तथापि दीर्घकाल तक इसी प्रकार चलते रहना सम्भव नही है। शक्ति जनता के हाथ मे आ गयी है और जनभाषा की उपेक्षा करके कोई सरकार स्थायी नही हो सकेगी। सब मिलाकर हिन्दी की बहुमुखी उन्नति के सभी द्वार खुल गये है, जो बन्द दिख रहे हैं उनके भी खुल जाने की आशा है। अब हिन्दी का साहित्य कुछ थोड़े-से लोगो की गोष्ठियों के घेरे से बाहर निकल आया है। यह सत्य है कि हमारे बहुत-से साहित्यकार अब भी बँधे घेरे से बाहर निकलने में झिझक रहे है, परन्तु यह और भी अधिक सत्य है कि अब साहित्य कुछ पेशेवर साहित्यिको का विनोद मात्र नही है। हमारे सम्पूर्ण देश की जनता ने दुःख दारिद्र्य को दूर करने का संकल्प किया है, सारे देश में आशा और विश्वास

का संचार करने का संकल्प किया है और, कोई माने या न माने, हिन्दी भाषा में लिखित साहित्य से ही देश के गौरव और कल्याण को आंकने का प्रयत्न होने लगा है।

अब हिन्दी को प्रान्तीय भाषाओं के निकट सम्पर्क में आना पड़ रहा है। हमारे देश की कई प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य काफी समृद्ध है। उन भाषाओं से उत्तमोत्तम ग्रन्थों के संग्रह करने का प्रयत्न भी अभी बाल-अवस्था में ही है। परन्तु बहुत जल्दी यह प्रक्रिया शक्तिशाली रूप धारण करेगी, इस बात के स्पष्ट लक्षण दिखायी देने लगे हैं। इससे केवल हिन्दी का साहित्य-भण्डार ही पूर्ण नहीं होगा, बल्कि वह सच्चे अर्थों में सार्वदेशिक भाषा बनेगी। सौभाग्यवश हिन्दी की यह परम्परा बहुत पुरानी है। नाना प्रदेश के सन्तों और भक्तों ने इस भाषा के प्राचीन साहित्य-भण्डार में अपनी अपूर्व कृतियाँ दी हैं। आशा की जानी चाहिए कि वह परम्परा अब और भी अधिक उज्ज्वल और शक्ति-सम्पन्न बनेगी। सुनीतिकुमार चटर्जी, क्षितिमोहन सेन, काका कालेलकर, किशोरलाल घ. मश्रुवाला जैसे कृती पण्डितों और विचारकों ने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं से इस साहित्य के भण्डार को समृद्ध किया है।

हिन्दी के साहित्यकारों का सामाजिक मनुष्य को दुःख-दारिद्रय से मुक्त करके आत्मविश्वासी और समृद्ध बनाने का संकल्प मूर्त रूप धारण करने लगा है। सब मिलाकर ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। उसमें अधिक श्रीसम्पन्न, अधिक उदार, अधिक सुकुमार और अधिक ओजस्वी बनने की सम्भावनाओं के स्पष्ट लक्षण दिखायी देने लगे हैं।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल

वक्तव्य

[द्वितीय संस्करण]

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से प्रकाशित हुई पुस्तकों में सबसे पहले यही पुस्तक ('हिन्दी साहित्य का आदिकाल') प्रकाशित हुई थी। दूसरे संस्करण का सौभाग्य प्राप्त करनेवाली पहली पुस्तक भी यही है। अतः इसकी उपयोगिता और लोकप्रियता स्वयंसिद्ध है।

सन् 1956 ई. के मध्य में ही यह पुस्तक अप्राप्य हो गयी। प्रथम संस्करण की समाप्ति से पूर्व ही इसके संशोधन-संवर्द्धन के लिए, इसकी प्रति, आचार्य द्विवेदीजी की सेवा में भेज दी गयी थी। किन्तु वे, केन्द्रीय शासन के राजभाषा-आयोग के सदस्य होकर देश के विभिन्न स्थानों मे भ्रमण करते रहे, इसलिए इसकी संशोधित एवं परिवर्द्धित प्रति बहुत विलम्ब से प्रेस मे जा सकी। फल-स्वरूप, पूरे नव महीने के बाद यह पुनः सुलभ हुई है।

इसका विशेष प्रचार विश्वविद्यालयों के क्षेत्र मे ही हुआ है। इसके अलभ्य होने पर उस क्षेत्र के साहित्यानुशीलन-कर्त्ताओं की उत्कण्ठा का जो अनुमान हुआ, उससे यह आशा प्रतीत होती है कि निकट भविष्य में ही इसके तीसरे संस्करण का प्रकाशन भी सम्भव हो सकेगा।

इस दूसरे संस्करण के सम्बन्ध में विद्वान् लेखक ने अपनी भूमिका के अन्तर्गत यह स्पष्ट बतला दिया है कि उन्होंने इसमे कौन-सी नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। आशा है कि उनका वह प्रयत्न पाठकों के लिए विशेष लाभदायक प्रमाणित होगा।

कितने ही जिज्ञासु पाठक प्रायः हमसे लेखक-परिचय पूछा करते है। ऐसे सज्जनों के लिए यह बतलाना आवश्यक जान पडता है कि आचार्य द्विवेदीजी उत्तरप्रदेश के 'बलिया' जिले के निवासी है। पहले विश्वभारती-शान्तिनिकेतन में हिन्दीविभागाध्यक्ष थे और अब उसी पद पर काशी-विश्वविद्यालय मे है। वहाँ की त्रैमासिक पत्रिका 'विश्वभारती' के सम्पादक थे, यहाँ भी काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की त्रैमासिक पत्रिका के सम्पादक है तथा सभा के सभापति भी रह चुके है। उनकी अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हिन्दी-जगत् मे पर्याप्त प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि पा चुकी है। आधुनिक हिन्दी साहित्य से जिनका थोड़ा भी परिचय है, वे उनकी साहित्य-सेवा से कदापि अपरिचित न होंगे।

महाशिवरात्रि
संवत् 2013 वि.

शिवपूजन सहाय
(परिषद्-संचालक)

वक्तव्य

[प्रथम संस्करण]

बिहार-राज्य की सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा संस्थापित संरक्षित और संचालित बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित होनेवाला यह सबसे पहला ग्रन्थ है—आचार्य डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी-लिखित 'हिन्दी-साहित्य का आदि-काल'। इसके साथ या कुछ आगे-पीछे छह ग्रन्थ और भी प्रेस में दिये गये थे, जिनकी छपाई का क्रम नियमित रूप से चल रहा है; पर ईश्वर की कृपा से सर्वप्रथम प्रकाशित होने का श्रेय इसी ग्रन्थ को मिला, यह बड़े हर्ष और सन्तोष की बात है; क्योंकि हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागाध्यक्ष आचार्य द्विवेदीजी हिन्दी-जगत् के परम यशस्वी साहित्यसेवी है और उन्ही के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के साथ परिषद् के प्रकाशन-कार्य का श्रीगणेश हो रहा है।

परिषद् में प्रतिवर्ष कम-से-कम दो विशिष्ट विद्वानों की भाषणमाला की व्यवस्था की जाती है। प्रत्येक भाषण लिखित और एक सहस्र मुद्रा से पुरस्कृत तथा पाँच दिनों तक एक-एक घण्टे के व्याख्यान के रूप में समाप्त होता है। आचार्य द्विवेदीजी का यह भाषण दूसरे वर्ष की भाषणमाला का प्रथम भाषण है, जो 13 मार्च 1952 ई. को पटना में परिषद् के तत्त्वावधान में हुआ था। पहले और दूसरे साल के अन्य भाषण भी यथाक्रम शीघ्र ही प्रकाशित होंगे। उनके प्रकाशित हो जाने पर ही यह विदित हो सकेगा कि परिषद् के द्वारा आयोजित भाषणमाला का साहित्यिक महत्त्व क्या है और उससे हिन्दी-साहित्य कहाँ तक समृद्ध हो सकता है। उक्त भाषणों के अतिरिक्त कई स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ भी प्रकाशित होंगे। परिषद् के प्रकाशनाधिकारी श्री अनूपलाल मण्डल बड़ी लगन से उनके प्रकाशन मे तत्पर है जो उनका कर्तव्य ही है।

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल अब तक प्रायः अन्धकार के आवरण से ढका-सा रहा है। इस आवरण को हटाकर अन्धकार में प्रकाश फैलाने का प्रथम प्रयत्न सम्भवतः आचार्य द्विवेदीजी ने ही किया है। उनका यह शुभ प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है, इसका यथार्थ निर्णय विद्वत्-समाज ही कर सकेगा। हमें विश्वास है कि उनका यह सत्प्रयास उनको महान् गौरव प्रदान करेगा, और इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक युग को अन्धकार से प्रकाश में लाने के श्रेय का कुछ अंश इस परिषद् को भी प्राप्त होगा।

परिषद् के द्वारा प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थों का आकार-प्रकार एक-सा रखने का निश्चय किया गया है। ग्रन्थों के मुद्रण में शब्दों की एकरूपता को भी रक्षित रखना हिन्दी-हित की दृष्टि से परिषद् को अभीष्ट है; किन्तु परिषद् को यह

अभीष्ट नहीं है कि वह दुराग्रहवश अपने विद्वान् लेखकों की स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करे। इसी कारण इस ग्रन्थ की लिपि-शैली में इसके अधिकारी लेखक की इच्छा को ही प्रधानता दी गयी है। जब तक हिन्दी के सर्वमान्य विद्वान् हिन्दी में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों की एकरूपता के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं करते और वह सिद्धान्त लोकप्रियता प्राप्त नहीं करता, तब तक परिषद् भी इस विषय में बरबस कोई आग्रह नहीं करना चाहती।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी सं 2009 शिवपूजन सहाय
अगस्त, 1952 ई. (परिषद्-मन्त्री)

भूमिका

[द्वितीय संस्करण]

'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' दूसरी बार छपकर प्रकाशित हो रहा है। यह पुस्तक 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' के तत्त्वावधान में दिये गये पाँच व्याख्यानों का संग्रह है।

उस समय मेरे मन में हिन्दी के आरम्भिक साहित्य के सम्बन्ध में जो उलझनें थीं और उनका जो समाधान समझा था, उसे विद्वानों के सामने यथासम्भव स्पष्ट भाषा में मैंने कह दिया था। प्रकाशित होने के बाद विद्वन्मण्डली का ध्यान इस पुस्तक की ओर आकर्षित हुआ और इसकी अनुकूल-प्रतिकूल चर्चाएँ हुईं।

जो आलोचनाएँ मुझे देखने को मिलीं, उनकी सहायता से मैंने भरसक अपनी जानकारी को ठीक करने का प्रयत्न किया। मुझे इस बात से कुछ सन्तोष है कि विद्वानों ने मेरे विचारों को महत्त्व दिया और ऐसे सुझाव दिये जो उन्हें उचित जान पड़े।

कई सुझावों से मैं अपने को बहुत लाभान्वित नहीं कर सका; क्योंकि वे प्राप्त प्रमाणों के आधार पर युक्ति-संगत नहीं जँचे। परन्तु, कुछ सुझाव स्वीकार-योग्य जान पड़े। यथास्थान मैंने इस दूसरे संस्करण में इनका उपयोग किया है।

कई मित्रों ने सलाह दी कि जिन अपभ्रंश पदों की व्याख्या व्याख्यानों में नहीं आ सकी हो, उनका हिन्दी-भाषान्तर दे दिया जाय। इस संस्करण में मैंने उनकी सलाह मान ली है। परन्तु जहाँ केवल भाषा-विषयक उदाहरण देने के लिए एकाध पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं, उनका अनुवाद छोड़ दिया गया है। इस

पंक्तियों का उद्देश्य केवल भाषा-सम्बन्धी वैशिष्ट्य का उदाहरण प्रस्तुत करना था और वह उद्देश्य अनुवाद दिये बिना भी सिद्ध हो जाता है; परन्तु ऐसे स्थलों पर भी जहाँ पूरे पद्य उद्धृत किये गये हैं, उनका भी भाषान्तर दे दिया गया है।

इस प्रकार इस दूसरे संस्करण में थोड़ी-सी नवीनता आ गयी है। जिन विद्वानों ने इस पुस्तक की आलोचना की है, उनके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने पुस्तक के दूसरे संस्करण में भी उतनी ही रुचि और तत्परता दिखलायी है, जितनी प्रथम संस्करण में दिखलायी थी।

इस दूसरे संस्करण का प्रूफ मैं नहीं देख सका; इसलिए कदाचित् कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हों। गुणज्ञ पाठक उन्हें सुधार लें।

परिषद् के अधिकारियों ने जिस उत्साह और प्रेम से इसे निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया है, उसके लिए किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ!

काशी-विश्वविद्यालय
फाल्गुन शिवरात्रि, सं. 2013

हजारीप्रसाद द्विवेदी

सामग्री के आधार पर लिखी गयी थी। इनमें कवियों और रचनाओं के विवरण संग्रह कर दिये गये थे; पर उनको किसी एक ही जीवन्त प्रवाह के चिह्नरूप में देखने का प्रयत्न नहीं था। उन दिनों यह बात सम्भव भी नहीं थी। इतस्ततो विक्षिप्त संयोगलब्ध पुस्तकों और सूचनाओं के आधार पर विचार-प्रवाह की अविरल और अविच्छिन्न विचारधारा को खोज निकालना सम्भव नहीं था। अपने उत्कृष्ट रूप में वह अटकल की बात होती और निकृष्ट रूप में गलत नतीजे तक ले जानेवाली। स्वर्गीय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने इन पुस्तकों को 'कविवृत्तसंग्रह' कहकर इनका बहुत ठीक परिचय दिया था। सन् ईसवी की उन्नीसवीं शताब्दी के बाद से काशी की सुप्रसिद्ध 'नागरी-प्रचारिणी सभा' ने पुराने हिन्दी-ग्रन्थों की खोज का कार्य शुरू किया और थोड़े ही दिनों में सैकड़ों अज्ञात कवियों और ग्रन्थों का पता लगा लिया। सभा की खोज-रिपोर्टों के आधार पर मिश्रबन्धुओं ने सन् 1913 ई. में 'मिश्रबन्धु-विनोद' नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा, जो अपनी समस्त त्रुटियों और खामियों के बावजूद अत्यन्त उपादेय है। लेकिन है यह भी कविवृत्तसंग्रह ही।

हिन्दी-साहित्य का सचमुच ही क्रमबद्ध इतिहास पं. रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी-शब्द-सागर की भूमिका' के रूप में सन् 1929 ई. में प्रस्तुत किया। बाद में यह कुछ परिवर्द्धन के साथ पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। शुक्लजी ने प्रथम बार हिन्दी-साहित्य के इतिहास को कविवृत्तसंग्रह की पिटारी से बाहर निकाला। पहली बार उसमें श्वासोच्छ्वास का स्पन्दन सुनायी पड़ा। पहली बार वह जीवन्त मानव-विचार के गतिशील प्रवाह के रूप में दिखायी पड़ा। त्रुटियाँ इसमें भी हैं। 'वृत्त-संग्रह' की परम्परा इसमें समाप्त नहीं हुई है और साहित्य को मानव-समाज के सामूहिक चित्त की अभिव्यक्ति के रूप में न देखकर केवल 'शिक्षित समझी जाने-वाली जनता' की प्रवृत्तियों के परिवर्त्तन-विवर्त्तन के निर्देशक के रूप में देखा गया है। शुक्लजी की यह विशेष दृष्टि थी और इस दृष्टि-भंगिमा के कारण उनके इतिहास में भी विशिष्टता आ गयी है। जिन दिनों उन्होंने इतिहास लिखने का कार्य शुरू किया था, उन दिनों वे अनुभव करने लगे थे कि कविवृत्तसंग्रहों से काम नहीं चल सकता। "शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य में जो-जो परिवर्त्तन होते आये हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्य-धारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं उनके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किये हुए काल-विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखायी पड़ता था।" इस प्रकार सन् 1929 ई. में पहली बार शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों के अनुसार होनेवाले परिवर्त्तन के आधार पर साहित्यिक रचनाओं के काल-विभाजन का प्रयास किया गया। उनकी दृष्टि व्यापक थी। उन्होंने अपने इतिहास के पुस्तकरूप में प्रकाशित प्रथम संस्करण में आदिकाल के भीतर अपभ्रंश रचनाओं को भी ग्रहण किया था। "क्योंकि वे सदा से भाषा-काव्य के अन्तर्गत मानी जाती रहीं। कवि-परम्परा के बीच प्रचलित जनश्रुति कई ऐसे

भाषा-कवियों के नाम गिनाती चली आयी है जो अपभ्रंश में हैं— 'कुमारपाल-चरित' और शार्ङ्गधर-कृत 'हम्मीर-रासो'।" इसके पूर्व ही प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय पं. चन्द्रधरशर्मा गुलेरी ने 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के नवीन संस्करण (भाग 2) में बहुत जोर देकर बताना चाहा था कि अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' ही कहना चाहिए। उनका यह निबन्ध अब 'नागरी-प्रचारिणी सभा' की ओर से पुस्तक-रूप में भी प्रकाशित हो गया है। गुलेरीजी ने तत्काल-प्राप्त अपभ्रंश रचनाओं का बड़ा सुन्दर विवेचन किया था, परन्तु प्रधान रूप से हेमचन्द्र के व्याकरण में उदाहरणरूप में आये हुए दोहों तथा 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' तथा 'कुमार-पालप्रतिबोध' में संगृहीत दोहों का ही उल्लेख किया था। इन पुस्तकों के बाहर वे बहुत कम गये। शार्ङ्गधर-पद्धति में प्राप्त हुए कुछ अपभ्रंश-वाक्यों का उल्लेख उन्होंने अवश्य किया। उन दिनों अपभ्रंश की बहुत थोड़ी ही रचनाएँ उपलब्ध थीं। वस्तुतः गुलेरीजी के स्वर्गवास के बाद अपभ्रंश की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्राप्त होने लगीं। हिन्दी साहित्य का यह अत्यन्त भयकर दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि गुलेरीजी-जैसा पारखी भाषाविद् और साहित्यरसिक अपभ्रंश की उस समस्त सामग्री को देखने का अवसर नहीं पा सका जो आज उपलब्ध है। गुलेरीजी भाषा के पारखी थे; संस्कृत, प्राकृत आदि साहित्यों के जानकार थे और सच्चे रस-मर्मज्ञ थे। अत्यन्त अल्प अवस्था में वे महाकाल के दरबार में बुला लिये गये।

गुलेरीजी के जीवन-काल में यद्यपि अपभ्रंश-साहित्य का बहुत अधिक प्रकाशन नहीं हुआ था, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इस भाषा और साहित्य के विषय में कुछ चर्चा हुई ही नहीं थी। गुलेरीजी के प्रबन्ध में ऐसी कई रचनाओं के सम्बन्ध में चर्चा नहीं मिलती जिनका प्रकाशन उनके जीवन-काल में हो चुका था। सम्भवतः उनको समय नहीं मिला और वे प्रबन्ध को आगे नहीं बढ़ा सके। बीच में ही सब-कुछ को छोड़कर उन्हें चल देना पड़ा। शुक्लजी ने गुलेरीजी के अध्ययनों का उपयोग किया; परन्तु व्यापक दृष्टि रखते हुए भी उन्हें उन रचनाओं को देखने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ जो गुलेरीजी से छूट गयी थीं।

यह तो पहले ही कहा गया है कि सन् 1883 ई. में हिन्दी-साहित्य के इतिहास की प्रथम रूपरेखा तैयार की गयी थी। इसके कई वर्ष पूर्व सन् 1877 ई. में सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री जर्मन प. पिशेल ने जर्मनी के 'हाल' नगर से हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण का बहुत अच्छा सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया था। आज भी यह ग्रन्थ भाषाशास्त्रियों के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण बना हुआ है जितना कभी भी था। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के अन्त में अपभ्रंश भाषा का व्याकरण दिया है और उदाहरण बताने के लिए ऐसे पूरे दोहे उद्धृत किये हैं जिनमें वे पद आये हैं। पिशेल ने अन्य प्राकृतों के साथ अपभ्रंश का भी विवेचन किया था। बाद में केवल अपभ्रंश अंश को लेकर उन्होंने एक विस्तृत विवेचनात्मक पुस्तक लिखी। भामह और दण्डी (सप्तम शताब्दी) के समय में, अपभ्रंश का साहित्य वर्तमान था। बाद के रुद्रट, राजशेखर, भोज आदि आलंकारिकों ने भी अपभ्रंश

की चर्चा की है। इसलिए यह तो पिशेल ने अनुमान कर ही लिया था कि अपभ्रंश का बहुत विपुल साहित्य इस देश में वर्तमान था, परन्तु इस भाषा के व्याकरण के सम्बन्ध में कठिन परिश्रम के साथ पुस्तक तैयार करने के बाद भी उन्हें इस बात का दुःख था कि अपभ्रंश का विपुल साहित्य खो गया है। फिर भी उन्होंने अपभ्रंश-साहित्य की रचनाओं को खोजने में कोई बात उठा नहीं रखी। हेमचन्द्र के व्याकरण में प्राप्त दोहों के अतिरिक्त उन्होंने 'विक्रमोर्वशीय', 'सरस्वतीकण्ठाभरण', 'वैतालपंचविंशति', 'सिंहासनद्वात्रिंशतिका' और 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' आदि ग्रन्थों में पाये जानेवाले अपभ्रंश-पद्यों को तथा प्राकृत-पैंगलम् मे उदाहरण-रूप से उद्धृत कविताओं को ढूँढ़ निकाला। सन् 1902 ई. में उन्होंने 'माटेरियालियन् सुर केण्टनिस डेस अपभ्रंश' नामक पुस्तक को अपने प्राकृत-व्याकरण का परशिष्ट कहकर प्रकाशित किया। इसके बाद उनका स्वर्गवास हो गया। पिशेल अपभ्रंश के पाणिनि थे। सुप्रसिद्ध विद्वान् मुनि जिनविजयजी ने इस पण्डित की अपूर्व कृतियों को देखकर उल्लास के साथ कहा है कि यह महाविद्वान् "पाणिनि-स्मृत आपिशल नामक वैयाकरण का पुनरवतार तो नही था!" मुनिजी ने 'पउमसिरीचरिउ' नामक अपभ्रंश-काव्य की प्रस्तावना में अपभ्रंश-साहित्य के प्रकाश में आने की मनोरंजन घटना का वृत्तान्त दिया है। सचमुच ही अपभ्रंश की रचनाओं का पाया जाना हमारे देश के साहित्यिक इतिहास में उल्लसित करनेवाली घटना है।

बहुत दिनों तक पिशेल का यह मत दुहराया जाता रहा कि अपभ्रंश का साहित्य एकदम खो गया है। गुणे, बनर्जी, शास्त्री आदि ने बहुत बाद तक भी इसी मत को दुहराया। गुलेरीजी को 'कुमारपाल-प्रतिबोध' को देखने का अवसर मिल गया था, परन्तु विश्वास उनका यही था कि अपभ्रंश-भाषा का साहित्य प्रायः लुप्त हो चुका है। कुछ रचनाएँ तो उनके जीवितकाल मे प्रकाशित भी हो चुकी थीं; पर उनकी ओर उनका ध्यान आकृष्ट नही हो सका था। सन् 1913-14 ई. में डॉ. हरमन याकोबी नामक जर्मन पण्डित इस देश में आये। जैनशास्त्रों के अध्ययन में इन्हें यश प्राप्त हो चुका था। अहमदाबाद के जैन भाण्डार का निरीक्षण करते हुए इन्हें एक साधु के पास 'भविसयत्त-कहा' नामक पुस्तक देखने को मिली। देखकर वे फड़क उठे। यह अपभ्रंश का काव्य था। उन्होंने बड़ी कठिनता से उस पुस्तक की प्रतिलिपि करायी और उसका फोटो लिया। फिर उन्हें राजकोट के एक अन्य जैन-मुनि के पास 'नेमिनाथ-चरित' प्राप्त हुआ। जब याकोबी अपने देश को लौटे तब यूरोप का प्रथम महायुद्ध छिड़ गया और उनके द्वारा प्राप्त ग्रन्थों का प्रकाशन रुक गया। सन् 1918 ई. में म्यूनिक की रायल एकेडेमी ने याकोबी-द्वारा सम्पादित 'भविसयत्त-कहा' प्रकाशित की। इसके कोई तीन वर्ष बाद अपभ्रंश की दूसरी रचना 'नेमिनाथ-चरित' में से एक अन्तःकथा—'सणंकुमारचरिउ'—लेकर उसे सम्पादित करके प्रकाशित किया। ये दोनों ही ग्रन्थ अत्यन्त परिश्रम से सम्पादित हुए थे। इधर बड़ौदा के महाराज सर सयाजी

गायकवाड़ की आज्ञा से सन् 1914 ई. में श्री चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने पाटण के जैनग्रन्थ-भाण्डार की हजारों पुस्तकों की परीक्षा के उपरान्त कई अपभ्रंश-पुस्तकों का पता लगाया, जिनमें मुख्य ये हैं—'सन्देशरासक,' 'वज्रस्वामिचरित्र,' 'अन्तरंगसन्धि', 'चौरंगसन्धि', 'सुलसाख्यान', 'चच्चरी', 'भावनासार', 'परमात्म-प्रकाश', 'आराधना', 'मयणरेहासन्धि', 'नमयासुन्दरि सन्धि', 'भविसयत्तकहा', 'पउमसिरीचरिउ' इत्यादि। (स्थूलाक्षरांकित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं)। श्री दलाल ने 'भविसयत्त-कहा' का सम्पादन भी आरम्भ किया था, पर सन् 1918 ई. में उनका अचानक स्वर्गवास हो गया। बाद मे स्वर्गीय पाण्डुरंग गुणे ने इस कार्य को पूरा किया। यह संस्करण भी छपकर प्रकाशित हो चुका है। फिर तो बाद में और भी बहुत-सी अपभ्रंश-पुस्तको का पता चला। बहुत-से ग्रन्थ-भाण्डारों में इन पुस्तकों की भाषा को प्राकृत समझ लिया गया था और इस प्रकार वे उपेक्षित बनी रहीं। जब 1918 ई. मे 'भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट' की स्थापना हुई और डेकन कालेज मे सुरक्षित प्रतियाँ उस सस्था मे लायी गयी तो सुप्रसिद्ध विद्वान् मुनिजिनविजयजी ने जैन-ग्रन्थो का अवलोकन और परीक्षण किया। उस समय उन्हे अनेक महत्त्व-पूर्ण अपभ्रंश-ग्रन्थों का पता लगा। 'पुपफयन्त' या 'पुष्पदन्त' का 'तिसट्ठीलक्खण-महापुराण' स्वयम्भू का 'पउमचरिउ', 'हरिवंशपुराण' आदि पुस्तकें प्राप्त हुईं। उन्ही दिनों हिन्दी-जगत् के सुपरिचित विद्वान् प. नाथूराम 'प्रेमी' ने जैन-साहित्य सशोधक नामक त्रैमासिक पत्र मे 'पुष्पदन्त और उनका महापुराण' नामक महत्त्व-पूर्ण लेख लिखा। उन्होंने अपभ्रंश ग्रन्थों के बारे मे और भी कई महत्त्वपूर्ण लेख लिखे जो अब 'जैन-साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ मे सगृहीत हो गये हैं। प्रेमी-जी ने 'जसहरचरिउ', 'णायकुमारचरिउ' नामक दो और अपभ्रंश ग्रन्थ खोज निकाले। फिर प्रोफेसर हीरालालजी जैन ने कारंजा के जैन-भाण्डार से 'करकण्डु-चरिउ', 'सावयधम्म दोहा', 'पाहुड़ दोहा' आदि कई ग्रन्थों को खोज निकाला और सम्पादित करके उन्हे प्रकाशित भी कराया। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने स्वयम्भू और पुष्पदन्त के हस्तलिखित पोथियों से सग्रह करके कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ अपने 'काव्यधारा' नामक ग्रन्थ मे प्रकाशित की हैं। इधर कई विद्वानो ने इस साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है जिनमे श्रीमुनिजिनविजय, आदिनाथ उपाध्ये, डॉ. हीरालाल, डॉ. परशुराम वैद्य, पं. लालचन्द्र गाधी, डॉ. जगदीश चन्द्र जैन और डॉ. अल्सडोर्फ प्रभृति विद्वानों के नाम विशेष रूप से उल्लेखयोग्य है। इन विद्वानो के परिश्रम से अनेक अपभ्रंश-ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ है और अब यह नही कहा जा सकता कि अपभ्रंश का साहित्य एकदम लुप्त हो गया है।

सन् 1950 ई. मे श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम. ए., शास्त्री के सम्पादकत्व मे आमेर-शास्त्रभाण्डार (जयपुर) के ग्रन्थो का एक प्रशस्ति-सग्रह प्रकाशित हुआ है, जिसमें लगभग 50 अपभ्रंश-ग्रन्थो की प्रशस्तियाँ संगृहीत हैं। इनमें कुछ का तो विद्वानों को पहले से भी पता था, कुछ नयी है। इनमें स्वयम्भू, पुष्पदन्त, पद्म-कीर्त्ति, वीर, नयनन्दि, श्रीधर, श्रीचन्द, हरिषेण, अमरकीर्ति, यशःकीर्ति, धनपाल,

श्रुतकीर्ति और माणिक्यराज, रइधू आदि की कृतियाँ हैं। अधिकांश रचनाएँ तेरहवीं शताब्दी के बाद की बतायी गयी है; पर उसके बाद भी सोलहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश में रचनाएँ होती रही हैं। इस प्रशस्तिसंग्रह के रइधू, यशःकीर्ति, धनपाल, श्रुतकीर्ति और माणिक्यराज चौदहवीं और उसके बाद की शताब्दियों के कवि हैं।

ये ग्रन्थ अधिकतर जैन-ग्रन्थ-भाण्डारों से ही प्राप्त हुए हैं और अधिकाश जैन कवियों के लिखे हुए हैं। स्वभावतः ही इनमें जैनधर्म की महिमा बतायी गयी है और उस धर्म के स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर ही जीवन बिताने का उपदेश दिया गया है। परन्तु इस कारण से इन पुस्तकों का महत्त्व कम नहीं हो जाता। परवर्ती हिन्दी-साहित्य के काव्यरूप के अध्ययन में ये पुस्तकें बहुत सहायक हैं।

किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि जैनेतर मूलों से अपभ्रंश का साहित्य एकदम मिला ही नहीं। सन् 1902 ई. में ही चन्द्रमोहन घोष ने 'प्राकृत पैंगलम्' नामक छन्दोविधान के ग्रन्थ का सम्पादन समाप्त किया था। इसका प्रकाशन बिब्लियोथिका इण्डिका सिरीज में हुआ। इसमें बहुत-सी अपभ्रंश-कविताएँ उदाहरण-रूप में संगृहीत है। यद्यपि बहुत पहले ही पिशेल ने इस पुस्तक में संगृहीत कविताओं पर विचार किया था, फिर भी दीर्घकाल तक पुराने हिन्दी साहित्य की आलोचना के प्रसंग में इस ग्रन्थ की उपेक्षा ही होती रही। बहुत बाद में जाकर आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी ने इस पुस्तक मे संगृहीत रचनाओ का उपयोग किया था।

सन् 1323 बंगाब्द अर्थात् सन् 1916 ई. में महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से कुछ अपभ्रंश की पुस्तकें प्रकाशित करायी। इन पुस्तको की भाषा को उन्होंने प्राचीन बँगला कहा। पुस्तक नाना दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण थी; परन्तु जान पड़ता है कि बंगाक्षरो मे छपी होने के कारण हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इसकी ओर उस समय आकृष्ट न हो सका। इसके दोहों की भाषा मे परिनिष्ठित या स्टैण्डर्ड अपभ्रंश के रूप ही मिलते हैं; पर पदों में पूर्वी प्रदेश की भाषा के चिह्न भी मिल जाते हैं। इन चिह्नों को देखकर कभी इस भाषा को बँगला का पूर्वरूप कहा गया है तो कभी मैथिली और मगही का और कभी भोजपुरी का। कुछ लोगों ने इसमें उड़िया-भाषा का पूर्वरूप भी देखा है। निस्सन्देह हिन्दी साहित्य के परवर्ती काव्य-रूपों के अध्ययन की दृष्टि से यह पुस्तक अत्यन्त ही उपादेय है। इस पुस्तक के प्रकाशन के करीब बीस वर्ष बाद, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इन रचनाओं की ओर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। अपनी तिब्बत-यात्रा मे वे इस श्रेणी के कुछ और साहित्य का भी पता पा चुके थे। राहुलजी ने बताया कि इन पदों की भाषा को बँगला नहीं, हिन्दी कहना चाहिए। राहुलजी के इस मत का समर्थन और विरोध काफी मात्रा में हुआ। हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी उससे थोड़ा-बहुत परिचित ही है। इसलिए उस विवाद मे पडने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। जो बात निस्सन्दिग्ध है,

यह यह है कि इस पुस्तक की भाषा में भारतवर्ष के पूर्वी प्रदेशों की भाषा के लक्षण मिल जाते हैं। उसको इस भाषा को बँगला, मगही, मैथिली, भोजपुरी, उड़िया सभी का पूर्वरूप कहा जा सकता है। ध्यान देने की बात यह है कि इन पुस्तकों में जिन काव्य-रूपों का परिचय मिलता है, वह बँगला में अब लुप्त हो चुके हैं, परन्तु हिन्दी में अभी तक जी रहे हैं। दोहों की प्रथा बंगाल के साहित्य में कभी रही ही नहीं और सही बात तो यह है कि बँगला भाषा की एक ऐसी उच्चारणगत विशिष्टता है कि दोहा छन्द उसमें जम ही नहीं पाता। मैं यह तो नहीं कहता कि बंगाल का कोई कुशल कवि चाहे तो भी बँगला को दोहा छन्दों में ढाल ही नहीं सकता, परन्तु इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि बँगला भाषा की प्रकृति दोहा के अनुकूल नहीं है।

बौद्ध गानों में भी जिस श्रेणी की पदरचना है, वह आगे चलकर कबीर आदि सन्तों की रचनाओं में अधिक मुखर हुई। यह तो नहीं कहा जा सकता कि बँगला भाषा में उसका चिह्न ही नहीं मिलता; परन्तु वह अधिक लोकप्रिय बंगाल के बाहर ही हुई। बँगला की वैष्णवपदावली में उसका एक रूप प्राप्त अवश्य होता है। साधारण बँगला से फर्क करने के लिए इसे 'ब्रजबुलि' कहा जाता है। शायद यह इस बात का प्रमाण है कि वैष्णव कवियों ने यह समझ लिया था कि इस प्रकार की पदरचना बँगला भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं। जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोहा और पदों की परम्परा अविच्छिन्न रूप से हिन्दी-साहित्य में चली आयी है और काव्य-रूपों और विचार-प्रवाह की दृष्टि से इन गानों और दोहों का सम्बन्ध परवर्ती हिन्दी साहित्य से ही अधिक है। भाषा की दृष्टि से वह जो कुछ भी क्यों न हो।

सन् 1818 ई. और सन् 1921 ई. के 'जनरल आफ डिपार्टमेण्ट आफ लेटर्स' (कलकत्ता विश्वविद्यालय) में डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने कुछ और बौद्ध सिद्धों के दोहे प्रकाशित कराये। बाद में पुस्तकाकार में भी इनका संकलन प्रकाशित हुआ।

इधर सन् 1945 ई. में राहुलजी ने 'हिन्दी-काव्यधारा' नाम से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश-काव्यों का संग्रह प्रकाशित कराया है। उनके मत से यह अपभ्रंश वस्तुत: पुरानी हिन्दी ही है। इसमें उन्होंने प्रथम बार स्वयम्भू के रामायण की उस हस्तलिखित प्रति से, जो भाण्डारकर-रिसर्च-इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है और अब अंशतः प्रकाशित हो चुकी है, कवित्वपूर्ण अंशों का संकलन प्रकाशित कराया है और बहुत जोर देकर कहा है कि स्वयम्भू हिन्दी का सर्वोत्तम कवि है। दूसरा स्थान उन्होंने पुष्पदन्त को दिया है। मेरा अनुमान है कि यह पुष्पदन्त हिन्दी के पुराने इतिहासकारों के निकट परिचित थे। शिवसिंह ने टाड के राजस्थान के आधार पर लिखा था कि "संवत् सात सौ सत्तर विक्रमादित्य में राजा मान अवन्तीपुरी का बड़ा पण्डित अलंकार-विद्या में अद्वितीय था। उसके पास पुष्पभाट ने प्रथम संस्कृत-ग्रन्थ पढ़ पीछे भाषा में दोहा बनाये। हमको भाषा की जड़ यही कवि मालूम

होता है।" जान पड़ता है, पुष्पदन्त जिस राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज के आश्रित थे, उनकी राजधानी 'मान्यखेट'¹ पर से राजा का नाम 'मान' समझ लिया गया है और सभाकवि होने के कारण उन्हें भाट कह दिया गया है। जो हो, राहुलजी की इस दृढ़कण्ठ घोषणा के कारण हिन्दी के साहित्यिकों का ध्यान अपभ्रंश की ओर खिंचा है। राहुलजी के प्रयत्नों का यह शुभ परिणाम है। राहुलजी ने इन कवियों की रचनाएँ अपने संग्रह में उद्धृत की हैं और इनकी भाषा को पुरानी हिन्दी माना है :

आठवीं शती	नवीं	दसवीं	ग्यारहवीं	बारहवीं	तेरहवीं
सरहपा	लुइपा	देवसेन	एक अज्ञात कवि	हेमचन्द्र	लक्खण
सबरपा	विरूपा	तिलोपा	अब्दुर्रहमान	हरिभद्र	जज्जल
स्वयम्भू	डोम्बिपा	पुष्पदन्त	बब्बर	अज्ञात कवि	अज्ञात
भूसुकपा	दारिकपा	शान्तिपा	कनकामरमुनि	आमभट्ट	अपदेवसूरि
	गुण्डरीपा	योगीन्दु	जिनदत्त सूरि	शालिभद्र	हरिब्रह्म
	गोरक्षपा	रामसिंह		विद्याधर	दो अज्ञात कवि
	टेण्टणपा	धनपाल		सोमप्रभ	राजशेखर सूरि
	महीपा			जिनपद्म	
	भादेपा			विनयचन्द्र	
	धामपा			चन्द	

इनमें से कुछ थोड़े से कवियों की चर्चा हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने पहले भी की थी, परन्तु अधिकांश हिन्दी साहित्य मे अपरिचित ही थे।

बहुत पहले ग्रियर्सन ने अपनी एक पुस्तक मे सूचना दी थी कि विद्यापति की दो रचनाएँ देश्य-मिश्रित अपभ्रंश-भाषाओं में हैं। एक का नाम है—'कीर्तिलता' और दूसरी का 'कीर्तिपताका'। इनमें से 'कीर्तिलता' को नेपाल-दरबार-लायब्रेरी से संग्रह करके महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री ने बँगला अनुवाद के साथ बंगाक्षरों में सन् 1924 ई. मे प्रकाशित कराया था। फिर बाद मे यह पुस्तक सन् 1929 में प्रयाग विश्वविद्यालय के अध्यापक डॉ. बाबूरामजी सक्सेना के द्वारा अनुवादित और सम्पादित होकर काशी नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई। हाल ही मे काशी विश्वविद्यालय के श्री शिवप्रसादसिंह ने इसका एक नया सम्पादित सस्करण प्रकाशित कराया है जो परिश्रमपूर्वक प्रस्तुत किया गया

1. राष्ट्रकूट-वंश का राजा कृष्ण (तृतीय) बहुत ही पराक्रमी राजा था। उसका राज्य मालवा और गुजरात तक फैला हुआ था। परमारों के राजा सीयक (श्रीहर्ष) ने कभी इसके विरुद्ध विद्रोह किया था; किन्तु कृष्ण जब तक जीवित था, तब तक परमारों को उसने सिर नहीं उठाने दिया। मारसिंह कृष्ण का उत्तरी सेना का प्रधान सेनापति था। हेमी केरटो के शिलालेखों (सन् 965-68 ई.) में इस मारसिंह के अधीनस्थ एक सैनिक को 'उज्जयिनी-भुजंग' कहा गया है। इससे भी पता चलता है कि उज्जयिनी पर मान्यखेट (मान ?) का शासन था। हो सकता है कि बाद मे मान के कवि 'पुष्प' का नाममात्र अवशिष्ट रह गया हो और पूरी कहानी भुला दी गयी हो। परन्तु यह अनुमान-ही-अनुमान है।

है। इस पुस्तक की भाषा को कवि ने स्वयं अवहट्ठ (संस्कृत 'अपभ्रष्ट', अर्थात् अपभ्रंश) कहा था। इसमें बीच-बीच में मैथिली भाषा के प्रयोग आ गये हैं। भाषा के अध्ययन की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व है ही, काव्यरूपों के अध्ययन की दृष्टि से भी यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

सन् 1901 ई. में बंगाल एशियाटिक सोसायटी के सेक्रेटरी को पत्र लिखकर हरप्रसाद शास्त्री ने एक और महत्त्वपूर्ण पुस्तक का पता दिया था। यह है ज्योतिरीश्वर नामक मैथिल कवि-लिखित 'वर्णरत्नाकर' जिसमें नाना श्रेणी के मनुष्यों, मानव-व्यापारों, सभाओं, उत्सव आदि के वर्णन करने के ढंग का उल्लेख है। प्राचीन मैथिली भाषा के अध्ययन की दृष्टि से तो यह पुस्तक अत्यन्त उत्तम है ही, परन्तु उस समय की सामाजिक रीति-नीति, काव्यरूढ़ि और काव्यरूपों के अध्ययन की दृष्टि से भी यह बहुत उपयोगी है। इस काल या इसके थोड़ा इधर-उधर के काल की लिखी हुई मुस्लिम-पूर्व हिन्दू-दरबार और भारतीय जीवन का परिचय देनेवाली पुस्तक नहीं मिलती। एक ओर यह 'मानसोल्लास' नामक पूर्ववर्ती संस्कृत ग्रन्थ की श्रेणी में पड़ती है और दूसरी ओर परवर्त्ती फारसी ग्रन्थ 'आईने अकबरी' की कोटि में आती है। सन् 1940 ई. में डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी और पं. बबुआ मिश्र के सम्पादकत्व में यह पुस्तक एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल से प्रकाशित हो चुकी है। सुनीति बाबू ने इसे संस्कृत के विश्वकोषात्मक ग्रन्थ 'मानसोल्लास' का समकक्ष ही बताया है। कहना व्यर्थ है कि हिन्दी के आदिकालीन साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

इधर भारतीय विद्यामन्दिर के संचालक मुनिजिनविजयजी को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याकरणग्रन्थ 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' मिला है। इससे बनारस और आसपास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। और उस युग के काव्यरूपों के सम्बन्ध में भी थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ जाता है—यह पुस्तक महाराज गोविन्दचन्द्र के सभापण्डित दामोदर शर्मा की लिखी है। गोविन्दचन्द्र का राज्यकाल सन् 1154 ई. तक था। आगे इस पुस्तक के विषय में थोड़ा विस्तारपूर्वक आलोचना करने का अवसर हमें मिलेगा। यहाँ इसका उल्लेख इसलिए कर दिया गया कि तत्कालीन काव्यरूपों के अध्ययन में यह पुस्तक भी थोड़ी सहायता पहुँचा सकती है।

सन् 1934 ई. में श्रीराम सिंह, सूर्यकरण पारीक और नरोत्तम स्वामी ने राजस्थानी साहित्य के आदिकाव्य 'ढोला मारू रा दूहा' का सम्पादन बहुत परिश्रमपूर्वक किया। यह पुस्तक काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई। राजपूताने में इस काव्य के कई रूप प्रचलित थे। सबसे पुराना रूप सम्भवतः ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी का रहा होगा। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व तो है ही, परवर्ती हिन्दी साहित्य के दोहाबद्ध काव्यों को समझने की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ से सहायता मिलती है। इस पुस्तक को हेमचन्द्र के व्याकरण में प्राप्त दोहों और 'बिहारी सतसई' के बीच की कड़ी समझा जा सकता है।

यद्यपि यह गीति-काव्य के रूप में प्राप्त है और इसमें एक पूरी कथा है, तथापि यह मुक्तकों के संग्रह के साथ आसानी से तुलनीय हो सकता है। कथा के घुमाव के लिए दीर्घकाल से प्रचलित कथानक-रूढ़ियों का उसी प्रकार आश्रय लिया गया है, जिस प्रकार हिन्दी के अन्य चरित-काव्यों में लिया गया है। ढोलामारू के दोहों के सम्पादकों ने ठीक ही कहा है कि "हिन्दी भाषा के आदिकाल की ओर दृष्टि डालने पर पता लगता है कि हिन्दी के वर्त्तमान स्वरूप के निर्माण के पूर्व गाथा और दोहा-साहित्य का उत्तरभारत की प्रायः सभी देशी भाषाओं में प्रचार था। उस समय की हिन्दी और राजस्थानी में इतना रूपभेद नहीं हो गया था जितना आजकल है। यदि यह कहा जाय कि वे एक ही थीं तो अत्युक्ति न होगी। उदाहरणों द्वारा यह कथन प्रमाणित किया जा सकता है।"

लेकिन राजस्थान के साहित्य का सम्बन्ध सिर्फ हिन्दी से ही नहीं है, एक ओर उसका अविच्छेद्य सम्बन्ध हिन्दी साहित्य से है तो दूसरी ओर इसका घनिष्ठ सम्बन्ध गुजराती से है। कभी-कभी एक ही रचना को एक विद्वान् पुरानी राजस्थानी कहता है तो दूसरा विद्वान् उसे 'जूनी गुजराती' कह देता है। इस पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती में दोनों ही प्रदेशों की भाषा के पूर्वरूप मिलते हैं और प्राकृत और अपभ्रंश का रूप तो इनमें मिला ही रहता है। अनेक जैन-कवियों ने इस प्रकार के साहित्य की रचना की है। श्री मोतीलाल मेनारिया ने अपने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में अनेक जैन लेखकों का उल्लेख किया है।[1] इनकी रचनाएँ अधिकांश में साहित्यिक अपभ्रंश की लिखी हुई हैं। फिर भी हिन्दी साहित्य के आदिकाल की परम्परा को समझने मे बहुत सहायक हैं।

अभी तक मैंने अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती और मैथिली रचनाओं की ओर ही संकेत किया है। जिन प्रदेशों में आगे चलकर अवधी और व्रजभाषा का साहित्य लिखा गया, उनमे वसनेवाले कवि इन दिनों किस प्रकार की रचना कर

1. कुछ महत्त्व के नाम ये हैं—धनपाल (सं. 1081), जिनवल्लभ सूरि (स. 1167), पल्ह (सं. 1170), वादिदेवसूरि (स. 1184), वज्रसेन सूरि (1225), शालिभद्र सूरि (स. 1241), नेमिचन्द्रभण्डारी (स. 1256), आसगु (स. 1257), धर्म (स. 1266), शाह रयण और भत्तउ (स. 1278), विजयसेन सूरि (स. 1288), राम (सं 1289), सुमति गणि (सं. 1290), जिनेश्वर सूरि (सं 1278-1331), अभय तिलक (सं. 1307), लक्ष्मी तिलक (स. 1311-17), सोममूर्ति (स. 1260-1331), जिनपद्म सूरि (स. 1309-22), विनयचन्द्र सूरि (स. 1325-53), जगडू (सं. 1331), संग्राम सिंह (स. 1336), पद्म (स 1358), जयशेखर सूरि (1360-62), प्रज्ञा तिलक सूरि (सं. 1363), वस्तिग (स. 1368), गुणाकर सूरि (स. 1371), फेरू (स. 1376), धर्मकलश (स. 1377), सारमूर्ति (स. 1390), जिनप्रभ सूरि (सं. 1360-90), सोलण (चौदहवीं शताब्दी), राजशेखर सूरि (स 1405), जयानन्द सूरि (स. 1410), तरुणप्रभ सूरि (सं. 1411), विनयप्रभ (सं. 1412), जिनोदय सूरि (स. 1415), ज्ञानकलश (सं. 1415), पृथ्वीचन्द (सं. 1426), जिनरत्न सूरि (1430), मेरुनन्दन (स 1432), देवसुन्दर सूरि (स 1440), साधुहंस (स. 1455)।

रहे थे, इस बात का कोई प्रामाणिक मूल हमारे पास नहीं है। राजस्थान और बिहार के बीच का प्रदेश उन दिनों कवियों से खाली नहीं होगा, यह तो निश्चित है। परन्तु ऐसी प्रामाणिक पुस्तकें अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं, जिनके आधार पर इन प्रदेशों की इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का ठीक-ठीक अन्दाज लगाया जा सके। परम्परा-क्रम से कुछ कवियों के नाम प्राप्त अवश्य होते हैं और क्वचित्-कदाचित् उनके नाम पर चलनेवाली पुस्तकें भी मिल जाती हैं। परन्तु बहुत कम स्थलों पर उनकी प्रामाणिकता विश्वास-योग्य होती है। इसलिए ब्रज-भाषा और अवधी, भोजपुरी आदि के काव्य-रूपों के अध्ययन के लिए हमें बहुत-कुछ कल्पना से काम लेना पड़ता है। इस विषय में संस्कृत के चरित-काव्य, कथा, आख्यायिका और चम्पूरूप में लिखित रोमांस और निजन्धरी कथाएँ और ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा हमारी सहायता कर सकती हैं। यथास्थान हम इनकी चर्चा करेंगे।

साधारणतः सन् ईसवी की दसवीं से लेकर चौदहवीं शताब्दी के काल को 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' कहा जाता है। शुक्लजी के मत से संवत् 1050 (सन् 993 ई.) से संवत् 1375 (सन् 1318 ई.) तक के काल को हिन्दी साहित्य का आदिकाल कहना चाहिए। शुक्लजी ने इस काल के अपभ्रंश और देशभाषा-काव्य की बारह पुस्तकें साहित्यिक इतिहास में विवेचनायोग्य समझी थी। इनके नाम हैं—(1) 'विजयपाल रासो', (2) 'हम्मीर रासो', (3) 'कीर्तिलता', (4) 'कीर्तिपताका', (5) 'खुमान रासो', (6) 'बीसलदेव रासो', (7) 'पृथ्वीराज रासो', (8) 'जयचन्द्र प्रकाश', (9) 'जयमयंक जस चन्द्रिका', (10) 'परमाल रासो' 'आल्हा का मूल रूप', (11) 'खुसरो की पहेलियाँ', और (12) 'विद्यापति-पदावली' "इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्षण-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अन्तिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रन्थ वीरगाथात्मक हैं। अत. आदिकाल का नाम 'वीरगाथा-काल' ही रखा जा सकता है।"

ऊपर अपभ्रंश की जिस सामग्री की चर्चा की गयी है, उसमें से कुछ पुस्तकें अवश्य ऐसी हैं जिनको साहित्यिक इतिहास मे विवेच्य माना जा सकता है। 'सन्देश-रासक' ऐसी ही सुन्दर रचना है। प्राकृत पिंगल-सूत्रों मे आये हुए कई कवियों की रचनाएँ निश्चय ही साहित्य के इतिहास मे विवेच्य हैं। 'मिश्रबन्धु-विनोद' में कुछ जैन-ग्रन्थों को इस काल में रखा गया था। शुक्लजी ने उनमें से [illegible] पुस्तकों को विवेचनयोग्य नहीं समझा था। कारण बताते हुए [illegible] कि इन पुस्तकों में से (1) कुछ पीछे की रचनाएँ है, (2) कुछ [illegible] और (3) कुछ जैन-धर्म के उपदेश-विषयक है।

इधर हाल की खोजों से पता चलता है कि जिन बारह पुस्तकों के आधार पर शुक्लजी ने इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन किया था, उनमें [illegible] रचनाएँ हैं और कई नोटिस-मात्र हैं और कई के [illegible]

नहीं कहा जा सकता कि उनका मूलरूप क्या था।

उपदेश-विषयक उन रचनाओं को जिनमें केवल सूखा धर्मोपदेश-मात्र लिखा गया है, साहित्यिक विवेचना के योग्य नहीं समझना उचित ही है। परन्तु ऊपर जिस सामग्री की चर्चा की गयी है, उनमें कई रचनाएँ ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं, किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है। धर्म वहाँ कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हो, उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है जिसमें धर्म-भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आन्दोलित, मथित और प्रभावित कर रही हो। इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएँ, जो मूलतः जैन-धर्म-भावना से प्रेरित होकर लिखी गयी हैं, निस्सन्देह उत्तम काव्य हैं और 'विजयपाल रासो' और 'हम्मीर रासो' की भाँति ही साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार्य हो सकती हैं। यह बात बौद्ध सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है। इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखायी पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन मे उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। अस्तु।

इधर जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है, वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगाने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल-जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का 'रामचरितमानस' भी साहित्यक्षेत्र में अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का 'पद्मावत' भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा। वस्तुतः लौकिक निजन्धरी कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिराचरित प्रथा है। कभी-कभी ये कहानियाँ पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों के साथ घुला दी जाती हैं। यह तो न जैनों की निजी विशेषता है न सूफियों की। हमारे साहित्य के इतिहास मे एक गलत और बेबुनियादी बात यह चल पड़ी है कि लौकिक प्रेम-कथानकों को आश्रय करके धर्म-भावनाओं का उपदेश देने का कार्य सूफी कवियों ने आरम्भ किया था। बौद्धों, ब्राह्मणों और जैनों के अनेक आचार्यों ने नैतिक और धार्मिक उपदेश देने के लिए लोक-कथानकों का आश्रय लिया था। भारतीय सन्तों की यह परम्परा परमहंस रामकृष्णदेव तक अविच्छिन्न भाव से चली आयी है। केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रन्थों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदिकाव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी-रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा, और जायसी को भी दूर से दण्डवत्

करके विदा कर देना होगा। मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्मसाधना ही रही है। जो भी पुस्तकें आज संयोग और सौभाग्य से बची रह गयी हैं, उनके सुरक्षित रहने का कारण प्रधान रूप से धर्मबुद्धि ही रही है। काव्यरस की भी वही पुस्तकें सुरक्षित रह सकी हैं जिनमें किसी-न-किसी प्रकार धर्मभाव का संस्पर्श रहा है। धार्मिक अनुयायियों के अभाव में अनेक बौद्ध-कवियों की रचनाओं से हमें हाथ धोना पड़ा है। 'अश्वघोष' के टक्कर के कवि भी उपेक्षावश भुला दिये गये हैं। यदि मंगोलिया के रेगिस्तानों ने कुछ पन्ने बचा न रखे होते तो अश्वघोष के नाटकों का हमें पता भी न चलता। निस्सन्देह ग्रन्थ-संग्रह-कर्त्ताओं के उत्साह से भी कुछ पुस्तकों की रक्षा हुई है। 'सन्देशरासक' और 'कीर्तिलता' इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं। परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है और ये सब मिलाकर केवल इस श्रेणी के विशाल साहित्य की सम्भावना की ओर इशारा-भर करती हैं। इनसे हम सिर्फ यह अनुमान कर सकते हैं कि किसी समय इस श्रेणी का साहित्य प्रचुर मात्रा में वर्तमान था, जो उनके उत्साही संरक्षकों और कद्रदानों के अभाव में लुप्त हो गया है। एक दूसरे प्रकार का लौकिक रस का साहित्य भी बचा जरूर है; लेकिन उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहा है और आज जिस रूप में वह उपलब्ध है, उसकी प्रामाणिकता के विषय में सब समय आँख मूँदकर विश्वास नहीं किया जा सकता।

ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवनचरित को उपजीव्य बनाकर काव्य लिखने की प्रथा इस देश में सातवीं शताब्दी के बाद तेजी से चली है। हमारे आलोच्य काल में यह प्रथा खूब बढ़ गयी थी। इनमें कई ऐतिहासिक पुरुष कवियों के आश्रयदाता हुआ करते थे। चन्द के आश्रयदाता पृथ्वीराज थे और विद्यापति के आश्रयदाता कीर्तिसिंह। इन आश्रयदाताओं का चरित लिखते समय भी उन्हें कुछ धार्मिक रंग देने का प्रयत्न किया जाता था। रासो में कवि चन्द की स्त्री ने प्राकृत राजा के यश-वर्णन को अनुचित कहा था। उसने बताया था कि साधारण राजा का यश गाने की अपेक्षा भगवान् का यश गाना कहीं अच्छा है। इस पर कवि ने विस्तार से दशावतारचरित का वर्णन किया। जिस आकार में यह दशावतारचरित मिलता है, वह सम्भवतः परवर्ती रचना है। अपने इस विश्वास का कारण मैं तीसरे व्याख्यान में बताऊँगा। परन्तु ऐसा लगता है कि रासोकार ने पृथ्वीराज को भगवत्स्वरूप बताकर कहानी में थोड़ा धार्मिकता का रंग देना चाहा था। 'कीर्तिलता' के कवि ने भी पाठक को कुछ पुण्यफल का प्रलोभन दिया था—"पुरुष कहाणी हौं कहौं जसु पत्थावै पुन्नु।" अकारण नहीं था कि इस काल को रूप और गति देनेवाली शक्ति धर्मसाधना ही है। [illegible] साहित्य को कुछ अधिक सावधानी से सुरक्षित रखा गया था, इसलिए वह कुछ अधिक मात्रा में मिलता भी है। प्राय: इन [illegible] के आश्रय से सुन्दर [illegible] का विकास हुआ है। तत्कालीन [illegible] और [illegible] के [illegible] इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। [illegible] अधिक [illegible]

सुन्दर काव्य उस युग के साहित्य में कहाँ मिलेगा ! महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने उच्छ्वसित भाव से घोषित किया है कि " 'स्वयम्भू का रामायण' हिन्दी का सबसे पुराना और सबसे उत्तम काव्य है।" 'रामचरितमानस' और 'सूरसागर' धार्मिक काव्य नही तो क्या है ? राजशेखरसूरि जैनमत के साधु थे, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नन्ददास या हितहरिवंश वैष्णव धर्म के साधु थे। राजशेखर ने नेमिनाथ का चरित वर्णन करते हुए 'नेमिनाथ फागु' लिखा था और नन्ददास ने अपने उपास्य की लीलाओं का वर्णन करते हुए 'रास-पचाध्यायी'। दोनों में ही धर्मभाव प्रधान है और दोनों में ही कवित्व है। जिस प्रकार 'राधा-सुधानिधि' में राधा की शोभा के वर्णन में कवित्व है और वह कवित्व उपास्य बुद्धि से चालित है, उसी प्रकार राजशेखर सूरि के 'नेमिनाथफागु' में, राजल देवी की शोभा मे कवित्व भी है और वह उपास्य वुद्धि से चालित भी है। कौन कह सकता है कि इस शोभा-वर्णन में केवल धार्मिक भावना होने के कारण कवित्व नही है ?

किम किम राजल देवि तणउ सिणगारु भणेवउ ।
चपइगोरी अइघोई अगि चंदनु लेवउ ।।
खुपु भराविउ जाइ कुसुम कस्तूरी सारी ।
सीमतइ सिंदूररेह मोतीसरि सारी ।।
नवरंगि कुंकुमि तिलय किय रयण तिलउ तसु भाले ।
मोती कुडल कन्निथिय विंवालिय कर जाले ।।
नरतिय कज्जल रेह नयणि मुंहकमलि तंवोलो ।
नागोदर कठलउ कठि पुनु हार विरोलो ।।
मरगद जादर कचुयउ फुड फुल्लह माला ।
करे ककणमणि-वलय चूड खलकावई वाला ।।
रुणुझुणु रुणुझुणु रुणुणएँ कडि घाघरियाली ।
रिमझिमि रिमझिमि रिमिझिमिएँ पयनेउर जुयली ।।
नहि आलत्तउ वलवलउ सेअंसुय किमिसि ।
अपडियाली रायमइ प्रिउ जोअइ मनरसि ।।

[छाया]

किमि किमि राजल देवी को सिंगार कहौं (इत) ।
चपक गोरी, अति धोई, अग-चंदन लेपित ।।
पांप भरायो जाति-कुसुम कस्तूरी सारी ।
सीमंतै सिन्दूर रेख मोतिन भरि धारी ।।
नव रँग कुंकुम तिलक रतन-तिलक ललित भाले ।
मोती कुंडल कान ठयो, विवालिय कर जाले (?)
नंनित कज्जल-रेख नयन, मुख कमल तमोलौ ।।
नागोदर कंठन्न कंठे, पुनु हार विलोलौ ।।

मरकत जरीदार कंचुक फुरै फूलन माला।
कर कंकन मनिवलय चुड़ी खनकावई वाला।।
रुनुझुनु रुनुझुनु रनुकै कटि पर घाघरियाली।
रिमझिम रिमझिम झमकै पग नूपुर (सुखशाली)।।
नख अलवत वलवलै सेत अंसुक सँग सोहै।
रागमयी अँखियान पिया मन-रम तँ जोहै।

इस प्रकार मेरे विचार से सभी धार्मिक पुस्तकों को साहित्य के इतिहास में त्याज्य हीं नहीं मानना चाहिए। परन्तु जो पुस्तकें पीछे की रचना हों या नोटिस-मात्र हों, उन पर विचार ही क्या हो सकता है? शुक्लजी ने जिन पुस्तकों को प्रामाणिक रचना समझकर इस काल का नाम वीरगाथा-काल रखा था, उनमें सबसे पहली 'खुमान रासो' है जिसके कवि का नाम है—दलपति विजय। तीन खुम्माण राजाओं की चर्चा करने के पश्चात् शुक्लजी इस नतीजे पर पहुँचे थे कि दलपतिकवि द्वितीय खुम्माण (संवत् 870 से 900 तक का) समसामयिक रहा होगा। यद्यपि प्रतापसिंह तक का वर्णन देखकर उन्होंने यह तो अनुमान कर ही लिया था कि इसका वर्त्तमान रूप "विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा" अर्थात् यह भी सन्देहास्पद रचना है। शुक्लजी के मन में यह विश्वास था कि इसका मूलरूप पुराना होगा; परन्तु इधर पता चला है कि दलपति वस्तुतः तपागच्छीय जैन साधु शान्तिविजय के शिष्य थे। श्री अगरचन्द नाहटा ने 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में इन्हे परवर्त्ती कवि सिद्ध किया है। इधर श्री मोतीलाल मैनारिया ने अपनी नवप्रकाशित पुस्तक 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' (पृष्ठ 87) में लिखा है कि "हिन्दी के विद्वानों ने इनका मेवाड़ के रावल खुम्माण का सम-कालीन होना अनुमानित किया है जो गलत है। वास्तव में इनका रचनाकाल संवत् 1730 और 1760 के मध्य में है।"[1]

इसी प्रकार नरपति नाल्ह के 'वीसलदेव रासो' के बारे में भी सन्देह प्रकट किया गया है। मैनारियाजी ने इन्हें सोलहवीं शताब्दी के कवि नरपति से अभिन्न माना है और दोनों नरपतियों की रचनाओं की एकरूपता दिखाने के लिए उन्होंने जो उद्धरण दिये हैं, वे हँसकर उड़ा देने योग्य नहीं है। दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जा रहे है।[2]

ब्रह्मा बेटी वीनवऊँ, सारद करूँ पसाई। हंस वाहन हरषि थिकी जिह्वा वसिजे माई।।
वीणा पुस्तक धारिणी, तू तारणी त्रिभूवन। कविजन वाणी उच्चरइ, जु तू हुई प्रसन्न।।
कास्मीरपुर वासिनी, विद्या तणु निधान। सेवक कर जोड़े रहई आपइ विद्या दान।

—पंचदण्ड

1. 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', वर्ष 44, अंक 4, पृष्ठ 381-98
2. 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृष्ठ 88 और 89

कसमीरां पाटणह मेंझारि, सारदा तुठी ब्रह्म कुमारि।
नाल्ह रसायण नर भणइ, हियड़इ हरषि गायणकइ भाइ।।
खेलां मेल्ह्या मांडली, वइस सभा मांहि मोहेउ छइ राइ ।।6।।
सरसति सामणी तूं जग जीण, हंस चड़ीं लटकावै वीण।
हरि कमलां भमरां भमई कासमीरां मुख मंडणी माइ।।
तो तूठां पर प्रपिजइ, पाप छ्यासी जोयण जाइ ।।7।। —बी. रा.
मूसा वाहन वीनउ जेहनि मोदक आहार।
एक दंत दालिद्र हरइ समरयां नूं दातार।। —पं. दं.
कर जौड़े नरपति कहइ, मूसा वाहन तिलक संदूर।
एक दंतउ मुख झलमलइ, जाणिक रोहणीउ तप्पइ सूर।। —बी. रा.
नगर मांहि गुड़ि झलहलइ सहू लोक जोवानी मिलइ। —पं. दं.
घर घर गूडी ऊछली हुवउ वधावउ नगरी धार। —बी. रा.
खीरोदक टसरु साड़ला, नित पहिरवां अंगि दीसइ भला। —पं. दं.
दीया खरोदक पइहरणइ माणिक मोती चौक पुरार। —बी. रा.

शुक्लजी ने भी लिखा था कि "नाल्ह के 'बीसलदेव रासो' में, जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीर राजा (बीसलदेव) की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य-पराक्रम का। शृंगाररस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का (प्रोपितपतिका के वर्णन के लिए) मनमाना वर्णन है। अतः इस छोटी-सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है। पर जब हम देखते हैं कि यह कोई काव्यग्रन्थ नहीं है, केवल गाने के लिए रचा गया था, तो बहुत-कुछ समाधान हो जाता है।" इस प्रकार शुक्लजी को यह ग्रन्थ बहुत अधिक ग्रहणीय नहीं मालूम हुआ था। पुराना होने का गौरव पाने के कारण ही यह उनकी विवेचना का विषय बन सका था। अब इसका यह गौरव भी छिन गया है। इसको "भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा में बहुत-कुछ फेर-फार होता आया है, पर लिखित रूप में सुरक्षित रहने के कारण इसका पुराना ढांचा बहुत-कुछ बना हुआ है।"—यह शुक्लजी का विचार है; पर अब उलटी बात मालूम हुई है। भाषा में, प्रचलित चारणरीति के अनुसार, कुछ पुरानापन देने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार 'हम्मीर रासो' को नोटिस-मात्र समझा जा सकता है। 'शिवसिंह-सरोज' में चन्द कवि के प्रसंग में कहा गया था कि "इन्हीं की (चन्द की) औलाद में शार्ङ्गधर कवि थे, जिन्होंने हम्मीर रायसा (रासो ?) और हम्मीर-काव्य भाषा में बनाया है" ('शिवसिंह-सरोज', पृष्ठ 350)। सम्भवतः इसी आधार पर आचार्य शुक्ल ने इस काव्य के अस्तित्व के सम्बन्ध में अनुमान किया था। 'प्राकृत-पैंगलम्' उलटते-पलटते उन्हें कई पद्य छन्दों के उदाहरणों में मिले, फिर तो उन्हें "पूरा निश्चय हो गया कि ये पद्य असली हम्मीर रासो के ही हैं।" क्यों और कैसे यह

निश्चय हुआ—इसका कोई कारण शुक्लजी ने नहीं बताया। तब से अब हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इन छन्दों को निश्चित रूप से असली 'हम्मीर रासो' के छन्द माना जाने लगा है। मजेदार बात यह है कि श्री राहुल सांकृत्यायन ने इन्हीं कविताओं को अपनी 'काव्य-धारा' में जज्जल कवि-लिखित माना है। कुछ पद्यों में स्पष्ट रूप से 'जज्जल भणइ' अर्थात् 'जज्जल कहता है' की भणिति है। उदाहरणार्थ,

जहा,

पिंधउ दिढ सण्णाह वाह उप्पर पक्खर दइ।
बंधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर वअण लइ।
उड्डल णहपह भमउ खग्ग रिउ सीसहि डारउ।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पव्वअ अप्फालउ॥
हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुहमह जलउ।
सुरताण-सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिअ चलउ।

[छाया]

पहिन्यौ दृढ़ सन्नाह[1] बाजि ऊपर पक्खर[2] दै।
बन्धु समद रण धँस्यौ स्वामि हम्मीर वचन लै।
उड्डित नभ-पथ भ्रम्यौ खड्ग रिपु सीसहिं डार्‌यौ।
पक्खर-पक्खर ठेलि-पेलि पर्वत उच्चार्‌यौ।
हमीर-काज जज्जल भणै क्रोधानल मुह मँह जल्यौ।
सुलतान-सीस करवाल दै तेजि कलेवर दिवि चल्यौ॥

राहुलजी का यह मत 'प्राकृत-पैंगलम्' (बिब्लियोथिका इण्डिका) में प्रकाशित टीकाओं के 'जज्जलस्य उक्तिरियम्'—अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है—पर आधारित जान पड़ता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ यह भी हो सकता है कि यह जज्जल की कविता है और यह भी हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि द्वारा निबद्ध पात्र जज्जल की उक्ति है, अर्थात् 'कवि-निबद्ध वक्तृ-प्रौढोक्ति' है। यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो रचना जज्जल की नहीं, किसी और कवि की होगी; परन्तु वह और कवि शार्ङ्गधर ही है, इसका कोई सबूत नहीं। इतना अवश्य है कि यह उक्ति किसी ऐसे काव्य से उद्धृत है जिसमें वीररस का प्रसंग अवश्य था। फिर यदि 'प्राकृत-पैंगलम्' के एक कवि के ग्रंथ को वीरगाथाकाल का ग्रन्थ समझा जाय तो उसी ग्रन्थ में से बब्बर, विद्याधर और अन्य अज्ञात कवियों की रचनाओं को भी उस काल की रचना मानकर विवेच्य क्यों न समझा जाय? प्राचीन गुर्जर-काव्यों में भी अनेक कवियों की रचनाएँ ऐसी हैं जिन्हें थोड़ा-बहुत हिन्दी से सम्बद्ध समझकर इस काल के विषय में विचार किया जा सकता है। हमारे कहने का

1. सन्नाह=कवच।
2. पक्खर=अश्व-सन्नाह, घोड़े का कवच।

मतलब यह है कि या तो 'हम्मीर रासो' को 'नोटिस' मात्र समझा जाय या 'प्राकृत-पैंगलम्' में उद्धृत सभी रचनाओं को इस अनुमानाधारित ग्रन्थ के समान ही इस काल की प्रकृति और संज्ञा के निर्णय का उपयुक्त साधन समझा जाय। इसके अतिरिक्त एक और बात भी विचारणीय है। 'हम्मीर' नाम इस देश में किसी एक ही राजा के लिए नहीं व्यहृत हुआ है। गजनी के तुर्क शासकों को 'अमीर' कहा जाता था। इस देश में 'हमीर' इसी 'अमीर' का संस्कृतायित रूप है। बुखारा का प्रथम अमीर 'उन्सद' नवीं शताब्दी में हुआ था। जब से इन अमीरों ने गजनी के ब्राह्मण राजा शाहियों को हराकर गजनी पर अधिकार किया, तभी से इस देश में 'हम्मीर' शब्द प्रचलित हो गया। 'गोविन्दचन्द्र' ने अपनी प्रशस्तियों में 'हम्मीर न्यस्तवैरं मुहुरथ समरक्रीडया यो विधत्ते' कहा है और उसके पुत्र 'विजयचन्द्र' ने भी 1168 ई. के एक दानपत्र में गर्वपूर्वक घोषणा की है कि 'हम्मीर' अर्थात् गजनी के अमीर के त्रास से समूचा भुवन दु:ख की ज्वाला से जल रहा था। उसे मैंने उसी की हरम की बेगमों के नयनरूपी मेघों की धारा से शान्त किया है—'भुवन-दहन लेहा-हर्म्य-हम्मीर-नारी-नयन-जलद-धारा-धौत-भूतोप-ताप।' सो, 'हम्मीर' शब्द को किसी पद्य में आया देखकर ही यह नहीं मान लिया जा सकता कि वह चित्तौरवाले या रणयम्भोरवाले हिन्दू राजा 'हम्मीर' की ओर ही इशारा कर रहा है। कर भी सकता है, नहीं भी कर सकता है।

"भट्ट केदार ने 'जयचन्द-प्रकाश' नाम का एक महाकाव्य लिखा था, जिसमें महाराज जयचन्द्र के प्रताप और पराक्रम का विस्तृत वर्णन था। इसी प्रकार का 'जयमयंकजसचन्द्रिका' नामक एक बड़ा ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। केवल इनका उल्लेख सिंघायच दयालदास-कृत 'राठौड़ाँ री ख्यात' में मिलता है जो बीकानेर के राजपुस्तक-भण्डार में सुरक्षित है।" (पृ. 50)। अर्थात् ये दोनों भी नोटिस-मात्र हैं। इन दोनों कवियों के विषय में कुछ अधिक चर्चा हम आगेवाले व्याख्यान में करेंगे। यहाँ इतना कह रखना ही उचित जान पड़ता है कि इनकी चर्चा रासो में भी मिलती है और हिन्दी की अन्य पुस्तकों में भी कुछ चर्चा मिल जाती है। ये गोरी के दरबार के कवि बताये गये हैं। इसी प्रकार "जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है, पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों के गाँव-गाँव में प्रचलित सुनाई पड़ते हैं।"[1] (पृ. 51)। सो यह भी नोटिस-मात्र से कुछ अधिक दाम का नहीं। चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' भी

1. यद्यपि जगनिक के विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है, तथापि अनुमान से समझा जा सकता है कि इस कवि ने यदि 'आल्हाखण्ड' की रचना कभी की भी हो तो वह रचना बुन्देलखण्ड की सीमा के बाहर बहुत दीर्घ कालतक अपरिचित रही। यह देखकर थोड़ा आश्चर्य ही होता है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस अत्यन्त लोकप्रिय गीतपद्धति को राममय करने का प्रयास क्यों नहीं किया . लेकिन यह नकारात्मक दलील हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती।

अपभ्रंश भाषा के उस रूप का प्राधान्य बना रहा है जिनमें तद्भव शब्दों का ही एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे-धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं-दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। क्रियाएँ और विभक्तियाँ तो ईषत् विकसित या परिवर्तित रूप में बनी रहीं, पर तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ जाने से भाषा भी बदली-सी जान पड़ने लगी। भक्ति के नवीन आन्दोलन ने अनेक लौकिक जन-आन्दोलनों को शास्त्र का पल्ला पकड़ा दिया और भागवत-पुराण का प्रभाव बहुत व्यापक रूप में पड़ा। शांकरमत की दृढ़ प्रतिष्ठा ने भी बोलचाल की भाषा और साहित्य की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश को सहारा दिया। तत्सम शब्दों के एकाएक प्रवेश से पुरानी भाषा एकाएक नवीन रूप में प्रकट हुई, यद्यपि वह उतनी नवीन थी नहीं। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के काल का साहित्य अपभ्रंश-प्रधान साहित्य है।

'युक्तिव्यक्तिप्रकरण' का उल्लेख पहले ही हो चुका है। इस ग्रन्थ के लेखक दामोदर शर्मा सम्भवतः राजकुमारों के शिक्षक थे। मैंने सुना है कि यह ग्रन्थ डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी द्वारा सम्पादित होकर छप तो चुका है; लेकिन अभी प्रकाशित नहीं हुआ। (अब यह सिन्धी जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो गया है।) डॉ. मोतीचन्द ने 'सम्पूर्णानन्द-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में एक लेख लिखकर बताया है कि इस पुस्तक में तत्कालीन काशी की भाषा का रूप पाया जाता है। 'वेद पढ़व, स्मृति अभ्यासिब, पुराण देखब, धर्म करब' यह बारहवीं शताब्दी की बनारसी भाषा का नमूना है। स्पष्ट ही इस वाक्य में तत्सम शब्दों का प्रयोग है। इसी प्रकार 'छात्र गाऊँ या' में 'छात्र' शब्द किसी अपभ्रंश पुस्तक की भाषा के समान 'छत्तु' नहीं बन गया है और, 'मेरा क्षेम को करिह' में 'क्षेम' विशुद्ध तत्सम रूप में है। 'विद्या अवढ़' में 'विद्या' और "प्रज्ञा" में 'प्रज्ञा' तत्सम रूप में ही व्यवहृत हुए हैं। इस पुस्तक से और बहुत-सी बातों का पता चलता है। महत्त्व-पूर्ण और जाननेयोग्य बात यही है कि उस समय इस भाषा में कथा-कहानी का साहित्य रचित होने लगा था।

इसके बाद तत्सम शब्दों के निश्चित प्रयोग का प्रमाण ज्योतिरीश्वर के 'वर्णरत्नाकर' और विद्यापति की 'कीर्तिलता' में मिलता है। दोनों ही पुस्तकें मिथिला में लिखी गयी थीं। विद्यापति पद्य में तो अपभ्रंश के समान तद्भव रूपों का व्यवहार करते हैं—यद्यपि जैन लेखकों की तरह वे संस्कृत का सम्पूर्ण बहिष्कार नहीं करते हैं—पर जब गद्य लिखने लगते हैं तो उनकी भाषा में तत्सम शब्दों की भरमार हो जाती है। सम्भवतः यह बात इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि पद्य की भाषा में तो थोड़ा-बहुत पुरानापन तब भी बना हुआ था; पर बोलचाल के गद्य में तत्सम शब्दों का प्राचुर्य बढ़ रहा था। विद्यापति की 'पदावली' में तो तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत है, परन्तु उसकी भाषा बदलती

रही है। अतएव उसके बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ज्योतिरीश्वर की पूरी पुस्तक ही गद्य मे है, बल्कि यह कहिए कि शब्दो की सूचीमात्र है। उसमें संस्कृत शब्दों के तत्सम रूपों का प्रयोग यही सूचित करता है कि बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था। सयोगवश तत्सम शब्दों के प्रचलन के प्रमाण के रूप मे जिन तीन पुस्तकों के प्रमाण का उल्लेख किया गया है, वे सभी सस्कृताभ्यासी ब्राह्मण-पण्डितों की रचनाएँ हैं और तीनों ही पूर्वी प्रदेश मे लिखी गई है। आलोच्यकाल मे काशी और मिथिला सस्कृत-विद्या के गढ रहे हैं। इसलिए कोई चाहे तो कह सकता है कि यह ब्राह्मणों की और पूर्वी प्रदेश की विशेषता थी। ज्ञान की वर्तमान अवस्था मे इस अनुमान का प्रत्याख्यान करने योग्य अधिक प्रमाण उपलब्ध नही है। श्री अगरचन्दजी नाहटा ने 'जर्नल आफ दि यू. पी. हिस्टारिकल सोसायटी' के बारहवें जिल्द में 'तरुणप्रभ सूरि' नामक चौदहवीं शती के जैन विद्वान् की एक गद्य रचना 'दशार्ण-भद्रकथा' की सूचना प्रकाशित करायी है। इसकी भाषा मे तत्सम शब्दों की उसी प्रकार भरमार है, जिस प्रकार 'कीर्तिलता' के गद्य मे है। कल्पना-शक्ति को कुछ और बल देकर निश्चय के साथ ही यह कहा जा सकता है कि उन दिनों तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था। नवी शताब्दी की 'कुवलयमाला-कथा' मे कुछ ऐसे प्रसग हैं जिनमें बोलचाल की तत्काल-प्रचलित भाषा के सुदर नमूने आ गये है। उनमें थोड़ी पढ़ाई-लिखाई के वातावरण मे रहनेवाले वटुकों की भाषा इस प्रकार है :

"भो भो भट्टउत्ता ! तुम्हे ण याणह यो राजकुले वृत्तान्त ?
तेहिं भणियं—भण हे व्याघ्रस्वामि ! क वार्ता राजकुले ?
तेण भणियं—कुवलयमालाए पुरिसद्वेपिणीए पातओ लम्बित ।
इमं च सोऊण अप्फोडिऊण एक्को उट्ठिउ चट्टो। भणिअं च
णेणं यदि पाण्डित्येन ततो मइं परियेतव्य कुवलयमाल ।
अण्णेण भणियं—अरे ! कुवणु तउ पाण्डित्यु ?
तेण भणिय - पडगु पढमि, त्रिगुण मन्त्र पढमि, कि न पाण्डित्यु ?
अण्णेण भणिअं—अरे ! ण मंत्रेहिं तृगुणेंहि परिणिज्जइ,
जो सहितौ पातौ भि (वि) दइ तं परिणेति ।
अण्णेण भणिय—अहं सहितउ ज्जो ग्वाथी पढमि ।
तेहिं भणिअं—कइसी रे व्याघ्रसामि ! गाथः ?
तेण भणिअ—इम ग्वाथ—
'साते भवतु सुप्रीता अवुधस्य कुतो बलं ?
यस्य यस्य यदा भूमि सर्व्वत्र मधुसूदन. ।।'
तं च सोऊण अण्णेण सकोपं भणिअं—
अरे अरे मूर्ख ! स्कन्धकोपि गाय भणसि ! अम्ह गाथ ण पुच्छह ।
तेहिं भणिअ—त्वं पठ भट्टो यजुस्वामि ! गाथ. ।
तेण भणियं—सुट्टु पढमि—

'आए कप्पे मत्तगय गोदावरि ण मुयन्ति।
को तहु देसहु आव (प) तति को न पराणति वात्त ॥'

अण्णेण भणिअं—अवे ! सिलोगो अम्हे ण पुच्छह ग्वाथा पठहो।

तेण भणिअं सुट्ठु पढमि—

'तम्वोलरइयराउ अहरो कामिनं दृष्ट्वा।
अम्हं चिअ वउभई मणो दारिद्रगुरु णिवारेइ।'

तउ सव्वेहि विभणिअं—अहो ! भट्ट यजुस्वामि विदग्ध पण्डित विद्यावन्तो ग्वाथी पढति, एतेन सा परिणेतव्या।

अण्णेण भणियं—अरे ! केरिसो सो पातउ जो तीय लम्वितु।

तेण भणिउ—राजागणे मइं पठिनु आसि, सो से विस्मृतु, सव्वुलोकु पढतिति।

इमं च सोऊण चट्ट रसायणं चिन्तियं राहउत्तेण—अहो ! अणहावट्टिआण असम्वद्धपलावत्तणं चट्टाणं ति?'

—कुवलयमालाकथायाम् (जे. भां. ता. 13, 131, पृ. 106-07.)

[अजी भट्ट पुत्रो, तुम नही जानते राजकुल मे क्या वृत्तान्त (चल रहा) है?

उन्होंने कहा—कहो हे व्याघ्रस्वामी, क्या वार्ता है राजकुल में?

उसने कहा—पुरुष-द्वेषिणी कुवलयमाला ने पात (पत्र) लगा दिये हैं।

यह सुनकर एक विद्यार्थी फड़ककर उठा और बोला—निर्णय यदि पाण्डित्य से (होने वाला है) तो व्याह मैं करूँगा कुवलयमाला से।

दूसरे ने कहा—अरे कौन-सा तेरा पाण्डित्य है?

उसने कहा—(क्यों?) मैं षडंग (वेद) पढ़ता हूँ, त्रिगुण मन्त्र पढ़ता हूँ, पाण्डित्य क्यो नहीं है?

दूसरे ने कहा—अरे त्रिगुण मन्त्र से व्याह नहीं होगा। जो दोनों पातो (पत्रों) को एक साथ समझ सकेगा, उससे वह (कुवलयमाला) व्याह करेगी।

दूसरे ने कहा—मैं साथ-साथ दो ग्वाथियाँ पढता हूँ।

उन्होंने कहा—कैसी है रे व्याघ्रस्वामी, वे गाथाएँ?

उसने कहा—यह गाथा।

'साते·········मधूसूदनः ॥'

यह सुनकर दूसरे ने क्रोध-सहित कहा—अरे रे मूर्ख ! तू स्कन्धक को गाथा कहता है ! हम गाथा नही पूछते।

उन्होंने कहा—तुम पढो भट्ट यजुस्वामी गाथा—

उसने कहा—वहुत अच्छा, पढ़ता हूँ—

'आएकप्पे·········वात्त ॥'

दूसरे ने कहा—अवे, हम श्लोक नही पूछते, ग्वाथी पढ़।

उसने कहा—वहुत अच्छा पढता हूँ—

'तम्वोल·········णिवारेइ ॥'

तव सवने कहा—अहो ! भट्ट यजुस्वामी विदग्ध पण्डित है, विद्यावन्त है,

व्याधी पढ़ता है, इसी से वह व्याही जायेगी।

दूसरे ने कहा—अरे कैसा वह पद्य है जो उसने लगा रखा है?

उसने कहा—राजांगण में मैंने पढा था, वह अब भूल गया; क्योंकि उसे सब लोग पढ़ते हैं!

इस चट्ट-रसायन को सुनकर राजपुत्र ने सोचा—अहो? असम्बद्ध प्रलापी छात्रों (चट्टों) का यह कैसा अन्यथा वर्तव है?]

स्पष्ट ही इसमें तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। बाहुल्य का कारण संस्कृत-पाठशाला का वातावरण है। इसी पुस्तक में एक अनाथालय के कोढियों, अपाहिजों आदि की भाषा का भी नमूना है। यह अनाथालय मथुरा में था। अनुमान किया जा सकता है कि इस बातचीत में स्थानीय भाषा का रूप रहा होगा। संस्कृत के कठिन तत्सम शब्दों का न रहना स्वाभाविक है। फिर भी इसमें प्रयाग, खेद आदि शब्द प्रायः तत्सम रूप में ही आये हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि 'अच्छइ', 'आछ' आदि के जो प्रयोग बारहवीं शताब्दी की भाषा (युक्ति-व्यक्ति-प्रकरण) में मिल जाते है, वे करीब-करीब यहाँ भी हैं।

इस प्रकार नवीं शताब्दी में ही बोलचाल की भाषा मे तत्सम शब्द आने लगे थे। जो लोग बातचीत में कुछ इस प्रकार का आभास देना चाहते थे कि वे पढ़े-लिखे हैं, वे निस्संकोच संस्कृत-शब्दों का प्रयोग किया करते थे। परन्तु साधारण जनता की बोलचाल की भाषा में संस्कृत-शब्दों का व्यवहार उसी स्वाभाविकता के साथ होता जान पड़ता है, जैसा बाद की बोलियों में होता रहा। धीरे-धीरे संस्कृत के तत्सम शब्द अधिकाधिक मात्रा में आने लगे।

सो, इस काल की भाषा की मुख्य प्रवृत्ति थी—बोलचाल मे तत्सम शब्दो का प्रचार। स्वर्गीय प. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने बताया है कि "विक्रम की सातवी से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गयी। इसमें देशी की प्रधानता है, विभक्तियाँ घिस गयी हैं। खिर गयी है। एक ही विभक्ति 'हूं' या 'आहँ' कई काम देने लगी है। वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली। विभक्तियो के खिर जाने से कई अव्यय या पद लुप्त-विभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे, जो विभक्तियाँ नहीं हैं। क्रियापदों में मार्जन हुआ। हाँ, इसने केवल प्राकृत ही के तद्भव और तत्सम पद नहीं लिये; किन्तु धनवती अपुत्रा मौसी (संस्कृत) से भी कई तत्सम पद लिये। अपभ्रंश साहित्य की भाषा हो चली थी। वहाँ 'गत' भी 'गय' और 'गज' भी 'गय'। काच, काक, काय, कार्य सबके लिए 'काय'। इसमें भाषा के प्रधान लक्षण—सुनने से अर्थ-बोध—का व्याघात होता था। अपभ्रंश में दोनों प्रकार के शब्द मिलते है। जैन लोग संस्कृत-शब्दों का बहिष्कार अवश्य करते रहे, पर वे आते ही गये।"

चन्द का रासो अपने मूल रूप मे सुरक्षित नहीं रह सका है। इसमें बहुत

प्रक्षेप हुआ है। फिर भी इसके वर्त्तमान रूप से (जो सत्रहवीं शताब्दी के आस-पास का है) अनुमान किया जा सकता है कि इसमें संस्कृत की ओर जाने की प्रवृत्ति है। तद्भव शब्दों में अनुस्वार लगाकर संस्कृत की छौंक देना तत्कालीन भाषा के नये घुमाव की सूचना देता है। परन्तु इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। सूरदास, तुलसीदास, विहारी आदि परवर्ती कवियों की भाषा में निश्चित रूप से तत्सम शब्दों का अबाध प्रवेश होने लगा था, परन्तु उनके प्रयोगों का अध्ययन करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि तत्सम शब्दों का प्रयोग नये सिरे से होने लगा है। 'विधुवैनी' में 'वैनी' परम्परा-प्राप्त शब्द है और 'चन्द्रवदनि' मे 'वदनि' नये घुमाव की सूचना देता है। 'लोयन कोयन' में 'लोयन' पुरानी स्मृति का चिह्न है और 'सोचविमोचन लोचन' में 'लोचन' नये प्रभाव का द्योतक है। 'मैंन-सर' में 'मैंन' पुरानी विरासत है और 'मदनमोहन' में 'मदन' नया अतिथि है। स्पष्ट ही दसवी से तेरहवी शताब्दी तक की बोलचाल की भाषा में सस्कृत-तत्सम शब्दो का प्रयोग वढ़ने लगा था। इन कुछ शताब्दियों में अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा पद्य का वाहन बनी रही और गद्य की भाषा तत्सम-वहुल होती गयी। 'कीर्तिलता' मे इसकी स्पष्ट सूचना मिलती है। धीरे-धीरे तत्सम शब्दो और उनके नये तद्भव रूपो के कारण भाषा वदली-सी जान पड़ने लगी। और चौदहवी शताब्दी के बाद वह वदल ही गयी। इसके पूर्व अपभ्रंश और देश्य-मिश्रित अपभ्रंश की प्रधानता वनी रही। इस प्रकार दसवी से चौदहवी शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते है, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही वढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं औरकुछ लोग पुरानी हिन्दी।

इस पुरानी हिन्दी के कुछ पुराने नमूने शिलालेखों में मिल जाते हैं। वारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नये तत्सम शब्दों का आगमन शुरू हो गया था। गद्य और बोलचाल की भाषा मे तत्सम शब्द मूल रूप मे रखे जाते थे; पर पद्य लिखते समय उन्हें तद्भव वनाने का प्रयत्न किया जाता था। 'चरित' तत्सम शब्द है। इसका पुराना तद्भव रूप 'चरिउ' वहुत काल से प्रसिद्ध था। बोलचाल की भाषा में नये सिरे से 'चरित' बोला जाने लगा था और पद्य लिखते समय भी कवि लोग इसका व्यवहार कर देते थे। इसी प्रकार 'दक्षिण,' 'समग्र', 'सुख', 'ग्राम' आदि शब्द बोलचाल की भाषा से सरककर पद्य मे आ जाते थे। वारहवी शताब्दी में किसी विश्वामित्र-गोत्रीय गुहिलवशी विजयपाल ने 'काई' नामक वीर को हराया था। उसके लड़के का नाम भुवनपाल था, नाती का हर्षराज। इस हर्षराज के भुजदण्ड ने कालिंजर, डाहल और गुर्जर तथा दक्षिण के देशों को जीता था। वह 'संगर भंगर' अर्थात् युद्ध को तहस-नहस करनेवाला था। [illegible] 'भस' के सामने कोई टिक नही सकता था। उसने [illegible] और [illegible] न किया, शत्रुओं को जीता, चित्तौड़ से जू [illegible]

का पुत्र सबका प्रशंसा-पात्र बना। शक्तिशाली गुर्जरों को खदेड़ दिया, गोदहों को मार भगाया। इस प्रकार अपने पौरुष के कारण विजयसिंह ने बड़ी कीर्ति पायी। वह 'भुभुकदेव' का भक्त था। उन्हीं के पदों की प्रणति करके उसने सारी कीर्ति अर्जित की और दृढ़-चित्त से सम्पूर्ण सुखों को भोगा। दमोह जिले में प्राप्त उसका हिन्दी-लेख इस प्रकार है :

विसमित्त गोत्त उत्तिम चरित विमल पवित्तोगाण।
अरधड़ धड़णो ससिजय द्ववडो श्रवाण॥
द्ववडो पटि परिठियउ खत्तिय विज्जयपालु।
जोणे काइउ रणि विजिणिउ तह सुअ भुवण पालु॥
कलचुरि गुजर ससहरह दक्षिण पइ सुग्र अड।
चुहरा अहरण विजिणण हरिम राअ भुवदड॥
सघरि भगरि रणरहसु गउ हरिसरुअ कि अग्र।
हपइत पठियर सुहड सुमुहु न कोउ समग्र॥
जेणे रंजिउ जग पउरिणउ ग्राम महागढ़ हेठि।
विजयसीह सुर अठिअह अरियण निअहित पेठि॥
जो चित्तोडहँ जुज्झिअउ जिण ढिलीदल जित्तु।
सो सु पसंसहि रभअकइ हरिसराअ तिअ सुत्तु॥
खेदिय गुजर गौदहइ कीअ अधिअ मारि।
विजय सीह कित्त संहलहु पौरिस वह ससारि॥
भुंभुक देवह पअ पणधि पअडिअ कित्त समब्व।
विजयसीह दिढ़ चित्तु करि आरंभिअ सुग्र सव्व॥

—'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग 6, अंक 4 में प्रकाशित
रा. ब. हीरालालजी के लेख से

यह शिलालेख उस युग की भाषागत प्रवृत्तियों को अविकृत रूप में उपस्थित करता है। यह स्पष्ट रूप से बताता है कि पद्य की भाषा अपभ्रंश ही थी, किन्तु बोलचाल की भाषा में संस्कृत-तत्सम शब्द आने लगे थे और उनका प्रभाव पद्य की भाषा पर भी पड़ रहा था। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने इस काल की भाषा पर विचार करते हुए कहा है ('हिन्दी भाषा का इतिहास',—भूमिका, पृ. 77) कि "पण्डित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग 2, अंक 4 में 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक लेख में जो नमूने दिये हैं, वे प्रायः गंगा की घाटी के बाहर के प्रदेशों में बने ग्रन्थों के हैं। अतः इनमें हिन्दी के प्राचीन रूपों का कम पाया जाना स्वाभाविक है। अधिकांश उदाहरणों में प्राचीन राजस्थानी के नमूने मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इन उदाहरणों की भाषा में अपभ्रंश का प्रभाव इतना अधिक है कि इन ग्रन्थों को इस काल के अपभ्रंश-साहित्य के अन्तर्गत रखना ही अधिक उचित मालूम पड़ता है।"

वस्तुतः चौदहवीं शताब्दी के पहले की भाषा का रूप हिन्दी-भाषी प्रदेशों में

प्रक्षेप हुआ है। फिर भी इसके वर्तमान रूप से (जो सत्रहवीं शताब्दी के आस-पास का है) अनुमान किया जा सकता है कि इसमें संस्कृत की ओर जाने की प्रवृत्ति है। तद्भव शब्दों में अनुस्वार लगाकर संस्कृत की छौंक देना तत्कालीन भाषा के नये घुमाव की सूचना देता है। परन्तु इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। सूरदास, तुलसीदास, बिहारी आदि परवर्ती कवियों की भाषा में निश्चित रूप से तत्सम शब्दों का अबाध प्रवेश होने लगा था, परन्तु उनके प्रयोगों का अध्ययन करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि तत्सम शब्दों का प्रयोग नये सिरे से होने लगा है। 'विधुवैनी' में 'वैनी' परम्परा-प्राप्त शब्द है और 'चन्द्रवदनि' में 'वदनि' नये घुमाव की सूचना देता है। 'लोयन कोयन' में 'लोयन' पुरानी स्मृति का चिह्न है और 'सोचविमोचन लोचन' में 'लोचन' नये प्रभाव का द्योतक है। 'मैन-सर' में 'मैन' पुरानी विरासत है और 'मदनमोहन' में 'मदन' नया अतिथि है। स्पष्ट ही दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक की बोलचाल की भाषा में संस्कृत-तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था। इन कुछ शताब्दियों में अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा पद्य का वाहन बनी रही और गद्य की भाषा तत्सम-बहुल होती गयी। 'कीर्तिलता' में इसकी स्पष्ट सूचना मिलती है। धीरे-धीरे तत्सम शब्दों और उनके नये तद्भव रूपों के कारण भाषा बदली-सी जान पड़ने लगी। और चौदहवीं शताब्दी के बाद वह बदल ही गयी। इसके पूर्व अपभ्रंश और देश्य-मिश्रित अपभ्रंश की प्रधानता बनी रही। इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी।

इस पुरानी हिन्दी के कुछ पुराने नमूने शिलालेखों में मिल जाते हैं। बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नये तत्सम शब्दों का आगमन शुरू हो गया था। गद्य और बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्द मूल रूप में रखे जाते थे; पर पद्य लिखते समय उन्हें तद्भव बनाने का प्रयत्न किया जाता था। 'चरित' तत्सम शब्द है। इसका पुराना तद्भव रूप 'चरिउ' बहुत काल से प्रसिद्ध था। बोलचाल की भाषा में नये सिरे से 'चरित' बोला जाने लगा था और पद्य लिखते समय भी कवि लोग इसका व्यवहार कर देते थे। इसी प्रकार 'दक्षिण,' 'समग्र', 'सुख', 'ग्राम' आदि शब्द बोलचाल की भाषा से सरककर पद्य में आ जाते थे। बारहवीं शताब्दी में किसी विश्वामित्र-गोत्रीय गुहिलवंशी विजयपाल ने 'काई' नामक वीर को हराया था। उसके लड़के का नाम भुवनपाल था, नाती का हर्षराज। इस हर्षराज के भुजदण्ड ने कालिंजर, डाहल और गुर्जर तथा दक्षिण के देशों को जीता था। वह 'सगर भंगर' अर्थात् युद्ध को तहस-नहस करनेवाला था। उसके 'रणरभस' के सामने कोई टिक नहीं सकता था। उसने महागढ को जीता, पौरजनों का रजन किया, शत्रुओं को जीता, चित्तौड़ से जूझा, दिल्लीदल को जीता, और इस प्रकार हर्षराज

का पुत्र सबका प्रशंसा-पात्र बना। शक्तिशाली गुर्जरों को खदेड़ दिया, गोदहों को मार भगाया। इस प्रकार अपने पौरुष के कारण विजयसिंह ने बड़ी कीर्ति पायी। वह 'भुभुकदेव' का भक्त था। उन्हीं के पदों की प्रणति करके उसने सारी कीर्ति अर्जित की और दृढ़-चित्त से सम्पूर्ण सुखों को भोगा। दमोह जिले में प्राप्त उसका हिन्दी-लेख इस प्रकार है :

विसमित्त गोत्त उत्तिम चरित विमल पवित्तोगाण ।
अरधड़ धड़णो संसिजय द्ववडो भ्रवाण ॥
द्ववडो पटि परिठियउं खत्तिय विज्जयपालु ।
जोणे काइउ रणि विजिणिउ तह सुअ भुवण पालु ॥
कलचुरि गुजर ससहरह दक्षिण पइ सुव्र अड ।
चुहरा अहरण विजिणण हरिस राअ भुवदड ॥
संघरि भगरि रणरहसु गउ हरिसरुअ कि अग्ध ।
हपइत पठियर सुहड सुमुहु न कोउ समग्ध ॥
जेणे रजिउ जग पउरिणउ ग्राम महागढ हेठि ।
विजयसीह सुर अठिअह अरियण निअहित पेठि ॥
जो चित्तोडहें जुज्झिअउ जिण ढिलीदल जित्तु ।
सो सु पससहि रभअकइ हरिसराअ तिअ सुत्तु ॥
सेदिय गुजर गौदहइ कीअ अघिअ मारि ।
विजय सीह कित सहलहु पौरिस वह ससारि ॥
भुंभुक देवह पअ पणधि पअडिअ कित्त समव्व ।
विजयसीह दिढ़ चित्तु करि आरभिअ सुख सव्व ॥

—'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग 6, अंक 4 में प्रकाशित
रा. ब. हीरालालजी के लेख से

यह शिलालेख उस युग की भाषागत प्रवृत्तियों को अविकृत रूप में उपस्थित करता है। यह स्पष्ट रूप से बताता है कि पद्य की भाषा अपभ्रंश ही थी, किन्तु बोलचाल की भाषा में संस्कृत-तत्सम शब्द आने लगे थे और उनका प्रभाव पद्य की भाषा पर भी पड़ रहा था। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने इस काल की भाषा पर विचार करते हुए कहा है ('हिन्दी भाषा का इतिहास',—भूमिका, पृ. 77) कि "पण्डित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग 2, अंक 4 में 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक लेख में जो नमूने दिये है, वे प्रायः गंगा की घाटी के बाहर के प्रदेशों में बने ग्रन्थों के हैं। अतः इनमे हिन्दी के प्राचीन रूपों का कम पाया जाना स्वाभाविक है। अधिकांश उदाहरणों में प्राचीन राजस्थानी के नमूने मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इन उदाहरणों की भाषा में अपभ्रंश का प्रभाव इतना अधिक है कि इन ग्रन्थों को इस काल के अपभ्रंश-साहित्य के अन्तर्गत रखना ही अधिक उचित मालूम पड़ता है।"

वस्तुतः चौदहवीं शताब्दी के पहले की भाषा का रूप हिन्दी-भाषी प्रदेशों में

क्या और कैसा था, इसका निर्णय करने योग्य साहित्य आज उपलब्ध नहीं हो रहा है। कुछ अधिक प्रामाणिक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ और शिलालेख आदि से ही उस भाषा का परिचय मिल सकता है। दुर्भाग्यवश इस काल का ऐसा साहित्य उपलब्ध नही है। जो एकाध शिलालेख और ग्रन्थ (जैसे, 'युक्ति-व्यक्ति-प्रकरण') मिल जाते है, वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य की और बोलचाल की भाषा मे तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ने लगा था, पर पद्य में अपभ्रंश का ही प्राधान्य था। इसलिए इस काल को अपभ्रंश-काल का बढ़ाव कहना उचित ही है।

विषय-वस्तु को दृष्टि मे रखकर इस काल के लिए राहुलजी ने एक और नाम सुझाया है जो बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। यह नाम है—'सिद्ध-सामन्त-काल'। इस कालका जो भी साहित्य मिलता है, उसमें सिद्धों का लिखा धार्मिक साहित्य ही प्रधान है। यद्यपि यह साहित्य विशुद्ध काव्य की कोटि में नहीं आ सकता, पर नाना प्रकार की सिद्धियाँ इस काव्य में उसी प्रकार प्रेरणा का विषय रही जिस प्रकार परवर्ती काल में भक्ति। वस्तुतः काल-प्रवृत्ति का निर्णय प्राप्य ग्रन्थों की संख्या द्वारा नही निर्णीत हो सकता; बल्कि उस काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु के आधार पर ही हो सकता है। प्रभाव-उत्पादक और प्रेरणा-सचारक तत्त्व ही साहित्यिक काल के नामकरण का उपयुक्त निर्णायक हो सकता है। फिर 'सामन्तकाल' में 'सामन्त' शब्द से उस युग की राजनीतिक स्थिति का पता चलता है और अधिकांश चारण-जाति के कवियों की राजस्तुतिपरक रचनाओं के प्रेरणास्रोत का भी पता चलता है। 'सामन्त' जिस काव्य का प्रधान आश्रयदाता है, उसमे उसकी झूठी-सच्ची विजयगाथाओं और कल्पित-अकल्पित प्रेम-प्रसंगो का होना उचित ही है। एक के द्वारा वह वीररस का आश्रय बनता है, दूसरे के द्वारा शृंगाररस का आलम्बन। सामन्त को दोनों ही चाहिए। इस प्रकार इस शब्द मे इस काल की मुख्य प्रवृत्तियो को स्पष्ट करने का गुण है। 'प्राकृतपैंगलम्' मे उदाहरणरूप में उद्धृत पद्यों में इस प्रकार की राजस्तुतिमूलक रचनाएँ प्रचुर मात्रा मे हैं और तत्कालीन सस्कृत-काव्य मे इस श्रेणी की रचनाएँ बहुत अधिक हुई हैं। सो, यह राजस्तुतिपरक रचनाएँ 'वीरगाथा' उतनी नही है जितनी 'राजस्तुति' है। उनकी लड़ाइयो और विवाहों की कथाओं मे कल्पना अधिक है, तथ्य कम।

यद्यपि हमने अपभ्रंश की अनेक रचनाओं की चर्चा की है और हमारा मत है कि रचनाएँ आदिकालीन हिन्दी-साहित्य के काव्यरूपों के अनुमान मे सहायक है; परन्तु यह सत्य है कि जिन प्रदेशो मे आगे चलकर ब्रजभाषा, अवधी और खडी-बोली का साहित्य लिखा जाने लगा, उन प्रदेशो की बहुत ही थोड़ी रचनाएँ हमें मिलती हैं—बहुत ही थोड़ी। फिर भी मात्रा और विस्तार में अत्यन्त अल्प इन रचनाओ का भी बहुत महत्त्व है, इन थोडी रचनाओ ने भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है और अनेक विद्वानो ने इसके मूलरूप को समझने का प्रयास भी किया है। यह साहित्य अपभ्रंश-कवि द्वारा निबद्ध उस अकिंचना सुन्दरी के समान

है जिसके सिर पर एक फटी-पुरानी कमली थी, गले में दस-बीस गुरियों की माला थी, फिर भी उसका सौन्दर्य ऐसा मनोहर था कि गोष्ठ के रसिकों को कितनी ही बार उठा-बैठी करने को बाध्य होना पड़ा :

सिरि जरखण्डी लोअडी गलि मणि अड़ा न बीस ।
तोवि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठवईस ॥

द्वितीय व्याख्यान

अपने प्रथम व्याख्यान में मैंने अपभ्रंश के उपलब्ध साहित्य की चर्चा की है। स्पष्ट ही हमारे *आलोच्य काल के आरम्भ ने इस भाषा का बहुत ही विशाल साहित्य* वर्त्तमान था। साधारणतः दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के काल को हिन्दी-साहित्य का आदिकाल माना जाता है। स्वर्गीय आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल ने संवत् 1050 से 1375 तक के काल को इस काल की सीमा मानी थी। जब तक इस विशाल उपलब्ध साहित्य को सामने रखकर इस काल के काव्य की परीक्षा नहीं की जाती, तब तक हम इस साहित्य का ठीक-ठीक मर्म उपलब्ध नहीं कर सकते। केवल संयोगवश इधर-उधर से उपलब्ध प्रमाणों के बल पर किसी बात को अमुक का प्रभाव और किसी को अमुक ऐतिहासिक घटना की प्रतिक्रिया कहकर व्याख्या कर देना न तो बहुत उचित है और न बहुत हितकर।

हमने बताया है कि इस बात का निर्णय करना कठिन है कि अवधी और ब्रजभाषा क्षेत्र में उत्पन्न और वहीं की भाषा बोलनेवाले लोगों ने किस प्रकार के साहित्य की रचना की थी जिसका परवर्ती विकास अवधी और ब्रजभाषा के साहित्यिक ग्रन्थ हैं; क्योंकि दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के भीतर इन क्षेत्रों में कोई रचना हुई भी हो तो उसका प्रामाणिक रूप हमें प्राप्त नहीं। हमें पार्श्ववर्ती प्रदेशों से प्राप्त साहित्यिक सामग्री के आधार पर तथा पूर्ववर्ती और परवर्ती रचनाओं के काव्य-रूपों को देखकर अनुमान द्वारा उस साहित्य-रूप का अन्दाजा लगाना पड़ता है। हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि यह अन्दाजा यथा-सम्भव ठीक हो। यह नहीं समझना चाहिए कि केवल हिन्दी का साहित्य ही इस काल में इस प्रकार के दुर्भाग्य का शिकार बना। केवल गुजराती और राजस्थानी इस विषय में कुछ अधिक सौभाग्यशालिनी है, नहीं तो लगभग सभी प्रान्तीय साहित्यों की यही कहानी है। जब तक प्रत्येक प्रदेश से प्राप्त सामग्री का व्यापक अध्ययन नहीं किया जाता तब तक सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिक रूप

अस्पष्ट ही बने रहेंगे। इसीलिए इस काल के साहित्य-रूप के अध्ययन के लिए प्रत्येक श्रेणी की पुस्तक का कुछ-न-कुछ उपयोग है। पुस्तक चाहे धर्मोपदेश की हो, वैद्यक की हो, माहात्म्य की हो, वह कुछ-न-कुछ साहित्य-रूप को स्पष्ट करने में अवश्य साहायता पहुँचायेगी। इस काल में साहित्यिक क्षेत्र को यथासम्भव व्यापक बनाकर देखना चाहिए। यहाँ तक कि इस काल में उत्पन्न महात्माओं और कवियों के नाम पर चलनेवाली और परवर्ती काल में निरन्तर प्रक्षेप से स्फीत होती रहनेवाली पुस्तकों का भी यदि धैर्यपूर्वक परीक्षण किया जाय तो कुछ-न-कुछ उपयोगी बात अवश्य हाथ लगेगी। न तो हमें परम्परा से प्रचलित बातों को सहज ही अस्वीकार कर देना चाहिए और न उनकी परीक्षा किये बिना उन्हें ग्रहण ही कर लेना चाहिए। इस अन्धकार-युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी चिनगारी मिल जाय उसे सावधानी से जिला रखना कर्तव्य है; क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की सम्भावना लेकर आयी होती है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन का ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के सयत्न और सुचिन्तित वाक्पाटव का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी होती है। इस काल की कोई भी रचना अवज्ञा और उपेक्षा का पात्र नहीं हो सकती। साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की सम्भावना होती ही है।

परन्तु प्रश्न यह है कि इस काल में आज के हिन्दी भाषी कहे जानेवाले क्षेत्र की देशी भाषा में लिखित कोई पुस्तक अपने मूलरूप में क्यों नहीं प्राप्त होती। इसका कोई-न-कोई ऐतिहासिक कारण होना चाहिए।

इस काल की पुस्तकें तीन प्रकार से रक्षित हुई हैं—(1) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर, (2) सुसंगठित धर्मसम्प्रदाय का आश्रय पाकर और मठों, विहारों आदि के पुस्तकालयों में शरण पाकर और, (3) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। राज्याश्रय सबसे प्रबल और प्रमुख साधन था। धर्मसम्प्रदाय का संरक्षण उसके बाद ही आता है। तीसरे प्रकार से जो पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं, वे बदलती रही हैं। जनता को उनके शुद्ध रूप से कोई मतलब नहीं था, आवश्यकतानुसार उसमें काट-छाँट भी होती रही है, परिवर्तन-परिवर्धन भी होता रहा है और इस प्रकार लोकरुचि के साँचे में ढलते हुए उन्हें जीवित रहना पड़ा है। 'आल्हा' काव्य इसी प्रकार लोकचित्त की चंचल सवारी पर चलता आया है। यह बता सकना कठिन है कि उसका मूल रूप कैसा था। परन्तु वह जनता को प्रिय था, उसके सुख-दुःख का साथी था और अपने इस महान् गुण के कारण वह जनता की प्रीति पा सका और जीवित रह गया। उसके समवयस्क काव्य वह प्रीति नहीं पा सके और अपना शुद्ध रूप लिये अस्त हो गये।

देशी भाषा की कुछ दूसरी पुस्तकें जैन-सम्प्रदाय का आश्रय पाकर साम्प्रदायिक भाण्डारों में सुरक्षित रह गयी हैं। उनका शुद्ध रूप भी सुरक्षित रह गया

है। कुछ पुस्तकें बौद्धधर्म का आश्रय पाकर और बौद्ध नरपतियों की कृपा से बच गयी थीं, जो आगे चलकर हिन्दुस्तान के बाहर से पायी जा सकी है। परन्तु जो पुस्तकें हिन्दू-धर्म और हिन्दू-नरेशों के संरक्षण से बची हैं, वे अधिकांश संस्कृत में हैं। इस श्रेणी की रचनाएँ मिलती अवश्य है, पर हमारे आलोच्य काल के देशी भाषा के साहित्य के सम्बन्ध में उनसे कोई विशेष सूचना नहीं मिलती। इस उपेक्षा का कारण क्या है ? यह कहानी सुनने योग्य है।

श्री हर्षदेव के शक्तिशाली साम्राज्य के टूट जाने के बाद भी कान्यकुब्ज का गौरव बना रहा। उनके सेनापति भण्डि और उनके वंशजों ने कान्यकुब्ज पर कुछ दिनों तक शासन किया। नवीं शताब्दी के आरम्भ में उनकी शक्ति क्षीण हो गयी, परन्तु राजलक्ष्मी फिर भी कान्यकुब्ज को छोड़ने को तैयार नहीं थी। पूर्व के पाल, दक्षिण के राष्ट्रकूट और पश्चिम के प्रतीहार इस राजलक्ष्मी को अपनी गृहलक्ष्मी बनाने का प्रयत्न करते रहे। पर नवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रतीहारों को ही कान्यकुब्ज को अधिकार करने का गौरव प्राप्त हुआ। इसके बाद लगभग दो सौ वर्षों तक कान्यकुब्ज के प्रतीहार बड़े शक्तिशाली शासक रहे। भारतवर्ष की केन्द्रीय शक्ति उन्हीं के हाथों रही।

सन् 1018 ई. में राज्यपाल महमूद से पराजित हुआ और उसने महमूद की अधीनता स्वीकार कर ली। ऐसा विश्वास किया जाता है कि राजपूत राजाओं को उसका यह आचरण अच्छा नहीं लगा और कई राजाओं ने मिलकर उसे मार डाला तथा उसके पुत्र को गद्दी पर बैठा दिया। परन्तु प्रतीहारों का प्रताप-सूर्य अस्त हो गया। इसी समय कालिंजर के प्रतापी चन्देल, त्रिपुरी के कलचुरि और साँभर के चौहान स्वतन्त्र हो गये। ये परस्पर भी जूझते रहे और उत्तर-पश्चिम की ओर से होनेवाले आक्रमणों से भी टक्कर लेते रहे। त्रिपुरी (तेवार) के कलचुरियों में कर्ण नामक प्रबल प्रतापी राजा हुआ जो सम्भवतः 1038 से 1080 ई. तक राज्य करता रहा। इसने दक्षिण में चोल-पाण्ड्यों तक को जीत लिया और उत्तर में काशी, चम्पारण (चम्पारन) और अवध तक को अपने में मिला लिया। अनुमान किया जाता है कि सरयू-पार के प्रसिद्ध तिवारी ब्राह्मण इस राजा के साथ ही इधर आये थे। कर्ण का राज्य बहुत दिनों तक स्थायी नहीं रह सका। उसने काशी को अपनी राजधानी बनाने का संकल्प किया था; पर उसका संकल्प मन ही में रह गया क्योंकि सन् 1080 ई. में मध्यदेश में एक नयी शक्ति उदय का हुआ। काशी और कान्यकुब्ज में गाहड़वार-वंशीय राजा चन्द्र का प्रताप प्रतिष्ठित हुआ। इस काल में केन्द्रीय शक्ति के शिथिल होने के कारण उत्तरभारत में घोर अराजकता फैल गयी थी। चन्द्रदेव ने समस्त उपद्रवों को शान्त करके राज्य में सुव्यवस्था कायम की। गाहड़वार-वंश के लेखों में बड़े गर्व के साथ चन्द्रदेव के इस महान् कार्य को स्मरण किया गया है—'येनोदारतरप्रतापशमिताशेष-प्रजोपद्रवम्!' प्रजा ने भी इस वंश के राजाओं को सिर-माथे लिया। इस प्रकार लगभग दो सौ वर्षों तक कन्नौज, काशी, अवध तथा पश्चिमी और उत्तरी बिहार—लगभग

समूचा मध्यदेश या हिन्दी-भाषी प्रदेश—गाहड़वार राजाओं के हाथ रहा। इस वंश के सबसे प्रतापशाली राजा गोविंदचन्द्र थे, जिन्हें एक तरफ बंगाल के प्रबल शासक पालों से लोहा लेना पड़ता था और दूसरी तरफ पश्चिम की ओर से निरन्तर हमला करनेवाले मुसलमानों से टक्कर लेनी पड़ती थी।

जिस काल के साहित्य की चर्चा हम कर रहे हैं, उस काल का मध्यदेश बहुत अधिक विक्षुब्ध था। यदि उस समय का कोई साहित्य नहीं मिलता तो बहुत आश्चर्य की बात नहीं है। हमने पहले ही विचार किया है कि साहित्य के रक्षित रहने के तीन साधनों में से सबसे प्रबल और प्रमुख साधन है—राजाश्रय। गाहड़वार राजाओं के विषय में कई प्रकार के विश्वास विद्वानों में प्रचलित है। कुछ लोग उन्हें दक्षिण से आया हुआ बताते हैं और कुछ लोग पश्चिम से। इतना प्रायः निश्चित है कि ये लोग बाहर से आये थे और बाहर से आनेवाले अन्य लोगों की भाँति वे भी स्थानीय जनता से अपने को भिन्न समझते रहे और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास भी करते रहे। बहुत दिनों तक इस दरबार में देशी भाषा के साहित्य को कोई प्रश्रय नहीं मिला। वे लोग वैदिक संस्कृति के उपासक थे और बाहर से बुला-बुलाकर अनेक ब्राह्मण-वंशों को दान देकर काशी में बसा रहे थे। संस्कृत को उन्होंने बहुत प्रोत्साहन दिया। जिस प्रकार गौड़ (बंगाल) देश के पाल, गुजरात के सोलंकी और मालवा के परमार देशभाषा को प्रोत्साहन दे रहे थे, वैसा इस दरबार में नहीं हुआ। इस उपेक्षा का एक कारण तो यही जान पड़ता है कि ये लोग बाहर से आये हुए थे और देशीय जनता के साथ दीर्घकाल तक एक नहीं हो पाये थे। दूसरा कारण यह भी सकता है कि मध्यदेश में जिस संरक्षणशील धार्मिक विचारधारा की प्रतिष्ठा थी, उसमें संस्कृत-भाषा और वर्जनशील ब्राह्मण-व्यवस्था से अधिकाधिक चिपटे रहना ही स्थानीय जनता की दृष्टि में ऊँचा उठने का साधन था।

बहुत दिनों तक काशी और कान्यकुब्ज के इन गाहडवाल या गाहडवार राजाओं को राठौड़ समझा जाता रहा, क्योंकि जोधपुर के राठौड़ अपने को जयचन्द्र (अन्तिम गाहडवाल राजा) के वंशज बताते है। राठौड़ शब्द का संस्कृत रूप 'राष्ट्रकूट' है और इसी नाम का एक क्षत्रिय-वंश दक्षिण में बहुत दिनों तक शासन कर चुका है। इसीलिए कुछ लोगों की धारणा थी कि दक्षिण के राष्ट्रकूट, उत्तर के गाहड़वार और जोधपुर के राठौड़ एक ही वंश के हैं। पर यह बात शायद ठीक नहीं है। दक्षिण के चन्द्रवंशी राष्ट्रकूटों के साथ जोधपुर के सूर्यवंशी राठौड़ों का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता और यह भी नहीं कहा जा सकता कि काशी-कन्नौज के गाहड़वार दक्षिण से ही आये थे। दो बातें इनके दक्षिण से आने के प्रमाणरूप में उद्धृत की जाती है जिनमें एक तो विशेष वजनदार नहीं है; पर दूसरी थोड़ी वजन रखती है। यह कहा जाता है कि जिन ब्राह्मणों को गोविन्दचन्द्र ने दान दिया था, वे उन गोत्रों और शाखाओं के है जो आजकल उत्तर में नहीं मिलते, बल्कि दक्षिण में मिलते हैं, इसलिए ये ब्राह्मण दक्षिण से

बुलाये गये थे और यह बात सिद्ध करती है कि गाहडवार दक्षिण से आये थे। लेकिन यह बात जँचती नही। उन दिनो गोविन्दचन्द्र के इलाके से ब्राह्मण दूर-दूर के प्रदेशो में बुलाये गये थे, गोविन्दचन्द्र को दक्षिण से ब्राह्मण बुलाने की कोई आवश्यकता नही थी और अगर हुई भी तो इससे यह सूचित नही होता कि वे दक्षिण से आये थे। सेनों ने कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को बुलाया था; पर वे स्वय कर्णाटदेश से आये थे। ब्राह्मणों को विद्या और कर्मकाण्ड की कुशलता के कारण बुलाया गया होगा, यही, ज्यादा सम्भव है। उड़ीसा के केसरी राजाओं ने भी अपने देश में कान्यकुब्ज ब्राह्मणो को बुलवाया था। इसी प्रकार गुजरात के राजा मूलराज और दक्षिण के चोल राजाओ के बारे मे भी प्रसिद्ध है कि उन्होने कान्यकुब्ज से ब्राह्मणों को बुलाकर अपने राज्य मे बसाया था। फिर, यह काल उत्तर के शास्त्र-परायण ब्राह्मणो के भागने का समय है। हो सकता है कि आज जो ब्राह्मण दक्षिण में मिल रहे है, वे इसी समय इधर से उधर चले गये हो।

परन्तु दूसरी बात कुछ ज्यादा वजनदार दिखायी देती है। चौदहवी शताब्दी के जैन कवि नयचन्द्र सूरि ने जयचन्द्र से लगभग दो सौ वर्ष बाद एक नाटिका लिखी थी—'रम्भामजरी'। यद्यपि यह पूरी नाटिका महाराष्ट्री प्राकृत मे है, फिर भी प्रथम अंक में वैतालिकों ने जयचन्द्र की स्तुति मे इस प्रकार गाया है :

जरि पेखिला मस्तकावरि केश कलापु।
तरि परिख्खता मयूराचे पिच्छ प्रतापु॥
जरी नयन विदायु केला वेणी दण्डु।
तरी साज्ञाज्जाला भ्रमर क्षेण दण्डु।
जरी दृग्गोचरी आला विशाल भालु।
तरी अर्द्धचन्द्र मण्डल भइल अर्णायु जालु।
भ्रूजुगलु जाणुं द्वैधीकृत कदर्प चापु।
नयन निर्जित सुजला खजन नि.प्रतापु।
मुखमण्डलु जाणू शशांक देवताचे मण्डलु॥
सर्वांग सुन्दर मूर्तिमन्त कामु।
कल्पद्रुम जैसे सुन्दर सर्वलोक आशा विश्रामु॥

बताया गया है कि ये पद्य मराठी भापा मे है और इनका 'रम्भामजरी' नाटिका मे होना इस बात का सबूत है कि जयचन्द्र के दरबार के वैतालिक मराठी भापा मे गान करते थे और इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि जयचन्द्र के पूर्वपुरुष दक्षिण से—किसी मराठी-भापी क्षेत्र से—आये थे। लेकिन यह युक्ति भी केवल ऊपर-ऊपर से ही वजनदार मालूम होती है। प्रथम तो यह नाटिका जयचन्द्र से दो सौ वर्ष बाद लिखी गयी थी और इसमें कवि की कल्पना का अधिक हाथ है, ऐतिहासिक तथ्य का कम। हो सकता है कि नयचन्द्र स्वयं मराठी-भापी हों और देशी भापा मे कुछ लिखने की इच्छा होते ही उन्हे अपनी मातृभापा सूझी हो। दूसरे, यह भापा शुद्ध मराठी नही है, बल्कि तत्काल प्रचलित काशी की भोजपुरी का

मराठी कवि द्वारा गुना हुआ रूप है। 'पेखिला', 'महल' 'जाणू' 'जैसे' आदि प्रयोग भोजपुरी भाषा के हैं। मैंने मूल हस्तलिखित प्रति नहीं देखी, इसलिए इस पाठ के बारे में कुछ निश्चय के साथ नहीं कह सकता; परन्तु मुझे लगता है कि लेखकों और पाठकों की असावधानी से यह कुछ विकृत रूप में लिखा गया है। 'मयूरा चे' और 'देवता चे' जैसे पद इसमें मराठी की गवाही देते हैं। वस्तुतः यह पद किसी मराठी-भाषी कवि का भोजपुरी में लिखने का प्रयास है।[1] इससे अधिक कुछ भी इससे सूचित नहीं होता।

दामोदर भट्ट के 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' की चर्चा प्रथम व्याख्यान में की जा चुकी है। ये प्रसिद्ध गाहड़वार राजा गोविन्दचन्द्र के सभापण्डित थे। ऐसा अनुमान किया गया है कि पुस्तक राजकुमारों को काशी-कान्यकुब्ज की भाषा सिखाने के उद्देश्य से लिखी गयी थी। यदि यह अनुमान सत्य हो तो मानना पड़ेगा कि इन राजकुमारों को घर में किसी और भाषा के बोलने की आदत थी। अर्थात् गाहड़वार बाहर से आये थे। परन्तु यहाँ से इस वंश में देशी भाषा की ओर झुकने की प्रवृत्ति आयी थी, यह भी पर्याप्त स्पष्ट है। काशी-कान्यकुब्ज-दरबार में एक बहुत ही प्रवीण और विद्यावन्त मन्त्री थे, जिनका नाम विद्याधर था। उन्हें 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में जयचन्द्र का मन्त्री तथा 'सर्वाधिकार भारधरन्धुर' और 'चतुर्दश विद्याधर' कहा गया है। इस कवि की कुछ कविताएँ 'प्राकृतपैंगल' मिल जाती हैं, जो बताती हैं कि जयचन्द्र के दरबार में विद्वान् मन्त्रिगण भी देशभाषा में रचना करते थे। यह रचना राजस्तुतिपरक है, इसलिए यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जयचन्द्र इन रचनाओं का मान करते थे। एक कविता इस प्रकार है :

भअ भंजिअ बङ्गा भग्गु कलिंगा
तेलंगा रण मुक्कि चले
मरहट्टा ढिट्ठा लग्गिअ कट्ठा
सोरट्ठा भअ पाअ पले
चंपारण कंपा पव्वय झंपा
ओत्था ओत्थी जीव हरे

[1]सन् 1956 ई. की मई मास की मराठी पत्रिका 'सह्याद्रि' में श्री ग. ह. खेर ने 'रम्भा-मञ्जरी तील एक उतारा' शीर्षक एक लेख लिखा है। उसमें उन्होंने लिखा है कि मैंने 'रम्भा-मञ्जरी' को अप्रकाशित नाटिका कहा है। मैंने ठीक ऐसा हो तो नहीं कहा; परन्तु यह सत्य है कि मुझे मालूम नहीं था कि सन् 1889 ई. में बम्बई से श्री रामनाथ दीनानाथ शास्त्री और श्री केवलदास ने इस पुस्तक को प्रकाशित कराया था। मैं इस सूचना के लिए श्री खेर का कृतज्ञ हूँ। श्री खेर का मत है कि इस पद्य की भाषा मराठी ही है, भोजपुरी नहीं और 'जैतचन्द्र' जयचन्द्र नहीं है। दूसरी बात के बारे में 'पुरातन-प्रबन्ध-सग्रह' के आधार पर कहा जा सकता है कि जैतचन्द्र ही जयचन्द्र हैं; जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, मैं भी मानता हूँ कि यह पद मराठी-भाषी कवि की रचना है। परन्तु उस कवि ने भोजपुरी का कुछ मिश्रण किया है। ऐसी मेरी धारणा है।

काशीसर राणा किअउ पआणा
विज्जाहर भण मतिवरे ॥—'प्राकृतपैंगलम्', 244

यह विद्याधर जयचन्द्र के बहुत अधिक विश्वासपात्र थे और केवल कवि ही नहीं, कविता के बड़े सुन्दर मर्मज्ञ भी थे। 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' में इनकी उदारता और चतुरता की अनेक कहानियाँ मिलती हैं। कहते हैं, एक बार राजा जयचन्द्र को जब मालूम हुआ कि परमर्दी 'कोपकालाग्निरुद्र' 'अवन्ध्यकोपप्रसाद' और 'रायद्रहवोल' (?) आदि विरुद धारण कर रहा है, तो उसने कटक साजकर उसकी राजधानी (कल्याणकटक) को घेर लिया और साल-भर तक घेरा डाले पड़ा रहा। परमर्दी ने अपने मन्त्री उमापतिधर को बुलाकर कहा कि कुछ ऐसा करो जिससे जयचन्द्र अपनी सेना हटा ले। उमापतिधर ने 'जो आज्ञा' कहकर प्रस्थान किया। वह सायंकाल सीधे मन्त्री 'विद्याधर' के पास पहुँचा और एक सुभाषित लिखकर मन्त्री के पास भिजवा दिया :

उपकारसमर्थस्य तिष्ठन् कार्यातुरः पुरः ।
मूर्त्या यामार्तिमाचष्टे न तां कृपणया गिरा ॥

[कार्यार्थी उपकार करने में समर्थ व्यक्ति के सामने पहुँचकर जितना अपनी सूरत से कह जाता है, उतना वह कृपण वाणी से नहीं कह सकता।]

यह श्लोक-विद्याधर के मन में चुभ गया। उस समय राजा जयचन्द्र सो रहा था। पलंगसमेत उसे उसी समय उठवाकर मन्त्री ने किले से पाँच कोस दूर पहुँचवा दिया। सवेरे उठकर राजा देखता है कि वह किले से बाहर पड़ा हुआ है। सेना भी नहीं है। केवल विद्याधर मन्त्री सामने खड़ा है। विद्याधर से पूछा तो उसने 'सब ठीक-ठाक' कह दिया। राजा बहुत क्रुद्ध हुआ। विद्याधर ने कहा, "महाराज, क्रोध क्यों कर रहे हैं! मैं ब्राह्मण हूँ, मेरी कण-वृत्ति तो बनी हुई है। चलता हूँ।" राजा घबराया। बोला, "मैं तुम पर इसलिए नाराज नहीं हूँ कि तुमने इतना सब क्यों किया; बल्कि इसलिए नाराज हूँ कि तुमने मेरी लीला को बिगाड़ दिया। इस सुभाषित पर तुमने मेरा सारा राज्य क्यों नहीं दे दिया!" परमर्दी को जब यह बात मालूम हुई तो उसने उन विरुदों को त्याग दिया। राजा ने उसका सब-कुछ लौटा दिया और घर लौट आया। राजशेखरसूरि-कृत 'प्रबन्धकोश' में थोड़े परिवर्तन के साथ यही कहानी लक्ष्मणावतीपुरी के राजा लक्ष्मणसेन और उनके मन्त्री कुमारदेव के पराभव के रूप में कही गयी है। उक्त पुस्तक के अनुसार जयन्तचन्द्र (जयचन्द्र) ने कालिंजर गढ़ का नहीं, बल्कि लक्ष्मणावतीपुरी का घेरा डाला था। ये कहानियाँ विद्याधर के निर्भीक चरित्र, उदार हृदय और जयचन्द्र की विश्वासपात्रता की सूचक हैं। इतना उदार और प्रभावशाली मन्त्री देशीभाषा में कविता लिखता था, यही इस बात का सबूत है कि आखिरी दिनों में गाहड़वार-दरबार में और दरबारों की ही भाँति भाषा-कविता का सम्मान होने लगा था। परन्तु ठीक उसी समय दुर्भाग्य का आक्रमण हुआ और गाहड़वार-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

प. रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि जयचन्द्र के दरबार में भट्ट केदार थे, जिन्होंने 'जयचन्द्रप्रकाश' नाम का एक ग्रन्थ लिखा था, जो अब नहीं मिलता। शुक्लजी ने एक 'भट्ट भणन्त' की चर्चा की है[1] जिसमें केदार को शहाबुद्दीन गोरी का दरबारी कवि बताया गया है; पर वे इस 'भट्ट भणन्त' को विश्वासयोग्य नहीं मानते। परन्तु रासो के अठावनवें समय में सचमुच ही एक दुर्गा केदार भट्ट की विस्तृत चर्चा है जो शहाबुद्दीन के दरबार से आया था और कवि चन्द्र के साथ उसका केवल वाग्युद्ध ही नहीं हुआ था, बल्कि तन्त्र-मन्त्र के जोर की आजमाइश भी हुई थी। इस प्रकार यह बात केवल भट्ट भणन्त की नहीं है, किसी पुरानी अनुश्रुति की स्मारक है। इसी प्रकार रासो के उन्नीसवें समय में माधो भाट को शहाबुद्दीन का राजकवि बताया गया है। यह व्यक्ति शहाबुद्दीन का विश्वास-पात्र था और वह पृथ्वीराज के दरबार की गुप्त खबरें संग्रह कर रहा था। वह कई भाषाएँ बोल सकता था। हिन्दुओं से तो हिन्दुओं की भाषा बोलता था और मुसलमानों से मुसलमानों की। जो जैसे समझ सकता था उसे माधो भाट उसी प्रकार समझा देता था :

हिन्दू हिन्दुअ वचने रचने मेच्छाय मेच्छयं वचनं
ज जं जेम समुज्झै त तं समुझाय माधवं भट्टं ॥

धर्मायन (धमाइन) कायस्थ ने इस कवि को दरबार के भेद बता दिये थे। इन बातों से जान पड़ता है कि परम्परया यह बात विदित थी कि शहाबुद्दीन के दरबार में हिन्दू भाट सम्मान पाते थे। सम्भवतः पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जिसे मधुकर भट्ट कहते है, वे माधो ही हों। यह बात सम्भव जान पड़ती है; क्योंकि महमूद ने बहुत थोड़ा पहले ही गजनी के ब्राह्मण राजाओं से राज्य छीना था और वहाँ तब भी बहुत-से हिन्दू थे, और कुछ पुराने वन्दीजन भी उसके आश्रय में रह गये हों तो आश्चर्य करने की बात नहीं है। जो हो, इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि सुदूर गजनी मे भी कुछ भाषा-कवि वर्त्तमान थे; परन्तु उनकी कविता कैसी होती थी, भाषा कैसी थी, यह जानने का कोई उपाय नहीं है। एक बात और भी विचारणीय है :

शिवसिंहसरोज (पृ. 360) मे बताया गया है कि केदार कवि अलाउद्दीन

1. प्रथम विधाता तें प्रगट भए बन्दीजन
पुनि पृथुजज्ञ तें प्रकाम सरसान है।
माने सूत सौनकन बाँचक पुरान रहे,
जस को बखानें महासुख सरसान है।
चंद चौहान के केदार गोरी साह जू के
गंग अकब्बर के बखाने गुनगान है।
काव्य कैसे मांस अजनास धनमांटन को
लूटि धरं ताको खुरा खोज मिटि जान है।

गोरी के दरबार में रहता था। 'गोर' गजनी के उत्तर-पश्चिम में एक पहाड़ी इलाका है। यहाँ पहले हिन्दुओं की बस्ती भी थी और राज्य भी था। सुलतान महमूद के काल में ये लोग मुसलमान होने लगे। महमूद के बाद भी गजनी के अधिकार में ही गोर का इलाका था। सुलतान बहराम ने गोर के सर्दार कुतुबुद्दीन और उसके भाई सईफुद्दीन को क्रूरतापूर्वक मरवा डाला। इनका एक और भाई अलाउद्दीन गोरी था। उसने जब इस क्रूरतापूर्ण हत्या की बात सुनी तब बदला लेने का निश्चय किया। बहराम बहुत बड़ी गजसेना के साथ गोर पर चढ़ आया। अलाउद्दीन ने उसे हरा दिया और फिर गजनी पर क्रोधपूर्वक आक्रमण करके उसे जलाकर छारखार कर दिया। इस क्रूर अग्निकाण्ड के कारण उसे 'जहाँसोज' कहकर स्मरण किया गया है। 'जहाँसोज' अर्थात् 'जगद्दाहक'। इसी का भतीजा मुहम्मद गोरी था जो अपने भाई गयासुद्दीन की ओर से राज्य करता था। यह बहुत महत्त्वाकांक्षी था और इसने केवल गजनी जीतकर ही सन्तोष नहीं किया; बल्कि भारतवर्ष में धावे-पर-धावे बोल दिये। इसी का दूसरा नाम शहाबुद्दीन (धर्म का ज्वलन्त नक्षत्र) था। अलाउद्दीन के थोड़ा पहले हिन्दुओं का राज्य था और उसका वंश भी सम्भवत: एकाध पुश्त पहले ही मुसलमान हुआ था। तुर्कों की तरह वे पुश्तैनी मुसलमान नहीं थे। इसलिए यह सम्भव जान पड़ता है कि माधव और केदार भट्ट अलाउद्दीन के दरबार में रहे हों और शहाबुद्दीन ने भी उन्हें अपना विश्वासपात्र समझा हो। बाद में जयचन्द्र के पतन के बाद लोगों में यह धारणा बन गयी हो कि ये लोग जयचन्द्र के कवि होंगे; क्योंकि राजपुताने में इस प्रकार का विश्वास किया जाने लगा था कि जयचन्द्र मुहम्मद गोरी का मित्र था। रासो में तो जयचन्द्र की मुसलमानी सेना का भी उल्लेख है।

भट्ट केदार और भट्ट मधुकर गोरी-दरबार के कवि हों या जयचन्द्र के दरबार के, उनकी रचनाओं का कुछ पता नहीं चलता और इसीलिए उनके सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं है। इतना अवश्य है कि काशी-कन्नौज के दरबार में अन्तिम दिनों में भाषा-कविता का मान होने लगा था। 'प्राकृतपैंगल' में किसी या किन्हीं अज्ञात कवियों की रचनाएँ उदाहरणरूप में उद्धृत हैं जो स्पष्ट ही काशीश्वर (सम्भवतः जयचन्द्र) की महिमा बखानने के लिए लिखी गयी थीं। कविताओं में बड़ी ही प्रौढ भाषा का नमूना मिलता है। दो-एक उदाहरण दिये जा रहे हैं :

रे गोड थक्कन्ति ते हत्थि जूहाइं। पल्लट्टि जुज्झन्ति पाइक्क वूहाइ।
कासीसु राआ सरासार अग्गेण। की हत्थि की पत्ति की बीरवग्गेण॥

[अरे गौड़ (देश के राजा)! तेरे हाथियों यूथ थक गये हैं, पदातिक सेना के व्यूह पलटकर जूझ रहे हैं। जब काशी के राजा के बाणों की वर्षा होने लगती है तब कोई भी—क्या हाथी क्या पैदल सेना और वीरवर्ग—सामने नहीं डट सकता।]

राअह भग्गंता दिग लग्गंता, परिहर हअ गअ घर घरिणी।
लोरहि भर सरवर पअ अरु परिकरु लोट्टइ पिट्टइ तणु धरणी॥
पुणु उट्ठइ संभलि करुदं तंगुलि बाल तनअ कर जमल करे।
कासीसर राआ राहुल काआ, करु माआ पुणु थप्पि घरे॥

[शत्रु राजा अपने हाथी, घोड़े, घर और घरनी को छोड़कर दिगन्तरों में भाग गये। उनके पदातिक और परिकर लोग तथा परिवार की स्त्रियाँ छाती पीटकर रोने लगीं और धरती पर लोटने लगीं। उनके आँसुओं से तालाब भर गये। फिर वे सँभलकर उठीं, दाँतों तले अंगुली दबाकर बालक पुत्रों को गोद में लिये हुए हाथ जोड़कर उपस्थित हुईं। स्नेहल कायावाले काशीश्वर ने उन पर दया की और फिर से उन्हें अपने-अपने पदों पर प्रतिष्ठित किया।]

इसी प्रकार की और भी कई रचनाएँ मिलती हैं। राहुलजी का अनुमान है कि ये सब रचनाएँ विद्याधर की होंगी। ऐसा जान पड़ता है कि दो सौ वर्षों तक काशी में और कान्यकुब्ज में राज्य करने के कारण गाहडवार-नरेश काशी और कान्यकुब्ज की भाषा को अपनी भाषा समझने लगे थे और शुरू-शुरू के गाहड़वारों में अपने को स्थानीय जनता से विशेष और भिन्न समझने की जो प्रवृत्ति थी, वह कम होने लगी थी। गोविन्दचन्द्र के सभापण्डित दामोदरभट्ट ने राजकुमारों को काशी की भाषा में संस्कृत सिखाने का प्रयत्न किया था और उसका परिणाम यह हुआ कि राजकुमार अब अपने को इसी प्रदेश के लोगों में से समझने लगे थे और धीरे-धीरे देशी भाषा को भी इस दरबार में प्रोत्साहन मिलने लगा था। दुर्भाग्यवश जयचन्द्र के साथ ही इस प्रोत्साहन और प्रवृत्ति दोनों का अन्त हो गया।

परन्तु इतना सत्य है कि ये गाहड़वार कहीं बाहर से आये थे। कहाँ से आये थे, यह विवादास्पद है। जोधपुर के राठौड़ अपने को जयचन्द्र का वंशज मानते हैं और बदायूँ में भी महमूद के आक्रमण के समय कोई राठौड़वंशीय राजा चन्द राज्य करता था। यह नहीं बताया गया कि वह बदायूँ में कहाँ से आया था; परन्तु अनुमान कर लिया जा सकता है कि गजनी के अमीरों के दबाव से जो राजपूत पंजाब या गान्धार छोड़कर पूरब की ओर आये, उन्हीं में यह राजवंश भी था। चन्द्र की छठी पुश्त में मदनपाल हुआ था जिसकी प्रशंसा में कहा गया है कि उसी की शक्ति के कारण हम्मीर गंगा की ओर नहीं आ सका। हम्मीर अर्थात् अमीर, जो हो, यह अनुमान किया गया है कि इसी वंश के प्रथम राजा चन्द्र ने और भी आगे बढ़कर कान्यकुब्ज पर अधिकार कर लिया था। यह सम्भव जान पड़ता है। यह अनुमान यदि ठीक हो तो गाहड़वार दक्षिण से नहीं, पश्चिम से आये थे। काशी-कान्यकुब्ज में उस समय तक भी दक्षिण के राष्ट्रकूटों की स्मृति बनी थी। वे जैन थे। सम्भवतः उनसे अपने को भिन्न घोषित करने के लिए ही इन राजाओं ने अपनी प्रशस्तियों में 'राष्ट्रकूट' शब्द का व्यवहार नहीं किया; पर उनके घर में यह परम्परा बराबर बनी रही कि वे 'राठौड़' हैं। मुझे लगता है कि काशी के

आस-पास के 'गहरवार' इन्हीं गाहडवारों के उत्तराधिकारी है। गोत्र और कुल का विवाद खड़ा करके इनको जोधपुर के राठौड़ो से या काशी के गाहडवार राजाओं से भिन्न बतानेवाले इस देश मे राजपूत गोत्रों की परम्परा से एकदम अपरिचित है।

परन्तु यह थोड़ी अवान्तर बात आ गयी। प्रकृत प्रसग यह है कि गाहड़वार राजा शुरू-शुरू मे अपने को इस प्रदेश की जनता से भिन्न और विशिष्ट बने रहने की प्रवृत्ति रखने के कारण देशी भाषा और उसके साहित्य को आश्रय नही दे सके, और यही कारण है कि जहाँ तक उनका राज्य था वहाँ तक का कोई देशी भाषा का साहित्य सुरक्षित नही रह सका। अन्तिम पीढ़ियों मे ये लोग देशी भाषा के साहित्य को प्रोत्साहन देने लगे थे; किन्तु तब तक दुर्भाग्य का प्रहार हुआ और सम्पूर्ण उत्तरी भारत विदेशी शासन से आक्रान्त हो गया। इन नये शासको को देशी जनता के साथ एक होने में और भी अधिक समय लगा।

उधर अजमेर के चौहान उस प्रदेश के पुराने वाशिन्दे थे। सन् ईसवी की आठवी शताब्दी के मध्यभाग में ही सपादलक्ष (सवा लाख लगान का देश) या शाकम्भरी क्षेत्र (साँभर) में सामन्तसिंह ने चौहानवश का राज्य स्थापित किया था। उसने उसी समय सिन्ध की ओर से बढ़ते हुए अरबों से कसके लोहा लिया था और इस प्रकार चौहानो की वह वीर-परम्परा स्थापित की थी, जो तृतीय पृथ्वीराज के समय तक मुस्लिम-वाहिनी से निरन्तर टक्कर लेने मे प्रख्यात हो चुकी है। महमूद ने साँभर को नही छेड़ा था इसलिए यह राज्य बचा रह गया था। प्रथम पृथ्वीराज के पुत्र अजयपाल ने साँभर से अपनी राजधानी अजमेर मे हटा ली थी। अजमेर का नाम अजयसिंह के नाम पर ही है। इस वश मे अर्णोराज और चतुर्थ बीसलदेव (विग्रहराज) बहुत ही प्रतापी और कविकल्पवृक्ष राजा हुए। बीसलदेव स्वयं अच्छे कवि थे। उनका लिखा एक प्रस्तरखण्ड पर क्षोदित 'हर-केलि नाटक' आंशिक रूप में प्राप्त हुआ है।[1] इसका आधार 'किरातार्जुनीयम्' काव्य है, इसमें राजा स्वयं अर्जुन का स्थानापन्न है। महादेवजी उसे दर्शन भी देते है। उनके राजकवि सोमदेव ने 'ललितविग्रहराज' नाम का एक नाटक लिखा था। यह भी एक प्रस्तरखण्ड पर आंशिक रूप मे क्षोदित मिला है। इसमें इन्द्रपुर के राजा वसन्तपाल की पुत्री देसलदेवी के साथ बीसलदेव के प्रेम का वर्णन है। राजा और राजपुत्री कल्पित जान पड़ते है और उन दिनों के ऐतिहासिक समझे जानेवाले काव्यों की प्रकृति का सुन्दर परिचय देते है। इसी बीसलदेव के काल्पनिक प्रेम-कथानक को परवर्त्ती काव्य 'बीसलदेवरासो' मे वर्णन किया गया है। यहाँ प्रेमपात्री मालवा के परमार राजा भोज की कल्पित पुत्री राजमती है। इस काव्य मे बीसलदेव रूठकर उडीसा की ओर जाता है; परन्तु 'ललितविग्रहराज' मे वह प्रिया के पास यह सन्देश भिजवाता है कि पहले हम्मीर (=अमीर) का मानमर्दन

1. इं. ए. जिल्द 20; 1891; पृ 201-22 में रोमन अक्षरों मे पाठ छपा है।

कर लूं, तब उसके पास आऊँगा। दोनों ही कवियों ने ऐतिहासिक तथ्यों की परवा न करके उन दिनों की प्रचलित प्रथा के अनुसार सम्भावनाओं पर जोर दिया है। वीसलदेव कवियों का आश्रय-दाता था और उसके दरबार में भाषा-काव्य की थोड़ी प्रतिष्ठा भी थी। नरपतिनाल्ह के बारे में तो, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह सन्देह ही है कि वह कब का कवि है; पर अनुश्रुतियां सिद्ध करती हैं कि वीसलदेव के भाषा-कवियों का मान था। वह स्वयं बड़ा प्रतापी राजा था। काशी-कान्यकुब्ज के राजाओं की भाँति यह वंश बाहर से नही आया था और साधारण जनता की भाषा की उपेक्षा नही करता था। दिल्ली के लोहस्तम्भ पर उसने गर्वपूर्वक घोषणा की थी कि 'मैंने विन्ध्याचल से हिमालय तक की सभी भूमि को म्लेच्छ-विहीन करके यथार्थ आर्यावर्त बना दिया है।' अपने वंशजों को पुकारकर वह कहता है कि 'मैंने तो हिमालय और बिन्ध्याचल के मध्यवर्ती देश को करद बना लिया है, परन्तु बाकी पृथ्वी को जीतने में तुम लोगों का मन उद्योग-शून्य न हो, इस बात का ध्यान रहे।'[1] वीसलदेव नाम ही अपभ्रंश नाम है। 'प्रबन्धचिन्तामणि' में एक मजेदार कहानी है, जिसमें बताया गया है कि बीसलदेव ने अपना नाम बदलकर विग्रहराज क्यों रखा। बीसलदेव का एक सान्धिविग्रहिक 'कुमारपाल' की सभा मे आया। उसने 'बीसल' को सस्कृत 'विश्वल' [विश्व को (जीत) लेने वाला] से व्युत्पन्न बताया। कुमारपाल के मन्त्री कपर्दी ने 'विश्वल' (वि=पक्षी, श्वल=भागनेवाला) का अर्थ किया—चिड़ियों की तरह भागनेवाला। यह सुनकर बीसलदेव ने अपना नाम बदलकर विग्रहराज रखा। पर कपर्दी ने इसका भी बेढंगा अर्थ सिद्ध कर दिया। उसने बताया कि इस शब्द का अर्थ हुआ शिव और ब्रह्मा की नाक काटनेवाला (वि+ग्र+हर+अज)! तब बीसलदेव ने अपना नाम 'कविबान्धव' रखा। यह कहानी तो परवर्ती काल का विनोद है; किन्तु इससे एक बात सिद्ध होती है कि बीसलदेव अपने को 'कविबान्धव' कहता था और उसका यह कहना ठीक था। 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' मे उसकी रानी नागल देवी को सगीतकला मे अत्यन्त निपुण बताया गया है। राजा बीसलदेव स्वय संगीत से एकदम अनभिज्ञ था। रानी ने उसे संगीत विद्या सिखायी थी। जैन-प्रबन्धों से वीसलदेव के समय की कुछ देशी भाषा की रचनाओं का भी परिचय मिल जाता था।

1. आविन्ध्यादाहिमाद्रेर्विरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसङ्गा
दुद्ग्रीवेषु प्रहर्त्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसन्न.।
आर्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान् म्लेच्छविच्छेदनाभि—
र्देवः शाकम्भरीन्द्रो जगति विजयते वीसलः क्षोणिपालः॥
ब्रूते सम्प्रति चाहुमानतिलको शाकम्भरी-भूपतिः
श्रीमद्विग्रहराज एष विजयी सन्तानजानात्मजान्।
अस्माभिः करदं व्यधायि हिमवद्विन्ध्यान्तरालं भुवः
शेष-स्वीकरणाय मास्तु भवतामुद्योगशून्यं मनः॥
—इं. ए., जि॰ 19, पृ. 218

बीसलदेव के राज्य में जगडू साहू (वसाह जगड्डक) बड़े प्रसिद्ध दानी थे। इन्होंने अकाल के समय जनता की बड़ी सेवा की थी और तत्कालीन कवियों ने इनके दान की बड़ी प्रशंसा की है :

निर्यातिदानदाता हरिकान्ताहृदयहारशृंगारः।
दुर्भिक्षसन्निपाते भिजगडु जगडू चिर जीयात् ॥—पु. प्र. टि. 80

[निर्याति अर्थात् संरक्षित निधि को भी दे देनेवाले, लक्ष्मी के हृदय का हार-रूपी शृंगार, दुर्भिक्षरूप सन्निपात-रोग के लिए भिजगडु, (औषधि) जगडू साह चिरजीवी हों।]

देशी भाषा में इनकी दानशाला की प्रशंसा में कुछ पद्य प्रचलित हैं। एक दोहा मिलता है, जिसमें बताया गया है कि कलियुग में जगडू साह की दानशाला के समान कितनी दानशालाएँ हैं। इस दोहे की प्रथम पंक्ति कुछ अस्पष्ट है :

नव करवाली मणिअडा तिहिं अग्गला विचारि।
दानसाल जगडू तणी कित्ती कलिहि मझारि ॥—पु. प्र. टि. 80

इसका पाठ 'उपदेशतरंगिणी' (पृ. 41) में इस प्रकार है :

नउ करवाली मणियडा ते अग्गीला च्यारि।
दानसाल जगडूतणी दीसइ पुहवि मंझारि ॥

जगडू बड़े सीधे-सादे थे। उस समय के सभी राजाओं को उन्होंने अकाल में सहायता देने के लिए अशर्फियों से सहायता की थी। बीसलदेव को 8 हजार स्वर्णमुद्राएँ, लाहौर के तुर्क अमीरों को 16 हजार और सुलतान को 21 हजार स्वर्ण-मुद्राएँ दी थी!

अट्ठय मूड सहस्सा वीसल देवस्स सोल हम्मीरा।
एकवीसा सुलताणा पयदिन्ना जगडु दुक्काले ॥

['मूड' का अर्थ मैंने मुद्रा कर लिया है। पाठकों की जानकारी के लिए यह बता देना आवश्यक है कि जिस प्रसंग में इन श्लोकों को किसी ने 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह, के हाशिए पर लिखा है, वहाँ 18,000 'मूढक' चना बीसलदेव को देना कहा गया है जो माप-विशेष का वाचक है। यदि यहाँ 'मूड' शब्द 'मूढक' के अर्थ में प्रयुक्त समझा जाय तो अर्थ माप का ही होगा। परन्तु यह श्लोक उक्त प्रसंग का अंग नहीं है और अन्य ग्रंथों में भी मिल जाता है। इसलिए मैंने 'मुद्रा' अर्थ ही ठीक समझा है।]

इस प्रकार के उदार दानी धनकुबेर के बारे में प्रसिद्ध है कि वे इतने सीधे-सादे वेश में रहते थे कि एक बार राजा बीसलदेव उन्हें पहचान ही नहीं सके, और जब परिचय कराया गया तब आश्चर्य के साथ पूछ बैठे कि 'ऐसा वेश क्यों बनाया है?' जगडू ने नम्रता के साथ उत्तर दिया, "महाराज, कपड़े और गहनों से शोभा नहीं बढ़ती; मनुष्य गुण से शोभा पाता है। गहना पहनकर छोटी अंगुलियाँ सुशोभित होती हैं, मध्यमा तो अपनी बड़ाई से ही बड़ी लगती है।"

तन्वन्ति डबरभरैर्महिमा न मन्ये श्लाघ्यो जनस्तु गुणगौरवसंपदैव।
शोभा विभूषणगुणैरितरांगुलीना ज्येष्ठत्वमेव रुचिरं खलु मध्यमान्याः॥

ऐसे उदार और सरल दानवीर की महिमा बखानने के लिए कवियों की भाषा यदि मुखर हो उठी तो इसमें आश्चर्य करने की बात नहीं है। वीसलदेव का विरुद जगडू के दान पर अवलम्बित था :

वीसल दे विरुअं करइ जगडु कहावइ जी।
तुउ परीलइ फालिसउ एउ परीसइ घी॥

[किसी कवि या याचक की उक्ति है कि बीसलदेव तो केवल विरुद धारण करता है या यश कमाता है और जगडू से 'जी' कहवाता है। किन्तु हे बीसलदेव, तुम तो रूखी (फालिम=परुष) परसते हो और वह घी परसता है!]

इस प्रकार के अजमेर में आगे चलकर चन्दवरदाई-जैसे महाकवि का होना उचित ही है। समुद्र मे ही कौस्तुभमणि के उत्पन्न होने की सम्भावना सोची जा सकती है।

इसी प्रकार कालिंजर के चन्देल्लों का वंश बहुत काल से बुन्देलखण्ड मे राज्य कर रहा था। इन चन्देल्लों ने अपनी प्रशस्तियों में अपने को चन्द्रात्रेय गोत्र का कहा है। पण्डितो मे इस गोत्र को लेकर भी थोड़ी चखचख है। कुछ लोग कहते है कि चन्द्रात्रेय शब्द 'चन्देल्ल' शब्द के आधार पर बना ली गयी परवर्ती कल्पना है। मुझे ऐसा लगता है कि यह शब्द वस्तुतः पुरोहित के गोत्रनाम का अपभ्रंश रूप है। अनुमान किया जा सकता है कि इन क्षत्रियों के पुरोहित वही शाण्डिल्यगोत्री ब्राह्मण थे, जिन्हें कभी कर्ण के साथ सरयूपार आना पड़ा था और इस शाण्डिल्य का ही अपभ्रंश रूप 'चन्देल्ल' है। बाद में इसका मूल अर्थ भुला दिया गया और चन्देल्ल का संस्कृत रूप उसी प्रकार 'चन्द्रात्रेय' बना लिया गया, जिस प्रकार 'त्रिपुर' या 'तेवार' के रहनेवाले तिवारी ब्राह्मणों ने तिवारी शब्द को त्रिपाठी के रूप में संस्कृत बनाया। इन राजाओं के दरबार में भी भाषाकवि का मान था। इनका सबसे अन्तिम प्रतापी राजा परमर्दी या परमाल था जिसने 1165 ई. से 1203 ई. तक राज्य किया। इसी के दरबार में बणाफर कुल के प्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल थे। पृथ्वीराज से परमर्दी का युद्ध हुआ था जिसका वर्णन जगनिक के महोबाखण्ड में हुआ है। इसमें परमर्दी हार गया और आल्हा-ऊदल काम आये। पृथ्वीराज ने महोबे मे अपने प्रसिद्ध सरदार पज्जून को रखा। पृथ्वीराज का एक लेख मदनपुर मे प्राप्त हुआ है जिसमे इस घटना की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। लेकिन इस युद्ध में हारने के बाद भी परमर्दी जीवित था और शक्तिशाली भी बना रहा। सन् 1203 ई. मे वह कुतुबुद्दीन से लड़ा था। पृथ्वीराज से उसकी लड़ाई 1182 ई. में हुई थी। उस समय इस महाप्रतापी राजा का बल टूट गया होगा और वह आसानी से आगे चलकर मुसलमानों के हाथ पराजित हो सका होगा। इन बीस वर्षों के भीतर ही कभी जगनिक का यह ओज-पूर्ण काव्य लिखा गया होगा, जो बहुत दिनों तक आल्हा और ऊदल की स्मृति में

लोककण्ठ में जीता रहा और बहुत दिनों तक अपने क्षेत्र मे ही सीमित बना रहा। फिर कई सौ वर्ष बाद अत्यन्त परिवर्तित रूप में लिखवाया गया। यह स्वाभाविक भी था; क्योंकि जब काव्य के आश्रयदाता राजा उच्छिन्न हो गये तब उसका एकमात्र सहारा जनचित्त ही रह गया। किसी धर्मसम्प्रदाय का तो उसे सहारा मिलना नही था, इसलिए वह काव्य बहुत परिवर्तित रूप मे प्राप्त हुआ है; परन्तु चन्देल्ल-दरबार में भाषा-काव्य के सम्मानित होने का सबूत अवश्य देता है।

दूसरी ओर गुजरात और मालवा के राजवश थे। गुजरात के राजा कुमारपाल तो बाद मे जैनाचार्य हेमचन्द्र के प्रभाव से जैन हो गये थे। यद्यपि कुछ लोग उनके जैनधर्म ग्रहण के बारे मे सन्देह ही करते है; परन्तु इसमे कोई सन्देह नही करता कि वे जैन-प्रभाव मे आये थे और जैनधर्म को उन्होने बहुत प्रोत्साहन भी दिया। मालवा के परमार वैदिक धर्मानुयायी थे; परन्तु उन्होंने देशी भाषा की उपेक्षा नही की। गुजरात के राजाओ का आश्रय पाने के कारण वहाँ अपभ्रंश और देशी भाषा खूब फली-फूली। मान्यखेट के राष्ट्रकूटों ने भी अपभ्रंश का मान किया। उत्तरभारत कि स्वयभू और पुष्पदन्त जैसे प्रतिभाशाली कवियो की कृतियाँ वही सुरक्षित हुई। उधर पूर्व मे, पच्छिमी बगाल मे, गौडो का दुर्दान्त राज्य था। ये लोग बौद्ध थे और इन्होने तत्कालीन सहजयानी बौद्धधर्म को प्रोत्साहन और संरक्षण दिया। इन पालबशी गौड़ राजाओं की कृपा से ही बौद्ध सिद्धो के कुछ देशी भाषा के गान लिखित हुए, जो बाद मे नेपाल-दरबार का राज्याश्रय पाकर किसी प्रकार सुरक्षित रह गये है। पर इन बौद्ध राजाओं की देशी भाषा और बौद्धधर्म को प्रश्रय देने की प्रतिक्रिया भी हुई और पूर्वी बंगाल मे कर्णाट देश से आये हुए सेन राजाओं का अभ्युदय हुआ, जिन्होने सस्कृत भाषा और ब्राह्मणधर्म को बंगाल मे फिर से सहारा दिया। सेन राजा गाहडवारों की भाँति पक्के वैदिक मतानुयायी थे और स्थानीय लोगों से अपने को भिन्न और श्रेष्ठ समझते थे। कुलीनता के अभिमान को इन राजाओं ने बगाल मे बद्धमूल कर दिया। यही कारण है कि इस काल में पूर्वी बगाल में देशी भाषा का साहित्य नही मिलता। पाल राजाओं की कृपा से सुरक्षित साहित्य वर्तमान बिहार के पूर्वी और पश्चिम बगाल के पच्छिमी इलाकों में लिखित साहित्य है। निस्सन्देह उनमे मध्यदेश की भाषा और साहित्य के भी कुछ चिह्न है; क्योंकि पाल राजाओं का सम्बन्ध बराबर काशी और कान्यकुब्ज से बना रहा। यह सम्बन्ध तीन प्रकार से रक्षित रहा — युद्ध से, विवाह से, तीर्थ यात्रा से। इस प्रकार इस साहित्य के आधार पर हम मध्यदेश की साहित्य-साधना का आभास पा सकते है। सुप्रसिद्ध महाराज गोविन्दचन्द्र की रानी कुमार देवी गौड के राजा रामपाल के मामा महत की दौहित्री थी और उन्ही के सामन्त देवरक्षित की पत्नी। उन्होंने सारनाथ में बौद्ध विहार बनवाया था। उनका एक दानपत्र प्राप्त हुआ है। इस सम्बन्ध से यह सूचित होता है कि युद्ध-विग्रह होते रहते थे और विवाह-सम्बन्ध भी चलते ही रहते थे। तीर्थयात्रा तो थी ही। अस्तु।

गाहड़वारों के शासनकाल में समूचा हिन्दी-भाषी क्षेत्र स्मार्तमतानुयायी था। उनका प्रभाव जब क्षीण हो गया और अजमेर, कालिंजर आदि अधीनस्थ प्रान्तों में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए तब भी स्मार्तमत ही प्रबल रहा। उस समय शैवमत का भी बड़ा प्रभाव था। सिद्धियों की महिमा प्रतिष्ठित हो गई थी। शैवमतानुयायी नाथयोगियों, रसेश्वरमत के माननेवाले रस-सिद्धों और मन्त्र-तन्त्र में विश्वास करनेवाले शाक्त-साधकों का इन क्षेत्रों में बड़ा जोर था। उन दिनों के साहित्य में इनकी बड़ी चर्चा आती है, परन्तु जैनों की भाँति इन शैव-साधकों के संगठित मत नहीं थे और देशी भाषा पर विशेष अनुराग भी नहीं था। फिर इनके उपदेश में साधारण जनता के सम्बन्ध में बड़ी अवज्ञा का भाव है। वे इन अधम जीवों को भय ही दिखाते थे। चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भरमते रहने वाले, काम-क्रोध के कीड़े, मायापंक में आपाद-मस्तक डूबे हुए, अज्ञानी जीव केवल घृणा करने और तरस खाने के पात्र माने जाते थे। गृहस्थ इन योगियों से डरता था। इब्नबतूता ने ग्वालियर-कालिंजर में इन योगियों को देखा था। उन दिनों लोग इनसे भयभीत थे; क्योंकि उनका विश्वास था कि ये आदमियों को खा जाते हैं! इस प्रकार जनता के प्रति अवज्ञा और घृणा का भाव रखनेवाले लोग लोकभाषा में कुछ लिखते भी हों तो वह लोक मनोहर हो नहीं सकता। कुछ थोड़ी-सी रचनाएँ इन योगियों की मिल जाती हैं; पर एक तो उन्हें जैन पुस्तकों के समान संगठित भाण्डारों का आश्रय नहीं मिला, दूसरे वे 'आल्हा' आदि की भाँति लोकमनोहर भी नहीं हो सकीं। इनकी रक्षा का भार सम्प्रदाय के कुछ अशिक्षित साधुओं के हाथों रहा। उन्होंने इन रचनाओं को प्रमाणित रूप में सुरक्षित रखने का प्रयत्न नहीं किया। जो कुछ भी साहित्य बचा है, वह केवल इस बात की सूचना दे सकता है कि वह किस श्रेणी का रहा होगा और उसकी प्राणवस्तु कैसी थी। परवर्ती साहित्य में इन योगियों का उल्लेख दो प्रकार से आया है—(1) सूफी कवियों की कथा में नाना प्रकार की सिद्धियों के आकार के रूप में और (2) सगुण या निर्गुण भक्त कवियों की पुस्तकों में खण्डनों और प्रत्याख्यानों के विषय के रूप में। दोनों ही बातें इनके प्रभाव की सूचना देती हैं। कभी-कभी दादू-पन्थी या निरंजनी जैसी सम्प्रदायों के सन्त-वचन-संग्रहों में इन नाथसिद्धों की कुछ रचनाएँ संगृहीत मिल जाती हैं। हाल ही में मैंने इस प्रकार की बानियों का एक संग्रह सम्पादित किया है जो नागरी प्रचारिणी सभा की बिड़ला-ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहा है।

ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में कलचुरिवंश के राजा लोग भी परम शैव थे। युवराजदेव के राज्य में पाशुपतों के कालमुख सम्प्रदाय का बड़ा मान था। युवराजदेव ने रीवा के पास स्थित गोरगी (गोलगिरि, गोलकी) नामक स्थान पर एक विशाल शैवमठ की स्थापना करायी थी जिसकी शाखा सुदूर दक्षिण तक फैली हुई थी। मद्रास प्रान्त के मलकापुरम् ग्राम के एक शिलालेख से पता चलता है कि गंगा और नर्मदा के अन्तराल में डाहल देश (वर्तमान बुन्देलखण्ड) है। उसमें सद्भावशम्भु नाम के शैव साधु थे, जिन्हें कलचुरि राजा युवराजदेव ने तीन लाख

गाँवों का एक प्रदेश भिक्षा में दिया था। उसी में गोलकी या गोलगिरि मठ की स्थापना हुई थी। इस मठ के माध्यम से दक्षिण और उत्तर के शैवमतों में सम्बन्ध स्थापित हुआ था। कहते हैं त्रिपुरी के पास जो चौंसठ योगिनियों का मन्दिर है, वह भी किसी समय इसी मठ की शाखा रहा होगा। (दे. 'ना. प्र. पत्रिका', भाग 6, अंक 4 में रायबहादुर हीरालाल का लेख)। कलचुरियों का सबसे प्रतापी राजा कर्ण परम शैव था। उसने काशी में बारहमंजिला शिवमन्दिर बनवाया था जिसका नाम कर्णमेरु रखा था। उसने काशी को अपनी राजधानी भी बनाना चाहा था; परन्तु किसी कारणवश उसकी मनःकामना पूर्ण नहीं हुई और वह काशी छोड़ने को बाध्य हुआ। उसके साथ आये हुए ब्राह्मण अब भी काशी और सरयूपार में प्रतिष्ठित हैं। गाहड़वार राजाओं की सत्ता स्थापित होने के बाद इस मत को कोई क्षति नहीं पहुँची, सहायता ही मिली। सिद्धियों के प्रति लोगों का विश्वास दृढ़ ही हुआ। उत्तर और दक्षिण से शैव-साधना की लहरें आती रहीं और एक-दूसरे को बल देती रहीं।

कर्ण के दरबार में (ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध) अपभ्रंश-कवियों का सम्मान था। जैन-भण्डारों में सुरक्षित पुस्तकों में भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश के निकट की है; किन्तु 'प्राकृत-पैंगलम्' की कई कविताएँ उदाहरणरूप में उद्धृत हैं, जिनमें कर्ण की प्रशंसा है। ये कविताएँ अग्रसरीभूत अपभ्रंश या अवहट्ट की हैं और हिन्दी के चारण कवियों की भाषा का पूर्वरूप हैं। किसी-किसी कविता में कर्ण के दरबारी कवि बब्बर का नाम भी आ गया है। यह कहना कठिन है कि राजस्तुतिपरक सभी कविताएँ बब्बर की ही हैं या नहीं; पर जिनमें बब्बर का नाम आया है, वे निश्चित रूप से बब्बर की कही जा सकती हैं। इन कविताओं में भाषा बहुत सुथरी है और कलचुरि कर्ण को गुर्जर, महाराष्ट्र, ओड़, मालवा आदि के जीतने का उल्लेख है :

हणु उज्जर गुज्जर राअ कुलं।
दल दलिअ चलिअ मरहट्ट बलं।
बल मोडिअ मालव राअ कुला।
कुल उज्जल कलचुलि कण्ण फुला।

[उज्ज्वल गुर्जर-राजकुल को नष्ट कर दिया, मरहट्टों की सेना के दलों को भगाकर कुचल दिया और मालवराज-कुल को मोड़ दिया। इस प्रकार राजा कर्ण उज्ज्वल कलचुरि कुल का कर्णफूल बन गया!]

इसी प्रकार,

जुज्झ भट भूमि पड़, उट्ठि पुण लग्गिआ।
सग्ग मण खग्ग हण कोइ णहिं भग्गिआ॥
बीस सर तिक्ख कर कण्ण गुण अप्पिया।
पत्थ तइ जोलि दह चाउ सइ कप्पिया॥

[भट जूझते हैं, भूमि पर गिरते हैं और फिर उठकर भिड़ जाते हैं। स्वर्ग की

ओर मन लगा है। पद्म की मार से कोई भाग नहीं रहा है। इसी समय कर्ण ने अपने धनुष पर बीस बाण चढ़ाये और पार्थ की भांति चाव के साथ दस धनुष और उन पर चढ़े बाणों को काट दिया !]

बब्बर की वैराग्य बताकर कीर्ति का महत्त्व बतानेवाली यह रचना परवर्ती हिन्दीसाहित्य की कविताओं से भाषा और भाव दोनों में पूर्ण रूप से साम्य रखती है :

ए अत्थीरा देक्खु सरीरा घर जाया
वित्ता पित्ता सो अर मित्ता सबु माया।
काहे लागो बब्बर बेलावसि मुज्झे
एक्का कित्ती किज्जा हि जुत्ती जइ सुज्झे ॥

[यह अस्थी रहै देख शरीर। घर, जाया, वित्त, पिता, सहोदर, मित्र सब माया हैं ! काहे वास्ते, बब्बर,' तू बहराता है (भरमाता है) मुझे; एक ही उपाय है,—कीर्ति-अर्जन ! यदि सूझे तो कर।)

बारहवीं शताब्दी में लगभग समूचे भारत में शैवमत का प्राबल्य था। उत्तर में उसका एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण रूप नाथमत था जो दक्षिण के शैवमत से बहुत सम्बद्ध नहीं जान पड़ता। जैनधर्म से प्रभवित होने के कारण, आंशिक रूप से बौद्ध-साधना को आत्मसात् करने के कारण, स्मार्तधर्म का आश्रय पाने के कारण और मुस्लिम आक्रमण के रूप में विजातीय संस्कृति की उपस्थिति के कारण वह निर्गुणपन्थी, सहनशील और उदासीन बना रहा। उसका आक्रामक रूप केवल जातिव्यवस्था के प्रति, मायाजाल में फँसे हुए दयनीय जीवों के प्रति और हिंसामूलक और दुर्नीतिमूलक आचरणों के प्रति जीता रहा। नहीं तो गोरक्षनाथ जैसे अक्खड़ साधक भी अपने शिष्यों को यही उपदेश दे गये हैं :

कोई वादी कोई विवादी जोगी कौं वाद न करनां।
अडसठि तीरथ समंद समानैं यू जोगी को गुरूमुषि जरनां ॥

और,

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा, धीरैं धरिबा पावं।
गरब न करिबा, सहजैं रहिबा, भणंत गोरष रावं ॥

अहिंसा में इन लोगों का उतना ही दृढ़ विश्वास था जितना जैनों या वैष्णवों का। गोरक्षनाथ ने मांसभक्षण और नशा-सेवन दोनों का घोर विरोध किया था :

जोगी होइ पर निंदा झखै। मद मांस अरु भांगि जो भखै।
इकोतर सै पुरिषा नरकहिं जाई। सति सति भाषंत श्री गोरख राई॥

और,

अवधू मांस भषन्त दयाधरम का नास
मद पीवत वहां प्रांण नीरास
भांगि भषत ग्यान ध्यान षोवंत
जम दरबारी ते प्राणी रोवत

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य और इन्द्रियसंयम पर भी इन्होंने बहुत जोर दिया है :

> यंद्री का लड़बड़ा जिभ्या का फूहड़ा
>
> गोरष कहे ए परतषि चूहड़ा।

पूर्वी भारत में बौद्धधर्म के तन्त्र-मन्त्रवाले अन्तिम वज्रयानी रूप का प्राबल्य था। सेन राजाओं के समय उड़ीसा होते हुए दक्षिणी वैष्णवधर्म का प्रवेश बंगाल में हुआ। उत्तर में वैष्णवधर्म उतना ऐकान्तिक नहीं था जितना दक्षिण में। ऐकान्तिक भक्ति के साथ वज्रयानी भावनाओं के मिश्रण से वैष्णवधर्म ने उड़ीसा में एक नया रूप ग्रहण किया। शुरू-शुरू में सेन राजा शैव थे। विजयसेन स्वयं अपने को परम शैव मानते थे; परन्तु उन्होंने प्रद्युम्नेश्वर का मन्दिर बनवाया था जिसकी मूर्ति में शिव और विष्णु का मिश्रण था। उस मन्दिर के एक लेख में इस मिश्रमूर्ति का बड़ा सुन्दर कवित्वमय वर्णन दिया गया है।[1] विद्यापति के पदों में शिव और विष्णु के इसी मिश्ररूप का वर्णन इस प्रकार है :

> धन हरि धन हर धन तव कला।
>
> खन पीत बसन खनहिं बघछला।। इत्यादि।

जो लोग विद्यापति के बारे में कहा करते हैं कि वे शैव थे, अतएव वैष्णव भक्त नहीं हो सकते; वे उस काल की इस मनःस्थिति को नहीं जानते। समूचा उत्तरभारत प्रधान रूप से स्मार्त था, शिव के प्रति उसकी अखण्ड भक्ति बनी हुई थी; परन्तु उसमें अपूर्व सहनशीलता का विकास हुआ था और विष्णु को भी वह उतना ही महत्त्वपूर्ण देवता मानता था। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय। गाहड़वार-नरेश अपने को माहेश्वर भी कहते थे और अपनी प्रशस्तियों में लक्ष्मीनारायण की स्तुति भी किया करते थे। इसी सहनशील, उदार और अनाक्रामक धार्मिक मनोभाव की पृष्ठभूमि में हिन्दी का आदिकालीन साहित्य लिखा गया। भक्ति के बीज के अंकुरित और पल्लवित होने की यह उपयुक्त भूमि थी।

बहुत-सी परवर्ती स्मृतियाँ और उपपुराणजातीय पुस्तकें, बहुत-सी वैष्णव और शैव संहिताएँ इसी काल में लिखी गयी जिनमें भावी भक्ति-साहित्य के प्रेरणा-बीज वर्तमान थे।

इस काल में जो दो श्रेणी की अपभ्रंश और देश्यमिश्रित रचनाएँ मिलती हैं,

1. लक्ष्मीवल्लभशैलजादयितयोरद्वैतलीलागृह
प्रद्युम्नेश्वरशब्दलाञ्छनमधिष्ठानं नमस्कुर्महे।
यत्रालिङ्गनभङ्गकातरतया स्थित्वान्तरे कान्तयो:
देवीभ्यां कथमप्यभिन्नतनुता शिल्पेऽन्तरायः कृतः॥
चिलक्षौमेमचर्मौ हृदयविनिहितस्थूलहारोरगेन्द्रः
श्रीखण्डक्षोदभस्मा करनिहितमहानीलरत्नक्षमालः।
वेषस्तेनास्य तेने गरुडमणिलतागोनसः कान्तमुक्ता
नेपथ्यन्यस्तमाला समुचितरचने कल्पकापालिकस्य॥

ये इस युग की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक अवस्था के अनुरूप ही हैं। इस काल में केन्द्रीय शासन टूट चुका था। पश्चिम की ओर से विजातीय संस्कृति के पोषक दुर्दान्त शत्रुओं का निरन्तर आक्रमण हो रहा था। भारतवर्ष के वीर राजपूत उनसे जमकर लोहा भी लेते थे और केन्द्रीय सत्ता को हथियाने की फिक्र में भी रहते थे। उन्हें युद्ध करना पड़ता था। वे अपनी स्तुति भी सुनना चाहते थे। युद्ध उन दिनों के राजपूत राजाओं के लिए आवश्यक कर्त्तव्य हो गया था। उन्हें अन्य राजकीय गुणों के विकास करने और लोकनिष्ठ करने का अवसर नहीं मिलता था। लड़नेवालों की संख्या कम थी; क्योंकि लड़ाई भी जातिविशेष का पेशा मान ली गयी थी। देशरक्षा के लिए या धर्मरक्षा के लिए समूची जनता के सन्नद्ध हो जाने का विचार ही नहीं उठता था। लोग क्रमश: जातियों और उपजातियों में तथा सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों में विभक्त होते जा रहे थे। लड़नेवाली जाति के लिए सचमुच ही चैन से रहना असम्भव हो गया था। क्योंकि उत्तर, पूरब, दक्षिण, पश्चिम, सब ओर से आक्रमण की सम्भावना थी। निरन्तर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग हैं। उनका कार्य ही था—हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देनेवाली घटना-योजना का आविष्कार। उस काल के साहित्य में ऐसी छोटी-छोटी बातों पर लड़ाई हो जाने की बात मिलती है कि आज का सहृदय विस्मय से देखता रह जाता है। पृथ्वीराज के चाचा कन्ह ने किसी को मूँछों पर हाथ फेरते देखा, सिर उतार लिया। वे बिचारे शरणागत थे। पछतावा उन्हें भी हुआ। प्रायश्चित्तरूप में उन्होंने आँखों पर पट्टी बाँध ली। यह वीरता का आदर्श था! इन कवियों ने राजस्तुति के नाम पर असम्भव घटनाओं और अपतथ्यों की योजना की। विवाह भी इस वीरता का एक बहाना बनाया गया। आजकल के ऐतिहासिक विद्वान बेकार ही इन घटनाओं और अपतथ्यों से इतिहास खोज निकालने का प्रयास करते हैं। इन काव्यों में कवियों ने व्यापक रूढ़ियों के आधार पर अपने राजा को या काव्य-नायक को उत्साह का आश्रय और रति का आलम्बन बनाना चाहा है। इनमें इतिहास को समझने का कम और तत्काल प्रचलित काव्य-रूढ़ियों को समझने का अधिक साधन है।

दूसरी ओर हिमालय के पाद-देश में कामरूप से लेकर हिंगलाज तक एक प्रकार की यक्ष-पूजा दीर्घकाल से प्रचलित थी, जो बौद्धधर्म के पिछले दिनों में बौद्धधर्म को प्रभावित करने में समर्थ हुई और वज्रयान नाम से अभिहित हुई। 'उपासक दशासूत्र' में मणिभद्रचैत्य का उल्लेख है और 'संयुक्तनिकाय' में मणिभद्र यक्ष की चर्चा है। आगे चलकर यही मणिभद्र बुद्ध के प्रधान शिष्यों में गिने जाने लगे। फिर आगे चलकर बौद्धधर्म में वज्रपाणि यक्ष तो बोधिसत्व का पद पा गये और 'कृष्णयमारितन्त्र' में इन्हें सर्वतथागताधिपति कहा गया है। यक्षों और गुह्यकों का भोगपरक तान्त्रिकधर्म क्रमशः शक्तिशाली होता गया और आगे चलकर 'तथागतगुह्यक'-जैसे तान्त्रिक शास्त्रों की रचना हुई। यह यक्षकुल, जिसमें

डटा रहा। हिमालय के पाददेश की साधना उसे अभिभूत नहीं कर सकी। यहाँ संस्कृत की और ब्राह्मणधर्म की प्रतिष्ठा बहुत बाद तक बनी रही। इस प्रकार न तो हम इस प्रदेश के ऐसे साहित्य का ही पता लगता है जो राजरक्षित हों और न ऐसे ही साहित्य का जो संघटित सम्प्रदाय द्वारा सुरक्षित हों। केवल जनता की जिह्वा पर जो कुछ बचा रहा, वही अनेक परिवर्तनों के बाद घट-बढ़कर क्वचित्-कदाचित् मिल जाता है।

आदिकालीन हिन्दी-साहित्य के अरक्षित रह जाने की यही कहानी है। जिन पुस्तकों के आधार पर इस काल की भाषा-प्रवृत्ति का कुछ आभास पाया जा सकता है, उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। कुछ पुस्तकों की भाषा इतनी परिवर्तित हुई कि उसके विषय में कुछ भी विचार करना अनुचित मालूम पड़ता है। कुछ जो ठीक से सुरक्षित हुई है, उनके आधार पर कुछ अनुमान किये जा सकते हैं। परन्तु इन पुस्तकों से काव्यरूपों का अध्ययन अधिक विश्वास के साथ किया जा सकता है।

इस काल के अपभ्रंश काव्यों में उन सभी प्रवृत्तियों का आरम्भ हो गया दिखता है जो आगे आनेवाली भाषा के प्रधान लक्षण माने जाते हैं। हमने पहले ही बताया है कि ठीक मध्यदेश में बना कोई अपभ्रंशकाव्य नहीं मिलता। अधिकांश पुस्तकें किनारे पर स्थित प्रान्तों से ही प्राप्त हुई हैं। फिर भी ये पुस्तकें बहुत सहायक हैं। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में दो प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा की है। एक तो शिष्टजन की अपभ्रंशभाषा जिसका व्याकरण स्वयं हेमचन्द्राचार्य ने लिखा था और जो प्रधान रूप से जैन पण्डितों के हाथों सँवरती रही। यह बहुत-कुछ प्राकृत और संस्कृत की भाँति ही शिष्टभाषा बन गयी थी। दूसरी ग्राम्य अपभ्रंशभाषा जो सम्भवतः चलती जबान थी। भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह अधिक अग्रसर हुई भाषा है। 'सन्देशरासक' इसी प्रकार के अपभ्रंश में बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में—अर्थात् लगभग उसी समय जब 'पृथ्वीराजरासो' लिखा जा रहा था—रचित हुआ था। इसकी भाषा बोलचाल के अधिक नजदीक थी। यद्यपि इसके कवि अद्दहमाण या 'अब्दुल रहमान' प्राकृत-अपभ्रंश की परम्परा के अच्छे जानकार थे और बीच-बीच में उन्होंने जो प्राकृत गाथाएँ लिखी हैं, वे उनकी प्राकृत-पटुता की सूचना देती हैं, फिर भी उन्होंने अपनी रचना बोलचाल के अधिक नजदीक रखने की ओर अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने नम्रता प्रकट करते हुए कहा है कि जो लोग पण्डित हैं, वे तो मेरे इस कुकाव्य पर कान देंगे ही नहीं और जो मूर्ख हैं—अरसिक हैं—उनका प्रवेश मूर्खता के कारण ग्रन्थ में हो ही नहीं सकेगा, इसलिए जो न पण्डित हैं, न मूर्ख हैं; बल्कि मध्य श्रेणी के हैं, उन्हीं के सामने सदा हमारी कविता पढ़ी जानी चाहिए :

णहु रहइ बुहा कुकवित्त रेसि
अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसि।
जिण मुक्खण पंडिय मज्झयार
तिह पुरउ पढिव्वउ सव्ववार॥

होगा, फिर धीरे-धीरे इन शब्दों ने इनका अधिक काव्य के सुकुमार अर्थों को वहन करने वाले कुछ विशिष्ट अर्थ धारण किये होंगे। हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत इस दोहे में 'उल्ल' और 'ड़' दो स्वार्थक प्रत्यय वल शब्द के साथ युक्त होकर कोई विशिष्ट अर्थ नहीं बताते :

सामि सरोसु सल्लज्ज पिउ, सीमा संधिहि वासु।
पेक्खिवि बाहुबलुल्लड़ा, धण मेल्लइ नीसासु॥

[मालिक सरोष है, अदान सी बातों पर लड़ पडने को प्रस्तुत है, मेरा प्रिय सलज्ज है और निवास देश की सीमा-सन्धि पर है (जहाँ कभी भी तलवार बज जा सकती है)। यह सब सोचकर और अपने पति के बाहुबल को देखकर वह धन्या (दुलहिन) (चिन्तावश) दीर्घ निःश्वास छोड़ा करती है।]

परन्तु कबीर के दोहे में इस 'ड़ा' के घिसे रूप 'रा' ने कुछ अधिक सुकुमारता ला दी है :

'जियरा योंही लेहुगे निरह तपाइ तपाइ।'

2. लघुस्वर को गुरु बनाकर छन्दःपूर्ति की योजना—

(क) दो-तीन प्रकार से यह कार्य किया जाता था। प्रथम, ह्रस्व स्वर को दीर्घ करके। हेमचन्द्र ने तो यह साधारण नियम ही बना दिया था कि अपभ्रंश में ह्रस्व और दीर्घ का व्यत्यय हो सकता है। पर यह नियम पदान्त में ही होता है। 'भल्ला हुआ जो मारिआ' में दोनों ही स्थानों पर पदान्त दीर्घ है। यह बात जायसी, तुलसी और कबीर में भी मिलती है। इन कवियों ने पदान्त ह्रस्व को तो कम, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर छन्द के अन्त में आनेवाले पद के अन्तिम स्वर को दीर्घ बनाकर काम चला लिया है। खोजने पर साधारण पदान्त दीर्घ के उदाहरण भी मिल जायेंगे, पर प्रवृत्ति पदान्त में आये पद के अन्तिम ह्रस्व स्वर को दीर्घ करने की ही रही है। इसे 'पादान्त' दीर्घ की प्रथा कहा जा सकता है। 'हसब ठठाइ फुलाउब गालू' (तुलसी) में 'गालू' का अन्तिम उकार इसी नियम से दीर्घ हुआ है। इसी प्रकार 'सहि नहिं सकहु हिये पर हारू' और 'ससिमुख जबहिं कहै किछु बाता' (जायसी) में पादान्त दीर्घ इसी प्रथा के चिह्न हैं। किन्तु अपभ्रंश में पद्य के मध्य में भी दीर्घ करने के उदाहरण मिल जाते हैं (ह० भा०, पै० 16)। 'प्रसाधन' का नियमित अपभ्रंश रूप 'पसाहन' होना चाहिए; पर 'सन्देश-रासक' में इसे 'पासाहण' किया गया है—'रहसच्छलि कीरइ पासाहण' (पद 179)। 'प्राकृत पिंगलसूत्र' की कविताओं में छन्द के चरण के अन्तवाले (पादान्त) ह्रस्व को दीर्घ करने की प्रथा बहुत अधिक रूढ़ हो गयी थी। जैसे, 'जहाँ भूत वेताल णचन्त गायन्त खाए कबन्धा' (पृ० 194)। इसमें 'कबन्धा' में पादान्त दीर्घ है। पादमध्य में आनेवाले पादान्त ह्रस्व को दीर्घ करने के उदाहरण भी मिलते हैं। इसी पद्य में आगे इस प्रकार हैं :

कआ दुट्ट फुट्टेइ मन्था कबन्धा णचन्ता सन्ता।
तहाँ बीर हम्मीर सगाम मज्झे तुलन्ता जुलन्ता॥

आवश्यकता पड़ने पर शब्द के मध्य (पदमध्य) स्वर को भी दीर्घ कर लेने की

'चल्लि', लिक्खि' आदि में इसी परम्परा को दुरुपयोग की सीमा तक घसीटा गया है।' मूल रासो में यह प्रवृत्ति बहुत स्वस्थ और संयत रूप में रही होगी। सम्भवतः 'सन्देशरासक' की मात्रा के आसपास ही।

(ग) रासो मे अनुस्वार देकर छन्दोनिर्वाह की योजना बहुत अधिक मात्रा मे है। रजंत भूपनं तन। अलक्क छुट्टय मनं। (पृ. 212)-जैसे छन्दों में अकारण अनुस्वार ठूँसे गये है। एक कारण तो अनुस्वार देने का यह हो सकता है कि भाषा मे सस्कृति की गमक आ जाये। पन्रतु यह प्रवृत्ति सिर्फ इतने ही उद्देश्य से होती तो इतना विशाल रूप न धारण करती। वस्तुतः अपभ्रंशकाल में दो प्रकार से अनुस्वार जोडने के उदाहरण मिल जाते है—(1) मूल संस्कृति में उस पद मे अनुस्वार रहा हो और छन्द की पादपूर्ति के लिए उसकी आवश्यकता अनुभव की गयी हो। परवर्ती हिन्दी मे 'परब्रह्म'-जैसे शब्दों में यही प्रवृत्ति है। 'प्राकृतपिंगल-सूत्र' के उदाहरणों मे यह प्रवृत्ति पायी जाती है :

'ठवि सल्ल पहल्लो सल्लजुअ पुणु बहूठिया।' (पृ० 215)

मे 'सल्लजुअ' का अनुस्वार 'सत्ययुगं' में आये हुए संस्कृति-अनुस्वार का अवशेष है। (2) छन्द मे एकाध मात्रा की कमी रह गयी हो और उसके लिए द्वित्व-वाला विधान बहुत अच्छा नही दिख रहा हो, जैसे 'णायं तुम्वरि सज्जिउ' (सं० रा० 53); परन्तु यह बात अपभ्रंश-कवियों में बहुत अधिक प्रिय नही थी। 'सन्देशरासक' में 'अमियं झरणो' (33)-जैसे प्रयोगों को बहुत दूर तक नही घसीटा जा सकता। ये सस्कृत-ख-प्रत्यय-परक शब्दों (शुभंकर, प्रियंकर) के अनुकरण पर गढ़े गये जान पड़ते है। 'पुरातन-प्रबन्ध-सग्रह' के रासो-छप्पयों मे एक जगह 'खयंकरु' (अगहु म गहि-दहिमओ [देव] रिपुराय खयंकर) प्रयोग है जो इसी प्रवृत्ति का द्योतक है; परन्तु 'भिमरिं' (उर भितरि खडहडिउ धीर भक्खंतरि चुक्कउ) का अनुस्वार कुछ उसी प्रकार की भरती का मालूम होता है; जिस प्रकार की भर्ती परवर्ती रासों मे है। प्राकृत पिंगलसूत्रों के उदाहरणों में भरती के अनुस्वार नहीं मिलते और इसीलिए यह मान लिया जा सकता है कि मूल रासो के छन्दों में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक मात्रा मे नही होगी। कुछ थोड़ी रही होगी, इसमें सन्देह नहीं। सघणघण वीज चमंकउ होइ में थोड़ी बहुत यह प्रवृत्ति मिल जाती है।

3. गुरु स्वर को लघु बनाकर छन्द का निर्वाह—

अपभ्रंश की रचनाओं में इसका बहुत (ह० भा० 717) प्रयोग मिलता है। साधारणतः तीन कौशलों से कवि इस प्रकार का प्रयास करता है :

(क) दीर्घ को ह्रस्व करके—ज्वाला का 'झाला' या 'जाला' होना चाहिए। अपभ्रंश की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार अन्तिम स्वर ह्रस्व हो जाये तो 'जाल' या 'झाल' बनेगा; किन्तु अपभ्रंश-कवि आवश्यकता पड़ने पर 'झल' या 'जल' कर देगा। हेमचन्द्र के उदाहृत दोहों मे 'ज्वाला' का 'जाल' रूप मिलता है (सारानल जाल झलक्किउ) और 'ढोला मारू रा दोहा' में ज्वाला के अर्थ मे 'झालि' शब्द का प्रयोग मिलता है :

'झाबिन पइवी झालि सुंदर काइं न सलसइ'—पृ. 603

लेकिन यही शब्द ह्रस्व होकर 'सन्देशरासक' में झल (उल्हवइ ण केणइ विरहज्झल, 137) बना है। इसी प्रकार 'नारायण:' अपभ्रंश में 'नारायणु' होगा। परन्तु 'प्राकृत पिंगलसूत्र' के उदाहरण में उसे 'पराणणु' किया गया है :

'कुल घत्तिअ कम्पे, दहमुह काट्टे कंस अ केसि-विणसएरा
करुणे पअले मेच्छेद विअले सो देउ' 'णरायणु' तुम्ह वला'—पृ० 216

[क्षत्रिय-कुल कंश या दपमुख को काटा, कंस और केसी का नाश किया, करुणा को प्रकट किया, म्लेच्छों को विकल किया, वह नारायण तुम्हें बल दे।]

इस बात को भाषा-विज्ञान के साधारण नियमों से समझाया जा सकता है। 'नारायण' में 'रा' के आकार पर स्वराघात पड़ने से 'ना' का आकार ह्रस्व हो जायेगा परन्तु यदि यह बात होती तो और कहीं भी अपभ्रंश में 'नारायण' रूप न मिलता। इसलिए यहाँ मैंने इसे उदाहरणरूप में उद्धृत किया है। 'सन्देशरासक' में 'सीतल', का 'सियलु' रूप मिलता है (मरु-तियलुवाइ महि सीयलतु) और पदान्त 'ओ' और 'ए' को ह्रस्व कर देने की प्रथा तो बहुत पुरानी है। हेमचन्द्र के उद्धृत दोहों की यह बात बहुत अधिक मिल जायेगी :

'तहेमुद्धहे मुह पंकइ आवासिउ सिसिरु।' 357

'निरुपय रसु पिएँ पिआवे णणु सेसहोदिण्णी मुद्दे'—पृ० 401 इत्यादि

कभी-कभी पद मध्य में भी आ जाता है। अवश्य ही, ऐसे स्थलों पर पदान्त की स्मृति खोजी जा सकती है। जैसे, भमरा एत्थुति लिवडह केवि दिवहडा विलंबु के 'केवि' में 'के अपि' की स्मृति खोजी जा सकती है। 'पुरातन-प्रबन्ध-सग्रह' के रासो-छप्पयों में पदान्त 'ओकार' के ह्रस्व के अनेक उदाहरण है—'में दाहिमरो' मे का ओकार ह्रस्व है 'मच्छिवधी बद्धओं मरिसि' में 'वद्धओ' का ओकार भी ऐसा ही है। परवर्ती हिन्दी-कविता मे यह प्रवृत्तिपर्याप्त मात्रा में मिल जाती है।

(ख) संयुक्त वर्णों में से एक को ही रखकर पूर्ववर्ती स्वर को लघु बनाया गया है। अपभ्रंश में 'थक्कइ' (रहता है) प्रयोग मिलता है। इसी से बगला 'थाक्' धातु आया है। 'प्राकृत पिंगलसूत्र' मे एक सरस उदाहरण इस प्रकार है :

फुल्लिअ केसु कम्प तहँ पअलिअ मजरि तेजिअ चूआ
दक्खिन वाउ सीअ भइ पवहइ कम्प विओइणि हीआ।
केअइ धूलि सब्व दिस पसरिअ पीअरु सव्वउ भासे
आउ वसन्त काइ सहि करिहउ कन्त ण थक्कइ पासे।—पृ. 212

[केसू फूलने लगे, पल्लव कांपने लगे, आमों मे मजरी निकल आयी, दक्षिण वायु शीतल होकर प्रवाहित होने लगी, वियोगिनियों का हृदय कांपने लगा। केवडे की धूलि चारो ओर फैल गयी, सब जगह वसन्ती रंग लहक उठा—इस प्रकार हे सखी, वसन्त तो आ गया, पर प्रिय पास में नहीं है !]

किन्तु आवश्यकता पड़ने पर इस 'थक्कइ' को 'थकइ' कर लिया जा सकता था। इसी 'प्राकृत' पिंगलसूत्र' के उदाहरण में इस प्रकार है :

जो पणु पर उवआर विरुज्झइ
तासु जणणि कि ण थकइ वज्झइ ॥--पृ. 160

[जो पुनः परोपकार का विरोध करता है, उसकी माता वांझ क्यों नहीं रह जाती ?]

हेमचन्द्र मे ही इस प्रकार के प्रयोग मिलने लगते है। 'विशतस्तद' का 'विपमत्यण' होना उचित था; किन्तु हेमचन्द्र के उदाहृत दोहे में 'विपम-थण' (350) मिलता है। अन्यत्र ऐसे ही स्थल पर 'गण्डयले' न कहकर 'गण्डत्यले' कहा है—एक्कहि अक्खिहिं सावणु अन्नहि भद्दवउ; माहउ महियलसत्यारि गण्डत्यले सरउ। (357)

इसी तरह 'उन्मुक्त' से अपभ्रंश रूप 'उम्मुक्क' बनेगा; पर आवश्यकता पड़ने पर अपभ्रंश का कवि 'उमुक्क' लिख सकता था—'धम्मिल उमुक्कमुहा (सं. रा. 97)। 'उछाह', 'भएतवचल' आदि प्रयोग इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। छन्द का अनुरोध न होता तो ये शब्द 'उच्छाह' से आगे बढ़कर 'उच्छाह और 'वच्छल' से आगे बढकर 'वाछल' बन गये होते। 'सन्देशरासक' में और 'प्राकृत' पिंगलसूत्र' के उदाहरणों में यह प्रवृत्ति काफी अधिक है। परवर्ती हिन्दी-साहित्य मे तो है ही। 'समुन्द्र' का 'समुद्द' होना चाहिए। जायसी ने 'समुद'बना दिया है—'जे एहि खीर समुद महँ परे' (पृ. 60) और 'दीठि न आव समुद्र में समुद ओर खंगा' (पृ. 70) इत्यादि।

(ग) एक दूसरा कौशल है अनुस्वार को ह्रस्व करने के लिए सानुनासिकमात्र रहने देना और लिखने मे चन्द्रबिन्दु देकर काम चला लेना। यह भी पुरानी प्रवृत्ति है। हेमचन्द्र ने एक दोहा इस प्रकार दिया है :

विप्पियआरउ जईवि पिउ तोवि तँ आणहि अज्जु।
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तोवि ते अग्गि कज्जु।

[यद्यपि प्रिय अप्रिय काम करने वाला है, तो भी (ऐ सखी,) तू उसे ले आ। यद्यपि घर आग से जल गया है, तो भी आग से काम तो पड़ता ही है !]

यहाँ त के अनुस्वार को चन्द्रबिन्दु मे बदल दिया गया है। 'सन्देशरासक' मे 'सपूर्ण' 'सउन' बनाया गया है। इसमें एक अनुस्वार एकदम उडा दिया गया है। इसमें 'स' का अनुस्वार एकदम उडादिया गया। सम्भवतः यह लिपिकार का प्रमाद है। मूल में यह चन्द्रविन्दु के रूप में रहा होगा। हिन्दी मे इस प्रकार अनुस्वार सेचन्द्रविन्दु के रूप मे रहा होगा। हिन्दी मे इस प्रकार अनुस्वार से चन्द्रविन्दु और फिर चन्द्रविन्दु का एकदम लुप्त हो जाना बहुत हुआ है। पर्यंकिका-पल्लकिआ-पालँकोपालकी। पर-हिन्दी-काव्यों में इस कौशल से बहुत काम लिया गया है—चँदनक चौकि बइस तहँ राजा'···इत्यादि) 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह के रासो छप्पयों मे भी यह प्रवृत्ति है। शाकंभरी से सायंभरी फिर साइंभरि से बना है। किन्तु 'पहु-पहु विराम सइंभरि धणी सयंभरि उणइ संभरिसि' मे दो स्थानों पर इस अनुस्वार को हल्का करने का प्रयत्न किया गया है। 'प्राकृत-पिंगलसूत्र' के

उदाहरणों में भी इस कौशल के चिह्न मिल जाते है जहाँ 'पंचमी' की 'पचमी' किया गया है :

पंचमी पउठी तिअहि मिलाउ।

4. एक और कौशल शब्दो का सिकोडना या लम्वा खीचना। दोनों ही कौशलों का अविर्भाव अपभ्रंश-रचनाओं में मिलता है और दोनोंही परवर्ती हिन्दी-कविता मे प्रयुक्त हुए हैं। इन दोनों कौशलो का नाम सकोचन और सन्प्रसारण दिया जा सकता है।

(क) संकोचन का कौशल।

'सहकार' अपभ्रंश मे 'सहकार' होगा। सुविधा के लिए इसे 'सहार' और फिर 'सहार' वनाया जा सकता है। दोनों ही प्रयोग हिन्दी मे मिल जाते है :

1. हउ किय णिस्सहार पहिय सार वणि।
2. साहारह णाउ ण सा अंगिरह।

इसी प्रकार 'मयूर' से 'मऊर' और उससे 'मोर'। 'सन्देशरासक' मे भी यह प्रयोग मिला है और 'ढोला मारू' मे भी—'महि मोराँ मण्डवकरह मनमथ अगिन गाई।' इसी तरह 'द्विगुण' 'दिउण' होगा; किन्तु 'प्राकृत' पिंगलसूत्र में उसे 'दुण्ण' करके संकुचित किया गया है—'कण्णो दुण्णे हार एक्को विसज्जे'। 'सज्जा कण्णा' गद्य कण्णा सुणिज्जे।' 'अर्द्धतृतीय' 'अड्डीय' वन जाता है जो आगे चलकर 'अढाई' से और भी संकुचित होता हुआ 'ढाई' वन गया है। अढाई में का 'आकार' जिस प्रकार लोप हुआ है वह प्रक्रिया भी अपभ्रंशकाल मे परिचित थी 'अरण्य' से 'अरण्य' और फिर 'रण्ण' हेमचन्द्र के व्याकरण मे पाया जाता है।

'सन्देशरासक' मे 'उपस्कर' और 'उवक्खर' मिल जाता है यह साइय वक्खरु हरि गउतक्खरु जाउ सरणि कसु पहिय भणे, 95 उसी में 'रत्न' भी मिल जाता है। (मच्चरभय संचडिउ रन्नि गोपगणहि 146)। इसी प्रकार और भी प्रयोग खोजे जा सकते है; जैसे व्रज भापा मे 'अरु' का 'रु', 'जहै' का 'ही' इसी के रूप हैं। जायसी ने 'अहा' 'था' का प्रयोग किया है (जव लगि गुरु हौं अहा न चीन्हा)। इसी का स्त्रीलिंग 'अही' होता है और इसी 'अही' का सक्षिप्त (सकोचित) रूप 'ही' है।

अपभ्रंश मे सकोच की प्रवृत्ति और भी कई रूपों मे रही। 'उपदेश' का अपभ्रंश रूप 'उपएस' होगा, इसी का सक्षिप्त रूप 'उवेस' वन गया है (सरहे कहिय उवेस)। यह संकोचन का एक उदाहरण है। 'स्वर्णकार' का 'सुण्णआर' अपभ्रंश रूप है जिससे 'सन्देशरासक' का 'सुन्नार' रूप वना है।

सुन्नारह जिह मम हिय उपिय उंविकय करेइ।
विरहहुयासि दहेवि कॅरि, आसाजलि सिंचेइ॥—108

[प्यारे सुनार की तरह मेरा हृदय प्रिय की उत्कण्ठा कर रहा है। जो विर-रूपी अग्नि मे जलाकर फिर आशा के जल से सीचा करता है।

परवर्ती हिन्दी-कविता मे यह प्रवृत्ति और भी वढ़ी। सुन्नार आगे चलकर

'सुनार' बन गया। अपभ्रंश में 'अइ' या 'अय' जहाँ था वहाँ हिन्दी में 'ऐ' बन गया 'अउ' या 'अव' जहाँ था, वहाँ 'औ' बन गया—'मैंन' (मदन-मयन-मैंन), 'पौन' (पवन-पौन), 'नैंन' (नयन-नैंन)। इसी प्रकार तुम का वाचक 'पइ' था जो घिसते-घिसते 'पैं' रह गया है। जायसी ने इसका प्रयोग बहुत किया है (मांगु मांगु पैं कहहु पिय, कबहुँ न लेहु न देहु)। विद्वानों ने इसे 'अपि' वाले 'पैं' के साथ जोड़ देने का प्रयत्न किया है।

(ख) दूसरा कौशल संप्रसारण का है।

ह्रस्व को दीर्घ करने के उदाहरण पहले ही दिये गये हैं और यह भी दिखाया गया है कि किस प्रकार कई स्वार्थक प्रत्ययों के योग से शब्दों को लम्बा बनाया गया है। इनके अतिरिक्त भी कई कौशल हैं।

इस प्रकार प्रायः उन सभी प्रवृत्तियों का बीजारोपन इस काल की प्रामाणिक रचनाओं में मिल जाता है जो आगे चलकर भाषाकाव्य में व्यापक रूप से मिलने लगती हैं।

तृतीय व्याख्यान

पिछले व्याख्यान में मैंने यह दिखाया है कि अपभ्रंश या देश्यभाषा की ऐसी रचनाएँ जिनका निर्माण आज के हिन्दीभाषी क्षेत्रों में हुआ था, प्रायः नहीं मिलतीं। जो मिलती भी हैं, वे अपने मूल अविकृत रूप में नहीं मिलतीं। अपभ्रंश के जिन चरित-काव्यों की चर्चा पहले की गयी है, वे अधिकांश जैन-परम्परा से प्राप्त हुए हैं और हिन्दीभाषी क्षेत्रों के बाहर लिखे गये हैं। वे इस बात की सूचना देते हैं कि इस काल में जैनेतर-परम्परा में भी प्रचुर काव्य-साहित्य लिखा गया था। नाना ऐतिहासिक कारणों से ये रचनाएँ सुरक्षित नहीं रह सकीं। एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना 'पृथ्वीराजरासो' है। किसी समय यह ग्रंथ बहुत प्रामाणिक माना गया था और पृथ्वीराज-विषयक इतिहास के लिए प्रामाणिक स्रोत समझा गया था। बंगाल की एशियाटिक सोसायटी ने इसका प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया था। लेकिन उन्हीं दिनों डॉ. बूलर ग्रन्थानुसन्धान के लिए काश्मीर गये और वहाँ उन्हें 'पृथ्वीराज-विजय' की एक खण्डित प्रति मिली। यह सन् 1876 ई. की बात है। डॉ. बूलर को 'पृथ्वीराजविजय' अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ मालूम हुआ और उन्होंने सोसायटी को एक पत्र लिखकर (1893 ई. की प्रोसीडिंग्स देखिए) 'पृथ्वीराज-रासो' का मुद्रण बन्द करा दिया। बाद में इस विशाल ग्रन्थ को काशी-नागरी-

प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया। किन्तु तभी से विद्वानों के मन में रासो की उपादेयता के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न हो गयी। डॉ. बूलर ने अपने पत्र मे रासो की इतिहास विरुद्धता की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। उनका विश्वास था कि 'पृथ्वीराजविजय' मे लिखी घटनाएँ सन् 973 ई. से सन् 1168 ई. तक की प्रशस्तियों और शिलालेखों से मिलती है। 'पृथ्वीराजविजय' के अनुसार पृथ्वीराज सोमेश्वर और उसकी रानी कपूर देवी के पुत्र थे। कर्पूर देवी चेदिदेश के राजा की कन्या थी। पृथ्वीराज को बाल्या-वस्था मे सिंहासन मिला था और राज्य का संचालन उनकी माता कर्पूर देवी कदम्बवास नामक मन्त्री की सहायता से करती थी। कदम्बवास रासो का प्रतापी मन्त्री 'कैमास' है। परन्तु 'पृथ्वीराज-रासो' के अनुसार पृथ्वीराज अनंगपाल की पुत्री से उत्पन्न हुए थे और दत्तक भी थे। पृथ्वीराज के लेखों से 'पृथ्वीराजविजय' का ही समर्थन होता है। पृथ्वीराज के अत्यन्त अभिन्न मित्र माने जानेवाले कवि का यह आरम्भ ही इतना गलत हो— यह बात समझ में नही आती।

बाद मे लोगों ने और भी तरह-तरह की ऐतिहासिक गलतियाँ दिखायीं। रासो के प्रति एक प्रकार का साहित्यिक 'मोह' रखनेवाले विद्वानों को इस बात से कष्ट हुआ। उन्होंने नाना युक्तियों से उसे ऐतिहासिक सिद्ध करने का प्रयत्न शुरू किया। एक आनन्द संवत् की बेबुनियादी कल्पना को सहायक बनाया गया। पर रासो वर्तमान रूप मे इतनी इतिहास-विरुद्ध घटनाओं का भोजाल है कि उसे किसी भी युक्ति से इतिहास के अनुकूल नही सिद्ध किया जा सकता। अब यह निश्चित रूप से विश्वास किया जाने लगा है कि मूल रासो मे बहुत अधिक प्रक्षेप होता रहा है और अब यह निर्णय कर सकना कठिन है कि मूल रासो कैसा था। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् म. म. पं. गौरोशंकर ओझाजी ने निश्चित प्रमाणों के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि रासो का वर्तमान रूप स. 1517 और 1732 के बीच किसी समय मे प्राप्त हुआ था, अर्थात् वर्तमान रासो का अन्तिम रूप से संकलन-सम्पादन सत्रहवी शताब्दी के आसपास हुआ है। इधर जब से मुनिजिनविजयजी ने 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' में प्राप्त चार छप्पयों की ओर पण्डितों का ध्यान आकृष्ट किया है तब से मूल रासो में प्रक्षेपवाले सिद्धान्त की पुष्टि हो गयी है। ये छप्पय प्रायः अपभ्रंश मे है। वर्तमान रासो मे ये विकृत रूप में प्राप्त होते हैं। हम आगे वाले व्याख्यान मे इनको उद्धृत करने जा रहे है। यहाँ केवल इतना कहना उचित जान पड़ता है कि इन छप्पयों से 'पृथ्वीराजविजय' का भी विरोध नही है और रासो मे तो ये मिलते ही हैं। इनमे 'पृथ्वीराजविजय' वाले प्रसिद्ध मन्त्री 'कदम्ब-वास' (कइमास) की पृथ्वीराज द्वारा की हुई हत्या की चर्चा है। इसलिए इनमे अनैतिहासिक तत्त्व नही है। भाषा इनकी अपभ्रंश है और इस तथ्य से यह अनुमान पुष्ट होता है कि रासो भी कुछ उसी प्रकार के अपभ्रंश में लिखा गया था, जिस प्रकार के अपभ्रंश में ग्यारहवीं शताब्दीवाला दमोहवाला शिलालेख (जिसकी चर्चा प्रथम व्याख्यान में की गयी है) लिखा गया था।

अब यह मान लेने में किसी को आपत्ति नहीं है कि रासो एकदम जाली पुस्तक नहीं है। उसमें बहुत अधिक प्रक्षेप होने से उसका रूप विकृत जरूर हो गया है, पर इस विशाल ग्रन्थ में कुछ सार भी अवश्य है। इसका मूल रूप निश्चय ही साहित्य और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा। परन्तु जब तक कोई पुरानी हस्तलिखित प्रति नहीं मिल जाती, तब तक उसके विषय में कुछ कहना कठिन ही होगा। फिर भी मेरा अनुमान है कि उस युग की काव्य-प्रवृत्तियों और *काव्यरूपों के अध्ययन से हम रासो के मूल रूप का सन्धान पा सकते हैं।* परिश्रम करके यदि हम उस रूप का कुछ आभास पा जायें तो उसकी साहित्यिक महिमा और काव्य-सौन्दर्य की किंचित् झलक पा सकेंगे; परन्तु भाषा का प्रश्न फिर भी विवादास्पद रह जायेगा। 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' वाली परम्परा को विश्वास-योग्य मानें तो वह भाषा अपभ्रंश ही थी, जो उस युग की प्रवृत्तियों को देखते हुए ठीक ही मालूम देती है। परन्तु उसे सामने रखने में थोड़ी हिचकिचाहट हो भी सकती है। जैन-ग्रन्थकार अपभ्रंश भाषा के विषय में जरूरत से कहीं ज्यादा सावधान रहे हैं। जिस प्रकार तुलसीदास की रामायणवाली भाषा को उत्साही ब्राह्मण-पण्डितों के हाथ शुद्ध होकर संस्कृतानुयायी बनना पड़ा है, उसी प्रकार सम्भव है कि चन्द की देश्यमिश्रित अपभ्रंश भाषा (जो 'कीर्तिलता' के अवहट्ठ के समान भी हो सकती है) *उत्साही जैन मुनियों के हाथ कुछ शुद्ध बनकर विशुद्ध अपभ्रंश बन गयी हो।* यह सम्भावना हो सकती है। हमें उस ओर से सावधान होना होगा। इसीलिए मैं भाषा की दृष्टि से इस प्रश्न पर अभी विचार करने योग्य स्थिति में नहीं हूँ। साहित्यिक दृष्टि से यदि कुछ हाथ लग जाय तो वह भी कम लाभ नहीं है—'अर्ध तजहिं बुध सरबस जाता!'

भिन्न-भिन्न विद्वानों के परिश्रम से अब तक रासो के चार रूप उपलब्ध हुए हैं। इनमें सबसे बड़ा तो काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा वाला संस्करण है जो सं. 1750 की उदयपुरवाली प्रति के आधार पर सम्पादित हुआ था। *ओरियण्टल* कालेज, लाहौर की एक प्रति है जिसको पं. मथुराप्रसाद दीक्षितजी असली रासो मानते हैं। इसकी एक प्रति बीकानेर के बड़े उपासरे के जैनज्ञानभाण्डार में है, एक अबोहर के साहित्यसदन में है और एक श्री अगरचन्द नाहटा के पास है। दीक्षितजी कहते हैं कि रासो के 'सत्त सहस' का अर्थ सात हजार है और इस दूसरे रूपान्तर की श्लोकसंख्या आर्या के हिसाब से लगभग सात हजार है भी। इस रूपान्तर की सभी प्रतियाँ संवत् 1700 के बाद की बतायी जाती है। तीसरा लघु-रूपान्तर है *जिसकी तीन प्रतियाँ तो बीकानेर-राज्य के अनूप-संस्कृत-पुस्तकालय* में तथा एक श्री अगरचन्द नाहटा के पास है। इसकी एक प्रति सत्रहवीं शताब्दी की है। नाहटाजी वाली प्रति सं. 1728 की है और बाकी दो में संवत् नहीं दिया गया है, पर अन्दाज से उनका भी समय इसी के आसपास कूता गया है। चौथा एक लघुतम संस्करण है जिसे राजस्थानी साहित्य के परिश्रमी अन्वेषक श्री अगरचन्दजी नाहटा ने खोज निकाला है। इसका लिपिकाल सं. 1667

व्यर्थ है। रासो में इतिहास की संगति खोजने का प्रयास ही बेकार है। हम आगे इस बात पर थोड़ा विस्तारपूर्वक विचार करने का अवसर पायेंगे।

एक ध्यान देने योग्य मजेदार बात यह है कि प्रायः सभी चरितकाव्यों ने अपने को 'कथा' कहा है। पुराने साहित्य में 'कथा' शब्द का व्यवहार स्पष्ट रूप से दो अर्थों में हुआ है। एक तो साधारण कहानी के अर्थ में और दूसरा अलंकृत काव्यरूप के अर्थ में। साधारण कहानी के अर्थ में तो 'पंचतन्त्र' की कथाएँ भी कथा है, महाभारत और पुराणों के आख्यान भी कथा है और सुबाहु की 'वासवदत्ता', बाण की 'कादम्बरी', गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' आदि भी कथा है। परन्तु विशिष्ट अर्थ में यह शब्द अलंकृत गद्यकाव्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। कब से यह इस अर्थ में चलने लगा यह कह सकना थोड़ा कठिन ही है। भामह और दण्डी ने अलंकृत गद्यकाव्य के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। दण्डी तो स्वयं इस प्रकार के अलंकृत गद्य के लेखक भी हैं। उनके बहुत पहले से ही अलंकृत गद्यकाव्य लिखे जाने लगे थे। महाक्षत्रप रुद्रदामा ने अपने को गद्य-पद्य और अलंकार का ज्ञाता ही नहीं कहा है, उनके द्वारा खुदवाया हुआ गिरनारवाला शिलालेख स्वयं ही गद्यकाव्य का एक अच्छा नमूना है। इसलिए इतना तो निश्चित है कि अलंकृत गद्य लिखने की प्रथा बहुत पहले से विद्यमान थी। भामह और दण्डी ने लक्ष्य को देखकर ही लक्षण बनाये होंगे। उनके अपने वक्तव्यों से ही स्पष्ट है कि वे प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में लिखे गये काव्यों से परिचित थे। प्राकृत के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कथाकाव्य को वे कैसे भूल सकते थे! इसलिए कथा का लक्षण लिखते समय उनके सामने प्राकृत और संस्कृत की कथा-पुस्तकें अवश्य वर्तमान थीं। चरितकाव्य को कथा कहने की प्रणाली बहुत बाद तक चलती रही। तुलसीदासजी का रामचरितमानस 'चरित' तो है ही, कथा भी है। उन्होंने कई बार इसे कथा कहा है। विद्यापति ने अपनी छोटी-सी पुस्तक 'कीर्तिलता' को 'काहाणी' या कहानी (कथानिका) कहा है—'पुरिस काहाणी हउँ कहउँ'। रासो में भी कई बार उस काव्य को 'कीर्तिकथा' कहा गया है।[1] इस प्रकार यह 'कथा' शब्द बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। कुछ थोड़े से सामान्य लक्षण इन काव्यों में अवश्य एक-से रहते होंगे। उन पर विचार किया जाना चाहिए।

संस्कृत के आलंकारिक आचार्यों ने 'कथा' शब्द का प्रयोग एक निश्चित काव्यरूप के अर्थ में किया है। संस्कृत की 'कथा' गद्य में लिखी जाती थी। एक इसी

1. रासो में कई जगह 'कथा' कहने की बात आयी है। परन्तु आरम्भिक पद्यों में एक प्राकृत की गाथा आयी है, जिसका उल्लेख इसी व्याख्यान में आगे किया जा रहा है। उसमें 'कित्ति कहो' आदि 'कत्ताई' पाठ है। गाथा प्राकृत में लिखी गयी होगी। उसमें 'वुत्त' या उक्त पहले ही आ चुका है, इसलिए फिर से 'कहो' की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। जान पड़ता है, यहाँ मूलरूप में 'कहो' नहीं, 'कहा' था। इस प्रकार मूलरूप इस प्रकार रहा होगा—'कित्ती कह गुणाणं कित्तिकहा आदि कत्ताणं।'

श्रेणी की गद्यबद्ध रचना और भी होती थी, जिसे आख्यायिका कहते थे। भामह ने 'काव्यालंकार' (1/25-28) में सुन्दर गद्य में लिखी सरस कहानीवाली रचना को आख्यायिका कहा है। यह उच्छ्वासों मे विभक्त होती थी और इसका कहनेवाला और कोई नही, स्वयं नायक होता था। इसमें बीच-बीच में वक्त्र और अपवक्त्र छन्द आ जाते थे। इसमें कन्याहरण, युद्ध, विरोध और अन्त मे नायक की विजय का उल्लेख भी होता था। 'कथा' इससे थोड़ा भिन्न हुआ करती थी। उसमें वक्त्र और अपवक्त्र छन्द नही होते थे और न उसका विभाजन ही उच्छ्वास-सज्ञक अध्यायों मे हुआ करता था। इसकी कहानी स्वयं नायक नही कहा करता था; वल्कि किन्हीं दो व्यक्तियो की बातचीत के रूप मे कह दी जाती थी। उसके लिए भाषा का कोई बन्धेज नही था। भामह के इस कथन को ही मानो सामने रखकर दण्डी ने 'काव्यादर्श' (1/23-28) में कहा था कि कथा और आख्यायिका वस्तुतः एक ही श्रेणी की रचनाएँ हैं; क्योंकि कहानी नायक कहे या कोई और कहे, अध्याय का विभाजन हो या न हो, अध्यायों का नाम 'उच्छ्वास' रखा जाय या 'लम्भ' रखा जाय, बीच में वक्त्र या अपवक्त्र छन्द आते हों या न आते हों, इससे कहानी मे क्या अन्तर आ जाता है? इसलिए इन ऊपरी भेदों के कारण 'कथा' और 'आख्यायिका' में अन्तर नही करना चाहिए।[1] दण्डी का यह कथन संकेतपूर्ण है। हम आगे इस सकेत को समझने का प्रयास करेंगे।

यद्यपि दण्डी ने भामह की बात को इस तर्क से काट दिया है, तथापि भामह की बातों मे एक प्रकार की सचाई है। भामह ने अपने समय मे सस्कृत-गद्य में लिखी जानेवाली कथाओं के साथ प्राकृत और अपभ्रंश मे लिखी जानेवाली कथाओ को भी देखा था। उनसे बहुत पूर्व 'बृहत्कथा' ख्यात हो चुकी थी। सस्कृत-कथा के तीन प्राचीन और प्रौढ़ लेखक—दण्डी, सुबाहु और बाणभट्ट—अपनी कथावस्तु के लिए 'बृहत्कथा' के ऋणी है। 'काव्यालकार' के लेखक रुद्रट (लगभग नवी शताब्दी) ने लिखा है कि केवल संस्कृत मे निवद्ध कयाओं के लिए गद्य मे

1. अपादः पादसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल॥
नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा।
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः॥
अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदलक्षणम्॥
वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासं चापि भेदकम्।
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसङ्गेन कथास्वपि॥
आर्यादिवत्प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः।
भेदश्च दृष्टो लम्भादिरुच्छ्वासोवास्तु किं ततः॥
तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः॥

लिखने का बन्धन है, परन्तु अन्य भाषाओं में लिखी जानेवाली रचनाएँ पद्य मे भी लिखी जा सकती हैं। यहाँ 'अन्य भाषाओं' से प्राकृत और अपभ्रंश की ओर इशारा है। नमिसाधु ने तो अपनी टीका में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'अन्येन प्राकृतादिभाषान्तरेण तु अगद्येन गाथाभिः प्रभूतं कुर्यात्।' अर्थात् दूसरी भाषाओं का अर्थ है प्राकृत आदि भाषाएँ, उनमें अगद्य में अर्थात् गाथाओं मे कथा लिखी जानी चाहिए। इस प्रकार भामह और रुद्रट के बताये हुए कथालक्षणों से स्पष्ट होता है कि 'कथा' संस्कृत से भिन्न भाषाओं में पद्य में भी लिखी जाती थी। प्राकृत और अपभ्रंश में उन दिनों निश्चय ही पद्य मे लिखा हुआ ऐसा साहित्य वर्तमान था, जिन्हें 'कथा' कहा जाता था। प्राकृत में लिखी कथाएँ पद्यबद्ध भी होती थी और 'गद्य' में भी लिखी जाती थी। 'बृहत्कथा' के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है कि यह गद्य में लिखी गयी थी या पद्य मे, परन्तु 'वसुदेवहिण्डि' नामक गद्य-निबद्ध प्राचीन प्राकृत कथा उपलब्ध हुई है जो यह सूचित करने के लिए पर्याप्त है *कि प्राकृत में गद्य-बद्ध कथाएँ अवश्य लिखी जाती थीं।* सौभाग्यवश कुछ प्राकृत पद्य-बद्ध कथाएँ भी उपलब्ध हुई हैं और प्रकाशित भी हुई हैं।

प्राकृत में लिखी हुई सबसे पुरानी कथा तो गुणाढ्य की '*बृहत्कथा*' ही है। भारतवर्ष का यह दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि यह अमूल्य निधि आज अपने मूलरूप मे प्राप्त नही है। सन् ईसवी की आठवी-नवी शताब्दी के साहित्य से पता चलता है कि उस समय तक यह कथा प्राप्य थी। यहाँ तक कि लगभग 875 ई. मे कम्बोडिया की एक सस्कृत-प्रशस्ति मे भी गुणाढ्य और उनकी 'बृहत्कथा' की चर्चा आयी है। यह ग्रन्थ पैशाची प्राकृत में लिखा गया था। इसके निर्माण की कहानी बड़ी मनोरजक है। गुणाढ्य पण्डित महाराज सातवाहन के सभापण्डित थे। ये महाराज सातवाहन भी उदयन, विक्रमादित्य (साहसाङ्क) की भाँति दर्जनों निजन्धरी कहानियों के नायक है। उदयन और विक्रमादित्य की भाँति ये भी ऐतिहासिक पुरुष थे। सातवाहन राजाओं ने दीर्घकाल तक दक्षिण में राज्य किया था। सिक्कों पर उनके 'साड', 'सात' आदि नाम प्राप्त हुए हैं। पण्डितों ने *अनुमान किया है कि 'हाल' वस्तुतः 'साड' शब्द का ही प्राकृत रूप है।* वर्ण-परिवर्तन के आधार पर निश्चित किया हुआ यह सिद्धान्त सही हो भी सकता है और नही भी हो सकता है। परन्तु इतना सत्य है कि 'हाल' प्राकृत-साहित्य के उसी प्रकार पुरस्कर्त्ता थे जिस प्रकार विक्रमादित्य संस्कृत-साहित्य के। ब्राह्मण-साहित्य में अपने प्राकृत-प्रेम के कारण उन्हें कई बार उपहास का पात्र बनना पडा है। हम अभी जिस मनोरजक कहानी की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करने जा रहे हैं, वह ऐसे ही उपहास का द्योतक है।

'हाल' की 'सत्तसई' प्राकृत-कविताओं का अपूर्व संग्रह है। शताब्दियों से वह पण्डितों का कण्ठहार बनी हुई है। इसके कोई एक दर्जन रूप हमें परम्पराक्रम से प्राप्त हुए हैं। विशेषज्ञों ने सब रूपों के अध्ययन के बाद दिखाया है कि सात सौ में लगभग चार सौ गाथाएँ पुरानी हैं। बाकी परवर्ती काल में प्रक्षिप्त हुई हैं।

इस पुस्तक का मूल नाम 'गाथाकोश' था। एक गाथा के अनुसार कवि-वत्सल 'हाल' ने एक करोड़ गाथाओं मे से चुनकर इन सात सौ पद्यो का सग्रह किया था। एक मजेदार कहानी मे तो यह भी कहा गया है कि सरस्वती के वरदान से 'हाल' के राज्य का प्रत्येक स्त्री-पुरुष एक दिन के लिए कवि हो गया था और सबने अपनी कविताएँ 'हाल' को दी थीं। उन्ही मे से चुनी हुई कविताओं का संग्रह 'सत्तसई' है। इसमें तो कोई शक नही कि 'हाल' प्राकृत-साहित्य के पृष्ठपोषक थे। राजशेखर ने 'काव्यमीमासा' मे तो इस अनुश्रुति का भी उल्लेख किया है कि सातवाहन ने अपने अन्तःपुर में केवल प्राकृत बोलने का ही नियम बना दिया था। यह 'सातवाहन' और 'हाल' एक ही व्यक्ति होंगे। ऐसा प्राकृत-प्रेमी राजा प्राकृत में निबद्ध प्रेम-गाथाओं का नायक हो, यह बिल्कुल स्वाभाविक ही है और शायद यह भी स्वाभाविक ही है कि ऐसे प्राकृत-प्रेमी राजा को सस्कृत से अनभिज्ञ बताकर उपहास का पात्र बनाया जाय।

सो एक बार यही राजा सातवाहन जलक्रीडा करते समय सस्कृत की अनभिज्ञता के कारण लज्जित हुए और यह प्रतिज्ञा कर बैठे कि जब तक धारावाहिक रूप से संस्कृत लिखने-बोलने नही लगेंगे तब तक बाहर मुँह नही दिखायेंगे। राजकाज बन्द हो गया, गुणाढ्य पण्डित बुलाये गये। उन्होने छ. वर्ष मे सस्कृत सिखा देने की प्रतिज्ञा की, पर एक दूसरे पडित ने छः महीने मे ही इस असाध्य-साधन व्रत ले लिया। गुणाढ्य के मत से यह असम्भव बात थी। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि यदि कोई छः महीने मे संस्कृत सिखा देगा तो वह सस्कृत में लिखना-बोलना ही बन्द कर देंगे। छः महीने बाद राजा तो सचमुच ही धारावाहिक रूप से सस्कृत बोलने लगे, पर गुणाढ्य पण्डित को अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मौन होकर पिशाचों की बस्ती मे जाना पड़ा। उनके दो शिष्य उनके साथ हो लिये। वही किसी गन्धर्व से, जो शापवश पिशाच हो गया था, कहानी सुनकर गुणाढ्य पण्डित ने इस विशाल ग्रन्थ को पैशाची भाषा मे लिखा था। कागज का काम सूखे चमड़े से लिया गया और स्याही का काम पशुओं के रक्त से। पिशाचों की बस्ती मे और मिल ही क्या सकता था! कथा जब पूरी हुई तो गुणाढ्य पडित शिष्यों सहित फिर राजधानी लौट आये। स्वय तो वे नगर के उपकण्ठ में ही ठहर गये, पर ग्रन्थ को शिष्यों के हाथ राजा के पास भिजवा दिया। राजा ने सब जान-बूझकर कहा कि भला जिस पुस्तक की भाषा पैशाची हो, स्याही रक्त हो, लेखक मौन और मत्त हो, उसकी कथावस्तु में विचारने योग्य हो ही क्या सकता है:

पैशाची वाग् मषी रक्तं मौनोन्मत्तश्च लेखकः।
इति राजा ऽब्रवीत् का वा वस्तुसारविचारणा।। बृहत्कथामंजरी 1/87

गुणाढ्य पण्डित ने जो सुना तो व्यथित होकर पुस्तक जला देने की ठानी। शिष्यों के आग्रह पर उन्होंने एक बार कथा सुना देने का अनुग्रह किया। आग जला दी गयी, पण्डित आसन बाँधकर बैठ गये। एक-एक पन्ना पढ़कर आग मे जला दिया जाने लगा। कथा इतनी मधुर और मोहक थी कि पशु-पक्षी, मृग और

व्याघ्र खाना-पीना छोड़कर, वैर विसारकर सुनने लगे। उनके मांस सूख गये। जब राजा की रन्धनशाला में ऐसे ही पशुओं का मांस पहुँचा तो शुष्क मास के भक्षण से राजा के पेट में दर्द हुआ। वैद्य ने नाड़ी देखकर रोग का निदान किया, वधिकों से कैफियत तलब की गयी और इस प्रकार अज्ञात पण्डित के कथावाचन की मनोहारिता राजा के कानों में पहुँची। परन्तु जब तक आश्चर्यचकित राजा वहाँ उपस्थित होते हैं तब तक ग्रन्थ के सात भागों में छः भाग जल चुके थे। राजा की प्रार्थना पर सिर्फ एक ही भाग बच सका। उसी बचे भाग की कथा हमारे पास मूलरूप में तो नहीं आ सकी; परन्तु संस्कृत अनुवाद के रूप में आज भी उपलब्ध होती है। बुद्धस्वामी के 'बृहत्कथाश्लोक संग्रह' क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' और सोमदेव के 'कथासरितसागर' में 'बृहत्कथा' के उस अवशिष्ट अंश की कहानियाँ संगृहीत हैं।

इनमें पहला ग्रन्थ नेपाल के और बाकी कश्मीर के पण्डितों की रचना है। यह तो नहीं पता चलता कि गुणाढ्य ने मूल कहानी गद्य में लिखी थी या पद्य में। 'श्लोकसंग्रह से जान पड़ता है कि वह पद्य में ही लिखी गयी होगी, पर कथा की परवर्ती परिभाषाओं को देखकर बहुतेरे पण्डित उसे गद्य में लिखी बताते हैं। वैसे तो यह विवाद तब तक चलता रहेगा जब तक सौभाग्यवश मूल ग्रन्थ की कोई प्रति न मिल जाय। किन्तु मैं अपना यह विश्वास प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मूलकथा पद्यबद्ध थी और वहीं से प्राकृत भाषा या लोकभाषा में पद्यबद्ध कथाओं के लिखने की परम्परा शुरू होती है।

रुद्रट ने कथा या महाकथा के लिए जो लक्षण बताये हैं वे वस्तुतः उस समय की प्राकृत या अपभ्रंश कथाओं को देखकर ही लिखे गये होंगे। साधारणतः लक्ष्य को देखकर ही लक्षण बनाने का नियम है। रुद्रट के अनुसार कथा के आरम्भ में देवता या गुरु की वन्दना होनी चाहिए, फिर ग्रन्थकार का अपना और अपने कुल का परिचय दिया जाना चाहिए और उसके बाद कथा लिखने का उद्देश्य वर्णन करना चाहिए। शुरू में एक कथान्तर होना चाहिए जो प्रधान कहानी का प्रस्ताव कर सके। सरस वर्णनों से संजीवित कन्याप्राप्ति ही इसका प्रधान प्रतिपाद्य होना चाहिए।[1] रुद्रट से कुछ पूर्व की लिखी कौतूहल कवि की 'लीलावती' नामक कथा

1. श्लोकैर्महाकथायामिष्टान् देवान् गुरून्नमस्कृत्य।
संक्षेपेण निजं कुलमभिदध्यात्स्वं च कर्त्तृतया॥
सानुप्रासेन ततो लघ्वक्षरेण गद्येन।
रचयेत् कथाशरीरं पुरेव पुरवर्णकप्रभृतीन्॥
आदौ कथान्तरं वा तस्यां न्यस्येत् प्रपञ्चितं सम्यक्।
लघु तावत् सन्धानं प्रक्रान्तकथावताराय॥
कन्यालाभफलां वा सम्यग् विन्यस्य सकलशृंगारम्।
इति संस्कृतेन कुर्यात् कथामगद्येन चान्येन॥
(रुद्रट का 'काव्यालंकार,' 16-20-23)

प्राप्त हुई है, जो हू-ब-हू इन लक्षणों से मिलती है। भामह ने जो इशारा किया था कि कथा में उच्छ्वास आदि के रूप में अध्यायों का विभाजन नहीं होता, वह इस कथा में स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। कथा का कहनेवाला यहाँ नायक नहीं है। यह कवि और कवि-पत्नी की बातचीत के रूप में कही गयी है। इस प्रकार दो व्यक्तियों की बातचीत के रूप में कथा कहने की प्रथा इस देश में बहुत पुरानी है।

भामह ने जब कथा और आख्यायिका में यह भेद किया था कि एक तो दूसरों की बातचीत के रूप में कही जानी चाहिए और दूसरी स्वयं नायक के द्वारा, तो उन्होंने सम्भवतः यह बताना चाहा था कि कथा में कल्पना की गुंजायश अधिक होती है और आख्यायिका में कम। एक की कहानी काल्पनिक होती है और दूसरी की ऐतिहासिक। परवर्ती आलंकारिकों ने 'कादम्बरी' को 'कथा' कहा है और 'हर्षचरित' को 'आख्यायिका'। काल्पनिक कहानी में सम्भावना पर बल दिया जाता है और ऐतिहासिक कहानी में नायक के वास्तविक जीवन में घटित तथ्य की ओर। शुरू-शुरू में काल्पनिक और ऐतिहासिक कहानियों के इस भेद को लक्ष्य किया गया होगा। भामह की कथा से ऐसा अनुमान होता है। ऐसा लगता है कि वे कहना चाहते हैं कि कथा प्रधान रूप से ऐसी कहानी है जिसमें कहानीपन अधिक है। कथावस्तु की संघटना, पात्रों के भावों के उतार-चढ़ाव, कथावस्तु और चरित्र-चित्रण का एक-दूसरे को गति देते रहने का गुण और, सबसे बढ़कर, रस का उत्तम परिपाक इसका मुख्य लक्ष्य था। आख्यायिका में नायक की स्वयं देखी-सुनी घटनाओं की प्रचुरता के कारण कवि को कल्पना द्वारा देखने का यथेच्छ अवकाश नहीं रह सकता। वह कथावस्तु को पात्रों के भीतरी गुणों के साथ इस प्रकार नहीं गूँथ सकता कि वे एक-दूसरे को धक्का मार-मार के उसके (कवि के) अभिलषित लक्ष्य तक ले जा सकें। बहुत-सी असम्भव दीखनेवाली बातों का होना रस-परिपाक में बाधक होता है। पुरानी कथाओं में कथानक-रूढ़ि के रूप में बहुत-सी अनहोनी बातें आ गयी हैं। कथा के लेखकों ने उनको सम्भव बनाने के लिए कुछ सम्भावनाओं का सहारा लिया था, जो आगे चलकर कथानक सम्बन्धी-अभिप्रायों का कारण बन गयी। इस विषय पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ प्रकृत यही है कि कल्पनामूलक कथाओं का दो व्यक्तियों की बातचीत के रूप में कहना कुछ अप्रत्यक्ष-सा होना है और कवि का उत्तरदायित्व कम हो जाता है। आख्यायिका में यह सुविधा नहीं रहती; परन्तु भामह के ऊपर किए हुए दण्डी के आक्षेपों को देखते हुए यह निश्चित रूप से समझा जा सकता है कि ऐतिहासिक और काल्पनिक कथाओं के इस भेद को बहुत शीघ्र भुला दिया गया। यह जो दो व्यक्तियों के बीच बातचीत के रूप में कथा कहने की पद्धति है, वह इस देश की बहुत पुरानी प्रथा है। महाभारत में इसी प्रकार पूर्वकथा कहकर श्रोता-वक्ता की योजना की गयी है। यद्यपि आदिकाव्य रामायण में श्रोता-वक्ता की योजना नहीं है तथापि पूर्वकथा उसमें भी है। लौकिक कथाओं में यह प्रथा शुरू-शुरू में सम्भवतः इसलिए व्यवहृत हुई थी कि कथा में असम्भव समझी जाने योग्य बातों को

परप्रत्यक्ष बताकर उसकी असम्भाव्यता की मात्रा कम कर दी जाये। हमने ऊपर देखा है कि 'बृहत्कथा' में भी एक मनोरंजक कथान्तर या पूर्वकथा है, परन्तु वह ठीक प्रश्नोत्तर के रूप में नहीं है। 'लीलावती' में वह प्रश्नोत्तर के रूप में है। 'कादम्बरी' में भी कथा शुक के द्वारा कहलवायी गयी है और पूर्वकथा में बताया गया है कि किस प्रकार यह कथा ऋषिकुमारों के प्रश्नों के उत्तर में जावालि ऋषि ने सुनायी थी और किस प्रकार शुक ने उनसे कथा सुनी, और इस प्रकार मूलत. प्रश्नोत्तर के रूप में ही यह कथा कही गयी है। 'लीलावती' में पूर्वकथा का घटाटोप उतना नहीं है। वहां सिर्फ कवि की पत्नी ने सायकालीन मधुर शोभा को देखकर अपने प्रियतम को सम्बोधन करके कहा कि कोई सरस कथा कहो। इसके लिए बहुत अधिक भूमिका की जरूरत नहीं समझी गयी। थोड़ी तो समझी ही गयी है; क्योंकि इतना भी न रहे तो कथा भी ग्राम्य कवि की कही हुई कहानी बन जाय। सो, कवि की पत्नी ने देखा कि अन्त.पुर की गृहदीर्घिका या भवनवापी में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से झलकती हुई कान्तिवाले गन्धोत्कट कुमुदों में रसलोभ से कम्पमान भ्रमर छककर मकरन्द पान कर रहे हैं :

> जोण्हाऊरिय-कोस-कन्तिधवले   सव्वगगंधुक्कडे
> णिव्विग्घं घर दीहियाए सुरसवेवंतओ मासल।
> कासाएइ गुमंजु गुञ्जियरवो तिंगिच्छि पाणासवं
> उम्मिल्लंत दलावली परियओ चंदुज्जए छप्पओ ॥ 24 ॥

और फिर इसी प्रकार की मनोहर रात्रि भी है। यह समय कथा के लिए निश्चय ही बहुत उपयुक्त है। इसके बाद कथा शुरू हो जाती है। बीच-बीच में कवि बिना प्रसंग के ही 'प्रियतमे' 'कुवलयदलाक्षि' आदि सम्बोधनों का उसी प्रकार प्रयोग कर बैठता है जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी अपने मानस में 'उमा', 'खगेश', 'उरगारि' आदि सम्बोधनों का प्रयोग कर देते हैं। वस्तुतः तुलसीदासजी ने जब एक बार अपनी रचना को 'कथा' कह दिया तो उन्होंने उन सब रूढ़ियों का विधिवत् पालन किया जो प्राकृत और अपभ्रंश-कथाओं के लिए आवश्यक समझी जाती थीं। खल-निन्दा में भी नहीं चूके। कथान्तररूप में पूर्व-कथा की योजना उन्होंने भी की है और श्रोता-वक्ताओं के कई जोड़े उपस्थित किये हैं। मैं ठीक नहीं कह सकता कि इस प्रकार कई जोड़े श्रोता-वक्ता की योजना किसी अपभ्रंश-काव्य में थी या नहीं। उपलब्ध अपभ्रंश-काव्यों में मुझे इस प्रकार का जटिल प्रश्नविधान नहीं मिला। जटिलता का एक कारण तो यह हो सकता है कि तुलसीदासजी की कथा सिर्फ कथा नहीं, 'पुराण' भी है। मेरे मित्र डॉ. श्रीकृष्णलाल ने दिखाया है कि तुलसीदासजी के रामचरितमानस को 'पुराण' कहना अधिक संगत है। पुराणों में जटिल प्रश्नोत्तर-विधान की योजना मिल जाती है; लेकिन 'पृथ्वीराजरासो' में सम्भवतः इस प्रकार की जटिलता का कुछ आभास पाया जा सकता है। हिन्दी के मध्यकाल में पायी जानेवाली कथाओं में इस प्रकार की श्रोता-वक्ता की योजनावाला विधान मिल जाता है। 'कीर्तिलता' की कहानी भृंग और भृंगी की

हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में रासक को गेयरूपक माना है।[1] ये गेयरूपक तीन प्रकार के होते थे—मसृण अर्थात् कोमल, उद्धत और मिश्र। रासक मिश्र-गेयरूपक है। टीका में इन गेयरूपकों के सम्बन्ध में बताया गया है कि इनमें से कुछ तो स्पष्ट रूप से कोमल हैं; जैसे 'डोम्बिका'। इस गेयरूपक के बारे में अधिक विचार करने का अवसर हमें आगे मिलेगा। कुछ दूसरे है जो स्पष्ट रूप से उद्धत गेयरूपक है, जैसे 'भाणक'। कुछ ऐसे हैं जिनमें मसृण की प्रधानता होती है, कुछ उद्धत भी मिल जाता है; कुछ में उद्धत कम मिला होता है, जैसे 'प्रस्थान'; कुछ में अधिक मिला होता है, जैसे 'शिङ्गटक'। परन्तु, ऐसे भी कई है जिनका प्रधान रूप तो उद्धत होता है, फिर भी थोडा-बहुत मसृण का प्रवेश हो जाता है। 'भाणिका' ऐसा ही है। फिर प्रेरण, रामाक्रीड, रासक, हल्लीसक आदि ऐसे ही रूपक है। सो, 'रासक' आरम्भ मे एक प्रकार के उद्धत-प्रयोग-प्रधान गेयरूपक को कहते थे, जिसमें थोड़ा-बहुत 'मसृण' या कोमल प्रयोग भी मिले होते थे। इसमें बहुत-सी नर्तकियाँ विचित्र ताल-लय के साथ योग देती थी। यह मसृणोद्धत ढग का गेयरूपक था। 'सन्देशरासक' इसी प्रकार का रूपक है। यह मसृण अधिक है। 'पृथ्वीराजरासो' यदि सचमुच ही पृथ्वीराज के काल में लिखा गया था तो उसमे रासक-काव्य के कुछ-न-कुछ लक्षण भी अवश्य रहे होंगे। 'सन्देशरासक' का जिस ढंग से आरम्भ हुआ है, उसी ढंग से रासो का भी आरम्भ हुआ है। आरम्भ की कई आर्याएँ तो बहुत अधिक मिलती है। उदाहरण लीजिए,

'सन्देशरासक'—

जइ वहुलदुद्ध समीलिया य उल्ललइ तंदुला खीरी।
ता कणकुक्कस सहिआ रब्बडिया मा दडब्वढउ ॥16॥

[यदि प्रचुर दूध मिलाकर (बड़े घरों मे) तन्दुल-खीर बनाया जाता है तो गरीब लोग क्या कण-भूसी मिलाकर मट्ठे की रबड़ी न डभकायें ?]

'पृथ्वीराजरासो'—

पय सक्करी सुभत्तो, एकत्तो कनय राय भोयसी।
कर कसी गुज्जरीय, रब्बरियं नैंव जीवंति॥ छं० 43, रू० 16॥

[यदि दूध, शक्कर और भात मिलाकर (बड़े घरों की) लडकियाँ राजभोग बनाती है तो (गरीब) गूजरी क्या कण-भुस्सीवाली रबड़ी (मट्ठे की) से न जीवन-निर्वाह करे ?]

'सन्देशरासक'—

जइ भरहभावछंदे णच्चइ णवरंगचंगिमा तरुणी।
ता किं गाम गहिल्ली ताली सद्दे ण णच्चेइ ॥15॥

[यदि भरत मुनि के बताये रस-भाव-छन्द के अनुसार नव-रंग-चंगिमा तरुणी

1. गेयं डोम्बिकाभाणप्रस्थानशिङ्गकभाणिकाप्रेरणरामाक्रीडहल्लीसकरासकगोष्ठीश्रीगदितराग-काव्यादि । 8-4

नहीं पता चलता कि शुक कवि चन्द है और शुकी कवि-पत्नी। मुझे तो यह भी सन्देह होने लगा है कि 'समयं इक निसि चंदं' वाली गाथा कुछ विकृत रूप में आयी है और इसी गाथा मे शुक और शुकी की चर्चा होनी चाहिए। जो हो, उसके आगे के दोहे में स्पष्ट है कि वार्त्तालाप कवि और उसकी पत्नी मे चल रहा है। इसलिए इस अनुमान को दूर तक घसीटना अच्छा नही जान पड़ता। अस्तु।

इसके बाद बारहवें समय में पहले एक छन्द मे तिथि-वार बता लेने के बाद शुकी इछिनी के विवाह के विषय में प्रश्न करती है :

जपि सुकी सुक पेम करि, आदि अन्त जो वत्त।
इंछिनि पिय्यह ब्याहविधि, सुप्प सुनते गत्त॥

वैसे तो रासो में पृथ्वीराज के नौ विवाहों का उल्लेख है, पर तीन विवाह ऐसे है जिन्हे कवि ने विशेष रस लेकर लिखा है। ये तीन विवाह है— इछिनी, शशिव्रता और संयोगिता नामक राजकुमारियों के साथ पृथ्वीराज के विवाह। तीनों मे ही शुकी ने शुक से प्रश्न किया है। शेष विवाहों मे ऐसी योजना नहीं मिलती। रासो के अन्तिम अंश से स्पष्ट है कि इछिनी और सयोगिता ही मुख्य रानियाँ हैं, और अन्त तक ईर्ष्या और प्रतिस्पर्द्धा का द्वन्द्व इन्ही मे चलता है। सो, प्रमुख विवाहों मे एक इछिनी का विवाह है और इस प्रसग में शुकी का मिलना काफी सकेतपूर्ण है। इंछिनी के विवाह का प्रसंग उत्थापित हुआ है कि तेरहवें समय मे अचानक शहाबुद्दीन गोरी के साथ लड़ाई हो जाती है। इस प्रकार हर मौके-बे-मौके शहाबुद्दीन प्रायः ही रासो मे आ धमकता है। यह सत्य है कि ऐतिहासिक कहानी के लेखक के लिए कथा का मोड़ अपने वश की बात नही होती किन्तु प्रसग का उत्थापन-अवस्थापन तो उसके वश की बात होती ही है। यहाँ कवि लाचार मालूम देता है। शहाबुद्दीन उसकी गैरजानकारी मे आ गया जान पड़ता है। मजेदार बात यह है कि तेरहवाँ समय—'कवि चद-विरचित प्रथिराज रास के सलप जुद्ध पातिशाह ग्रहन नाम त्रयोदश प्रस्ताव' है—शुक-शुकी के इस सवाद से अन्त होता है :

सुकी सरस सुक उच्चरिय प्रेम सहित आनंद।
चालुक्कासोज्झति सध्यौ सारुडे मे चद॥ (दूहा-सं. 159)

अर्थात् वस्तुतः चालुक्यराज भोरा भीमंग के हराने का प्रसग ही चल रहा था कि बीच मे शहाबुद्दीन का 'अपटीक्षेपेण' प्रवेश विशेष ध्यान देने योग्य व्यापार नहीं है, और सच पूछिए तो मैं यह बात आपसे छिपाना नही चाहता कि यह बात मेरे मन मे समाई हुई हुई है कि चन्द का मूल ग्रन्थ शुक-शुकी-सवाद के रूप मे लिखा गया था। और जितना अश इस सवाद के रूप में है, उतना ही वास्तविक है। विद्यापति की 'कीर्तिलता' के समान रासो मे भी प्रत्येक अध्याय के आरम्भ मे—और कदाचित् अन्त में भी—शुक और शुकी की बातचीत उसमे अवश्य रही होगी।

देखकर और बाद में समूचे ग्रन्थ में शुक और शुकी का प्रसंग पढ़कर उन्होंने अनुमान कर लिया हो कि शुक और शुकी कोई और नहीं, कवि चन्द और उनकी पत्नी हैं। बीच-बीच में शुक और शुकी के स्थान पर 'दुज और दुजी' (द्विज = पक्षी) का नाम आ जाता है, और उस पर से भी यह भ्रम हो जाता है कि यहाँ किसी ब्राह्मण और ब्राह्मणी का उल्लेख है या फिर उन्हें कोई और परम्परा हाथ लगी हो। पर मेरी धारणा यही है कि शुक-शुकी का ही रासोकार ने दुज-दुजी कहकर उल्लेख किया है। रासो में इन बातों के अन्तरंग प्रमाण उपस्थित हैं। शीघ्र ही हम इसकी चर्चा करने का अवसर पायेंगे।

पचीसवें समय के बाद बहुत दूर तक शुक और शुकी का पता नहीं चलता। सैंतीसवें समय में वे फिर द्विज और द्विजी के रूप में आते हैं :

दुज सम दुजी जु उच्चरिय, ससि निसि उज्ज्वल देख।
किम तूंअर पाहार पहु गहिय सु असुर नरेस॥

यदि मेरा यह अनुमान ठीक हो कि शुक-शुकी के संवाद के रूप में ही रासो लिखा गया था, तो कहा जा सकता है कि मूल रासो में शहाबुद्दीन के आने का यह प्रथम अवसर है।

दीर्घ व्यवधान के बाद पैंतालीसवें समय में फिर शुक-शुकी-संवाद बीच में उपस्थित हो जाता है। शुक-शुकी का प्रसंग आने के पहले यहाँ अप्रासंगिक रूप से रामायण की कथा आ गयी थी। चौवन छन्दों के बाद पचपनवाँ छन्द इस प्रकार है :

सुकी सुनै सुक उच्चरै। पुब्ब संजोय प्रताप।
जिहि छर अच्छर मुनी छय्यो। जिन त्रिय भयौ सराप॥ 55॥
—पैंतालीसवाँ समय

यहाँ से सयोगिता की कहानी शुरू होती है। कहानी का आरम्भ इस प्रकार होता है कि कोई मंजुघोषा, जिसे बाद में चलकर रम्भा कहा गया है, इन्द्र की आज्ञा से ऋषि को छलने गयी थी, और ऋषि के पिता द्वारा अभिशप्त होकर मर्त्यलोक में संयोजन के रूप में अवतीर्ण हुई थी। यहीं से सयोगिता के स्वयंवर, विवाह और हरण की कहानी दूर तक चली जाती है। बीच-बीच में लड़ाइयाँ भी टपक पड़ती हैं, परन्तु प्रेम-व्यापार ठीक ही चलता रहता है। प्रक्षिप्त अंश इस कथा में भी बहुत है। सुमन्त मुनि जब अप्सरा पर आकृष्ट होकर उस पर अपना सब जप-तप निछावर करने पर उतारू हो जाते हैं, तब अप्सरा तुलसीदासजी की पत्नी की भाँति कह उठती है कि 'मुझसे नहीं, भगवान् से प्रेम करो।' सगुण भक्ति की प्रशंसा भी करती है। सुनते ही लगता है, कि यह प्रसंग तुलसीदासजीवाली कहानी से प्रभावित होकर लिखा जा रहा है। पैंतालीसवें समय के एक सौ अड़तालीसवें दोहे में तो 'भै बिन प्रीति न होइ' आता है, जो लगभग इसी प्रकार के तुलसी के रामचरितमानस के कथन की याद दिलाये बिना नहीं रहता। यह प्रसंग सावधान करता है कि शुक-शुकी का नाम देखकर ही सब बातों को ज्यों-का-त्यों

चौदहवाँ समय इस प्रकार शुरू होता है :

कहै सुकी सुक संभलो। नीद न आवे मोहि।
रय निरखांनिय चंद करि। कय इक पूछों तोहि ॥
सुकी सरिस सुक उच्चर्यो। धर्यो नारि सिर चित्त।
सयन सयोगिय संमरै। मन मे मंडप हित्त।
धन लड्वौ चालुक सध्यो। वंध्यो सेत पुरसान।
इंछनि व्याहि इच्छ करि। कहो सुनहि दे कान ॥

और फिर, इछिनी-विवाह का कवि ने जमके वर्णन किया है। इससे कुछ अधिक जमके संयोगिता का विवाह-वर्णन किया है और इससे कुछ कम जमके शशिव्रता का। चौदहवें समय के बीच में फिर एक बार शुकी शुक से इछिनी के नख-शिख का वर्णन पूछती है। ऐसा लगता है कि यहां से कोई नया अध्याय शुरू होना चाहिए। पर हुआ नही है। प्रसंग तो इंछिनी-विवाह है ही। प्रश्न इस प्रकार है :

बहुरि सुकी सुक सौ कहै, अंग अंग दुति देह।
इंछनि इछ वखानि कै मोहि सुनावहु एह ॥

प्राय. नयी कथा शुरू करने या पुरानी कथा के समाप्त करने के समय शुकी द्वारा शुक के सँभलने और सो न जाने के लिए सावधान करने की बात आ जाती है। कभी-कभी किसी समय के बीच मे अचानक इस सँभलने की हिदायत मिल जाती है और पाठक को यह अनुमान करने का अवसर मिलता है कि मूल रासो मे उस स्थल पर से कथा का कोई नया अध्याय शुरू हुआ होगा। कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि इसके पहलेवाला अश प्रक्षिप्त है। उदाहरणार्थ, पचीसवें समय में राजा के शिकार आदि के ऐसे प्रसग हैं जो सुकविजनोचित कम हैं और भट्टभणन्त अधिक। पृथ्वीराज शूकर का पता बतानेवाले एक वधिक के साथ अकेले ही चल पड़ते हैं, सरदार लोग भी अनुगमन करते हैं, अचानक शुकी शुक से पूछ बैठती है कि पृथ्वीराज के गन्धर्व-विवाह की कहानी सुनाओ :

पुच्छ कथा सुक कहो। समह गंध्रवी सुप्रेमहि ॥
स्रवन संमि सजोगि। राज समधरी सुनेमहि ॥
······ ··········। इम चिंतिय मन ममिझ ॥
कै करो पति जुग्गनि ईसह ईस। पुज्जैं सुजग्गीसह ॥
शुक चिंति वाल अति लघु सुनत। ततविन विस उपजैं तिहि ॥
देव सभा न जद्दुव नृपति। नालकेर दुज अनुसरहि ॥

— पचीसवाँ समय

और फिर एकाएक शशिव्रता के गन्धर्व-विवाह की कहानी शुरू हो जाती है, और शुरू भी ऐसी होती है कि समां बँध जाता है। कम प्रसगों मे रासोकार का कवित्व इतना मुखर हुआ होगा। निश्चय ही यह चन्द-जैसे कवि के योग्य रचना है।

मुझे ठीक नही मालूम कि किस आधार पर 'रासोसार' के लेखक ने शुकी का अर्थ कविपत्नी कर लिया है। शायद शुरू में कवि और कविपत्नी का सवाद

देखकर और बाद में समूचे ग्रन्थ मे शुक और शुकी का प्रसग पढकर उन्होंने अनुमान कर लिया हो कि शुक और शुकी कोई और नही, कवि चन्द और उनकी पत्नी है। बीच-बीच में शुक और शुकी के स्थान पर 'दुज और दुजी' (द्विज=पक्षी) का नाम आ जाता है, और उस पर से भी यह भ्रम हो जाता है कि यहाँ किसी ब्राह्मण और ब्राह्मणी का उल्लेख है या फिर उन्हें कोई और परम्परा हाथ लगी हो। पर मेरी धारणा यही है कि शुक-शुकी का ही रासोकार ने दुज-दुजी कहकर उल्लेख किया है। रासो मे इन बातो के अन्तरग प्रमाण उपस्थित है। शीघ्र ही हम इसकी चर्चा करने का अवसर पायेंगे।

पचीसवें समय के बाद बहुत दूर तक शुक और शुकी का पता नही चलता। सैंतीसवें समय मे वे फिर द्विज और द्विजी के रूप मे आते है·

दुज सम दुजी जु उच्चरिय, ससि निसि उज्ज्वल देख।
किम तूंअर पाहार पहु गहिय सु असुर नरेस॥

यदि मेरा यह अनुमान ठीक हो कि शुक-शुकी के सवाद के रूप मे ही रासो लिखा गया था, तो कहा जा सकता है कि मूल रासो मे शहाबुद्दीन के आने का यह प्रथम अवसर है।

दीर्घ व्यवधान के बाद पंतालीसवें समय मे फिर शुक-शुकी-सवाद बीच मे उपस्थित हो जाता है। शुक-शुकी का प्रसंग आने के पहले यहाँ अप्रासगिक रूप से रामायण की कथा आ गयी थी। चौवन छन्दों के बाद पचपनवाँ छन्द इस प्रकार है·

सुकी सुनै सुक उच्चरै। पुव्व सजोय प्रताप।
जिहि छर अच्छर मुनी छय्यो। जिन त्रिय भयौ सराप॥ 55॥
—पंतालीसवाँ समय

यहाँ से सयोगिता की कहानी शुरू होती है। कहानी का आरम्भ इस प्रकार होता है कि कोई मजुघोषा, जिसे बाद मे चलकर रम्भा कहा गया है, इन्द्र की आज्ञा से ऋषि को छलने गयी थी, और ऋषि के पिता द्वारा अभिशप्त होकर मर्त्यलोक मे सप्रोजन के रूप मे अवतीर्ण हुई थी। यही से सयोगिता के स्वयवर, विवाह और हरण की कहानी दूर तक चली जाती है। बीच-बीच मे लड़ाइयाँ भी टपक पड़ती हैं, परन्तु प्रेम-व्यापार ठीक ही चलता रहता है। प्रक्षिप्त अश इस कथा में भी बहुत है। सुमन्त मुनि जब अप्सरा पर आकृष्ट होकर उस पर अपना सब जप-तप निछावर करने पर उतारू हो जाते है, तब अप्सरा तुलसीदासजी की पत्नी की भाँति कह उठती है कि 'मुझसे नहीं, भगवान् से प्रेम करो।' सगुण भक्ति की प्रशसा भी करती है। सुनते ही लगता है, कि यह प्रसग तुलसीदासजीवाली कहानी से प्रभावित होकर लिखा जा रहा है। पंतालीसवें समय के एक सौ अड़तालीसवें दोहे मे तो 'भै बिन प्रीति न होइ' आता है, जो लगभग इसी प्रकार के तुलसी के रामचरितमानस के कथन की याद दिलाये बिना नही रहता। यह प्रसंग सावधान करता है कि शुक-शुकी का नाम देखकर ही सब बातो को ज्यों-का-त्यों

पुराना नही मान लिया जा सकता। फिर भी संयोगिता की कहानी निःसन्देह प्राचीन है।

छियालीसवें समय मे विनयमगल है। इस विनयमगल के बीच शुक-शुकी फिर आ जाते है :

निकट सुकी सुक उच्चरय। कर अवलम्बित डार॥
मवरिय अंब सु अब लगि। सुनत सु मारनि मार॥ 74॥
विनय साल सुक सुकनि दिपि। सर सभरिय अपार॥
मानो मदन सुमत्त की। विधि संजोगि सु सार॥ 75॥

—*छियालीसवाँ समय*

विनयमगल में सयोगिता को वधू-धर्म की शिक्षा दी गयी है, और विनय की मर्यादा बतायी गयी है। इस समय मे 'इति विनयकाण्ड ममाप्त' लिखने के बाद दुज-दुजी का संवाद और स्थलों की अपेक्षा ज़रा विस्तार के साथ आया है। दुज-दुजी को सँभलने के लिए कहता है, और यहाँ से वे कहानी के श्रोता और वक्ता नही रह जाते, बल्कि 'पद्मावत' के शुक की भाँति स्वयं कहानी के पात्र बन जाते हैं और संयोगिता और पृथ्वीराज के प्रेम-घटक के रूप में उपस्थित हो जाते है। पहले तो 'शुक नर भेप धरि साकार' पृथ्वीराज के पास जाता है। उधर दुजी भी उड़कर सयोगिता के पास जाती है। स्पष्ट ही यहाँ, दुज और दुजी पक्षी है, ब्राह्मण और ब्राह्मणी नही। 'द्विज चले उड्डि कनवज्ज दिसी' आदि पक्तियों मे इसकी स्पष्ट ध्वनि है। यह सैंतालीसवें समय की कथा है।

सम्भवतः यह कहने की आवश्यकता नही है कि इस प्रकार की कथा रुद्रट और हेमचन्द्र के बताये लक्षणों से बहुत दूर नही पड़ेगी। साहित्यिक दृष्टि से भी यह अश बहुत उपादेय हुआ। शुक-शुकी के संवादरूप मे कथा कहने की योजना तत्काल-प्रचलित नियमों के अनुकूल तो थी ही, इसलिए भी आवश्यक थी कि उसमें चन्द कवि स्वय एक पात्र है। किसी दूसरे के मुख से ही अपने बारे मे कुछ कहलवाना कवि को उचित लगा होगा। इस प्रकार सब दृष्टियों से ऊपर बताये हुए प्रसंग रासो के मूलरूप होंगे। अब सक्षेप मे उनकी साहित्यिक दृष्टि से परीक्षा कर लेनी चाहिए; क्योंकि कथा की परीक्षा इतिहास की दृष्टि से नहीं, काव्य की दृष्टि से होनी चाहिए। पुरानी कथाएँ काव्य ही अधिक हैं, इतिहास वे एकदम नही है। ऐतिहासिक काव्यों के बारे में हम अगले व्याख्यान में कुछ विस्तार से कहने का अवसर पायेंगे। यहाँ सस्कृत की कथाजातीय पुस्तकों को एक क्षण के लिए देख लेना आवश्यक जान पडता है।

आलकारिक ग्रन्थों के कथा-आख्यायिका के लक्षण बाह्यरूप की ओर ही इगित करते है। उनका कथा के वक्तव्य वस्तु से कोई सीधा सम्बन्ध नही है। परवर्ती गद्य-काव्यों में नाना भाँति के अलकारों से अलकृत करके सुललित गद्य लिखना ही लेखक का प्रधान उद्देश्य हो गया था। इन काव्यो मे कवि को कहानी कहने की जल्दी नही जान पड़ती। वह रूपक, दीपक और श्लेष आदि की योजना

को ही अपना प्रधान कर्तव्य मान लेता है। सुबन्धु ने तो यह प्रतिज्ञा ही कर ली थी कि अपने ग्रन्थ में आदि से अन्त तक श्लेष का निर्वाह करेंगे। इन कथाकारों के मुकुटमणि बाणभट्ट ने कथा की प्रशसा करते हुए मानो अपनी ही रचना के लिए कहा था कि सुस्पष्ट मधुरालाप और भावों से नितान्त मनोहरा तथा अनुरागवश स्वयमेव शय्या पर उपस्थित अभिनवा वधू की तरह सुगम, कला-विद्या-सम्बन्धी वाक्य-विन्यास के कारण सुश्राव्य और रस के अनुकरण के कारण बिना प्रयास समझ में आनेवाले शब्दगुम्फवाली कथा किसके हृदय में कौतुकयुक्त प्रेम उत्पन्न नहीं करती? सहजबोध्य दीपक और उपमा अलकार से सम्पन्न अपूर्व पदार्थ के समावेश से विरचित अनवरत श्लेषालंकार से किंचित दुर्बोध्य कथाकाव्य उज्ज्वल प्रदीप के समान उपादेय चम्पक की कली से गुँथे हुए और बीच-बीच में चमेली के पुष्प से अलंकृत घनसन्निविष्ट मोहनमाला की भाँति किसे आकृष्ट नहीं करता?

स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव।।
हरन्ति कं नोज्ज्वलदीपकोपमैर्नवैः पदार्थैरुपपादिता कथा।
निरन्तरश्लेषघना सुजातयो महास्रजश्चपककुड्मलेरिव ।।

—'कादम्बरी'

अर्थात् संस्कृत के आलकारिक जिस रस को काव्य की आत्मा मानते हैं, जो अगी है, वही कथा और आख्यायिका का भी प्राण है। कथा-काव्य में कहानी या आख्यान गौण हैं, अलकार-योजना गौण है, पदसघट्टना भी गौण है, मुख्य है केवल 'रस'। यह रस अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, शब्द से वह अप्रकाश्य है। उसे केवल व्यंग्यित या ध्वनित किया जा सकता है। इस बात में काव्य और कथा-आख्यायिका समान है। विशेषता यह है कि कथा-आख्यायिका में रस के अनुकूल कहानी, अलंकार-योजना और पदसघट्टना सभी महत्त्वपूर्ण है, किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक पद्य के बन्धन से मुक्त होने के कारण ही गद्य-कवि की जिम्मेवारी बढ जाती है। वह अलकारों की और पदसघट्टना की उपेक्षा नहीं कर सकता। कहानी तो उसका प्रधान वक्तव्य ही है। कहानी के रस को अनुकूल रखकर इन शर्तों का पालन सचमुच ही कठिन है, और इसीलिए संस्कृत के आलोचक ने गद्य को कवित्व की कसौटी कहा है—'गद्य कवीनां निकष वदन्ति'। किन्तु, अपभ्रंश और प्राकृत की कथाओं में पद्य का बन्धन भी लगा हुआ है। अपभ्रंश में भी अलंकार कथा का बहुत महत्त्वपूर्ण उपादान समझा जाता रहा है। 'णायकुमार-चरिउ' में एक संकेतपूर्ण वाक्य आया है। सौत के कुचक्र से राजा ने नागकुमार की माता के सब अलकार उतरवा लिये थे। जब नागकुमार लौटा, तब उसने अपनी माता को ऐसा निरलकार देखा, मानो कुकवि की लिखी कथा हो। इससे जान पड़ता है कि अलंकार का अभाव कथा को फीका कर देता है।

कथा-साहित्य में असज्जन पुरुषों की चर्चा थोड़ी-बहुत अवश्य आ जाती है। लक्षण-ग्रन्थों में इसे आवश्यक भी मान लिया गया है। सम्भवतः उन दिनों के

चुगुलखोरों को जवाब देने का यही उपाय रहा हो। तुलसीदासजी ने भी जब इस प्रकार के प्रसंग को भुलाया नहीं है तो दरबारी निन्दकों से सावधानी कुछ अधिक गम्भीर बात होनी चाहिए। वस्तुतः जैसा कि बाणभट्ट कह गये हैं, अकारण ही वैर का आविष्कार करनेवाले असज्जनों से सभी डरा करते हैं। कौन ऐसा है जो उनसे न डरता हो? उनका परुष वचन कालसर्प के दुःसह विष की भाँति सदा उनके मुँह में सहज भाव से ही विद्यमान रहता है। शायद बाणभट्ट की बात किसी युग-विशेष तक ही सीमित नहीं है, वह आज भी सत्य है और सौ दो सौ वर्ष बाद भी सत्य रहेगी। शायद सहृदय जनों के लिए भी चुपके से एकाध वाक्य कहकर मनोव्यथा हल्की कर लेने के सिवा अन्य उपाय न था, न है, न रहेगा। बाणभट्ट के शब्द इस प्रकार हैं :

अकारणाविष्कृतवैरदारुणा-
दसज्जनात्कस्य भयं न विद्यते।
विषं महाहेरिव यस्य दुर्वचो
सुदुःसहं सन्निहितं सदा मुखे॥

सो, कथा में अलंकार और रस की योजना के साथ खल-निन्दा को भी आवश्यक माना जाने लगा था।

'पृथ्वीराजरासो' ऐसी ही रसमय सालंकार युद्धबद्ध-कथा था, जिसका मुख्य विषय नायक की प्रेमलीला, कन्याहरण और शत्रुपराजय था। इन्हीं बातों का मूल रासो में विस्तार रहा होगा। ऊपर जिन अंशों को रासो का पुराना रूप कहा गया है, उनमें इन्हीं बातों का विस्तार है। यह कहना तो कठिन है कि इससे अधिक उसमें कुछ था ही नहीं, पर जहाँ तक अनुमानशक्ति के उपयोग का अवसर है, वहाँ तक लगता है कि रासो ऐसी ही कथा थी। ऐसी कथाएँ उन दिनों और भी बहुत-सी लिखी गयी थीं। कुछ का आभास संस्कृत-प्राकृत के विजय, विलास, रासक आदि की श्रेणी के काव्यों से लगता है और कुछ का उस समय की लिखी हुई नाटिकाओं, सट्टकों, प्रकरणों, शिलालेख-प्रशस्तियों आदि से मिलता है। संस्कृत में इतिहास का कुछ पता बता देनेवाले काव्य तो मिलते हैं; पर उन्हें 'ऐतिहासिक' काव्य नहीं कहा जा सकता। सब जगह इतिहास-प्रथित तथ्यों पर कल्पना द्वारा उद्भावित घटनाएँ प्रधान हो उठती हैं। आगेवाले व्याख्यान में मैं थोड़ा-सा इन ऐतिहासिक कहे जानेवाले काव्यों पर विचार करूँगा और फिर रासो के इस नवोद्घाटित मूलरूप के काव्य-सौन्दर्य पर विचार करूँगा।

मुझे खेद है कि रासो का प्रसंग कुछ अधिक बढ़ाने को बाध्य हो रहा हूँ, पर सब दृष्टियों से यह इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है कि थोड़ा और विचार कर लेना बहुत अनुचित नहीं होगा।

चतुर्थ व्याख्यान

हमारे आलोच्यकाल मे ऐतिहासिक पुरुषों के नाम से सम्बद्ध कई काव्य, नाटक और चम्पू आदि मिले है। 'पृथ्वीराजरासो' के बारे में हम कह आये है कि ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम से जुड़े रहने के कारण शुरू-शुरू में अनुमान किया गया था कि इससे इतिहास का काम निकलेगा। पर यह आशा फलवती नही हुई। कम ही ऐतिहासिक पुरुषों के नाम से सम्बद्ध पुस्तकें इतिहास-निर्माण मे सहायता कर सकी है। कुछ से ऐतिहासिक तथ्यो, नामो और वंशावलियों का कुछ सन्धान मिल जाता है। कुछ से इतना भी नही मिलता।

बहुत पहले से तो नही, पर पृथ्वीराज के आविर्भाव के काफी पहले से ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से सम्बद्ध काव्य-पुस्तकें लिखी जाने लगी थी। शिलालेखों और ताम्रपट्ट की प्रशस्तियों मे तो ऐसी बात बहुत पुराने जमाने से मिलती है, पर पुस्तकरूप मे समसामयिक राजाओ के नाम से सम्बद्ध रचना सातवी शताब्दी से पहले की नही मिली। बाद की शताब्दियो में यह बात बहुत लोकप्रिय हो जाती है और नवी-दसवी शताब्दी मे तो संस्कृत-प्राकृत मे ऐसी रचनाएँ काफी बडी संख्या मे मिलने लगती है। ऐसा जान पडता है कि भारतीय साहित्य मे यह प्रवृत्ति नयी है। सातवी शताब्दी के बाद भारतीय जीवन और साहित्य मे अनेक नये उपादान आये हैं। ऐतिहासिक काव्य भी उनमे एक है। सम्भवत, तत्काल-प्रचलित देश्यभाषा या अपभ्रंश मे ऐसी रचनाएँ अधिक हुई थी। इस काल के संस्कृत-साहित्य मे राजस्तुति का बहुत प्रमुख स्थान है। अपभ्रंश की रचनाओं मे ऐसी राजस्तुति-परक रचनाओं का होना स्वाभाविक ही था। कई नवागत जातियो ने, जिनमे आभीर, गूजर और अनेक राजपूत समझी जानेवाली जातियाँ भी है, राज्य अधिकार किया था। वे जिन प्रदेशों से आये थे वहाँ की अनेक रीति-नीति भी साथ ले आये थे। फिर वे संस्कृत उतनी अच्छी तरह समझ नही पाते थे, यद्यपि अपने क्षत्रियत्व का दावा उच्चस्वर से घोषित करने के लिए वे पण्डितो का सम्मान भी करते थे और साधारण जनता से अपने को श्रेष्ठ बताने के जितने प्रयत्न सम्भव थे, सभी करते थे। इन उपायो मे देशी भाषा की उपेक्षा भी एक था। फिर भी सचाई यह है कि वे अपभ्रंश मे लिखी स्तुतियाँ ही समझ सकते थे। इसलिए, अपभ्रंश मे तेजी से राजस्तुतिपरक साहित्य की परम्परा स्थापित होने लगी। संस्कृत में भी यह बात थी, पर संस्कृत में और भी सौ बातें थीं।

'हर्षचरित' समसामयिक राजा के नाम के साथ सम्बद्ध प्रथम काव्य है। यद्यपि वह कवि के आश्रयदाता का जीवनचरित है, पर इसमें इतिहास की अपेक्षा काव्य ही प्रधान हो उठा है। हर्ष के जीवन का पूरा चित्र तो इसमें मिलता ही नहीं, उसके राजनीतिक कार्यों और योजनाओं का भी कोई स्पष्ट परिचय नहीं मिलता। यह भी पता लगाना कठिन ही है कि सम्राट् के सम्पर्क में आनेवाले लोगों की क्या

स्थिति थी। और तो और, गौड और मालवराज-जैसे महत्त्वपूर्ण पात्र भी अस्पष्ट रह गये हैं; अन्य साधारण व्यक्तियों की तो बात ही क्या है। सब मिलाकर 'हर्षचरित' में ऐतिहासिक तथ्य नाममात्र को ही है। प्रधानतः वह गद्यकाव्य है; उसकी शैली वही है, अन्तरात्मा वही है, और स्थापन-पद्धति भी वही है। इतिहास-लेखक उससे लाभान्वित हो सकता है; क्योंकि हर्ष के सभामण्डल का, ठाट-बाट का, रहन-सहन का उसे परिचय मिल जाता है, पर उसे सावधान रहना पड़ता है। कौन जाने, कवि कल्पना के प्रवाह में—उपमा, रूपक, दीपक या श्लेष की उमंग में तथ्य को कितना बढा रहा है, कितना आच्छादित कर रहा है, कितना दूसरे रंग में रँग रहा है। इस कवि के लिए कल्पना की दुनिया वास्तविक दुनिया से अधिक सत्य है। और वास्तविक जगत् की कोई घटना सिर्फ उसकी कल्पनावृत्ति को उकसाने का सहारा-भर है। इस प्रकार इतिहास उसकी दृष्टि में गौण है। वह केवल कल्पनावृत्ति को उकसाने के लिए और मनोहरतर जगत् के निर्माण के लिए सहायक मात्र है। विवाह के समय स्त्रियाँ नाचती-गाती थीं, यह ऐतिहासिक तथ्य है। कवि के लिए इतना संकेत काफी है। फिर वह कल्पना का जाल बिछा देगा। स्थान-स्थान पर पण्य-विलासिनियों के नृत्य-आयोजन को वह इस रूप में चित्रित करेगा जिससे पाठक का चित्त मदविह्वल हो जाय। मन्द-मन्द भाव से आस्फाल्यमान आलिंग्यक नामक वाद्य मुखर हो उठेंगे, मधुर शिंजनकारी मंजुल वेणुनिनाद से दिङ्मण्डल झनझना उठेगा, झनझनाती हुई झल्लरी के साथ कलकांस्य और कोशी के क्वणन अपूर्व ध्वनिजाल उत्पन्न करेंगे, उत्ताल ताल से दिङ्मण्डल चटपटा उठेगा, निरन्तर ताड्यमान तन्त्री-पटह की गुंजार से और मृदु-मधुर झंकार के साथ झकृत अलाबु वीणा की मनोहर ध्वनि से नृत्य वाचाल हो उठेगा और आप इस अपूर्व मायालोक में देखेंगे कि सुन्दरियों के कानों में ऋतुसुलभ पुष्प नृत्य के आघूर्णनवेग से दोलायित हो रहे हैं और कुंकुम-गौर कान्ति नृत्यचारियों के वेग के साथ सौन्दर्यचक्रवाल की सृष्टि कर रही है और बाणभट्ट के मुख से आप उस सोभा और श्री की अपूर्व सम्पत्ति को सुनकर चकित रह जायेंगे। आपको मालूम होगा कि वे किशोरियाँ नृत्य के नाना करणों में जब भुजलताओं को आकाश में उत्क्षिप्त करती थीं तो ऐसा लगता था कि उनके कंकण सूर्य-मण्डल को बन्दी बना लेंगे, उनकी कनकमेखला से उलझी हुई कुरण्टकमाला उनके मध्य-देश को घेरकर ऐसी शोभित हो रही थी मानो कामाग्नि ही प्रदीप्त होकर उनको वलयित किये है, उनके प्रदीप्त मुखमण्डल से सिन्दूर और अबीर की छटा विच्छुरित हो जाती थी और उस लाल-लाल कान्ति से अरुणायित कुण्डलपत्र इस प्रकार सुशोभित हुआ करते थे मानो चन्दनद्रुम की सुकुमार लताओं के विलुलित किसलय हों। उनके नीले वासन्ती चित्रक और कौसुम्भ वस्त्रों के उत्तरीय जब नृत्यवेग से आघूर्णित हो उठते थे, तो मालूम पड़ता था कि विक्षुब्ध शृंगार-सागर की चटुल वीचियाँ तरंगित हो उठी हैं। वे मद को भी मदमत्त बना देती थीं, आनन्द को भी आनन्दित कर देती थीं, नृत्य को भी नचा देती थीं और उत्सव को भी उत्सुक बना देती थीं। 'हर्षचरित' के चतुर्थ उच्छ्वास में

एक ऐसा ही मनोरम वर्णन है। मैं उसका अनुवाद नहीं दे रहा हूँ, केवल उसके वक्तव्य वस्तु और स्थापनपद्धति की ओर इशारा करने के लिए थोड़ी-सी बानगी दे रहा हूँ। इन प्रकार का कोई अवसर मिला नहीं कि कवि की कल्पना उत्तेजित हुई नहीं। फिर कहाँ गया इतिहास और कहाँ गयी तथ्यों की वह दुनिया, जो बार-बार ठोकर मारकर कवि-कल्पना की स्वच्छन्द उड़ान में बाधा पहुँचाती रहती है! कोई आश्चर्य नहीं कि बाण के समान कल्पकवि ने जिस काव्यरूप को छू दिया, वह वहीं अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर समाप्त हो गया। किसकी हिम्मत है कि फिर से उस काव्यरूप को छूकर उसी गरिमा तक पहुँचा सके! यदि आगे चलकर किसी ने हिम्मत की भी तो वह रसिकों का हृदय नहीं जीत सका। बाणभट्ट ने कथा और आख्यायिका की गद्यवाली शैली को अपने चरम उत्कर्ष तक पहुँचाकर छोड़ दिया। कोशिश करनेवालों ने कोशिश की अवश्य, पर 'न हुआ पर न हुआ मीर का इक-चाल नसीब। जोक यारों ने बड़ा जोर गजल में मारा।'

फिर तो गद्य को छोड़ ही दिया गया। लिया भी गया तो पद्यबहुल करके। आगे चलकर चम्पुओं की शैली अधिक लोकप्रिय हो गयी। पद्यों में संस्कृत भाषा मँज गयी थी, उसका सहारा लेकर कुछ कहना सम्भव था, पर गद्य को तो बाणभट्ट ने जिस ऊँचाई पर उठा दिया उस तक पहुँचना असम्भव हो गया।

प्रकृत प्रसंग ऐतिहासिक काव्यों का है। ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर काव्य लिखने की प्रथा बाद में खूब चली। इन्हीं दिनों ईरान के साहित्य में भी इस प्रथा का प्रवेश हुआ। उत्तर-पश्चिम सीमान्त से बहुत-सी जातियों का प्रवेश होता रहा। वे राज्य-स्थापन करने में भी समर्थ हुईं। पता नहीं कि उन जातियों की स्वदेशी प्रथा की क्या-क्या बातें इस देश में चलीं। साहित्य में नये-नये काव्यरूपों का प्रवेश इस काल में हुआ अवश्य। सम्भवतः, ऐतिहासिक पुरुषों के नाम पर काव्य लिखने या लिखाने की चलन भी उनके संसर्ग का फल हो। परन्तु भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम-भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही जिसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण संग्रह की ओर कम, कल्पनाविलास का अधिक मान था, तथ्यनिरूपण का कम; संभावनाओं की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओं की ओर कम; उल्लसित आनन्द की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार इतिहास को कल्पना के हाथों परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिये गये हैं। राजा का विवाह, शत्रुविजय, जलक्रीड़ा, शैल-वन-विहार, दोला-विलास, नृत्य-गान-प्रीति—ये सब बातें ही प्रमुख हो उठी हैं। क्रमशः इतिहास का अंश कम होता गया और सम्भावनाओं का जोर बढ़ता गया। राजा के शत्रु होते हैं, युद्ध होता है। इतिहास की दृष्टि में एक युद्ध हुआ, और भी तो हो सकते थे। कवि सम्भावना को देखेगा। राजा के एकाधिक विवाह होते थे, यह तथ्य अनेकों विवाहों की सम्भावना उत्पन्न करता है, जलक्रीड़ा और वन-विहार की सम्भावना की ओर संकेत करता है कवि को अपनी कल्पना के पंख खोल देने का अवसर देता है। उत्तरकाल के ऐति

इतिहास के शोध की सामग्री संग्रह कर सकते है, पर इतिहास को नहीं पा सकते। वह इतिहास, जो जीवन्त मनुष्य के विकास की जीवनकथा होता है, जो काल-प्रवाह से नित्य उद्घाटित होते रहनेवाले नव-नव घटनाओं और परिस्थितियो के भीतर से मनुष्य की विजय-यात्रा का चित्र उपस्थित करता है, और जो काल के परदे पर प्रतिफलित होनेवाले नये-नये दृश्यो को हमारे सामने सहज भाव से उद्घाटित करता रहता है। भारतीय कवि इतिहास-प्रसिद्ध पात्र को भी निजन्धरी कथानको की ऊँचाई तक ले जाना चाहता है। इस कार्य के लिए वह कुछ ऐसी कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग करता है जो कथानक को अभिलषित ढंग से मोड देने के लिए दीर्घकाल से भारतवर्ष की निजन्धरी कथाओं में स्वीकृत होते आये है, और कुछ ऐसे विश्वासो का आश्रय लेता है जो इस देश के पुराणो मे और लोक-कथाओं मे दीर्घकाल से चले आ रहे है। इन कथानक-रूढियों से काव्य मे सरसता आती है और घटना-प्रवाह में लोच आ जाती है। मध्यकाल मे ये कथानक-रूढियाँ वहुत लोकप्रिय हो गयी थी और हमारे आलोच्य काल में भी इनका प्रभाव वहुत व्यापक रहा है।

संस्कृत में ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से सम्बद्ध काव्यों को 'चरित', 'विलास', 'विजय' आदि नाम दिये गये है। सबसे पुराना काव्य तो, जैसा कि पहले ही बताया गया है, 'हर्षचरित' नामक आख्यायिका ही है, इसके बाद पद्मगुप्त का 'नवसाहसाङ्कचरित' (1000 ई. के आसपास) और विल्हण का 'विक्रमाङ्कदेवचरित' नाम के ऐतिहासिक काव्य मिलते है। ये दोनो काव्य हमारे आलोच्य काल के आरम्भ के है और ऐतिहासिक काव्यो की तत्कालीन परिस्थिति को बताते हैं। 'विक्रमाङ्कदेवचरित' राजकीय विवाहो और युद्धों का काव्य है। राजाओं के गुणानुवाद के लिए उन दिनो ये ही दो विषय उपयुक्त समझे जाने लगे थे। दोनों मे ही कल्पना का प्रचुर अवकाश रहता था और सम्भावनाओ की पूरी गुंजायश रहती थी। वस्तुत. इन स्तुतिमूलक कल्पनाप्रवण काव्यो में इतिहास का केवल सुदूर-स्पर्श मात्र ही है। इतिहास की दृष्टि से कुछ अधिक उपादेय पुस्तक कल्हण की 'राजतरंगिणी' है, लेकिन उसमे भी पौराणिक विश्वासों और निजन्धरी कथाओं की कल्पना का गड्ड-मड्ड थोड़ा-बहुत मिल ही जाता है। तन्त्र-मन्त्र, शकुन-अपशकुन के विश्वासों का सहारा भी लिया गया है और प्राचीन गौरव की अनुभूति के कारण घटनाओ मे असन्तुलित गुरुत्वारोप हो ही गया है। मानव-हृदय को अतिप्राकृत घटनाओं द्वारा नियन्त्रित समझने के विश्वास ने इस अपूर्व इतिहास-ग्रन्थ को थोड़ा-सा इतिहास के आसन से दूर खड़ा अवश्य कर दिया है, पर सब मिलाकर 'राजतरंगिणी' ऐतिहासिक काव्य है। सन्ध्याकरनन्दी का 'रामचरित' एक ही साथ अयोध्याधिपति श्री रामचन्द्र का भी अर्थ देता है और बंगाल के रामपाल पर भी घटित होता है। इस प्रकार के कठिन व्रत को निर्वाह करनेवाले श्लिष्ट काव्य से इतिहास को जितनी आशा की जा सकती है, उतनी इसमें भी की जा सकती है। यहाँ कवि को रामपाल के जीवन की वास्तविक घटनाओं से कम

और श्लेप-निर्वाह से अधिक मतलब है। 'सोमपाल-विलास' जल्हण का लिखा ऐतिहासिक काव्य है। 'जयानक' का लिखा कहा जानेवाला 'पृथ्वीराजविजय' हिन्दीभाषियों के निकट परिचित ही है। इसी पुस्तक की हस्तलिपि के प्राप्त होने से 'पृथ्वीराजरासो' का ऐतिहासिक माहात्म्य धूमिल पड़ गया था। और बंगाल की एसियाटिक सोसायटी से प्रकाशित होना बीच ही में बन्द हो गया था। इस पुस्तक के बारे में हम आगे विशेष भाव से चर्चा करेंगे। एक और ऐतिहासिक पुस्तक अनन्तपुत्र रुद्र-लिखित 'राष्ट्रौढ़ वंश' बतायी जाती है। इन सब पुस्तकों के बारे में एक ही बात सत्य है। इतिहास इनमें कल्पना के आगे म्लान हो गया है और ऐतिहासिक, पौराणिक और निजन्धरी घटनाओं के विचित्र और असन्तुलित मिश्रण से इनका ऐतिहासिक रूप एकदम गौण हो गया है। जैन कवि हेमचन्द्राचार्य का लिखा 'कुमारपालचरित' द्व्याश्रय काव्य है जिसके प्रथम 20 सर्ग संस्कृत में हैं और परवर्ती 8 अध्याय प्राकृत में। इस काव्य में कुमारपाल के पूर्वपुरुषों का वृत्तान्त भी है। अनहिलवाड़े के इन चौलुक्यों के बारे में जो कुछ लिखा गया है, वह इतिहास-सम्मत माना जाता है। परन्तु, हेमचन्द्राचार्य की मुख्य दृष्टि व्याकरण के प्रयोगों को समझाना है। बाद के आठ सर्ग प्राकृत में कुमारपाल के वर्णन में है। गुजरात के चौलुक्यों के इतिहास की दृष्टि से पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार सोमेश्वर की 'कीर्तिकौमुदी' और 'सुरथोत्सव', बालचन्द्र सूरि का 'वसन्त-विलास' और जयचन्द्र सूरि का 'हम्मीरकाव्य' ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। अन्तिम पुस्तक में ऋतु-वर्णन और विहार-वर्णन बहुत सुन्दर हैं।

इन ऐतिहासिक काव्यों में 'कीर्तिलता' का स्थान कुछ विशिष्ट है। यद्यपि यह पुस्तक भी आश्रयदाता समसामयिक राजा की कीर्ति गाने के उद्देश्य से ही लिखी गयी है और कविजनोचित अलंकृत भाषा में रची गयी है, तथापि इसमें ऐतिहासिक तथ्य कल्पित घटनाओं या सम्भावनाओं के द्वारा धूमिल नहीं हो गया है। कीर्तिसिंह का चरित्र बहुत ही स्पष्ट और उज्ज्वल रूप में चित्रित हुआ है। कवि की लेखनी चित्रकार की उस तूलिका के समान नहीं है जो छाया और आलोक के सामंजस्य से चित्रों को ग्राह्य बनाती है; बल्कि उस शिल्पी की टाँकी के समान है जो मूर्तियों को भित्तिगात्र में उभार देता है और हम उत्कीर्ण मूर्ति की ऊँचाई-नीचाई का पूरा-पूरा अनुभव करते हैं। उस काल के मुसलमानों का, हिन्दुओं का, सामन्तों का, शहरों का, लड़ाइयों का, सेना के सिपाहियों का इतना जीवन्त और यथार्थ वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है। कवि ने जो भी सामने आ गया उसका ब्यौरेवार वर्णन करके चित्र को यथार्थ बनाने का प्रयत्न नहीं किया है; बल्कि आवश्यकतानुसार निर्वाचन, चयन और समंजस योजना के द्वारा चित्र को पूर्ण और सजीव बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार यह काव्य इतिहास की सामग्री से निर्मित होकर भी केवल तथ्यनिरूपक पुस्तक नहीं बना है; बल्कि सचमुच का काव्य बना है। बहुत कम स्थलों पर कवि ने केवल सम्भावनाओं को बृहदाकार बनाया है। कीर्तिसिंह का वीररूप भी स्पष्ट हो जाता है और जौनपुर के सुलतान

फीरोजशाह के सामने उसका अतिनम्र भक्तिमान् रूप भी प्रकट होता है। इन चित्रणों में कवि ने कीर्तिसिंह के द्वितीय रूप को दबाने या उज्ज्वलतर रूप में चित्रित करने का प्रयास नहीं किया; बल्कि ऐतिहासिक तथ्य को इस भाँति रखने का प्रयत्न किया है कि जिस स्थान पर कथानायक झुकता है, वहाँ भी वह पाठक की सहानुभूति और परिशंसन का पात्र बना रहता है। छन्दों के चुनाव में भी कवि ने कुशलता का परिचय दिया है। तथ्यात्मक विवरण को मोड़ने के साथ-ही-साथ वह छन्दों को बदल देता है और पाठक के चित्त में उत्पन्न हो सकनेवाली एक-धृष्टता या मोनोटोनी को कम कर देता है। सब मिलाकर 'कीर्तिलता' अपने समय का बहुत ही सुन्दर चित्र उपस्थित करती है। वह इतिहास का कविदृष्ट जीवन्त रूप है। उसमें न तो काव्य के प्रति पक्षपात है, न इतिहास की उपेक्षा; उसमें यथास्थान पाठक के चित्त में करुणा, सहानुभूति, हास्य, औत्सुक्य और उत्कण्ठा जाग्रत करने के विचित्र गुण हैं। इस पुस्तक में उन कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग बहुत कम किया गया है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं में एक ही प्रकार के अभिप्राय ला देती हैं और तथ्यात्मक जगत् से कम सम्बन्ध रखकर कल्पना-विलास की ओर पाठक का मन मोड़ दिया करती हैं।

'पृथ्वीराजरासो' और 'पद्मावत' भी ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम के साथ सम्बद्ध काव्य हैं। परन्तु अन्यान्य ऐतिहासिक काव्यों की भाँति मूलतः इनमें भी ऐतिहासिक और निजन्धरी कथाओं का मिश्रण रहा होगा। जैसा कि शुरू में ही इशारा किया गया है, ऐतिहासिक चरित का लेखक सम्भावनाओं पर अधिक बल देता है। सम्भावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आये हैं जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक-रूढ़ि में बदल गये हैं। इस विषय में ऐतिहासिक और निजन्धरी कथाओं में विशेष भेद नहीं किया गया। केवल इसी बात का ध्यान रखा गया है कि सम्भावना क्या है। चित्तौर के राजा से सिंहल देश की राजपुत्री का विवाह हुआ था या नहीं, इस ऐतिहासिक तथ्य से कुछ लेना-देना नहीं है; हुआ हो तो बहुत अच्छी बात है, न हुआ हो तो होने की सम्भावना तो है ही। राजा से राजकुमारी का विवाह नहीं होगा तो किसका होगा? शुक शायद पक्षी थोड़ा-बहुत मानव-वाणी का अनुकरण कर लेता है, और [illegible] जितनी शक्ति उसे प्राप्त है उससे अधिक की सम्भावना तो है ही। [illegible] से वह शक्ति बढ़ सकती है, [illegible] तो पूर्वजन्म के संस्कार उसको [illegible] तो क्यों न उसे सकलशास्त्र-विचक्षण सिद्ध कर दिया जाय! [illegible] पक्ष पर जोर देने के कारण बहुत-सी [illegible] कुछ रूढ़ियाँ ये हैं:

1. कहानी कहनेवाला सुग्गा।

2. (क) स्वप्न में प्रिय का दर्शन पाकर आसक्त होना, (ख) चित्र में देखकर किसी पर मोहित हो जाना, (ग) भिक्षुकों या वन्दियों के मुख से कीर्ति-वर्णन सुनकर प्रेमासक्त होना, इत्यादि।
3. मुनि का शाप।
4. रूप-परिवर्तन।
5. लिंग-परिवर्तन।
6. परकाय-प्रवेश।
7. आकाशवाणी।
8. अभिज्ञान या सहिदानी।
9. परिचारिका का राजा से प्रेम और अन्त में उसका राजकन्या और रानी की बहन के रूप में अभिज्ञान।
10. नायक का औदार्य।
11. षड्ऋतु और बारहमासा के माध्यम से विरह-वेदना।
12. हंस, कपोत आदि से सन्देश भेजना।
13. घोड़े का आखेट के समय निर्जन वन में पहुँच जाना, मार्ग भूलना, मानसरोवर पर किसी सुन्दरी स्त्री या उसकी मूर्ति का दिखायी देना, फिर प्रेम और प्रयत्न।
14. विजन वन में सुन्दरियों से साक्षात्कार।
15. युद्ध करके शत्रु से या मत्त हाथी के आक्रमण से, या कापालिक की बलिवेदी से सुन्दरी स्त्री का उद्धार और प्रेम।
16. गणिका द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार और गणिका-माता का तिरस्कार।
17. भरण्ड और गरुड़ आदि के द्वारा प्रिय-युगलों का स्थानान्तरकरण।
18. पिपासा और जल की खोज में जाते समय असुर-दर्शन और प्रिया-वियोग।
19. ऐसे शहर का मिल जाना जो उजाड़ हो गया हो, नायक का हाथी आदि द्वारा जयमाला पाना।
20. प्रिया की दोहदकामना की पूर्ति के लिए प्रिय का असाध्यसाधन का संकल्प।
21. शत्रु-सन्तापित सरदार को उसकी प्रिया के साथ शरण देना, और फलस्वरूप युद्ध इत्यादि।

भारतीय साहित्य के विद्यार्थियों को प्रायः ऐसी कथानक-रूढ़ियों से टकराना पड़ता है। मैंने केवल इशारे के लिए कुछ रूढ़ियों के नाम गिनाये हैं। मेरा उद्देश्य केवल इस बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना है। 'पद्मावत' में इन रूढ़ियों का व्यवहार है, और रासो में तो प्रेम-सम्बन्धी सभी रूढ़ियों का मानो योजनापूर्वक समावेश किया गया है। जो बात मूल लेखक से छूट गयी थी, उसे प्रक्षेप करके पूरा कर लिया गया है। मैं यहाँ सभी रूढ़ियों के सम्बन्ध में चर्चा नहीं करूँगा, करने का समय नहीं है; परन्तु कुछ थोड़ी-सी रूढ़ियों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। भारतीय साहित्य की कथानक-रूढ़ियों के विषय में

ब्लूम फील्ड ने अमेरिकन ओरिएण्टल सोसायटी के जर्नल की छत्तीसवी, चालीसवीं, एकतालीसवी जिल्दो मे कई लेख लिखे हैं और पेंजर ने 'कथासरित्सागर' के नये संस्करण मे अनेक महत्त्वपूर्ण टिप्पणियां दी हैं। इस विषय पर अन्य कई यूरोपियन पण्डितो ने भी विशेषभाव से परिश्रम किया है, जिनमे डब्ल्यू. नार्मन ब्राउन का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि वे नेफी नामक जर्मन पण्डित की कृतियां बहुत पुरानी हो गयी हैं, तथापि वे इस विषय के जिज्ञासुओं के काम की चीज है। साधारणतः इन पण्डितों ने निजन्धरी कहानियों के अभिप्रायों के विषय मे ही काम किया है, परन्तु उस अध्ययन का उपयोग परवर्ती ऐतिहासिक कथाओ के क्षेत्र मे भी उपयोगी है। अस्तु, यहाँ दो-चार रूढ़ियो के बारे मे ही कुछ कहने की इच्छा है।

सबसे पहले शुकवाली कथानक-रूढ़ि को लिया जाय।

शुक और सारिका—तोता और मैना—भारतीय परिवार के बहुत पुराने साथी हैं। कथाओं मे इनसे तीन काम लिये गये है—(1) कथा के कहनेवाले श्रोता के रूप मे, (2) कथा की गति को अग्रसर करनेवाले सन्देशवाहक या प्रेम-सम्बन्ध-घटक के रूप में, और (3) कथा के रहस्यो को खोलनेवाले अनपराद्ध भेदिया के रूप में। अन्तिम रूप मे सारिका अधिक उपयोगी समझी गयी है। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' शुक-मुख से कहलवायी गयी है और रासो की पूरी कहानी शुक और शुकी —तोता मैना (i)— संवादरूप मे कहलवायी गयी है। मैंने पिछले व्याख्यान में बताया है कि यह शुक-शुकीवाला सवाद काफी महत्त्वपूर्ण है और इसके द्वारा हम कथासूत्रों की योजना करके रासो के मूलरूप को पहचान सकते है। ऐसा जान पड़ता है कि शुक की कथा कहने की शक्तिवाली बात क्रमश हमारे देश के साहित्य में विशाल रूप ग्रहण करती गयी है। शुरू-शुरू मे वह काफी सहज-सरल थी। अमरुक के शतक मे एक बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक श्लोक आया है—दम्पती ने रात-भर प्रेमालाप किया, कम्बख्त शुक सब सुनता रहा। प्रात काल सास-जिठानी के सामने ही उसने उन वाक्यों को दुहराना शुरू किया। वधू हैरान! उसे तुरन्त एक युक्ति सूझ गयी। कान के कर्णफूल मे पद्मरागमणि का टुकडा था। उसे लेकर उसने शुक के सामने रखा और उस वाचाल मूर्ख ने उसे दाड़िम-फल समझकर चोंच मारी। वचन उसका बन्द हुआ और लज्जाविह्वला नववधू ने शान्ति की साँस ली :

दम्पत्योर्निशि जल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वचः
तत्प्रातर्गुरुसन्निधौ निगदतः श्रुत्वैव तारं वधूः।
कर्णालम्बितपद्मरागशकलं विन्यस्य चञ्च्वाः पुरो
व्रीडार्त्ता प्रकरोति दाडिमफलव्याजेन वाग्बन्धनम्॥—अ. श. 16

यहाँ तक तो चल सकता है। परन्तु, जब शुक को सकल शास्त्रार्थ का वेत्ता कहा जाता है तो सम्भावना को जरूरत से ज्यादा घसीटा जाता है। श्रीहर्षदेव की 'रत्नावली' में नायिका के गोपन-प्रेम का रहस्य सारिका खोलती है। उस मुखरा ने नायिका को सखी से कुछ कहते सुन लिया था और उसी का जप शुरू कर दिया—

था। संयोगवश राजा और विदूषक को वह बात सुनने को मिल गयी और कथा के प्रेमव्यापार में गर्मी आ गयी। राजा ने ठीक ही कहा था कि प्रिया ने अपनी सखी से जो प्रणय-कथा सुनायी हो उसे शिशु शुक और सारिका के मुख से सुनने का अवसर बड़भागियों को ही मिलता है :

दुर्वारां मदनव्यथां वहन्त्या कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनाम्।
तद्भूयः शुकशिशुसारिकाभिरुक्तं धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति॥

शुक का दूसरा रूप है कथा को गति देनेवाला महत्त्वपूर्ण पात्र। 'पद्मावत' में वह यही काम करता है और रासो के दो प्रसंगों में उसे यही काम करना पड़ा है। प्रथम प्रसंग है समुद्रशिखरगढ़ की राजकन्या पद्मावती के साथ पृथ्वीराज के विवाह का सम्बन्ध-स्थापन और दूसरा है इछिनी और सयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता के समय इछिनी की वियोग-विधुरा अवस्था की सूचना देकर राजा को बड़ी रानी (इंछिनी) की ओर उन्मुख करना। दोनों ही स्थानों पर सुग्गे ने महत्त्वपूर्ण कर्म किया है। इनमे पहला तो उस अत्यधिक प्रचलित लोककथानक का स्मारक है, जिसका उपयोग जायसी ने भी किया था। इस कथानक में इतिहास खोजने के लिए मूँड़ मारना बेकार है। यह अत्यन्त प्रचलित लोककथा थी। इसे अमुक पुराण मे अमुक ने चुराया है, कहकर पौराणिक कथा मानना भी उचित नही है। यह दीर्घकाल से प्रचलित भारतीय कथानक-रूढ़ि है। दो या तीन स्थानों पर ही इसका उपयोग नही हुआ है, कई स्थानो पर हुआ है। तीसरा भी चिर-प्रचलित कथानक रूढ़ि है और भिन्न-भिन्न प्रदेशों की लोककथाओं में आज भी खोजा जा सकता है।

पद्मावती वाली कहानी पर थोड़ा और भी विचार करना है।

भारतीय साहित्य मे सिंहलदेश की राजकन्या से विवाह के अनेक प्रसंगो की चर्चा आती है। साधारणतः उनमे परिचारिका से प्रेम और बाद में परिचारिका का रानी की बहन के रूप मे अभिज्ञान — इस कथानक की रूढ़ि का ही आश्रय लिया जाता है। श्री हर्षदेव की 'रत्नावली' मे इसी रूढि का आश्रय लिया गया है। कौतूहल की 'लीलावती' में भी नायिका सिंहलदेश की राजकन्या ही है, और जायसी के 'पद्मावत' मे भी वह सिंहलदेश की ही कन्या है। इन सभी स्थानो पर सिंहल को समुद्र-मध्य-स्थित कोई द्वीप माना गया है। अपभ्रंश की कथाओं में भी इस सिंहलदेश का समुद्र-स्थित होना पाया जाता है। ऐसी प्रसिद्धि है कि सिंहल-देश की कन्याएँ पद्मिनी जाति को सुलक्षणा होती है। जायसी के 'पद्मावत' तक के काल में सिंहल के समुद्र-स्थित होने की चर्चा आती है। परन्तु बाद मे सिंहलदेश के सम्बन्ध में कुछ गोलमाल हुआ जान पड़ता है। मत्स्येन्द्रनाथ के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वे किसी स्त्री-देश मे विलासिता मे फँस गये थे, और उनके सुयोग्य शिष्य गोरक्षनाथ ने वहाँ से उनका उद्धार किया था। 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' नामक एक परवर्ती ग्रन्थ मे सिंहल को 'त्रिया देश' अर्थात् 'स्त्री-देश' कहा गया है। भारतवर्ष मे 'स्त्री-देश' नामक एक स्त्री-प्रधान देश की ख्याति बहुत प्राचीनकाल से है। इसी देश को 'कदलीदेश' और बाद की पुस्तकों मे 'कजरीवन' कहा गया है।

मैंने अपनी पुस्तक 'नाथ-सम्प्रदाय' में इस स्त्री-देश और कजरीवन के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। यहाँ प्रासंगिक सिर्फ इतना ही है कि परवर्त्ती काल की नाथ-अनुश्रुतियों में सिंहलदेश, त्रिया-देश और कजरीवन को एक-दूसरे से उलझा दिया गया है। 'पद्मावत' के समय मे भी सिंहलदेश दक्षिण मे समझा जाता था। परन्तु कुछ बाद मे चलकर 'त्रिया-देश' और 'कजरीवन' के साथ उलझा देने के कारण उसे उत्तर में समझा जाने लगा। यह विश्वास किया जाता था कि सिंहल मे पद्मिनी नारियाँ हुआ करती थी, जिनके शरीर से पद्म की सुगन्ध निकलती रहती है; और जो उत्तम जाति की स्त्री मानी जाती है। रासो मे पद्मावती के विवाहवाला अध्याय इसी परवर्ती काल के विचारगत उलझन की सूचना देता है। कहानी उसमे वही है, जो 'पद्मावत' मे है। परन्तु वहाँ पद्मावती उत्तरदेश की राजकन्या बतायी गयी है। पुरानी कहानी की स्मृति इसके कुछ शब्दो में जी रही है। जैसे, यह तो नही कहा गया कि पद्मावती सिंहलदेश की राजकन्या थी, परन्तु उसके नगर का नाम 'समुद्रशिखर' यह सूचित करता है कि उस देश का सम्बन्ध किसी समय समुद्र से था। फिर उसका राजा विजयसिंह सिंहल के प्रथम राजा विजयसिंह से मिलता-जुलता है, और जादूकुल में सम्भवतः यातुधानकुल की यादगार बची हुई है :

उत्तर दिसि गढ़ गढ़नपति समुद शिषर इक दुग्ग।
वहँ सुविजय सुरराजपति जादूकुलह अभग्ग ॥

इस प्रकार यह कहानी सोलहवी शताब्दी के बाद की लिखी हुई है, और रासो में प्रक्षिप्त हुई है। यह ध्यान देने की बात है कि जिन विवाहों के सम्बन्धों में शुक और शुकी का संवाद मिलता है, उनसे यह भिन्न है, और यह भी ध्यान देने की बात है कि बीकानेर की फोर्ट लाइब्रेरी मे रासो की जो छोटी प्रति सुरक्षित बतायी जाती है, उसमें भी यह कहानी नही है। कथानक-रूढ़ियों का विचार किये बिना जो लोग 'रासो' या 'पद्मावत' की ऐतिहासिकता या अनैतिहासिकता की जांच करने लगते हैं, वे भ्रान्त मार्ग का अनुसरण करते है। पद्मावती की कहानी इस बात की स्पष्ट सूचना देती है।

शुक और शुकी के वार्तालापरूप मे प्रथम विवाह इछिनी का है। दूसरा विवाह शशिव्रता का और तीसरा संयोगिता का है। तीनों विवाह सरस बने है और सुकविरचित जान पड़ते है।

इंछिनी के विवाह के प्रसंग में तीन घटनाएँ उल्लेखयोग्य हैं जो शुक-शुकी के प्रश्नोत्तर के रूप में आई हैं। पहली बात है भीम भोरंग के साथ पृथ्वीराज के वैर का कारण। भीम के सात चचेरे भाई जो उसके राज्य में उपद्रव मचाने लगे थे, भीम के प्रताप से भयभीत होकर पृथ्वीराज की शरण मे आये, पर पृथ्वीराज के एक प्रिय सामन्त कन्ह से उनकी लड़ाई हो गयी और वे मारे गये। इस पर भीमराव असन्तुष्ट हुआ। दूसरी बात है भीम की इछिनी से विवाह की इच्छा। इछिनी की बड़ी बहन मन्दोदरी से उसका विवाह पहले ही हो चुका था। छोटी बहन को

बड़ी पत्नी की सौत के रूप मे पाने का प्रयत्न अच्छा नही था। सलष अपनी छोटी लडकी को और उसका पुत्र जैत अपनी वहन को, इस प्रकार व्याहने के विरुद्ध थे। उन्होने भीम से रक्षा पाने के उद्देश्य से ही पृथ्वीराज की शरण ली। लड़ाइयाँ हुईं—रासो में होती ही रहती है— शहाबुद्दीन भी भीम के कहने से, किन्तु भीम को बरवाद कर देने की इच्छा के साथ चढ आया—वह भी रासो में जब-तब आ ही धमकता है— और इंछिनी से पृथ्वीराज का विवाह हुआ। आगे तीसरी घटना है, वारात का वर्णन और इंछिनी का नख-सिख (नख-शिख) वर्णन। इस विवाह में कवि ने किसी प्रकार की कथानक-रूढ़ि का आश्रय नही लिया है, फिर भी और विवाहों से यह विशिष्ट है। इसमे इछिनी का सौन्दर्य बहुत ही सुन्दर रूप मे निखर-कर प्रकट हुआ है, जो प्रधानतः कवि-समय के अनुसार ही है :

नयन सुकज्जल रेप तप्पि निप्छल छवि कारिय।
श्रवनन सहज कटाछ चित कर्षन नर नारीय।
भुज मृनाल कर कमल उरज अंबुज कल्लिय कल।
जंघ रंभ कटि सिंघगमन दुति हंस करी छल।
देव अरु जप्पि नागिनि नरिय गरहि गर्व दिप्पत नयन
इछिनी अखि लज्जा सहज कितक शक्ति कब्बिय वयन। 14-159

सो, यह विवाह झगड़ो और लड़ाइयों के बावजूद सहज विवाह है। इसके पहले और वाद में पटापट दो विवाह और हुए है; पर उनमे कवि का मन रमा नही है। स्पष्ट ही लगता है कि वे मूल रासो के विवाह नही है। इछिनी का विवाह ही शायद मूल रासो का प्रथम विवाह है। बाकी दो विवाहो का वैशिष्ट्य दिखाने के लिए ही कवि ने इस सहज विवाह की पृष्ठभूमि तैयार की है। इस सहज विवाह की सहज शोभा का कवि ने वार-वार उल्लेख किया है।

धन घुमि घुम्मर हेम। कवि कहो ओपम एम॥
मनो कमल सौरभ काज। प्रति प्रीत भमर विराज॥
कह कहो अंग सुरंग। रति भूलि देखि अनंग॥
लषि लच्छि पूर सहज्ज। चित वृत्त मानो रज्ज॥
सो सलष राजकुंवारि। नृप लही ब्रह्म सँवार॥
इन लच्छि इछनिय रूप। कुल वधू लछिछन रूप॥
रति रूप रमनिय रज्जि। छवि सरल छुति तन सज्जि॥
रसि रसित रङ्गह राज। तिह रमन हुअ प्रथिराज॥

अगले विवाह मे कवि ने जमके कथानक-रूढ़ियों का सहारा लिया है। राजा का नट के मुख से यादवराज-कन्या शशिव्रता के रूप की प्रशसा सुनना और आसक्त होना, यह जानना कि उज्जैन के कामध्वज राजा को सगाई भेजी गयी है, पर कन्या उसे नही चाहती, कन्या-प्राप्ति के लिए शिव-पूजन और शिवजी का स्वप्न मे मनोरथ-सिद्धि के लिए वरदान—ये पुराण-राग की चिराचरित भारतीय कथानक-रूढ़ियाँ हैं। कवि ने इन्हे निपुणता के साथ उपस्थित किया है। फिर

पृथ्वीराज भिन्न-भिन्न ऋतुओं में मन्मथ-पीड़ा से व्याकुल होता है—यहाँ भी वही बात है। कवि ने इस बहाने बड़ा ही सुन्दर ऋतु-वर्णन किया है।

मोर सोर चहुँ ओर घटा आसाढ़ बंधि नभ।
बच दादुर झिंगुरन रटत चातिग रंजत सुभ।
नील बरन वसुमतिय पहिर आभ्र न अलङ्किय।
चंद वधू सिव्यंद धरे वसुमत्तिसु रज्जिय।
बरषंत बूंद घन मेघसर तब सुभीज जद्दव कुंअरि।
नन हंस धीर धीरज सुतन इप फुट्टे मन मत्थ करि। 25-65

और फिर,

घन घटा बंधि तम मेघ छाय। दामिनिय दमंकि जामिनिय जाय।
बोलंत मोर गिरवर सुहाय। चातिग रटत चिहुँ ओर छाइ। इत्यादि।

यह विरह-वर्णन साधारणतः बाह्य वस्तु-प्रधान है। विरह में जिस प्रकार का हृदय-राग चित्रण होना चाहिए था वैसा इसमें नहीं है। अस्तु।

जिस प्रकार 'नैषधचरित' के नल की भाँति नटमुख से प्रिया के गुण सुनकर पृथ्वीराज व्याकुल हो उठा, उसी प्रकार एक हंस की भी कल्पना की गयी है। यहाँ आकर मालूम हुआ कि सगाई जयचन्द के भतीजे वीरचन्द से होने जा रही थी। किसी गन्धर्व ने यह बात सुन ली और वह हंस बनकर शशिव्रता के पास पहुँचा। नैषध के हंस की भाँति यह भी सोने का ही था। शशिव्रता के पूर्वजन्म में चित्ररेखा नामक अप्सरा होने की बात हंस ने उसे बतायी। अप्सरा का सुन्दरी कन्या के रूप में अवतार 'पृथ्वीराजरासो' का प्रिय विषय है। संयोगिता भी अप्सरा का ही अवतार थी। 'पृथ्वीराजविजय' के अन्त में कहानी आयी है कि पृथ्वीराज अपनी चित्रशाला में अप्सरा का चित्र देखकर मुग्ध हुए थे। कथा का झुकाव जिस प्रकार का है, उससे पता चलता है कि वह अप्सरा किसी-न-किसी रूप में पृथ्वीराज को मिली होगी। दुर्भाग्यवश वह काव्य आधा ही प्राप्त हुआ है और यह नहीं पता चला कि यह अप्सरा पृथ्वीराज को किस रूप में मिली। पर जान पड़ता है कि अप्सरावाले विश्वास का पृथ्वीराज के वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध है। जो हो, गन्धर्व (हंस) शशिव्रता को पृथ्वीराज की ओर उन्मुख करता है। वीरचन्द तो अभी सालभर का बच्चा था। अप्सरावतार युवती शशिव्रता को उससे विमुख करने में हंस को विशेष श्रम नहीं पड़ा। शशिव्रता के मन में प्रेमांकुर उत्पन्न करके वह दिल्ली गया। यही उचित था। यही स्वाभाविक भी। पृथ्वीराज ने उसे पकड़ा। नल ने भी ऐसा ही किया था। प्रेम गाढ़ होना है पृथ्वीराज की ओर से भी; और शशिव्रता की ओर से हंस ने भी शशिव्रता का रूप-गुण वर्णन किया, चित्ररेखा का अवतार होना बताया और एक नयी बात यह बना दी कि शशिव्रता गान सिखानेवाली अपनी नियुक्ति चन्द्रिका से पृथ्वीराज का गुण सुनकर आकृष्ट हुई है। पृथ्वीराज भी नट से सुनके आकृष्ट हुआ था, शशिव्रता भी गायिका के मुख से सुनकर आकृष्ट हुई थी—दोनों ओर गुण-श्रवण-जन्य आकर्षण

है। यह भी भारतीय कथानक-रूढ़ि है, पर कहानी 'नैषधचरित' के समानान्तर हो गयी है। पृथ्वीराज के प्रेम के समानान्तर दूसरी घटना है शशिव्रता का भी शिव-पूजन। हंस संकेत करता है कि रुक्मिणी को जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने हरा, उसी प्रकार तुम हरो। कन्या हरण का यह 'अभिप्राय' भी बहुत पुराना है। रासो में पद्मावती ने भी पृथ्वीराज को उसी प्रकार वरा था 'ज्यो रुकमिनि कन्हर वरिय।' और संयोगिता को भी लगभग इसी पद्धति से हरा गया था। रासोकार को यह अभिप्राय अत्यन्त प्रिय है।

अब कहानी नल के आदर्श पर नहीं चलकर श्रीकृष्ण के आदर्श पर चलने लगी। परन्तु शशिव्रता के पिता ने ही पृथ्वीराज को लिखा कि शिवजी की पूजा के लिए शशिव्रता जायेगी और वहीं मिलेगी। पुत्री की दृढ़ता और व्रत से पिता का हृदय पसीज गया था। मन्दिर में पूजा के बहाने आयी हुई कन्या का हरण पुराना भारतीय 'अभिप्राय' है, जो कथानक-रूढ़ि के रूप में ही बाद के साहित्य में जम बैठा है। 'पद्मावत' में भी यह 'अभिप्राय' है। पर वहाँ पद्मावती अपने मन में अच्छी तरह जानती हुई जाती है कि वहाँ रतनसेन आनेवाला है। शशिव्रता को यह नही मालूम। जायसी की तुलना मे यहाँ चन्द अधिक सफल हैं। रासोकार ने अन्तर्वृत्तियों के द्वन्द्व दिखाने मे अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। 'रामचरितमानस' की सीता को भी गौरी-पूजन के प्रसंग में रामचन्द्रजी का अचानक दर्शन हो गया, पर वहाँ पूर्वराग उस सीमा तक नही पहुँचा था जिस सीमा तक शशिव्रता और पृथ्वीराज का पूर्वराग—अवश्य ही साक्षात् दर्शन अब भी बाकी था (!)—पहुँच चुका था। सखी ने शशिव्रता को दिखाया—वह देखो, जिसे चाहती हो वह आ गया! आँखें चार हुई और,

> कर्न प्रयत कटाछ सुरंग विराजही
> कछु पुच्छन कों जांहि पै पुच्छय लाजही
> नैन सैन मे बात स्रवनन सो कहैं
> काम किधौं प्रथिराज भेद करि ना लहैं। 42-290

शशिव्रता मन्दिर की ओर बढ़ी। 500 सखियां उसे घेरे थी। कान्यकुब्जेश्वर की सेना डटी हुई थी। मन्दिर में फिर पृथ्वीराज की आँखों से आँखें मिली। सुकुमार-लज्जा-भार-भरिता शशिव्रता की वह शोभा देखने ही लायक थी। पृथ्वीराज ने उसकी बाँह पकड़ी, मानो गजराज ने लहराकर आयी हुई कांचनलता को पकड़ लिया हो :

> चौहान हथ्थ बाला गहिय सो ओपम कवि चंद कहि।
> मानो कि लता कंचन लहरि मत्त वीर गजराज गहि।

यह बिल्कुल अप्रत्याशित बात थी। शशिव्रता इसके लिए बिल्कुल तैयार नही थी। उसको आँखो में आंसू आ गये। उधर सेनाएँ डटी हुई थी। एक ही साथ राजा पृथ्वीराज के हृदय मे रौद्र, शशिव्रता के मन मे करुण, वीरों के मन में सुभट गतिजन्य उत्साह, सखियो के मन मे हास, अरि-दल के हृदय में वीभत्स और

कमधज्ज के हृदय में भयानक रस का संचार हुआ :

नृप भयो रुद्द; करुणा सुत्रिय, वीरभोग वर सुभट गति।
संगियन सुहास, वीभच्छ रिन भय भयान कमधज्ज दुति।।

फिर युद्ध, युद्ध, युद्ध ! अन्त में शशिव्रता ने प्रस्ताव किया कि 'दिल्ली चलिए'। शशिव्रता यहाँ अत्यन्त कोमल पतिपरायणा स्त्री के रूप में दिखायी पड़ती है। सब मिलाकर यह कथा रासोकार की कवित्वशक्ति का परिचायक है। इसमें उसने प्रेम-कथानकों की अनेक काव्य-रूढ़ियों का प्रयोग किया है। उसे सफलता भी मिली है।

संयोगिता का स्वयंवर विशुद्ध कवि-कल्पना है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी प्रामाणिकता पर कई बार सन्देह प्रकट किया गया है। जयचन्द्र की किसी पुत्री से पृथ्वीराज का विवाह हुआ था या नहीं, सन्दिग्ध ही है। कहा जाता है कि ऐतिहासिकता के लिए प्रमाण मानी जाने योग्य प्रशस्तियों मे या मुसलमान ऐतिहासिकों के विवरणों में तो इसका कोई उल्लेख है ही नही। चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के जैन-प्रबन्धों में भी तो इसकी चर्चा नही है। 'पृथ्वीराजविजय' अधूरा ही मिला है। उसके उपलब्ध अन्तिम हिस्से में चित्रकला में पृथ्वीराज एक अप्सरा की मूर्ति देखकर प्रेमातुर होता है। यह पता नही चलता कि आगे क्या हुआ, पर कथा के झुकाव से अनुमान होता है कि किसी ऐसे ही प्रेम-विवाह की ओर कवि कथा को ले जाना चाहता है, जैसा रासो के कवि ने वर्णन किया है। उन दिनों स्वयंवर-प्रथा वास्तविक जगत् में समाप्त हो गयी थी, पर कवियों की कल्पना की दुनिया से ऐसी बात लोप नही हुई थी। इस काल के कुछ थोड़ा पहले सन् 1125 ई. मे विल्हण ने 'विक्रमाङ्कचरित' में बहुत टीमटाम के साथ एक स्वयंवर का वर्णन किया है। विल्हण चालुक्य राजा विक्रमादित्य के प्रताप का वर्णन करता है। कर्णाट देश के शिलाहारकुल की राजकन्या चन्द्रलेखा रूप और गुण में इतनी उत्तम और विख्यात थी कि 'राजतरंगिणी' के समान ऐतिहासिक समझे जानेवाले काव्य के लेखक कल्हण ने भी लिखा है कि कश्मीर का राजा हर्ष उसे प्राप्त करने की इच्छा से कर्णाट पर चढ़ाई करने की सोच रहा था। उस राजकन्या का स्वयंवर हुआ और यह सर्वसौन्दर्य-निधि राजकन्या विल्हण के आश्रयदाता राजा विक्रमादित्य के अतिरिक्त और किसे वरण कर सकती थी ? ऐतिहासिक विद्वान् इस घटना को कवि-कल्पना ही मानते है। इससे केवल इतना ही सूचित होता है कि कवियों की दुनिया से स्वयंवर-जैसी मनोमोहक प्रथा समाप्त नहीं हुई थी। 'पृथ्वीराजविजय' के लेखक ने भी किसी ऐसे आयोजन की कल्पना की हो तो कुछ आश्चर्य नही है। 'राजतरंगिणी' के लेखक ने भी कविजनोचित भाषा में हर्ष के प्रेमोद्रेक का कारण चित्र-दर्शन ही बताया है [1] और 'पृथ्वीराजविजय' के कवि के मन में भी कुछ ऐसी ही बात है :

1 कर्णाटभर्तुः पर्मर्डेः सुन्दरीं चन्द्रलाभिधाम्।
आलेख्यलिखितां वीक्ष्य सोऽभूत् पुष्पायुधाहतः।
स विटोद्दैचितो वीतत्रपश्चक्रे सभान्तरे।
प्रतिज्ञां चन्दलावाप्त्यै पर्मर्डेश्च विलोडने॥ ('राजतरंगिणी,' 7-1124)

हृदये लिखितां पुरः स्थितादपि चिरादुचिरां दर्शयत् ।
अविदत् परमार्थतस्ततः स मनोराज्यमनोतिशायिनीम् ॥ 12-25

इसलिए घटना ऐतिहासिक हो या न हो, रासो के कवि की कल्पना में इसका आविर्भाव अवश्य हुआ था। संयोगिता की प्राप्ति ही रासो का चरम उद्देश्य जान पड़ता है। क्षेप इसमें भी है, पर कवि ने इसे लिखने में बड़ा मनोयोग दिया है।

इस प्रसंग में कवि को ऋतुवर्णन करने का अच्छा बहाना मिल गया है। बहाना तो खोजना ही पड़ता है। 'सन्देशरासक' के कवि ने भी एक सुन्दर बहाना खोजा है। वहाँ विरहिणी का सन्देशा ले जानेवाला पथिक बार-बार जाने को उत्सुक होता है, पर उस बिचारी का दु:ख देखकर रुक जाता है और पूछता है कि 'तुम्हें और भी कुछ कहना है?' कहना तो उसे है ही। प्रसंग बढ़ता जाता है। अन्त में पथिक पूछता है कि 'कब से तुम्हारा यह हाल है?' फिर एक-एक करके ऋतु-वर्णन चलने लगता है। रासो में पृथ्वीराज जयचन्द का यज्ञ विध्वंस करने और संयोगिता को हर लाने की इच्छा से घर से निकलना चाहते हैं। यह कोई नयी बात नहीं है। पृथ्वीराज तो बाहर जाते ही रहते है, लड़ना तो उनका स्वभाव ही है और कन्याहरण और विवाह भी नया नहीं होने जा रहा है। फिर भी कवि यहाँ रुकता है। पृथ्वीराज हर रानी के पास विदा लेने जाते हैं और जिस ऋतु में जाते है, उसका मनोरम वर्णन सुनके रुक जाते है। वसन्तऋतु में वे इछिनी के पास जाते है, पर अनुमति नहीं मिलती। इंछिनी उन्हें समझाती है कि इस ऋतु में भला कोई आदमी बाहर जाता है? जब आम बौरा गये हों, कदम्ब फूल चुके हों, रात की दीर्घता में कोई कमी न आयी हो; भँवरे भावमत्त होकर झूम रहे हों, मकरन्द की झड़ी लगी हुई हो, मन्द-मन्द पवन विरहाग्नि को सुलगाने में लगी हो, कोकिल कूक रहे हों और किसलयरूपी राक्षस प्रीति की आग लगा रहे हों, तब कैसे कोई युवती रमणी अपने प्रिय को बाहर जाने की अनुमति दे सकती है? इछिनी ने पैरों पड़के विनय किया कि 'हे प्राणनाथ, इस ऋतु में बाहर मत जाओ :'

मवरी अंब फुल्लिग कदंब रयनी दिघ दीसं ।
भँवर भाव भुल्ले भ्रमन्त मकरन्द वरीसं ॥
वहत वात उज्जलति मौर अति विरह अगिनि किय ।
कुहकुहन्त कलकंठ पत्ररापस अति अग्गिय ॥
पय लग्गि प्रानपति बीनवौं नाह नेह मुझ चित धरहु ।
दिन-दिन अवद्धि जुव्वन घटय कन्त वसत न गम करहु ॥

पृथ्वीराज ऐसे दो-चार पद्य सुनने के बाद वसन्त-भर वहीं रुक गये। फिर ग्रीष्म आया—प्रचण्ड ग्रीष्म। उस समय वे पुण्डीरनी रानी से विदा लेने गये। वही कैसे छोड़ती? भला, यह भी कोई बाहर जाने का समय है—उत्तप्त वायु बह रही हो, तरुणी का क्षीण शरीर ताप से दग्ध हो रहा हो, चारों दिशाएँ धधक उठी हों, क्षण-भर के लिए भी कहीं ठण्ड का अनुभव न होता हो, ज्वलन्त पानी पीने को

मिलता हो, खून सूख रहा हो, राह चलना कठिन हो रहा हो, दिन-रात गर्मी की ज्वाला से काया क्लेशापन्न हो उठी हो—इस प्रकार के समय में तो कन्त को कभी बाहर नहीं जाना चाहिए, सम्पत्ति हो या विपत्ति !!

पीन तरुनि तन तपै बहै निन बाव रयन दिन।
दिसि चार्‌यो परजलै नहीं कहीं सीत अरध पिन।
जल जलंत पीवत रुहिर निसिवासर घट्टै।
कठिन पंथ काया कलेस दिन रयनि सघट्टै।
त्रिय लहै तत्त अप्पर कहै गुनियन ग्रब्ब न मडियै।
सुनि कंत सुमति संपति विपति ग्रीपम ग्रेह न छंडियै॥

सो, पृथ्वीराज यहाँ भी एक ऋतु तक रुके रहे। वर्षाकाल में इन्द्रावती से विदा लेने गये। वही कैसे छोड़ती भला? विशेष करके जब बादल घहरा रहे हों, एक-एक क्षण पहाड़ बने हुए हों, सजल सरोवरों को देखकर सौभाग्यवतियों के हृदय फटे जा रहे हों, बादल जल से सींच-सींचकर प्रेमलता को पलुहा रहे हों, कोकिलों के स्वर के साथ प्रेम के देवता अपना बाण-सन्धान कर रहे हों, दादुर, मोर, दामिनी, चातक, सब-के-सब दुश्मनी पर उतारू हो आये हों तो प्रिय को कैसे जाने दिया जा सकता है?

घन गरजै घरहरै पलक निस रैनि निघट्टै।
सजल सरोवर पिष्पि हियौ ततछन घन फट्टै।
जल बद्दल बरषंत पेम पल्लहो निरन्तर।
कोकिल सुर उच्चरै अंग पहरत पचसर॥
दादुरह मोर दामिनि दसय अरि सवत्थ चातक रटय।
पावस प्रवेस बालम न चलि विरह अगिनि तन तप घटय॥
घुमड़ि घोर घन गरिजि करत आडंबर अम्बर।
पूरत जलधर धसत धार पथ पथिक दिगम्बर।
झझकित द्रिग सिसु म्रिग समान दमकत दामिनि द्रसि,
विहरत चात्रग चुवत पीय दुप्पत तम निसि!
ग्रीपम्भ विरह द्रुमलतातन परिरंभन व्रत सेन हरि।
सज्जन्त काम निसि पचसर पावस पिय न प्रवास करि॥

इस ऋतु का वर्णन कवि ने प्राण ढालकर किया है:

द्रिग भरित धूमिल जुरति भूमिल कुमुद नृम्मल सोभिल।
द्रुम अंग बल्लिय सीम हल्लिय कुरनि कटह कोकिल।
कुसुमंज कुंज सरीर गुम्भर मलित दुम्भर गद्दयं।
नद रोर दद्दुर मोर नद्दुर वनसि वर्प्पर बद्दय।
दाम झमकि विज्जल काम किज्जल श्रवनि सज्जल पद्दय।
पप्पीह चीहति जीह जंजरि मोर मजरि मद्दयं।

जगमगति झिगन निसि सुरंगन भय अभय निसि हृदयं ।
मिति हंग हसि सुवास सुदरि उरसि आनन मिद्वयं ॥

सो, चन्दबरदाई का यह वर्षा-वर्णन भाषा और भाव—ध्वनि और बिम्ब—दोनो ही दृष्टियों से बहुत उत्तम हुआ है। अनुकूल ध्वनियों का ऐसा समंजस-विधान है कि देखते ही बनता है। चन्द इस कला में निपुण हैं। बल्कि यह कहना चाहिए कि वे इस कला मे जरूरत से ज्यादा महारत हासिल कर चुके हैं। युद्ध के प्रसंगों मे तो वे लाठी लेकर शब्दों को पीट-पीटकर इस योग्य बनाते हैं कि वे युद्ध की ध्वनि उत्पन्न कर सकें। यदि किसी का हाथ-पैर टूट जाय तो उन्हें कोई परवा नही। इस ऋतु-वर्णन के प्रसग मे इतनी दूर तक शासन से काम नहीं लेते। थोड़ा तो लेते ही है। शरद्, हेमन्त और शिशिर भी इसी प्रकार एक-एक रानी के पास बीत जाते हैं, पृथ्वीराज का जाना नही होता। अन्त में वे चन्द की शरण जाते हैं :

पट्रित बारह मास गय फिर आयो रु वसंत।
सो रित चन्द बताउ मुहि, तिया न भावै कंत॥

चन्द ने 'ऋतु' शब्द को पकड लिया। उसी पर श्लेष करते हुए उत्तर दिया :

रोस भरै उर कामिनी, होइ मलिन सिर अग।
उहि रिति त्रिया न भावई, सुनि चुहान चतुरंग॥

और यह प्रसंग समाप्त होता है।

यह ऋतुवर्णन मिलनजन्य आनन्द में उद्दीपना का संचार करता है। शशिव्रता-विवाह के प्रसंग में विरहजन्य दुःखबोध को गाढ़ बनाने के लिए ऋतुवर्णन का सहारा लिया गया है। इस काल के कवि अद्दहमाण (अब्दुल रहमान?) के 'सन्देश-रासक' और 'ढोला-मारू' के दोहों में विरहदशा की अनुभूतियों के वर्णन का प्रयत्न है। कुछ थोडे परवर्ती काल के कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने विरह-वेदना की अनुभूतियो को दिखाने के उद्देश्य से ऋतुवर्णन लिखा है। 'सन्देशरासक' में कवि ने जिस बाह्यप्रकृति के व्यापारो का वर्णन किया है, वह रासो के समान ही कवि-प्रथा के अनुसार है। उन दिनों ऋतुवर्णन के प्रसंग में वर्ण्य वस्तुओं की सूची बन गयी थी। बारहवी शताब्दी की पुस्तक 'कविकल्पलता' में और चौदहवी शताब्दी की पुस्तक 'वर्णरत्नाकर' में ये नुस्खे पाये जा सकते है। इन वाह्यवस्तुओं और व्यापारो के आगे न तो रासो का कवि गया है, न अद्दहमाण ही। फिर भी जायसी की भाँति अद्दहमाण के सादृश्यमूलक अलंकार और बाह्यवस्तु-निरूपक वर्णन बाह्यवस्तु की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरह-कातर मनुष्य के (चाहे वह स्त्री हो या पुरुष) मर्मस्थल की पीड़ा को अधिक व्यक्त करते हैं। रासो यह बात इस मात्रा में नहीं मिलती। 'सन्देशरासक' का कवि बाह्यवस्तुओं की सम्पूर्ण चित्रयोजना इस कौशल से करता है कि उससे विरहिणी के व्यथा-कातर सहानुभूति-सम्पन्न कोमल हृदय की मर्मवेदना ही मुखर हो उठती है। वर्णन चाहे जिस दृश्य का हो, व्यंजना हृदय की कोमलता और मर्मवेदना की ही होती है। तुलना के लिए

एक वर्षावर्णन का प्रसग ही लिया जाय। विरह-कातरा प्रिया किसी पथिक से अपने प्रिय को सन्देशा भेजती है। वह मेघों का समय है। दसों दिशाओं में बादल छाये हुए है, रह-रहके घहरा उठते हैं, आकाश मे विद्युल्लता चमक रही है, कड़क रही है, दादुरों की ध्वनि चारों ओर व्याप्त हो रही है—धारासार वर्षा एक क्षण के लिए भी नही रुकती। इस कविप्रथा-सिद्ध वर्षा का वर्णन करते-करते विरहिणी कातरभाव से कह उठती है—'हाय पथिक, पहाड़ की चोटियो पर से उसने (प्रिय ने) यह सब कैसे सहा होगा ?'

झंपवि तम वद्दलिण दसह दिसि छायउ अंवरु।
उन्नवियउ घुरहुरइं घोर घणु किसणाडंवरु।
णहह मग्गि णहवल्लिय तरल तडयडिवि तढक्कइ।
दद्दुर रउणु रउद्दु सद्दु कवि सहवि ण सक्कइ।
निबड निरन्तर नीरहर दुद्धर धर धारोह भरु।
किम सहउ पहिय सिहरट्ठियइ दुसहउ कोइल रसह सरु। —संदेशरासक

इससे विरह-कातरा प्रिया का अत्यन्त कोमल और प्रीति-परायण हृदय ही ध्वनित हुआ है। बाह्यप्रकृति तो उसके सहानुभूतिमय प्रेम-परायण हृदय को दिखा देने का साधन-भर है। रासो के वर्णनों में यह बात नही आने पायी है, फिर भी वे बाह्यप्रकृति के सरस चित्र उपस्थित करते है। ध्वनियों और रंगों के सामजस्य से रासो के चित्र खिल उठे हैं। अस्तु।

सो, इस प्रसंग में कवि ने विरह के समय ऋतुवर्णन की प्रथा को न अपनाकर सयोगकालीन उद्दीपक ऋतुवर्णन की पुरानी प्रथा को ही अपनाया है। यद्यपि वर्ण्य विषयों की योजना में कोई नवीनता नही है, वे तत्काल-प्रचलित रूढ़ियों के अनुसार ही हैं, तथापि उनमें अपना सौन्दर्य है। वे पाठक को आकृष्ट करते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार राजपूत-चित्र रूढिबद्ध होने पर भी दर्शक को विह्वल बनाते हैं। शब्दचयन की अद्भुत शक्ति ने चन्द के काव्य को अपूर्व शोभा प्रदान की है। इन मधुर-मोहन छन्दों को पढने के बाद रासो के अन्य प्रसंगों की उबड़-खाबड़ बेठौर-ठिकाने की भाषा के विषय मे सन्देह होना उचित ही है। कहाँ यह सुन्दर शब्दयोजना, गम्भीर ध्वनिमाान्द्य और कहाँ द्वित्व और अनुस्वारों के सहारे बे-मतलब घड़ी की गयी बेतरतीब शब्दों की पल्टन। एक बार दिखती है कथाकार की अद्भुत योजनाशक्ति, कथा का घुमाव पहचानने की अपूर्व क्षमता, भावों का उतार-चढाव चित्रित करने की मोहक भंगिमा और फिर दिखती है लड़नेवाले सरदारों की नामावली बताने की आतुरता, हथियारों के लक्षण और हिसाब बताने की उतावली, कवि चन्द की सिद्धियों की महिमा बखानने की उमग और कथा को बेमतलब बोझिल और लस्टम-पस्टम बनाने की निर्बुद्धिक योजना! रासो विचित्र मिश्रण है। खैर!

इसके बाद राजा कन्नौज के लिए प्रस्थान करते हैं। कवि को अनेक नगरों और फसों के वर्णन का अवसर मिलता है। इस मार्ग मे गंगा पर पूरा [illegible]

किया जाता था और शकुनों का यहाँ विस्तारपूर्ण वर्णन अपेक्षित ही है। बाद मे पृथ्वीराज और उनके साथी वेश बदलकर कन्नौज पहुँचते है। कन्नौज का सुन्दर वर्णन किया गया है। और जयचन्द की दासियों को गगा मे जल भरते देख कवि को नारी-सौन्दर्य के मोहक वर्णन का बहाना मिल जाता है :

द्रिग चचल चचल तरुनि, चितवत चित्त हरंति।
कचन कलस झकोरि कै, सुन्दरि नीर भरंति॥

इसके बाद दासियो के नख-शिख सौन्दर्य का वर्णन चिराचरित कविप्रथा के अनुसार होने लगता है। फिर जरा कतराकर कवि कन्नौज नगर की सुन्दरियों की शोभा का भी लगे हाथो उद्धार कर देता है। दासियाँ अभी पानी भर ही रही हैं। उनका घूँघट अचानक जरा सरका और सामने रूप और शोभा के अगाध समुद्र दिल्ली-नरेश दिख गये। सोने के घड़े पर जो हाथ पड़ा था सो पड़ा ही रह गया, घूँघट छूटा सो छूट ही गया, वाग्रोध हो गया, वक्ष.स्थल के तटदेश पर पसीना झलक आया, ओठ काँप गये, आँखों मे पानी भर आया, जड़िमा और आलस्य के लक्षण जृम्भा और स्वेद प्रकट हो गये, गति शिथिल हो गयी—सात्त्विक विकारों से ससाध्वसा वह सुन्दरी भाग गयी। भागते-भागते ही पृथ्वीराज को निहारती गयी। खाली घड़ा गगा के तट पर पड़ा रह गया :

दरस त्रियन दिल्ली नृपति सोव्रन घट पर हृथ्थ।
वर घूँघट छुटि पट्ट गौ सटपट्ट परि मनमथ्थ।
सटपट परि मनमथ्थ भेद वच कुचतट स्वेदं।
उप्प्ट कंप जल द्रगन लग्गि जभायल भेदं।
सिथिल सुगति लजि भगति गलत पुडरि तन सरसी।
निकट निजल घट तजै मुहर मुहर पति दरसी॥ 62-370

कवि भावी रोमांस का बीज यहीं बो देता है। इसके बाद नगर का, किले का, सेना का, दरबार का और अन्य बातो का वर्णन करने का बहाना खोज निकालता है। एक बहुत ही मजेदार प्रसग कवि चन्द का राजा जयचन्द्र के दरबार मे जाना है। जयचन्द्र के दरबार में कोई दसोंधी कवि थे। ये सम्भवतः वर्तमान जसोंधी जाति के है, जो आज भी कड़वे और नाजि कहनेवाले जोगवरो की जाति है; या यह भी हो सकता है कि इस नाम का कोई कवि रहा हो और आज के जसोंधी अपने इसी पूर्वपुरुष के नाम पर अपना परिचय दिया करते हो। दसोंधियों और चन्द के वार्त्तालाप से चन्द की सर्वज्ञता का परिचय मिलता है। चन्द अदृष्ट बातों का—जिनमे स्वय राजा जयचन्द्र और उसके दरबार की तात्कालिक अवस्था भी शामिल है—वर्णन सफलतापूर्वक करता है और इस प्रकार कवि चन्द दरबार मे प्रवेश करने का अधिकार पाता है। और जयचन्द्र जब पृथ्वीराज के विषय मे प्रश्न करता है तो तुर्की-बतुर्की जवाब देता है। इसी प्रसग मे कवि पृथ्वीराज की वीरता के वर्णन का बहाना भी खोज निकालता है। जब जयचन्द्र पूछता है कि क्यो नही पृथ्वीराज उसके दरबार मे और राजाओं की भाँति आता, तो चन्द बताता है कि पृथ्वीराज

ने तुम्हारे राज्य की रक्षा की है। शहाबुद्दीन गोरी जब कन्नौज पर आक्रमण करना चाहता था तो पहले तो कुन्दनपुर के पास रायसिंह बघेले ने उसे रोका, परन्तु वह उसे पराजित करके आगे बढ़ा। उस समय पृथ्वीराज नागौर में थे। वे बाज की भाँति शहाबुद्दीन पर झपट पड़े। इसी बहाने कवि विस्तार के साथ इस लड़ाई की चर्चा करता है। स्वयं पृथ्वीराज भी दरबार में चन्द के खवास के रूप में उपस्थित होते हैं और इस प्रकार कवि ने पृथ्वीराज-सम्बन्धी वार्तालाप में स्वयं उसे श्रोता बनाकर एक प्रकार का नाटकीय रस ला दिया है। जयचन्द्र के मन में एकाध बार सन्देह होता है, पर पृथ्वीराज खवासवेश में दरबार के बाहर आ जाता है। लेकिन अन्त तक यह बात छिपती नहीं। पृथ्वीराज का पड़ाव घेर लिया जाता है, युद्ध का नगाड़ा बज उठता है और इसी युद्ध के बीच पृथ्वीराज अकेले कन्नौज की शोभा देखने चल पड़ते हैं। युद्ध का रोर सुनकर कन्नौज की सुन्दरियाँ अटारियों पर आ बैठती हैं। घोर युद्ध होता है और उसी दुर्द्धर युद्ध की पृष्ठभूमि में कवि ने रोमांस का आयोजन किया है। चन्द की यह अद्भुत घटना-योजना-शक्ति रासो में अन्यत्र कहीं भी प्रकट नहीं हुई। तलवारें चमक रही थीं, घोड़े और हाथियों की सेना में जुझाऊ बाजे बज रहे थे, वीरदर्प से कन्नौज मुखरित हो उठा था और मस्तमौला पृथ्वीराज संयोगिता के महल के नीचे मछलियों को मोती चुगा रहे थे। संयोगिता की सखियों ने देखा, संयोगिता ने भी देखा। क्या देखा? हृदय के आराध्य प्रेममूर्ति पृथ्वीराज मछलियों को मोती चुगा रहे हैं। एक क्षण के लिए सन्देह हुआ। चित्रसारी में जाकर पृथ्वीराज का चित्र देखा और विश्वास हो गया कि निस्सन्देह यही वह राजा है, जिसकी मूर्ति के गले में संयोगिता ने अपनी वरमाला डाल दी थी। और फिर पृथ्वीराज ने भी संयोगिता को देखा। क्या देखा?

कुंजर उप्पर सिंघ सिंघ उप्पर दोय पव्वय।
पव्वय उप्पर भृंग भृंग उप्पर ससि सुम्भय।
ससि उप्पर इक कीर कीर उप्पर मृग दिट्ठौ।
मृग उप्पर कोवंड सघ कद्रप्प बयट्ठौ।
अहि मयूर महि उप्परह हीर सरस हेमन जर्‌यो।
सुर भुवन छंडि कवि चद कहि तिहि धोर्षे राजन परयो॥

इसके बाद प्रेम का देवता अपनी स्वाभाविक गति से आगे बढ़ने लगता है। संयोगिता ने दासी के हाथ से थाल में मोती भिजवाया। पृथ्वीराज अन्यमनस्क भाव से उन मोतियों को भी मछलियों को चुगाते रहे। फिर दासी ने ऊपर इशारा करके संयोगिता को दिखाया। कवि ने बड़ी कुशलता के साथ प्रेमियों के भाव-परिवर्त्तन का चित्रण किया है। संयोगिता की विचित्र स्थिति है, बोले कि न बोले? बोले तो हाथ से चित्त ही निकल जाय और न बोले तो हृदय फट जाय! भइ गति साँप छुछुंदरि केरी!

जो जंपौ तो चित्त हर अनजम्पं विरहन्त।
अहि डट्ठं छच्छुन्दरी हियँ विलग्गी वन्ति ।।

परन्तु, अन्त तक त्रिभुवनविजयी प्रेमदेवता की ही जीत होती है। पृथ्वीराज महल में लाये जाते है और गन्धर्वविवाह हो जाता है। इसी समय पृथ्वीराज को खोजते हुए गुरुराम गंगा के तट पर आ जाते है और उनसे सेना का हाल सुनकर पृथ्वीराज चल देते है। युद्ध फिर बीच मे भयंकर ध्वनि के साथ आ उपस्थित होता है। संयोगिता व्याकुल हो उठती है। माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध उनके शत्रु को प्रेम करनेवाली बालिका के हृदय की दशा बड़ी ही करुण थी। वह व्याकुलभाव से रोकर मूच्छित हो गयी। इसी समय पृथ्वीराज उपस्थित हुए। संयोगिता को घोड़े पर बैठाकर वे दिल्ली की ओर चले। जुझाऊ बाजे बजते रहे, तलवारें खनखनाती रहीं, घोड़े दौड़ते रहे, सूर-सामन्त युद्धोन्माद मे पड़े रहे। भयंकर युद्ध हुआ। पृथ्वीराज के राजभक्त सामन्त कई दिनों तक लड़ते रहे और राजा अपनी प्रिया के साथ भागते रहे। वीररस की पटभूमि पर यह प्रेम का चित्र बहुत ही सुन्दर निखरता है, पर युद्ध का रंग बहुत-बहुत गाढ़ा हो गया है। प्रेम का चित्र उसमे एकदम डूब गया है। कथा का आरम्भ जिस प्रकार हुआ था, उससे लगता है कि प्रेम के चित्र को इस प्रकार युद्ध के गहरे रग में नही डूबना चाहिए। यह युद्ध प्रेम का परिपोषक होकर आया है। या तो युद्ध का इतना गाढा रग बाद के किसी अनाड़ी चित्रकार ने पोता है या फिर चन्द बहुत अच्छे कवि नही थे। कथा का आरम्भ जिस ललित ऊर्जस्वल योजना के साथ हुआ था, उसे देखते हुए उसकी यह परिणति सामंजस्य न पहचानने का चिह्न है। कथा की परवर्ती परिणति बताती है कि शुरू में मूल कवि ने इतना रंग नही पोता होगा। चन्द कुशल कवि ही थे। उन्होंने इस प्रेम-कथानक की बड़ी ही सुन्दर और सुकुमार योजना की थी। युद्ध का वर्णन उस प्रेम-प्रसग को गाढ़ बनाने के उद्देश्य से आया है, सरदारों की मृत्यु-सूची बताने के लिए नहीं। जान पड़ता है, किसी उत्साही वीर कवि ने युद्ध के प्रसंग में बहुत-कुछ जोड़कर बेकार ही उसे इतना घसीटा है। इस बात को यदि स्वीकार न किया जाय तो कहना होगा कि चन्द को सामंजस्य का बोध नही था।

इस प्रकार सयोगितावाला प्रसंग निस्सन्दिग्ध रूप से मूल रासो का सर्वप्रधान अंग था, यद्यपि अपने वर्तमान रूप में वह बहुत-से प्रक्षिप्त अंशों के कारण विकृत हो गया है। इसके बाद शुकचरित्र है, जिसके बारे में पहले ही उल्लेख किया गया है कि कथा के प्रवाह के वह अनुकूल ही है। यद्यपि उसके बारे में निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वह रासोकार की अपनी रचना है ही। अन्यान्य काव्यों की भांति रासककाव्य भी मिलनान्त होते हैं। संयोगिता के मिलन के बाद कवि का उद्देश्य पूरा हो जाना ही सगत जान पड़ता है। शुकचरित्र के द्वारा इंछिनी का हृदय शान्त करना भी संगत ही है। 'सन्देशरासक' विरह-काव्य है, पर कवि अचानक अन्त में मिलन की योजना कर देता है। विरहिणी अपना व्याकुल सन्देशा

देकर ज्यों ही घर की ओर लौटना चाहती है, त्यों ही उसका पति दक्षिण की ओर से आता दिखायी देता है। इस प्रकार अप्रत्याशित 'अचिन्तउ' मिलन की योजना कवि को स्वयं थोड़ा उद्वेजक मालूम पड़ती है। लेकिन उसका उपयोग वह पाठक को आशीर्वाद देने में कर लेता है—उस विरहिणी की कामना जिस प्रकार अप्रत्याशित रूप से छिन-भर में ही सिद्ध हो गयी, उसी प्रकार इस काव्य के पढ़ने-वालों की भी पूरी हो—अनादि अनन्त देवता की जय हो :

जेम अचिन्तिउ कज्ज तसु, सिद्ध खणद्धि महन्तु।
तेम पढन्त सुणन्त यह, जयउ अणाइ अणन्तु।

और तो और, कालिदास को भी विरह का समुद्र उद्वेल कर लेने के बाद मिलन करा देने की उतावली हो गयी थी :

श्रुत्वा वार्तां जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः
शापस्यान्त सदयहृदयः संविधायास्तकोपः।
सयोज्यैतौ विगलितशुचौ दम्पती हृष्टचित्तौ
भोगानिष्टानविरतसुखं भोजयामास शश्वत्॥

यही चिराचरित भारतीय प्रथा है। रासो की समाप्ति भी आनन्द में ही होनी चाहिए। रासो मे संयोगिता के साथ पृथ्वीराज के विलास का प्रधान वर्णन तो शुकचरित्र मे ही मिल जाता है, पर अन्तिम हिस्सों मे कई जगह विना किसी योजना के और विना किसी प्रसंग के (या जवर्दस्ती लाये हुए प्रसगों मे) इस संयोग-सुख का वर्णन मिलता है। वीच-वीच मे इंछिनी का पतिव्रतारूप भी स्पष्ट हो उठता है। इन्ही किन्ही प्रसंगों में मूल रासो का अन्तिम अंश प्रच्छन्न है। यह प्रसिद्ध है कि चन्द के पुत्र ने इस ग्रन्थ को पूरा किया था। पता नहीं, इस 'पुत्र' ने कितना विस्तार किया है। सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इन 'पुत्रों' की संख्या वहुत अधिक रही है और दो-तीन शताब्दियों तक उनका प्रभुत्व रहा है।

आरम्भ मे हमने ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से सम्बद्ध भारतीय काव्यों की मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है। उस पृष्ठभूमि में रासो का यह रूप अनुचित नहीं मालूम होता। सभी ऐतिहासिक कहे जानेवाले काव्यों के समान इसमें भी इतिहास और कल्पना का—फैक्ट्स और फिक्शन का—मिश्रण है। सभी ऐतिहासिक मानी जानेवाली रचनाओं के समान इसमें भी काव्यगत और कथानक-प्रथित रूढ़ियों का सहारा लिया गया है। इसमे भी रस-सृष्टि की ओर अधिक ध्यान दिया गया है, सम्भावनाओं पर अधिक जोर दिया गया है और कल्पना का महत्त्व पूर्णरूप से स्वीकार किया गया है।

पंचम व्याख्यान

अपभ्रंश-ग्रन्थों के प्रकाशन से अनेक तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। जब-जब कोई जाति नवीन जातियों के सम्पर्क में आती है तब-तब उसमें नयी प्रवृत्तियाँ आती हैं, नयी आचार-परम्परा का प्रचलन होता है, नये काव्य-रूपों की उद्भावना होती है और नये छन्दों में जनचित्त मुखर हो उठता है। नया छन्द नये मनोभाव की सूचना देता है। श्लोक का उदय नयी साहित्यिक मोड़ की सूचना है। वह बताता है कि संवेदनशील कविचित्त में नये युग के उषःकाल की किरण नवीन जागरण का सन्देशा दे चुकी है। इसी प्रकार गाथा का उदय दूसरी सूचना है और दोहा का उदय तीसरी। श्लोक लौकिक संस्कृत के आविर्भाव का सन्देशवाहक है। वैदिक युग जब समाप्त हुआ तभी वह पूरी शक्ति के साथ उदित हुआ। एक तरफ उसमें आदिकवि का काव्य मुखर हुआ और दूसरी तरफ व्यासदेव का महाभारत। रामायण ने काव्य-साहित्य की परम्परा को जन्म दिया और इतिहास-काव्य ने पुराण और स्मृति-साहित्य को। बाद में लौकिक संस्कृत का काव्य अनेक छन्दों से बहु-विचित्र हो उठा। इन छन्दों में उपजाति-श्रेणी के छन्द अधिक लोकप्रिय हुए। फिर मन्दाक्रान्ता और शार्दूलविक्रीडित छन्द भी उदित हुए। अनेक कृती कवियों ने इन छन्दों में मनोहर काव्य लिखे। 'अमरुक शतक' और 'मेघदूत' में बड़े-बड़े छन्द व्यवहृत हुए हैं। इतने बड़े-बड़े छन्दों में सुन्दर काव्य का निर्वाह सूचित करता है कि कवियों का भाषा पर बहुत व्यापक अधिकार हो चुका था। जिन दिनों यह जटिल छन्दोबन्ध लौकिक संस्कृत में बहुत सफलतापूर्वक लिखा जाने लगा था, उन्हीं दिनों लोकभाषा एक नये छोटे-से छन्द की ओर मुड़ गयी। जिस प्रकार श्लोक संस्कृत की मोड़ का सूचक है उसी प्रकार गाथा, प्राकृत की ओर के झुकाव का व्यंजक है। आगे चलकर श्लोक संस्कृत का और गाथा प्राकृत का प्रतीक हो गया। सन् ईसवी के आरम्भिक दिनों में गाथा का साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश हो चुका था। 'हाल' का गाथाकोश या 'सत्तसई' अपने ढंग की बिल्कुल नवीन रचना थी। इसमें जिस प्रकार की लौकिक-रस-प्रधान कविता का दर्शन होता है, वह संस्कृत-साहित्य में अपरिचित-सा था। छोटे-मोटे नित्य घटनेवाले जीवन-व्यापारों के साथ इसमें एक ऐसा निकट-सम्पर्क पाया जाता है जो आमुष्मिकता के आतंक से ग्रस्त पूर्ववर्ती संस्कृत-साहित्य में बिल्कुल नहीं मिलता। प्रेम और करुणा के चुभनेवाले भाव, प्रेमियों की सरस क्रीड़ाओं का बोलता हुआ चित्र और प्रेम के घात-प्रतिघात के मनोहर दृश्य इस ग्रन्थ में अत्यन्त सजीव रूप में प्रकट हुए हैं। अहीर और अहीरिनियों की प्रेमगाथाएँ, ग्रामवधूटियों की शृंगार-चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई ग्राम-ललनाओं के नयनाभिराम चित्र, विभिन्न ऋतुओं के भावोद्दीपक व्यापार इस ग्रन्थ में बहुत ही मनोरम रूप में चित्रित हैं और फिर भी इन प्राकृत गाथाओं को लोक-साहित्य नहीं कहा जा

सकता। सतर्कता और सावधानी जो संस्कृत-कविता की जान है, इसमें भी है। अग्राम्य मनोहर भावों का चुनाव रुचि के साथ किया गया है। एक करोड़ गाथाओं में से चुनकर सात सौ रत्नों को निकालने की अनुश्रुति उसी सतर्कता और सावधानी की सूचना देती है। इसलिए गाथा को इस विदग्ध-स्वीकृत रूप में आते-आते निश्चय ही कुछ शताब्दियों की यात्रा करनी पड़ी होगी। तीसरे झुकाव की सूचना लेकर एक दूसरा छन्द भारतीय साहित्य के प्रागण में प्रवेश करता है, यह दोहा है। 'विक्रमोर्वशीय' में इसका सबसे पुराना रूप प्राप्त होता है, जैसे श्लोक लौकिक संस्कृत का; गाथा, प्राकृत का प्रतीक हो गया है, उसी प्रकार दोहा अपभ्रंश का। कभी-कभी एक-आध दोहे प्राकृत के भी बताये गये हैं। जैसे हेमचन्द्र की समस्या-पूर्तिवाला प्रबन्ध-चिन्तामणि का यह दोहा :

पइली ताव न अनुहरइ गोरी मुहकमलस्स।
अद्दिट्ठी पुनि उन्नमइ पडिपयली चन्दस्स॥

परन्तु विचार किया जाय तो इस दोहे मे कोई ऐसा विशेष लक्षण नही है, जिससे इसे अपभ्रंश का दोहा न कहकर प्राकृत का कहा जाय। मुझे तो यह दोहा अपभ्रंश का ही लगता है और सच बात तो यह है कि जहाँ दोहा है वहाँ संस्कृत नही, प्राकृत नही, अपभ्रंश है। वैसे तो यह देश बहुत संरक्षण प्रिय है और जो छन्द एक बार चल पड़ा, वह निरन्तर चलता रहता है। संस्कृत मे भी दोहे लिखे गये है और गाथाएँ भी लिखी गयी हैं और प्राकृत मे भी सभी संस्कृत छन्दों का व्यवहार हुआ है, दोहे का व्यवहार भी कही-न-कही मिल ही जायेगा। परन्तु सचाई यही है कि श्लोक सस्कृत का, गाथा प्राकृत का और दोहा अपभ्रंश का अपना छन्द है। माइल्ल धवल नामक कवि ने, 'दव्वसहावपयास' (द्रव्यस्वभावप्रकाश) नामक ग्रन्थ को पहले दोहाबन्ध (अर्थात् अपभ्रंश) मे देखा था। लोग उनकी हँसी उड़ाते थे (शायद इसलिए कि अपभ्रंश गँवारू भाषा थी)। सो, उन्होंने गाहाबन्ध (प्राकृत) में कर दिया। स्पष्ट ही दोहाबन्ध का अर्थ अपभ्रंश है और गाहाबन्ध का प्राकृत। माइल्ल धवल कहते है :

दव्वसहावपयासं दोहयबन्धेण आसि जं दिट्ठं।
तं गाहाबन्धेणय रइयं माइल्ल धवलेण॥

[जो द्रव्यस्वभाव प्रकाश नामक ग्रन्थ पहले दोहाबन्ध में दिखता था उसे माइल्ल धवल ने गाथाबन्ध में लिखा।]

—'जैनसाहित्य का इतिहास', पृ. 168

पहले-पहल यह सहज छन्द कब चल पड़ा—यह कह सकना कठिन है। 'विक्रमोर्वशीय' में का दोहा-छन्द अपभ्रंश भाषा में ही लिखा है :

मइँ जाणिअँ मिअलोअणी, णिसअरु कोइ हरेइ।
जाव ण णव तडि सामल, धाराहरु वरिसेइ॥

—'विक्रमोर्वशीय', चतुर्थ अंक

अर्थात् 'मैंने समझा था कि कोई निशाचर मृगलोचनी को हरण किये जा

रहा है, लेकिन यह मेरी गलती थी। इस गलती को मैंने तब महसूस किया जब कि नवीन विद्युत् से संयुक्त श्यामल मेघ बरसने लगे।' जैकोबी को लगा था कि यह भाषा कालिदास की नहीं हो सकती। अर्थात् यह प्रक्षिप्त है। भाव के बारे में भी किसी-किसी को सन्देह है। इसी शब्दावली से मिलता-जुलता दोहा हेमचन्द्र के व्याकरण में भी है .

मइ जाणिउ प्रियविरहियहं, कवि धर होइ विआलि।
णवर मियङ्कु वि तिह तवइ, जिह दिणयरु खयगालि ॥—हेमचन्द्र, 4

अर्थात् 'मैंने समझा था कि प्रिय-विरहिता नारियों को कम-से-कम सायंकाल कुछ सहारा मिल जाता होगा। पर यहाँ तो मृगाङ्क भी इस भाँति तपता है जैसे प्रलयकाल का सूर्य हो।' छ: सौ वर्ष बाद एक-सी पदावली का आना बहुत आश्चर्य की बात नहीं है, पर सन्देह जगा देने की योग्यता तो उसमें है ही। परन्तु यह दोहा कालिदास में प्रक्षिप्त हो या न हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि अपभ्रंश का साहित्य पाँचवीं-छठी शताब्दी में काफी मात्रा में वर्त्तमान था। दण्डी और भामह ने उस साहित्य को देखा था और एकाध शताब्दी बाद के तो कई अपभ्रंश काव्य और दोहा-ग्रन्थ मिल भी गये हैं। अपभ्रंश को 'दूहाविद्या' कहा गया है। इससे भी पता चलता है कि शुरू-शुरू में दोहा अपभ्रंश का प्रतीक था। बौद्धों और जैनों के कई दोहाबद्ध अपभ्रंश-काव्य मिले हैं। 'परमात्म-प्रकाश' के दोहों को सातवीं शताब्दी का बताया गया है; परन्तु मैंने अन्यत्र दिखाया है कि वे दोहे नवीं-दसवीं शताब्दी के पहले के नहीं हो सकते।

यदि जंगल में भटकते हुए प्रिया-विरह से व्याकुल राजा के प्रलाप में कवि ने तत्काल प्रचलित ग्राम्यजन के गेय पदों में से एकाध पद कहलवा दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। माइल्ल धवल की उक्ति से स्पष्ट ही है कि अपभ्रंश या दोहाबन्ध उन दिनों भले आदमियों की हँसी की चीज थी। इस दृष्टि से 'विक्रमोर्वशीय' वाले दोहे को प्रक्षिप्त कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार गाथा को बहुत बाद के साहित्यकारों का करावलम्ब मिला, उसी प्रकार दोहा को भी कुछ दिनों बाद ही उपरले स्तर के साहित्यकारों का सहयोग मिला होगा। यह कह सकना कठिन ही है कि आभीर या अहीर जाति से इस छन्द का क्या सम्बन्ध था। नाट्यशास्त्र में कथित जिस उकारबहुला भाषा को आभीरों से सम्बन्धित किया गया है, वह अपभ्रंश ही थी। दण्डी ने भी आभीर आदि की वाणी को अपभ्रंश कहा है और 'प्राकृतपैंगलम्' में एक विशेष छन्द को आभीर या अहीर नाम दिया गया है। इस आभीर या अहीर छन्द में दोहा के द्वितीय और चतुर्थ चरण के समान ग्यारह मात्राओं के चार समान चरण होते हैं। इस छन्द का लक्षण इसी छन्द में इस प्रकार है :

ग्यारह मत्त करीज, अन्त पओहर दीज।
एहु सुछंद अहीर, जपइ पिंगल धीर॥ 'प्राकृत पैंगलम्'

तो, इसका कुछ सम्बन्ध दोहे से खोजा जा सकता है। आधुनिक अहीरों के

अत्यन्त प्रिय विरहा-गान का खाका मूलतः दोहा छन्द ही है। सोरठा का सम्बन्ध सौराष्ट्र से जोड़ा गया है; क्योंकि इसे कभी-कभी सोरट्ठ दोहा ही कहा गया है और आभीर-गुर्जरों का सौराष्ट्र से पुराना सम्बन्ध है। सब मिलाकर ऐसा लगता है कि दोहा का कुछ सम्बन्ध सम्भवत. आभीर आदि जातियों से स्थापित किया जा सके; परन्तु यह ठोस प्रमाणों पर कम और अटकल पर अधिक आधारित है।

गाथा प्राकृत-भाषा की प्रकृति के अनुसार दीर्घान्त छन्द मे और दोहा अपभ्रंश भाषा की प्रकृति के अनुसार ह्रस्वान्त छन्द के रूप मे है। यह छन्द नवी-दसवी शताब्दी मे लोकप्रिय हो गया था। इस छन्द मे नयी बात यह है कि इसमें तुक मिलाये जाते हैं। संस्कृत-प्राकृत मे तुक मिलाने की प्रथा नही थी। दोहा, वह पहला छन्द है, जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ और आगे चलकर एक भी ऐसी अपभ्रंश-कविता नही लिखी गयी जिसमे तुक मिलाने की प्रथा न हो। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा केवल नवीन छन्द लेकर ही नही आयी, बिल्कुल नवीन साहित्यिक कारीगरी लेकर भी आविर्भूत हुई। ईरान के साहित्य मे मुस्लिम-पूर्व काल मे भी तुक मिलाने की प्रथा थी और बाद मे तो फारसी गद्य मे भी तुक मिलाकर लिखने की प्रथा चल पड़ी, जिसका निश्चित अनुकरण विद्यापति की 'कीर्त्तिलता' के गद्य मे मिलता है। छठी-सातवी शताब्दी तक भारतवर्ष मे उत्तर-पश्चिम सीमान्त से अनेक नयी जातियों का आगमन हुआ और उनके कारण इस देश की भाषा मे भी नये-नये तत्त्व प्रविष्ट हुए और कविता भी नवीन कारीगरी से समृद्ध हुई। हो सकता है कि यह तुक मिलाने की नवीन प्रथा भी नवीन जातियो के सम्पर्क का फल हो। इसमे तो कोई सन्देह ही नही कि दोहा नवीन स्वर मे बोलता है। स्त्रियों की अद्भुत दर्पोक्ति, जो आगे चलकर डिंगल-कविता की जान हो गयी, इन दोहों मे प्रथम बार बहुत ही दृप्त स्वर में प्रकट हुई है -

महु कन्तहो बे दोसड़ा, हेल्लि म झङ्खहि आलु।
देन्तहो हउँ पर उव्वरिय, जुज्झन्तहो करवालु॥

[ऐ सखी, बेकार बकन्बक मत कर। मेरे प्रिय के दो ही दोष हैं—जब दान करने लगते है तो मुझे बचा लेते है और जब जूझने लगते हैं तो करवाल को।]

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण।
अह भग्गा अम्हत्तणा तो तें मारिअडेण॥

[यदि शत्रुओं की सेना भगी है तो इसलिए कि मेरा प्रिय वहाँ है, और यदि हमारी सेना भगी है तो इसलिए कि वह मर गया है!]

जहिं कप्पिज्जइ सरिण सरु, छिज्जइ खग्गिण खग्गु।
तहिं तेहइ भड घड निवहि, कन्तु पयासइ मग्गु॥

[जहाँ वाणों से वाण कटते है, तलवार से तलवार टकराती है, उसी भट-घटा-समूह मे मेरा प्रिय मार्ग को प्रकाशित करता है।]

भग्गउँ देक्खिवि निययवलु वलु पसरिअउँ परस्स।
उम्मिलइ ससिरेह जिव करि करवालु पियस्स॥

[जब प्रिय देखता है कि अपनी सेना भाग खड़ी हुई है और शत्रु का बल बढ़ रहा है, तब चन्द्रमा की महीन रेखा के समान मेरे प्रिय की तलवार खिल उठती है (और प्रलय मचा देती है !)]

आयइं जम्मंहिं अन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहिं कन्तु ।
गयमत्तहँ चत्तकुसहँ जो अब्भिडइहि हसन्तु ॥

[इस जन्म में भी और अगले जन्म मे भी हे गौरी, ऐसा पति देना जो अंकुश के बन्धन को अस्वीकार कर देनेवाले मदमत्त हाथियों से अनायास भिड़ जा सके।]

सगर सएहिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु ।
अइमत्तहँ चत्तकुसहँ गय कुंम्भेहिं दारन्तु ॥

[वह देखो, वह मेरा प्रिय है जिसका बखान सैकड़ों लड़ाइयों में हो चुका है। वह—जो अंकुश को अस्वीकार करनेवाले मत्त गजराजों के कुम्भ विदीर्ण कर रहा है !]

गाथा की भांति अपभ्रंश के ये दोहे अपने-आपमें परिपूर्ण मुक्तक काव्यों के वाहन स्वीकार किये गये थे और सच पूछिए तो दोहा मुक्तक-काव्य का ही सफल वाहन है। यह प्रबन्ध या कथानक के लिए उपयुक्त छन्द नहीं मालूम होता। 'ढोला-मारू' के दोहे यद्यपि कथानकरूप में लिखे गये हैं; परन्तु वे वस्तुतः मुक्तक ही हैं। इसी कथानक-सूत्र को जोड़ने के उद्देश्य से सोलहवीं शताब्दी में दोहों के बीच-बीच में चौपाई जोड़कर कथानक को क्रमबद्ध करने का प्रयास किया गया था। चौपाई छोटा छन्द है, वह कथानक को सहज ही जोड़ देता है। अपभ्रंश-काल के आरम्भ से ही इस छन्द के इस गुण को समझा जाने लगा था; परन्तु इसकी ठीक-ठीक प्रकृति जानने में कुछ समय लगा।

अपभ्रंश के काव्य कडवक-बद्ध हैं। पज्झटिका या अरिल्ल छन्द की कई पंक्तियाँ लिखकर कवि एक घत्ता का ध्रुवक देता है। कई पज्झटिका, अरिल्ल या ऐसे ही किसी छोटे छन्द को देकर अन्त में घत्ता का ध्रुवक—यह कडवक है। पं. नाथूरामजी 'प्रेमी' ने लिखा है कि "अपभ्रंश-काव्यों में सर्ग की जगह प्रायः सन्धि का व्यवहार किया जाता है। प्रत्येक सन्धि में अनेक 'कडवक' होते हैं और एक कडवक आठ 'यमकों' का तथा एक यमक दो पदों का होता है। एक पद में, यदि यह पद्धडियाबद्ध हो तो, सोलह मात्राएँ होती हैं। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार चार पद्धडियों यानी आठ पंक्तियों का 'कडवक' होता है। हरएक कडवक के अन्त में घत्ता या ध्रुवक होता है।" ('जैन-साहित्य का इतिहास,' पृ. 377 टि.)। अरिल्ल चौपाई का ही पूर्वरूप है। कथा-काव्य में इसका खूब प्रयोग भी हुआ है, परन्तु शुरू-शुरू में चौपाई की अपेक्षा अपभ्रंश में पद्धड़िया का ज्यादा प्रचार था। जिस प्रकार आजकल हम लोग चौपाई लिखने में तुलसीदास की श्रेष्ठता बतलाया करते हैं, उसी प्रकार स्वयम्भू ने चउम्मुह या चतुर्मुख को पद्धड़िया का राजा बताया था। 'हरिवंशपुराण' में उन्होंने कहा है कि पिंगल ने छन्द-प्रस्तार, भामह

और दण्डी ने अलंकार, वाण ने अक्षराडम्बर, श्रीहर्ष ने निपुणत्व और चतुर्मुख ने छर्दनिका, द्विपदी और ध्रुवकों से जटित पद्धड़िया दिया—'छड्डणिय दुवइ धुवएहिं जडिय। चउमुहेण समप्पिअ पद्धडिय।' ('जै. सा. इ.', पृ. 371-72)।

यह तो हुई चौपाई की बात, घत्ता दोहे से भिन्न छन्द है। यह 31 मात्राओ का छन्द होता है। प्रथम पंक्ति मे 10, 8, 13 पर यति होती है और दूसरे चरण में भी यही क्रम रहता है :

पढमं दह वीसामो वीए मत्ताइ अट्ठाहं।
तीण तेरह विरई, घत्त मत्ताइं वासट्ठि॥

उदाहरण यह है :

रण दक्ख दक्ख हणु, जिण्णु कुसुमधणु
अधअ गंध विलास करु।
सो रक्खउ सकरु, असुर भयंकरु
गिरिणायरि अद्धंग धर॥

[जिसने रणदक्ष दक्ष को मारा, कुसुमधन्वा (काम) को जीता, वह पार्वती को अर्धांग मे धारण करनेवाले असुर-भयकर शंकर रक्षा करें।]

परन्तु व्यवहार मे 'घत्ता' शब्द का व्यवहार छेदन के अर्थ मे ही होता रहा और कई बार काव्यों मे अरिल्ल या पज्झटिका के बाद उल्लाला या और कोई इसी तरह का 'द्विपंक्ति-लेख्य छन्द' (couplet) दे दिया जाता था। तुलसीदासजी की रामायण मे इसी कडवक-पद्धति को आठ या कुछ कम-ज्यादे चौपाइयो के बाद दोहा का घत्ता देकर स्वीकार किया गया है। रामायण के प्रेमी पूरे कडवक को भी दोहा ही कहते है। रामायण के दो 'दोहा' पढ़ने का मतलब होता है दो कड़वक पढ़ना। तुलसी-रामायण के इन कड़वको को दोहा-घत्ताक कड़वक कह सकते है, क्योकि रामायण में घत्ता के स्थान पर दोहा-छन्द का प्रयोग किया गया है। अप-भ्रंश के काव्यों मे भी घत्ता के स्थान पर अन्य छन्दो का व्यवहार हुआ है।[1]

1. उदाहरणार्थ 'पउमसिरिचरिउ' में प्रथम सन्धि के घत्ते 'घत्ता' छन्द मे हैं। एक उदाहरण यह है :

पणमिनि जय सामिणि नय सुर कामिणि वागेसरि सिय कमल कर।
पणयहं सब्भावि जीएं पभावि कविहि पयट्टइ वाणि वर॥ 14॥

किन्तु द्वितीय सधि मे दूसरा छन्द 'घत्ता' के लिए व्यवहृत हुआ है—

1. उदाहरणार्थ पुष्पदन्त के 'णयकुमारचरिउ' की सातवीं सन्धि के प्रथम कडवक का घत्ता यह है :

कुडिलकुस वस एहि णिच्चमेव पडिवण्णउ।
हत्थिहि सोहइ दाणु जेहि सवन्धणु दिण्णउ॥

फिर 'पउमसिरिचरिउ' की द्वितीयसन्धि के घत्ते इस छन्द मे है :

बन्धव जण वल्लह गुणयणि विणिय मयद गइ।
णाथिय रयणायर राहव लक्खण दोवि नई॥

अवयरिउ गइदह, कुमरु लोय लोयण सुहउ ।
सहु वन्धव लोएहि, संगु वि विसरिउ समुहउ ॥ 38 ॥

2 कई अपभ्रंश-काव्यों में घत्ता को घत्ता छन्द में ही लिखने का नियम कठोरता के साथ अपनाया गया है, पर सबमें उतनी कड़ाई नहीं दिखायी गयी। कभी-कभी शुरू में दुवई (द्विपदी) देकर अन्त में किसी दूसरे छन्द में घत्ता दिया गया है। 'णायकुमारचरिउ' में इस नियम का बहुत सुन्दर निर्वाह हुआ है। कभी छोटे-छोटे छन्दों में भी कडवक लिखे गये हैं। इन सब नियमों का परवर्ती काल में अनुसरण हुआ है। अनेक छन्दों में कथा कहने की प्रथा केशवदास की अपनी चलायी हुई नहीं है। 'करकण्डुचरिउ', 'णायकुमारचरिउ' आदि में छन्द बदलने की प्रवृत्ति मिलती है। वस्तुत. छन्दों के मामले में अपभ्रंश बहुत समृद्ध भाषा कही जा सकती है। अस्तु। दोहा का घत्ता अपभ्रंश के कवियों में एकदम अपरिचित तो नहीं था, जिनपद्म सूरि के 'थूलभद्दफागु' में इसका उदाहरण मिल जाता है। परन्तु प्रबन्ध-काव्य में चौपाई-दोहा का क्रम बहुत लोकप्रिय नहीं हुआ। सम्भवत. पूर्वी प्रदेश के कवियों ने प्रबन्ध-काव्य में चौपाई और दोहा से बने कडवकों का प्रयोग शुरू किया था। जायसी आदि सूफी कवियों ने इसी प्रथा का अवलम्बन किया था, परन्तु बीजरूप में यह प्रथा बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में मिल जाती है। सरहपा ने लिखा है

पण्डिअ सअल सत्य वक्खाणइ। देहहि बुद्ध बसन्त ण जाणइ ॥
गमणागमण न तेन विखण्डिअ। तो वि णिलज्ज भणहि हउँ पण्डिअ ॥

जीवन्तह जो नउ जरइ,
सो अजरामर होइ ।
गुरु उवएसे विमल मइ,
सो पर धण्णा कोई ॥

[पण्डित सकल शास्त्रों को ले बखानता है, पर देह में ही बुद्ध बसते हैं, यह नहीं जानता। उसने आवागमन को तो खण्डित नहीं किया, तो भी वह निर्लज्ज कहा करता है कि 'मैं पण्डित हूँ'। जो जीते-जी जीर्ण नहीं होता, वही अजर-अमर होता है। वही धन्य है जिसे उपदेश से विमल गति प्राप्त हो गयी है।]

चौपाई-दोहे का सबसे पुराना प्रयोग शायद यही है। जो कुछ पुराना साहित्य उपलब्ध है उससे लगता है कि पूर्वी प्रदेश के बौद्ध सिद्धों ने ही इस शैली में लिखना शुरू किया था। पश्चिम में पद्धडिया-बन्ध अधिक प्रचलित था और पद्धड़िया से कभी-कभी चौपाई का अर्थ भी ले लिया जाता था, जैसा कि जिनदत्त सूरि की चर्चरी के वृत्तिकार जिनपाल के वक्तव्य से स्पष्ट होता है। किन्तु सब मिलाकर चौपाई-दोहा की पद्धति उधर दीर्घकाल तक लोकप्रिय नहीं हुई। गोरखनाथ की बतायी जानेवाली वाणियों में भी इस पद्धति को कथंचित् खोज लिया जा सकता है और कबीरदास ने तो निश्चित रूप से इस पद्धति का व्यवहार किया था। इतने बड़े 'पृथ्वीराजरासो' में इस पद्धति का बहुत ही कम स्थानों में

उपयोग हुआ है। रासो में बयालीसवें समय (पृ. 1168) मे एक स्थान पर चौपाई-दोहा की पद्धति मिलती है। यह अश बहुत परवर्ती जान पडता है। छन्दों के आधार पर ही जो लोग रासो के प्राचीनतम रूप का अनुमान करते है वे तो इसे प्रक्षिप्त मानेंगे ही। ऐसा लगता है कि पूरब से ही यह प्रथा धीरे-धीरे पश्चिम की ओर गयी है।

एक मनोरंजक बात इस प्रसंग में यह है कि जिस प्रकार घत्ता के स्थान पर अपभ्रंश काव्य के कड़वकों मे दूसरे-दूसरे छन्द भी रख दिये जाते थे, उसी प्रकार परवर्तीकाल में अवधी के प्रबन्धकाव्यो में दोहा के स्थान पर अन्य छन्दों के रखने की प्रवृत्ति का भी कुछ प्रमाण मिल जाता है। नूर मुहम्मद ने दोहा के स्थान पर बरवै रखकर अपने 'अनुराग-बांसुरी' नामक प्रबन्धकाव्य के कड़वकों की रचना की थी।[1] पर सब मिलाकर पूर्वी प्रदेशों में दोहा का ध्रुवक देने का नियम ही बना रहा सरहपाद से लेकर द्वारकाप्रसाद मिश्र तक यह परम्परा लगभग अविच्छिन्नभाव से ही चली आयी है।

चौपाई छन्द ही कथानक छन्द है। सूरदास के नाम पर बहुत-से पद चौपाई छन्दों में बद्ध मिलते है। कई प्रतियो मे ये चौपाईवाले पद प्राप्त नही होते और कई में मिल जाते है। सूर-साहित्य के समालोचकों के लिए यह एक समस्या ही रही है। मुझे लगता है कि भावपूर्ण पदों के बीच, रासलीला आदि के समय कथा-सूत्र को जोड़ने के लिए ये चौपाई-बद्ध पद बाद मे जोड़े गये होगे। 'ढोला मारू' के दोहों का कथासूत्र मिलाने मे कुशललाभ ने इसी कौशल का सहारा लिया था।

सो, यद्यपि अपभ्रंश के आरम्भिक काव्यों में चौपाई-जैसे कथानकसूत्र-योजक छन्द का प्रचलन हो गया था और चौपाई के साथ अपभ्रंश के लाडिले छन्द दोहा का गठबन्धन भी हो चुका था, पर कथा-काव्य के लिए इसका महत्त्व बाद में समझा गया।

धीरे-धीरे अपभ्रंश में भी बडे-बड़े छन्द लिखे जाने लगे। रोला, उल्लाला, वीर, काव्य, छप्पय और कुण्डलिया अपभ्रंश के अपने छन्द है। धीरे-धीरे अपभ्रंश की कविता भी आडम्बरपूर्ण होती गयी। छप्पय और कुण्डलिया-जैसे छन्दों

1 एक उदाहरण :

बनो पथ दोऊ मनमांही। मानलीनता आवै नाही॥
आवै जाइ सुवा उपदेसी। दोऊ दिसि तैं बनो सदेसी॥
दुइ मन मिले बीच जो होई। सो ब्यवहार न जानै कोई॥
नित पलुहाइ नेह की बेली। फूलै लागि प्रीति की बेली॥
हित प्रगटावै ऊभी सांसू। बदन गोरना पथ मैं आंसू॥
कैसे छुपे नेह दुख भारी। जहाँ आंसु ऐसो बिभिचारी।
नेह न छिपे छिपाएँ जिमि मृगमार।
चहुँ दिसि सैं पहुँचावैं बचन बयार॥

—'अनुरागबांसुरी', [illegible] ८०.

को सँभालकर वीरदर्प की ओजस्विनी कविता लिखना भाषा की प्रौढ़ता का सबूत है।

चन्दवरदाई छप्पयों का राजा था। बहुत पहले शिवसिंह ने यह बात लिखी थी और रासो असल में छप्पयों का ही काव्य है। कविराज श्यामलदास तो रासो में छप्पय और दूहा के अतिरिक्त और किसी छन्द का अस्तित्व ही नहीं मानते, और वैसे तो हर तलवार की झकार में चन्दवरदाई तोटक, तोमर, पद्धरी और नाराच पर उतर आते हैं, पर जमकर वे छप्पय और दूहा ही लिखते हैं। यह अत्यन्त सकेतपूर्ण तथ्य है कि चन्दरवरदाई के नाम से मिलनेवाले छन्दों में, जिनकी प्रामाणिकता लगभग निस्सन्दिग्ध है, वे छप्पय ही हैं। मुनि जिनविजयजी ने 'पुरातनप्रवन्धसंग्रह' में चन्द के नाम पर मिलनेवाले चार छप्पयों का उल्लेख किया है। उनमें से तीन तो मुनिजी ने स्वयं ही वर्त्तमान रासो से ढूंढ़ निकाले हैं। 'पुरातनप्रवन्धसंग्रह' के छप्पयों की भाषा अपभ्रंश है। मैंने बहुत पहले अनुमान किया था कि चन्द हिन्दी-परम्परा के आदिकवि की अपेक्षा अपभ्रंश-परम्परा के अन्तिम कवि थे। यह बात इन छप्पयों से प्रमाणित होती है :

इक्कु वाणु पहुवीसु जु पइं कइंवासह मुक्कओं,
उर भितरि खडहडिउ धीर कक्खतरि चुक्कउ।
वीअं करि संधीउं भमइ सूमेसरनदण।
एहु सु गडि दाहिमओं खणइ खुद्दइं सइंभरिवणु।
फुड छडि न जाई इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह।
नं जाणउं चदवलद्दिउ किं न वि छुट्टइ इह फलह।

—'पुरातनप्रवन्धसंग्रह', पृ. 86, पद्य 275

एक वान पहुमी नरेस कँमासह मुक्यौ।
उर उप्पर थरहर्यौ वीर कप्पतर चुक्यौ॥
वियौ वान संधान हन्यौ सोमेसर नंदन।
गाढौ करि निग्रह्यौ पनिव गड्यौ संभरि धन।
थल छोरि न जाइ अभागरौ गड्यौ गुन गहि अगरौ।
इम जंपै चंदवरद्दिया कहा निघट्टै इन प्रलौ॥

—'पृथ्वीराजरासो', पृ. 1496, पृ. 236

अगहु मगहि दाहिमओं रिपुरायखयंकरु,
कूडु मन्त्र मम ठवओं एहु जंवुय (य?) मिलि जग्गरु।
सह नामा सिक्खवउ जइ सिक्खिवउं वुज्झाइं।
जंपइ चंदवलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ।
पहु पहुविराय सइंभरिधणी सयंभरि सउणइ संभरिसि,
कइवास विआस विसट्ठविणु मच्छिवंधिवद्धओं मारिसि॥

—'पु. प्र. सं.', पद्य 276

अगह मगह दाहिमो देव रिपुराई पयंकर।
कूरमंत जिन करो मिले जंबू वै जगर॥
मो सहनामा सुनो एह परमारथ सुज्झै।
अष्पै चंद विरद्द वियो कोई एह न वुज्झै॥
प्रथिराज सुनवि संभरि धनी इड सभलि सभारि रिस।
कैमास बलिष्ठ वसीठ विन म्लेच्छ वध बंध्यो मरिस॥

—'पृ. रा.', पृ. 2182, प. 475

त्रिण्हि लक्ष तुषार सबल पाषरीअइ जसु हय,
चऊद सय मयमत्त दति गज्जंति महामय।
वीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क पणुद्धर।
ल्हूसडु अरु वलु यान सख कु जाणई ताह पर।
छत्तीस लक्ष नराहिवई विहिविनडिओं हो किम भयउ,
जइचंद न जाणउ जल्हुकइ गयउ क मूड कि धरि गयउ॥

—'पु. प्र. स.' पृ. 88, प. 287

असिय लष्प तोषार सजउ पष्पर सायदल।
सहस हस्ति चवसट्ठि गरुअ गज्जत महाबल॥
पच कोटि पाइक्क सुफर पारक्क धनुद्धर।
जुध जुधान वर वीर तोन बन्धन बद्धनभर॥
छत्तीस सहस रन नाइंबौ विही त्रिम्मान ऐसो कियौ।
जैचन्द राइ कविचन्द कहि उदधि बुड्डि कै धर लियौ॥

—'पृ. रा.', पृ. 2502, प 216

एक मनोरंजक बात यह है कि चन्दवरदाई ने सस्कृत और प्राकृत श्लोक लिखने का भी प्रयास किया है। संस्कृत वे साटक या श्लोक छन्द में लिखते हैं और प्राकृत गाहा (गाथा) में। इन दोनों बातों को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि अपभ्रंश वे दूहा और छप्पय में लिखते होंगे। छप्पय आगे चलकर डिंगल का प्रधान छन्द हो गया है, पर यह संस्कृतवाला 'साटक' क्या है? रासो के सम्पादकों को इस नाम की व्याख्या करने में काफी श्रम उठाना पड़ा था। उन्होंने स्पष्ट ही अनुभव किया था कि यह छन्द 'शार्दूलविक्रीडित' का नामान्तर है। यहाँ इस बात का उल्लेख उनके मत में कोई भ्रान्ति दिखाने या सशोधन करने के उद्देश्य से नहीं किया जा रहा है। उन्होंने ठीक ही अनुमान किया था कि साटक शार्दूलविक्रीडित का नामान्तर है। मुझे इस शब्द पर विचार करने से एक दूसरी बात सूझी और यद्यपि वह थोड़ा अप्रासंगिक है, तो भी इस अध्ययन के लिए उपयोगी समझकर उसकी चर्चा कर रहा हूँ।

'प्राकृत-पिंगल' में शार्दूलविक्रीडित का लक्षण और उदाहरण दिया गया है और उसके बाद ही 'शाद्दूलसट्ट' का लक्षण दिया हुआ है जो वस्तुतः एक ही है। आगे 'शार्दूलस्य लक्षणद्वयमेतत्' कहकर उपसंहार किया गया है। ट

'सट्टक' या 'साटक' छन्द के और भी कई भेद दिये गये हैं। यहाँ छन्द के इन भेदों की चर्चा करने से कोई लाभ नहीं है। मुझे सिर्फ सट्टक या साटक शब्द से मतलब है। शार्दूलविक्रीडित का अनुवाद ही शार्दूल सट्टक होगा। वस्तुतः सट्टक एक प्रकार का नाटकभेद है। वह प्राकृत में लिखी हुई नाटिका के समान ही होता है। 'कर्पूर-मंजरी' एक सट्टक है। इसके लेखक राजशेखर ने सूत्रधार के मुख से इसका लक्षण कहलवाया है। सूत्रधार कहता है कि जो लोग सहृदय या 'छइल्ल' (छविल ? या छैला !) हैं अर्थात् विदग्ध हैं, उन्होंने कहा है कि सट्टक वह है जो बहुत-कुछ नाटिका के समान होता है। अन्तर सिर्फ यह है कि उसमें प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते :

सो सट्टओत्ति भण्णइ दूर जो णाडिआए अणुहरदि।
किंपुण पवेस विक्खम्भआई इह केवल णत्थि॥

सो, सट्टक एक प्रकार का नाटक है या लौकिक तमाशा है नौटकी की तरह। 'रासक' भी इसी प्रकार का एक रूपकभेद है और छन्द तो है ही। श्रीहरिवल्लभ जी भायाणी ने 'सन्देशरासक' की प्रस्तावना में रासक छन्द और काव्यरूप पर विचार किया है। उससे जान पड़ता है कि रासक एक छन्द का नाम है। 'सन्देश-रासक' का यह मुख्य छन्द है। इस पुस्तक का लगभग एक-तिहाई हिस्सा रासक छन्द में ही लिखा गया है। यह इक्कीस मात्राओं का छन्द है। इसे आभाणक भी कहते हैं। अनुमान किया जा सकता है कि शुरू-शुरू में रासकजातीय ग्रन्थ प्रधानतः इसी छन्द में लिखे जाते होंगे। 'रासक' का एक उदाहरण यह है :

तं जि पहिय पिक्खेविणु पिअ उक्कंखिरिय
मंथर गय सरलाइवि उत्तावलि चलिय।
तह मणहर चल्लतिय चचल रमण भरि
छुड़वि खिसिय रसणावलि किंकिणि रव पसरि। —'सन्देशरासक', 2/26-2

[वह प्रियोत्कण्ठित उस पथिक को देखकर मन्थर गति को सरल करके उतावली होकर चली। मनोहर भाव से उस प्रकार चलती हुई उस नायिका के कटि-प्रदेश से खिसककर करधनी गिर गयी और उसकी किंकणियों की ध्वनि वायुमण्डल में फैल गयी।]

जिनदत्तसूरि की 'चर्चरी' में इसी छन्द का व्यवहार है। उनके 'उपदेश-रसायनरास' में दूसरे छन्द का प्रयोग है जिसे टीकाकार ने पद्धटिका बन्ध कहा है। यह चौपाई-जैसे 16 मात्रा के छन्द में है। टीकाकार ने बताया है कि यह सभी रागों में गाया जा सकता है :

अत्र पद्धटिकाबंधे मात्राः षोडशपादगाः।
अयं सर्वेषु रागेषु गीयते गीतिकोविदैः॥

इससे ज्ञान पड़ता है कि पद्धटिका-बन्ध चौपाई छन्दों में भी होता था। पद्धरी वस्तुतः मात्राओं का छन्द है और इसमें रचना करते समय कवियों ने यथेच्छ स्वाधीनता का परिचय दिया है। पर चौपाई को पद्धड़िया कहने का रिवाज बहुत

पुराना नही जान पड़ता ।

विरहाङ्क ने अपने 'वृत्तजातिसमुच्चय' में दो प्रकार के रासक काव्यों का उल्लेख किया है । एक में विस्तारितक या द्विपदी और विदारी वृत्त होते थे और दूसरे में अडिल्ल, दोहा, मत्ता, रड्डु और ढोला छन्द हुआ करते थे । 'सन्देशरासक' दूसरी श्रेणी की रचना है । स्वयम्भू अपने 'स्वयम्भूछन्दस्' मे बताते है कि रासाबन्ध मे घत्ता छड्डुणिआ (छप्पय ?) और पद्धड़िया के प्रयोग से जनमन अभिराम हो जाता है :

घत्ता छड्डुणिआहिं पद्धडियाहिं रूए हिं ।
रसाबंधो कव्वे जणमण अहिरामओ होहि ॥

इससे पता चलता है कि उन दिनों रासाबन्ध काव्य का एक मुख्य भेद था और और उसमें विविध छन्दों का प्रयोग होता था । 'पृथ्वीराजरासो' इसी श्रेणी का काव्य है । इसमें रासक छन्द का प्रयोग बहुत कम हुआ है । हालांकि स्वयम्भू की 'स्वयम्भूछन्दस्' से स्पष्ट है कि रासक 21 मात्राओं का छन्द है, कोमल भाषा में लिखा जाता है, चौदह पर विश्राम होता है । इस प्रकार यह अभिरामतर लघु गतिवाला छन्द रासाबन्ध काव्य में व्यवहृत होकर उसे मधुरतर बना देता है :

एक्क वीस मत्ताणिह णउ उद्दामगिरु ।
चउदसाइ विस्साम हो भगण विरह थिरु ॥
रासावन्धज समिद्ध एउ अहिराम अरु ।
लहु अति अल अवसाण विरइअ महुर अरु ॥

शार्दूलसाटक का मतलब शार्दूल का खेल है । ठीक विक्रीडित शब्द का अनुवाद समझिए । संस्कृत के शार्दूलविक्रीडित शब्द का किसी ने शद्दूलसाटअ अनुवाद किया होगा । यह बात थोड़ी महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि 'रासो' शब्द को लेकर हिन्दी के विद्वानों ने बेमेल, बेमतलब के अटकल लगाये है । 'सन्देशरासक' जैसे ग्रन्थों के मिलने के बाद भी यह अटकल समाप्त नही हुआ है । रासक वस्तुतः एक विशेष प्रकार का खेल या मनोरंजन है । रास में यही भाव है । सट्टक भी ऐसा ही शब्द है । लोक में इन मनोरंजक विनोदों को देखकर संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने इन्हें रूपकों और उपरूपकों में स्थान दिया था । इन शब्दों का अर्थ विशेष प्रकार के विनोद और मनोरंजन थे । परवर्ती राजस्थानी काव्यों में, चरितकाव्यों मे चरितनायक के नाम के साथ 'रासो', 'विलास', 'रूपक' आदि शब्द देकर ग्रन्थ लिखना रूढ़ हो गया था । राजस्थानी 'रणमल्लरासो', 'राणारासो', 'मगतसिंह-रासो', 'रतनरासो' आदि रासो-नामधारी ग्रन्थ बहुत हैं । फिर 'विलास' नामधारी ग्रन्थ भी कम नही हैं—'राजविलास', 'जगविलास', 'विजयविलास', 'रतनविलास', 'अभयविलास', 'भीमविलास' इत्यादि । और 'रूपक' नाम देकर भी ग्रन्थ हैं, जैसे—'राजरूपक', 'गोगादरूपक', 'रावरणमल्लरूपक', 'गजसिंहरूपक' मे सब शब्द बाद मे चरितकाव्यों के लिए रूढ हो गये हैं । 'रासो' या देखकर ही वीरगाथा समझ लेना बहुत अच्छे अध्ययन का सबूत

जी ने 'वीसलदेव रासो' स्पष्ट रूप से वीरगाथा के बाहर घोषित किया था और अब तो दर्जनों ऐसे रासो या रासा नामधारी ग्रन्थ मिले हैं जो वीरगाथा किसी प्रकार नहीं कहे जा सकते। रासो केवल चरितकाव्य का सूचक है। प्रकाश और विलास भी तथैव च। सो, रासो में का 'साटक' शब्द इशारा करता है कि किसी जमाने में साटक या सट्टक विनोदवाची शब्द था और लोक में उसका प्रचलन देख कर शास्त्रकारों ने उसे नाट्यभेदों मे गिना, जिस प्रकार राय या रासक को गिना था।

गोस्वामी तुलसीदास का आविर्भाव सोलहवीं शताब्दी में हुआ था। उन दिनों लोक मे बहुत तरह के काव्य प्रचलित रहे होंगे। गोस्वामीजी ने देखा कि ये 'प्राकृतजनगुणगानमूलक' काव्य बड़ा अनिष्टकर प्रभाव फैला रहे है। उन्हें इस बात से जरूर ही बहुत क्लेश हुआ होगा। चरित्रगत शिथिलता को बढानेवाली चीजें उन्हे बिल्कुल पसन्द नही थीं। उन्होने दुःख के साथ और दृढ़ता से घोषित किया—"कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुन गिरा लगति पछताना।" दुःख उस समय की सामाजिक हीनता के कारण था और दृढता अपनी शक्ति में विश्वास के कारण। वे इस प्रयत्न में लग गये कि इन 'प्राकृतजनगुणगानमूलक' काव्य-रूपो को राममय कर दिया जाय। वे खूब सफल हुए। उन दिनों जितने 'प्राकृत-जनगुणगानमूलक' काव्य थे, वे सभी गोस्वामीजी के प्रभावशाली काव्य से दब गये। सब काव्य-रूपों को तो शायद वे राममय नही कर पाये होंगे, पर अधिकाश क्षेत्रों में वे सफल रहे। उनके काव्य-प्रयत्नों को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि उनके पूर्व की दो-तीन शताब्दियों मे किस जाति का साहित्य लिखा जा रहा था। गोस्वामीजी ने इन काव्यरूपो का उपयोग किया था :

1. दोहा-चौपाईवाले चरितकाव्य, 2. कवित्त-सवैया, 3. दोहों मे अध्यात्म और धर्म-नीति के उपदेश, 4. बरवै छन्द, 5. सोहर छन्द, 6. विनय के पद, 7. लीला के पद, 8. वीरकाव्यों के लिए उपयोगी छप्पय, तोमर, नाराच आदि की पद्धति, 9. दोहों में सगुन-विचार, 10. मंगल-काव्य।

इनमें से कुछ रूपों के बारे मे तो निश्चय के साथ ही कहा जा सकता है कि ये रूप अवश्य वर्त्तमान थे। चरितकाव्य बहुत लिखे जा रहे थे। जायसी का 'पद्मावत' और कुछ अन्य मुसलमान कवियों के चरितकाव्य प्राप्त हुए है। स्वयं जायसी ने अपने काव्य मे कुछ लौकिक कथानकों का उल्लेख किया है। इनमें 'मुग्धावती' है, 'मृगावती' है, 'मधुमालती' है और 'प्रेमावती' है। 'मृगावती' और 'मधुमालती' के नाम पर लिखे गये काव्यग्रन्थों का पता लगा है। जायसी से पूर्व की एक और प्राचीन प्रेम-कथा 'चन्दायन' या 'लोरचन्दा' भी प्राप्त हुई है। हो सकता है कि इन नायिकाओं के चरित को आश्रय करके कई-कई काव्य लिखे गये हों। उन दिनों के रसिया युवक इन कहानियों को वृद्धों की आँख बचाकर पढते थे। सन् 1603 ई. के आस-पास जैनकवि बनारसीदास ने अपना आत्मचरित 'अर्धकथानक' लिखा था, उसमे उन्होंने अपनी युवावस्था के इस कुकृत्य का वर्णन

किया है। वे कहते है कि 'हाट-बाजार जाना बन्द करके मैं 'मृगावती' और 'मधुमालती' की पोथियां पढ़ा करता था!' सूफी कवियों ने इन अत्यन्त प्रचलित कहानियों में सूफियाना मर्मी भाव भरना चाहा। गोसाईजी को इन 'कहनी-उपखान' के सहारे धर्मनिरूपण करनेवाले कलिकाल के अधम कवियों का पता था :

साखी सब्दी दोहरा, कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहि अधम कवि निंदहि वेद पुरान॥

इस प्रकार 'कहनी-उपखान' के द्वारा धर्मनिरूपण की प्रथा इस देश में नयी भी नहीं है और अपरिचित भी नहीं है। गोस्वामीजी ने यह नहीं बताया कि ये 'कहनी-उपखान' कहनेवाले कवि सूफी ही थे या और कोई। सूफी भी हो सकते है, जैन भी और निर्गुणिया तो थे ही।

कवित्त-सवैया की प्रथा कब चली, यह कहना भी कठिन है। ये ब्रजभाषा के अपने छन्द हैं। सवैया का सन्धान तो कथंचित् संस्कृत-वृत्तों मे मिल भी जाता है, पर कवित्त कुछ अचानक ही आ धमकता है। तुलसीदास ने जब इस छन्द का इतना उपयोग किया है तो इसका प्रचार निश्चय ही उन दिनों खूब रहा होगा। गंग, केशव आदि उनके समसामयिक कवियों ने जमकर इसका प्रयोग किया है। कवित्त अर्थात् घनाक्षरी। रासो में कवित्त का अर्थ है छप्पय। चन्द के नाम पर कुछ विशुद्ध ब्रजभाषा के घनाक्षरी छन्द चलते है, इनमे पृथ्वीराज का गुणानुवाद है। शिवसिंह ने अपने 'सरोज' में ऐसे कुछ छन्द उद्धृत किये थे। एक इस प्रकार है :

मंडन मही के अरि खण्डे पृथिराज वीर
तेरे डर वैरी वधू डाँग-डाँग डगे है।
देश-देश के नरेश सेवत सुरेश जिमि
काँपत फणेश सुनि वीक रस पगे है।
तेरे स्तुतिमंडलनि कुण्डल विराजत हैं
कहे कवि चंद यहि भाँति जेव जगे है।
सिंधु के वकील सम मेरु के वकीलहिं लै
मानहुँ कहत कछु कान आनि लगे है।

भाषा से ये परवर्ती लगते हैं। साहित्य मे इस छन्द का प्रवेश एकदम अचानक हुआ है। मूलतः ये वन्दीजन के छन्द है। सम्भवतः उसी परम्परा मे इसका मूल भी मिले। जिस प्रकार श्लोक लौकिक सस्कृत का, गाथा प्राकृत का और दोहा अपभ्रंश का अपना छन्द है, उसी प्रकार कवित्त-सवैया ब्रजभाषा के अपने छन्द है। जिसे हिन्दी का आदिकाल कहा जाता है, उसमें इस छन्द का प्रचार निश्चय ही हो गया था।

बरवै अवधी का अपना छन्द है। कुछ कवियो ने इसका उत्तम प्रयोग किया है। पर यह आगे चलकर उतना लोकप्रिय नहीं हो सका है। सोहर अब भी लोक-गीत के रूप में जी रहा है। साहित्य में तुलसीदास के पहले इसका प्रयोग अब तक नहीं प्राप्त हुआ।

'दोहा' अपभ्रंश का लाडला छन्द है, यह पहले ही बताया जा चुका है। सातवीं शताब्दी के बाद भारतीय साहित्य में इसका दर्शन होता है। प्रवेश तो इसका बहुत पहले ही हो चुका था, पर सातवीं-आठवीं शताब्दी में इसने शृंगार को, वीर को, धर्म को और नीति को लोकचित्त में प्रवेश कराने का व्रत लिया। धर्म के क्षेत्र में जोइन्दु और रामसिंह के मर्मी उपदेशों को इसने प्रचारित किया; सरह, कन्ह तिल्लोपा आदि बौद्ध सिद्धों की रहस्यवादी भावनाओं का यह वाहन बना, गोरखनाथ-जैसे अलख जगानेवालों का सहायक हुआ और कबीर जैसे फक्कड़ का सन्देशवाहक बना। शृंगारक्षेत्र में इसकी दुन्दुभी बहुत पहले बज चुकी थी। हेमचन्द्र के व्याकरण, 'प्रबन्धचिन्तामणि', 'सन्देशरासक' और 'ढोला मारू' के दोहों में इस छन्द की भाववाहन-योग्यता अद्भुत रूप में प्रमाणित हो चुकी थी। ऐसे छन्द को तुलसी बाबा कब छोड़नेवाले थे! इसे पवित्र भक्ति की मन्दाकिनी में स्नान कराने का श्रेय उन्हीं को है।

मंगलकाव्य की परम्परा बंगाल में प्राप्त होती है। जान पड़ता है कि तुलसीदास के पूर्व इस प्रकार के मंगलकाव्य बहुत लिखे जाते थे। बंगाल में पाये जानेवाले मंगलकाव्यों में देवताओं के यश वर्णित हैं। कबीर के नाम पर 'आदिमंगल', 'अनादि-मंगल' और 'अगाधमंगल' नाम के तीन मंगलकाव्य मिलते हैं। तुलसीदास ने 'पार्वती-मंगल' और 'जानकीमंगल' नाम से दो मंगलकाव्य लिखे हैं, जो वस्तुत विवाह-काव्य हैं। इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि मंगलकाव्य प्रधानत विवाह-काव्य थे। 'पृथ्वीराजरासो' के छियालीसवें समय में 'विनयमंगल' नाम का एक काण्ड जोड दिया गया है। यह भी विवाहकाव्य है। प्रसंग संयोगिता की शिक्षा का है। संयोगिता को उसकी गुरु ब्राह्मणी ने वधूधर्म की शिक्षा दी थी। ऐसा जान पड़ता है कि यह 'विनयमंगल' कोई पृथक् काव्य था जो बाद में रासो में जोड़ दिया गया है। अध्याय के मध्य में ही 'इति विनयकाण्ड समाप्त' कहा गया है जो इस बात का सूचक है कि यह विनयकाण्ड पूरा-का-पूरा कहीं से उठाकर इसमें जोड़ दिया गया। आगेवाले अध्याय में फिर से 'विनयमंगल' का प्रसंग आ जाता है। ऐसा गड्डु-मड्डु क्यों हुआ। संयोगिता की शिक्षा का यह प्रकरण मूल रासो का अंग था, उसमें 'विनयमंगल' का प्रसंग देखकर बाद में किसी इसी नाम की पूरी पुस्तक को वहाँ जोड़ दिया गया है। रासोवाला 'विनयमंगल' इस बात का सबूत है कि मंगलसाहित्य बंगाल से राजस्थान तक किसी समय व्याप्त था। कबीरदास का 'आदिमंगल' अपनी व्याख्या के लिए एक छोटे-से उपाख्यान की अपेक्षा रखता है। परवर्ती कबीरपन्थी ग्रन्थों में सृष्टि-प्रक्रिया का यह उपाख्यान मिल जाता है। मैंने अन्यत्र बंगाल के धर्ममंगल-साहित्य से इसकी तुलना करके दिखाया है कि ये दोनों साहित्य एक-दूसरे के पूरक हैं। सम्भवतः तुलसीदास ने जब 'कहनी-उपखान'-वालों की खबर ली थी तो मंगल-साहित्य के ग्रन्थ भी उनकी दृष्टि में थे। बंगाल में पाये जानेवाले मंगलकाव्य पौराणिक उपाख्यान-जैसे ही हैं और सचमुच ही उनमें 'धरमनिरूपन' का प्रयास है। उत्तरभारत से अब उस श्रेणी का साहित्य

प्रायः लुप्त हो गया है। पंजाब में 'रुक्मिणीमंगल' नामक लोकगीत अब भी गांवों में गाये जाते हैं। श्री महेन्द्र राजा ने एक ऐसे ही लोकगीत का सन्धान बताया है (जनपद अंक 3) और भी प्रदेशों में ऐसे काव्य जीवित होंगे। पूर्वी जिलों में मोंगर (मंगल) विवाहगीत ही हैं। पर तुलसी-पूर्व युग में विवाहपरक मंगलकाव्यों के साथ ही 'उपखानमूलक', मंगलकाव्य भी अवश्य लिखे जाते होंगे। कबीर के नाम पर बाद में लिखे गये अनेक मंगल और उपखान-ग्रन्थ इसके साक्षीरूप में जीवित हैं।

तुलसीदास के द्वारा प्रयुक्त अन्य काव्यरूपों को देखकर भी अनुमान होता है कि उस प्रकार के काव्यरूप पहले वर्तमान थे। अभी तक मैंने पदों के साहित्य को नहीं लिया। अब उसका भी प्रसंग आ रहा है; किन्तु उसकी चर्चा करने के पहले तुलसीदास ने जिस 'साखी सबदी दोहरा' पद्धति पर कटाक्ष किया है, उसकी थोड़ी विवेचना कर लेना आवश्यक है।

× × ×

कबीरदास के 'बीजक' में इतने काव्य-रूपों का प्रयोग है :

1. आदिमंगल (मंगलकाव्य), 2. रमैनी (चौपाई-दोहे), 3. शब्द अर्थात् गेय पद, 4. ग्यान चौंतीसा अर्थात् वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर से आरम्भ करके पद लिखन 5. विप्रमतीसी, 6. कहरा, 7. बसन्त 8. चांचर, 9. बेलि, 10 बिरहुली (सांप का विष उतारनेवाला गान), 11. हिण्डोला, 12. साखी (दोहे)।

यद्यपि 'बीजक' जिस रूप में आज मिलता है वह बहुत पुराना नहीं है, तो भी यह मान लिया जा सकता है कि इसमें जितने प्रकार के काव्यरूपों का प्रयोग है, वे सभी कबीरदास के समय में लोकप्रिय थे। तुलसीदास की भांति कबीर ने भी अपने आसपास के लोकप्रचलित विनोदों और काव्यरूपों को अपनाया होगा और उसमें अपने उपदेशों को भरकर जनता के उपयोग के लिए प्रचारित किया होगा। सन्त लोग प्रायः ही ऐसा करते आये हैं। कभी-कभी सन्तों ने लोक-प्रचलित ऐसे विनोद-रूपों का उल्लेख किया है, जिनका साहित्य में बहुत बाद में प्रवेश हुआ है। कबीर दास के प्रयुक्त बहुत-से काव्य-रूप जो 'बीजक' में सुरक्षित है आज भी जी रहे हैं, जैसे बिरहुली सांप का विष उतारने का गाना है। कबीरदास ने उसका प्रयोग विषयरूपी सर्प के विष उतारने के लिए किया है। कभी-कभी उनके द्वारा प्रयुक्त काव्य-रूपों की परम्परा काफी पुरानी भी सिद्ध होती है। 'आदिमंगल' की चर्चा हम पहले ही कर आये हैं। यहां एक-एक करके 'साखी सबदी दोहरा' पर विचार करना है। यह 'साखी' शब्द गोरखपन्थियों के साहित्य में भी मिलता है और कबीर-पन्थी साहित्य में तो मिलता ही है। सम्भवतः बौद्ध सिद्धों को भी इस शब्द का पता था; क्योंकि कण्हपा के एक पद में 'साखि करब जालन्धरपाएँ' में जालन्धरपाद को साक्षी करने की बात है। यहां मतलब यह मालूम होता है कि जालन्धर के वचनों का कण्हपा साखीरूप में उल्लेख कर रहे हैं। धीरे-धीरे गुरु के वचनों को 'साखी' कहा जाने लगा होगा। बौद्ध सिद्धों के ये उपदेश दोहा-छन्दों

मे लिखे गये थे। इसीलिए दोहा और साखी समानार्थक शब्द मान लिये गये होंगे। सरहपाद ने अपने एक दोहे मे उसे 'उएस' या उपदेश कहा है। यही 'उएस' या उपदेश परवर्ती काल मे साखी बन गया है। परवर्ती कबीर-साहित्य में तो दोहे का अर्थ ही साखी हो जाता है। अन्य निर्गुणिया सन्तों के सम्प्रदाय में भी साखी शब्द का प्रचलन है। प्राय साखी की पुस्तकों का विभाजन अंगों में हुआ करता है, अर्थात् साखी साक्षात् गुरुस्वरूप है। इसीलिए सन्त लोग अन्य दोहों से साखी को भिन्न वस्तु मानते हैं। रमैनियों के साथ साखी को उसकी प्रामाणिकता बढाने के लिए जोडा जाता है। मेरा विश्वास है कि रमैनी शब्द कबीर-सम्प्रदाय मे बहुत बात मे चला है, परन्तु साखी शब्द निश्चय ही पुराना है।

'शबद' या 'शब्द' गेय पद हैं। पुराने सिद्ध गेय पदों को किसी-न-किसी राग के नाम से ही लिखते थे; जैसे राग 'गवड़ा' (गौड़), राग धनाश्री इत्यादि। यह प्रथा सूरदास, तुलसीदास और दादू आदि सन्तो मे भी पायी जाती है। 'गुरुग्रन्थ-साहब' मे भी पदो के राग निर्दिष्ट हैं और कबीरदास के जो पद उनमें संकलित हैं उनके रागों का भी निर्देश कर दिया गया है। 'कबीर-ग्रन्थावली' में भी पदो के गेय रागो का निर्देश है। यहाँ तक कि रमैनी का भी राग 'सूही' निर्दिष्ट है। केवल 'बीजक' मे इस नियम का अपवाद है। यहाँ केवल 'शब्द' कहकर सन्तोष कर लिया गया है। क्यों ऐसा हुआ, इसका कोई स्पष्ट कारण नही मालूम। आदि-ग्रन्थ मे 'बीजक' के कुछ पद मिल जाते हैं।[1] परन्तु अधिकांश शब्द उसमें नहीं हैं। हमने 'कबीर' नामक अपनी पुस्तक मे दिखाया है कि तुलसीदास को 'बीजक' के एक सौ नवें पद का पता था, जिसमे 'दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम को मरम है आना' कहा गया है। 'शब्द' गोरखनाथियों मे भी प्रचलित था। ऊपर बताया गया है कि सन्तो ने लोकप्रचलित काव्यरूपों को अपनाया है और उसमे अपना उपदेश प्रचारित किया है। इस बात का एक मनोरंजक उदाहरण है 'ढोला मारू' के दोहों का कबीर के नाम से थोड़ा परिवर्तन के साथ पाया जाना। 'ढोला मारू रा दोहा' के सम्पादकों ने कबीर के दोहों मे से ऐसे बहुत खोज निकाले हैं जो बहुत-कुछ मिलते हैं। मेरा अनुमान है कि ये दोहे बहुत अधिक लोकप्रिय होंगे और कबीर या कबीरमत के अन्य सन्तो ने उनमे थोड़ा परिवर्तन करके अपना सिद्धांत प्रचार करना चाहा होगा। दो-एक उदाहरण लीजिए :

1. ढोला—राति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताल।
जिणकी जोडी बीछड़ी तिणका कवण हवाल॥

कबीर—अंबर कुंजाँ कुरलियाँ गरजि भरे सब ताल।
जिनिपैं गोविन्द बीछुटे तिनके कौन हवाल॥

1. बीजक का शब्द 73, आदिग्रन्थ के सोरठ 2 से तुलनीय
" " " 112 " " गौड़ी 42 से "
" " " 97 " " प्रभाती 2 " "
" " चाँचरी 2 " " गौड़ी 57 " "

2. ढोला—यहु तन जारौं मसि करूँ, धूआँ जाहि सरग्गि।
मुझ प्रिय बद्दल होइ करि बरसि बुझावै अग्गि॥
कबीर—यहु तन जालौं मसि करौं जसु धुआँ जाय सरग्गि।
मति वै राम दया करै बरगि बुझावै अग्गि॥
कबीर—यहु तन जालौं मसि करौ लिखौं राम का नांउ।
3. ढोला—सुहिणा तोहि मराविगूं, हियइ दिराउँ छेक।
जद सोऊँ तद दोइ जन, जद जागूं तद हेक॥
कबीर—कबीर सुपनै रैनिकै पारस जियमैं छेक।
जो सोऊँ तो दोइ जण जे जागूं तो एक॥
4. ढोला—चिंता बंध्यउ सयल जग, चिंता किणहि न बद्ध।
जे नर चिंता वस करइ, ते माणस नहिं सिद्ध॥
कबीर—संसै खाया सकल जगु संसा किनहुँ न खद्ध।
जे वेधे गुरु अष्षिरां तिनि ससा चुणि खद्ध॥
5. ढोला—तालि चरंति कुंझडी सर संधियउ गँमारि।
कोइक आखर मनि वस्यउ, ऊड़ी पख सँभारि॥
कबीर—काटी कूटी मछली छींकै धरी चहोडि।
कोई एक अषिर मन वस्या दहमैं पड़ी बहोड़ि॥

इस प्रकार के और भी अनेक दोहे मिलते हैं। इसी तरह हेमचन्द्र के व्याकरण में एक दोहा मिलता है, जिसे सूरदास की कहानी में भक्तिप्रचार के उपयोग में लाया गया है। दोहा इस प्रकार है :

बाह विछोडवि जाहि तुहुँ, हउँ तेवइँ को दोषु।
हिअअट्ठिअ जइ नीसरहि, जाणउँ मुंज सरोसु॥

[बाँह छुड़ाकर तुम जा रहे हो, मैं तुम्हें क्या दोष दूँ? ऐ मुंज, तुम हृदय में स्थित हो, यहाँ से निकलो तो समझूँ कि तुम सचमुच सरोष हो!]

स्पष्ट ही यह बात किसी ने मुंज से कही है। सूरदासवाली कहानी में इससे मिलता-जुलता दोहा सूरदास के मुख से भगवान् को सम्बोधित करके कहलाया गया है :

बाँह छुड़ाए जात हो निबल जानि के मोहि।
हिरदय से जब जाहु तो, सबल बदौंगो तोहि॥

सभी देश में जनसाधारण में प्रचलित काव्यरूपों को सन्तों ने अपने मतप्रचार का साधन बनाया है। हमारे देश के सभी सम्प्रदाय के सन्तों ने ऐसा किया है। हमने पहले ही देखा है कि तेरहवीं शताब्दी के जिनदत्तसूरि नामक जैन सन्त ने लोक-प्रचलित चर्चरी और रासकजाति के गीतों का सहारा लिया था। चर्चरी उन दिनों जनता में बड़े चाव से गायी जाती थी। श्रीहर्षदेव की 'रत्नावली' से बाणभट्ट की पुस्तकों से चर्चरीगान की सूचना प्राप्त होती है। बारहवीं शताब्दी में सोमप्रभ ने वसन्तकाल में चर्चरीगान सुना था—'पसरन्त चारु चच्चरिव भालु।'

तेरहवी शताब्दी के लक्खण नामक कवि ने 'जउणा णइ उत्तर तडित्थ' (अर्थात् यमुना नदी के उत्तरी तट पर बसे हुए) रायवड्डिय (रायमा शहर) का वर्णन किया है, जो आगरे के आसपास कहीं रहा होगा। उन्होंने उस नगर के चौहट्ट को चर्चरध्वनि से उद्दाम देखा था। इस चर्चरी का कोई निर्दिष्ट छन्द नही था। कबीरदास के 'बीजक' मे चांचर नामक एक अध्याय है। इस चांचर में पुरानी चर्चरी का ही अवशेष है। 'बीजक' की एक चांचर इस प्रकार है :

खेलति माया मोहिनी जिन्ह जेर कियो संसार।
रच्यो रंग ते चूनरी कोइ सुन्दरि पहिरे आय॥

इसमे केवल गान का रूप ही नही लिया गया है, आध्यात्मिक उपदेश मे चर्चरी-जैसे लोकप्रिय गान के प्रिय विषय शृंगाररस का आभास देने का भी प्रयत्न है।

इसी प्रकार लोक-प्रचलित फाग आदि गानों का भी जैन मुनियों ने उपयोग किया है। जिनपद्मसूरि की पुस्तक 'थूलभद्द फागु' प्रसिद्ध ही है। इस विद्वान् कवि की रचना मे अद्भुत नाद-सौन्दर्य है। 'बीजक' का वसन्त इसी प्रकार लोक-प्रचलित काव्यरूप का अंगीकरण है। भाषा इसकी अवश्य बदल गयी है, पर यह इस बात का सबूत तो है ही कि उन दिनो के प्रचलित काव्यरूपों का सन्तों ने अपने ढंग से अपने उद्देश्य के लिए उपयोग किया है। अस्तु, अब फिर प्रकृत विषय पर लौटा जाय।

सवत् 1715 की लिखी हुई एक प्रति से सगृहीत और गोरखबानी में उद्धृत पदों को 'सबदी' कहा गया है। जान पड़ता है, बीजक का 'शब्द' इसी 'सबदी' का सशोधन है। इस प्रकार यह 'सबदी' शब्द नाथपन्थी योगियो का है और कबीरपन्थ मे वह सीधे वही से आया है। निश्चय ही हमारे आलोच्य काल मे इस ढंग के पद बहुत प्रचलित थे। यह नही समझना चाहिए कि सिर्फ तुलसीदास ने ही 'साखी सबदी' की निन्दा की है। स्वयं कबीरदास ने भी कहा है :

माला पहिरे टोपी पहिरे छाप तिलक अनुमाना।
साखी सबदी गावत भूलै आतम खबर न जाना॥

इसका मतलब यह हुआ कि कबीरदास के पहले 'साखी सबदी' का खूब प्रचार था।

वर्णमाला के अक्षरों से आरम्भ करके काव्य लिखने की प्रथा भी पहले रही होगी। जायसी का 'अखरावट' इसी पद्धति पर लिखा गया था। बंगाले के कई मुसलमान कवियों के लिखे 'चौंतीसा' नामवाले ग्रन्थ मिलते है। ऐसा लगता है कि मुस्लिम सूफी सन्तों ने ही इस प्रथा का प्रचार किया होगा। परन्तु पदों का 'राग' नाम देकर लिखने की प्रथा कब से शुरू हुई, यह विवादास्पद प्रश्न है। सिद्धो ने तो निश्चित रूप से पदों के साथ राग का नाम दिया है। इसलिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि राग नाम देकर लिखने की प्रथा मुस्लिमकाल के बाद चली है। 'शकुन्तला' नाटक में सूत्रधार ने निम्नांकित श्लोक कहा है :

करने को प्रोत्साहित करते हैं। परन्तु क्षेमेन्द्र (ग्यारहवीं शताब्दी) के 'दशावतार-वर्णन' में कवि ने एक जगह लिखा है कि जब गोविन्द यानी श्रीकृष्ण मथुरापुरी को चले गये तो वियोगक्षिप्तहृदया गोपियाँ गोदावरी (?) के किनारे पर गोविन्द का गुणगान करने लगी :

गोविन्दस्य गतस्य कंसनगरीं
व्याप्ता वियोगाग्निना।
स्निग्धश्यामलकूललीनहरिणे
गोदावरी - गह्वरे।
रोमन्थस्थितगोगणैः परिचया-
दाकर्णमाकर्णितम्।
गुप्तं गोकुलपल्लवे गुणगणं
गोप्यः सरागा जगुः। —8-173

गोपियों ने जो गान गाया, उसे कवि ने मात्रिक छन्द में लिखा है। अनुमान किया जा सकता है कि क्षेमेन्द्र ने इस प्रकार के गान अपने आसपास सुने थे। और इस गान में उन्होंने उन्हीं लौकिक गीतों का अनुकरण किया है। गीत इस प्रकार है :

ललितविलासकलासुखखेलन-
ललनालोभनशोभनयौवन-
मानितनवमदने।
अलिकुलकोकिलकुवलयकज्जल-
कालकलिन्दसुताविगलज्जल-
कालियकुलदमने।
केशिकिशोरमहासुरमारण-
दारुणगोकुलदुरितविदारण-
गोवर्धनधरणे।
कस्य न नयनयुगं रतिसज्जे
मज्जति मनसिजतरलतरंगे-
वररमणीरमणे।

इस गान से यह अनुमान होता है कि जिस प्रकार के पद बंगाल और उड़ीसा में प्रचलित थे, उसी प्रकार के पद सुदूर कश्मीर में भी प्रचलित थे। अर्थात् पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत में ऐसे पद व्याप्त थे। सूरदास व्रजभाषा के प्रथम कवि हैं। उनके पद इतने सुन्दर और कलापूर्ण है कि सहसा यह विश्वास नहीं होता कि यह रचना व्रजभाषा की पहली रचना है। निश्चय ही इसके पहले बहुत बड़ी परम्परा रही होगी। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने तो एक बार यह भी अनुमान ... था कि 'सूरसागर' दीर्घकाल से चली आती हुई किसी पुरानी परम्परा का ... है। सूरदास और उन्ही के समान अन्य भक्त कवियों के पदों का बाद में

चलकर इतना अधिक विकास हुआ कि उनके पहले के सभी पद या तो लुप्त हो गये या फिर इन्हीं कवियों में से किसी-न-किसी के नाम पर चल पड़े।

'गीतागोविन्द' में बहुत थोड़े गानों का संग्रह है। कवि ने उसे प्रबन्धकाव्य के रूप में ही सजाया है। निःसन्देह 'गीतगोविन्द' के गान गीतिकाव्यात्मक अर्थात् 'लिरिकल' हैं। ऐसे पदों से प्रबन्ध का काम नहीं लिया जा सकता। इसीलिए 'गीतगोविन्द' वास्तविक प्रबन्धकाव्य नहीं हो सका है। वह वस्तुतः गीति-काव्य-संग्रह ही है। सूरदास आदि ब्रजभाषा के कवियों ने भी बहुत-कुछ इसी पद्धति को अपनाया है। श्रीकृष्णलीला का गान करने के पहले जयदेव ने दशावतार का स्मरण कर लिया है। ऐसा जान पड़ता है कि ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में दशावतारवर्णन बहुत आवश्यक समझा जाने लगा था। 'प्राकृतपैंगलम्' में उदाहरणरूप से उद्धृत कई छन्दों से दशावतार-चरित-वर्णन का आभास मिल जाता है। मूल रासो में भी दशावतारवर्णनपरक कुछ कविताएँ अवश्य रही होंगी। वर्त्तमान रासो में भी दशावतार नाम का एक अध्याय जुड़ा हुआ है। मूल ग्रन्थ से यह लगभग स्वतन्त्र ही है। इसमें अच्छे कवित्व का परिचय है। जान पड़ता है कि क्षेमेन्द्र के 'दशावतारचरितम्' की भाँति यह भी देशी भाषा में लिखा हुआ कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ था। वर्त्तमान रासो में इसका 'दसम्' नाम अब भी सुरक्षित है। दसम् अर्थात् दशावतारचरित। यद्यपि वर्त्तमान रासो में यह दूसरे समय के रूप में अन्तर्भुक्त किया गया है, तथापि इसका दसम् नाम उसमें दिया हुआ है। सम्पादकों को इस नाम की व्याख्या में कहना पड़ा है कि दशम् अर्थात् द्वितीय समय। जब तक यह स्वीकार न किया जाय कि दसम् नाम का दशावतारचरितविषयक कोई अलग ग्रन्थ था जो बाद में रासो में जोड़ दिया गया, तब तक 'दसम्' अर्थात् 'द्वितीय' की ठीक-ठीक संगति नहीं लग सकती।

परन्तु मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि यह 'दसम्' नामक पुस्तक चन्द की रचना होगी ही नहीं। इसमें सुन्दर कवित्व है। यह किसी अच्छे कवि की रचना जान पड़ती है। इसमें राधा का नाम आया देखकर विदकने की कोई जरूरत नहीं है। यह विश्वास बिल्कुल गलत है कि जयदेव के पहले उत्तरभारत में 'राधा' शब्द अपरिचित था। मैंने 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' में दिखाया है कि दसवीं शताब्दी में आनन्दवर्धन को इस राधा का परिचय था। उन्होंने एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें श्रीकृष्ण उद्धव से राधा का कुशल पूछ रहे हैं। श्लोक इस प्रकार है :

तेषां गोपवधूविलाससुहृदः
राधारहःसाक्षिणाम्।
भद्रं भद्र ! कलिन्दराजतनया-
तीरे लतावेश्मनाम् ? इत्यादि।

इसी तरह ग्यारहवीं शताब्दी में क्षेमेन्द्र ने भी अपने 'दशावतारचरित' में राधा की चर्चा की है। श्लोक इस प्रकार है :

गच्छन् गोकुलगूढकुञ्जगहनान्यालोकयन् केशवः ।
सोत्कंठं वनितानतो वनभुवा सस्येन रुद्धाञ्चलः ।
राधाया न न नेति नीविहरणे वैक्लव्यलक्ष्याक्षराः
सस्मार स्मरसाध्वसाद्भुततनोरर्द्धोक्तिरिक्ता गिरः ॥

इसी प्रकार 'वेणीसंहार' नाटक के इस श्लोक में भी राधा का नाम है :

कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसे
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्र कलुषां कंसद्विषो राधिकाम् ।
तत्पादप्रतिमानिवेशि तपदस्योद्भूतरोमोद्गते—
रक्षुण्णोऽनुनयः प्रसन्नदयितादृष्टस्य पुष्णातु वः ॥

हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण में जो अपभ्रंश के दोहे संगृहीत हैं, वे उनके समय के पहले के हैं। कुछ ऐसे भी होंगे जो उनके या उनके समसामयिक कवियों के लिखे होंगे। उनमें भी राधा का प्रधान गोपीरूप में ही उल्लेख है। इस दोहे में राधा के वक्षःस्थल की महिमा इस प्रकार बतायी गयी है कि इसने आँगन में तो हरि को नचा ही दिया, लोगों को विस्मय के गर्त में गिरा ही दिया (इससे बड़ी सफलता इसकी क्या हो सकती है), सो, अब इसका जो होना हो सो हो :

हरि णाच्चाइव अंगणइ विम्हइ पाडिउ लोइ।
एम्वहिं राह पयोहरं जं भावइ तं होइ ॥

[इन्होंने हरि को नचा दिया आँगन में, विस्मय मे डाल दिया लोगों को; अब राधा के इन पयोधरों का जो भावे सो हो।]

जो लोग 'गाथासप्तशती' मे आये हुए 'राधा' शब्द को सन्देह की दृष्टि से देखते है, उन्हें आश्वस्त होकर इतना तो कम-से-कम मान ही लेना चाहिए कि नवीं-दसवीं शताब्दी में राधा का नाम उत्तरभारत मे अत्यन्त परिचित हो चुका था, इसलिए वर्त्तमान 'पृथ्वीराजरासो' में संयोजित 'दसम्' अर्थात् 'दशावतार-चरित' में राधा नाम आ जाने मात्र से यह नही सिद्ध होता कि यह रचना चन्द की नही है। परन्तु मैं यह भी नहीं कह रहा हूँ कि यह रचना चन्द की है ही। मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि यह दसम् किसी अच्छे कवि की रचना है और भक्तिकाल के पूर्ववर्त्ती दशावतारवर्णन-परम्परा का एक उत्तम निदर्शन है। 'विनयमंगल' की ही भाँति इसे भी भक्तिपूर्वकाल की साहित्यिक रचना-प्रवृत्ति का निदर्शन मानना चाहिए। ये दोनों रचनाएँ 'रासो' से बाहर की हैं। यह भी सम्भव है कि चन्द ने अलग से इन दो पुस्तकों की रचना की हो और बाद में वे रासो के साथ जोड़ दी गयी हों। या फिर यह भी हो सकता है कि ये किसी अन्य अच्छे कवि या कवियों की रचनाएँ हों। रासो मे ये जोड़ी गयी हैं, यह स्पष्ट है। दशावतार का कोई प्रसंग नही था। यदि था भी तो बहुत थोड़ा, उसको इतने विस्तार से कहने की वहाँ कोई आवश्यकता नही थी। जान पडता है कि रासो में कुछ थोड़ा-सा प्रसग देखकर किसी ने बाद मे इस पुस्तक को उसमें जोड दिया है और 'विनयमंगल' तो स्पष्ट रूप से अलग पुस्तक है। उसके समाप्त हो जाने के बाद

भी रासो में 'विनयमंगल' का प्रसंग चलता रहता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उस स्थान पर 'विनयमंगल' का थोड़ा-सा प्रसंग देखकर किसी ने वहाँ पर इस पूरी पुस्तक को जोड़ दिया है। वस्तुतः ये दोनों ही भक्तिकाल के पूर्व के काव्य-रूपों के उत्तम नमूने हैं।

तुलसीदास ने 'साखी' के अतिरिक्त धर्म-निरूपण के एक और साधन का भी उल्लेख किया है। वह है दोहरा। 'दोहरा' का अर्थ दोहा ही है। पर साखी से भिन्न ये दोहे क्या रहे होंगे? नाथपन्थियों और कबीर-पन्थियों के 'धरम-निरूपणपरक' दोहे 'साखी' कहे जाते हैं। बाकी जैनों में प्रचलित एक प्रकार के अपभ्रंश दोहे हैं, जिनका स्वर बहुत-कुछ निर्गुणियों के दोहों से मिलता है, पर वे साखी न कहलाकर 'दोहे' ही कहलाते रहे हैं। ऐसे दोहों के दो-तीन पुराने ग्रन्थ पाये गये हैं। उनकी चर्चा यहाँ आवश्यक है; क्योंकि आगे चलकर हिन्दी-साहित्य में सन्तों ने जो दोहे लिखे हैं, वे इन्हीं दोहों के स्वर में हैं। स्वर भी उनका वही है। जोइन्दु का 'परमात्मप्रकाश' तथा 'योगसार' मुनिरामसिंह के 'पाहुड़ दोहे' ऐसे ही ग्रन्थ हैं।

यह आश्चर्य की बात है कि तुलसीदास ने जहाँ लोकप्रचलित और जनता को आकृष्ट करनेवाले सभी छन्दों और काव्यरूपों को राममय करने का प्रयत्न किया, वहाँ उन्होंने आल्हा या वीर-छन्द को नहीं अपनाया। इस बात से यद्यपि निश्चित रूप से तो कुछ नहीं सिद्ध होता, परन्तु अनुमान किया जा सकता है कि तुलसीदास के काल में आल्हा का प्रचार नहीं था। या तो वह उन प्रदेशों में उस समय तक आया ही नहीं जिनमें तुलसीदास विचरण किया करते थे या फिर वह तब तक लिखा ही नहीं गया; क्योंकि इतनी प्रभावशालिनी और लोकाकर्षक काव्यपद्धति को जानते हुए भी तुलसीदास न अपनाते—यह बात समझ में आने लायक नहीं है। विशेष करके जब राम का चरित्र इस पद्धति के लिए बहुत ही उपयुक्त था। वर्तमान आल्हा बहुत बाद में संगृहीत हुआ है और इसके आधार पर कुछ भी कह सकना सम्भव नहीं।

इस प्रकार पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य के काव्यरूपों से हम अनुमान कर सकते हैं कि हमारे आलोच्य काल में मध्यदेश में कौन-से काव्यरूप प्रचलित थे।

□□□

